श्री प्रभाचन्द्राचार्य प्रणीत

प्रमेयकमल मार्त्तण्ड

तृतीय भाग

अनुवादिका :

पू० विदुषी १०५ श्री आर्यिका जिनमतीजी

[आचार्य श्री धर्मसागरजी संघस्था]

प्रथमावृत्ति ५००

आचार्य श्री धर्मसागरजी जन्म जयंती पौष पूर्णिमा सं० २०४१

मूल्य : स्वाध्याय

ग्रन्थ प्राप्ति स्थान :
श्री दि० जैन त्रिलोक शोध संस्थान
हस्तिनापुर (मेरठ) उ० प्र०

प्रमेयकमल मार्त्तण्ड स्तुतिः

गंभीरं निखिलार्थ गोचर मलं शिष्य प्रबोधप्रदम्
यद् व्यक्तं पदमद्वितीय मदिलं माणिक्यनंदि प्रभोः ।
तद् व्याख्यात मदो यथावगमतः किंचिन्मया लेशतः
स्थेयाच्छुद्धधियां मनोरतिगृहे चन्द्रार्क तारावधि ॥१॥

मोहध्वान्त विनाशनो निखिलतो विज्ञान शुद्धिप्रदः
मेयानंत नभोविसर्पण पटुर्वस्तूक्तिभा भासुरः ।
शिष्याब्ज प्रतिबोधनः समुदितो योऽद्रेः परीक्षामुखात्
जीयात् सोऽत्र निबंध एष सुचिरं मार्त्तण्ड तुल्योऽमलः ॥२॥

मुद्रक :
पाँचूलाल जैन
कमल प्रिन्टर्स
मदनगंज-किशनगढ़ (राज०)

परम पूज्य, प्रातः स्मरणीय, चारित्र चक्रवर्ती, आचार्यप्रवर

१०८ श्री शान्तिसागरजी महाराज

पंचेन्द्रियसुनिर्दान्त, पंचसंसारभीरुकम् ।
शांतिसागरनामानं, सूरिं वदेऽघनाशकम् ।।

जन्म :	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनि दीक्षा :	समाधि :
ज्येष्ठ कृष्णा ६	ज्येष्ठ शुक्ला १३	फाल्गुन शुक्ला १४	द्वितीय भाद्रपद
वि. सं०	वि. सं० १९७०	वि. सं० १९७४	वि. सं० २०१२
१९२९	उत्तूर ग्राम (कर्नाटक)	यरनाल ग्राम (कर्नाटक)	कुन्थलगिरि सिद्धक्षेत्र

प्राक् कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ का स्रोत :

न्यायशास्त्र के महापण्डित, सर्वग्रन्थों के पारगामी एवं सद्गुणों के निवास भूत आचार्य माणिक्यनन्दि ने परीक्षामुखसूत्र नामक ग्रन्थ की रचना की। यह बहुत छोटा तथा सूत्ररूप ग्रन्थ है। इसमे छह परिच्छेद हैं। प्रथमादि परिच्छेदों में यथाक्रम १३, १२, १०१, ६, ३ एवं ७४ सूत्र हैं। इस तरह कुल २१२ सूत्र हैं। इसमें न्यायविषयक वर्णन है। परीक्षामुख ग्रन्थ न्याय शास्त्र का आद्य न्यायसूत्र रूप ग्रन्थ है। जैसे सिद्धान्त में संस्कृत भाषा में सूत्रबद्ध रचना तत्त्वार्थसूत्र सर्व प्रथम उमास्वामी ने की तथैव न्याय के क्षेत्र में परीक्षामुख प्रथम सूत्रग्रन्थ है।

माणिक्यनन्दि नन्दिसंघ के प्रमुख आचार्य थे। धारानगरी इनकी निवास स्थली रही है। न्यायदीपिका में आपको 'भगवान्' कहा गया है।[1] प्रमेयकमलमार्तण्ड में प्रभाचन्द्र ने इन्हें गुरु के रूप में उल्लिखित किया है तथा शिमोगा जिले के नगर ताल्लुके के शिलालेख नं० ६४ के एक पद्य में माणिक्यनन्दि को जिनराज लिखा है। आपके गुरु रामनंदि थे तथा माणिक्यनन्दि के शिष्य नयनन्दि थे।[2]

परीक्षामुख की टीकाएँ :

उत्तरकाल में उक्त ग्रन्थ पर अनेक टीका व्याख्याएँ लिखी गई। यथा—

(१) प्रभाचन्द्राचार्य का विशाल प्रमेयकमलमार्तण्ड

(२) लघु अनन्तवीर्य की मध्यम परिमाण वाली प्रमेयरत्नमाला

(३) भट्टारक चारुकीर्ति का प्रमेयरत्नमालालंकार

(४) शान्तिवर्णी की प्रमेयकण्ठिका

उत्तरवर्ती प्राय: समस्त जैन नैयायिकों ने इस ग्रन्थ (परीक्षा मुख) से प्रेरणा ग्रहण की है।

---

१. "तथा चाह भगवान् माणिक्यनन्दि भट्टारक:"—न्यायदीपिका; अभिनवधर्मभूषण।

२. सुदंसणचरिउ। प्रशस्ति।

प्रस्तुत टीका :

[प्रमेयकमलमार्तण्ड]—परीक्षामुख की उक्त टीकाओं में से सर्वाधिक परिमाण वाली टीका १२००० श्लोकप्रमाण प्रस्तुत ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड है, [प्रस्तुत भाग प्रमेयकमलमार्तण्ड का तृतीय भाग है । इसके पूर्व दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं । तीनों भागों में लगभग चार-चार हजार श्लोक प्रमाण अंश आया है । पूर्व के दो भाग क्रमशः ६६८ व ६५२ पृष्ठों में छपे हैं तथा प्रस्तुत भाग ७०६ पृष्ठों में छपकर पूर्ण हुआ है ।] जो कि आज आचार्य तथा न्यायतीर्थ जैसी उच्च कक्षाओं में पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत है एवं न्याय का अद्वितीय ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ में न्याय ग्रन्थों के प्रायः सर्व सूक्ष्म विवेचन उपलब्ध हैं तथा मूलसूत्रों से सम्बद्ध सकल वादविवादों का समाधान (परिहार) इसमें है । विषय-परिचय स्वयं पूज्य विदुषी माताजीश्री ने आगे दिया है ।

प्रमेयकमलकार :

इस ग्रन्थ के अध्ययन से प्रमेयकमलमार्तण्डकार [प्रभाचन्द्र] का वैदुष्य एवं व्यक्तित्व अत्यन्त महनीय विदित होता है । आपने वैदिक तथा अवैदिक दर्शनों का गहन अध्ययन किया था । आप तार्किक तथा दार्शनिक दोनो थे । आपकी प्रतिपादन शैली और विचारधारा अपूर्व थी । आपके गुरु का नाम पद्मनन्दि सैद्धान्तिक था । पद्मनन्दि सैद्धान्तिक अविद्धकर्ण और कौमारदेवव्रती थे अर्थात् पद्मनन्दि ने कर्णवेध होने के पहले ही दीक्षा धारण की होगी और इसी कारण वे कौमारदेव व्रती कहे जाते थे । आप मूलसंघान्तर्गत नन्दिगण के प्रभेदरूप देशीयगण के गोल्लाचार्य के शिष्य थे । आचार्य प्रभाचन्द्र के सधर्मा सिद्धान्त शास्त्रों के पारगामी तथा चारित्र के सागर 'कुलभूषण मुनि' थे । प्रभाचन्द्र पद्मनन्दि से शिक्षा-दीक्षा लेकर उत्तर भारत मे धारा नगरी में चले आये और यहाँ आचार्य माणिक्यनन्दि के सम्पर्क में आये । प्रभाचन्द्र ने अपने को माणिक्यनन्दि के पद मे रत कहा है । इससे उनका साक्षात् शिष्यत्व प्रकट होता है; अतः सम्भव है कि प्रभाचन्द्र ने जैनन्याय का अभ्यास माणिक्यनन्दि से किया हो और उन्हीं के जीवनकाल मे प्रमेयकमलमार्तण्ड की रचना की हो । आपने प्रमेयकमल मार्तण्ड धारानगरी में लिखा था ।

रचनाएँ :

इनकी निम्नलिखित रचनाएँ मान्य हैं :—

१ प्रमेयकमलमार्तण्ड : परीक्षामुख व्याख्या

२. न्यायकुमुदचन्द्र : लघीयस्त्रय व्याख्या

३. तत्त्वार्थवृत्तिपदविवरण : सर्वार्थसिद्धि व्याख्या

४. शाकटायनन्यास : शाकटायनव्याकरण व्याख्या

५. शब्दाम्भोजभास्कर : जैनेन्द्रव्याकरण व्याख्या

६. प्रवचनसारसरोजभास्कर : प्रवचनसार व्याख्या

७. गद्यकथाकोश : स्वतन्त्र रचना

८ रत्नकरण्डश्रावकाचार : टीका

९. समाधितन्त्र : टीका

१०. क्रियाकलाप : टीका

११. आत्मानुशासन : टीका

१२. महापुराण : टिप्पण

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना में रत्नकरण्ड श्रावकाचार की टीका और समाधितन्त्र की टीका को प्रस्तुत प्रभाचन्द्र द्वारा रचित न मानकर किसी अन्य प्रभाचन्द्र की रचनाएँ माना है। पर जब प्रभाचन्द्र का समय ११ वीं शताब्दी सिद्ध होता है तो इन ग्रन्थो के उद्धरण रह भी सकते हैं। रत्नकरण्ड टीका और समाधितन्त्र टीका में प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र का एक साथ विशिष्ट शैली में उल्लेख होना भी इस बात का सूचक है कि ये दोनों टीकाएँ प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र की ही हैं। यथा—

"तदलमतिप्रसंगेन प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे प्रपञ्चतः प्ररूपणात्।"—रत्नकरण्ड-टीका पृष्ठ ६। "यैः पुनर्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे न्याय-कुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः।"—समाधितन्त्र टीका पृ० १५।

ये दोनों अवतरण प्रभाचन्द्र कृत शब्दाम्भोज भास्कर के उद्धरण से मिलते-जुलते हैं— "तदात्मकत्वं चार्थस्य अध्यक्षतोऽनुमानादेश्च यथा सिद्धयति तथा प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च प्ररूपितमिह द्रष्टव्यम्।"—शब्दाम्भोजभास्कर।

प्रभाचन्द्रकृत गद्यकथाकोष में पाई जाने वाली अंजन चोर आदि की कथाएँ रत्नकरण्ड-श्रावकाचारगत कथाओं से पूर्णतः मिलती है। अतएव रत्नकरण्ड श्रावकाचार और समाधितन्त्र की टीकाएँ प्रस्तुत प्रभाचन्द्र की ही हैं।

क्रियाकलाप की टीका की एक हस्तलिखित प्रति बम्बई के सरस्वती भवन में है। इस प्रति की प्रशस्ति में क्रियाकलाप टीका के रचयिता प्रभाचन्द्र के गुरु का नाम पद्मनन्दि सैद्धान्तिक है और

न्यायकुमुदचन्द्र आदि के कर्ता प्रभाचन्द्र श्री पद्मनन्दि सैद्धान्तिक के ही शिष्य हैं। अतएव क्रियाकलाप-टीका के रचयिता प्रस्तुत प्रभाचन्द्र ही जान पड़ते हैं।[1]

प्रमेयकमलमार्तण्ड की अनुवादिका :

प्रमेयकमलमार्तण्ड की हिन्दी भाषा टीका अभी तक किसी ने नहीं लिखी थी। इसे पूज्य विदुषी आ० जिनमतीजी ने लिखकर सकल भारतीय दि० जैन समाज का महोपकार किया है—इसमें शंका निरवकाश है। क्योंकि आजकल की हवा में संस्कृत या प्राकृत के ज्ञाता मही के तुल्य हैं। पूज्या माताजीश्री ने सरल-सुबोध शैली मे यह भाषा टीका लिखी है।

प्रेरणा के स्रोत :

इस भाषा टीका लिखने हेतु प्रेरणा पू० आर्यिका न्याय साहित्य-सिद्धान्त शास्त्री शुभमती माताजी (पूर्व नाम – विमलाबाईजी) ने की थी। आपने शिक्षा प्रदात्री आ० जिनमतीजी से प्रार्थना की थी कि इस ग्रन्थ की भाषा टीका न होने से शास्त्री परीक्षा में कठिनता होगी, अतः इसका हिन्दी में सारांश लिखिए। जिससे हमे सुविधा हो और बार-बार आपको पूछना न पड़े। आपकी इस प्रार्थना को पू० जिनमती माताजी ने स्वीकार की और भाषानुवाद प्रारम्भ किया और ८ मास में अनुवाद पूर्ण भी हो गया। आज यह ग्रन्थ ३ भागों में छपकर प्रकाशित हो गया है। यह देखकर आ० शुभमतीजी को अपार हर्ष है। यथा--चामुण्डराय की प्रार्थना पर गोम्मटसार की रचना हुई तथैव आपकी प्रार्थना पर न्यायपारंगता जिनमतीजी द्वारा भाषा टीका पूर्ण हुई।

विदुषी भाषाटीकाकर्त्री का देह-परिचय :

पूज्य माताजी जिनमतीजी का जन्म फाल्गुन शुक्ला १५ सं० १९९० को म्हसवड़ ग्राम [जिला–सातारा (महाराष्ट्र)] में हुआ।[2] जन्म नाम प्रभावती था। आपके पिता श्री फूलचन्द्र जैन और माता श्री कस्तुरीदेवी थीं। दुर्भाग्य से माता-पिता का वियोग बचपन में ही होगया। इसी कारण आपका लालन-पालन आपके मामा के घर पर हुआ।

सन् १९५५ में आर्यिका रत्न श्री ज्ञानमति माताजी ने म्हसवड़ में चातुर्मास किया। चातुर्मास में अनेक बालिकाएँ माताजी से द्रव्यसंग्रह, तत्त्वार्थसूत्र, कातंत्र व्याकरण आदि ग्रन्थों का अध्ययन करती थी। उस समय विंशति वर्षीया सुश्री प्रभावती भी उन अध्येत्री बालिकाओं में से एक थी।

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा ३।५०–५१ से साभार उद्धृत।

२ म्हसवड़ ग्राम सोलापुर के पास है।

प्रभावती ने वैराग्य से ओतप्रोत होकर सन् १६५५ में ही दीपावली के दिन पू० ज्ञानमतीजी से १० वीं प्रतिमा के व्रत ले लिये। तत्पश्चात् पू० आ० वीरसागरजी के संघ में वि० सं० २०१२ में ब्र० प्रभावतीजी ने क्षुल्लिका दीक्षा ली; देह का नामकरण हुआ—"जिनमती"। सन् १६६१ ई० तदनुसार कार्तिक शु० ४ वि० सं० २०१६ में सीकर (राज०) चातुर्मास के काल में पू० आ० १०८ श्री शिवसागरजी से क्षु० जिनमतीजी ने स्त्रीत्व के चरम सोपानभूत आर्यिका के कठोरतम व्रत अंगीकृत किये।

शनैः शनैः अपनी कुशाग्र बुद्धि से तथा परमविदुषी आ० ज्ञानमतीजी के प्रबल निमित्त से आप विदुषी हो गईं। आप स्वयं पू० ज्ञानमती माताजी को "गर्भाधान क्रिया से न्यून माता" कहती हैं। आज आप न्याय, व्याकरण के ग्रन्थों की विदुषी के रूप में भारतधरा को पावन व सुशोभित कर रही हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड जैसे महान् दार्शनिक ग्रन्थ की हिन्दी टीका करके आपने दार्शनिक क्षेत्र की महती पूर्ति की है।

आपके कारण से इस शताब्दी का पूज्य साध्वीवर्ग नूनमेव गौरवान्वित रहेगा।

अन्त में यह आशा करता हुआ कि, प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रस्तुत भाषा टीका "भव्यकमल-मार्त्तण्ड" रूप सिद्ध होगी; विदुषी, पूज्या आर्या जिनमतीजी को सभक्ति बहुबार त्रिधा वन्दन करता हुआ कलम को विराम देता हूँ।

विनीत :

जवाहरलाल मोतीलाल बकतावत

साटड़िया बाजार, भीण्डर (उदयपुर)

अपनी बात

आत्मा अनंत ज्ञान शक्तियों का घनपिण्ड है। ज्ञान प्रकाश के समान अन्य कोई प्रकाश नहीं है, दीपक का प्रकाश, रत्न का प्रकाश, चन्द्र का प्रकाश एवं सूर्य का प्रकाश, ज्ञान के प्रकाश द्वारा ही कार्यान्वित होता है इसके बिना उक्त सब प्रकाश निरर्थक हैं। हमारे इस ज्ञान शक्ति पर अनादिकाल से आवरण आया हुआ है। जैसा और जितना आवरण हटता है वैसा उतना ज्ञान प्रकट होता है। ज्ञान के प्रकट होने में गुरुजन एवं शास्त्र परम सहायक हुआ करते हैं। आर्यिका रत्न परम विदुषी ज्ञानमती माताजी जो कि मेरी गर्भाधान क्रिया विहीन माता हैं, उनके चरण सान्निध्य में, अन्य अनेक विषयों के साथ न्याय विषय के प्रारम्भिक ग्रंथ परीक्षामुख और न्यायदीपिका पूर्ण हुए ही थे कि परम पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज जो कि ऐलक अवस्था में थे। आचार्य श्री शिवसागरजी महाराज द्वारा मुनि दीक्षा लेकर संघ में साधुओं को अध्ययन करा रहे थे उस समय हम कई आर्यिकाओं ने पूज्य ज्ञानसागरजी महाराज के पास न्याय का पठन प्रारम्भ किया। प्रमेयरत्नमाला एवं आप्त परीक्षा पूर्ण हुई, प्रमेयकमलमार्तण्ड का अध्ययन प्रारंभ हुआ बीच में महाराजजी का अन्यत्र विहार हो गया। अनंतर मार्त्तण्ड को पूज्या ज्ञानमती माताजी ने पूर्ण कराया एवं आगे अन्य अनेक न्याय सिद्धान्त आदि सम्बंधी ग्रन्थो का अध्ययन कराके मेरी आत्मा मे अनादि काल के लगे हुए मिथ्यात्व एवं अज्ञान को दूर किया। जिसप्रकार वर्षाकालीन अमावस्या की घोर अंधकार वाली रात्रि में बीहड़ वन मे भटके हुए व्यक्ति को कोई प्रकाश देकर मार्ग पर लाता है उस प्रकार कलिकाल रूपी वर्षाकालीन पञ्चेन्द्रिय के विषयरूप अमावस्या वाली अज्ञान रूपी रात्रि में कुगति रूप बीहड़ वन में भटके हुए मुझको परम पूज्या अम्मा ने मोक्षमार्ग पर लगाया है।

माताजी मुझको पढ़ाती और अन्य नये विद्यार्थियों को छोटे-छोटे विषय पढ़वाती रहतीं। मेरा अध्ययन पूर्ण होने पर अध्ययन के इच्छुकों को मैंने पढाना प्रारम्भ किया वर्त्तमान आर्यिका शुभमती दीक्षा पूर्व मुझसे शास्त्री परीक्षा का कोर्स पढ़ रही थी उसमें प्रमेयकमल मार्त्तण्ड ग्रन्थ निहित था केवल संस्कृत में होने के कारण पाठन में कठिनाई होती थी उन्होंने [कुमारी विमला ने] मुझसे कहा कि यह ग्रन्थ दुरूह है तथा न्याय का विषय ऐसा ही कठिन पड़ता है अत: आप हिन्दी भाषा में सारांश रूप लिख दीजिये। मैंने उनके अनुनय पर लक्ष्य देकर लिखना प्रारम्भ किया, सारांश लिखने का विचार था किन्तु पूरे ग्रन्थ का अनुवाद कर लिया।

यह अनुवाद टोंक नगरी की रम्य नसिया में प्रारम्भ होकर अष्टमासावधि में यहीं पूर्ण हुआ। अनन्तर उक्त अनुवाद में अनेक परिवर्तन संवर्धन करके मैंने इसे सहारनपुर में अंतिम रूप दे दिया था। पंडित, सिद्धांत भूषण अध्यात्मप्रेमी श्रीमान् नेमिचन्दजी सहारनपुर वालों के सुझाव के अनुसार प्रथम भाग में मैंने प्रतिपक्षी प्रवादी के पूर्व पक्ष भी लिखे थे। प्रथम भाग वीर० नि० २५०४ एवं द्वितीय भाग २५०७ में प्रकाशित हुआ। अब यह अंतिम तृतीय भाग २५११ में प्रकाशित हो रहा है। प्रारब्ध कार्य की पूर्णता पर प्रसन्नता होना स्वाभाविक है।

ग्रन्थ के अनुवाद में त्रुटि, स्खलन होना संभव है अत: विद्वद्वर्ग संशोधन करे, "को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे"।

—आर्यिका जिनमती

परम पूज्य, प्रातः स्मरणीय, आचार्यप्रवर

१०८ श्री वीरसागरजी महाराज

चतुर्विधगणैः पूज्य, गभीरं सुप्रभावकम् ।
वीरसिन्धुगुरु स्तौमि, सूरिगुणविभूषितम् ।।

जन्म :	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनि दीक्षा :	समाधि :
आषाढ पूर्णिमा	फाल्गुन शुक्ला ७	आश्विन शुक्ला ११	आश्विन अमावस्या
वि. सं. १९३२	वि. सं. १९८०	वि. स. १९८१	वि. सं. २०१४
वीर गाम (महाराष्ट्र)	कुम्भोज (महाराष्ट्र)	समडोली (महाराष्ट्र)	जयपुर (राज०)

विषय परिचय

आचार्य प्रभाचन्द्र विरचित प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रंथ के राष्ट्रभाषानुवाद का यह तृतीय अंतिम भाग पाठकों के हाथों में सौंपते हुए संकल्प की पूर्ति के कारण चित्त प्रसन्न है। मूल संस्कृत ग्रन्थ बारह हजार श्लोक प्रमाण विस्तृत है अत: इसको तीन भागों में विभक्त किया, प्रथम भाग सन् १९७८ में प्रकाशित हुआ, द्वितीय भाग सन् १९८१ में प्रकाशित हुआ, अब यह तृतीय भाग सन् १९८४ में प्रकाशित हो रहा है। तीनों भागों में समान रूप से ही [चार चार हजार श्लोक प्रमाण] संस्कृत टीका समाविष्ट हुई है।

इस तृतीय भाग में करीब २५ प्रकरण हैं इनका परिचय यहां दिया जारहा है।

सामान्य स्वरूप विचार :

प्रमाण का वर्णन पूर्ण होने के अनंतर प्रश्न हुआ कि प्रमाण के द्वारा प्रकाशित होने वाले पदार्थ किस प्रकार के स्वभाव वाले होते हैं? अर्थात् जगत् के यावन् मात्र पदार्थ वस्तु तत्व या द्रव्यों में कौन से गुणधर्म पाये जाते हैं? इस प्रश्न के समाधान स्वरूप माणिक्यनन्दी आचार्य ने सूत्र रचा-"सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषय:" सामान्य और विशेष गुणधर्म वाले पदार्थ होते हैं वे प्रमाण के द्वारा प्रकाशित होते हैं।

प्रत्येक पदार्थ अनुवृत्त प्रत्यय [यह मनुष्य है यह भी मनुष्य है इस प्रकार का प्रतिभास] वाला एवं व्यावृत्त प्रत्यय [यह इससे भिन्न है इसप्रकार का प्रतिभास] वाला होता है, अनुवृत्त प्रतीति से सामान्य धर्म और व्यावृत्त प्रतीति से विशेष धर्म सिद्ध होता है।

पदार्थ के पूर्व आकार का त्याग एवं उत्तर आकार की प्राप्ति तथा उभय अवस्था में स्थिति [ध्रौव्य] देखी जाती है अत: पदार्थ सामान्य और विशेष धर्म युक्त हैं। वस्तु का सामान्य धर्म दो प्रकार का है तिर्यग् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य। अनेक वस्तुओं में होने वाले सादृश्य को तिर्यग् सामान्य कहते हैं, जैसे खंडी मुंडी आदि अनेकों गायों में गोपना सदृश है। पूर्व और उत्तर काल में होने वाली पर्यायों में जो एक द्रव्यपना है वह ऊर्ध्वता सामान्य है, जैसे स्थास, कोश, कुशूल और घटादिरूप पर्यायों मे एक मिट्टी द्रव्य व्यवस्थित है।

पर्याय विशेष और व्यतिरेक विशेष ये दो विशेष धर्म के भेद है। एक द्रव्य मे क्रमश: होने वाले परिणाम पर्याय विशेष हैं जैसे-आत्मा में क्रमश: हर्ष और विषाद होता है। विभिन्न पदार्थों के विसदृश परिणाम को व्यतिरेक विशेष कहते हैं, जैसे-गौ और भैंस में विसदृशता है। इस प्रकार पदार्थ सामान्य विशेषात्मक प्रतीति सिद्ध है।

बौद्ध सामान्य धर्म को स्वीकार नहीं करते उनका कहना है कि पदार्थ के सामान्य और विशेष धर्म एक ही इंद्रिय ज्ञान के द्वारा जाना जाता है अतः एक है, तथा यह काल्पनिक धर्म है वास्तविक धर्म तो विशेष है। आचार्य ने समझाया कि जो एक इन्द्रिय ज्ञान द्वारा ग्राह्य है वह एक है ऐसा माने तो धूप और वात को एक मानना होगा ? क्योंकि दोनों एक ही इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं।

सामान्य को नित्य, सर्वगत, एक अखण्ड स्वभाव वाला मानते हैं। गायो मे गोत्व, घटों में घटत्व, मनुष्यों मे मनुष्यत्व रूप जो सामान्य धर्म पाया जाता है उसको यौग के मतानुसार सर्वथा एक माना जायगा तो बहुत भारी आपत्ति आती है-अनेक गायों का गोत्व एक है तो एक गाय के मर जाने पर उसका गोत्व नष्ट हुआ मानते हैं तो सामान्य का नित्यपना सिद्ध नही होता, और उक्त गोत्व धर्म का नाश नही मानते तो उस विवक्षित गाय के मरने पर भी उस स्थान पर गोत्व दिखायी देना चाहिए ? इसीप्रकार घटत्व, मनुष्यत्व आदि सामान्य धर्म की बात है। यदि वस्तु का यह सामान्य धर्म सर्वगत अर्थात् सर्वत्र व्यापक है तो मनुष्यो का मनुष्यपना गो का गोपना घटों का घटपना उन्ही निश्चित स्थानों मे क्यो प्रतीत होता है ? अन्यत्र क्यो नही प्रतीत होता ? यदि मनुष्य का मनुष्यपना आकाशवत् व्यापक है तो उसे अवश्य ही यत्र तत्र सर्वत्र प्रतिभासित होना चाहिए ! किन्तु ऐसा होता नही अतः सामान्य धर्म का सर्वगतपना असिद्ध है। मीमासक सामान्य और विशेष धर्म मे सर्वथा तादात्म्य स्वीकार करते हैं, किन्तु यह मान्यता भी अयुक्त है, जिनका सर्वथा तादात्म्य होगा वे विभिन्न रूप से प्रतिभासित नही हो सकेंगे, गायो का गोत्व अर्थात् सास्नादिमान्पना रूप सामान्य धर्म और धवली, शबली आदि विशेष धर्म विभिन्न रूपेन प्रतीत होते हैं अतः सामान्य और विशेष धर्मों मे सर्वथा तादात्म्य न मानकर कथंचित् तादात्म्य मानना चाहिए।

इसप्रकार वस्तुगत सामान्य गुण, धर्म या स्वभाव अनित्य, असर्वगत, अनेक रूप ही सिद्ध होता है।

सामान्य को काल्पनिक मानना या व्यापक नित्य मानना किसप्रकार प्रतीति विरुद्ध है इस बात का मूल ग्रंथ मे विशद रीत्या विवेचन किया है।

ब्राह्मणत्व जाति निरास :

नैयायिकादि प्रवादी ब्राह्मणो मे ब्राह्मणत्व नामकी एक अखंड व्यापक नित्य स्वभाव वाली जाति मानते हैं, उनकी यह जाति भी सामान्य के समान असिद्ध है, बात यह कि जो सर्वत्र व्यापक है एवं नित्य है उसका अनेकों मे पृथक् पृथक् रूप से रहना, अपने आधार के नष्ट होने पर नष्ट होना सर्वथा अयुक्त है।

नित्य आदि विशेषण विशिष्ट ब्राह्मण्य सिद्ध करने के लिये दिये गये अनुमान प्रमाण बाधित होने से नैयायिकादि के अभीष्ट की सिद्धि नही हो पाती। ब्रह्मा के मुख से जिनकी उत्पत्ति हो उन मनुष्यों मे ब्राह्मण्य सन्निविष्ट होने की कल्पना बड़ी ही मजेदार है। परवादी के इस ब्राह्मणत्व जाति का आचार्य ने निरसन करके

सिद्ध किया है कि उक्त जाति आकाशवत् एक नित्य व्यापी न होकर सदृश सदाचार क्रिया परिणामादि के निमित्त से होने वाली अनेक अनित्य अव्यापक रूप है।

क्षणभंगवाद :

बौद्ध प्रत्येक वस्तु क्षणिक मानते हैं, घट, पट, मनुष्यादि पर्यायें एवं जीव अजीव आदि द्रव्य सभी क्षण-भंगुर हैं—एक समय मे उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं। पदार्थ को जानने वाली बुद्धि भी क्षणिक है। वस्तु के नष्ट होने के लिये कारण की अपेक्षा नहीं होती अर्थात् वह स्वत: ही नष्ट हो जाती है। "सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्" सत्स्वरूप होने से सभी वस्तु क्षणिक है ऐसा अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध होता है।

बौद्ध की उपर्युक्त मान्यता प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित है, पदार्थों का ध्रौव्य प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है, पूर्वोत्तर पर्यायो मे जिस प्रकार बिभिन्नता ज्ञात होती है उसी प्रकार उन्ही पर्यायों मे द्रव्य का अन्वयपना प्रतीत होता है जैसे स्यास कोश घट आदि पर्यायो मे मिट्टी का अन्वय (ध्रौव्य) रहता है। पदार्थ को जानने वाली बुद्धि किसी अपेक्षा [ज्ञेय के परिवर्त्तन की अपेक्षा] भले क्षणिक हो किंतु बुद्धिमान् आत्मा तो नित्य है।

पदार्थ के नाश को निर्हेतुक मानना भी अयुक्त है, प्रत्यक्ष से देखा जाता है कि घट लाठी आदि की चोट से नष्ट होता है। क्षणिकत्व की सिद्धि के लिये दिया गया 'सत्त्वात्' हेतु क्षणिकत्व को सिद्ध न करके नित्यत्व को ही सिद्ध करता है। प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण नष्ट होती है और वह भी निरन्वयरूप से तब तो उपादान निमित्त और सहकारित्व बन नही सकता। वस्तु स्वय अपने सजातीय सन्तान को उत्पन्न करके नष्ट होती है तो कम से कम उक्त वस्तु की स्थिति तीन क्षण की तो हो ही जाती है। निरन्वय विनाशशील वस्तु मे अन्वय व्यतिरेक रूप प्रतिभास असम्भव है किन्तु ऐसा प्रतिभास प्रत्येक वस्तु मे होता है। अत. पदार्थ को क्षणिक नही मान सकते। वस्तु मे अर्थ पर्याय की दृष्टि से परिवर्त्तन अवश्य होता है, किंतु समूलचूल नाश नही होता, जैसे बालक युवा वृद्ध इन अवस्थाओं मे एक ही मनुष्य परिवर्त्तित होता है अत: मनुष्य की दृष्टि से वह अवस्थित है और बाल आदि अवस्था की दृष्टि से उत्पन्न प्रध्वसी है।

संबंधसद्भाववाद :

बौद्ध पदार्थों मे परस्पर मे किसी प्रकार का भी सम्बन्ध स्वीकार नही करते, उनका कहना है कि प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तु से सर्वथा पृथक् है उनमें सयोग या सश्लेष आदि सम्बन्ध असम्भव है। परमाणु अन्य परमाणु से कोई बन्ध–सम्बन्ध नही, स्कन्ध की कल्पना कल्पनामात्र है। एक परमाणु का दूसरे परमाणु से सम्बन्ध इसलिये नहीं है कि वह परमाणु अन्य परमाणु के साथ एक देश से करता है तो परमाणु को सांश मानना पडेगा और यदि एक परमाणु का दूसरे परमाणु से सर्व देश से सम्बन्ध माने तो उक्त स्कन्ध परमाणु मात्र रह जायगा। वस्तुओं मे कार्य कारण सम्बन्ध भी पारमार्थिक नहीं है।

यह बौद्ध की उपर्युक्त मान्यता असमीचीन है। संबंध प्रत्यक्ष से दिखाई देता है, अनेक तन्तुओं के ताने बाने रूप संबंध से वस्त्र निर्माण होता है। प्रत्येक परमाणु सर्वथा असंबद्ध है एक का अन्य से संबंध नहीं है तो रस्सी दंड बांस आदि आकर्षण असभव है, जब रस्सी के प्रत्येक तंतु पृथक हैं तो उसका एक छोर पकड़ते ही संपूर्ण रस्सी किसप्रकार खिच जाती है ? रस्सी से बंधी बालटी कूप से पानी किसप्रकार निकाल सकती है ? क्योंकि रस्सी से प्रत्येक कण पृथक् पृथक् अवस्था में स्थित है। परमाणु से परमाणु का संबंध दोनों प्रकार से संभव है एक देश से संबंध होने से ही तो बड़े स्कंध की निष्पत्ति होती है अन्यथा मेरु और सरसों में अंतर ही नहीं रह पायेगा। कभी सर्व देश से संबंध भी होता है, आकाश के एक प्रदेश मे अनेक परमाणुओ वाले स्कंध का अवस्थान इसीसे बन जाता है। एक देश से संबध माने तो परमाणु साश हो जायगा ऐसा कहना अभीष्ट ही है क्योंकि परमाणु को केवल इसलिये निरंश कहते हैं कि उसका विभाग नही होता, किन्तु स्वय में उसके छह पहलू या कोण माने ही हैं।

संबंध का लक्षण यही है कि "विश्लिष्टरूपता परित्यागेनसंश्लिष्टरूपतया परिणति सबध·" अर्थात् विभिन्नपने का त्याग कर सश्लेषरूप परिणमन करना संबंध है, यह सबंध अनेक प्रकार का है—सयोग सबंध जैसे कुंड मे बेर, हाथ मे कंकण आदि, कोई सश्लेष सबध रूप है, जैसे जीव और कर्म का सबध। कोई एक क्षेत्रावगाह सबध जैसे—दूध और पानी का संबंध है इसीप्रकार कार्य कारण आदि सबध भी होते हैं।

अन्वयी आत्म सिद्धि :

मनुष्यादि दृश्यमान पर्यायो मे और सुख दुःख का अनुभवनरूप अदृश्य पर्यायो मे एक ही आत्मा अन्वय-रूप से रहता है, बौद्ध मतानुसार आत्मा का निरन्वय विनाश अथवा प्रतिक्षण अन्य अन्य आत्मा की उत्पत्ति स्वीकृत की जाय तो आत्मा मे जो अनुसधानरूप प्रत्यभिज्ञान होता है वह नही हो सकेगा। यदि प्रतिक्षण का आत्मा अन्य अन्य है तो कृत प्रणाश और अकृत अभ्यागम का प्रसग होगा अर्थात् जो अच्छे बुरे कायिक वाचिक मानसिक कार्य किये और तदनुसार जो कर्म बध हुआ वह सिद्ध नही होगा क्योंकि कार्य करने वाला अन्य है और बधने वाला अन्य, इसीप्रकार जिसने नही किया ऐसे आगामी काल के आत्मा को उक्त कर्म बंध का फल भोगना होगा, क्योंकि करने वाला आत्मा नष्ट हो चुका है, अत: जैसे हरित पीत आदि अवस्था मे एक आम्रफल परिवर्तित होकर अन्वय रूप मे रहता है वैसे आत्मा सुख दुःखादि अवस्था मे अन्वय रूप से रहता है ऐसा सिद्ध होता है।

अर्थ का सामान्य विशेषात्मकवाद :

वैशेषिक पदार्थ सामान्य और विशेष धर्मो को सर्वथा पृथक् मानते हैं उनका कहना है कि सामान्य का प्रतिभास भिन्न है और विशेष का प्रतिभास भिन्न है अतः ये धर्म अत्यन्त भिन्न हैं। अवयव और अवयवी भी अत्यंत भिन्न हैं। अवयव और अवयवी मे विरुद्ध धर्मपना एवं पूर्वोत्तर काल भाविपना होने से ये सर्वथा पृथक् माने जाते

हैं अर्थात् अवयव अंशरूप और अवयवी अंशवाला होता है इसप्रकार इनमें विरुद्ध धर्मत्व है तथा अवयव पूर्ववर्त्ती और अवयवी उत्तरवर्त्ती होते हैं अतः इनमें अत्यन्त भेद स्वीकार करना चाहिये। सामान्य और विशेष दोनों स्वतंत्र पदार्थ हैं इनका समवाय द्वारा द्रव्य में संबंध हो जाने से दोनो अभिन्न मालूम होते हैं। पदार्थ छः है, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। द्रव्य के नौ भेद हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, मन, दिशा, आकाश, आत्मा और काल। गुण के चौबीस भेद हैं, कर्म पांच प्रकार का है, सामान्य दो भेद वाला, विशेष अनेक रूप एव समवाय सर्वथा एक रूप होता है। इसप्रकार वैशेषिक के यहां पदार्थों की व्यवस्था है किन्तु यह सब असिद्ध है समीचीन प्रमाण द्वारा बाधित होती है। सामान्य और विशेष को परस्पर मे भिन्न मानना या उन भिन्न धर्मो का द्रव्य मे समवाय मानना दोनों ही गलत है। विभिन्न प्रतिभास होने मात्र से वस्तु मे भेद मानना युक्ति युक्त नही है, एक ही आत्मा या अग्नि आदि वस्तु प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणो द्वारा ग्रहण होकर विभिन्न प्रतिभासित होती है किन्तु उनको भिन्न तो नही मानते ? अर्थात् एक ही अग्नि प्रत्यक्ष से प्रतिभासित होती है और अनुमान से भी प्रतिभासित होती है फिर भी उसे एक ही मानते हैं, ठीक इसीप्रकार सामान्य और विशेष धर्म विभिन्न रूपेन प्रतीत होते है फिर भी उन्हे एक पदार्थ निष्ठ ही स्वीकार करते हैं। अवयव और अवयवी को सर्वथा पृथक मानना भी अयुक्त है, क्या वस्त्र तंतुओ से पृथक है ? अवयव अवयवी धर्म धर्मी इत्यादि मे कथंचित् भेद और कथचित् अभेद होता है। पदार्थ को कथंचित् भेदाभेदरूप मानने से संकर, व्यतिकर, सशय, विरोध, वैयधिकरण्य, अनवस्था अभाव और अप्रतिपत्ति ये आठ दोष आते हैं ऐसा कहना भी अनिष्ट है, इन आठ दोषो का स्वरूप एवं भेदाभेदात्मक या सामान्य विशेषात्मक वस्तु मे इन दोषो का किसप्रकार अभाव है इन सबका वर्णन मूल मे विशद-रीत्या हुआ है।

परमाणु रूप नित्य द्रव्य विचार :

यौग परमाणु को नित्य मानते है उनका कहना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणु सर्वथा नित्य ही होते है, हां ! इन पृथ्वी आदि का विघटन होकर पुन. जो परमाणु रूप हुआ है वह अनित्य है। यह यौग मान्यता अयुक्त है स्कध का विघटन होकर परमाणु की निष्पत्ति होती है, परमाणु को सर्वथा नित्य मानने पर तो उनके द्वारा पृथ्वी आदि कार्य की उत्पत्ति नही हो सकती क्योकि जो कूटस्थ नित्य होता है परिवर्तन असंभव है, परिवर्त्तन होना ही अनित्य कहलाता है, जब परमाणु पृथ्वी आदि परिवर्त्तन कर सकते हैं तब उन्हे सर्वथा नित्य किसप्रकार मान सकते हैं ? नही मान सकते।

अवयवी स्वरूप विचार :

अवयवों से अवयवी [शाखा, पत्ते आदि अवयव हैं और वृक्ष अवयवी हैं, ऐसे ही तन्तु अवयव और वस्त्र अवयवी है] सर्वथा पृथक् है ऐसा वैशेषिक आदि का कहना है किन्तु यह प्रतीति विरुद्ध है, वृक्ष, शरीर, वस्त्र, स्तंभ आदि कोई भी अवयवी अपने अपने अवयवों से भिन्न देश मे प्रतीत नही होता।

अवयवी को निरंश मानना भी हास्यास्पद है एक निरंश अवयवी अनेक अवयवों मे किसप्रकार रह सकता है ? तथा यदि अवयवों से अवयवी सर्वथा भिन्न है तो उसका ग्रहण किसप्रकार होगा ? कतिपय अवयवों के ग्रहण करने पर ही अवयवी प्रतीत होता है ऐसा गलत है, जल मे हाथी आधा डूबा हुआ है उसके कुछ अवयव प्रतीत होते हैं किन्तु पूर्ण अवयवी तो प्रतीत होता नहीं ? संपूर्ण अवयवों का ग्रहण भी हमारे इन्द्रिय ज्ञान के लिये अशक्य है। अतः अवयवों से अवयवी कथचित् भेदाभेद स्वरूप स्वीकार किया है।

आकाश द्रव्य विचार :

आकाश द्रव्य की सिद्धि शब्द रूप हेतु से होती है ऐसा वैशेषिक कहते हैं, शब्द कर्ण द्वारा प्रतीत होते हो हैं, वे शब्द गुण स्वरूप हैं और गुणों को आश्रय की आवश्यकता होती है शब्द रूप गुण का जो आश्रय है वही आकाश है। शब्द रूप हेतु द्वारा सिद्ध होने वाला आकाश द्रव्य सर्वथा एक, नित्य और व्यापक है।

वैशेषिक की यह मान्यता असत् है, शब्दरूप हेतु से आकाश की सिद्धि असभव है, क्योकि शब्द स्पर्शादि युक्त है और आकाश स्पर्शादि से रहित, शब्द गुणरूप भी नही है वह द्रव्य ही है, जिसमे गुण आश्रित हो वह द्रव्य है, शब्द में स्पर्शादि गुण विद्यमान है अत वह द्रव्य ही है। शब्द क्रियाशील भी है अतः द्रव्य है। यदि शब्द आकाश का गुण होता तो हमारे इन्द्रिय गम्य नही होता तथा शब्द व्यापक नही है जिस द्रव्य का जो गुण होता है वह उस द्रव्य मे सर्वत्र रहता है, आकाश सर्वत्र है किन्तु शब्द सर्वत्र नही है। शब्द नष्ट होता है, किन्तु आकाश नित्य है। इसप्रकार अनेक हेतुओ से सिद्ध होता है शब्द आकाश का गुण नही है, अत उसके द्वारा आकाश की सिद्धि नितरां असभव है। आकाश की सिद्धि तो उसके अवगाहना गुण द्वारा होती है अर्थात् सपूर्ण पदार्थों को एक साथ अवगाहन [स्थान–आधार] देना रूप कार्य को अन्यथानुपपत्ति से अमूर्त्त व्यापक रूप आकाश द्रव्य सिद्ध होता है।

कालद्रव्य :

वैशेषिक काल द्रव्य को आकाशवत् व्यापक एवं एक मानते हैं, किन्तु उनका यह कथन सिद्ध नही होता है। काल द्रव्य न आकाशवत् व्यापक है और एक द्रव्यरूप है। यदि काल द्रव्य एक रूप होता तो कुरुक्षेत्र और लंका के देश मे होनेवाला दिवसादि का भेद नहीं हो सकता था। काल द्रव्य तो प्रत्येक आकाश प्रदेश पर एक एक कालाणु रूप से अवस्थित है। अर्थात् काल द्रव्य की संख्या असंख्यात है। काल द्रव्य को निरंश माने तो "यौगपद्य-एक साथ हुआ" इसप्रकार का ज्ञान संभव नहीं होगा। इसप्रकार काल द्रव्य निरंश एक नित्य व्यापक न होकर अनेक अव्यापक सिद्ध होता है। यह कालद्रव्य द्रव्यदृष्टि से नित्य है किन्तु पर्याय दृष्टि से अनित्य भी है। निरंश इसलिये है कि इसके एक एक प्रदेश ही एक एक काल द्रव्य है। व्यवहार काल, मुख्य काल ऐसे इस काल के दो भेद हैं एवं भूत वर्त्तमान भावी की अपेक्षा तीन भेद हैं। मीमांसक काल द्रव्य को नही मानते उनको आचार्यदेव ने समझाया है चिरक्षिप्रादिका व्यवहार क्रिया निमित्तक नहीं है अपितु कालद्रव्य निमित्तक है।

दिशाद्रव्यवाद :

वैशेषिक ने दिशा नाम का एक पृथक् द्रव्य माना है, किन्तु यह सर्वथा हास्यास्पद है। आकाश प्रदेशो में ही सूर्य के उदयादि निमित्त से पूर्व आदि दिशा कल्पित की जाती है, जैसे कि देश आदि का विभाग करते हैं।

आत्मद्रव्यवाद :

आत्मा को नित्य सर्व व्यापी सिद्ध करने का प्रयास भी व्यर्थ है। क्रियाशील होने से आत्मा व्यापक नहीं माना जा सकता। एक भव से अन्य भव मे गमन रूप संसार तब बन सकता है जब आत्मा को सक्रिय एवं अव्यापक स्वीकार किया जाय। आत्मा को सर्व व्यापी मानने वाले वैशेषिक इस प्रश्न का उत्तर नही दे पाते कि यह भवांतर गमनरूप क्रिया कौन करता है। दूसरी बात यह है कि यदि आत्मा व्यापक है तो उसका जगत् के सर्व परमाणुओं के साथ सयोग है और उस कारण सब परमाणु द्रव्यों मे क्रिया संभव है इससे एक जीव का न जाने कितना बड़ा शरीर बन जाय ? किन्तु ऐसा कुछ होता नही अत: आत्मा के सर्वगतत्व का निरसन हो जाता है। आत्मा को निरंश कथमपि नही मान सकते, क्योंकि सपूर्ण शरीर मे सुखादि का सवेदन पाया जाता है। इसप्रकार आत्मा को सर्वथा नित्य मान लेने पर ससार और मुक्त अवस्था सिद्ध नही होती। व्यापक मानने पर सक्रियत्व—गति से गत्यंतर गमन सिद्ध नही होता। निरंश मान लेने पर शरीर के विभिन्न भागो मे एक साथ व्याधि आदि का वेदन और अवेदन रूप भेद सिद्ध नहीं हो सकता अत: तर्क एवं आगम से यही सिद्ध होता है कि आत्मा कथंचित् नित्या-नित्यात्मक, सक्रिय अव्यापक एव सांश है।

गुणपदार्थवाद :

परवादी वैशेषिक ने गुण नाम का एक पदार्थ मानकर उसके चौबीस भेद प्रतिपादित किये है—रूप, रस, गध स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द। गुण को भिन्न पदार्थ मानना अयुक्त है क्योंकि सर्वदा द्रव्याश्रित है अथवा यों कहिये कि गुणों का पिण्ड ही द्रव्य होता है, गुण को पृथक् करके द्रव्य को देखा जाय तो कुछ भी प्रतीत नही होगा। इन गुणों के चौबीस भेदो मे से रूप, रस, गध, स्पर्श, स्नेह, गुरुत्व, ये पाच पुद्गल द्रव्य स्वरूप हैं अर्थात् ये पुद्गलात्मक जड द्रव्य के गुण हैं। बुद्धि ज्ञानात्मक होने से आत्मा का गुण है। सुख भी आत्मा का गुण है। इच्छा, द्वेष, मोह जनित आत्म विकार है न कि गुण। दुःख भी असाताजन्य आत्म विकार है। सख्या, परिमाण भी वस्तु का स्वरूप है अर्थात् सख्येय से सख्या भिन्न नही हुआ करती। परिमाण वस्तु का प्रमाण या माप है और कुछ नही। पृथक्त्व भी गुण नही किन्तु वस्तु स्वयं ही अपने को अन्य वस्तु से पृथक् रखती है। प्रयत्न तो क्रिया को कहते हैं। इसीप्रकार संयोग, विभाग, द्रवत्व ये सब वस्तुओं के अवस्था विशेष हुआ करते हैं। परत्व अपरत्व मे आपेक्षिक धर्म हैं। धर्म अधर्म ये पुण्य पाप स्वरूप है। शब्द तो पुद्गल द्रव्य की विभाव पर्याय है। इसप्रकार वैशेषिक मान्य गुणों का स्वरूप एव भेद सिद्ध नहीं है।

कर्मपदार्थ एवं विशेष पदार्थ :

वैशेषिक ने कर्म के पांच भेद किये हैं, कर्म अर्थात् क्रिया, सो क्रिया अनेक प्रकार की हुआ करती है न कि पांच प्रकार की तथा क्रिया पृथक् पदार्थ नहीं है, द्रव्य की परिस्पंदन या हलन चलन रूप अवस्था है।

विशेष नाम का पदार्थ भी असिद्ध है, प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपने में विशेष या असाधारण धर्म को धारण करता है उसके लिये ऊपर से विशेष पदार्थ को जोड़ने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

समवाय पदार्थ :

समवाय नाम का एक पदार्थ वैशेषिक ने कल्पित किया है जो द्रव्य में गुण को जोड़ देवे। द्रव्य उत्पत्ति के प्रथम क्षण मे गुण रहित होता है और द्वितीय क्षण में उसमें समवाय गुणों को सबद्ध करता है। किन्तु यह बात असिद्ध है। प्रथम बात तो यह है कि द्रव्य शाश्वत है वह न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। द्रव्य के परिवर्त्तन को यदि उत्पत्ति कहा जाय तो भी वह परिवर्तन गुण युक्त ही होता है। द्रव्य किसी भी क्षण किसी भी परिवर्त्तन के समय गुण रहित नही होता। अत: गुणों को जोड़ने वाले इस गोंद स्वरूप समवाय नाम के पदार्थ की कोई आवश्यकता नही पडती। वैशेषिक समवाय को सर्वथा एक, नित्य, व्यापक मानते हैं वह भी असंभव है। इसका मूल ग्रन्थ में विस्तृत खंडन है।

फलस्वरूप :

प्रमाण का फल अज्ञान निवृत्ति–अज्ञान का दूर होना है तथा हान बुद्धि, उपादान बुद्धि और उपेक्षा बुद्धि होना भी प्रमाण का फल है। प्रमाण अर्थात् ज्ञान, किसी वस्तु को जब ज्ञान द्वारा जानते है तब तद्विषयक अज्ञान ही सर्वप्रथम दूर होता है, पुनश्च यह ज्ञात वस्तु मेरे लिये उपयोगी है या अनुपयोगी इत्यादि निर्णय हो जाया करता है। यह प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् अभिन्न है, क्योंकि जो जानता है उसी का अज्ञान दूर होता है तथा उक्त फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न भी है, क्योंकि प्रमाण करण स्वरूप है और फल क्रिया स्वरूप, तथा नाम भेद भी है, अतः संज्ञा लक्षणादि की दृष्टि से प्रमाण और फल मे भेद माना है। नैयायिकादि प्रमाण और फल सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद मानते हैं, इस मान्यता का मूल मे निरसन कर दिया है।

तदाभास स्वरूप :

प्रमाण के लक्षण जिनमें घटित न हो वे ज्ञान प्रमाणाभास है। संशय, विपर्यय आदि प्रमाणाभास कहलाते हैं। प्रमाणवत् आभासते इति प्रमाणाभास: जो प्रमाण न होकर प्रमाण के समान प्रतीत होता है वह प्रमाणाभास कहलाता है। इसीप्रकार प्रमाण की संख्या मुख्यतया दो हैं इससे अधिक या कम संख्या मानना संख्याभास है। प्रमाण का विषय अर्थात् प्रमाण द्वारा जाना जाने वाला पदार्थ किस रूप है इसमें विवाद है जैन ने

प्रकाट्य युक्तियों द्वारा सिद्ध किया है कि जगत् पदार्थ सामान्य विशेषात्मक ही हुआ करते है ऐसे पदार्थों को प्रमाण ज्ञान जानता है इससे विपरीत केवल सामान्यात्मक या केवल विशेषात्मक पदार्थ मानना एवं उसको प्रमाण का विषय बतलाना विषयाभास है। प्रमाण से प्रमाण के फल को सर्वथा पृथक् या सर्वथा अपृथक् मानना फलाभास है। इस प्रकार इन आभासों का इस प्रकरण में वर्णन है।

जय पराजय व्यवस्था :

वस्तु तत्व का स्वरूप बतलाने वाला सम्यग्ज्ञान प्रमाण होता है, प्रमाण के बल से ही जगत् के यावन्मात्र पदार्थों का बोध होता है। जो सम्यग्ज्ञान नही है उससे वस्तु स्वरूप का निर्णय नहीं होता। जिन पुरुषों का ज्ञान आवरण कर्म से रहित होता है वे ही पूर्णरूप से तत्त्व को जान सकते हैं, वर्तमान मे ऐसे ज्ञानधारी पुरुषों का अभाव है। अतः वस्तु के स्वरूप में विविध मत प्रचलित हुए हैं। भारत मे सांख्य, मीमांसक, यौग आदि अनेक मत हैं, वे स्व स्वमत को सत्य कहते है। कुछ शताब्दी पूर्व इन विविध मत वालो मे परस्पर मे अपने अपने मत की सिद्धि के लिये वाद हुआ करते थे। जो तर्क अनुमान आदि द्वारा अपने मत को सिद्ध करता उसका मत जय माना जाता और अन्य वादी का मत पराजय, वाद के चार अंग हैं, वादी जो सभा में सबसे पहले अपना पक्ष उपस्थित करता है—प्रतिवादी जो वादी के पक्ष को असिद्ध करने का प्रयत्न करता है, साम्यवाद को सुनने-देखने वाले एवं प्रश्न कर्ता मध्यस्थ महाशय। सभापति वाद मे कलह नही होने देता, दोनो पक्षों को जानने वाला एव जय पराजय का निर्णय देने वाला सज्जन पुरुष सभापति कहलाता है। वादी और प्रतिवादी वे ही होने चाहिए जो प्रमाण और प्रमाणाभास का स्वरूप भली प्रकार से जानते हों, अपने अपने मत में निष्णात हो एव अनुमान प्रयोग में अत्यन्त निपुण हो, क्योकि वाद मे अनुमान प्रमाण द्वारा ही प्राय स्वपक्ष को सिद्ध किया जाता है। वादी प्रमाण और प्रमाणाभास को अच्छी तरह जानता हो तो अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए सत्य प्रमाण उपस्थित करता है, प्रतिवादी यदि न्याय के क्रम का उल्लंघन नहीं करता और उस प्रमाण के स्वरूप को जानने वाला होता है तो उस सत्य प्रमाण मे कोई दूषण नही दे पाता और इस तरह वादी का पक्ष सिद्ध हो जाता है तथा आगे भी प्रतिवादी यदि कुछ प्रश्नोत्तर नही कर पाता तो वादी की जय भी हो जाती है तथा वादी यदि प्रमाणादि को ठीक से नही जानता तो स्वपक्ष को सिद्ध करने के लिए प्रमाणाभास असत्य प्रमाण उपस्थित करता है, तब प्रतिवादी उसके प्रमाण को सदोष बता देता है अब यदि वादी उस दोष को दूर कर देता है तो ठीक है अन्यथा उसका पक्ष असिद्ध होकर आगे उसका पराजय भी हो जाता है। कभी ऐसा भी होता है कि वादी सत्य प्रमाण उपस्थित करता है तो भी प्रतिवादी उसका पराजय करने के लिए उस प्रमाण को दूषित ठहराता है, तब वादी उस दोष का यदि परिहार कर पाता है तो ठीक वरना पराभव होने की संभावना है तथा कभी ऐसा भी होता है कि वादी द्वारा सही प्रमाण युक्त पक्ष उपस्थित किया है तो भी प्रतिवादी अपने मत की अपेक्षा या वचन चातुर्य से उस प्रमाण को सदोष बताता है ऐसे अवसर पर भी वादी यदि उस दोष का परिहार करने में असमर्थ हो

जाता है तो भी वादी का पराजय होना संभव है। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि अपने पक्ष के ऊपर प्रमाण के ऊपर प्रतिवादी द्वारा दिये गए दोषों को निराकरण कर सकना ही विजय का हेतु है।

योग का कहना है कि वाद द्वारा स्वमत की विजय नहीं होती, वाद वीतराग कथा रूप है जो कि गुरु और शिष्य के मध्य में होता है। स्वमत की विजय जल्प और वितंडा द्वारा होती है। जल्प का लक्षण योग इस प्रकार करते हैं—यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थान साधनोपलभो जल्पः। अर्थात् प्रमाण तर्क आदि से युक्त एवं छल, जाति, निग्रहस्थान, साधन, उपालंभ से युक्त जल्प होता है। वादी पुरुष जब अपने पक्ष की सिद्धि एवं पर पक्ष का खंडन करने के लिये छल [असत् उत्तर देना छल है] आदि के द्वारा प्रतिवादी को निरुत्तर करने का प्रयास करता है तब उसका वह वचनालाप जल्प कहलाता है। प्रतिवादी को निरुत्तर करने का एक दूसरा तरीका यह है कि अपना पक्ष रक्खे बिना केवल सामने वाले के पक्ष मे दूषण देते जाना। इस तरीके को वितंडा कहते हैं।

जैनाचार्य ने योग के उपर्युक्त मंतव्य का निरसन किया है कि प्रतिवादी को निरुत्तर करने मात्र से स्वमत की विजय नही होती, विजय के लिये तो अपना मत सभापति आदि के समक्ष सिद्ध करना होगा और यह स्वपक्ष सिद्धि अनुमान प्रयोग मे चतुर पुरुष द्वारा वाद से भली प्रकार की जाती है अतः वाद ही विजय का हेतु है न कि जल्प और वितंडा। इस प्रकरण मे योगाभिमत तीन प्रकार का छल, चौबीस प्रकार की जाति एव बावीस प्रकार के निग्रह स्थानो का विस्तृत विवेचन है। अत में आचार्य ने यह सिद्ध किया है कि निग्रह स्थान या छलादि द्वारा वादी या प्रतिवादी को चुप भले ही किया जाय किन्तु विजिगोषु पुरुष सभा में सपक्ष सिद्ध करके ही विजयी होते है।

नय विवेचन :

नयो के सात भेद हैं—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ एवभूत। इस प्रकरण मे प्रभाचन्द्राचार्य ने प्रत्येक नय के लक्षण के साथ-साथ उस उस नय सम्बन्धी तदाभास का विवेचन लक्षण में कर दिया है अर्थात् नैगमनय, नैगमनयाभास, सग्रहनय, संग्रहनयाभास इत्यादि। सात नयो मे से पूर्व के चार नय अर्थ नय कहलाते हैं और अत के तीन नय शब्दनय कहलाते हैं। इन सातो ही नयो मे पूर्व पूर्व के नय बहुत विषय वाले हैं और आगामी नयो के कारण स्वरूप हैं तथा अग्रिम नय अपने पूर्व नय की अपेक्षा अल्प विषय वाले है एव कार्य स्वरूप हैं। जैसे—नैगमनय संग्रह नय की अपेक्षा बहुत विषय युक्त है एवं सग्रह नय का कारण है। ऐसे ही आगे समझना। यहां पर नय सप्तभंगी एव प्रमाण सप्तभगी वर्णन भी किया है। सप्तभगी मे सात ही भंग क्यों हैं इस प्रश्न का अच्छा समाधान दिया है।

पत्र वाक्य विचार :

स्वमत या पक्ष को सिद्ध करने के लिये वादी प्रतिवादी प्रत्यक्ष सामने होकर वाद करते है तथा कभी पत्र द्वारा भी वाद करते हैं। जब वादी अपना पक्ष पत्र द्वारा प्रतिवादी के निकट प्रेषित करता है वह पत्र किस प्रकार का होना चाहिये इसका विवेचन इस प्रकरण मे है।

❋

परम पूज्य, तपस्वी, आचार्यप्रवर

१०८ श्री शिवसागरजी महाराज
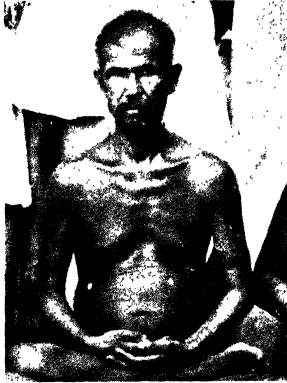
तपस्तपति यो नित्य, कृशाङ्गो गुणपीनकः ।
शिवसिन्धुगुरु वंदे, भव्यजीवहितकरम् ॥

❖

जन्म :	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनि दीक्षा :	समाधि :
वि. स. १९५८	वि सं. २००१	वि. स. २००६	फाल्गुन अमावस्या
अड़गाम	सिद्धवरकूट	नागौर (राज०)	वि. स. २०२५
(महाराष्ट्र)			श्री महावीरजी

तृतीय खंड में आगत परीक्षा मुख के सूत्र

।। पञ्चमः परिच्छेदः ।।

१ अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।

२ प्रमाणाद भिन्नं भिन्नश्च ।

३ यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः ।

।। षष्ठः परिच्छेदः ।।

१ ततोऽन्यत्तदाभासम् ।

२ अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः ।

३ स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् ।

४ पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत् ।

५ चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च ।

६ अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानवत् ।

७ वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ।

८ अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासम्, जिनदत्ते स देवदत्तो यथा ।

९ सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ।

१० असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम्, यावांस्तत्पुत्रः स श्यामो यथा ।

११ इदमनुमानाभासम् ।

१२ तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः ।

१३ अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः ।

१४ सिद्धः श्रावणः शब्दः ।

१५ बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ।

१६ अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ।

१७ अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् घटवत् ।

१८ प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ।

१६ शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खशुक्तिवत् ।

२० माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत् ।

२१ हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ।

२२ असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ।

२३ अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ।

२४ स्वरूपेणासत्त्वात् ।

२५ अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात् ।

२६ तस्य बाष्पादिभावेन भूतसंघाते सन्देहात् ।

२७ सांख्य प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।

२८ तेनाज्ञातत्वात् ।

२६ विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।

३० विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ।

३१ निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत् ।

३२ आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ।

३३ शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ।

३४ सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ।

३५ सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ।

३६ सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात् ।

३७ किञ्चिदकरणात्

३८ यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात् ।

३६ लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ।

४० दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः ।

४१ अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ।

४२ विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तम् ।

४३ विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात् ।

४४ व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ।

४५ विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्तं तन्नापौरुषेयम् ।

४६ बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता ।

४७ अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात् यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति ।

४८ धूमवांश्चायमिति वा ।

४९ तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायमिति ।

५० स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ।

५१ रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ।

५२ यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः ।

५३ अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च ।

५४ विसंवादात्

५५ प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम् ।

५६ लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्धयादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात् ।

५७ सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकै-र्व्याप्तिवत् ।

५८ अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ।

५९ तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वम् अप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् ।

६० प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात् ।

६१ विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ।

६२ तथाऽप्रतिभासनात्कार्याकरणाच्च ।

६३ समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ।

६४ परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् ।

६५ स्वयमसमर्थस्य अकारकत्वात्पूर्ववत् ।

६६ फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ।

६७ अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ।

६८ व्यावृत्त्याऽपि न तत्कल्पना फलान्तराद्व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसङ्गात् ।

६९ प्रमाणाद्व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य ।

७० तस्माद्वास्तवो भेदः ।

७१ भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः ।

७२ समवायेऽतिप्रसङ्गः ।

७३ प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च ।

७४ संभवदन्यद्विचारणीयम् ।

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥१॥

॥ इति परीक्षामुखसूत्रं समाप्तम् ॥

परमपूज्य प्रशान्त मुद्राधारी आचार्यवर्य

१०८ श्री धर्मसागरजी महाराज

धर्मसागर आचार्यो धर्मसागर वर्द्धने।
चन्द्रवत् वर्त्तते योऽसौ नमस्यामि त्रिशुद्धत: ।।

जन्म :	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनि दीक्षा :
पौष पूर्णिमा	वि. सं. २०००	वि. सं० २००७
वि. सं १९७०	बालूज ग्राम	फुलेरा
गभीरा ग्राम (राज०)	(महाराष्ट्र)	(राजस्थान)

विषय–क्रम

विषय | पृष्ठ

मंगलस्तवः

वर्द्धमानं जिनं नौमि घातिकर्मक्षयंकरम् ।
वर्द्धमानं वर्तमाने तीर्थं यस्य सुखंकरम् ।। १ ।।
श्रीसर्वज्ञमुखोत्पन्ने ! भव्यजीव हित प्रदे ।
श्री शारदे ! नमस्तुभ्यं माद्यंत परिवर्जिते ।। २ ।।
मूलोत्तर गुणाढ्या ये जैन शासन वर्द्धकाः ।
निर्ग्रन्थाः पाणि पात्रास्ते पुष्यन्तु नः समीहितम् ।।३।।
माणिक्यनंदि नामानं गुण माणिक्य मंडितम् ।
वन्दे ग्रन्थः कृतो येन परीक्षामुख संज्ञकः ।। ४ ।।
प्रभाचन्द्र मुनिस्तस्य टीकां चक्रे सु विस्तृताम् ।
मयाभिवन्द्यते सोऽद्य विघ्न नाशन हेतवे ।। ५ ।।
पञ्चेन्द्रिय सुनिर्दान्तं पञ्चसंसार भीरुकम् ।
शांतिसागर नामानं सूरिं वन्देऽघनाशकम् ।। ६ ।।
वीर सिन्धु गुरुं स्तौमि सूरि गुण विभूषितम् ।
यस्य पादयोर्लब्धम् मे क्षुल्लिका व्रत निश्चलम् ।।७।।
तपस्तपति यो नित्यं कृशांगो गुण पीनकः ।
शिवसिन्धु गुरुं वन्दे महाव्रत प्रदायिनम् ।। ८ ।।
धर्मसागर आचार्यो धर्मसागर वर्द्धने ।
चन्द्रवत् वर्त्तते योऽसौ नमस्यामि त्रिशुद्धितः ।। ९ ।।
नाम्नीं ज्ञानमती मार्यां जगन्मान्यां प्रभाविकाम् ।
भव्यजीव हितंकारीं विदुषीं मातृवत्सलां ।। १० ।।
अस्मिन्नपार संसारे मज्जन्तीं मां सुनिर्भरम् ।
ययावलंबनं दत्तं मातरं तां नमाम्यहम् ।। ११ ।।
पार्श्वे ज्ञानमती मातुः पठित्वा शास्त्राण्यनेकशः ।
संप्राप्तं यन्मया ज्ञानं कोटि जन्म सुदुर्लभम् ।। १२ ।।
तत्प्रसादादहो कुर्वे, देशभाषानुवादनम् ।
नाम्नः प्रमेयकमल, मार्त्तण्डस्य सुविस्तृतम् ।। १३ ।।

☼

परम पूज्या, विदुषी, न्याय प्रभाकर

आर्यिका रत्न १०५ श्री ज्ञानमती माताजी

सम्यग्ज्ञान दिवाकरी विदुषी मातृवत्सलाम् ।
वन्दे ज्ञानमती आर्या प्रमुखा सुप्रभाविकाम् ।।

जन्म :	क्षुल्लिका दीक्षा :	आर्यिका दीक्षा :
शरद् पूर्णिमा	चैत्र कृष्णा १	वैशाख कृष्णा २
वि. सं. १९९१	वि. सं. २००९	वि. सं. २०१३
टिकैतनगर (उ. प्र.)	श्री महावीरजी	माधोराजपुरा (राज०)

श्रीमाणिक्यनन्द्याचार्यविरचित-परीक्षामुखसूत्रस्य व्याख्यारूप:

श्रीप्रभाचन्द्राचार्यविरचित:

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड:

[तृतीय भाग:]

अथ चतुर्थ: परिच्छेद:

अथोक्तप्रकारं प्रमाणं किं निर्विषयम्, सविषयं वा ? यदि निर्विषयम्; कथं प्रमाणं केशोण्डुकादिज्ञानवत् ? अथ सविषयम्; कोस्य विषय: ? इत्याशङ्कय विषयविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थं

श्री माणिक्यनन्दी आचार्य ने परीक्षामुख नामा संस्कृत सूत्रबद्ध ग्रन्थ रचा था, इस सूत्र ग्रन्थ की सुविस्तृत संस्कृत टीका प्रभाचन्द्राचार्य ने की इस टीका ग्रन्थ का नाम ही प्रस्तुत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड है, इस ग्रन्थ के हिन्दी देश भाषामय अनुवाद सामान्य जनता को न्याय विषयक ज्ञान प्राप्त हो इस उद्देश्य से किया है; मूल ग्रन्थ विशाल होने के कारण अनुवाद भी विशाल हुआ अत: इस ग्रन्थ को तीन खण्डों में विभक्त किया। प्रथम खण्ड में सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण स्वरूप द्वितीय अध्याय के पांचवें सूत्र तक अंश आया है जिसमें प्रथम अध्याय के १३ और द्वितीय अध्याय के ५ कुल १८ सूत्र हैं और संस्कृत टीका २३० पृष्ठों की है। दूसरे खंड में द्वितीयाध्याय के अवशेष ७ सूत्र एवं तृतीयाध्याय के संपूर्ण १०१ सूत्र हैं एवं संस्कृत टीका २३६

'सामान्यविशेषात्मा' इत्याद्याह—

सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ।। १ ।।

तस्य प्रतिपादितप्रकारप्रमाणस्यार्थो विषयः। किंविशिष्टः ? सामान्यविशेषात्मा। कुत एतत् ?

पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेन अर्थक्रियोपपत्तेश्च ।।२।।

पृष्ठों की है। यह विभाग बम्बई धार्मिक परीक्षालय की शास्त्री परीक्षा के कोर्स के अनुसार किया है, शास्त्री परीक्षा के द्वितीय खण्ड में न्याय विषय में प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का २३० पृष्ठों का अंश आता है और शास्त्री परीक्षा तृतीय में आगे के २३६ पृष्ठों का अंश है। अब शेष चतुर्थ परिच्छेद से अंतिम षष्ठ परिच्छेद तक के मूल ग्रन्थ का अनुवाद प्रारम्भ होता है—

"स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्" सूत्र में प्रमाण का अक्षुण्ण लक्षण पहले बताया था उसमें अनेक मतों की अपेक्षा विस्तृत विवेचन पूर्व भागों में कर लिया है, अब यहां प्रश्न होता है कि वह प्रमाण निर्विषयी है अथवा सविषयी है ? यदि निर्विषयी–विषय रहित है [कुछ भी नहीं जानता है] तो वह प्रमाण कैसे कहलायेगा ? अर्थात् नहीं कहला सकता, जैसे कि केशोण्डुकादि ज्ञान प्रमाण नही कहलाते हैं। यदि प्रमाण सविषयी है तो उसका क्या विषय है ? इस प्रकार के प्रश्न को लेकर प्रमाण के विषय सम्बन्धी विवाद को दूर करते हुए आचार्य सूत्रावतार करते हैं—

सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषयः ।।१।।

सूत्रार्थ—सामान्य और विशेष धर्मों से युक्त ऐसा जो पदार्थ है वही प्रमाण विषय है, प्रमाण के द्वारा जानने योग्य पदार्थ है। पूर्वोक्त कहे हुवे प्रमाण का सामान्य विशेषात्मक पदार्थ ही विषय है यह बात किस प्रमाण से सिद्ध है ? ऐसी आशंका को दूर करते हुए अग्रिम सूत्र कहते हैं—

अनुवृत्त व्यावृत्त प्रत्ययगोचरत्वात् "पूर्वोत्तराकार परिहारावाप्तिस्थितिलक्षण-परिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ।।२।।"

अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्, यो हि यदाकारोल्लेखिप्रत्ययगोचर: स तदात्मको दृष्ट: यथा नीलाकारोल्लेखिप्रत्ययगोचरो नीलस्वभावोर्थ:, सामान्यविशेषाकारोल्लेख्यनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरश्चाखिलो बाह्याध्यात्मिकप्रमेयोर्थ:, तस्मात्सामान्यविशेषात्मेति । न केवलमतो हेतो: स तदात्मा,

---

सूत्रार्थ—पदार्थों में अनुवृत्त व्यावृत्त प्रत्यय होते हैं एवं पूर्व आकार का त्याग और उत्तर आकार की प्राप्ति एवं अन्वयी द्रव्य रूप से ध्रुवत्व देखा जाता है इस तरह की परिणाम स्वरूप अर्थ क्रिया देखी जाती है, इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से होने वाली परिणाम स्वरूप अर्थ क्रिया का सद्भाव, पदार्थों को सामान्य विशेषात्मक सिद्ध करता है। पदार्थों में सादृश्य को बतलाने वाला अनुवृत्त प्रत्यय है जैसे यह गौ है, यह भी गौ है इत्यादि अनेक पदार्थों में समानता का ज्ञान होने से, तथा पृथकपना बतलाने वाला व्यावृत्त प्रत्यय अर्थात् यह गौ श्याम है धवल नहीं है इत्यादि व्यावृत्त प्रतिभास होने से पदार्थों में सामान्य और विशेषात्मकपना सिद्ध होता है, जो जिस आकार से प्रतिभासित होता है वह उसी रूप देखा जाता है, जैसे नीलाकार से प्रतिभासित होने के कारण नील स्वभाव वाला पदार्थ है ऐसा माना जाता है। सामान्य आकार का उल्लेखी अनुवृत्त प्रत्यय और विशेष आकार का उल्लेखी व्यावृत्त प्रत्यय सम्पूर्ण बाह्य–अचेतन पदार्थ एवं अभ्यन्तर–चेतन पदार्थों में प्रतीत होता ही है अत: वे चेतन अचेतन पदार्थ सामान्य विशेषात्मक सिद्ध होते हैं। पदार्थों को सामान्य विशेषात्मक सिद्ध करने के लिये अकेला अनुवृत्त व्यावृत्त प्रत्यय ही नहीं है, अपितु सूत्रोक्त पूर्व आकार का त्याग रूप व्यय, उत्तर आकार की प्राप्तिरूप उत्पाद और दोनों अवस्थाओं में अन्वय रूप से रहने वाला ध्रौव्य पदार्थों में पाया जाता है, इस तरह की परिणाम स्वरूप अर्थ क्रिया का सद्भाव भी उनमें पाया जाता है, इन हेतुओं से पदार्थों की सामान्य विशेषात्मकता सिद्ध होती है।

भावार्थ—पदार्थ, वस्तु, द्रव्य, तत्व, अर्थ ये सब एकार्थ वाचक हैं, जगत के दृश्यमान तथा अदृश्यमान पदार्थ या द्रव्य किस रूप हैं जिनको कि प्रमाण ज्ञान अपना विषय बनाता है, इस विषय में नैयायिकादि जैनेतर मतों में भिन्न भिन्न सिद्धांत पाये जाते हैं। नैयायिक वैशेषिक आदि कुछ परवादी सामान्य और विशेष दोनों धर्मों को मानकर भी इनका सम्बन्ध भिन्न भिन्न पदार्थों में होना बतलाते हैं। ब्रह्माद्वैत आदि

अपि तु पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च । 'सामान्यविशेषात्मा तदर्थः' इत्यभिसम्बन्धः ।

अद्वैत वादी वस्तु को मात्र सामान्यात्मक स्वीकार करते हैं । बौद्ध पदार्थों को सामान्य धर्म से रहित सर्वथा विशेषात्मक ही मानते हैं । किन्तु यह सर्व ही मान्यता प्रमाण बाधित है, वस्तु पदार्थ या द्रव्य में सामान्य और विशेष दोनों धर्म, स्वभाव या गुण हमेशा ही रहते है, ऐसा नहीं है कि कुछ पदार्थ केवल सामान्यात्मक हो और कुछ विशेषात्मक ही हो ! इसमें कारण है वस्तु की तथा प्रतीति, हम देखते हैं अनुभव करते हैं कि वस्तु में सामान्य धर्म और विशेष धर्म युगपत सतत प्रतिभासित होते हैं, उदाहरण के लिये एक गौ है उसमें गौत्व–सास्नादिका होना रूप सामान्य धर्म सभी बैल तथा गायों में पाया जाने वाला अनुवृत्त प्रत्यय कराने वाला वैशिष्य है तथा शबल–चितकबरापन विशेष धर्म है जो मात्र उसी में निहित है यह व्यावृत्ति का कारण है, इसी प्रकार घटों में घटत्व तो सामान्य धर्म है और छोटा, बड़ा, मिट्टी का, पीतल का, कृष्ण वर्ण, पीत वर्ण, रक्त वर्ण इत्यादि विशेष धर्म हैं, पट मे पटत्व अर्थात् धागों का ताना बाना रूप बुनाई इत्यादि तो सामान्य धर्म है और रेशमी, सूती, सफेद, काला, मोटा, पतला इत्यादि विशेष धर्म हैं, जगत का एक भी पदार्थ सामान्य और विशेष से रहित उपलब्ध नहीं होता है। इस विषय में आगे स्वयं ग्रन्थकार विविधरीत्या आलोचना करेंगे ही । पदार्थों को सामान्य विशेषात्मक सिद्ध करने के लिये प्रमुख दो हेतु हैं "पदार्थाः सामान्य विशषात्मकाः, अनुवृत्त व्यावृत्त प्रत्यय गोचरत्वात्, पूर्वोत्तराकार-परिहारावाप्ति स्थिति लक्षण परिणामेण, अर्थक्रियोपपत्तेः" पदार्थ–अचेतन चेतन अखिल द्रव्य समूह सामान्य और विशेष उभय धर्म युक्त हैं, क्योंकि उनमें अनुवृत्त का (समानता का) और व्यावृत्तपने का बोध हो रहा है, तथा पूर्व आकार का परिहार रूप व्यय, उत्तराकार की प्राप्ति रूप उत्पाद और उभयाकारों में अन्वय रूप स्थिति–ध्रौव्य पाया जाता है इस प्रकार की परिणाम रूप अर्थ क्रिया की उनमें उपलब्धि है । इस प्रकार इन हेतुओं से पदार्थ उभय धर्मात्मक सिद्ध होते हैं। जगत की कोई भी वस्तु मात्र सामान्य रूप या मात्र विशेष रूप देखने में नहीं आती है अतः प्रत्यक्ष, अनुमान, तर्क एवं आगम प्रमाणों द्वारा सिद्ध सामान्य विशेषात्मक ही पदार्थों को स्वीकार करना चाहिए ।

कतिप्रकारं सामान्यमित्याह—

सामान्यं द्वेधा ॥ ३ ॥

कथमिति चेत्—

तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥ ४ ॥

तत्र तिर्यक्सामान्यस्वरूपं व्यक्तिनिष्ठतया सोदाहरणं प्रदर्शयति—

सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ॥ ५ ॥

अब पदार्थों के उभय धर्मों में से सामान्य धर्म कितने प्रकार का है सो बतलाते हैं—

सामान्यं द्वेधा ॥ ३ ॥ तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ॥ ४ ॥

सूत्रार्थ—सामान्य के दो भेद हैं। तिर्यग् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य।

विशेषार्थ—अनेक वस्तुओं में पाया जाने वाला समान धर्म तिर्यक् सामान्य कहलाता है, जैसे अनेक गायों में गोपना समान रूप से विद्यमान रहता है, इसी तरह पटों में पटत्व, मनुष्यों में मनुष्यत्व, जीवों में जीवत्व इत्यादि समान या सदृश धर्म दिखायी देते हैं इसी को तिर्यक् सामान्य कहते हैं, इस सामान्य धर्म या स्वभाव के कारण ही हमें वस्तुओं में सादृश्य का प्रतिभास होता है। एक ही पदार्थ के उत्तरोत्तर जो परिणमन होते रहते है उनमें उस पदार्थ का व्यापक रूप से जो रहना है वह ऊर्ध्वता सामान्य है, जैसे स्थास, कोश, कूशल आदि परिणमन या पर्यायों में मिट्टी का व्यापक रूप से रहना है। तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य में यह अन्तर है कि तिर्यक् सामान्य तो अनेक पदार्थ या व्यक्तियों में पाया जाने वाला समान धर्म है और उर्ध्वता सामान्य क्रम से उत्तरोत्तर होने वाले पर्यायों में पदार्थ या द्रव्य का रहना अपने क्रमिक पर्यायों में एक अन्वयी द्रव्य का अस्तित्व ऊर्ध्वता सामान्य कहलाता है।

अब सूत्रकार स्वयं व्यक्तियों में निष्ठ रहने वाले इस तिर्यक् सामान्य का स्वरूप उदाहरण सहित प्रस्तुत करते हैं—

सदृश परिणाम स्तिर्यक् खण्ड मुण्डादिषु गोत्ववत् ॥५॥

ननु खण्डमुण्डादिव्यक्तिव्यतिरेकेणापरस्य भवत्कल्पितसामान्यस्याप्रतीतितो गगनाम्भोरुहवदसत्त्वादसाम्प्रतमेवेदं तल्लक्षणप्रणयनम्; इत्यप्यसमीचीनम्; 'गौर्गौः' इत्याद्यबाधितप्रत्ययविषयस्य सामान्यस्याऽभावासिद्धेः। तथाविधस्याप्यस्यासत्त्वे विशेषस्याप्यसत्त्वप्रसङ्गः, तथाभूतप्रत्ययव्यतिरेकेणापरस्य तद्व्यवस्थानिबन्धनस्यात्राप्यसत्त्वात्। अबाधितप्रत्ययस्य च विषयव्यतिरेकेणापि सद्भावाभ्युपगमे ततो व्यवस्थाऽभावप्रसङ्गः। न चानुगताकारत्वं बुद्धेर्बाध्यते; सर्वत्र देशादावनुगतप्रतिभासस्याऽस्खलद्रूपस्य तथाभूतव्यवहारहेतोरुपलम्भात्। अतो व्यावृत्ताकारानुभवानधिगतमनुगताकारमव-

---

सूत्रार्थ—अनेक व्यक्तियों में पाया जाने वाला जो सदृश परिणाम है उसे तिर्यग् सामान्य कहते हैं, जैसे खण्डी मुण्डी आदि गायों में गोत्व–सास्नादि मान पना समान रूप से पाया जाता है, अनेक गायों में रहने वाला जो गोत्व है उसीको तिर्यक्-सामान्य कहते हैं।

सौगत—खण्डी, मुण्डी आदि गायों को छोड़कर अन्य पृथक् जैन का माना हुआ गोत्व सामान्य प्रतीति में नहीं आता है, अतः आकाश पुष्प के समान इस सामान्य का अभाव ही है, इसलिये जैनाचार्य यह जो सामान्य का लक्षण बता रहे हैं वह व्यर्थ है?

जैन—यह कथन अयुक्त है, यह गो है, यह गो है, इस प्रकार सभी गो व्यक्तियों में सामान्य का जो बोध हो रहा है वह निर्बाध है अतः आप बौद्ध सामान्य धर्म का अभाव नहीं कर सकते हैं। अबाधितपने से सामान्य प्रतिभासित होने पर उसको नहीं माना जाय, उसका जबरदस्ती अभाव किया जाय तो फिर विशेष का भी अभाव मानना पड़ेगा? क्योंकि अबाधित प्रत्यय को छोड़कर दूसरा कोई ऐसा प्रमाण नहीं है कि जो विशेष को सिद्ध कर देवे! अर्थात् विशेष भी अबाधित प्रतीति से ही सिद्ध होता है, सामान्य और विशेष दोनों की व्यवस्था निर्बाध प्रमाण पर ही निर्भर है। बाधा रहित ऐसा जो प्रमाण है उसके विषय हुए बिना ही यदि विशेष या किसी तत्व का सद्भाव स्वीकार किया जायगा तो फिर अबाधित ज्ञान से किसी भी वस्तु की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। अनुगत आकार अर्थात् यह गौ है यह गौ है इत्यादि आकार रूप प्रतीति आती है वह किसी तरह बाधित भी नहीं होती है, सब जगह हमेशा ही अनुगताकार प्रतिभास अस्खलितपने से उस प्रकार के व्यवहार का निमित्त होता हुआ देखा गया है इसलिये यह निश्चय होता है कि व्यावृत्ताकार का अनुभव जिसमें नहीं है

भासन्त्यऽबाधितरूपा बुद्धिः अनुभूयमानानुगताकारं वस्तुभूतं सामान्यं व्यवस्थापयति ।

ननु विशेषव्यतिरेकेण नापरं सामान्यं बुद्धिभेदाभावात् । न च बुद्धिभेदमन्तरेण पदार्थभेदव्यवस्थाऽतिप्रसङ्गात् । तदुक्तम्—

"न भेदाद्भिन्नमस्त्यन्यत्सामान्य बुद्धयभेदतः ।
बुद्धयाकारस्य भेदेन पदार्थस्य विभिन्नता ।।"

[ ] इति;

तदप्यपेशलम्; सामान्यविशेषयोर्बुद्धिभेदस्य प्रतीतिसिद्धत्वात् । रूपरसादेस्तुल्यकालस्याभिन्नाश्रयवर्तिनोऽप्यत एव भेदप्रसिद्धेः । एकेन्द्रियाध्यवसेयत्वाज्जातिव्यक्त्योरभेदे वाताऽऽतपादावप्यभेद-

---

और अनुगताकार का अवभास जिसमें हो रहा है ऐसी अबाधित प्रतीति या बुद्धि अपने अनुभव में आ रहे अनुगत आकार का [समान धर्म–यह गो है, यह गो हैं इत्यादि] वास्तविक निमित्त जो सामान्य है उसकी व्यवस्था करती है–अर्थात् अनुवृत्त प्रत्यय से सामान्य की सिद्धि होती ही है ।

शंका—विशेष को छोड़कर पृथक् कोई सामान्य दिखायी नहीं देता है, क्योंकि बुद्धि या ज्ञान में तो कोई भेद उपलब्ध नहीं होता है कि यह सामान्य है और यह विशेष है । अर्थात् प्रतिभास में भिन्नता नहीं होने से सामान्य को नहीं मानना चाहिये । बुद्धि में भेद अर्थात् पृथक् पृथक् प्रतिभास हुए बिना ही पदार्थों के भेदों की व्यवस्था करने लग जायेंगे तो अतिप्रसंग दोष प्राप्त होगा। कहा भी है कि–विशेष से पृथक् कोई भी सामान्य नामक स्वतन्त्र पदार्थ देखा नहीं जाता, क्योंकि सामान्य पृथक् होता तो बुद्धि में अभेद नहीं रहता, अर्थात् विशेष का प्रतिभास भिन्न होता और सामान्य का भिन्न, किन्तु ऐसा नही होता है । बुद्धि के आकार के भेद से ही [झलक की विभिन्नता ही] पदार्थ का भेद सिद्ध होता है ।।१।।

समाधान—यह कथन असुन्दर है, सामान्य और विशेष में बुद्धि का भेद तो प्रतीति सिद्ध है, इसी विषय का खुलासा करते हैं—रूप, रस इत्यादि गुण धर्म एक ही काल में एक ही आश्रयभूत आम्र आदि पदार्थ में रहते हुए भी बुद्धि भेद के कारण ही भिन्न भिन्न सिद्ध होते हैं, अर्थात् एक पदार्थ में एक साथ रहकर बुद्धि, प्रमाण, या ज्ञान उन रूप, रस आदि का पृथक् पृथक् प्रतिभास कराता है और इस पृथक् प्रतिभास के कारण ही रूप, रसादि की पृथक् पृथक् गुण रूप व्यवस्था हुआ करती है ।

प्रसंगः। तत्रापि हि प्रतिभासभेदान्नान्यो भेदव्यवस्थाहेतुः। स च सामान्यविशेषयोरप्यस्ति। सामान्यप्रतिभासो ह्यनुगताकारः, विशेषप्रतिभासस्तु व्यावृत्ताकारोऽनुभूयते।

दूरादूदर्ध्वतासामान्यमेव च प्रतिभासते न स्थाणुपुरुषविशेषौ तत्र सन्देहात्। तत्परिहारेण प्रतिभासनमेव च सामान्यस्य ततो व्यतिरेकस्तल्लक्षणत्वाद्भेदस्य।

यदप्युक्तम्—

शंका—जाति और व्यक्ति अर्थात् सामान्य और विशेष ये दोनों ही एक ही इन्द्रिय द्वारा जानने योग्य होते है [रूप और रस तो ऐसे एक ही इन्द्रिय गम्य नहीं होते] अतः सामान्य और विशेष में भेद नहीं मानते हैं ?

समाधान—इस तरह एक इन्द्रिय द्वारा गम्य होने मात्र से सामान्य और विशेष को एक रूप माना जाय तो वायु और आतप को भी एक रूप मानना पड़ेगा ? क्योंकि ये दोनों भी एक ही स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा गम्य होते हैं ? वायु और आतप में भी प्रतिभास के विभिन्नता के कारण ही भेद सिद्ध होता है अर्थात् शीत स्पर्श के प्रतिभास से वायु और उष्ण स्पर्श के प्रतिभास से आतप की सिद्धि होती है अन्य किसी से तो इनमें भेद व्यवस्था नहीं होती है, इस प्रकार की प्रतिभास भेद या बुद्धि भेद की व्यवस्था तो सामान्य और विशेष में भी पायी जाती है, देखो ! सामान्य का प्रतिभास यह गो है यह गो है इत्यादि अनुगताकार है, और विशेष का प्रतिभास यह इससे भिन्न है, श्याम वर्ण गो, शबल नही है इत्यादि व्यावृत्ताकार अनुभव मे आता है।

सामान्य किस प्रकार प्रमाण से सिद्ध होता है इसमें और भी उदाहरण देखिये—दूर से वस्तु का सामान्य ही धर्म प्रतीत होता है, जैसे कि पुरुष अथवा ठूंट दूर प्रदेश में स्थित है तो देखने वाले को सबसे पहले दोनों में पाया जाने वाला ऊंचाई नामा जो सामान्य धर्म है वही प्रतीत है ठूंट या पुरुष विशेष तो प्रतीत होता नहीं, क्योंकि उस विशेष में संशय बना रहता है कि यह दिखाई देने वाला ऊंचा पदार्थ स्थाणु है अथवा पुरुष है ? यहां विशेष का परिहार करके अकेला सामान्य ही प्रतीत होता है इसलिये विशेष से पृथक् लक्षण वाला सामान्य है यह अपने आप सिद्ध होता है, क्योंकि लक्षण के निमित्त से ही तो स्वभाव या धर्मों में भेद माना जाता है।

"ताभ्यां तद्व्यतिरेकश्च किन्नाऽदूरेऽवभासनम् ।
दूरेऽवभासमानस्य सन्निधानेऽतिभासनम् ॥"
[प्रमाणवार्त्तिकालं०]

तदप्यसुन्दरम्; विशेषेपि समानत्वात्, सोपि हि यदि सामान्याद्व्यतिरिक्तः; तर्हि दूरे वस्तुनः स्वरूपे सामान्ये प्रतिभासमाने किन्नावभासते ? न हीन्द्रधनुषि नीले रूपे प्रतिभासमाने पीतादिरूपं दूरान्न प्रतिभासते। अथ निकटदेशसामग्री विशेषप्रतिभासस्य जनिका, दूरदेशवर्त्तिनां च प्रतिपत्तॄणां सा नास्तीति न विशेषप्रतिभासः; तर्हि सामान्यप्रतिभासस्य जनिका दूरदेशसामग्री निकटदेशवर्त्तिनां चासौ नास्तीति न निकटे तत्प्रतिभासनमिति समः समाधिः। अस्ति च निकटे

बौद्ध के प्रमाणवार्त्तिकालंकार नामा ग्रन्थ में कहा है कि जैनादि परवादी सामान्य को एक वास्तविक पदार्थ मानते हैं सो सामान्य के विषय में हम पूछते हैं कि यदि पुरुष और स्थाणु को छोड़कर भिन्न कोई ऊर्ध्वतासामान्य [ऊंचाई] है तो वह उन वस्तुओं के निकट आने पर क्यों नहीं प्रतीत होता है ? जो धर्म दूर से ही अवभासित हो सकता है वह निकट आ जाने पर तो अधिक स्पष्ट रूप से अवभासित होना चाहिये ? ॥१॥ [किन्तु ऐसा होता तो नहीं, अतः सामान्य को काल्पनिक मानते हैं] सो यह बौद्ध का मंतव्य असत् है, सामान्य के विषय में जिस प्रकार आपने बखान किया उस प्रकार विशेष के विषय में भी कर सकते हैं, कोई कह सकता है कि विशेष नामा धर्म यदि सामान्य धर्म से व्यतिरिक्त है तो दूर से वस्तु के सामान्य स्वरूप के प्रतिभासित होने पर क्यों नही प्रतीत होता है ? विशेष यदि वस्तु में मौजूद है तो वह अवश्य ही सामान्य के प्रतीत होने पर प्रतिभासित हो जाता, इन्द्र धनुष में नील वर्ण प्रतीत होने पर क्या पीतादि वर्ण दूर से ही प्रतीत नहीं होते ? अर्थात् होते ही हैं।

शंका—विशेष धर्म के प्रतिभास को उत्पन्न करने वाली निकट देशादि सामग्री हुआ करती है, वह दूर देशस्थ पुरुषों में नहीं होने से दूर प्रदेश से विशेष का प्रतिभास नहीं होता है ?

समाधान—तो फिर सामान्य धर्म के प्रतिभास को उत्पन्न करने वाली सामग्री दूर देशता है और वह निकट देशवर्ती पुरुषों में नहीं होने से निकट देश से सामान्य का प्रतिभास नहीं होता है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ? सामान्य और विशेष के बारे में शंका समाधान समान ही रहेंगे। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार विशेष

सामान्यस्य प्रतिभासनं स्पष्टं विशेषस्य प्रतिभासवत्, यादृशं तु दूरे तस्यास्पष्टं प्रतिभासनं तादृशं न निकटे स्वसामग्र्यभावात् तद्वदेव ।

न चानुगतप्रतिभासो बहि:साधारणनिमित्तनिरपेक्षो घटते; प्रतिनियतदेशकालाकारतया तस्य प्रतिभासाभावप्रसङ्गात् । न चाऽसाधारणा व्यक्तय एव तन्निमित्तम्; तासां भेदरूपतयाऽऽविष्टत्वात् । तथापि तन्निमित्तत्वे कर्कादिव्यक्तीनामपि गौर्गौरिति बुद्धिनिमित्तत्वानुषङ्गः ।

न चाऽतत्कार्यकारणव्यावृत्तिः एकप्रत्यवमर्शाद्येकार्थसाधनहेतुः अत्यन्तभेदेपीन्द्रियादिवत् समुदितेतरगुडूच्यादिवच्चेत्यभिधातव्यम्; सर्वथा समानपरिणामानाधारे वस्तुन्यतत्कार्यकारण-

---

का प्रतिभास निकट में स्पष्ट रूप से होता है उसी प्रकार सामान्य प्रतिभास भी निकट में स्पष्ट रूप से होता ही है, दूर में स्थित होने पर जैसा सामान्य का प्रतिभास अस्पष्ट होता है वैसा निकट में स्थित होने पर नहीं होता है, क्योंकि वहां स्वसामग्री का अभाव है जैसे कि विशेष दूर में स्थित होने पर अस्पष्ट रूप से प्रतीत होता है और निकट में स्थित होने पर स्पष्ट रूपेन प्रतीत होता है ।

पदार्थों में जो अनुगताकार प्रतिभास होता है वह बाह्य साधारण निमित्त की अपेक्षा बिना नहीं हो सकता है, यदि सामान्य रूप बाह्य निमित्त के बिना ही अनुवृत्त प्रतिभास होता तो प्रतिनियत देश (स्थान गोशालादि) प्रतिनियत काल [उसी विवक्षित समय में] और प्रतिनियत आकार [सास्नादि मान] रूप से उस सामान्य की (गोत्व आदि) प्रतीति नहीं आ सकती थीं । इस अनुगताकार प्रतिभास का निमित्त असाधारण व्यक्तियां (खंडी आदि गाये) ही है ऐसा कहना तो अशक्य है, व्यक्तियां अर्थात् शबली आदि गो विशेष अथवा अन्य अन्य वस्तु विशेष भेद रूप से आविष्ट हैं वे व्यक्तियां सामान्य या सदृशतारूप अनुगताकार का प्रतिभास कराने में निमित्त नहीं हो सकती हैं, यदि भिन्न भिन्न व्यक्तियां ही अनुगताकार की प्रतीति में निमित्त हैं तो सफेद अश्व आदि व्यक्तियां भी "यह गो है, यह गो है" इस प्रकार के अनुगत प्रतिभास का निमित्त बन जायेंगी ? क्योंकि जैसे शबली धवलो आदि गो व्यक्तियां असाधारण होकर भी सामान्याकार का प्रतिबोध कराती है वैसे सफेद आदि अश्व व्यक्तियां भी करा सकती हैं, उभयत्र व्यक्तिपना तो है ही ?

बौद्ध—सफेद अश्वादि व्यक्तियों द्वारा गो आदि व्यक्तियों में अनुगत आकार की प्रतीति इसलिये नहीं होती है कि अश्वादि व्यक्तियों की गो आदि व्यक्तियों के साथ

व्यावृत्तेरेवासम्भवात् । अनुगतप्रत्ययाद्वस्तुनि प्रवृत्त्यऽभावप्रसङ्गाच्च । गुडूच्यादिदृष्टान्तोपि साध्यविकल:; न खलु ज्वरोपशमनशक्तिसमानपरिणामाभावे 'गुडूच्यादयो ज्वरोपशमनहेतवः न पुनर्दधित्रपुसादयोपि' इति शक्यव्यवस्थम्, 'चक्षुरादयो वा रूपज्ञानहेतवस्तज्जननशक्तिसमानपरिणामविरहिणोपि न पुना रसादयोपि' इति निर्निबन्धना व्यवस्थिति: ।

कार्य कारण भाव की व्यावृत्ति है अर्थात् अश्वादि व्यक्तियां गो आदि व्यक्तियों का न कारण है और न कार्य ही है, जिसके साथ कार्य कारण भाव होता है वही उसके प्रतीति में निमित्त कारण हुआ करता है, अतः एक प्रत्यवमर्शी ज्ञान में (अनुगताकार ज्ञान में यह गो है, यह गो है, इस प्रकार की प्रतीति में) गो व्यक्तियां निमित्त हुआ करती हैं, यह प्रतीति एक प्रत्यवमर्शी आदि एकार्थ साधनभूत है अर्थात् एक ही प्रकार के पदार्थ का विमर्श करने वाली तथा एक ही व्यवहार का हेतु है, गो व्यक्तियां परस्पर में अत्यन्त भिन्न होने पर भी इन्द्रियादि के समान अथवा समस्त या व्यस्त गुडूची आदि औषधि के समान सामान्यपने का बोध कराने में हेतु है, अर्थात् जैसे इन्द्रिय, प्रकाश और पदार्थ ये तीनों अत्यन्त भिन्न होने पर भी एक रूप ज्ञान के प्रति हेतु हैं, तथा गुडूची, सोंठ आदि औषधि ये अत्यन्त भिन्न होने पर भी एक ज्वर नाश रूप कार्य को करते हैं वैसे ही गो व्यक्तियां परस्पर में अत्यन्त भिन्न होने पर भी एक प्रत्यवमर्शी ज्ञान को उत्पन्न कराती है ।

भावार्थ—जैन ने पूछा कि बौद्ध जब सदृश परिणाम या सामान्य धर्म का अस्तित्व स्वीकार नही करते हैं तो जैसे गो व्यक्तियों से गो में अनुगताकार प्रतिभास होता है वैसे सफेद अश्व आदि व्यक्तियों से भी होना चाहिए ? सो इसका उत्तर बौद्ध ने यह दिया कि अतद् कारण कार्य व्यावृत्ति अर्थात् सफेद अश्वादि व्यक्तियां खण्डी आदि गो व्यक्तियों का कार्य और कारण रूप नहीं हैं ऐसे अतद् कार्य कारणभूत अश्वादि व्यक्तियों से गो व्यक्तियों की व्यावृत्ति है पृथक्पना है यही कारण है कि उन गो व्यक्तियों द्वारा एक प्रत्यवमर्शी आदि एकार्थ साधन अर्थात् गो है, गो है इस प्रकार एकत्व का स्पर्श करने वाला अनुगत प्रत्यय हो जाता है, इस विषय का अनुमान इस तरह होवेगा कि खण्डी मुण्डी आदि गो व्यक्तियां सामान्य धर्म से रहित होकर ही अर्थात् परस्पर में अत्यन्त भिन्न होकर ही एक प्रत्यवमर्शी ज्ञान का (गोत्व प्रतिभास का) हेतु हैं, क्योंकि इनमें अतद् कार्य कारण व्यावृत्ति पायी जाती है, जैसे चक्षु

किञ्च, अनुगतप्रत्ययस्य सामान्यमन्तरेणैव देशादिनियमेनोत्पत्तौ व्यावृत्तप्रत्ययस्यापि विशेषमन्तरेणैवोत्पत्तिः स्यात्। शक्यं हि वक्तुम्-अभेदाविशेषेप्येकमेव ब्रह्मादिरूपं प्रतिनियतानेक-नीलाद्याभासनिबन्धनं भविष्यतीति किमपररूपादिस्वलक्षणपरिकल्पनया। ततो रूपादिप्रतिभासस्येवानुगतप्रतिभासस्याप्यालम्बन वस्तुभूतं परिकल्पनीयम् इत्यस्ति वस्तुभूतं सामान्यम्।

प्रकाश और पदार्थ परस्पर में भिन्न होकर रूपादि ज्ञानों का हेतु हुआ करते हैं, अथवा जैसे गुडूची, सोंठ आदि पदार्थ भिन्न होकर बुखार की शांति का हेतु हुआ करते हैं। मतलब यह है कि बिना सदृश परिणाम के ही अतत् कार्यकारण की व्यावृत्ति होने से अर्थात् गो व्यक्तियों में उस कार्य कारण भाव की व्यावृत्ति नहीं होने से गो व्यक्तियां गोत्व का प्रतिभास करा देती हैं। सफेद अश्वादि अतद् कार्य कारण व्यावृत्ति नहीं है अर्थात् कार्य कारण भाव नहीं है अतः वे अनुगत प्रत्यय का हेतु नहीं हैं?

जैन— यह बौद्ध का कथन असत् है, सर्वथा समान परिणाम से रहित जो वस्तु होगी उसमे असद् कार्य कारण व्यावृत्ति का होना ही असंभव है, तथा जब वस्तु में अनुगत प्रत्यय का आधार जो समान परिणाम हैं वह नही रहेगा तो अनुगत प्रत्यय के कारण जो पदार्थ में प्रवृत्ति हुआ करती है वह भी नही हो सकेगी। तथा अतद् कार्य कारण व्यावृत्ति हेतु वाले इस अनुमान में दिया हुआ गुडूची आदि का दृष्टांत साध्यविकल भी है, देखिये यदि गुडूची आदि औषधिओं में ज्वर का उपशमन करने की शक्ति रूप समान परिणाम (सामान्य) नही माना जाय तो "गुडूची आदि पदार्थ तो ज्वर के शान्ति के लिये होते हैं और दही, ककड़ी आदि नही होते हैं" ऐसी व्यवस्था होना अशक्य है। इसी प्रकार चक्षु प्रकाश आदि में रूप ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति रूप समान परिणाम नहीं है तो "चक्षु आदि रूप ज्ञान का ही हेतु है रसादि ज्ञान का नहीं" इस तरह की व्यवस्था होना अशक्य है। इस तरह बौद्ध के अतद् कार्य कारण व्यावृत्ति रूप हेतु की सिद्धि नहीं होती है।

किंच, यदि सामान्य के बिना ही देशादि नियत रूप से अनुगत प्रत्यय का प्रादुर्भाव होता है तो विशेष के बिना ही व्यावृत्त प्रत्यय का प्रादुर्भाव होता है ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा। कह सकते हैं कि सम्पूर्ण पदार्थों में अभेद का अविशेषपना (अद्वैत) होने पर भी एक परम ब्रह्मादि के निमित्त से ही प्रतिनियत-भिन्न भिन्न नील, पीत

एककार्यतासादृश्येनैकत्वाध्यवसायो व्यक्तीनाम्; इत्यप्ययुक्तम्; कार्यसाम्यस्यैवासिद्धेः, वाहदोहादिकार्यस्य प्रतिव्यक्ति भेदात्। तत्राप्यपरैककार्यतासादृश्येनैकत्वाध्यवसायेऽनवस्था। ज्ञान-लक्षणमपि कार्यं प्रतिव्यक्ति भिन्नमेव।

अनुभवानामेकपरामर्शप्रत्ययहेतुत्वादेकत्वम्, तद्धेतुत्वाच्च व्यक्तीनामित्युपचरितोपचारोपि श्रद्धामात्रगम्यः; अनुभवानामप्यत्यन्तवैलक्षण्येनैकपरामर्शप्रत्ययहेतुत्वायोगात्, अन्यथा कर्कादिव्यक्त्य-

---

आदि अनेक तरह के प्रतिभास होते हैं अतः पृथक् पृथक् द्वैतरूप नील, पीत इत्यादि रूप स्वलक्षण भूत विशेष विशेष वस्तुओं की कल्पना करना व्यर्थ ही है? इस आपत्ति को दूर करने के लिये रूपादि के प्रतिभासों का कारण जैसे विभिन्न विशेष धर्म हुआ करते हैं और वे व्यावृत्त प्रत्यय के कारण हैं ऐसा आप मानते हैं वैसे ही सदृश प्रतिभासों का कारण सामान्य धर्म है और यही अनुगताकार प्रत्यय [गो है, गो है] का कारण है ऐसा मानना चाहिये। इस प्रकार वस्तुभूत सामान्य की सिद्धि होती है।

शंका—गो आदि व्यक्तियां एक ही कार्य को करने वाली हुआ करती हैं अतः उनमें कार्य की सदृशता के कारण एकत्व का प्रतिभास–अनुगत प्रत्यय होता है अर्थात् अनुगत प्रत्यय कार्य के सादृश्य के निमित्त से हुआ करता है न कि सामान्य धर्म के निमित्त से?

समाधान—यह कथन अयुक्त है, गो आदि व्यक्तियों में कार्यत्व की समानता नहीं होती है, उनमें तो प्रत्येक व्यक्तिका वाह्–बोझा ढोना, दोह्–दूध देना इत्यादि पृथक् पृथक् ही कार्य हुआ करता है। यदि उन व्यक्तियों में एक कार्यत्व का सादृश्य सिद्ध करने के लिये अन्य कोई एक कार्यत्व का सादृश्य माना जाय तब तो अनवस्था दूषण आयेगा। गो व्यक्तियों का प्रतिभासित होना रूप कार्य भी प्रतिव्यक्ति का भिन्न भिन्न ही है।

बौद्ध—निर्विकल्प ज्ञानों में एक परामर्श रूप प्रतीति आने से एकपना सिद्ध होता है और ज्ञानों की एकता के कारण गो आदि व्यक्तियों में एक कार्यता रूप सादृश्य सिद्ध हो जाता है?

जैन—यह उपचरित उपचार तो मात्र श्रद्धागम्य है न कि तर्कगम्य है। देखिये आपने कहा कि अनुभव स्वरूप निर्विकल्पक ज्ञानों में एकत्व है किन्तु यह बात गलत है, अनुभव भी परस्पर में अत्यन्त विलक्षण माने गये हैं अतः उनमें एक परामर्श

नुभवेभ्योपि खण्डमुण्डादिव्यक्तौ एकपरामर्शप्रत्ययस्योत्पत्तिः स्यात् । अथ प्रत्यासत्तिविशेषात्खण्डमुण्डाद्यनुभवेभ्य एवास्योत्पत्तिर्नान्यतः । ननु प्रत्यासत्तिविशेषः कोन्योऽन्यत्र समानाकारानुभवात्, एकप्रत्यवमर्शहेतुत्वेनाभिमतानां निर्विकल्पकबुद्धीनामप्रसिद्धेश्च । अतोऽयुक्तमेतत्—

"एकप्रत्यवमर्शस्य हेतुत्वाद्धीरभेदिनी ।
एकधीहेतुभावेन व्यक्तीनामप्यभिन्नता ।।"

[प्रमाणवा० १।११०] इति ।

ततोऽबाधबोधाधिरूढत्वात्सिद्धं सदृशपरिणामरूपं वस्तुभूतं सामान्यम् । तस्याऽनभ्युपगमे—

प्रत्यय का हेतुपना सिद्ध नहीं हो सकता है, अन्यथा सफेद अश्व आदि व्यक्तियों के अनुभवों से भी खण्डी मुण्डी आदि गो व्यक्ति में एक परामर्शी ज्ञान की उत्पत्ति होने लग जायगी ।

बौद्ध—ऐसी बात नहीं होगी, क्योंकि प्रत्यासत्ति विशेषता के कारण खण्डी मुण्डी आदि गो के अनुभवों से ही गो व्यक्तियों मे एक परामर्शी प्रतिभास की उत्पत्ति होती है, अन्य सफेद अश्वादि के अनुभवो से नहीं, मतलब गो व्यक्ति के अनुभवो की गो व्यक्ति के साथ ही प्रत्यासत्ति विशेष [निकटता] है न कि कर्कादि के अनुभवों के साथ है, अतः गो व्यक्तियों के अनुभवों से मात्र गो व्यक्ति में एक परामर्शी ज्ञान होता है ?

जैन—अच्छा तो यह बताइये कि प्रत्यासत्ति विशेष किसे कहते हैं ? समान आकार रूप से प्रतीति होना ही प्रत्यासत्ति विशेष कहलाती है, न कि अन्य कुछ । यह भी बात है कि निर्विकल्प ज्ञान स्वरूप अनुभव एक परामर्शी प्रतिभास का हेतु है ऐसा आप कहते हैं किन्तु निर्विकल्प ज्ञान की ही सिद्धि नहीं होती है, इस ज्ञान का पहले ही [निर्विकल्प प्रत्यक्षवादः नामा प्रथम भाग के प्रकरण में] खण्डन कर आये हैं । अतः निम्नलिखित श्लोकार्थ अयुक्त है कि—एक परामर्शी प्रतिभास का हेतु निर्विकल्प बुद्धि है, निर्विकल्प ज्ञानों में एकपना होने के कारण ही गो आदि व्यक्तियों में अभिन्नता या समानता की झलक-अनुगत प्रत्यय [गो है, गो है] होता है ।।१।। इस प्रकार बौद्ध का सामान्य विषयक मंतव्य बाधित होता है इसलिये सदृश परिणाम स्वरूप सामान्य ही वास्तविक वस्तु है ऐसा स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि यह सामान्य का स्वरूप अबाधित ज्ञान द्वारा सिद्ध होता है । यदि सामान्य को वस्तुभूत नहीं माना जाय तो आपके प्रमाण वार्त्तिक के वक्तव्य में विरोध आता है । इसी को बताते हैं—क्षणिक

"यो चेद्भ्रान्तिनिमित्तेन संयोज्येत गुणान्तरम् ।
शुक्तौ वा रजताकारो रूपसाधर्म्यदर्शनात् ।।"

[प्रमाणवा० १।४५] इत्यस्य,

"अर्थेन घटयत्येनां न हि मुक्त्वार्थरूपताम् ।
तस्मात्प्रमेयो (या)ऽधिगतेः प्रमाणं मेयरूपता ।।"

[प्रमाणवा० ३।३०५]

इत्यस्य च विरोधानुषङ्गः ।

स्वलक्षण रूप वस्तु में भ्रम के कारण यदि क्षणिक गुण से अन्य जो अक्षणिकत्व या नित्यत्व है उसका आरोप या संयोग पुरुष द्वारा नहीं किया जाता तो "सर्वं क्षणिकं, सत्वात्" इत्यादि अनुमान प्रमाण प्रयुक्त नहीं होते । सीप में समान धर्म जो शुक्ल रूप है उसके देखने से रजताकार प्रतिभास होने लगता है वह भी भ्रम के कारण ही होता है ।।१।। पदार्थ के सदृश आकार धारण करने वाली बुद्धि पदार्थ के साथ सम्बन्ध घटित करती है उसको छोड़कर अन्य कोई पदार्थ के साथ सम्बन्ध घटित करने वाला नहीं है, अतः प्रमेयाकार होने से प्रमाण की प्रमेय की साकारता सिद्ध होती है, अर्थात् ज्ञान पदार्थ के सदृश आकार को धारता है इस कारण से ही उसके प्रतिनियत विषय की व्यवस्था होती है ।।२।। इत्यादि, इन उभय श्लोकों में पदार्थों में समान धर्म होना स्वीकार किया गया है, अर्थात् सीप और रजत में रूप सादृश्य है, ज्ञान में पदार्थ सदृश आकार है ऐसा कहा गया है अतः यहां पर यदि बौद्ध सदृश परिणाम स्वरूप सामान्य को नहीं मानते हैं तो इन श्लोकार्थों से विरोध आता है । यहां तक बौद्ध के अतद् व्यावृत्ति रूप सामान्य का निरसन किया है, अब आगे यौग आदि के नित्य सर्वगत सामान्य का निरसन करते हैं—यह प्रतीति से सिद्ध जो सामान्य है उसको अनित्य (कथंचित्) तथा असर्वगत— अव्यापक स्वभाव वाला स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि नित्य सर्वगत स्वभाव वाला मानने से उसमें अर्थ क्रिया नहीं हो सकती है, शबली आदि गो व्यक्तियां अनित्य और असर्वगत होने से उनमें निष्ठ जो गोत्व सामान्य है वह अनित्य असर्वगत होना युक्ति युक्त ही है, यह गोत्व वाह तथा दोहन आदि अर्थ क्रिया में उपयुक्त नहीं देखा गया है, वाहादि क्रिया में तो गोत्व निष्ठ व्यक्तियां ही समर्थ हुआ करती हैं ।

तच्चाऽनित्यासर्वगतस्वभावमभ्युपगन्तव्यम्; नित्यसर्वगतस्वभावत्वेऽर्थक्रियाकारित्वायोगात्। न खलु गोत्वं वाहदोहादावुपयुज्यते, तत्र व्यक्तीनामेव व्यापाराभ्युपगमात्।

स्वविषयज्ञानजनकत्वेपि व्यापारोस्य केवलस्य, व्यक्तिसहितस्य वा? केवलस्य चेत्; व्यक्त्यन्तरालेप्युपलम्भप्रसङ्गः। व्यक्तिसहितस्य चेत्; किं प्रतिपन्नाखिलव्यक्तिसहितस्य, अप्रतिपन्नाखिलव्यक्तिसहितस्य वा? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; असर्वविदोऽखिलव्यक्तिप्रतिपत्तेरसम्भवात्। द्वितीयपक्षे पुनः एकव्यक्तेरप्यग्रहणे सामान्यज्ञानानुषङ्गः। प्रतिपन्नकतिपयव्यक्तिसहितस्य जनकत्वे तु तस्य ताभिरुपकारः क्रियते, न वा? प्रथमपक्षे सामान्यस्य व्यक्तिकार्यता, तदभिन्नोपकारकरणात्। अतो

यौगादि परवादी गोत्व आदि सामान्य धर्म को नित्य तथा व्यापक मानते हैं सो ऐसा यह गोत्वादि सामान्य अपने विषय में प्रतिभास कराता है वह अकेला ही "यह गो है" इत्यादि रूप प्रतिभास कराने में समर्थ है अथवा व्यक्ति [खण्ड, मुण्डादि] सहित होकर प्रतिभास कराने में समर्थ है? केवल गोत्वादि सामान्य ही स्वविषयक ज्ञान पैदा कराता है ऐसा प्रथम पक्ष मानेंगे तो गो आदि व्यक्तियों के अन्तराल में भी गोत्व आदि सामान्य उपलब्ध होने लगेगा, क्योंकि व्यक्ति के बिना ही सामान्य स्वविषय में ज्ञान को उत्पन्न कराता है ऐसा मान लिया है। द्वितीय विकल्प की बात कहें कि व्यक्ति सहित जो गोत्वादि सामान्य है वह स्वविषय का ज्ञान कराता है तो इसमें पुनः दो प्रश्न होवेंगे कि वह सामान्य जिस पुरुष ने संपूर्ण व्यक्तियों के सामान्य को जान लिया है उसके लिये स्वविषयक ज्ञान का हेतु होता है अथवा बिना जाने हुए पुरुष के लिये हेतु होता है? प्रथम पक्ष कहो तो ठीक नही है, क्योंकि असर्वज्ञ [अल्पज्ञ] पुरुष को संपूर्ण व्यक्तियों को जानना ही अशक्य है तो उनमें स्थित सामान्य को कैसे जाना जा सकता है? अर्थात् नहीं जाना जा सकता। संपूर्ण गो आदि व्यक्तियों को नहीं जाने हुए पुरुष के प्रति वह सामान्य स्वविषय में ज्ञान उत्पन्न कराता है ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो एक भी व्यक्ति को बिना जाने सामान्य का प्रतिभास हो सकेगा, अर्थात् व्यक्ति को बिना ग्रहण किये सामान्य जानने में आवेगा, किन्तु ऐसा नहीं होता है। शबली आदि गो व्यक्ति को बिना जाने गोत्व सामान्य जाना जाय ऐसा कहीं देखा नहीं जाता है। कुछ व्यक्तियों को जाने हुए पुरुष के प्रति सामान्य स्वविषयक ज्ञान पैदा कराता है ऐसा स्वीकार करे तो शंका होती है कि उक्त ज्ञात हुए कतिपय व्यक्तियों द्वारा सामान्य का उपकार किया जाता है अथवा नहीं किया जाता है? यदि किया

भिन्नस्यास्य करणे 'तस्य' इतिव्यपदेशासिद्धिः । तत्कृतोपकारेणाप्युपकारान्तरकरणेऽनवस्था । द्वितीयपक्षे तु व्यक्तिसहभाववैयर्थ्यम् सामान्यस्य, अकिञ्चित्करस्य सहकारित्वासम्भवात् ।

सामान्येन सहैकज्ञानजनने व्यापाराद्वयक्तीनां तत्सहकारित्वेपि किमालम्बनभावेन तत्र तासां व्यापारः, अधिपतित्वेन वा ? प्राच्यकल्पनायाम् एकमनेकाकारं सामान्यविशेषज्ञानं सर्वदा स्यात्, स्वालम्बनानुरूपत्वात्सकलविज्ञानानाम् ।

द्वितीयविकल्पे तु व्यक्तीनामनधिगमेपि सामान्यज्ञानप्रसंगः । न खलु रूपज्ञाने चक्षुषोधिगतस्याधिपतित्वेन व्यापारो दृष्टः अदृष्टस्य वा, सर्वथा नित्यवस्तुनः क्रमाऽक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधा-

---

जाता है तो सामान्य व्यक्ति का कार्य कहलायेगा, क्योंकि व्यक्ति द्वारा सामान्य का अभिन्न ऐसा उपकार किया गया है ? नित्य सामान्यवादी उस उपकार को सामान्य से भिन्न किया हुआ मानते हैं तो "यह सामान्य का उपकार है" इस प्रकार कह नहीं सकेंगे । यदि सामान्य और उपकार का सम्बन्ध जोड़ने के लिये अन्य उपकार व्यक्ति द्वारा किया जाना माने तो अनवस्था स्पष्ट ही दिखायी देती है । व्यक्ति द्वारा सामान्य का कुछ उपकार नहीं किया जाता ऐसा दूसरा पक्ष स्वीकार करे तो सामान्य का व्यक्ति के साथ रहना व्यर्थ होगा, जो कुछ भी नहीं करता है उस अकिञ्चितकर में सहकारी भाव होना असंभव ही होगा ।

यौग—शबली आदि गो व्यक्तियां "गो है, गो है" इस प्रकार के एक ज्ञान को उत्पन्न कराने में सामान्य को सहायता पहुंचाती हैं अतः उन व्यक्तियों को सामान्य का सहकारी मानते हैं, अर्थात् व्यक्तियों में सहकारीपना होता ही है ?

जैन—ऐसी बात है तो बताइये कि व्यक्तियां सामान्य की सहकारी बनती हैं सो एक ज्ञान को उत्पन्न कराने में सामान्य के साथ उन व्यक्तियों का आलंबन भाव से व्यापार होता है अथवा अधिपतित्व भाव से व्यापार होता है ? प्रथम पक्ष की बात कहो तो एक अनुवृत्ताकार जो ज्ञान है वह अनेकाकार सामान्य विशेष रूप हमेशा होने लगेगा क्योंकि सामान्य एक रूप और व्यक्तियां अनेक रूप है और दोनों का उस ज्ञान में आलंबन है । सभी ज्ञान अपने आलंबन के अनुसार होते हैं यह बात प्रसिद्ध ही है ।

दूसरा पक्ष—अनुगताकार ज्ञान की उत्पत्ति में सामान्य के साथ व्यक्तियों का अधिपतित्व भाव से व्यापार होता है ऐसा कहने पर तो व्यक्तियों को बिना जाने भी सामान्य का ज्ञान होने का प्रसंग आता है । व्यक्तियों को बिना जाने सामान्य का ज्ञान

च्चास्य न कस्याञ्चिदर्थक्रियायां व्यापारः । व्यापारे वा सहकारिनिरपेक्षितया सदा कार्यकारित्वानुषङ्गः, तदवस्थाभाविनः कार्यजननस्वभावस्य सदा सम्भवात्, अभावे च अनित्यत्वं स्वभावभेदलक्षणत्वात्तस्य । कार्याजननस्वभावत्वे वा अस्य सर्वदा कार्याजनकत्वप्रसङ्गः । यो हि यदऽजनकस्वभावः सोन्यसहितोपि न तज्जनयति यथा शालिबीजं क्षित्याद्यविकलसामग्रीयुक्त कोद्रवांकुरम्, अजनकस्वभावं च सामान्यं कार्यस्य, इत्यवस्तुत्वापत्तिर्नित्यैकस्वभावसामान्यस्य, अर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वाद्वस्तुनः ।

कैसे होगा ? इस तरह की आशंका हो तो चक्षु का दृष्टान्त देकर बताते हैं, चक्षु को जानने पर ही उसके रूप को जानने में व्यापार होवे सो बात है नहीं, इसी प्रकार चक्षु का धर्म जो अदृष्ट है उसका भी अनधिगत होकर ही रूप को जानने में अधिपतित्व भाव से व्यापार होता हुआ देखा जाता है, वैसे व्यक्तियों का भी अनुगताकार ज्ञान में अनधिगत रहकर भी व्यापार हो सकेगा ही ? यह बात भी है कि परवादी संमत सामान्य तो सर्वथा नित्य है, नित्य वस्तु में अक्रम से और क्रम से अर्थ क्रिया होना विरुद्ध है अतः नित्य सामान्य का किसी भी अर्थ क्रिया में [एक ज्ञान की उत्पत्ति में] व्यापार होना असंभव है । यदि नित्य सामान्यादि वस्तु अर्थक्रिया में व्यापार करती है ऐसा जबरदस्ती मान लेवे तो भी वह नित्य वस्तु सहकारी के अपेक्षा के बिना ही सर्वदा कार्य को (स्वविषय में ज्ञान को अथवा अनुगताकार ज्ञान को) करती ही रहेगी ? क्योंकि सहकारी से रहित अवस्था वाले उस सामान्यादि नित्य वस्तु का कार्य को उत्पन्न करने का स्वभाव सदा विद्यमान ही रहता है । यदि परवादी कहे कि उस नित्य वस्तु में ऐसा स्वभाव हमेशा नहीं रहता है तब तो वह वस्तु अनित्य ही कहलायेगी, क्योंकि स्वभाव में भेद होना, परिवर्तन होना यही तो अनित्य का लक्षण है । नित्य वस्तुभूत इस सामान्यादि में स्वविषय में ज्ञानोत्पत्ति आदि कार्य को करने का स्वभाव नहीं माना जाय तो वह नित्य वस्तु कभी कार्य को उत्पन्न कर ही नहीं सकेगी । इसी विषय का खुलासा करते हैं— सामान्यादि नित्य वस्तु कार्य की जनक नही हुआ करती, क्योंकि उसमें कार्य का अजनकत्व स्वभाव है, जो जिसका अजनक स्वभाव वाला होता है वह अन्य जो सहकारी कारण है उससे युक्त होने पर भी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता है, जैसे शालि (चावल) के बीज में कोदों के अंकुर को उत्पन्न करने का स्वभाव नहीं है तो वह शालि बीज पृथिवी जलादि सम्पूर्ण सामग्री के मिलने पर भी उस कोदों के अंकुर को उत्पन्न नहीं ही करता, ऐसे ही सामान्य है उसमें कार्य का अजनकत्व रूप स्वभाव है (अतः वह स्वविषय में ज्ञानोत्पत्ति रूप कार्य नहीं कर

तथा तत्सर्वसर्वगतम्, स्वव्यक्तिसर्वगतं वा ? न तावत्सर्वसर्वगतम्; व्यक्त्यन्तरालेऽनुपलभ्यमानत्वाद्व्यक्तिस्वात्मवत्। तत्रानुपलम्भो हि तस्याऽव्यक्तत्वात्, व्यवहितत्वात्, दूरस्थितत्वात्, अदृश्यत्वात्, स्वाश्रयेन्द्रियसम्बन्धविरहात्, आश्रयसमवेतरूपाभावाद्वा स्याद्गत्यन्तराऽभावात्? न तावदव्यक्तत्वात्; एकत्र व्यक्तौ सर्वत्र व्यक्तेरभिन्नत्वात्। अव्यक्तत्वाच्चान्तराले तस्यानुपलम्भे व्यक्तिस्वात्मनोप्यनुपलम्भोऽत एवास्तु। तत्रास्य सद्भावावेदकप्रमाणाभावादसत्त्वादेवाऽनुपलम्भे

सकता है) इस प्रकार इस अनुमान द्वारा नित्य एक स्वभाव वाले सामान्य में अवस्तुपने की आपत्ति आती है, क्योंकि वस्तु का स्वभाव अर्थ क्रिया कारित्व है और नित्य सामान्य में वह सिद्ध नहीं होती है।

परवादी उस सामान्य को सर्वगत भी मानते हैं सो उसमें प्रश्न है कि स्वसंबंधी सभी व्यक्तियों में तथा अन्यत्र सर्वत्र रहना रूप सर्व सर्वगतपना है अथवा विवक्षित एक व्यक्ति में सर्वांशपने से रहना रूप स्वव्यक्तिसर्वगतपना है? सर्वसर्वगत होना तो बनता नहीं है, क्योंकि सामान्य धर्म व्यक्तियों के अंतराल में उपलब्ध नहीं होता है, जिस प्रकार कि व्यक्ति का स्वरूप अंतराल में उपलब्ध नहीं होता है। आप सामान्य को सर्वसर्वगत होते हुए भी व्यक्तियों के अन्तराल में उसकी अनुपलब्धि होना कैसे सिद्ध कर सकेंगे, कौनसे हेतु उनमें रहेंगे? व्यक्तियों के अन्तराल में सामान्य अव्यक्त होने से उपलब्ध नहीं होता अथवा व्यवहित होने से, या दूर में स्थित रहने से, अदृश्य के कारण, स्वाश्रयभूत इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं होने से, या कि आश्रय में समवेत रूप का अभाव होने से उपलब्ध नहीं होता है? इन छह हेतुओं को छोड़कर अन्य तो कोई हेतु है नहीं। अंतराल में सामान्य अव्यक्त रहने के कारण उपलब्ध नहीं होता है ऐसा प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि जब वह सामान्य एक गो व्यक्ति में व्यक्त हुआ दिखायी देता है तब वह सर्वत्र व्यक्त ही बन जायगा, क्योंकि व्यक्त स्वभाव से वह अभिन्न है? सामान्य अव्यक्त है और इसी वजह से अंतराल में उपलब्ध नहीं होता है ऐसा बताया जाय तो व्यक्तियों के विषय में भी यही बात कह सकते हैं कि व्यक्तियां सर्वगत हैं किन्तु अन्तराल में अव्यक्तता के कारण उपलब्ध नहीं होती हैं इत्यादि?

यौग—व्यक्तियों को सर्वगत मान ही नहीं सकते, क्योंकि अन्तराल में व्यक्तियों का अथवा व्यक्तियों के स्वरूप का सद्भाव बतलाने वाला कोई प्रमाण नहीं है, अतः उनका अन्तराल में असत्व होने के कारण अनुपलंभ है ऐसा मानना चाहिये?

सामान्यस्यापि सोऽसत्त्वादेवास्तु विशेषाभावात्। न खलु प्रत्यक्षतस्तत्तत्रोपलभ्यते विशेषरहितत्वात् खरविषाणवत्।

किञ्च, प्रथमव्यक्तिग्रहणवेलायां तदभिव्यक्तस्यास्य ग्रहणे अभेदात्तस्य सर्वत्र सर्वदोपलम्भप्रसङ्गः सर्वात्मनाभिव्यक्तत्वात्, अन्यथा व्यक्ताव्यक्तस्वभावभेदेनानेकत्वानुषङ्गादसामान्यरूपतापत्तिः। तस्मादुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भाद्व्यक्त्यन्तराले सामान्यस्यासत्त्वं व्यक्तिस्वात्मवत्।

जैन—ठीक बात कही, किन्तु यही विषय सामान्य में घटित होता है, व्यक्तियों के अंतराल में सामान्य भी उपलब्ध नहीं होने के कारण असत्व रूप है, या असत्व होने के कारण ही तो वह अन्तराल में उपलब्ध नही है, क्योंकि अन्तराल में सामान्य का सद्भाव बतलाने वाला कोई प्रमाण नही है। व्यक्तियों के अन्तराल में प्रत्यक्ष प्रमाण से सामान्य उपलब्ध नही होता क्योंकि वह विशेष से रहित है, जैसे गधे के सींग विशेष रहित होने से प्रत्यक्ष से उपलब्ध नही होते हैं।

दूसरी बात यह है कि पहले व्यक्ति को ग्रहण करते समय उस व्यक्ति में अभिव्यक्त (प्रगट) हुआ यह सामान्य भी उसमें होने से ग्रहण में आवेगा, फिर सभी जगह हमेशा के लिये सामान्य उपलब्ध होता ही रहेगा ? क्योंकि सर्वरूप से प्रगट हो चुका है, यदि सर्वात्मपना प्रगट होने पर भी सर्वत्र उपलब्ध नहीं होता है तो इसका मतलब सामान्य में व्यक्त और अव्यक्त ऐसे दो स्वभाव हैं, और दो स्वभाव हैं तो वह अनेक रूप बना गया ? इस तरह तो वह असामान्य मायने विशेष रूपता को ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि अनेकपना विशेष में होता है। इस आपत्ति को दूर करने के लिये व्यक्तियों के अन्तराल में (शबली शुक्ल आदि गो व्यक्तियों के बीच बीच के स्थानों में) उपलब्ध होने योग्य होते हुए भी उपलब्ध नहीं होता अतः वहां सामान्य का अभाव ही है ऐसा मानना चाहिये जैसे कि व्यक्तियों के निजस्वरूप का अन्तराल में अभाव है।

शंका—व्यक्तियों के अन्तराल में सामान्य है क्योंकि एक साथ भिन्न भिन्न देशों में स्थित अपने आधार (गो आदि व्यक्तियों में) में रहकर भी एक है, जैसे लंबा बांस स्तम्भ आदि में एक साथ उपलब्ध होने से एक रूप है ? इस अनुमान द्वारा अन्तराल में सामान्य की सिद्धि हो जाती है ?

'व्यक्त्यन्तरालेऽस्ति सामान्यं युगपद्भिन्नदेशस्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्वाद्वंशादिवत्' इत्यनुमानात्तत्र तद्भावसिद्धिः; इत्यप्यसङ्गतम्; हेतोः प्रतिवाद्यसिद्धत्वात्। न हि भिन्नदेशासु व्यक्तिषु सामान्यमेकं प्रत्यक्षतः स्थूणादौ वंशादिवत्प्रतीयते, यतो युगपद्भिन्नदेशस्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्वं तस्य सिध्यत्स्वाधारान्तरालेऽस्तित्वं साधयेत्। तन्नाव्यक्तत्वात्तत्राऽनुपलम्भः।

नापि व्यवहितत्वादभिन्नत्वादेव। नापि दूरस्थितत्वात्तत एव।

समाधान—यह कथन असंगत है "युगपद् भिन्न देश स्वाधार वृत्तित्वे सति एकत्वात्" अर्थात् एक साथ विभिन्न देशस्थ स्व आधार में रहकर एक स्वरूप है" ऐसा जो इस अनुमान में हेतु प्रयुक्त किया है वह प्रतिवादी जैनादि के लिये असिद्ध है, इसी बात का खुलासा करते हैं—भिन्न भिन्न देशों में स्थित व्यक्तियों में एक ही सामान्य है ऐसा प्रत्यक्ष से प्रतीत नहीं होता है, जैसे कि स्थूण आदि में बांसादिक एक ही प्रतीत होते हैं, जब वह एक रूप प्रतीत ही नहीं होता है तो "एक साथ भिन्न देशस्थ स्व आधार में रहकर भी एक स्वरूप है" ऐसा हेतु निर्दोष प्रसिद्ध होकर अपने आधार जो व्यक्तियां हैं उनके अंतराल में सामान्य का अस्तित्व रूप साध्य को कैसे सिद्ध कर सकता है अर्थात् नहीं कर सकता है, अतः अव्यक्त होने से अन्तराल में सामान्य का अनुपलंभ है ऐसा प्रथम विकल्प गलत सिद्ध हुआ।

सामान्य को व्यक्तियों के अन्तराल में यत्र तत्र सर्वत्र सिद्ध करने के लिये दूसरा हेतु "व्यवहितत्वात्" था सो यह भी सदोष है क्योंकि सामान्य एक स्वभाव वाला होने से व्यक्तियों से अभिन्न है अतः उसमें व्यवहितपना असम्भव है। दूर में स्थित होने से व्यक्तियों के अन्तराल में सामान्य की उपलब्धि नहीं होती है ऐसा तीसरा हेतु भी व्यवहितत्व के समान गलत है, जब सामान्य को व्यापक रूप स्वीकार करते हो तो उसमें दूर स्थितपना होना ही अशक्य है। अव्यक्तत्व, व्यवहितत्व, दूरस्थितत्व इन तीन हेतुओं का जिस प्रकार से निरसन किया है उसी प्रकार से अन्य तीन हेतु—अदृश्यत्व, स्वाश्रयेन्द्रियसम्बन्ध विरहत्व और आश्रय समवेत रूपाभावत्व का भी निरसन हुआ समझना चाहिये, क्योंकि व्यक्तियों से सामान्य का अभेद है अतः अदृश्य होने आदि से अन्तराल में वह उपलब्ध नहीं होता इत्यादि कथन गलत ठहरता है।

नाप्यदृश्यात्मत्वात्, स्वाश्रयेन्द्रियसम्बन्धविरहात्, आश्रयसमवेतरूपाभावाद्वा; अभेदादेव। तन्न सर्वसर्वगतं सामान्यम्।

नापि स्वव्यक्तिसर्वगतम्; प्रतिव्यक्ति परिसमाप्तत्वेनास्याऽनेकत्वानुषङ्गाद् व्यक्तिस्वरूपवत्। कात्स्न्र्यैकदेशाभ्यां वृत्त्यनुपपत्तेश्चाऽसत्त्वम्।

भावार्थ—यौग परवादी सामान्य नामा वस्तु को नित्य, सर्वगत एवं एक रूप मानते हैं, इस पर जैन का चोद्य है कि जब सामान्य सर्वत्र व्यापक आदि स्वभाव वाला है तो वह हमेशा व्यक्तियों में (गो आदि में) ही क्यों उपलब्ध होता है व्यक्तियों के अन्तराल में क्यों नहीं दिखाई देता ? इसका समाधान यौग ने छह हेतुओं द्वारा करने का प्रयत्न किया है, किन्तु वह समाधान और वे हेतु सामान्य को सर्वगत सिद्ध नहीं कर पा रहे हैं। अव्यक्त होने से, व्यवहित होने से, दूर स्थित होने से अन्तराल में सामान्य उपलब्ध नहीं होता है ऐसे यौग के हेतुओं का निरसन करके जैनाचार्य कहते हैं कि इसी तरह अन्य तीन हेतु भी निराकृत होते हैं, देखो ! अदृश्य होने से अन्तराल में सामान्य उपलब्ध नहीं होता ऐसा कहना अशक्य है क्योंकि व्यक्तियों से सामान्य का अभेद है, जब व्यक्तियां दृश्य है तो तद्गत अभिन्न सामान्य अदृश्य कैसे रह सकता है ? अर्थात् नहीं। स्व आश्रय में होने वाले इन्द्रिय सम्बन्ध से रहित होने के कारण अंतराल में सामान्य दिखायी नहीं देता ऐसा कहना भी गलत है, क्योंकि स्वाश्रयभूत व्यक्तियो का इन्द्रिय सम्बन्ध मौजूद है तो उनमें अभेद रूप से रहने वाले सामान्य का भी इन्द्रिय सम्बन्धपना निश्चित रहेगा, अब वह इन्द्रिय सम्बन्ध सामान्य जब कि एक स्वभाव वाला है तब उसे व्यापक होने के कारण सर्वत्र अन्तरालादि में भी उपलब्ध होना ही पड़ेगा ? सामान्य का अंतराल में अभाव सिद्ध करने के लिये अंतिम हेतु "आश्रय समवेत रूप अभावात्" दिया था अर्थात् व्यक्तिरूप आश्रय में समवेत जो रूप है उसका अंतराल में अभाव है अतः वहां सामान्य उपलब्ध नहीं होता ऐसा कहना भी असत् है सामान्य जब व्यक्ति में अभिन्नपने से स्थित है तब व्यक्ति का रूप उसमें रहेगा ही तथा सामान्य एक ही स्वभाव वाला एवं व्यापक भी है तो अंतराल में (जहां पर व्यक्तियां नहीं है वहां पर) भी अवश्य ही उपलब्ध होगा। इस प्रकार परवादी के सामान्य का स्वरूप सिद्ध नहीं होता है।

किञ्च, एकत्र व्यक्तौ सर्वात्मना वर्त्तमानस्यास्यान्यत्र वृत्तिर्न स्यात्। तत्र हि वृत्तिस्तद्देशे गमनात्, पिण्डेन सहोत्पादात्, तद्देशे सद्भावात्, अंशवत्तया वा स्यात्? न तावद्गमनादन्यत्र पिण्डे तस्य वृत्तिः; निष्क्रियत्वोपगमात्।

यौग से सामान्य के विषय में दो प्रश्न पहले पूछे थे कि सामान्य नित्य सर्वगत है सो सर्वगत शब्द का अर्थ सर्वसर्वगत है अथवा स्वव्यक्ति सर्वगत है, इनमें से सर्वसर्वगत स्वभाव वाला सामान्य है ऐसा कहना असत् है, यह निश्चित हुआ।

अब दूसरा पक्ष–स्वव्यक्ति सर्वगत स्वभाव वाला सामान्य है, ऐसा यदि कहे तो वह भी सिद्ध नहीं होता है, व्यक्तियां तो असंख्याती हैं, उनमें प्रत्येक में परिसमाप्त रूप से सामान्य रहेगा तो वह अनेकपने को प्राप्त होगा, स्वव्यक्ति में सर्वगत है इस शब्द का अर्थ तो अपने व्यक्ति में पूर्ण रूपेण रहना है, इस तरह प्रत्येक में परिसमाप्तिपने से रहेगा तो अनेक हो ही गया, जैसे व्यक्तियों का स्वरूप अनेक है! व्यक्तियों के समान सामान्य को अनेक रूप नहीं स्वीकार करेंगे तो वह उन व्यक्तियों में एकदेश से या सर्वदेश से रह नहीं सकता क्योंकि "व्यक्तियों में एकदेश से सामान्य रहता है" ऐसा मानते हैं तो उस सामान्य के अंश नहीं मानने से बनता नहीं, और सर्वदेश से रहना माने तो एक संख्या वाला सामान्य एक व्यक्ति में सर्वदेश से सम्बन्ध हुआ तो अन्य व्यक्तियां सामान्य रहित हो जायगी? अतः सामान्य सर्वगतादि स्वभाव वाला सिद्ध नहीं होता है।

परवादी सामान्य को निरंश एक मानते हैं सो जब वह गो आदि व्यक्ति में सर्व रूप से समा जायगा तब अन्य व्यक्तियों में रह नहीं सकता, क्योंकि उसके अंश तो हैं नहीं जिससे कि अन्यत्र चला जाय। यौग से हम जैन का प्रश्न है कि निरंश एक सामान्य अन्य अन्य व्यक्ति में रहता है सो क्या उस व्यक्ति के देश में जाता है अथवा गो आदि पिण्ड के (गो का शरीर) साथ वहां उत्पन्न होता है, या उस देश में मौजूद रहता है, या कि अंश रूप से रहता है? गमन कर जाने से अन्य अन्य पिंड में उसकी वृत्ति होती है ऐसा प्रथम पक्ष कहना अयुक्त है, क्योंकि आपने सामान्य को निष्क्रिय–गमनादि क्रिया रहित माना है।

किञ्च, पूर्वपिण्डपरित्यागेन तत्तत्र गच्छेत्, अपरित्यागेन वा ? न तावत्परित्यागेन; प्राक्तनपिण्डस्य गोत्वपरित्यक्तस्यागोरूपताप्रसङ्गात् । नाप्यपरित्यागेन; अपरित्यक्तप्राक्तनपिण्डस्यास्यानंशस्य रूपादेरिव गमनासम्भवात् । न ह्यपरित्यक्तपूर्वाधाराणां रूपादीनामाधारान्तरसंक्रान्तिर्दृष्टा ।

नापि पिण्डेन सहोत्पादात्; तस्याऽनित्यतानुषङ्गात् । नापि तद्देशे सत्त्वात्; पिण्डोत्पत्तेः प्राक् तत्र निराधारस्यास्यावस्थानाभावात् । भावे वा स्वाश्रयमात्रवृत्तित्वविरोधः ।

नाप्यंशवत्तया; निरंशत्वप्रतिज्ञानात् । ततो व्यक्त्यन्तरे सामान्यस्याभावानुषङ्गः । परेषां प्रयोगः 'ये यत्र नोत्पन्ना नापि प्रागवस्थायिनो नापि पश्चादन्यतो देशादागतिमन्तस्ते तत्राऽसन्तः यथा

दूसरी बात यह है कि सामान्य अन्य गो आदि पिंड में जाता है वह अपने पहले स्थानभूत गो आदि पिंड का त्याग करके (छोड़ के) जाता है, अथवा बिना त्याग किये जाता है ? त्याग करके तो जा नहीं सकता, यदि जायगा तो पहला पिंड अगोरूप होवेगा, क्योंकि उसमें जो गोत्व सामान्य था वह तो अन्य पिंड में चला गया है ? पूर्व गो पिण्ड को बिना त्यागे अन्य गो पिंड में जाता है ऐसा द्वितीय कथन भी गलत है, जिसने पूर्व पिंड को नहीं छोड़ा वह अन्य जगह जा ही नहीं सकता, क्योंकि वह तो रूपादि के समान निरंश है, पूर्व आधारों को बिना छोड़े रूपादि धर्मों की अन्य अन्य जगह संक्रमण होना नहीं देखा जाता है ।

गो आदि पिण्ड के साथ गोत्वादि सामान्य उत्पन्न हो जाता है अतः अन्य व्यक्तियों में उसका रहना सिद्ध होता है, ऐसा कहना भी जमता नहीं, इस तरह कहने से तो सामान्य अनित्य स्वभावी सिद्ध होगा । गो आदि व्यक्तियों के स्थान पर सामान्य का सद्भाव रहता है अतः अन्य व्यक्तियों मे उसकी वृत्ति बन जाती है ऐसा कहना भी अयुक्त है, क्योंकि गो पिण्ड के उत्पत्ति के पहले उस स्थान पर निराधार भूत इस सामान्य का ठहरना असम्भव है । यदि निराधार मे भी सामान्य का सद्भाव स्वीकार करेंगे तो सामान्य अपने आश्रय मात्र ही रहता है ऐसा सिद्धांत गलत ठहरता है ।

अंशवाला होने से अन्य व्यक्तियों मे सामान्य की वृत्ति सिद्ध होती है ऐसा कहना भी गलत है, आपने सामान्य को निरंश माना है, इस प्रकार सामान्य व्यक्तियों के अंतराल में अभाव रूप ही सिद्ध होता है । नित्य सर्वगत स्वभाव वाले सामान्य को नहीं मानने वाले प्रवादी उक्त सामान्य का निरसन करने के लिये इस प्रकार कहते हैं– यौग का अभिमत सामान्य असत् रूप ही है, क्योंकि वह अनुत्पद्यमान आदि स्वभाव

खरोत्तमांगे तद्विषाणम्, तथा च सामान्यं तच्छून्यदेशोत्पादवति घटादिके वस्तुनि' इति । उक्तञ्च—

"न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत् ।
जहाति पूर्वमाधारमहो व्यसनसन्ततिः ॥१॥"

[प्रमाणवा० १।१५३]

ये तु व्यक्तिस्वभावं सामान्यमभ्युपगच्छन्ति

"तादात्म्यमस्य कस्माच्चेत्स्वभावादिति गम्यताम् ।" [ ]

वाला है [उत्पत्ति स्वभाव वाला नहीं है] जो जहां पर उत्पन्न नहीं हुए हैं, और पहले भी वहां पर अवस्थित नहीं थे, एवं पीछे किसी समय अन्य स्थान से वहां आये भी नहीं वे पदार्थ तो सर्वथा असत् ही कहलाते हैं, जैसे गधे के सिर में सीग सर्वथा असत् भूत है, वैसे सामान्य भी उत्पाद शील घटादि वस्तु में न उत्पन्न हुआ है और न पहले से उस स्थान पर था इत्यादि, अतः असद्भूत ही है । यही बात बौद्ध ने प्रमाणवार्त्तिक ग्रन्थ में कही है—गो आदि व्यक्तियों के स्थान पर सामान्य पदार्थ न आता है, न पहले से उस स्थान पर मौजूद था, न कभी व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर पीछे वहां रहता है, तथा उसको अंश युक्त भी नहीं माना है जिससे कि अन्य अन्य असंख्य व्यक्तियों में रह सके, अपना पूर्वाधार जो भी हो उसे वह छोड़ भी नहीं सकता है, क्योंकि इन सब बातो को होने के लिये उसे अनित्य, अव्यापक एवं अनेक रूप मानना पड़ता है, इस प्रकार यह सामान्य तो व्यसन-कष्ट की परंपरा ही है ॥१॥

मीमांसक भाट्ट ने सामान्य को विशेष का स्वभावभूत स्वीकार किया है, उनका कहना है कि व्यक्ति के स्वभाव भूत ही सामान्य हुआ करता है, कोई भाट्ट को प्रश्न करे कि व्यक्ति के साथ सामान्य का तादात्म्य किस कारण से है तो उसका उत्तर यही होगा कि उसका स्वभाव ही ऐसा है, अर्थात् स्वभाव से ही सामान्य और विशेष का तादात्म्य सम्बन्ध है । किन्तु भाट्ट की इस मान्यता में आपत्ति आती है, देखिये ! यदि सामान्य विशेष भूत व्यक्तियों का स्वभाव है तो वह सामान्य व्यक्ति की तरह असाधारण रूप बन जायगा, एवं व्यक्ति के उत्पन्न होने पर उत्पन्न होना और नष्ट होने पर नष्ट होना रूप प्रसंग भी आयेगा । इस तरह उक्त सामान्य में सामान्यपना ही समाप्त होवेगा ।

इत्यभिधानात्; तेषां व्यक्तिवत्तस्यासाधारणरूपत्वानुषङ्गाद् व्यक्त्युत्पादविनाशयोश्चा-स्यापि तद्योगित्वप्रसङ्गान्न सामान्यरूपता । अथाऽसाधारणरूपत्वमुत्पादविनाशयोगित्वं चास्य नाभ्युपगम्यते, तर्हि विरुद्धधर्माध्यासतो व्यक्तिभ्योऽस्य भेदः स्यात् ।

"तादात्म्य चेन्मत जातेर्व्यक्तिजन्मन्यजातता ।
नाशेऽनाशश्च केनेष्टस्तद्वच्चानन्वयो न किम् ? ।।२।।

भाट्ट—सामान्य असाधारण स्वरूप नहीं है तथा व्यक्ति के समान उत्पत्ति और विनाश वाला भी नही है, अर्थात् व्यक्ति के उत्पत्ति और विनाश युक्त होने के कारण सामान्य भी वैसा हो सो बात हमें इष्ट नहीं है ।

जैन— तो फिर सामान्य और विशेष में विरुद्ध धर्म होने के कारण भिन्नपन्ना ही मानना होगा, क्योंकि विशेषभूत व्यक्ति उत्पाद और विनाश युक्त है और सामान्य नहीं है, यही विरुद्ध स्वभावत्व हुआ इस तरह व्यक्तियों से सामान्य भिन्न रूप सिद्ध होता है ।

अब यहां पर भाट्ट सामान्य के विषय में अपना पक्ष रखता है— हम भाट्ट मीमांसक सामान्य को विशेष का स्वभाव मानते हैं, किन्तु जैन आदि इसका विशेष के साथ तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं, सो व्यक्ति के साथ सामान्य का तादात्म्य सम्बन्ध है तो उस व्यक्ति के उत्पन्न होने पर उत्पन्न होना और नष्ट होने पर नष्ट होना क्यों नहीं होता है ? अर्थात् जब गोत्व सामान्य का खंड मुण्ड आदि व्यक्तियों के साथ तादात्म्य है तो उक्त गो व्यक्तियों के समान गोत्व सामान्य का भी अनन्वय अर्थात् असाधारणपना क्यों नहीं होगा अवश्य होगा ।

अभिप्राय यह है कि शबली, धवली आदि गो व्यक्तियां और उनमें होनेवाला सास्नादिमत्व रूप सामान्य इनको जैनादिवादी दो रूप बताकर फिर तादात्म्य सम्बन्ध रूप स्वीकार करते हैं सो उसमें प्रश्न होता है कि जब दोनों एक रूप हो गये तो जैसे शबली आदि गो व्यक्तियों का परस्पर में अन्वय नहीं रहता अर्थात् शबली गो धवली में और धवली गो शबली में नही होती उसी प्रकार गोत्व सामान्य को उनमें नहीं होना था ? किन्तु गोत्वादि सामान्य का तो सर्वत्र गो व्यक्तियों में अन्वय पाया जाता ही है, सो यह क्यों होता है इस प्रश्न का उत्तर जैनादि नहीं दे पाते ।।१।। यदि गो आदि

व्यक्तिजन्मन्यजाता चेदागता नाश्रयान्तरात् ।
प्रागासीन्न च तद्देशे सा तया सङ्गता कथम् ? ।।३।।

व्यक्तिनाशे न चेन्नष्टा गता व्यक्त्यन्तरं न च ।
तच्छून्ये न स्थिता देशे सा जातिः क्वेति कथ्यताम् ? ।।४।।

व्यक्तेर्जात्यादियोगेपि यदि जातेः स नेष्यते ।
तादात्म्यं कथमिष्टं स्यादनुपप्लुतचेतसाम् ? ।।५।।" [ ]

ततो यदुक्तं कुमारिलेन—

"विषयेण हि बुद्धीनां विना नोत्पत्तिरिष्यते ।
विशेषादन्यदिच्छन्ति सामान्यं तेन तद्ध्रुवम् ।।१।।

व्यक्ति के जन्म होने पर उसमें गोत्वादि सामान्य जन्म नहीं लेता, अन्य आश्रयभूत व्यक्ति से वहां आता भी नहीं, एवं उस व्यक्ति देश में पहले भी नहीं था तो बताइये कि व्यक्ति अर्थात् विशेष का जाति अर्थात् सामान्य के साथ तादात्म्य किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है ।।२।। विवक्षित एक किसी व्यक्ति के नष्ट होने पर उसमें होने वाला सामान्य नष्ट नहीं होता है अन्य व्यक्ति में चला भी नहीं जाता है, उस व्यक्ति से रहित जो स्थान अवशेष है उसमें भी सामान्य नहीं ठहरता फिर बताओ कि वह सामान्य किस प्रकार का है ? ।।३।। यदि व्यक्ति के जन्मादि के होने पर भी सामान्य का जन्म होना आदि सिद्ध नहीं हो पाता है तो अभ्रान्त चित्त वाले पुरुष उन जाति और व्यक्ति में तादात्म्य किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं ? [अर्थात् नहीं कर सकते] ।।४।। कुमारिल नामा ग्रंथकार ने भी कहा है कि ज्ञानों की उत्पत्ति विषय के बिना हो नहीं सकती यह नियम है, अनुगताकार ज्ञान [यह गो है, यह गो है इत्यादि समानाकार प्रतिभास] भी बिना विषय के होना शक्य नहीं अतः इन ज्ञानों का विषय विशेष से पृथक् अन्य कोई सामान्य है ऐसा जैनादि वादी का कहना है, अनुगताकार बुद्धि विषय के बिना उत्पन्न होगी तो वह मिथ्या ही कहलायेगी, क्योंकि विषय के बिना जो हो वह असत् प्रतिभास माना जाता है, सो यह बात तो ठीक है किन्तु सामान्य व्यक्ति में स्वभाव से ही है उससे अनुगताकार ज्ञान होगा ही उसके लिये सामान्य का विशेष में तादात्म्य मानना ही जरूरी हो सो बात नहीं और न वैशेषिक

ता हि तेन विनोत्पन्ना मिथ्याः स्युर्विषयादृते ।
न त्वन्येन विना वृत्तिः सामान्यस्येह दुष्यति ।।२।।"

[मी० श्लो० आकृति० श्लो० ३७–३८]

इति; तन्निरस्तम्; नित्यसर्वगतसामान्यस्याश्रयादेकान्ततो भिन्नस्याभिन्नस्य वाऽनेकदोषदुष्टत्वेन प्रतिपादितत्वात् । अनुगतप्रत्ययस्य च सदृशपरिणामनिबन्धनत्वप्रसिद्धेः । स चानित्योऽसर्वगतोऽनेकव्यक्त्यात्मकतयाऽनेकरूपश्च रूपादिवत्प्रत्यक्षत एव प्रसिद्धः । ततो भट्टेनायुक्तमुक्तम्—

"पिण्डभेदेषु गोबुद्धिरेकगोत्वनिबन्धना ।
गवाभासैकरूपाभ्यामेकगोपिण्डबुद्धिवत् ।।१।।"

[मी० श्लो० वनवाद श्लो० ४४]

के समवाय की यहां आवश्यकता है अर्थात् व्यक्ति में जाति (सामान्य) न तादात्म्य सम्बन्ध से है और न समवाय सम्बन्ध से है किन्तु स्वभाव से ही है, ऐसा सामान्य का स्वरूप मानने में दोष भी नहीं आता ।।१–२।। इस प्रकार का मीमांसक का मंतव्य जैन को मान्य नहीं है, क्योंकि इस बात को हम भली प्रकार से प्रतिपादन कर आये हैं कि नित्य तथा सर्वगत स्वभाव वाला सामान्य अपने आश्रयभूत व्यक्ति से न सर्वथा भिन्न रूप सिद्ध होता है और न सर्वथा अभिन्न स्वभाव रूप ही सिद्ध होता है, उसमें तो व्यक्ति और जाति का एकत्व हो जाना, इत्यादि अनेक दोष भरे हैं जो पहले बता आये हैं (अर्थात् गो व्यक्ति से गोत्व सामान्य सर्वथा अभिन्न स्वभाव रूप है तो गो व्यक्ति के उत्पन्न होते ही उत्पन्न होगा और नष्ट होने पर नष्ट होगा, सो ऐसा मानने से सामान्य अनित्य और असर्वगत सिद्ध होता है तथा गो व्यक्ति से गोत्व सामान्य को सर्वथा पृथक् मानते हैं तो व्यक्तियों के अन्तराल में भी गोत्व की प्रतीति होनी चाहिये इत्यादि) जैन के ऊपर यह सब दूषण नही आते हैं क्योंकि हमारे यहां तो अनुगताकार ज्ञान का हेतु सदृश परिणाम माना है अर्थात् गो आदि व्यक्तियों में गोत्व आदि सामान्य धर्म हुआ करते हैं उन्हींके निमित्त से अनेकों व्यक्तियों में समानता का बोध हो जाया करता है । वह सदृश परिणाम स्वरूप सामान्य अनित्य एवं असर्वगत है, तथा अनेक व्यक्ति स्वरूप होने से अनेक भी है यह तो रूप, रसादि के समान प्रत्यक्ष प्रमाण से ही प्रतिभासित हो रहा है, बिलकुल प्रत्यक्ष सिद्ध बात है । अतः भट्ट ने जो कहा है वह खण्डित होता है, उसी भट्ट का मंतव्य प्रस्तुत करते हैं—शबल, धवल आदि अनेक

यच्चेदमुक्तम्—

"न शाबलेयाद्गोबुद्धिस्ततोऽन्यालम्बनापि वा ।
तदभावेपि सद्भावाद् घटे पार्थिवबुद्धिवत् ।।"

[मी० श्लो० वनवाद श्लो० ४]

तत्सिद्धसाधनम्; व्यक्तिव्यतिरिक्तसदृशपरिणामालम्बनत्वात्तस्याः ।

यच्च सामान्यस्य सर्वगतत्वसाधनमुक्तम्—

गो पिण्डों में जो गो बुद्धि होती है वह एक गोत्व सामान्य के निमित्त से ही होती है, क्योंकि उनमें गो का प्रतिभास है तथा एक रूप है, जैसे कि एक गोपिंड में एक बुद्धि होती है ।।१।। इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि जैसे एक गो में एकत्व रूप ज्ञान होता है वैसे अनेक गो व्यक्तियों में भी एक गोत्व रूप ही तो प्रतिभास होता है अतः सामान्य को एक रूप माना है ।

और भी कहा है—

अनेक गो व्यक्तियों में जो गोत्व प्रतिभास होता है वह न शाबलेय गो से होता है और न अन्य किसी से होता है, क्योंकि शाबलेय आदि गो के अभाव में भी उसका सद्भाव देखा जाता है, जिस प्रकार कि घट में मिट्टीपने का प्रतिभास हुआ करता है, अर्थात् काला घट, लाल घट आदि में जो घटत्व का बोध है वह न काले घट के कारण है और न लाल घट के कारण है वह तो सब घटों में व्यापक, एक सामान्य घटत्व रूप मिट्टीपने के कारण ही है, ठीक इसी प्रकार शाबलेय गो, बाहुलेय गो आदि में जो गोत्व का बोध है वह न शाबलेय के कारण है और न बाहुलेय के कारण है वह तो एक, व्यापक सामान्य के कारण ही होता है ।।१।। सो इस भट्ट के मंतव्य पर हम जैन का कहना है कि जिस प्रकार आप शाबलेयादि गो व्यक्ति को गोत्व प्रतिभास का कारण नहीं मान रहे उसी प्रकार हम भी गो व्यक्ति को गोत्व सामान्य के प्रतिभास का कारण नहीं मानते किन्तु गो व्यक्ति से अतिरिक्त जो सदृश परिणाम है वही गोत्व प्रतिभास का कारण है अतः उपर्युक्त कथन सिद्ध साधन [सिद्धको ही सिद्ध करना] रूप होता है ।

मीमांसक सामान्य को सर्वगत सिद्ध करने के लिये अपना लंबा पक्ष उपस्थित करते हैं—प्रत्येक व्यक्ति में समवेत रूप से रहने वाले पदार्थ को विषय करने वाली गो

"प्रत्येकसमवेतार्थविषया वाथ गोमतिः ।
प्रत्येकं कृत्स्नरूपत्वात्प्रत्येकं व्यक्तिबुद्धिवत् ॥१॥"
[मी० श्लो० वनवाद श्लो० ४६]

प्रयोग:—येयं गोबुद्धि: सा प्रत्येकसमवेतार्थविषया प्रतिपिण्डं कृत्स्नरूपपदार्थाकारत्वात् प्रत्येकव्यक्तिविषयबुद्धिवत् । एकत्वमप्यस्य प्रसिद्धमेव; तथाहि-यद्यपि सामान्यं प्रत्येकं सर्वात्मना परिसमाप्तं तथापि तदेकमेवैकाकारबुद्धिग्राह्यत्वात्, यथा नञ्युक्तवाक्येषु ब्राह्मणादिनिवर्त्तनम् । न चेयं मिथ्या; कारणदोषबाधकप्रत्ययाभावात् । उक्तञ्च—

"प्रत्येकसमवेतापि जातिरेकैकबुद्धितः ।
नञ्युक्तेष्विव वाक्येषु ब्राह्मणादिनिवर्त्तनम् ॥१॥

बुद्धि हुआ करती है, क्योंकि वह एक एक व्यक्ति में पूर्ण रूप से अनुभव में आती है, जैसे एक एक गो व्यक्ति में गो बुद्धि पूर्ण रूप से अनुभवित होती है ॥१॥

अनुमान प्रमाण इसी बात को सिद्ध करता है—जो यह "गो है गो है" इस प्रकार का अनुगत प्रतिभास होता है वह प्रत्येक गो व्यक्ति में समवेत हुए गोत्व सामान्य का विषय करने वाला है, क्योंकि व्यक्ति व्यक्ति के प्रति कृत्स्नरूपेन मौजूद जो सामान्य पदार्थ है उसके आकार रूप है, जैसे कि एक एक व्यक्ति को विषय करने वाला प्रतिभास या ज्ञान प्रत्येक में पूर्णरूपेन मौजूद व्यक्ति के आकार रूप ही होता है । इस सर्वगत सामान्य का एकत्व भी प्रमाण प्रसिद्ध है । अब सामान्य का एकपना अनुमान से सिद्ध करते हैं—यद्यपि सामान्य प्रत्येक गो आदि व्यक्ति में सर्वात्मना परिसमाप्त होकर रहता है तो भी वह एक ही है, क्योंकि "यह गो है, यह गो है" इस प्रकार की एकपने की बुद्धि द्वारा ग्राह्य होता है, जैसे नञसमास से संयुक्त वाक्यों में ब्राह्मणादि एक ही पदार्थ का व्यावर्त्तन होता है अर्थात् "यह ब्राह्मण नहीं है यह ब्राह्मण नहीं है"। इत्यादि वाक्यों में एक ब्राह्मणत्व का प्रतिषेध ग्राह्य होता है, इस एकत्व के प्रतिभास को मिथ्या भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस ज्ञान में इन्द्रियादि कारण सदोष नहीं है और न बाधक प्रत्यय ही है । इसी विषय को आगे और भी कहते हैं – प्रत्येक व्यक्ति में समवेत हुई भी वह जाति (सामान्य) एक रूप ही है, क्योंकि एक एक व्यक्ति में ऐसी ही बुद्धि होती है, जैसे कि नञ समास प्रयुक्त वाक्यों में—न ब्राह्मण: अब्राह्मण:, यह ब्राह्मण नहीं है अथवा यह अब्राह्मण है इत्यादि वाक्यों में एक ब्राह्मणत्व का व्यावर्त्तन

नैकरूपा मतिर्गोत्वे मिथ्या वक्तुं च शक्यते ।
नात्र कारणदोषोस्ति बाधकप्रत्ययोपि वा ॥२॥"

[मी० श्लो० वनवाद श्लो० ४७-४६]

तदप्युक्तिमात्रम्; प्रतिपिण्डं कृत्स्नरूपपदार्थाकारत्वस्य सदृशपरिणामाविनाभावित्वेन साध्यविपरीतार्थे साधनस्य विरुद्धत्वात् । नित्यैकरूपप्रत्येकपरिसमाप्तसामान्यसाधने दृष्टान्तस्य साध्यविकलता । तथाभूतस्य चास्य सर्वात्मना बहुषु परिसमाप्तत्वे सर्वेषां व्यक्तिभेदानां परस्परमेकरूपतापत्तिः एकव्यक्तिपरिनिष्ठितस्वभावसामान्यपदार्थसंसृष्टत्वात् एकव्यक्तिस्वरूपवत् । सामान्यस्य वानेकत्वापत्तिः, युगपदनेकवस्तुपरिसमाप्तात्मरूपत्वात् दूरतरदेशावच्छिन्नानेकभाजनगतबिल्वादि-

---

हुआ करता है ॥१॥ गोत्व रूप सामान्य विषय में उत्पन्न हुई इस एकत्व बुद्धि को मिथ्या भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस बुद्धि के कारण जो इन्द्रियादि हैं उनमें सदोषता नहीं है तथा इस बुद्धि को बाधित करने वाला अन्य ज्ञान भी नहीं है ॥२॥

जैन—मीमांसक का यह अनुमानिक कथन गलत है, इस अनुमान का कृत्स्न रूप पदार्थाकारत्व नामा हेतु (गोत्वादि सामान्य कृत्स्न रूप से पदार्थ के आकार होना) साध्य जो सर्वगतत्व है उससे विरुद्ध असर्वगतत्व को सिद्ध कर देता है, यह हेतु तो सदृश परिणाम का अविनाभावी है परवादी सामान्य को नित्य, एक तथा प्रत्येक व्यक्ति में परिसमाप्त होना रूप सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु दृष्टांत में ऐसी बात नहीं होने से वह साध्य विकल ठहरता है । अर्थात् गो है, गो है, इस प्रकार का अनुगताकार ज्ञान एक एक व्यक्ति के प्रति समवेत हुए सामान्य को विषय करने वाला है ऐसा साध्य है वह "जैसे प्रत्येक व्यक्ति को विषय करने वाला ज्ञान" इस प्रकार के दृष्टांत में पाया नहीं जाता है । सर्वथा एकत्व रूप माना गया यह सामान्य यदि सर्वात्मना बहुत से गो आदि विशेषों में परिसमाप्त होकर रहता है तो संपूर्ण गो व्यक्तियों के भेद परस्पर में एक मेक हो जायेंगे, क्योंकि उन सभी व्यक्तियों ने एक व्यक्ति में परिनिष्ठित स्वभाव वाले सामान्य पदार्थ के साथ अभिन्न संश्लेष किया है, जैसे कि एक व्यक्ति का स्वरूप उसमें परिनिष्ठ होने से एक मेक होता है, अथवा सामान्य में अनेकपने का प्रसंग आता है, देखिये ! आपका वह सामान्य एक साथ अनेक वस्तुओं में परिसमाप्त होकर रहता है अतः अनेक ही हैं, जैसे कि भिन्न भिन्न दूर स्थानों में स्थित अनेक बर्तनों में रखे हुए बेल, आंवला आदि फल एक साथ अनेक बर्तनों में मौजूद होने से अनेक ही

फलवत् । ततोऽयुक्तमुक्तम्—'नात्र बाधकप्रत्ययोस्ति' इति; प्राक्प्रतिपादितप्रकारेणानेकबाधकप्रत्ययोपनिपातात् । प्रत्येकसमवेतायाश्च जातेरसिद्धत्वात् 'एकबुद्धिग्राह्यत्वात्' इत्याश्रयासिद्धो हेतुः। स्वरूपासिद्धश्च; अबाधसादृश्यबोधाधिगम्यत्वेनैकाकारप्रत्ययग्राह्यत्वस्यासिद्धेः । ब्राह्मणादिनिवृत्तिश्च परमार्थतो नैकरूपास्तीति साध्यविकलमुदाहरणम् ।

एतेन यदुक्तमुद्द्योतकरेण–"गवादिष्वनुवृत्तिप्रत्ययः पिण्डादिव्यतिरिक्तान्निमित्ताद्भवति विशेषकत्वान्नीलादिप्रत्ययवत् । तथा गोतोऽर्थान्तरं गोत्वं भिन्नप्रत्ययविषयत्वाद्रूपादिवत् तस्येति च

हुआ करते है । अतः मीमांसक ने जो कहा कि "सामान्य को एकत्व सिद्ध करने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है" सो गलत बात है, सामान्य को एकत्वरूप मानने में अनेक बाधक प्रमाण मौजूद है व्यक्ति व्यक्ति के प्रति समवेत रूप रहने वाले सामान्य की असिद्धि होने से भी एकाकार बुद्धि ग्राह्यत्व नामा हेतु आश्रयासिद्ध बन जाता है, इसका विवरण करते हैं–सामान्य एक रूप है, क्योंकि वह एकाकार बुद्धि ग्राह्य है, इस प्रकार के पूर्वोक्त अनुमान में सामान्य रूप जो पक्ष है वह असिद्ध होने से एकाकार बुद्धि ग्राह्यत्व हेतु आश्रयासिद्ध नामा सदोष हेतु कहलाता है । एकाकार बुद्धि ग्राह्यत्व हेतु स्वरूपासिद्ध दोष युक्त भी है, अब इसीको बताते हैं—यह गो इसके समान है" इस प्रकार का सादृश्य ज्ञान होता हुआ देखा जाता है और सादृश्य अनेक में होता है, इस तरह के सादृश्य रूप अबाधित ज्ञान के द्वारा सामान्य ग्रहण होता है अतः सामान्य में एकाकार बुद्धि ग्राह्यपना असिद्ध ही हो जाता है । सामान्य को एकरूप सिद्ध करने के लिये मीमांसक ने नञ समास युक्त अब्राह्मणत्व आदि वाक्यों में जैसे ब्राह्मणादि की निवृत्ति हो जाती है इत्यादि उदाहरण दिया था वह भी साध्य से रहित है, वह ब्राह्मणादि का अभाव परमार्थतः एक रूप नही है, अर्थात् यह क्षत्रिय जाति का है ब्राह्मण नहीं है अथवा यह वैश्य जाति का हैं ब्राह्मण नहीं है इत्यादि रूप से अभाव भी अनेक प्रकार का हुआ करता है, एक प्रकार का नहीं जिससे कि वह सामान्य को एक रूप सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त बन सके ।

मीमांसक के मीमांसाश्लोक वार्तिक ग्रन्थ के उपर्युक्त अनुमान वाक्यो के खण्डित होने से ही नैयायिक के उद्योतकर रचित न्याय वार्तिक ग्रन्थ के अनुमान वाक्यों का खण्डन हुआ समझना चाहिये, उद्योतकर का अनुमान है कि शबल आदि गो व्यक्तियों में जो अनुवृत्त प्रत्यय होता है वह उन गो व्यक्तियों से भिन्न अन्य किसी

व्यपदेशविषयत्वात्, यथा चैत्रस्याश्वश्चैत्राद्व्यपदिश्यमानः" [न्यायवा० पृ० ३३३] इति; तन्निरस्तम्; अनुवृत्तिप्रत्ययस्य हि सामान्येन पिण्डादिव्यतिरिक्तनिमित्तमात्रसाधने सिद्धसाध्यतानुषङ्गात्, सदृशपरिणामनिबन्धनतयाऽस्याभ्युपगमात् । नित्यैकानुगामिसामान्यनिबन्धनत्वसाधने दृष्टान्तस्य साध्यविकलता । न ह्येवम्भूतेन क्वचिदन्वयः सिद्धः ।

न चानुगतज्ञानोपलम्भादेव तथाभूतसामान्यसिद्धिः । यतः किं यत्रानुगतज्ञानं तत्र सामान्यसम्भवः प्रतिपाद्यते, यत्र वा सामान्यसम्भवस्तत्रानुगतज्ञानमिति ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; गोत्वादि-

---

निमित्त से होता है (अर्थात् सामान्य के निमित्त से होता है) क्योंकि वह विशेषक है–भेद रूप है, जैसे नील, पीत आदि प्रत्यय भेद रूप है ।

इसी प्रकार सामान्य को विशेषों से भिन्न तथा नित्य सर्वगत सिद्ध करने के लिये उद्योतकर ग्रन्थकार द्वितीय अनुमान उपस्थित करते हैं कि गोत्व (गोपना–सास्नादिपना) गो व्यक्तियों से भिन्न हुआ करता है, क्योंकि भिन्न प्रतीति का विषय है, जैसे नील, पीत इत्यादि रूप भिन्न प्रतिभास के विषय हैं, तथा गो व्यक्ति का यह गोपना है इत्यादि सम्बन्ध रूप व्यपदेश गो व्यक्ति और गोत्व में पाया जाता है इस कारण से भी गोत्व सामान्य व्यक्तियों से पृथक् एकत्व सर्वगत सिद्ध होता है, "चैत्र नामा पुरुष का यह अश्व है" इत्यादि वाक्य में जिस प्रकार भिन्न व्यपदेश हुआ करता है ।

सो यह उद्योतकर का मंतव्य भी निराकृत हो जाता है, ये नैयायिकादि परवादी यदि गो व्यक्तियों के अतिरिक्त निमित्त मात्र से अनुवृत्तप्रत्यय होना स्वीकार करते हैं तो हम जैन के लिये सिद्धसाध्यता है, क्योंकि हम भी सदृश परिणाम रूप निमित्त से गोत्व आदि अनुवृत्तप्रत्यय होता है ऐसा मानते हैं । यदि ये परवादी नित्य, एक, सर्वगत सामान्य रूप निमित्त से अनुवृत्तप्रत्यय होना स्वीकार करते हैं तब तो अयुक्त है, क्योंकि इस तरह की स्वीकृति में दृष्टांत साध्य विकल ठहरता है, इसीका खुलासा करते हैं—गो व्यक्तियों में गोत्व रूप अनुवृत्त प्रत्यय गो से पृथक् जो नित्य एक सामान्य है उसके निमित्त से होता है, जैसे नीलादि प्रत्यय विभिन्न निमित्त से हुआ करते हैं, सो इसमें ऐसा अन्वयअविनाभाव नहीं है कि जो जो विभिन्न प्रत्यय हो वह वह नित्य, एक, अनुगामी रूप सामान्य के निमित्त से ही हो ।

सामान्येषु 'सामान्यं सामान्यम्' इत्यनुगताकारप्रत्ययोपलम्भेनाऽपरसामान्यकल्पनाप्रसङ्गात् । न चात्रासौ प्रत्ययो गौणः, अस्खलद्वृत्तित्वेन गौणत्वासिद्धेः । तथा प्रागभावादिष्वप्यभावेषु 'अभावोऽभावः' इत्यनुगतप्रत्ययप्रवृत्तिरस्ति, न च परैरभावसामान्यमभ्युपगतम् । न खलु तत्रानुगाम्येकं निमित्तमस्त्यन्यत्र सदृशपरिणामात् ।

ननु चापरसामान्यस्य प्रागभावादिष्वभावेपि सत्ताख्यं महासामान्यमस्ति, तद्बलादेवाभावप्रत्ययोऽनुगतो भविष्यति । उक्तञ्च—

अनुगताकार ज्ञानों के उपलब्ध होने मात्र से ही नित्य सर्वगत सामान्य की सिद्धि होती हो सो भी बात नहीं है, नैयायिकादि से जैन का प्रश्न है कि आप लोग जहां पर अनुगत ज्ञान होता है वहां पर सामान्य का संभव बतलाते हैं अथवा जहां पर सामान्य है वहां पर अनुगत ज्ञान होना बतलाते हैं ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, यदि जहां पर ही अनुगत ज्ञान हो वहीं सामान्य है ऐसा नियम बनाते है तो गौत्व सामान्य, पटत्व सामान्य, घटत्व सामान्य इत्यादि अनेक सामान्यों में जो यह सामान्य है, यह सामान्य है, इस प्रकार का अनुगताकार ज्ञान होता है, वह किस सामान्य के निमित्त से होगा ? उसके लिये अन्य सामान्य की कल्पना करनी पड़ेगी ? घटत्व, पटत्व, गोत्व आदि में जो अनुगत प्रत्यय होता है उसे गौण या कल्पित भी नही कह सकते है, क्योंकि यह प्रत्यय भी गो व्यक्तियों में गोत्व के समान अस्खलत्–निर्दोष रूप से अनुभव में आता है, और भी स्थानों पर अनुगत प्रत्यय उपलब्ध होता है, देखिये ! यह अभाव है, यह अभाव है, इस प्रकार प्रागभाव, प्रध्वंसाभावादि अभावों में भी अनुगतप्रत्यय होता ही है, नैयायिकादि ने अभाव सामान्य तो कोई माना ही नही है, जिससे अभावों में अभावत्व का अनुगत ज्ञान हो जाय । उन प्रागभाव आदि में सदृश परिणाम को छोड़कर नित्य, एक अनुगामी ऐसा कोई निमित्त तो दिखायी नहीं देता है ।

शंका—प्रागभाव आदि अभावों में यद्यपि अपर सामान्य तो नहीं है, किन्तु सत्ता नामा महासामान्य है उसके निमित्त से ही इन अभावों में अनुगतप्रत्यय हो जायगा, कहा भी है कि—जैनादिवादी यदि प्रश्न करें कि गो आदि व्यक्तियों में अनुगतप्रत्यय सामान्य निमित्त से होता है तो प्रागभावादि में किस निमित्त से होगा ? क्योंकि उनमें सामान्य नहीं है सो उसका समाधान यही है कि अभावों में अनुत्पत्ति, एक, नित्य इत्यादि सामान्य के समान धर्म वाली जो सत्ता है उसके निमित्त से अनुगत-

"ननु च प्रागभावादौ सामान्यं वस्तु नेष्यते ।
सत्तैव ह्यत्र सामान्यमनुत्पत्त्यादिरूपता" ॥१॥

[मी० श्लो० अपोहवाद श्लो० ११]

अनुत्पत्त्यादिविशिष्टेत्यर्थः । तदयुक्तम्; अभिप्रेतपदार्थव्यतिरिक्तानां मतान्तरीयार्थानाम् उत्पाद्यकथार्थानां वाऽभावप्रतीतिविषयतोपलम्भेन सत्त्वप्रसङ्गात् । तत्राभावेष्वनुवृत्तप्रतीतेरनुगाम्येकसामान्यनिबन्धनत्वमस्तीत्यन्यत्राप्यस्यास्तन्निबन्धनत्वाभावः । प्रयोगः—ये क्रमित्वानुगामित्ववस्तुत्वोत्पत्तिमत्त्वसत्त्वादिधर्मोपेतास्ते प्रत्ययाः परकल्पितनित्यैकसर्वगतसामान्यनिबन्धना न भवन्ति यथाऽभावेष्वभावोऽभाव इति प्रत्ययाः, सामान्येषु सामान्यं सामान्यमिति प्रत्यया वा, तथा चामी प्रत्यया इति ।

प्रत्यय होता है ॥१॥ इस प्रकार अभावों में अनुगत ज्ञान का निमित्त भी हमारे यहां प्रतिपादित किया ही है ?

समाधान— यह कथन अयुक्त है । आपके अभिमत जो द्रव्य, गुण आदि पदार्थ हैं उनको छोड़कर अन्य मत में माने गये अद्वैतादि रूप पदार्थ एवं लोक व्यवहार में विचित्र कथाओं में व्यावर्णित जो पदार्थ हैं वे सब आपको अभाव ज्ञान के विषय रूप से उपलब्ध होते ही हैं अत: इन सब पदर्थों की सत्ता स्वीकार करनी होगी ? क्योंकि आपने अभी अभी कहा है कि प्रागभाव आदि अभावों में सत्ता नामा महा सामान्य रहता है इसलिये आपको अभावों में अनुगतप्रत्यय अनुगामी एक सामान्य के निमित्त से होता है ऐसा नहीं कहना चाहिए । और जब अभावों में अनुगत प्रत्यय नित्य एक रूप सामान्य के निमित्त से सिद्ध नहीं होता तो अन्य गो, घट, पट इत्यादि व्यक्तियों में भी नित्य, एक, सर्वगत सामान्य के निमित्त से अनुगतप्रत्यय होना सिद्ध नहीं हो पाता है । अनुमान से इसी बात को सिद्ध करते हैं—जो प्रत्यय (ज्ञान) क्रमिकपना, अनुगामीपना, वस्तुपना, उत्पत्तिमानपना, सत्वपना इत्यादि धर्मों से युक्त होते हैं वे प्रत्यय नैयायिकादि परवादी द्वारा परिकल्पित नित्य, एक, सर्वगत सामान्य के निमित्त से नहीं हुआ करते हैं, जैसे प्रागभाव आदि अभावों में "अभाव है यह अभाव है" इस प्रकार के प्रत्यय सर्वगत भूत सामान्य से नहीं होते, अथवा गोत्व, घटत्व आदि सामान्यों में यह सामान्य है, यह सामान्य है इस प्रकार के ज्ञान होते हैं वे नित्य, एक सर्वगत सामान्य निमित्तक नहीं होते हैं उसी प्रकार क्रमिकत्व आदि रूप प्रत्यय भी सामान्य निमित्तक नहीं हैं ।

अथ यत्र सामान्यं तत्रैवानुगतज्ञानकल्पना; न; पाचकादिषु तदभावेप्यनुगतप्रत्ययप्रवृत्तेः। न खलु तत्रानुगाम्येकं सामान्यमस्ति यत्प्रसादात्तत्प्रवृत्तिः स्यात्। निमित्तान्तरमस्तीति चेत्तत्किं कर्म, कर्मसामान्यं वा स्यात्, व्यक्तिः, शक्तिर्वा ? न तावत्कर्म; तस्य प्रतिव्यक्ति विभिन्नत्वात्। 'विभिन्नं ह्यऽभिन्नस्य कारणं न भवति' इति सर्वोयमारम्भः। तच्चेद्भिन्नमपि तथाभूतकार्यकारणं तदान्यत्र कः प्रद्वेषः ?

किञ्च, तत्कर्म नित्यं वा स्यात्, अनित्यं वा ? न तावन्नित्यम्; तथानुपलब्धेरनभ्युपगमाच्च। अनित्यं तु न सर्वदा स्थितिमदिति विनष्टे तस्मिन्न तथाभूतो व्यपदेशो ज्ञानं वा स्यात्, अपचतः क्रियाविरहात्। पचन्नेव हि तथा व्यपदिश्येत नान्यदा। तन्न कर्मतस्य प्रत्ययस्य निबन्धनम्।

इस प्रकार जहां पर अनुगताकार ज्ञान होता है वहां पर सामान्य रहता है ऐसे प्रथम पक्ष का निरसन किया, अब द्वितीय पक्ष–जहां पर सामान्य होता है वहां पर अनुगताकार ज्ञान होता है, ऐसा माना जाय तो वह भी गलत है, पाचक [रसोइया] याजक आदि पुरुषों में सामान्य नही है तो भी "यह पाचक है, यह पाचक है" इत्यादि रूप अनुगतप्रत्यय होता ही है। उन पाचकादि में अनुगामी, एक सामान्य दिखायी तो नही देता, जिसके प्रसाद से अनुगताकार ज्ञान प्रवृत्त होवे। तुम कहो कि पाचकादि में अनुगतप्रत्यय होने के लिये अन्य निमित्त मौजूद है, सो वह निमित्त कौनसा होगा, कर्म, कर्म सामान्य, शक्ति अथवा व्यक्ति ? कर्म अर्थात् पचनादि क्रिया उसके निमित्त से पाचकादि में अनुगत ज्ञान होता है ऐसा कहना जमता नही, क्योंकि पचनादि क्रिया तो प्रत्येक चैत्र, मैत्र आदि पुरुषों मे भिन्न भिन्न ही देखी जाती है। जो भिन्न भिन्न रूप होता है वह अभिन्न का कारण नही हुआ करता, यह सर्व जन सामान्य नियम है। यदि प्रति व्यक्ति की क्रिया विभिन्न होकर भी संपूर्ण व्यक्तियों में अभिन्न रूप अनुगत ज्ञान करा देती हैं तो फिर जैन मत में स्वीकृत प्रति व्यक्ति में भिन्न ऐसे सदृश परिणाम द्वारा भी अनुगत ज्ञान होना सहज संभव है, उसको मानने में आपको द्वेष क्यों हो रहा है ?

दूसरी बात यह है कि वह पाचकादि का पचनादि रूप कर्म नित्य है या अनित्य है ? नित्य तो कह नहीं सकते, क्योंकि पाचकादि पुरुष पचनादि क्रिया को [रसोइया रसोई रूप कार्य को] सतत करता हुआ उपलब्ध नहीं होता है, तथा आपने ऐसा माना भी नहीं है। आपके सिद्धान्त में तो शब्द, बुद्धि और कर्म अर्थात् क्रिया इन तीनों को मात्र तीन क्षण तक अवस्थित माना है। पचनादि क्रिया अनित्य

नापि कर्मसामान्यम्; तद्धि कर्माश्रितम्, कर्माश्रयाश्रितं वा ? यदि कर्माश्रितम्; कथमन्यत्र ज्ञानं जनयेत् ? न ह्यन्यत्र वृत्तिमदन्यत्र ज्ञानकारणमतिप्रसङ्गात् ।

किञ्च, कर्मसामान्यात् 'पाकः पाकः' इति प्रत्ययः स्यान्न पुनः 'पाचकः पाचकः' इति । अथ कर्माश्रयाश्रितम्; तन्न; कर्माश्रितत्वात् । परम्परया कर्माश्रयाश्रितं तत्; इत्यसारम्; अपचतः कर्मविवेकात् । विविक्ते च कर्मणि न कर्मत्वं कर्मणि तदाश्रये वाऽऽश्रितम्, अनाश्रितं च कथं तत्तत्र तथाज्ञानहेतुः स्यात् ?

है ऐसा कहो तो वह सदा ठहरने वाली नही रही, फिर जब वह क्रिया नहीं होगी तब उस पाचकादि पुरुषों में "यह पाचक है" इस प्रकार का व्यपदेश अथवा अनुगत ज्ञान नहीं हो सकेगा ? क्योंकि जो पका नहीं रहा है उसमें क्रिया का अभाव है । जब पकाता है तभी "पाचक है" ऐसी संज्ञा होती है अन्य समय में नहीं, अतः सिद्ध हुआ कि पचनादि क्रिया पाचक है, पाचक है इत्यादि अनुगत ज्ञान का निमित्त नहीं है । कर्म सामान्य अर्थात् क्रिया मात्र ही पाचक है इत्यादि रूप अनुगत ज्ञान का निमित्त है ऐसा द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, यह सामान्य कर्म कर्म के आश्रित है, अथवा कर्म जिसमें हो रहा है उस पुरुष के आश्रित है ? यदि कर्म के आश्रित है तो कर्म के आश्रयभूत जो पुरुष है उसमें अनुगत ज्ञान को कैसे पैदा करा देगा ? अन्य जगह रहने वाला पदार्थ अन्य जगह ज्ञान का कारण नहीं हुआ करता, यदि मानो तो अतिप्रसंग होगा फिर तो ऐसा भी कह सकते हैं कि घर में रहने वाला दीपक गुफा में ज्ञान का कारण है । तथा यह भी बात है कि कर्म सामान्य (पचनादि क्रिया) से तो यह पाक है, पाक है (भोजन पकता है) इत्यादि रूप अनुगत ज्ञान होगा न कि यह पाचक है, पाचक है इत्यादि रूप । क्रिया के आश्रयभूत पुरुष में कर्म सामान्य आश्रित रहता है ऐसी दूसरी बात भी गलत है कर्म सामान्य तो कर्म के ही आश्रित रहता है ।

शंका— कर्म सामान्य तो कर्म में रहता है और कर्म पुरुष के आश्रित रहता है ऐसा परम्परा आश्रय माना है ?

समाधान— यह कथन असार है, जो पुरुष पकाने का काम नहीं कर रहा है उससे पचन कर्म पृथक् हो जाता है, जब वह कर्म समाप्त या पृथक् होता है तब वह कर्म सामान्य कर्म या कर्म के आश्रयभूत पुरुष में आश्रित नहीं रहता है, इस प्रकार अनाश्रित वह कर्मत्व सामान्य देवदत्तादि पुरुष में "यह पाचक है" इत्यादि ज्ञानका हेतु कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

अथाऽपचतोऽतीतानागते कर्मणी तथाव्यपदेशज्ञाननिबन्धनं न कर्मत्वम्; ननु सती, असती वा ते तन्निबन्धनं स्याताम् । न तावत्सती; अतीतस्य प्रच्युतत्वादनागतस्य चालब्धात्मस्वरूपत्वात् । असती च कथं कस्यापि निबन्धनमतिप्रसङ्गात् ? तन्न कर्मत्वमपि तत्प्रत्ययस्य निबन्धनम् ।

नापि व्यक्तिः; अनिष्टेर्विभिन्नत्वाच्च ।

नापि शक्तिः; सा हि पाचकादन्या, अनन्या वा स्यात् ? अनन्यत्वे तयोरन्यतरदेव स्यात् । अन्यत्वे च अस्या एव कार्योपयोगित्वेन कर्त्तृ रकर्त्तृ त्वानुषङ्गः । अथ पारम्पर्येणोपयोगः—कर्त्ता हि

शंका—पचन क्रिया को नहीं करने वाले पुरुष के भी "पाचक है" ऐसा नाम तथा ज्ञान होता है, उसमें कारण कर्म सामान्य नही है किन्तु उस पुरुष में अतीतकाल में जो पचन कर्म विद्यमान था और आगामी काल में होगा उस कर्म के निमित्त से "यह पुरुष पाचक है" ऐसा नाम तथा ज्ञान हो जाया करता है । मतलब यही है कि वर्त्तमान काल में भले ही वैसी क्रिया नहीं कर रहा हो किन्तु अतीतादिकाल में होने वाली क्रिया के निमित्त से उस पुरुष को उस नाम से पुकारते हैं, एवं वैसा अनुगत ज्ञान भी हो जाया करता है ?

समाधान—अच्छा ! तो बताइये कि वह अतीतादि कालीन पचनादि क्रिया सत रूप होकर 'पाचक है" इत्यादि नाम तथा ज्ञान का हेतु है, अथवा असत् रूप होकर हेतु है ? सत् रूप होकर नामादि का हेतु बनती है ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि अतीतकालीन क्रिया नष्ट हो चुकी है और अनागत क्रिया अभी उत्पन्न ही नही हुई है । और असत् रूप क्रिया किस प्रकार किसी नामादि का हेतु बन सकती है ? असत् को निमित्त मानने से तो अति प्रसंग दोष आता है । अतः कर्म सामान्य (क्रिया सामान्य) भी अनुगत ज्ञान का हेतु सिद्ध नहीं होता है ।

पाचकादि पुरुषों में पाचकादिरूप अनुगत ज्ञान का कारण व्यक्ति है ऐसा तृतीय पक्ष कहना भी गलत है, क्योंकि प्रथम तो आपने ऐसा माना ही नहीं, और दूसरी बात व्यक्ति तो भिन्न भिन्न रूप अनेक हुआ करती (करता) है वह अनुगत एक सदृश ज्ञान का कारण हो ही नहीं सकती (सकता) पाचकादि में अनुगत ज्ञान का हेतु शक्ति है ऐसा चतुर्थ विकल्प भी असत् है । वह शक्ति पाचक पुरुष से अन्य है अथवा अनन्य है ? यदि अनन्य है तो पाचक पुरुष और शक्ति इन दो में से एक ही अवशेष रहेगा ।

शक्तावुपयुज्यते शक्तिश्च कार्ये। नन्वसौ शक्तावुपयुज्यते स्वरूपेण, शक्त्यन्तरेण वा ? शक्त्यन्तरेणोपयोगेऽवस्था। स्वरूपेणोपयोगे कार्येप्यसौ तथा किन्नोपयुज्यते किं परम्परापरिश्रमेण ? न चान्यन्निमित्तमस्ति।

पाचकत्वमस्तीति चेत्; तर्हि किं द्रव्योत्पत्तिकाले व्यक्तम्, अव्यक्तं वा ? व्यक्तं चेत्; तर्हि पाकक्रियायाः प्रागेव तथा ज्ञानाभिधाने स्याताम्। अथाऽव्यक्तम्; तर्हि पश्चादपि न ते स्यातां विशेषा-

---

यदि शक्ति पाचक से अन्य है तो वह शक्ति ही पचन कार्य को करने में उपयोगी हुई। इस तरह तो पाचक पुरुष पचन क्रिया का कर्त्ता नहीं रहा अकर्त्ता बन गया।

शंका— परम्परा से पाचक कर्त्ता बन जायगा, कर्त्ता जो पाचक पुरुष है वह शक्ति से सयुक्त हुआ करता है और शक्ति पचनादि कार्य को करती है।

समाधान— ठीक है, किन्तु यह बताइये कि पाचक कर्त्ता शक्ति में उपयुक्त होता है अर्थात् शक्ति से युक्त होता है वह स्वरूप से ही होता है अथवा अन्य शक्ति द्वारा शक्ति युक्त होता है ? अन्य शक्ति द्वारा होगा तो अनवस्था बन जायगी। स्वरूप से ही शक्ति संयुक्त होता है ऐसा कहो तो जैसे स्वरूप से शक्ति संयुक्त हुआ वैसे पचनरूप कार्य में भी स्वरूप से ही क्यो नहीं उपयुक्त-प्रयुक्त होगा ? व्यर्थ परम्परा के परिश्रम से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् पाचक में शक्ति संयुक्त होना और पुनः उससे पचनादि कार्य होना इत्यादि परम्परा से कार्य का निमित्त मानना व्यर्थ है। इन कर्म, कर्म सामान्यादि को छोड़कर अन्य कोई निमित्त नहीं है कि जिससे अनुगत ज्ञान हो जाय।

शका—पाचकादि में "पाचक है" ऐसा अनुगत ज्ञान कराने में तो पाचकत्व हेतु है ?

समाधान—तो फिर बताइये कि पाचक पुरुष के उत्पन्न होने के समय वह पाचकत्व व्यक्त रहता है अथवा अव्यक्त रहता है ? व्यक्त कहो तो पाक क्रिया (पकाने की क्रिया) के पहले ही उस पुरुष में "पाचक है" ऐसा अनुगत ज्ञान तथा नाम होने लगेगा। (किन्तु ऐसा होता नहीं) पाचक पुरुष के उत्पत्ति काल में पाक क्रिया अव्यक्त रहती है ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो उत्पत्तिकाल के अनन्तर भी अनुगत ज्ञान और नाम नहीं हो सकेंगे, क्योंकि उस नित्य पाचकत्व में भेद होना या स्वभाव परिवर्त्तन होना रूप कोई भी विशेषता आ नहीं सकती। आगे इसी को कहते हैं—पाचकत्व रूप

भावात् । तथाहि—तत्पूर्वं द्रव्यसमवायधर्मः स्याद्वा, न वा ? सत्त्वे सत्त्ववत्पूर्वमेव व्यक्तिः, तथाव्यपदेशश्च स्यात् । अथ न; तदा पश्चादपि द्रव्यसमवायधर्मत्वं न स्यादेकरूपत्वात्तस्य । तन्न पश्चाद्व्यक्तिस्तस्य ।

अस्तु वा; तथाप्यसौ द्रव्येण, क्रियया, उभाभ्यां वाभिधीयते ? न तावद्द्रव्येण; अस्य प्रागपि विद्यमानत्वात् । नापि क्रियया; तस्या अनाधेयातिशयेऽकिञ्चित्करत्वात् । नाप्युभाभ्याम्; पृथगऽसामर्थ्ये सहितयोरप्यसामर्थ्यात् । तन्नानुगतः प्रत्ययोऽनुगाम्येकं सामान्यमालम्बते ।

किञ्च, 'गोत्वं वर्त्तते' इत्यभ्युपेतं भवता, तत्र किं गोष्वेव गोत्वं वर्त्तते, किं वा गोषु गोत्वमेव, गोषु गोत्वं वर्त्तते एवेति वा ? प्रथमपक्षेऽनन्वयित्वाविशेषाद्यावत्त्तेषु गोत्व वर्त्तते तावदन्य-

---

द्रव्य समवाय धर्म पाचक पुरुष के उत्पत्ति के पूर्व सत्त्व रूप है या नहीं ? यदि सत्त्व रूप है तो जैसे देवदत्त रूप द्रव्य के मौजूदगी में उस पाचकत्वकी व्यक्ति रहती है वैसे पहले ही रहेगी, फिर तो "यह पाचक है, यह पाचक है" इत्यादि नाम एवं ज्ञान पहले से होता रहेगा ? यदि उक्त पाचकत्व धर्म पूर्व में सत्त्व रूप नहीं है तो पीछे देवदत्त रूप द्रव्य के उत्पन्न होने पर भी सत्त्वरूप नहीं रहेगा, क्योकि वह तो सदा एक रूप होता है, अतः पाचकत्व पीछे व्यक्त होता है, ऐसा कहना सिद्ध नही होता है ।

परवादी के आग्रह से मान लेवे कि देवदत्तादि के उत्पन्न होने पर पीछे पाचकत्व की अभिव्यक्ति होती है, किन्तु फिर भी उस पाचकत्व को किस नाम से कहेंगे, द्रव्य से, क्रिया से या दोनो से ? द्रव्य से तो कह नही सकते क्योंकि यह तो द्रव्य के पहले भी विद्यमान था । पचनादि क्रिया के नाम से कहना भी नही बनता है, क्योंकि पाचकत्व सामान्य रूप क्रिया अनाधेय अतिशय होने से अकिंचित्कर है । द्रव्य और क्रिया दोनों से पाचकत्व को कहते हैं ऐसा तीसरा पक्ष भी जमता नहीं, जब द्रव्य से पाचकत्व कहने में नही आया तथा क्रिया से भी कहने में नहीं आया तो दोनों से भी कहने में नहीं आ सकता है, क्योंकि जिसमें पृथक् अवस्था में सामर्थ्य नही है उसमें संयोग-दोनों के मिलने पर भी सामर्थ्य आ नहीं सकता, इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि अनुवृत्त प्रत्यय अनुगामी एक सामान्य के अवलंबन से नही होता है ।

दूसरी बात यह है कि गोत्व रहता है ऐसा आप मानते हैं सो गो व्यक्तियों में ही (गाय बैल) गोत्व रहता है ऐसा अर्थ आपको इष्ट है, अथवा गो व्यक्तियों में गोपना ही रहता है, या कि गो में गोत्व रहता ही है, ऐसा अर्थ करना इष्ट है ?

नापि किन्न वर्त्तेत ? द्वितीये पक्षे तु सत्त्वद्रव्यत्वादीनां व्यवच्छेदाद्व्यक्तेरप्यभावप्रसङ्गस्तद्रूपत्वात्तस्याः। अथ 'गोषु गोत्वं वर्त्तते' एवेति पक्षः; 'तत्र चान्यत्र गोत्वं वर्त्तत एव' इति गोव्यक्तिवत्कर्कादावपि 'गौर्गौः' इति ज्ञानं स्यात्तद्वृत्तेरविशेषात्। तन्न व्यक्त्यात्मकात् प्रतिव्यक्तिविभिन्नात्सदृशपरिणामात्। अन्यद् व्यक्तिभ्यो भिन्नमेकं सामान्यं घटते।

विभिन्नं हि प्रतिव्यक्ति सदृशपरिणामलक्षणं सामान्यं विसदृशपरिणामलक्षणविशेषवत्। यथैव हि काचिद्व्यक्तिरुपलभ्यमानाव्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते तथा सदृशपरिणामदर्शनात्किञ्चित्केनचित्समानमपि 'तेनायं समानः सोऽनेन समानः' इति प्रतीतेः। न च

प्रथम पक्ष गो व्यक्तियों में ही गोत्व रहता है ऐसा माने तो बनता नहीं, गो व्यक्तियां और गोत्व भिन्न भिन्न हैं और वे समवाय से एकत्रित होते हैं ऐसा आपने माना है किन्तु यह बात गलत है, समवाय पदार्थ का खण्डन पहले कर चुके हैं, तथा जब गो से गोत्व भिन्न है तो समवाय गोत्व को गो में ही क्यों सम्बद्ध करेगा, उसका उससे अन्वय तो है नहीं जैसे गो से गोत्व भिन्न है वैसे अश्वादि से भी भिन्न है फिर गो व्यक्तियों में गोत्व रहता है तो अन्य अश्वादि में भी क्यों नहीं रह सकता ? दूसरा पक्ष— गो व्यक्तियों में केवल गोत्व ही रहता है ऐसा कहा जाय तो उन गो व्यक्तियों में सत्व, द्रव्यत्व आदि धर्म नहीं रह सकेंगे, इस तरह गो व्यक्तियों का अभाव ही होवेगा, क्योंकि सत्व आदि ही तो उनका स्वरूप है। गो व्यक्तियों में गोत्व रहता ही है, ऐसा तीसरा पक्ष कहे तो उसका अर्थ गोत्व गो में और अश्व आदि में भी रहता है, फिर जैसे गो में गोपने का "यह गो है, यह गो है" ज्ञान होता है वैसे सफेद अश्व आदि में होने लगेगा। क्योंकि गोत्व का रहना सर्वत्र संभव है। अंत में यह निश्चित होता है कि प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न भिन्न व्यक्ति स्वरूप जो सदृश परिणाम है वही सामान्य है, व्यक्तियों से भिन्न सर्वथा नित्य एक ऐसा सामान्य नहीं है।

यह सदृश परिणाम स्वरूप सामान्य प्रति व्यक्ति में भिन्न भिन्न ही है जैसे कि विसदृश परिणाम स्वरूप विशेष प्रति व्यक्ति में विभिन्न रहता है। जिस प्रकार विवक्षित एक कोई शबल, धवल आदि गो व्यक्ति अन्य व्यक्ति से विशिष्ट उपलब्ध होती है वह विसदृश परिणाम के देखने से विशिष्ट मालूम पड़ती है, इसी प्रकार सदृश परिणाम के देखने से कोई किसी से समान भी उपलब्ध होता ही है, यह उसके समान है, इस प्रकार की सर्वजन प्रसिद्ध प्रतीति हुआ ही करती है। कोई कहे कि यदि गोत्व आदि धर्म को व्यक्ति स्वरूप से अभिन्न मानेंगे तो उसमें सामान्यपना नहीं रहेगा ? सो

व्यक्तिस्वरूपादभिन्नत्वात्सामान्यरूपताव्याघातोऽस्य; रूपादेरप्यत एव रूपादिस्वभावताव्याघात-प्रसङ्गात्। प्रत्यक्षविरोधोऽन्यत्रापि समान:-सामान्यविशेषात्मतयार्थस्याध्यक्षे प्रतिभासनात्।

ननु प्रथमव्यक्तिदर्शनवेलायां सामान्यप्रत्ययस्याभावात्सदृशपरिणामलक्षणस्यापि सामान्य-स्यासम्भव:; तदप्यसाम्प्रतम्; तदा सद्द्रव्यत्वादिप्रत्ययस्योपलम्भात्। प्रथममेकां गां पश्यन्नपि हि सदादिना सादृश्यं तत्रार्थान्तरेण व्यपदिशत्येव। अननुभूतव्यक्त्यन्तरस्यैकव्यक्तिदर्शने कस्मान्न समान-प्रत्ययोत्पत्ति: तत्र सदृशपरिणामस्य भावादिति चेत्? तदापि विशिष्टप्रत्ययोत्पत्ति: कस्मान्न स्याद्वि-

---

यह कोई बात नही है। सामान्य व्यक्ति स्वरूप है ऐसा मानने में बाधा होगी तो रूप आदि धर्म में भी रूपादि स्वभावत्व सिद्ध नहीं हो सकेंगे; उसमें भी बाधा होगी, क्योंकि रूपादिक भी सामान्य के समान व्यक्ति स्वरूप से अभिन्न है। यदि कहा जाय कि रूप आदि को रूपादि स्वभाव वाले नहीं मानेंगे तो प्रत्यक्ष बाधा आती है? तो सामान्य को भी व्यक्ति स्वरूप से भिन्न मानते हैं तो प्रत्यक्ष बाधा आती है, क्योंकि जगत के सम्पूर्ण पदार्थ सामान्य विशेषात्मक ही प्रत्यक्ष प्रमाण में प्रतिभासित होते हैं।

शंका— सबसे प्रथम बार जब किसी गो को देखते हैं उस समय "यह गो है, यह गो है" इस प्रकार अनुगत प्रत्यय नही होता है अतः सदृश परिणाम लक्षण वाला जैन का सामान्य भी असम्भव है?

समाधान—यह शंका असार है प्रथम बार गो को देखते हैं उस समय "सत् है सत् है, द्रव्य है, द्रव्य है" इत्यादि सामान्य प्रत्यय तो होता ही रहता है। जब कोई पुरुष प्रथम बार एक गो को देख रहा है तब यह पशु अन्य पदार्थ के समान ही अस्ति-रूप है इत्यादि रूप से कथन करता ही है।

शंका —जिस पुरुष ने अन्य गो व्यक्तियों को देखा नही है वह जब एक गो को देखता है तब उसको यह इसके समान है, अथवा गो है, गो है, इस प्रकार का समान ज्ञान क्यों नहीं होता है? सदृश परिणाम तो उस गो में मौजूद ही है?

समाधान—यह शंका उन्हीं मीमांसकों के ऊपर प्रतिशंका का कारण होगी, देखिये–गो व्यक्ति में विसदृश–विशेष परिणाम उस गो व्यक्ति से अभिन्न है ऐसा आप मानते हैं सो जब कोई प्रथम बार गो को देख रहा है तब उसको "यह गो उससे विशिष्ट है विभिन्न स्वरूप वाली है" ऐसा विशिष्ट ज्ञान क्यों नहीं होता है विशिष्ट परिणाम उस गो में मौजूद ही है?

साहृश्यस्यापि भावात् ? परापेक्षत्वात्तस्याप्रसङ्गोऽन्यत्रापि समानः । समानप्रत्ययोपि हि परापेक्षस्तामन्तरेण क्वचित्कदाचिदप्यभावात् द्वित्वादिप्रत्ययवद् दूरत्वादिप्रत्ययवद्वा ।

द्विविधो हि वस्तुधर्मः—परापेक्षः, परानपेक्षश्च, स्थौल्यादिवद्वर्णादिवच्च । अतो यथान्यापेक्षो विशेषः स्वामर्थक्रियां व्यावृत्तिज्ञानलक्षणां कुर्वन्नर्थक्रियाकारी, तथा सामान्यमप्यनुगतज्ञानलक्षणामर्थक्रियां कुर्वत्कथमर्थक्रियाकारि न स्यात् ? तद्बाह्यां पुनर्वाहदोहाद्यर्थक्रियां यथा न केवलं सामान्यं कर्त्तुमुत्सहते तथा विशेषोपि, उभयात्मनो वस्तुनो गवादेस्तत्रोपयोगात्, इत्यर्थक्रियाकारित्वेनापि सामान्यविशेषाकारयोरभेदात्सिद्धं वास्तवत्वम् ।

मीमांसक—गो को देखते समय विशिष्ट प्रतिभास इसलिये नहीं हो पाता है कि वह प्रतिभास अन्य महिष [भैंस] आदि की अपेक्षा करके होता है ?

जैन—यही बात समान प्रतिभास में है, गो को देखते समय समान प्रतिभास इसलिये नही हो पाता है कि वह अन्य गो की अपेक्षा करके होता है, बिलकुल प्रसिद्ध बात है कि समानता का प्रतिभास परकी अपेक्षा लिये बिना कभी किसी स्थान पर भी नहीं होता है, जैसे द्वित्व–दो संख्या का प्रतिभास एक की अपेक्षा लेकर होता है, अथवा दूरपने का प्रतिभास निकटता की अपेक्षा लेकर होता है ।

वस्तुओं में दो प्रकार के धर्म हुआ करते हैं एक पर सापेक्ष और एक परकी अपेक्षा से रहित, उदाहरण के लिये एक गाय है उसमें स्थूलपना आदि तो अन्य गो के छोटापन को अपेक्षा रखता है और सफेद वर्ण आदि परकी अपेक्षा नहीं रखता है । जिस प्रकार अन्य की अपेक्षा रखने वाला विशेष धर्म अपनी अर्थ क्रिया जो यह इससे विभिन्न है इत्यादि व्यावृत्ति रूप ज्ञान को करने से अर्थ क्रियाकारी (उपयोगी) कहलाता है, उसी प्रकार सामान्य धर्म भी अनुगत ज्ञान रूप अर्थ क्रिया को करता हुआ अर्थ क्रियाकारी कैसे नहीं कहलायेगा ? अनुगत ज्ञान रूप अर्थ क्रिया से अन्य जो वाह दोहन, (बोझा ढोना, दूध देना) आदि अर्थ क्रिया है उस अर्थ क्रिया को तो जैसे अकेला सामान्य नहीं कर सकता वैसे विशेष भी नहीं कर सकता, क्योंकि इस प्रकार की अर्थ क्रिया में तो सामान्य और विशेष दोनों रूप जो गो आदि वस्तु हैं वे ही समर्थ हुआ करती हैं. न कि उनका एक एक धर्म समर्थ होता है, अतः यह सिद्ध होता है कि अर्थ क्रियाकारी होने से सामान्य और विशेषाकारों में अभेद है, और इसलिये दोनों वस्तुभूत धर्म हैं ।

ततोऽप्राकृतमेतत्—

"सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थितेः ।
स्वभावपरभावाभ्यां यस्माद्व्यावृत्तिभागिनः ।।१।।
तस्माद्यतो यतोऽर्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः ।
जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः ।।२।।"

[प्रमाणवा० १।४१–४२] इति ।

ननु सादृश्ये सामान्ये 'स एवायं गौः' इति प्रत्ययः कथं शबलं दृष्ट्वा धवलं पश्यतो घटेतेति चेत् ? 'एकत्वोपचारात्' इति ब्रूमः । द्विविधं ह्येकत्वम्–मुख्यम्, उपचरितं च । मुख्यमात्मादिद्रव्ये । सादृश्ये तूपचरितम् । नित्यसर्वगतस्वभावत्वे सामान्यस्यानेकदोषदुष्टत्वप्रतिपादनात् ।

इस प्रकार संपूर्ण पदार्थों के सामान्य विशेषात्मक सिद्ध हो जाने से बौद्ध का निम्नलिखित कथन खण्डित होता है कि—जगत के सम्पूर्ण पदार्थ (प्रतिक्षण में नष्ट होने वाले, परस्पर के स्पर्शपने से रहित, परमाणु मात्र स्वरूप गो, घट, पटादि पदार्थ) स्वभाव से ही अपने अपने स्वभावों में व्यवस्थित हैं, वे पदार्थ स्वभाव और परभाव द्वारा व्यावृत्ति रूप हुआ करते हैं ।।१।। इन स्वलक्षणभूत पदार्थों की जिस कारण से परस्पर में व्यावृत्ति या विशेष रूप विभिन्नता देखी जाती है, उसी कारण से उन्हें विशेष धर्म रूप या व्यावृत्ति माना गया है, इन विशेषावगाही पदार्थों में जो जाति भेद अर्थात् सामान्य भेद (गोत्व, घटत्व पटत्व इत्यादि) दिखायी देते हैं वे केवल वासना–संस्कार वश ही कल्पित किये जाते हैं ।।२।। अभिप्राय यही है कि गो, पट, घट आदि पदार्थ मात्र विशेष रूप हैं, उनमें सामान्य नामा कोई धर्म नहीं है ।

मीमासक— यदि जैन के अभिमत सदृश परिणाम रूप सामान्य को स्वीकार करते हैं तो शबल गो को देखकर पुनः धवल गो को देखते हुए पुरुष को "यह वही गो है" इस प्रकार का ज्ञान होता है वह कैसे घटित होगा ? (क्योंकि दोनों एक तो है नहीं) ।

जैन—यह ज्ञान तो एकत्व का उपचार होने से घटित हो जायगा एकत्व (एकपना) दो प्रकार का हुआ करता है, मुख्य एकत्व और उपचरित एकत्व । मुख्य एकत्व तो आत्मा आदि पदार्थों में होता है, और उपचरित एकत्व सादृश्य में होता है । आप मीमांसक आदि का अभिमत सामान्य सर्वथा नित्य, सर्वगत एक रूप है ऐसा सामान्य

'तेन समानोयम्' इति प्रत्ययश्च कथं स्यात् ? तयोरेकसामान्ययोगाच्चेत्; न; 'सामान्यवन्तावेतौ' इति प्रत्ययप्रसङ्गात् । तयोरभेदोपचारे तु 'सामान्यम्' इति प्रत्ययः स्यात्, न पुनः 'तेन समानोयम्' इति । यष्टिपुरुषयोरभेदोपचाराद्यष्टिसहचरितः पुरुषो 'यष्टिः' इति यथा ।

ननु 'व्यक्तिवत्समानपरिणामेष्वपि समानप्रत्ययस्यापरसमानपरिणामहेतुकत्वप्रसंगादनवस्था स्यात् । तमन्तरेणाप्यत्र समानप्रत्ययोत्पत्तौ पर्याप्तं खण्डादिव्यक्तौ समानपरिणामकल्पनया' इत्यन्यत्रापि समानम्-विसदृशपरिणामेष्वपि हि विसदृशप्रत्ययो यदि तदन्तरहेतुकोऽनवस्था । स्वभावतश्चेत्; सर्वत्र विसदृशपरिणामकल्पनानर्थक्यम् ।

अनेक दोष युक्त है अर्थात् इस तरह के सामान्य की किसी भी प्रमाण से सिद्धि नहीं होती है ।

जैन मीमांसक को पूछते हैं कि "यह उसके समान है" इस प्रकार का ज्ञान किस तरह होगा ? (क्योंकि सदृश रूप सामान्य आपने माना नहीं) तुम कहो कि उनमें एक सामान्य का योग है, सो बात भी बनती नहीं, इस तरह मानने से तो "ये दोनों सामान्यवान हैं" ऐसा ज्ञान होगा न कि "यह इसके समान है" ऐसा होगा ।

मीमांसक—"यह इसके समान है" इस तरह का जो दो व्यक्तियों में प्रतिभास होता है वह उन दोनों में अभेद का उपचार करने से होता है ?

जैन—फिर तो "यह सामान्य है" ऐसा प्रतिभास होना चाहिये ? न कि "यह उसके समान है" ऐसा । जिस प्रकार लाठी और पुरुष में अभेद का उपचार करके लाठी सहित पुरुष को "लाठी" कह देते हैं ।

मीमांसक—खण्ड गो मुण्ड गो इत्यादि गो व्यक्तियों में जैन सदृश परिणाम के द्वारा "यह खण्ड गो उस मुण्ड गो के समान है" इस प्रकार का ज्ञान होना स्वीकार करते हैं, सो जब स्वयं सदृश परिणामों में "यह समान है, यह समान है" इस प्रकार का ज्ञान होता है वह किससे होगा, अन्य सदृश परिणाम से होना मानेंगे तो अनवस्था आती है, तथा समान परिणामों में अन्य समान परिणाम के बिना ही समानता का ज्ञान होना स्वीकार करते हैं तो खण्ड, मुण्ड आदि गो व्यक्तियों में भी अन्य समान परिणाम के बिना समानता का ज्ञान हो जायगा फिर उन व्यक्तियों में समान परिणाम की कल्पना करना व्यर्थ ही है ।

न च सदृशपरिणामानामर्थत्वात्मन्यपि समानप्रत्ययहेतुत्वे अर्थानामपि तत्प्रसङ्गः; प्रतिनियतशक्तित्वाद्भावानाम्, अन्यथा घटादेः प्रदीपात्स्वरूपप्रकाशोपलम्भात्प्रदीपेपि तत्प्रकाशः प्रदीपान्तरादेव स्यात्। स्वकारणकलापादुत्पन्नाः सर्वेऽर्था विसदृशप्रत्ययविषयाः स्वभावत एवेत्यभ्युपगमे समानप्रत्ययविषयास्ते तथा किं नाभ्युपगम्यन्ते अलं प्रतीत्यपलापेन ?

।। सामान्यस्वरूपविचारः समाप्तः ।।

जैन—बिलकुल यही बात विसदृश परिणामों में भी घटित होती है, इसी का खुलासा करते हैं—यह शबल गाय धवल गाय से विसदृश है इत्यादि विसदृश ज्ञान विशेष धर्म से होना मानते हो सो जब स्वयं विसदृश या विशेष परिणामों में "यह उससे विशेष है, यह उससे विशेष है" इत्यादि ज्ञान होता है वह किससे होगा, अन्य विशेष से होना माने तो अनवस्था होगी, और उन विसदृश परिणामों में स्वभाव से ही विसदृशता का ज्ञान होता है ऐसा कहो तो सभी गो व्यक्तियों में भी स्वभाव से ही विसदृशता का ज्ञान हो जायगा ? फिर विसदृश परिणाम की कल्पना करना व्यर्थ ही है।

सदृश परिणाम जैसे गो आदि व्यक्तियों में समान प्रत्यय (सादृश्य ज्ञान) कराने में निमित्त होते हैं और स्व में भी (अपने में भी) समान प्रत्यय कराने में निमित्त होते हैं। वैसे गो आदि पदार्थ भी अपने में समानता का ज्ञान कराने में निमित्त होने चाहिये ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि पदार्थों की शक्तियां प्रतिनियत हुआ करती हैं, किसी एक में जो शक्ति है वह अन्य में भी होना जरूरी नहीं है, अन्यथा घट आदि पदार्थ दीपक से प्रकाशित होते हैं अतः दीपक भी अन्य दीपक से प्रकाशित होना चाहिये ऐसा कुचोद्य भी कर सकते हैं।

सौगत—हम तो सम्पूर्ण पदार्थ अपने कारण कलाप से उत्पन्न होते हैं और स्वभाव से ही विसदृश ज्ञान के हेतु हुआ करते हैं ऐसा मानते हैं ?

जैन—तो फिर सभी पदार्थ स्वकारण कलाप से उत्पन्न होकर स्वभाव से ही समान–सदृश ज्ञान के हेतु हुआ करते हैं, ऐसा क्यों नही मानते हैं। मानना ही चाहिए। अब इस सामान्य के विषय में अधिक नहीं कहते हैं।

।। सामान्यस्वरूपविचार समाप्त ।।

सामान्यस्वरूप के विचार का सारांश

जगत के सम्पूर्ण पदार्थ सामान्य विशेषात्मक होते हैं और ऐसे ही पदार्थ को प्रमाण जानता है, वस्तु सामान्य विशेषात्मक है इस बात को सिद्ध करने के लिये दो समर्थ हेतु उपस्थित किये जाते हैं एक अनुवृत्त व्यावृत्त प्रत्यय होने से और दूसरा, उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप परिणमन सहित अर्थ क्रिया होने से, अर्थात् प्रत्येक वस्तु में सामान्य समानता होने से अनुवृत्त ज्ञान तथा विशेष-विसदृशता होने से व्यावृत्त ज्ञान होता है तथा उत्पादादि परिणमन द्वारा अर्थ क्रिया होती है। अतः वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। पदार्थ में स्थित सामान्य के तिर्यंग् सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य ऐसे दो भेद हैं। बौद्ध सामान्य धर्म को नहीं मानते हैं, उनका कहना है कि जाति और व्यक्ति अर्थात् सामान्य और विशेष दोनों एक ही इंद्रिय गम्य हैं अतः इनमें अभेद है, सामान्य मात्र काल्पनिक संवृत्ति सत्य, अनुमान का विषयभूत ऐसा आरोपित धर्म है, इन बौद्धों को समझाते हुए आचार्य कहते हैं कि एक इन्द्रिय गम्य होने से सामान्य और विशेष में अभेद मानेंगे तो वायु और धूप में भी अभेद मानना होगा, क्योंकि वे भी एक स्पर्शनेन्द्रिय गम्य है। दूरसे प्रत्येक वस्तु का सामान्य धर्म ही झलकता है, दूर से सूखा वृक्ष दिखायी देने पर उसकी ऊंचाई मात्र झलकती है न कि पुरुष या स्थाणुरूप विशेष। दूर में सामान्य का विशद प्रतिभास है वैसे निकट में भी है। प्रत्येक गाय में जो यह भी गो है यह भी गो है इत्यादि रूप से अनुगत बोध होता है वह साधारण धर्म के बिना कैसे होगा? यदि सामान्य धर्म के बिना ही अनुगत ज्ञान होना माने तो व्यावृत्त ज्ञान भी विशेष के बिना होता है ऐसा स्वीकार करना होगा। व्यक्तियों में एक कार्यपना देखकर सदृशता का ज्ञान होना भी सम्भव नही क्योंकि गो आदि व्यक्तियां समान कार्य कहां करती हैं? वे तो बोझा ढोना, दूध देना, हल चलाना इत्यादि अनेक विभिन्न कार्यों में संलग्न हैं। इस प्रकार अनुगत ज्ञान अन्य किसी कारण से न होकर सदृश परिणाम रूप सामान्य से ही होता है यह सिद्ध हुआ। यह सामान्य अनित्य, अनेक

रूप तथा अव्यापक धर्म रूप है, मीमांसक आदि का नित्य, सर्वगत, एक ऐसा सामान्य प्रतीति में नहीं आता है। एक तो बात यह है कि सर्वथा नित्य में अर्थ क्रिया नहीं होती। सामान्य यदि सर्वगत है तो व्यक्ति व्यक्ति में पृथक् पृथक् कैसे रहेगा वह तो उनके अंतरालों में भी उपलब्ध होना चाहिये ? तथा एक ही है तो गो आदि व्यक्ति मर जाने पर उनका गोत्व सामान्य कहीं जायगा अथवा नष्ट होगा इत्यादि आपत्तियां आवेगी, सामान्य यदि सर्वत्र है तो वह अकेला ही अपना अनुगत रूप ज्ञान पैदा करा देता है अथवा व्यक्ति सहित होकर कराता है ? अकेला करायेगा तो व्यक्तियों के अंतराल में भी गो है गो है ऐसा ज्ञान होना चाहिए। किन्तु होता नहीं। व्यक्ति सहित सामान्य अनुगत ज्ञान करायेगा तो सभी व्यक्तियो के जानने पर या बिना जाने ? संपूर्ण व्यक्तियों को जानने पर अनुगत ज्ञान कराता है ऐसा कहना शक्य नही, क्योंकि असर्वज्ञ जीवों को सम्पूर्ण व्यक्तियों का ज्ञान होता हो नही। सभी को जाने बिना अनुगत ज्ञान होगा तो एक व्यक्ति के जानते ही उसमें सामान्य का बोध अर्थात् यह गाय है यह गाय है ऐसा ज्ञान होना चाहिए किन्तु होता नहीं। तथा सामान्य सर्वगत है सो कैसा सर्वगत है सर्व सर्वगत अर्थात् सर्वत्र आकाश में व्यापक है अथवा अपने विवक्षित स्थान या स्वरूप में सर्वगत पूर्णरूप है ? सर्व सर्वगत कहो तो व्यक्ति व्यक्ति के अंतराल में वह क्यों नहीं दिखता ? गाय गाय के अन्तराल में गोत्व दिख जाना चाहिए। अतराल में वह गोत्व सामान्य अदृश्य रहता है या इंद्रिय सम्बन्ध से रहित है इत्यादि कारण बताना शक्य नही है क्योकि जब गोत्व एक ही है तो एक गाय में हो बीच में न होकर पुनः दूसरी गाय में रहे यह बात बिलकुल जमती नहीं। नित्य होने से उसमें स्वभाव परिवर्तन भी नही होगा अतः अंतराल में अव्यक्त होना, अदृश्य होना दूर रहना इत्यादि बातें नहीं होंगी। यदि होगी तो अंतराल की तरह व्यक्ति व्यक्ति में भी अव्यक्त अदृश्य ऐसा ही सामान्य रहेगा क्योंकि वह सदा सर्वत्र समान है। अतः आकाश की तरह सामान्य का सर्व सर्वगत होना सम्भव नहीं है। यदि स्वव्यक्ति में सर्वगत है तो वह एक रूप सामान्य दूसरे असंख्यातों व्यक्तियों मे कैसे रह सकेगा। जब दूसरे में जाने लगेगा तो पहला व्यक्ति सामान्य रहित होगा। तथा सामान्य को आप निष्क्रिय मानते हैं अतः वह कहीं जा भी नहीं सकता। पहले व्यक्ति को बिना छोड़े जाता है कहो तब तो वह अनेक हो गया। इस तरह बौद्ध के समान नैयायिक के सामान्य की भी सिद्धि नहीं होती है। मीमांसक भाट्ट सामान्य और विशेष में सर्वथा तादात्म्य

मानते हैं वह भी एकान्त हटाग्रह है, सामान्य और विशेष में सर्वथा एकत्व–तादात्म्य होगा तो एक व्यक्ति उत्पन्न होने पर या नष्ट होने पर सामान्य को भी उत्पन्न या नष्ट होना पड़ेगा, तथा व्यक्ति के समान सामान्य भी विशेष असाधारण रूप ही रह जायगा फिर उसमें अनेक व्यक्तियों में समानता का ज्ञान कराने की शक्ति नही रहेगी। मीमांसक भी नैयायिक की तरह सामान्य को एक नित्य मानते हैं सो गो आदि व्यक्तियों में अकेला सामान्य पूर्ण रूप से समाप्त होकर रहेगा तो व्यक्तियां मिलकर एक मेक बन जायगी या सामान्य अनेक हो जायगा, अंश अंश रूप से जाना भी संभव नहीं, क्योंकि आपका सामान्य निरंश है। अहो बड़ी भारी आपत्ति है कि निरंश एक रूप सामान्य कहीं जा नही सकता, पहले व्यक्ति अंश को छोड़ नहीं सकता, कहीं से आता नहीं, पहले रहता नहीं। जैन द्वारा इस तरह खडित होते देख बीच में ही उद्योतकर महाशय कहते हैं कि गायों में अनुवृत्त प्रत्यय गो पिण्ड से न होकर किसी भिन्न ही नित्य सर्वगत सामान्य से होता है, विशेषक अर्थात् भेद करने वाले होने से, नीलादि प्रत्यय की तरह, यह गोत्वादि सामान्य गायों से भिन्न है इत्यादि। सो हम जैन तो गोत्व का कारण सदृश परिणाम बतला ही रहे है। गायों से गोत्व भिन्न होकर अनुगत ज्ञान कराता है तो सामान्यों में 'सामान्य है सामान्य है' ऐसा अनुगत ज्ञान कराने के लिये कौनसा कारण है? अन्य सामान्य माने तो अनवस्था स्पष्ट है और स्वतः माने तो वस्तु वस्तु में स्वतः निजी सामान्य धर्म से अनुगत ज्ञान क्यों न हो जाय। तथा प्रागभावादि में भी "अभाव है अभाव है" ऐसा अनुगत ज्ञान होता है सो किस कारण से होगा? आप अभावों में सामान्य मानते नही। जहां पर सामान्य हो वहीं अनुगत ज्ञान होगा ऐसा कहना भी शक्य नही, पाचकादि में अर्थात् रसोइया आदि पुरुषों में पाचकत्व सामान्य नहीं है तो भी "यह पाचक है" "यह पाचक है" ऐसा अनुगत ज्ञान होता है। गो में गोत्व रहता है, सो इस वाक्य का क्या अर्थ है, गो मे ही रहता है, गो में गोत्व ही रहता है, अथवा गो में गोत्व रहता ही है ऐसा एवकार तीन जगह लगाकर कहने पर भी आपके एकांतवाद के कारण कुछ भी सार नहीं निकलता। गो में गोत्व ही है ऐसा पहला पक्ष लेवे तो गो में अन्य सत्वादि गुण न रह सकेंगे। गो में ही गोत्व रहना आप कह नहीं सकते क्योंकि आपके पास गोत्व एक है और गो अनेक हैं सो निरंश एक गोत्व का सबके साथ अन्वय हो नहीं सकता। हम जैन तो ऐसा कह सकते हैं क्योंकि हमारे यहां प्रति व्यक्ति भिन्न ऐसा सादृश्य परिणाम स्वरूप वाला सामान्य माना है। गो में गोत्व रहता ही है,

सो ऐसे अवधारण से क्या लाभ। वह गोत्व तो अन्य सफेद घोड़ा आदि में भी रह सकेगा। अतः सर्वगत एक सामान्य सिद्ध नहीं होता है उसे तो अनित्य, अनेक, अव्यापक ही स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार बौद्ध का काल्पनिक सामान्य, नैयायिक का सर्वगत नित्य सामान्य और मीमांसक भाट्ट का विशेष के साथ सर्वथा तादात्म्य स्वरूप वाला सामान्य इन तीनों प्रकार का सामान्य सिद्ध नही होता, अपितु व्यक्ति व्यक्ति में पृथक् पृथक् रूप से रहने वाला सदृश परिणाम है, वही सामान्य है। ऐसा मानना चाहिए।

॥ सामान्यस्वरूपविचार सारांश समाप्त ॥

२

ब्राह्मणत्वजातिनिरासः

एतेन नित्यं निखिलब्राह्मणव्यक्तिव्यापकं ब्राह्मण्यमपि प्रत्याख्यातम् । न हि तत्तथाभूतं प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रतीयते । ननु च 'ब्राह्मणोयं ब्राह्मणोयम्' इति प्रत्यक्षत एवास्य प्रतिपत्तिः । न चेदं विपर्ययज्ञानम्; बाधकाभावात् । नापि संशयज्ञानम्; उभयांशानवलम्बित्वात् । पित्रादिब्राह्मण्य-

---

मीमांसक नैयायिक आदि के यहां पर जिस प्रकार गो आदि पदार्थों में गोत्व आदि सामान्य नित्य, व्यापक, एक माना है, उसी प्रकार संपूर्ण ब्राह्मणों में व्यापक, एक नित्य ऐसा ब्राह्मण्य माना है, सो जैसे गोत्वादि नित्य सामान्य की सिद्धि नहीं होती है, उसमें अनेक दोष हैं ऐसा अभी जैन ने सिद्ध किया, उस नित्य सामान्य के खण्डन से ब्राह्मण व्यक्तियों में माना गया ब्राह्मणत्व भी खण्डित हो जाता है । मीमांसकादि परवादी जिस प्रकार का नित्य एक व्यापक ब्राह्मणत्व मानते हैं उस प्रकार का ब्राह्मणत्व प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से प्रतिभासित नही होता अतः असत् है ।

मीमांसक—जैन ने कहा कि ब्राह्मणत्व की प्रमाण से प्रतीति नहीं होती सो बात गलत है, "यह ब्राह्मण है, यह ब्राह्मण है" इस प्रत्यक्ष से ही इसकी प्रतीति हो रही है, इस ज्ञान को विपरीत भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें कोई बाधा नहीं आती है । यह ब्राह्मण है यह ब्राह्मण है, यह ज्ञान संशय रूप भी नहीं कहलाता, क्योंकि

ज्ञानपूर्वकोपदेशसहाया चास्य व्यक्तिर्व्यञ्जिका, तत्रापि तत्सहायेति। न चात्राऽनवस्था; बीजाङ्कुरादिवदनादित्वात्तत्प्रपोपदेशपरम्परायाः।

तथानुमानतोपि; तथाहि–ब्राह्मणपद व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धं पदत्वात्पटादिपदवत्। न चायमसिद्धो हेतुः; धर्मिणि विद्यमानत्वात्। नापि विरुद्धः; विपक्षे एवाभावात्। नाप्यनैकान्तिकः; पक्षविपक्षयोरवृत्तेः। नापि दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्यम्; पटादौ व्यक्तिव्यतिरिक्तैक-

---

इसमें उभय अंशों का अवलंबन नहीं है। इस ब्राह्मण्य नित्य जाति की अभिव्यक्ति पिता आदि के ब्राह्मणत्व के ज्ञान से पुत्रादि में हुआ करती है, अर्थात् "इसका पिता ब्राह्मण था" इत्यादि उपदेश की सहायता से पुत्र मे ब्राह्मणपना सिद्ध होता है, फिर उस पुत्र के ब्राह्मणत्व से आगे भी ब्राह्मणपने की सिद्धि होतो रहती है, इस प्रकार मानने में अनवस्था की आशंका भी नही करना, क्योंकि यह ब्राह्मणत्व के उपदेश की परम्परा बीजांकुर के समान अनादि की है, अनुमान प्रमाण से भी ब्राह्मणत्व की सिद्धि होती है, अब इसी अनुमान को उपस्थित करते है–"ब्राह्मण" यह एक पद है वह व्यक्ति से भिन्न कोई एक निमित्त रूप वाच्य से सम्बन्धित है, क्योकि पद है, जैसे पटः, घटः इत्यादि पद अपने पट आदि से सम्बद्ध होते हैं, अभिप्राय यह है कि "ब्राह्मण है यह ब्राह्मण है" यह पद सामान्य का वाचक है, जब यह पद (शब्द) है तो उसका वाच्यार्थ अवश्य होना चाहिये, इस तरह ब्राह्मणत्व की अनुमान से सिद्धि होती है, इस अनुमान का पदत्व नामा हेतु असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि धर्मी मे हेतु विद्यमान रहता है। पदत्व हेतु विरुद्ध भी नही है, क्योंकि विपक्ष में नही जाता है, अनैकान्तिक भी नहीं है क्योंकि पक्ष और विपक्ष में अविरुद्ध वृत्ति वाला नहीं है, अर्थात् पक्ष के समान विपक्ष में नहीं जाता सिर्फ पक्ष में ही रहता है। पटादिवत दृष्टान्त साध्य विकल भी नहीं है, पट आदि पदार्थों में पट आदि व्यक्ति से व्यतिरिक्त एक निमित्त रूप वाच्य का सम्बद्धपना नहीं मानेंगे तो पट आदि व्यक्तियां अनन्त होने से उन सब व्यक्तियों का सम्बन्ध अनन्तकाल से भी ग्रहण नही होवेगा।

भावार्थ– "पटः, ब्राह्मणः" इत्यादि पद हैं जिन शब्दों के आगे सु औ जस्, अथवा ति तस् अन्ति इत्यादि विभक्ति रहती हैं उन्हें पद कहते हैं "विभक्त्यंतं पदम्" ऐसी पद शब्द की निरुक्ति है। इन पट ब्राह्मण इत्यादि पदों में नित्य एक पदत्व नामा सामान्य रहता है, पट आदि व्यक्तियां अनन्त हैं अर्थात् नीला वस्त्र, सफेद वस्त्र, मोटा,

निमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वाभावे व्यक्तीनामानन्त्येनाऽनन्तेनापि कालेन सम्बन्धग्रहणाघटनात् । तथा, वर्णविशेषाध्ययनाचारयज्ञोपवीतादिव्यतिरिक्तनिमित्तनिबन्धनं 'ब्राह्मणः इति ज्ञानम्, तन्निमित्तबुद्धि-विलक्षणत्वात्, गवाश्वादिज्ञानवत्' इत्यतोपि तत्सिद्धिः । तथा 'ब्राह्मणेन यष्टव्यं ब्राह्मणो भोजयितव्यः' इत्याद्यागमाच्चेति ।

अत्रोच्यते । यत्तावदुक्तम्–प्रत्यक्षत एवास्य प्रतिपत्तिः; तत्र किं निर्विकल्पकात् विकल्पकाद्वा ततस्तत्प्रतिपत्तिः स्यात् ? न तावन्निर्विकल्पकात्; तत्र जात्यादिपरामर्शाभावात्, भावे वा सविकल्पकानुषङ्गः । अन्यथा–

पतला वस्त्र, पुराना नया वस्त्र, रेशमी सूती वस्त्र इत्यादि अनेक वस्त्रों में एक पटत्व सामान्य है वही शब्द और अर्थ का वाचक वाच्य सम्बन्ध कराता है, यदि पटों में पटत्व या 'पटः' इत्यादि पदों में पदत्व सम्बन्ध न हो तो अनन्तकाल में भी वाच्य वाचक सम्बन्ध ग्रहण में नहीं आ सकता है, अतः ब्राह्मणः यह सामान्य पद एक नित्य जाति रूप ब्राह्मणत्व की सिद्धि करता है जो कि ब्राह्मणत्व ब्राह्मण पुरुषों से भिन्न ही वस्तु रूप है ।

नित्य ब्राह्मणत्व जाति की सिद्धि करने वाला द्वितीय अनुमान भी मौजूद है, अब उसीको बताते हैं—"यह ब्राह्मण है" ऐसा जो ज्ञान होता है वह न वर्ण विशेष जो गोरापन आदि है उससे होता है और न, अध्ययन, आचार, यज्ञोपवीत इत्यादि कारणों से होता है वह तो अन्य निमित्त से (ब्राह्मणत्व से) ही होता है, क्योंकि इन वर्ण आदि के ज्ञान से विलक्षण स्वरूप ब्राह्मण ज्ञान है, जैसे गो, अश्व इत्यादि का ज्ञान अन्य कारण से (सामान्य से) होता है । इस तरह अनुमान प्रमाणों से नित्य ब्राह्मण्य जाति का समर्थन हुआ । आगम प्रमाण से भी ब्राह्मणत्व को सिद्धि होती है– ब्राह्मणों को पूजा अनुष्ठान को करना चाहिए । ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए, इत्यादि अनादि वेद वाक्यों से ब्राह्मण जाति की अनादिता सिद्ध होती है ।

जैन—अब यहां पर मीमांसक के इस अनादि ब्राह्मणत्व जाति का निरसन किया जाता है—आप मीमांसक आदि ने कहा था कि ब्राह्मण्य जाति की प्रतीति प्रत्यक्ष से ही हो जाती है, सो उसमें हमारा प्रश्न है कि वह प्रत्यक्ष कौनसा है ? निर्विकल्प है या सविकल्प है ? निर्विकल्प प्रत्यक्ष से ब्राह्मणत्व जाति की प्रतीति हो नहीं सकती, क्योंकि इसमें जाति, नाम आदि का परामर्श नहीं होता है, यदि माना जाय तो

"अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ।।१।।
ततः परं पुनर्वस्तुधर्मैर्जात्यादिभिर्यया ।
बुद्धयावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ।।२।।"

[मी० श्लो० प्रत्यक्षसू० ११२,१२०] इति वचो विरुद्धयेत ।

नापि सविकल्पकात्, कठकलापादिव्यक्तीनां मनुष्यत्वविशिष्टतयेव ब्राह्मण्यविशिष्टतयापि प्रतिपत्त्यसम्भवात् । पित्रादिब्राह्मण्यज्ञानपूर्वकोपदेशसहाया व्यक्तिर्व्यञ्जिकास्य; इत्यप्यसारम्; यतः पित्रादिब्राह्मण्यज्ञानं प्रमाणम्, अप्रमाणं वा ? अप्रमाणं चेत्; कथमतोऽर्थसिद्धिरतिप्रसङ्गात् ? प्रमाणं चेत्; किं प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा ? प्रत्यक्षं चेत्; न; अस्य तद्ग्राहकत्वेन प्रागेव प्रतिषेधात् ।

सविकल्प कहलायेगा। जाति आदि की कल्पना युक्त ज्ञान को भी निर्विकल्प माना जायगा तो आपका निम्नलिखित कथन विरुद्ध पड़ेगा—नेत्र के खोलते ही सबसे पहले जो इंद्रिय ज्ञान उत्पन्न होता है, यह ज्ञान शुद्ध वस्तु जन्य है तथा जैसे बालक, मूक आदि जीवों का ज्ञान कहने में नहीं आता है वैसा है ।।१।। इस निर्विकल्प ज्ञान के बाद वस्तु के जाति आदि धर्मों का निश्चय ज्ञान उत्पन्न होता है यह भी प्रत्यक्ष प्रमाण रूप से स्वीकार किया गया है ।।२।।

ब्राह्मण्य जाति की प्रतीति सविकल्प प्रत्यक्ष से होती है ऐसा कहना भी ठीक नही है, कठ, कलाप आदि जो ब्राह्मण पुरुष हैं उनमें जैसे मनुष्यपने का प्रतिभास होता है वैसे ब्राह्मणत्व रूप से विशिष्ट प्रतिभास नहीं होता है, अर्थात् किसी पुरुष विशेष को देखकर यह सविकल्पक ज्ञान तो हो जाता है कि यह मनुष्य है किन्तु यह ब्राह्मण है ऐसा ज्ञान नहीं होता है ।

मीमांसक—पिता आदि के ब्राह्मणत्व के ज्ञान हो जाने से पुत्रादि में इस ब्राह्मणत्व का अस्तित्व सिद्ध होता है, अर्थात् अपन ब्राह्मण हैं अपनी जाति ब्राह्मण है इत्यादि वृद्ध पुरुष के उपदेश से पुत्रादि को ब्राह्मणत्व से विशिष्ट ज्ञान हो जाता है ?

जैन— यह कथन असार है, पितादि को अपने ब्राह्मणपने का जो ज्ञान है वह प्रमाण है या अप्रमाण है ? यदि अप्रमाण है तो उससे ब्राह्मणत्व की सिद्धि किस प्रकार होगी ? अतिप्रसंग होगा, अर्थात् अप्रमाण से वस्तु सिद्धि हो सकती है तो संशयादि से भी हो सकती है । ब्राह्मणपने का ज्ञान प्रमाणभूत है तो वह कौनसा प्रमाण है प्रत्यक्ष

किञ्च, 'ब्राह्मण्यजातेः प्रत्यक्षतासिद्धौ यथोक्तोपदेशस्य प्रत्यक्षहेतुतासिद्धि, तत्सिद्धौ च तत्प्रत्यक्षतासिद्धिः' इत्यन्योन्याश्रयः। यथा च ब्राह्मण्यजातेः प्रत्यक्षत्वमुपदेशेन व्यवस्थाप्यते तथा ब्रह्माद्यद्वैतप्रत्यक्षत्वमपि, तत्कथमप्रतिपक्षा पक्षसिद्धिर्भवतः स्यात्? अथाद्वैताद्युपदेशस्याध्यक्षबाधितत्वान्न प्रत्यक्षाङ्गत्वम्; तदन्यत्रापि समानम्। ब्राह्मण्यविविक्तपिण्डग्राहिणाध्यक्षेणैव हि तदुपदेशो बाध्यते। अथाऽदृश्या ब्राह्मण्यजातिस्तेनायमदोषः; कथं तर्हि सा 'प्रत्यक्षा' इत्युक्तं शोभेत?

किञ्च, औपाधिकोयं ब्राह्मणशब्दः, तस्य च निमित्त वाच्यम्। तच्च किं पित्रोरविप्लुतत्वम्, ब्रह्मप्रभवत्वं वा? न तावदविप्लुतत्वम्; अनादौ काले तस्याध्यक्षेण ग्रहीतुमशक्यत्वात्, प्रायेण

या अनुमान? प्रत्यक्ष तो वह हो नहीं सकता, इस विषय में पहले ही कह चुके हैं कि प्रत्यक्ष का विषय ब्राह्मण्य होना असंभव है।

दूसरी बात यह है कि ब्राह्मणत्व जाति का प्रत्यक्षपना सिद्ध होने पर तो पितादि के ब्राह्मण्य के ज्ञान का उपदेश प्रत्यक्ष का हेतु रूप सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर ब्राह्मण्य के प्रत्यक्षता की सिद्धि होगी, इस तरह अन्योन्याश्रय दोष आता है। आप जिस प्रकार ब्राह्मण्य जाति का प्रत्यक्षपना उपदेश द्वारा सिद्ध करते हैं उसी प्रकार अन्य अद्वैतवादी आदि भी ब्रह्माद्वैत आदि का उपदेश द्वारा प्रत्यक्षपना सिद्ध कर लेंगे? फिर आपके पक्ष की निर्द्वन्द्व सिद्धि किस प्रकार हो सकेगी? अर्थात् नही हो सकती है।

मीमांसक—अद्वैतपने का उपदेश प्रत्यक्ष बाधित है, अतः वह प्रत्यक्ष प्रमाण का कारण नही हो सकता है?

जैन—तो यही बात ब्राह्मणत्व जाति में भी होती है, ब्राह्मणत्व जाति से पृथक् मात्र मानव व्यक्ति को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा नित्य ब्राह्मण्य का उपदेश बाधित होता ही है।

मीमांसक—मनुष्य को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष द्वारा ब्राह्मण्य का ग्रहण इसलिये नही होता है कि वह ब्राह्मण्य अदृश्य है, अतः उपदेश बाधित हुआ सा मालूम देता है, इसमे कोई दोष वाली बात नहीं है?

जैन—फिर आप उस ब्राह्मण्य जाति को प्रत्यक्ष होना किस प्रकार कहते हैं? जब वह अदृश्य ही है तब उसे प्रत्यक्ष कहना शोभा नहीं देता है। तथा यह भी

प्रमदानां कामातुरतयेह जन्मन्यपि व्यभिचारोपलम्भाच्च कुतो योनिनिबन्धनो ब्राह्मण्यनिश्चयः? न च विप्लुतेतरपित्रपत्येषु वैलक्षण्यं लक्ष्यते। न खलु वडवायां गर्दभाश्वप्रभवापत्येष्विव ब्राह्मण्यां ब्राह्मणशूद्रप्रभवापत्येष्वपि वैलक्षण्यं लक्ष्यते।

क्रियाविलोपात् शूद्रान्नादेश्च जातिलोपः स्वयमेवाभ्युपगतः—

"शूद्रान्नाच्छूद्रसम्पर्काच्छूद्रेण सह भाषणात्।
इह जन्मनि शूद्रत्वं मृतः श्वा चाभिजायते॥"

[ ] इत्यभिधानात्।

बात है कि "ब्राह्मण" यह शब्द औपाधिक है उपाधि का द्योतक है, अतः इस उपाधि का कारण बताना होगा। माता पिता की अभ्रान्तता होना ब्राह्मण उपाधि का कारण है अथवा ब्रह्म से उत्पन्न होना कारण है? माता पिता की अविभ्रान्तता तो कारण हो नहीं सकती, क्योंकि माता पिता की परम्परा तो अनादि कालीन है, उसका प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण होना अशक्य है, तथा प्रायः करके स्त्रियों के काम जन्य दोष के कारण इस जन्म में भी व्यभिचारपना देखा जाता है तो परम्परा से होने वाला योनि निमित्तक ब्राह्मणपना कैसे निश्चित किया जा सकता है? तथा यह भी बात नही है कि माता पिता के अभ्रात–निर्दोष होने से और नही होने से संतानों में विलक्षणता आती हो इसीका खुलासा करते है—जिस प्रकार गधी और घोड़े से उत्पन्न हुई संतान स्वरूप खच्चर में विलक्षणता पायी जाती है उस प्रकार ब्राह्मण और शूद्रा से उत्पन्न हुए ब्राह्मणी में विलक्षणता नहीं पायी जाती है।

मीमांसक आदि परवादीगण इधर तो ब्राह्मण्य जाति को नित्य एक मानते हैं और इधर उसका किसी किसी कारण से लोप होना बताते हैं जैसे कि ब्राह्मण योग्य क्रिया, जप, तप होमादि का लोप करने से, शूद्र का भोजन करने से ब्राह्मणत्व नष्ट होता है ऐसा स्वयं स्वीकार करते हैं। कहा भी है कि—शूद्र द्वारा पकाया हुआ भोजन करने से, शूद्र के साथ संपर्क हो जाने से, शूद्र के साथ वार्त्तालाप करने से ब्राह्मण पुरुषों के इस जन्म में तो शूद्रपना आ जाता है, और मरने के बाद वे श्वान हो जाते हैं॥ १॥

कथं चैवं वादिनो ब्रह्मव्यासविश्वामित्रप्रभृतीनां ब्राह्मण्यसिद्धिस्तेषां तज्जन्यत्वासंभवात् । तन्न पित्रोरविप्लुतत्वं तन्निमित्तम् ।

नापि ब्रह्मप्रभवत्वम्; सर्वेषां तत्प्रभवत्वेन ब्राह्मणशब्दाभिधेयतानुषङ्गात् । 'तन्मुखाज्जातो ब्राह्मणो नान्यः' इत्यपि भेदो ब्रह्मप्रभवत्वे प्रजानां दुर्लभः । न खल्वेकवृक्षप्रभवं फलं मूले मध्ये शाखायां च भिद्यते । ननु नागवल्लीपत्राणां मूलमध्यादिदेशोत्पत्तेः कण्ठभ्रामर्यादिभेदो दृष्ट एवमत्रापि प्रजाभेदः स्यात्; इत्यप्यसत्; यतस्तत्पत्राणां जघन्योत्कृष्टप्रदेशोत्पादात्तत्पत्राणां तद्भेदो युक्तो ब्रह्मणस्तु तद्देशाभावान्न तद्भेदः । तद्देशभावे चास्य जघन्योत्कृष्टतादिप्रसङ्गः स्यात् ।

मीमांसक आदि माता पिता के निर्दोषता से ब्राह्मण्य की प्रवृत्ति होना मानते हैं किन्तु इस तरह की मान्यता से ब्रह्मा, व्यास ऋषि, विश्वामित्र आदि पुरुषों में ब्राह्मणत्व किस प्रकार सिद्ध होगा ? क्योंकि ये सब पुरुष अविभ्रान्त-निर्दोष माता पिता से उत्पन्न नहीं हुए थे, अतः ब्राह्मण शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त पिता आदि की अभ्रान्तता है ऐसा कहना सिद्ध नही होता है ।

भावार्थ—मीमांसक, नैयायिक आदि वादी ब्राह्मण वर्ण वाले पुरुषों में एक नित्य ब्राह्मणत्व नामा जाति की कल्पना करते हैं, उनका कहना है कि "यह ब्राह्मण है, यह ब्राह्मण है" इस तरह के शब्द या पदकी जो प्रवृत्ति है उसका वाच्य नित्य ब्राह्मणत्व जाति है, न कि ब्राह्मण व्यक्ति, ब्राह्मण पुरुष में जो ब्राह्मणपने का ज्ञान होता है वह यज्ञोपवीत, अध्ययन विशेष आदि कारणों से नहीं होता है अपितु अनादि नित्य ब्राह्मण्य जाति से होता है । पुत्र की ब्राह्मणता माता पिता के निर्दोषपने से जानी जाती है, और माता पिता की ब्राह्मणता उनके माता आदि से जानी जाती है इत्यादि, इस पर जैन का चोद्य है कि प्रथम तो अनादि से अभी तक माता आदि को निर्दोषता बराबर उसी एक परम्परा में चली आना असंभव है, तथा दूसरी बात माता पिता के निर्दोषता एवं निर्भ्रान्तता से पुरुषों में ब्राह्मण शब्द प्रयुक्त होता है अथवा वह पुरुष ब्राह्मण माना जाता है तो ब्रह्मा की उत्पत्ति विष्णु के नाभिकमल से, व्यास ऋषि की उत्पत्ति शूद्री से होने के कारण उनमें नैयायिकादि को ब्राह्मणत्व नहीं मानना चाहिये । इसलिये नैयायिकादि का अनादि नित्य एक ही ब्राह्मण जाति है ऐसा कहना असत् ठहरता है । इस ब्राह्मणत्व जाति का खण्डन देखकर कोई यह नहीं समझे कि आचार्य वर्ण या जाति व्यवस्था को नहीं मान रहे हैं । किन्तु नित्य व्यापी एक स्वभाववाली कोई

किञ्च, ब्रह्मणो ब्राह्मण्यमस्ति वा, न वा ? नास्ति चेत्; कथमतो ब्राह्मणोत्पत्तिः ? न ह्यमनुष्यादिभ्यो मनुष्याद्युत्पत्तिर्घटते । अस्ति चेत्किं सर्वत्र, मुखप्रदेश एव वा ? सर्वत्र इति चेत्; स एव प्रजानां भेदाभावोनुषज्यते । मुखप्रदेशे एव चेत्, अन्यत्र प्रदेशे तस्य शूद्रत्वानुषङ्गः, तथा च न पादादयोस्य वन्द्या वृषलादिवत्, मुखमेव हि विप्रोत्पत्तिस्थानं वन्द्य स्यात् ।

जाति नही है ऐसा आचार्य का कहना है । माता पिता की अभ्रान्तता ब्राह्मण रूप उपाधि का निमित्त है ऐसा प्रथम विकल्प जैसे सिद्ध नही हुआ वैसे ही ब्रह्मा से उत्पन्न होना रूप ही ब्राह्मणत्व उपाधि का निमित्त है ऐसा कहना भी सिद्ध नही होता है, अब इसी का खुलासा करते हैं—आप सभी जीवो की उत्पत्ति ब्रह्मा से मानते हैं अतः जो ब्रह्मा से उत्पन्न हुआ हो वह ब्राह्मण है ऐसा कह नही सकते, यदि कहेगे तो सभी मनुष्यों को ब्राह्मण मानना होगा ।

शंका— जो ब्रह्माजी के मुख से उत्पन्न हुआ हो वह ब्राह्मण शब्द का वाच्य होता है अन्य पुरुष नही ?

समाधान—सर्व प्रजा जब ब्रह्मा से उत्पन्न हुई है तब उसमें ऐसा भेद होना बनता नहीं । एक वृक्ष से उत्पन्न हुआ फल है उसमें यह भेद नही होना है कि मूल से हुआ है कि मध्य मे अथवा शाखा में हुआ है ।

मीमांसक—ऐसी बात नही है, नागवेल के पत्ते अलग-अलग मूल मध्य आदि भागों में उत्पन्न होने से उनमे कण्ठ भ्रम करना आदि पृथक् पृथक् शक्ति भेद देखा जाता है, अर्थात् मूल भाग में उत्पन्न हुए नागवेल के पत्ते कण्ठ में भ्रम-घरघराट उत्पन्न कराने वाले होते हैं और मध्य भाग में उत्पन्न हुए पत्ते कण्ठ को सुस्वर बना देते हैं, ठीक इसी प्रकार ब्रह्मा से सब जीव उत्पन्न होते हुए भी जो मुख से उत्पन्न हुए हैं उन्हीं मे ब्राह्मण्य जाति प्रगट होती है अन्य में नही अतः प्रजा भेद सिद्ध ही होता है ?

जैन—यह कथन असत् है, नागवेल के पत्ते जघन्य उत्कृष्ट आदि प्रदेशों से उत्पन्न होते हैं अतः उनमें पृथक् पृथक् कण्ठ भ्रम आदि भेद पाया जाना शक्य है, किन्तु ब्रह्माजी में तो वह प्रदेश भेद नहीं है अतः देश भेद से मनुष्यों में ब्राह्मणत्वादि का भेद होना संभव नही है, यदि देश भेद मानोगे तो ब्रह्मा के जघन्यपना, उत्कृष्टपना आदि भी मानना होगा ।

किञ्च, ब्राह्मण एव तन्मुखाज्जायते, तन्मुखादेवासौ जायेत ? विकल्पद्वयेप्यन्योन्याश्रयः– सिद्धे हि ब्राह्मणत्वे तस्यैव तन्मुखादेव जन्मसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च ब्राह्मणत्वसिद्धिरिति । अथ जात्या ब्राह्मण्यस्य सिद्धिस्तन्मुखादेव तज्जन्मनश्चायमदोषः; न; अस्याः प्रत्यक्षतोऽप्रतीतेः । न खलु खण्ड-मुण्डादिषु सादृश्यलक्षणगोत्ववद् वदत्तादौ ब्राह्मण्यजातिः प्रत्यक्षतः प्रतीयते, अन्यथा 'किमयं ब्राह्मणोऽन्यो वा' इति संशयो न स्यात् । तथा च तन्निरासाय गोत्राद्युपदेशो व्यर्थः । न हि "गौरयं मनुष्यो वा' इति निश्चयो गोत्राद्युपदेशमपेक्षते ।

किंच, स्वयं ब्रह्माजी के ब्राह्मणपना है या नहीं ? यदि नही है तो उससे ब्राह्मण जाति की उत्पत्ति कैसे होवेगी ? अमनुष्यों से मनुष्यों की उत्पत्ति होना तो घटित होता नहीं । ब्रह्मा में ब्राह्मण्य का अस्तित्व है तो वह भी ब्रह्मा के सर्वांग में है अथवा केवल मुख प्रदेश में है ? सर्वत्र है कहो तो वही पूर्वोक्त दोष आता है कि प्रजाओं में भेद सिद्ध नही होता है कि यह मनुष्य ब्राह्मण है और यह शूद्र है इत्यादि । इस दोष को हटाने के लिये दूसरा पक्ष स्वीकार करे कि ब्रह्मा के मुख भाग में ही ब्राह्मणपना है तव तो मुख को छोड़कर ब्रह्मा के अन्य अवयव शूद्र रूप हो जायेंगे । फिर ब्रह्माजी के चरण आदि नमस्कार करने योग्य नही रहेंगे, जैसे वृषल–व्यभिचारी के चरण नमस्कार करने योग्य नही होते हैं । अतः ब्राह्मणों की उत्पत्ति स्थान स्वरूप ब्रह्मा का मुख ही वंदनीय माना जायगा अन्य अवयव नही ।

तथा आप ब्राह्मण वर्ण ही ब्रह्म मुख से उत्पन्न होना मानते हैं अथवा ब्रह्मा के मुख से ही ब्राह्मण उत्पन्न होते हैं ऐसा मानते हैं, एवकार किधर लगाना इष्ट है ? दोनों पक्षों में अन्योन्याश्रय दोष आता है, ब्राह्मणत्व के सिद्ध होने पर तो ब्रह्मा के मुख से ही ब्राह्मण की उत्पत्ति होती है अथवा ब्राह्मण ही ब्रह्म मुख से उत्पन्न होते हैं, ऐसा सिद्ध होगा और इसके सिद्ध होने पर उससे ब्राह्मणत्व सिद्ध हो पायेगा, इस तरह दोनों भी असिद्ध रह जाते हैं ।

मीमांसक– जाति से ब्राह्मणत्व की सिद्धि हुआ करती है, और ब्राह्मण्य का जन्म तो ब्रह्म मुख से हुआ ही है अतः अन्योन्याश्रय दोष नही होगा ?

जैन—यह बात गलत है यह जाति ही तो प्रत्यक्ष से प्रतीति में नहीं आती है । खण्ड गो मुण्ड गो आदि गो व्यक्तियों में जिस प्रकार सादृश्य परिणामरूप गोत्व प्रतीत होता है वैसे देवदत्त, यज्ञदत्त आदि व्यक्तियों में ब्राह्मण्य जाति प्रत्यक्ष से प्रतीत

नमु यथा सुबर्णादिक परोपदेशसहायात्प्रत्यक्षात्प्रतीयते तथा सापि; इत्यप्ययुक्तम्; यतो न पीततामात्रं सुवर्णमतिप्रसगात्, किन्तु तद्विशेष:, स च नाध्यक्षो दाहच्छेदादिवैयर्थ्यप्रसंगात् । तस्यापि सहायस्व तज्जातो किञ्चित्तथाविधं सहाय वाच्यम्-तच्चाकारविशेषो वा स्यात्, अध्ययनादिकं वा ? न तावदाकारविशेष:; तस्याब्राह्मणेपि सम्भवात् । अत एवाध्ययनं क्रियाविशेषो वा तत्सहायतां न प्रतिपद्यते । दृश्यते हि शूद्रोपि स्वजातिविलोपाद्देशान्तरे ब्राह्मणो भूत्वा वेदाध्ययनं तत्प्रणीतां च

नही होती है, यदि मनुष्य का ब्राह्मणत्व प्रत्यक्ष से प्रतीत होता तो "यह मनुष्य ब्राह्मण है अथवा अन्य वर्णीय है" इत्यादि सशय होता ही नहीं । और यदि प्रत्यक्ष से ब्राह्मण जाति का निश्चय हो चुकता है तो उस मनुष्य के ब्राह्मणपने का संशय दूर करने के लिये नाम गोत्र आदि का पूछना व्यर्थ ठहरता है, अथवा पुत्रादि मे ब्राह्मण्य का निर्णय होने के लिये वृद्धोपदेश की अपेक्षा क्यों कर होती ? जो प्रत्यक्ष गम्य वस्तु होती है उसमें उपदेशादि की अपेक्षा नहीं हुआ करती, क्या प्रत्यक्ष दिखायी देने वाले गो आदि में "गो है कि मनुष्य है" ऐसी शंका हो सकती है ? अथवा उसके नाम आदि को पूछना पडता है ? अर्थात् नही ।

मीमांसक—जिस प्रकार परोपदेश की सहायता युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण से सुवर्णादि को प्रतीति होती है, उसी प्रकार बाह्मण्य जाति परोपदेश की सहायता वाले प्रत्यक्ष से प्रतीत होती है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, क्योंकि प्रत्यक्ष से प्रतीत हुई जो पीतता (पीलापन) है उतना मात्र सुवर्ण नही हुआ करता, यदि केवल पीत को सुवर्ण माना जाय तो पीतल आदि को भी सुवर्ण मानने का प्रसंग आता है, अत: पीत मात्र को सुवर्ण नहीं कहते किन्तु उसमें जो वैशिष्टय है उसे सुवर्ण कहते हैं, यह जो वैशिष्टय है वह प्रत्यक्ष नहीं है, यदि होता तो सुनार आदि पुरुष उस सुवर्ण की दाह-जलाना, काटना आदि प्रयोग द्वारा परीक्षा करते है वह परीक्षा व्यर्थ ठहरती, यदि कहा जाय कि जलाना, काटना इत्यादि प्रयोग भी सुवर्ण की प्रत्यक्षता में सहायक हैं, तो ऐसे ही बाह्मणत्व जाति में कोई सहायक कारण बताना चाहिए । वह सहायक आकार विशेष है अथवा अध्ययनादि विशेष है ? आकार विशेष ब्राह्मण जाति का द्योतक होना असंभव है क्योंकि ब्राह्मण जैसा आकार विशेष तो अब्राह्मण मनुष्य में भी पाया जाता है । इसी प्रकार अध्ययन विशेष या क्रिया विशेष भी ब्राह्मणपने का ज्ञान होने में सहायक नहीं

क्रियां कुर्वाणः। ततो ब्राह्मण्यजातेः प्रत्यक्षतोऽप्रतिभासनात्कथं व्रतबन्धवेदाध्ययनादि विशिष्टव्यक्तावेव सिद्धयेत् ?

यदप्युक्तम्–'ब्राह्मणपदम्' इत्याद्यनुमानम्; तत्र व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयसम्बद्धत्वं तत्पदस्याध्यक्षबाधितम्, कठकलापादिव्यक्तीनां ब्राह्मण्यविविक्तानां प्रत्यक्षतो निश्चयात्, अश्रावणत्व-विविक्तशब्दवत्। अप्रसिद्धविशेषणश्च पक्षः; न खलु व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेयाभिसम्बद्धत्वं मीमांसकस्यास्माकं वा क्वचित्प्रसिद्धम्, व्यक्तिभ्यो व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्याभ्युपगमात्।

होता। देखा जाता है कि कोई शूद्र मनुष्य अपनी जाति को छिपाकर स्वयं देशान्तर में ब्राह्मण भेषी बनता है और वेदों का पठन पाठन करता है एवं वेद कथित क्रियानुष्ठान को करता है। अतः यह निश्चय होता है कि ब्राह्मण्य जाति प्रत्यक्ष से प्रतीत नही है। जब ब्राह्मण्य प्रत्यक्षगम्य नहीं है तो व्रत बन्ध–यज्ञोपवीत, चोटी, वेदों का अध्ययन कराना आदि विशिष्ट व्यक्ति में ही होता है इत्यादि मीमांसकादि परवादी का कथन कैसे सिद्ध होगा ? अर्थात् नहीं होगा।

आपने "ब्राह्मण पद व्यक्ति से भिन्न निमित्त का वाच्य है" इत्यादि अनुमान उपस्थित किया था वह ठीक नही है आगे इसी का विवेचन करते हैं—'ब्राह्मणः' यह पद ब्राह्मण पुरुष के अतिरिक्त निमित्त रूप जो वाच्य है उससे सम्बद्ध है, क्योंकि वह पदरूप है। इस प्रकार ब्राह्मण पद को व्यक्ति से पृथक् किसी निमित्त से सम्बद्ध मानना प्रत्यक्ष बाधित है। क्योंकि ब्राह्मण्य से रहित कठ, कलाप आदि व्यक्तियों का प्रत्यक्ष से निश्चय होता है। जैसे कि अश्रावणत्व से रहित शब्द प्रत्यक्ष से निश्चित हो जाने से शब्द को अश्रावण रूप सिद्ध करने के लिये पक्ष बनाना प्रत्यक्ष बाधित होता है, अर्थात् शब्द अश्रावण (सुनने योग्य नहीं) होता है ऐसा कहना प्रत्यक्ष बाधित है, ऐसे ही ब्राह्मण पद ब्राह्मण व्यक्ति से पृथक्भूत किसी निमित्त से सम्बद्ध है ऐसा कहना प्रत्यक्ष बाधित है।

"ब्राह्मण यह पद है" ऐसा पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण वाला भी है, कैसे सो ही बताते हैं—ब्राह्मण पद ब्राह्मण व्यक्तियों से पृथक् एक ब्राह्मण्य निमित्त रूप वाच्य से सम्बद्ध है ऐसा न मीमांसक के यहां प्रसिद्ध है और हम जैन के यहां प्रसिद्ध है, व्यक्तियों से भिन्नाभिन्न रूप सामान्य को ही मीमांसकादि ने स्वीकार किया है, सामान्य

हेतुश्चानैकान्तिकः; सत्ताकाशकालपदे अद्वैतादिपदे वा व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्ताभिधेय-सम्बद्धत्वाभावेपि पदत्वस्य भावात्। तत्रापि तत्सम्बद्धत्वकल्पनायाम् सामान्यवत्त्वेनाद्वैताश्वविषाणादेर्वस्तुभूतत्वानुषङ्गात् कुतोऽप्रतिपक्षा पक्षसिद्धिः स्यात् ? सत्तायाश्च सामान्यवत्त्वप्रसंगः, गगनादीनां चैकव्यक्तिकत्वात्कथं सामान्यसम्भवः ? दृष्टान्तश्च साध्यविकलः; पटादिपदे व्यक्तिव्यतिरिक्तैक-निमित्तत्वासिद्धेः।

व्यक्तियों से भिन्न तो इसलिये है कि वह भिन्न ज्ञान का कारण है, और अभिन्न इसलिये है कि व्यक्तियों से उसको पृथक् नही कर सकते है। इस प्रकार "ब्राह्मण यह पद है" ऐसा पक्ष प्रत्यक्ष बाधित आदि दोष युक्त ठहरता है।

उपर्युक्त अनुमान का पदत्व नामा हेतु भी अनैकान्तिक है, सत्ता, आकाश काल इत्यादि पद में अथवा अद्वैत इत्यादि पद मे, व्यक्ति से पृथक्भूत एक निमित्त रूप वाच्य से सम्बद्धपना नहीं है तो भी पदत्व नामा हेतु रहता है, सत्ता, अद्वैत आदि पदों में भी व्यक्ति व्यतिरिक्त एक निमित्त इत्यादि साध्य रहता है अर्थात् इनमे भी सामान्य है ऐसा कहा जाय तो अद्वैत आदि भी सामान्यवान होने से इन अद्वैत, अश्व के सींग आदि को भी वास्तविक मानना होगा। इस तरह ब्राह्मण पद को जो पक्ष बनाया था वह निर्दोष रूप किस प्रकार सिद्ध होगा ? अर्थात् पद को व्यक्ति से पृथक् जो सामान्य है उसका वाच्य माने तो अश्वविषाण आदि मे सामान्य मानना होगा और इस तरह वह वस्तुभूत बन जायगा। तथा सत्ता में सामान्य स्वीकार करने का प्रसंग भी आता है। आकाश भी आपके मत से एक व्यक्ति स्वरूप है अतः उसमें सामान्य का रहना कैसे संभव होगा ? क्योंकि सामान्य अनेक में रहता है ऐसा आपका सिद्धान्त है। पटादिपदवत् दृष्टान्त साध्य से रहित भी है, क्योंकि पटः, घट. इत्यादि पदों में पट आदि व्यक्तियो को छोड़कर अन्य कोई नित्य एक रूप कारण अभिधेय सिद्ध नहीं है।

भावार्थ—नैयायिक, मीमांसकादि ब्राह्मण जाति को नित्य एक सिद्ध करते हैं उनका अनुमान वाक्य यह है कि 'ब्राह्मणपदं व्यक्ति व्यतिरिक्तैक निमित्ताभिधेय सम्बद्धं पदत्वात् पटादिपदवत्" सो इस अनुमान को सदोष सिद्ध करते हुए प्रथम तो पक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण बाधित एवं अप्रसिद्ध विशेषण वाला सिद्ध किया, फिर हेतु को अनैकांतिक दोष से दूषित किया है, 'विपक्षेप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः" जो हेतु विपक्ष मे भी अविरुद्ध भाव से रहता हो वह अनैकान्तिक कहलाता है, सो यहां पर पदत्व नामा हेतु

एतेन वर्णविशेषेत्याद्यनुमानं प्रत्युक्तम् । नगरादौ च व्यक्तिव्यतिरिक्तैकनिमित्तनिबन्धनाभावेपि तथाभूतज्ञानस्योपलम्भादनेकान्त: । न खलु नगरादिज्ञाने व्यतिरिक्तमनुवृत्तप्रत्ययनिबन्धनं किञ्चिदस्ति, काष्ठादीनामेव प्रत्यासत्तिविशिष्टत्वेन प्रासादादिव्यवहारनिबन्धनानां नगरादिव्यवहारनिबन्धनत्वोपपत्ते:, अन्यथा 'षण्णगरी' इत्यादिष्वपि वस्त्वन्तरकल्पनानुषङ्ग: ।

सत्ता, आकाश:, अद्वैतं इत्यादि पदों में जाता है जो कि साध्य से विपक्षी है अर्थात् जो पद है उसमें पदत्व नामा नित्य एक सामान्य रहता ही है ऐसा परवादी को सिद्ध करना है किन्तु सत्ता आदि शब्द पद रूप तो हैं किन्तु उनमें पदत्व संभव नहीं है, क्योंकि सत्ता नामा पदार्थ सामान्य से रहित होता है ऐसा मीमांसकादि स्वीकार करते हैं, आकाश नामा पदार्थ एक अखंड होने से उसमें व्यक्ति भेद नहीं है अत: अनेक व्यक्तिगत एक सामान्य उसमें भी संभव नही है, एवं अद्वैत आदि पद तो काल्पनिक ही है अत: उनमे सामान्य रहना शक्य नहीं है । इस प्रकार जिस अनुमान का हेतु ही सदोष है तो वह साध्य को कैसे सिद्ध कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता है ।

ब्राह्मण पद वाला अनुमान जैसे बाधित होता है वैसे ही द्वितीय अनुमान—"वर्ण विशेषाध्ययनाचार यज्ञोपवीतादि व्यतिरिक्त निमित्त - निवन्धनं 'ब्राह्मण:' इति ज्ञानं, तन्निमित्त बुद्धि विलक्षणत्वात्" वाक्य भी बाधित होता है, अब इसीका खुलासा करते हैं—"ब्राह्मण है" इस प्रकार का ज्ञान होता है वह यज्ञोपवीत आदि से न होकर व्यक्ति से पृथक् कोई एक ब्राह्मण्य जाति से ही होता है अर्थात् ब्राह्मणों में ब्राह्मण्य का ज्ञान ब्राह्मण पुरुष से न होकर अन्य निमित्त से (ब्राह्मण्य नित्य जाति से) होता है, ऐसा आपका कहना है, किन्तु "नगरम्" इत्यादि पद में व्यक्ति से अन्य कोई निमित्त भूत सामान्य नहीं होते हुए भी उस प्रकार का ज्ञान उपलब्ध होता है अतः तन्निमित्त-बुद्धि विलक्षणत्व हेतु व्यभिचारी है । यह नगर है, इत्यादि रूप जो ज्ञान होता है उस ज्ञान में व्यक्ति से भिन्न कोई कारण अनुवृत्तप्रत्यय का हो और वह नगरम्, नगरम् इत्यादि ज्ञान का निमित्त हो ऐसा देखा नहीं जाता है, वहा तो काष्ठ, पत्थर, चूना आदि पदार्थों की प्रत्यासत्ति विशेष से बने हुए प्रासाद, मंदिर आदि ही "नगर है" इत्यादि व्यवहार का हेतु देखा जाता है, यदि ऐसी व्यवस्था न माने तो "षण्णगरी" इत्यादि पदों में भी अन्य अन्य कोई वस्तुभूत निमित्त की कल्पना करनी पड़ेगी ।

'ब्राह्मणेन यष्टव्यम्' इत्याद्यागमोपि नात्र प्रमाणम्; प्रत्यक्षबाधितार्थाभिधायित्वात् तृणाग्रे हस्तियूथशतमास्ते इत्यागमवत्।

ननु ब्राह्मण्यादिजातिविलोपे कथं वर्णाश्रमव्यवस्था तन्निबन्धनो वा तपोदानादिव्यवहारो जैनानां घटेत ? इत्यप्यसमीचीनम्; क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिन्होपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थायास्तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः। कथमन्यथा परशुरामेण निःक्षत्रीकृत्य ब्राह्मणदत्तायां पृथिव्यां क्षत्रियसम्भवः ? यथा चानेन निःक्षत्रीकृतासौ तथा केनचिन्निर्ब्राह्मणीकृतापि सम्भाव्येत। ततः क्रियाविशेषादिनिबन्धन एवायं ब्राह्मणादिव्यवहारः।

एतेनाविगानतस्त्रैवर्णिकोपदेशोत्र वस्तुनि प्रमाणमिति प्रत्युक्तम्; तस्याप्यव्यभिचारित्वाभावात्। दृश्यन्ते हि बहवस्त्रैवर्णिकैरविगानेन ब्राह्मणत्वेन व्यवह्रियमाणा विपर्ययभाजः। तन्न

नित्य ब्राह्मण्य जाति की सिद्धि करने के लिये "ब्राह्मणेन यष्टव्यम्" इत्यादि आगम वाक्य को उपस्थित किया था किन्तु वह यहां प्रमाणभूत नहीं कहलायेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष बाधित अर्थ को कहने वाला है, जैसे तृण के अग्रभाग पर "सौ हाथी समूह बैठा है" इत्यादि आगमवाक्य प्रत्यक्ष बाधित होने से प्रामाणिक नहीं कहलाते हैं।

मीमांसक—इस प्रकार कुतर्क करके ब्राह्मण्य आदि जाति का लोप करने पर वर्ण एवं आश्रमों की व्यवस्था कैसे बन सकेगी ? तथा वर्णाश्रम के द्वारा होने वाला, तपश्चर्या, दान, पूजा, जप आदि व्यवहार भी कैसे घटित होगा ? यह सब व्यवस्था जैन के यहां भी देखी जाती है ?

जैन—ऐसी आशका नहीं करना चाहिये, वर्णाश्रम की व्यवस्था क्रिया विशेष से, यज्ञोपवीत आदि चिह्नों से उपलक्षित जो व्यक्ति हैं उनमें हो जाया करती है और तदनुसार तपोदानादि व्यवहार भी बन जाता है, ऐसी बात नही होती तो परशुराम द्वारा पृथिवी को क्षत्रिय रहित किया गया था और पृथिवी को (राज्य को) ब्राह्मण के लिये दिया था फिर भी क्षत्रियों की उत्पत्ति पुनः कैसे हुई ? जिस प्रकार परशुराम ने पृथिवी मंडल को क्षत्रिय रहित कर दिया था, वैसे कोई पुरुष ब्राह्मण रहित करने वाला होना भी संभव है, अतः निश्चय होता है कि क्रिया विशेष आदि के द्वारा ही ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का व्यवहार होता है।

इस प्रकार नित्य ब्राह्मणत्व जाति का प्रतिपादक आगम खण्डित होता है, इसके खण्डन से ही "अविवाद रूप से जहां पर त्रिवर्ण का उपदेश उपलब्ध हो वहां

परपरिकल्पितायां जातौ प्रमाणमस्ति यतोऽस्याः सद्भावः स्यात् ।

सद्भावे वा वेश्यापाटकादिप्रविष्टानां ब्राह्मणीनां ब्राह्मण्याभावो निन्दा च न स्यात् जातेर्यतः पवित्रताहेतुः, सा च भवन्मते तदवस्थैव, अन्यथा गोत्वादपि ब्राह्मण्यं निकृष्टं स्यात् । गवादीनां हि चाण्डालादिगृहे चिरोषितानामपीष्टं शिष्टैरादानम्, न तु ब्राह्मण्यादीनाम् । अथ क्रियाभ्रंशात्तत्र ब्राह्मण्यादीनां निन्द्यता; न; तज्जात्युपलम्भे तद्विशिष्टवस्तुव्यवसाये च पूर्ववत्क्रियाभ्रंशस्याप्यऽसम्भवात् । ब्राह्मणत्वजातिविशिष्टव्यक्तिव्यवसायो ह्यप्रवृत्ताया अपि क्रियायाः प्रवृत्तेर्निमित्तम्, स च

पर ब्राह्मण्य है, अतः त्रिवर्ण का उपदेश ही ब्राह्मण्य जाति को सिद्ध करने में प्रमाण है" ऐसा कहना भी निराकृत हो जाता है, क्योंकि त्रिवर्ण का उपदेश भी व्यभिचरित होता हुआ देखा जाता है, बहुत से व्यक्ति अविवाद रूप से ब्राह्मण्यपने से कहे जाते हैं, किन्तु उनमें विपर्यय रहता है, अर्थात् शूद्र होकर भी किसी कारण वश वे पुरुष ब्राह्मण नाम से प्रसिद्धि में आ जाया करते हैं । अतः मीमांसक द्वारा मान्य नित्य ब्राह्मण्य जाति को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है यह निश्चित हुआ, जब प्रमाण नहीं है तब उसका सद्भाव सिद्ध होना अशक्य है ।

यदि नित्य एक ब्राह्मण्य जाति परमार्थ भूत सिद्ध होती तो वेश्या के स्थान या गली में प्रविष्ट हुई ब्राह्मणी के ब्राह्मणपने का अभाव नहीं होता और निंदा की पात्र भी वह ब्राह्मण स्त्री नहीं बनती ? क्योंकि पवित्रता का कारण तो आपने जाति को ही स्वीकार किया है और जाति आपके मत से चाहे कहीं भी चले जावो जैसी की तैसी बनी रहती है ? [क्योंकि वह नित्य है] यदि ऐसा न माना जाय तो यह आपका अभीष्ट ब्राह्मण्य गो आदि पशुओं से भी निकृष्ट कहलायेगा । क्योंकि गो आदि पशु बहुत काल तक चांडाल वेश्या आदि के स्थान घर आदि में रह जाते हैं और फिर भी उनको शिष्ट पुरुष ग्रहण कर लेते हैं किन्तु ब्राह्मणी आदि को तो ग्रहण करते नहीं ।

शंका—वेश्या आदि के स्थान पर जाकर ब्राह्मण योग्य क्रिया खतम हो जाती है अतः ब्राह्मणी निंदा की पात्र बनती है ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना, जब वेश्या के स्थान पर पहुंचने पर भी ब्राह्मण्य जाति नित्य होने के नाते उपलब्ध होती है एवं "यह ब्राह्मणी है" इस प्रकार का विशिष्ट निश्चय हो जाता है तब पहले के समान वहां पर भी क्रिया का नाश होना असंभव है, क्रिया की प्रवृत्ति नहीं भी हो किन्तु ब्राह्मण्य जाति से विशिष्ट जो

तदवस्थ एव भवदभ्युपगमेन । क्रियाभ्रंशे तज्जातिनिवृत्तौ च व्रात्येप्यस्या निवृत्तिः स्यात्तद्भ्रंशा-विशेषात् ।

किञ्च, क्रियानिवृत्तौ तज्जातेर्निवृत्तिः स्याद यदि क्रिया तस्याः कारणं व्यापिका वा स्यात्, नान्यथातिप्रसङ्गात् । न चास्याः कारणं व्यापक वा किञ्चिदिष्टम् । न च क्रियाभ्रंशे जाते-र्विकारोस्ति; "भिन्नेष्वभिन्ना नित्या निरवयवा च जातिः ।" [ ] इत्यभिधानात् । न चावि-कृताया निवृत्तिः सम्भवत्यतिप्रसङ्गात् ।

व्यक्ति है उसका व्यवसाय प्रवृत्ति का निमित्त है और वह तो आपके सिद्धांतानुसार मौजूद ही है । दूसरी बात यह है कि ब्राह्मणत्व क्रिया नष्ट होने पर ब्राह्मणत्व जाति निवृत्त हो जाती है ऐसा स्वीकार करते हैं अर्थात् वेश्या आदि के स्थान पर ब्राह्मणी आदि के पहुंचने से उसकी क्रिया वहां नही रहती अतः ब्राह्मण्य जाति निवृत्त होती है ऐसा मानेंगे तो व्रात्य पुरुष में भी ब्राह्मणत्व जाति का निवृत्त होना मानना होगा, क्योकि क्रियाभ्रंश तो उभयत्र समान है । भावार्थ यह है कि कोई ब्राह्मणी कभी वेश्या आदि के हीन स्थान पर पहुंचती है तो उसमें ब्राह्मणत्व नहीं रहता ऐसा आपके यहां भी माना है. सो वैसे क्यों होता है ? यदि ब्राह्मण योग्य क्रिया नष्ट होने से ब्राह्मणत्व नहीं रहता तब तो व्रात्य पुरुष में भी ब्राह्मण्य जाति की निवृत्ति माननी पड़ती है, अतः क्रिया नष्ट होने से ब्राह्मणत्व नही रहता यह कहना गलत होता है ।

यह भी बात है कि क्रिया निवृत्त होने पर जाति निवृत्त होती है ऐसा माना जाता है तो क्या क्रिया उस ब्राह्मण्य जाति का कारण है ? जैसे कि धूम का कारण अग्नि है, अथवा क्रिया ब्राह्मण्य का व्यापक हेतु है जैसे कि शिंशपा का व्यापक हेतु वृक्ष है ? इस तरह क्रिया को उस जाति का कारण रूप हेतु या व्यापक हेतु मानना होगा अन्यथा क्रिया के निवृत्त होने पर जाति की निवृत्ति हो ही नही सकती, यदि मानेंगे तो घट निवृत्त होने पर पट निवृत्त होता है ऐसा अतिप्रसंग भी स्वीकार करना होगा । किन्तु आपके यहां पर ब्राह्मण्य जाति का व्यापक रूप हेतु या कारण रूप हेतु माना नही है । क्योंकि ब्राह्मण जाति नित्य है, क्रिया भ्रंश हो जावे किन्तु नित्य जाति में विकार नही आ सकता । आपके यहां "भिन्नेष्वभिन्ना नित्या निरवयवा च जातिः" ऐसा कहा गया है अर्थात् भिन्न भिन्न ब्राह्मण व्यक्तियों में अभिन्नपने से रहने वाली नित्य एक अवयव रहित ब्राह्मण्य जाति है ऐसा माना है, जब वह अविकृत है तब उसकी निवृत्ति संभव ही नही, यदि मानो तो अतिप्रसंग होगा ।

किञ्चेदं ब्राह्मणत्वं जीवस्य, शरीरस्य, उभयस्य वा स्यात्, संस्कारस्य वा, वेदाध्ययनस्य वा गत्यन्तरासम्भवात् ? न तावज्जीवस्य; क्षत्रियविट्शूद्रादीनामपि ब्राह्मण्यस्य प्रसङ्गात्, तेषामपि जीवस्य विद्यमानत्वात् ।

नापि शरीरस्य; अस्य पञ्चभूतात्मकस्यापि घटादिवद् ब्राह्मण्यासम्भवात् । न खलु भूतानां व्यस्तानां समस्तानां वा तत्सम्भवति । व्यस्तानां तत्सम्भवे क्षितिजलपवनहुताशनाकाशानामपि प्रत्येकं ब्राह्मण्यप्रसङ्गः । समस्तानां च तेषां तत्सम्भवे घटादीनामपि तत्सम्भवः स्यात्, तत्र तेषां सामस्त्यसम्भवात् । नाप्युभयस्य; उभयदोषानुसंगात् ।

नापि संस्कारस्य; अस्य शूद्रबालके कर्तुं शक्तितस्तत्रापि तत्प्रसंगात् ।

नित्य ब्राह्मण्य जाति के विषय में अनेक प्रश्न हुआ करते हैं कि वह ब्राह्मणत्व किसके होता है ? जीव के होता है, अथवा शरीर के, या दोनों के, अथवा संस्कार या वेदाध्ययन के ? इतनी चीजों में ब्राह्मण्य होता होगा अन्य किसी में तो संभव नहीं है। प्रथम विकल्प का विचार करें कि जीव के ब्राह्मण्य होता है तो ठीक नहीं बैठता, क्योंकि जीवत्व ब्राह्मणवत क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र में भी रहता है । फिर उन सबमें भी ब्राह्मण्य मानना होगा ? क्योंकि जीव तो उनमें भी विद्यमान है ।

शरीर के ब्राह्मणत्व होता है ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि शरीर तो पंच भूतों से निर्मित है उसमें घट पट आदि के समान ब्राह्मण्य होना असंभव है । इसी को बताते हैं—व्यस्त भूत–एक एक पृथिवी आदिक अथवा समस्त भूत पृथिवी, अग्नि, जल, वायु एवं आकाश इनके ब्राह्मण जातिपना संभव नही है, यदि व्यस्त भूतों के ब्राह्मण्य है, तो एक एक पृथिवी आदि में भी ब्राह्मण्य उपलब्ध होने का प्रसंग आता है, तथा पांचों जहां संयुक्त हैं वहां ब्राह्मण्य रहता है ऐसा कहो तो घट आदि में भी ब्राह्मण्य मानना होगा ? क्योंकि उसमें समस्त भूत होते हैं । उभय-जीव और शरीर दोनों के ब्राह्मण्य जाति होती है ऐसा माने तो उभय पक्ष के बताये हुए दोष एकत्रित होवेंगे ।

यज्ञोपवीत आदि संस्कार के ब्राह्मणत्व माना है ऐसा पक्ष भी गलत होगा, क्योंकि वह संस्कार तो शूद्र बालक में भी शक्य है फिर उसमें ब्राह्मण्य मानना पड़ेगा ।

किञ्च, संस्कारात्प्राग्ब्राह्मणबालस्य तदस्ति वा, न वा ? यद्यस्ति; संस्कारकरणं वृथा। अथ नास्ति; तथापि तद्वृथा। अब्राह्मणस्याप्यतो ब्राह्मण्यसम्भवे शूद्रबालकस्यापि तत्सम्भवः केन वार्येत ?

नापि वेदाध्ययनस्य; शूद्रेपि तत्सम्भवात्। शूद्रोपि हि कश्चिद्देशान्तरं गत्वा वेदं पठति पाठयति वा। न तावतास्य ब्राह्मणत्वं भवद्भिरभ्युपगम्यत इति। ततः सदृशक्रियापरिणामादिनिबन्धनैवेयं ब्राह्मणक्षत्रियादिव्यवस्था इति सिद्ध सर्वत्र सदृशपरिणामलक्षणं समानप्रत्ययहेतुस्तिर्यक्सामान्यमिति।

।। इति ब्राह्मणत्वजातिनिरासः समाप्तः ।।

मीमांसक को हम जैन पूछते हैं कि यज्ञोपवीतादि संस्कार होने के पहले ब्राह्मण बालक में ब्राह्मणत्व रहता है कि नहीं ? यदि रहता है तो संस्कार करना व्यर्थ है, और पहले ब्राह्मण्य नहीं है ऐसा कहो तो भी संस्कार करना व्यर्थ है, क्योंकि यदि पहले ब्राह्मण्य नही था और संस्कार से ब्राह्मण्य आया तब तो शूद्र बालक में संस्कार से ब्राह्मणत्व होना शक्य होगा। उसको कौन रोक सकता है ?

वेदों का अध्ययन ब्राह्मण का कारण है ऐसा पक्ष स्वीकार करे तो भी ठीक नहीं है, वेदाध्ययन शूद्र में भी संभव है। कोई शूद्र पुरुष है वह अन्य देश में जाकर वेद के पठन पाठन का कार्य करता हुआ देखा जाता ही है, किन्तु उतने मात्र से आप उसमें ब्राह्मणत्व तो नहीं मान सकते हैं। इस प्रकार नित्य ब्राह्मण्य जाति से ब्राह्मणपना होता है ऐसा कहना सिद्ध नहीं होता, इसलिये ऐसा मानना चाहिये कि सदृश परिणाम (यह ब्राह्मण है, यह ब्राह्मण है इत्यादि) सदृश क्रिया इत्यादि सदृश सामान्य के निमित्त से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदिक वर्ण व्यवस्था होती है। इस तरह सर्वत्र ही सदृश परिणाम लक्षण वाला तिर्यक्सामान्य ही समान प्रत्यय या अनुवृत्तप्रत्यय का कारण है यह सिद्ध होता है।

।। ब्राह्मणत्वजातिनिरास समाप्त ।।

ब्राह्मणत्वजाति के निरसन का सारांश

नैयायिक आदि ब्राह्मणत्व जाति को अखंड एक, नित्य, व्यापी आकाश की तरह मानते हैं उनका कहना है कि यह ब्राह्मणत्व जाति प्रत्यक्ष से ही यह ब्राह्मण है यह ब्राह्मण है इस तरह से प्रतीत होती है, इस ज्ञान को विपर्यय या संशय ज्ञान भी नहीं कह सकते क्योंकि बाधक प्रमाण का अभाव है। यह ब्राह्मणत्व जाति पिता आदि के ब्राह्मणत्व के उपदेश परम्परा से पुत्रादि व्यक्ति में प्रगट होती है। अनुमान के द्वारा भी इसकी सिद्धि होती है। ब्राह्मण यह एक पद है इस पद का वाच्य तो ब्राह्मण व्यक्ति से भिन्न कोई वस्तु होनी चाहिये क्योंकि पद रूप है जैसे कि पट आदि पद पटत्व के निमित्त से होते हैं। व्यक्ति से पृथक् कोई पद का वाच्य नहीं माना जायगा तो व्यक्तियां अनंत हैं उन सबके साथ पद का सम्बन्ध नहीं हो सकता और बिना सम्बन्ध के वाच्य वाचक भाव बन नहीं सकता है। आगम प्रमाण तो सैकड़ों हैं "ब्राह्मणेन यष्टव्यम्" "ब्राह्मणो भोजयितव्यः" इत्यादि वाक्य प्रचुरमात्रा में उपलब्ध हैं इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन प्रमाणों से ब्राह्मणत्व जाति अनादि अखंड सिद्ध होती है।

जैन ने उक्त मंतव्य का निरसन करते हुए कहा है कि एक व्यापक नित्य जाति अर्थात् सामान्य जगत में नहीं है। इस बात को हम अच्छी तरह अभी सामान्य-वाद में सिद्ध कर आये हैं इसी प्रकार ब्राह्मणत्व जाति भी एक व्यापक रूप सिद्ध नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष से ब्राह्मणत्व की प्रतीति नहीं होती है। पिता के उपदेश परम्परा से पुत्ररूप व्यक्ति में ब्राह्मणत्व प्रगट होने की प्रक्रिया भी असिद्ध है। यदि प्रत्यक्ष से ही यह ब्राह्मणत्व प्रतीत होता तो उसको वृद्ध पुरुष के उपदेशादि से सिद्ध करने की जरूरत ही न होती और न प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु में विवाद ही होता। ब्रह्मा के मुख से जो मनुष्य होवे वह ब्राह्मण है ऐसी बात भी युक्ति संगत नहीं है। क्या ब्रह्माजी के अन्य अवयव शूद्र हैं जिससे कि मुख को ही ब्राह्मणता में कारण माना जाय? यदि ऐसी बात है तो उनके चरण की कौन उपासना करेगा खुद ब्रह्मा में ब्राह्मणत्व किससे

आया यह भी एक जटिल प्रश्न रहेगा। यज्ञोपवीत धारणा, वेदाध्ययन करना, इत्यादि हेतु भी ब्राह्मणत्व को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है। क्योंकि यह सबके सब शूद्र में भी पाये जा सकते हैं। इन सब बातों से स्पष्ट है कि ब्राह्मणत्व जाति एक अखंड नित्य आकाश की तरह नहीं है अपितु सदृश परिणाम रूप सामान्य है वह सामान्य यहां पर सदृश क्रिया, आचारादि से प्रत्येक ब्राह्मण व्यक्ति में भिन्न ही है।

विशेष:—प्रभाचन्द्राचार्य ने ब्राह्मणत्व जाति का जो निरसन किया है वह एक व्यापक नित्य आकाश की तरह की जाति नैयायिकों ने मानी है उसी का किया है न कि वर्णादि व्यवस्था करने वाली इस शुद्ध ब्राह्मणत्वादि जातियों का। कोई भी मत का खण्डन इसलिये होता है कि उसमें एकान्त हटाग्रह रहता है अतः एक बार तो आचार्य सर्व शक्ति लगाकर उस एकांत का निरसन ही कर देते हैं। इस बात को पुष्ट करने के लिये अनेक दृष्टांत दे सकते हैं, देखिये बौद्ध के साकार ज्ञानवाद का आचार्य निरसन करते हैं किन्तु जैन ही ज्ञान को साकार, साकारोपयोग इन नाम से कहते हैं फिर बौद्ध के साकारवाद का खण्डन तो केवल तदुत्पत्ति, तदाकार, तदध्यवसाय रूप हटाग्रह एकांत के निरसन के लिये करते हैं। अर्थात् बौद्ध लोग ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है ऐसा मानते हैं वह पदार्थ से उत्पन्न होता है अतः उसके आकार वाला बनता है एवं उसी पदार्थ को जानता है इस प्रकार के पदार्थ से उत्पन्न होने वाले साकार ज्ञान का जैन ने खण्डन किया है न कि यह घट है यह पट है इत्यादि आकार वाले ज्ञान का। निष्कर्ष यही हुआ कि जहां पर एकांत है वहां पर वह बात किसी अपेक्षा से सत्य होते हुए भी दूषित ही हो जाती है तभी तो ऋजुसूत्र नय का विषय क्षणिक होते हुए भी निरपेक्ष क्षणिक मानने वाले बौद्ध का खण्डन हो जाता है, संग्रह नय से सभी सत् रूप होते हुए भी सर्वथा सत् मानने वाले ब्रह्माद्वैतादि अद्वैतवादी का खण्डन हो जाया करता है। इसी प्रकार यहां पर प्रभाचन्द्राचार्य ब्राह्मणत्व जाति का खण्डन करते हैं वह नित्य व्यापी जाति का ही करते हैं। यहां प्रकरण भी सामान्य का है। जैन सामान्य विशेष दोनों को ही वस्तु का निजी धर्म मानते हैं। वस्तु स्वतः सामान्य विशेषात्मक ही होती है किन्तु नैयायिक सामान्य को बिलकुल पृथक् एक पदार्थ मानता है और विशेष को भी बिलकुल वस्तु से पृथक् ही मान कर पुनः उन सभी का पदार्थ में समवाय होना बताता है बस इसी सामान्य का खण्डन करते समय उसीका एक भेद स्वरूप ब्राह्मणत्व सामान्य का निरसन कर दिया है न कि यह योनि विशेष से

सम्बन्ध रखने वाली व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्नरूप ब्राह्मणत्व जाति का। ऐसे ही सामान्य-वाद में गोत्व आदि जाति का खंडन किया है, मनुष्यत्व का भी खण्डन हो सकता है। इसका मतलब यह नहीं हुआ कि गायों में गोत्व और मनुष्य में मनुष्यत्व है ही नहीं, सिर्फ वह एक नित्य व्यापक नहीं है और समवाय सम्बन्ध ऊपर से मनुष्यादि में नहीं आता है। मनुष्य, गायें, बैलादि में स्वतः ही वह मनुष्यत्व, गोत्व आदि रहता है. उसी प्रकार मनुष्य विशेष में ब्राह्मणत्व है, वह ऊपर से एक अखंड व्यापक ब्राह्मणत्व जाति से नहीं आता है। बहुत से विद्वान् यह समझते हैं कि प्रभाचन्द्राचार्य वर्ण व्यवस्था को ही नहीं मानते, किन्तु वह भ्रम है, यह न्याय ग्रन्थ है यहां परवादी के एकांत मत का निरसन करना मुख्य अभिप्राय रहता है। महापुराण में भगवत् जिनसेनाचार्य ने "जातयोऽनादयः प्रोक्ताः शुक्लध्यानस्य हेतवः" ऐसा कहा है। वह ध्यान देने योग्य है। प्रभाचन्द्राचार्य ने ब्राह्मणत्व जाति का खण्डन किया इसका मतलब यह नहीं कि कोई माता पिता के रजोवीर्य की शुद्धि के बिना ही केवल क्रिया विशेष पालने से ही ब्राह्मण है। ब्राह्मणत्व जाति के खण्डन का कारण नैयायिक की नित्य व्यापी जाति का निरसन करना है।

इस ब्राह्मणत्व जाति खंडन का इतना ही अभिप्राय समझना चाहिये कि यहां प्रकरण प्राप्त नैयायिक मीमांसकादि के द्वारा मानी गयी व्यापक, नित्य, एक ब्राह्मणत्व जाति का ही निरसन किया गया है। न कि अनित्य, अनेक, अव्यापक ब्राह्मणत्व जाति का, जातियां माता पिता के रजोवीर्य से सम्बन्ध रखती हैं, माता पितादि के रक्तादि का तथा स्वभाव एवं शारीरिक बनावट आदि का संतान में असर आते हुए साक्षात् हो दिखाई देता है। बहुत से पैत्रिक रोग भी देखने में आते हैं अर्थात् माता पिता जिस संग्रहणी श्वास आदि रोग से ग्रस्त रहते हैं प्रायः संतान में भी वे रोग देखने में आते हैं। अतः जिनका आचरण क्रिया भ्रष्ट एवं कुशीली है परम्परा से जिनके यहां विधवा विवाह आदि हीनाचरण होते हैं उनकी सन्तान उच्च नहीं कहला सकती। वर्तमान की पर्याय में वह सन्तान हीन कुल की ही कहलायेगी, क्योंकि ऐसे ही हीनपिंड से उनके शरीर का निर्माण हुआ है। खानदान एक रहस्यमय वस्तु है वह दृष्टिगोचर नहीं है, वर्तमान में तो इस रजोवीर्य की विशेषता के लिये एक सुन्दर उदाहरण हो गया है, जैसे संकर धान्य तत्कालीन पैदायश की दृष्टि से तो सुहावना लगता है किन्तु आगे उन बीजों की परम्परा नहीं चलती, थोड़े बार ही उगाने के बाद उन संकर बीजों में

अंकुरोत्पादक शक्ति समाप्त हो जाती है उनसे फिर अंकुर पैदा ही नहीं होंगे । ऐसे ही माता पिता के रजोवीर्य शुद्ध नहीं होंगे अर्थात् उसमें जाति का मिश्रण–संकर है तो उससे होने वाली सन्तान आगे आगे अपने वंश परम्परा को चला नहीं सकती, थोड़े ही पीढ़ी के बाद वह खतम हो जायगी, स्वभाव से ही यह नियम है, इसमें तर्क तो कुतर्क कहलायेगा ।

जो ब्राह्मणत्व के अभिमान में चूर हो रहे हैं दूसरे को नीच दृष्टि से देखते हैं ब्राह्मण को ही सब कुछ समझते हैं, देव समझते हैं, जातिमद में चूर हैं, उन नैयायिक मीमांसक के ब्राह्मणत्व जाति का खंडन किया है । अंत के वाक्य ध्यान देने योग्य हैं "ततः सदृश क्रिया परिणामादि निबन्धनैवेयं ब्राह्मण क्षत्रियादि व्यवस्था..." सदृश क्रिया परिणाम आदि । यहां आदि शब्द माता पिता के परम्परागत रजोवीर्य शुद्धि द्योतक होना चाहिए । अर्थात् सदृश क्रिया–सदाचार की समानता, परिणाम क्रूरतादि रहित एवं माता पिता की शुद्धि के कारण ब्राह्मणत्व व्यवस्था है । ऐसे ही क्षत्रियादि में समझना चाहिये ।

॥ ब्राह्मणत्वजाति के निरसन का सारांश समाप्त ॥

३

क्षणभंगवाद:

किं पुनरूर्ध्वतासामान्यमित्याह—

परापरविवर्त्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ॥६॥

सामान्यमित्यभिसम्बन्धः। तदेवोदाहरणद्वारेण स्पष्टयतिमृदिव स्थासादिषु।

सामान्य का दूसरा भेद ऊर्ध्वता सामान्य है अब उसका लक्षण क्या है ऐसा प्रश्न होने पर सूत्र द्वारा उसका अबाधित लक्षण प्रस्तुत करते हैं —

परापर विवर्त्त व्यापि द्रव्य मूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ॥६॥

सूत्रार्थ—पूर्व और उत्तर पर्यायों में व्याप्त होकर रहने वाला द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य कहलाता है, जैसे स्थास, कोश, कूशल, घट आदि पर्यायों में मिट्टी नामा द्रव्य पाया जाता है वह अन्वयी द्रव्य ही ऊर्ध्वता सामान्य है।

भावार्थ—सामान्य के दो भेद हैं तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य। अनेक द्रव्यों में जो सदृशता पायी जाती है वह तिर्यक् सामान्य कहलाता है, जैसे अनेक गायों में गोपना सदृश है। एक ही द्रव्य को पूर्व एवं उत्तरवर्त्ती जो अवस्था हुआ करती हैं, उन पर्यायों में द्रव्य रहता हुआ चला आता है वह द्रव्य ही ऊर्ध्वता सामान्य

ननु पूर्वोत्तरविवर्त्तव्यतिरेकेणापरस्य तद्व्यापिनो द्रव्यस्याप्रतीतितोऽसत्त्वात्कथं तल्लक्षणमूर्द्ध्वतासामान्यं सत्; इत्यप्यसमीचीनम्; प्रत्यक्षत एवार्थानामन्वयिरूपप्रतीतेः प्रतिक्षणविशरारुतया स्वप्नेपि तत्र तेषां प्रतीत्यभावात्। यथैव पूर्वोत्तरविवर्त्तयोर्व्यावृत्तप्रत्ययादन्योन्यमभावः प्रतीतस्तथा मृदाद्यनुवृत्तप्रत्ययात्स्थितिरपि।

ननु कालत्रयानुयायित्वमेकस्य स्थितिः, तस्याश्चाऽक्रमेण प्रतीतौ युगपन्मरणावधि ग्रहणम्, क्रमेण प्रतीतौ न क्षणिका बुद्धिस्तथा तां प्रत्येतुं समर्था क्षणिकत्वात्; इत्यप्ययुक्तम्; बुद्धेः क्षणिक-

---

नाम से कहा जाता है, इस द्रव्य सामान्य को ही आगे की पर्याय का उपादान कारण कहते हैं, अर्थात् द्रव्य सामान्य को जैन उपादानकारण नाम से कहते हैं और इसी को नैयायिकादि परवादी समवायीकारण कहते हैं।

बौद्ध—पूर्वोत्तर पर्यायों में व्याप्त रहने वाला द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य है ऐसा जैन ने कहा, किन्तु पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय इन पर्यायों को छोड़कर अन्य कोई द्रव्य नामा पदार्थ उन पर्यायों में व्याप्त रहने वाला प्रतीत नही होता है अतः उसका सत्व नहीं है, फिर वह ऊर्ध्वता सामान्य का लक्षण किस प्रकार सत्य कहलायेगा ?

जैन—यह कथन असमीचीन है, जगत के यावत् मात्र पदार्थों में अन्वय रूप की प्रतीति प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो रही है, उन पदार्थों में प्रतिक्षण नष्ट होना तो स्वप्न में भी प्रतीत नहीं होता है। जिसप्रकार पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय इनमें व्यावृत्त प्रतिभास होने से पूर्व पर्याय से उत्तर पर्याय भिन्न रूप प्रतीत होती है—उन दोनों का परस्पर में अभाव मालूम पड़ता है, उसी प्रकार उन्हीं पयार्यों में मिट्टी आदि द्रव्य का अन्वयीपना प्रतीत होता ही है वह मिट्टी रूप स्थिति अनुवृत्त प्रत्यय का निमित्त है।

बौद्ध—द्रव्य रूप जो एक पदार्थ आपने माना है उसका तीनों कालों में अन्वयरूप से [यह मिट्टी है, यह मिट्टी है इत्यादि रूप से] रहना स्थिति कहलाती है, अब इस स्थिति का प्रतिभास यदि अक्रम से होता है तो एक साथ मरण काल तक [अथवा विवक्षित घटादि का शुरु से आखिर तक] उसका ग्रहण होना चाहिये और यदि क्रम से प्रतिभासित होती है तो क्षण मात्र रहने वाला ज्ञान उस काल त्रयवर्ती स्थिति को जानने के लिये समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि वह क्षणिक है।

त्वेपि प्रतिपत्तुरक्षणिकत्वात् । प्रत्यक्षादिसहायो ह्यात्मैवोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वं भावानां प्रतिपद्यते । यथैव हि घटकपालयोर्विनाशोत्पादौ प्रत्यक्षसहायोसौ प्रतिपद्यते तथा मृदादिरूपतया स्थितिमपि । न खलु घटादिसुखादीनां भेद एवावभासते न त्वेकत्वमित्यभिधातुं युक्तम्; क्षणक्षयानुमानोपन्यासस्यानर्थक्यप्रसङ्गात् । स ह्येकत्वप्रतीतिनिरासार्थो न क्षणक्षयप्रतिपत्त्यर्थः, तस्य प्रत्यक्षेणैव प्रतीत्यभ्युपगमात् ।

न चानन्तरातीतानागतक्षणयोः प्रत्यक्षस्य प्रवृत्तौ स्मरणप्रत्यभिज्ञानुमानानां वैफल्यम्; तत्र तेषां साफल्यानभ्युपगमात्, अतिव्यवहिते तदङ्गीकरणात् । न चाक्षणिकस्यात्मनोऽर्थग्राहकत्वे

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, ज्ञान या बुद्धि भले ही क्षणिक हो किन्तु जानने वाला आत्मा नित्य है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सहायता लेकर यह आत्मा ही पदार्थों के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपने को जानता है, देखा भी जाता है कि जिसप्रकार घट और कपाल रूप उत्पाद और व्यय को आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाण की सहायता लेकर जान लेता है उसी प्रकार घट आदि की मिट्टी रूप स्थिति को भी जान लेता है। घट कपाल आदि बाह्य पदार्थ तथा सुख दुःख आदि अंतरंग पदार्थ इनका मात्र भेद ही प्रतीत होता एकत्व प्रतीत नहीं होता ऐसा कहना तो शक्य नहीं है, क्योंकि इस तरह कहने से तो क्षणक्षयीवाद को सिद्ध करने के लिये जो अनुमान उपस्थित [सर्वं क्षणिकं सत्वात्] किया जाता है वह व्यर्थ ठहरेगा । अर्थात् आप बौद्ध प्रत्येक वस्तु को क्षणिक सिद्ध करते हैं सो उसमें जो अनुमान प्रमाण प्रयुक्त होता है वह एकत्व-स्थिति की प्रतीति का निराकरण करने के लिये ही प्रयुक्त होता है न कि क्षण क्षय की प्रतीति के लिये प्रयुक्त होता है, आप स्वयं ही कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु का क्षणिकपना प्रत्यक्ष प्रमाण से ही प्रतिभासित होता है ।

यदि कोई कहे कि प्रत्यक्षादि की सहायता से आत्मा घट कपालादि रूप उत्पाद व्यय एवं मिट्टी रूप स्थिति को जानता है तो अनंतर अतीत क्षण और अनागत क्षणों में प्रत्यक्ष प्रमाण प्रवृत्त होता है ऐसा मानने पर उन अनंतर [निकटवर्त्ती] अतीतादि के ग्राहक स्मृति प्रत्यभिज्ञान, अनुमान प्रमाण ये सब व्यर्थ ठहरेंगे ? सो यह कथन ठीक नहीं, हम जैन ने प्रत्यभिज्ञानादि प्रमाणों की अनंतर अतीतादि क्षणों में प्रवृत्ति होना माना ही नहीं, प्रत्यभिज्ञानादिक तो अति दूरवर्त्ती क्षणों में प्रवृत्त हुआ करते हैं । यहां पर कोई पर वादी आशंका करे कि नित्य स्वभावी आत्मा यदि पदार्थों

स्वगतबालवृद्धाद्यवस्थानामतीतानागतजन्मपरम्परायाः सकलभावपर्यायाणां चैकदैवोपलम्भप्रसङ्गः; ज्ञानसहायस्यैवार्थग्राहकत्वाभ्युपगमात्, तस्य च प्रतिबन्धकक्षयोपशमाऽनतिक्रमेण प्रादुर्भावान्नोक्तदोषानुषङ्गः।

न च द्रव्यग्रहणेऽतीताद्यवस्थानां ततोऽभिन्नत्वाद्ग्रहणप्रसङ्गः; अभिन्नत्वस्य ग्रहणं प्रत्यनङ्गत्वात्, अन्यथा ज्ञानादिक्षणानुभवे सच्चेतनादिवत् क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्याद्यनुभवानुषङ्गः। तस्माद्यत्रैवास्य ज्ञानपर्यायप्रतिबन्धापायस्तत्रैव ग्राहकत्वनियमो नान्यत्रेत्यनवद्यम्–'आत्मा प्रत्यक्षसहायोऽनन्तरातीतानागतपर्याययोरेकत्वं प्रतिपद्यते' इति, स्मरणप्रत्यभिज्ञानसहायश्चातिव्यवहितपर्यायेष्वपि। तयोश्च प्रामाण्य प्रागेव प्रसाधितम्।

का ग्राहक माना जाता है तो स्वयं में होने वाली बाल वृद्ध आदि अवस्थायें और अतीतानागत जन्मों की बड़ी भारी परंपरा की सकल भाव पर्यायों का एक ही समय में उपलंभ हो जाने का प्रसंग आता है। सो ऐसी बात नहीं है, आत्मा अकेला ग्राहक नहीं होता किन्तु ज्ञान की सहायता लेकर अर्थ ग्राहक होता है ऐसा माना गया है, तथा ज्ञान की उत्पत्ति भी प्रतिबंधक कर्म [ज्ञानावरण] के क्षयोपशम का अतिक्रम बिना किये होती है अर्थात् जितना क्षयोपशम होता है उतनी ही भाव पर्यायों को ज्ञान जान सकता है अधिक को नहीं, अतः बाल वृद्धादि अवस्थायें अथवा समस्त जन्म परंपरा को एक समय में ही जानने का प्रसंग नहीं आता है।

यह बात भी ध्यान देने की है कि द्रव्य के ग्रहण होने से अतीतानागत सर्व ही अवस्थायें द्रव्य से अभिन्न होने के कारण ग्रहण हो जानी चाहिये सो बात नहीं है, क्योंकि जो अभिन्न हो वह एक के ग्रहण से उसके साथ ग्रहण हो ही जाय ऐसी बात नहीं है, यदि ऐसा मानेंगे तो ज्ञान आदि का अनुभव करते समय जैसे चैतन्य का अनुभव होता है वैसे उसी चैतन्य में अभिन्न रूप रहने वाला क्षणक्षयीपना, स्वर्गप्रापणशक्ति इत्यादि का अनुभव होना चाहिये। क्योंकि अभिन्न एक के ग्रहण में अन्य अभिन्नांशका ग्रहण होता ही है ऐसा कहा है। इस आपत्ति को दूर करने के लिये जहां पर–जिस विषय में आत्मा के प्रतिबंधक कर्म का अपाय हुआ है मात्र उसी विषय में आत्मा ग्राहक बनता है अन्य विषय में नहीं, इसप्रकार ग्राहकत्व का नियम स्वीकार करना चाहिये। अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष की सहायता लेकर यह आत्मा अनंतरवर्त्ती अतीतानागत पर्यायों के एकत्व को जानता है, और वही आत्मा प्रत्यभि-

ननु स्मरणप्रत्यभिज्ञानयोः पूर्वोपलब्धार्थविषयत्वे तद्दर्शनकाल एवोत्पत्तिप्रसङ्गः, तद्दर्शनवत्तद्विषयत्वेनानयोरप्यविकलकारणत्वात्, न चैवम्, तस्मान्न ते तद्विषये। प्रयोगः–यस्मिन्नविकलेपि यन्न भवति न तत्तद्विषयम् यथा रूपेऽविकले तन्नाभवच्छ्रोत्रविज्ञानम्, न भवतोऽविकलेपि च पूर्वोपलब्धार्थे स्मृतिप्रत्यभिज्ञाने इति; तदप्यपेशलम्; तद्दर्शनकाले तयोः कारणाभावेनाऽप्रादुर्भावात्। न ह्यर्थस्तयोः कारणम्; ज्ञानं प्रति कारणत्वस्यार्थे प्रागेव प्रतिषेधात्। स्मरणं हि संस्कारप्रबोधकारणम्. संस्कारश्च कालान्तराविस्मरणकारणलक्षणधारणारूपः, तद्दर्शनकाले नास्तीति कथं तदैवास्योत्पत्तिः प्रत्यभि-

---

ज्ञान, स्मरण आदि की सहायता लेकर अत्यंत व्यवहित पर्यायों में भी एकत्व [स्थिति] को जान लेता है, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान ये दोनों प्रामाणिक ज्ञान हैं इस बात को तो तीसरे अध्याय मे ही सिद्ध कर दिया है।

बौद्ध—स्मृति और प्रत्यभिज्ञान प्रमाणों की प्रवृत्ति पहले प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्ध हुये विषय में ही होती है तो प्रत्यक्ष के काल में ही उनकी उत्पत्ति होनी चाहिये, क्योंकि प्रत्यक्ष के समान स्मृति और प्रत्यभिज्ञान का भी विषय रूप अविकल-कारण तो मौजूद ही है, किन्तु ऐसा होता नहीं अतः स्मृति और प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा पूर्व में उपलब्ध हुए विषय वाले नही हैं। इसीको अनुमान द्वारा अधिक स्पष्ट करते हैं–अविकल विषय मौजूद होने पर भी जो ज्ञान नहीं होता उस ज्ञान का वह विषय नहीं कहलाता है, जैसे पीत आदि रूप अविकल कारण होने पर भी कर्णजन्य ज्ञान नही होने से उस ज्ञान का विषय पीतादि रूप नहीं माना है, आपके अभीष्ट स्मृति और प्रत्यभिज्ञान भी अविकल कारण भूत पूर्व में उपलब्ध पदार्थ के होते हुए भी उत्पन्न नहीं होते अतः पूर्वोपलब्ध विषय वाले नहीं हैं ?

जैन—यह कथन असत् है, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष के काल में इसलिये उत्पन्न नहीं होते हैं कि उनके कारणों का अभाव है। इन ज्ञानों का कारण पदार्थ नहीं है। ज्ञान के प्रति पदार्थ कारण हुआ करते हैं अर्थात् ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है इस सिद्धांत का तो पहले ही [नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात् तमोवत्" इस सूत्र में दूसरे अध्याय में] खण्डन कर आये हैं। स्मृति और प्रत्यभिज्ञान का कारण इस प्रकार है, स्मृति प्रमाण का कारण तो प्रत्यक्ष पूर्वक होने वाले संस्कार का प्रबोध–प्रगट होना है, और प्रत्यभिज्ञान का संस्कार एवं स्मृति अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान रूप संस्कार और स्मरण कारण हैं। कालांतर में विस्मृत

ज्ञानस्य वा ? तदुत्पत्तौ हि दर्शनं पूर्वदर्शनाहितसंस्कारप्रबोधप्रभवस्मृतिसहायं प्रवर्त्तते, तच्च प्राग्नास्तीति कथं तदैव तदुत्पत्तिः ?

अथ मतम्–आत्मनः केवलस्यैवातीताद्यर्थग्रहणसामर्थ्ये स्मरणाद्यपेक्षावैयर्थ्यम्, तदसामर्थ्ये वा नितरां तद्वैयर्थ्यम्, न खलु केवल चक्षुर्विज्ञानं गन्धग्रहणेऽसमर्थं सत्तत्स्मृतिसहायं समर्थं दृष्टमिति; तदप्यसङ्गतम्; यतः स्मरणादिरूपतया परिणतिरेवात्मनोऽतीताद्यर्थग्रहणसामर्थ्यम्, तत्कथं तदपेक्षावैयर्थ्यम् ? चक्षुर्विज्ञानस्य तु गन्धग्रहणपरिणामस्यैवाभावान्न तत्स्मृतिसहायस्यापि गन्धग्रहणे सामर्थ्यमिति युक्तमुत्पश्यामः।

नहीं होना है लक्षण जिसका ऐसा जो धारणा नामा प्रत्यक्ष ज्ञान है उसे संस्कार कहते हैं, वह प्रत्यक्ष के काल में नही है फिर किस प्रकार उसी के काल में स्मृति की अथवा प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति होवेगी ? अर्थात् प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानों की उत्पत्ति में पूर्व प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त हुए संस्कार प्रबोध से उत्पन्न हुई जो स्मृति है वह जिसमें सहायक ऐसा प्रत्यक्ष कारण हुआ करता है, ऐसा कारण पहले नही रहना फिर किस प्रकार उनकी उसी समय उत्पत्ति होवे ? नहीं हो सकती है।

बौद्ध—आत्मा प्रत्यक्षादि की सहायता लेकर स्थिति आदि विषय का ग्राहक होता है ऐसा पहले कहा था सो उस आत्मा के बारे में शंका है कि यदि अकेले आत्मा के ही अतीतादि रूप पदार्थ को ग्रहण करने की सामर्थ्य है तो उसे स्मृति आदि की अपेक्षा लेना व्यर्थ है, और यदि अकेले आत्मा में वह सामर्थ्य नही है तब तो वह अपेक्षा बिलकुल ही बेकार ठहरती है, उदाहरण से स्पष्ट होता है कि अकेला चक्षुजन्य ज्ञान गन्ध पदार्थ को ग्रहण करने में समर्थ नहीं है तो वह स्मृति की सहायता लेकर भी समर्थ नहीं होता है।

जैन—यह असंगत है, स्मरण आदि रूप से आत्मा की जो परिणति है वही तो अतीतादि पदार्थों को ग्रहण करने की सामर्थ्य है, अतः उसकी अपेक्षा लेना किस प्रकार व्यर्थ ठहरेगा ? चक्षुजन्य ज्ञान की तो गंध ग्रहण रूप परिणति ही नहीं होती अतः उसके स्मृति की सहायता लेकर भी गंध ग्रहण में सामर्थ्य नहीं होता है, यह तो स्वाभाविक है। अतः पहले जो बौद्ध ने कहा था कि क्षणिक बुद्धि द्वारा पूर्व और उत्तर क्षणों का ग्रहण नही होता है अतः उनमें होने वाली स्थिति किस प्रकार प्रतीति में आवेगी इत्यादि सो निराकृत हुआ समझना चाहिये, क्योंकि इनका ग्रहण नित्य

ततो निराकृतमेतत्–'पूर्वोत्तरक्षणयोरग्रहणे कथं तत्र स्थास्नुताप्रतीतिः' इति; आत्मना तयोर्ग्रहणसम्भवात्। भवतां तु तयोरप्रतीतौ कथं मध्यक्षणस्य तत्राऽस्थास्नुताप्रतीतिरिति चिन्त्यताम् ? पूर्वदर्शनाहितसंस्कारस्य मध्यक्षणदर्शनात्तत्क्षणस्मृतिस्तस्याश्च 'स इह नास्ति' इत्यस्थास्नुतावगमे स्थास्नुतावगमोप्येवं किन्न स्यात् ?

ननु चास्थास्नुता पूर्वोत्तरयोर्मध्येऽभावः तस्य वा तत्र, स च तदात्मकत्वात्तद्ग्रहणेनैव गृह्यते; तदप्यसारम्; तदप्रतीतौ तत्रास्य अत्र वा तयोर्निषेधस्याप्यसम्भवात्। न ह्यप्रतिपन्नघटस्य

आत्मा द्वारा होता है । आपके प्रति भी प्रश्न होता है कि पूर्व और उत्तर क्षणों की प्रतीति क्षणिक बुद्धि द्वारा तो होती नहीं, फिर मध्य क्षण की उन दोनों क्षणों में अस्थास्नुता क्षणिकता की प्रतीति किस प्रकार होवेगी यह आपको विचारणीय है ।

बौद्ध— पूर्व क्षण के प्रत्यक्ष से उत्पन्न हुए जो संस्कार हैं उसके मध्य क्षण के दर्शन से उस क्षण की स्मृति हो जाती है और उस स्मृति के कारण "वह [क्षण] यहां पर नहीं है" इस प्रकार की अस्थास्नुता–क्षणिकता की प्रतीति हो जाती है ।

जैन—तो फिर ऐसे ही स्थास्नुता. स्थिति या ध्रौव्य की भी प्रतीति होवे उसको क्यों नही माने ? स्थिति के विषय में भी यही बात है कि पूर्व क्षण के प्रत्यक्ष होने से संस्कार हुए और उसका मध्य क्षण में दर्शन हुआ उससे उस क्षण की स्मृति हो आयी पुनः स्मृति से वह स्थिति यहां द्रव्यरूप से मौजूद है ऐसा ज्ञान होता ही है ।

बौद्ध— पूर्व और उत्तर क्षणों का मध्य में नहीं होना अस्थास्नुता या क्षणिकत्व कहलाता है, अथवा मध्य का वहां नहीं होना क्षणिकत्व है, ऐसा जो यह क्षणिकत्व है वह पूर्वोत्तर क्षणों का अभाव रूप होने से उसके साथ ही ग्रहण में आ जाता है, अर्थात् पूर्वोत्तर क्षण का अभाव ही मध्य क्षण है अतः पूर्वोत्तर क्षणों के ग्रहण होने पर मध्य क्षण का अभाव ग्रहण में आ जाता है ।

जैन— यह कथन असार है, मध्य क्षण यदि प्रतीत नहीं होता है तो पूर्वोत्तर क्षणों में उसका निषेध करना अथवा पूर्वोत्तर क्षणों का मध्य क्षण में निषेध करना असंभव है । इसी को बताते हैं–जिसने घट को जाना नहीं है उसके "यहां घट नहीं है" इस प्रकार की प्रतीति होना असंभव है, ऐसे मध्य क्षण की प्रतीति बिना उसका निषेध होना अशक्य है । दूसरी बात यह भी है कि जैसे क्षणिकत्व की

'अत्र घटो नास्ति' इति प्रतीतिरस्ति। कथं चैवं स्थास्नुता न प्रतीयेत ? सापि हि पूर्वोत्तरयोर्मध्ये कथञ्चित्सद्भावस्तस्य वा तत्र, स च तदात्मकत्वात्तद्ग्रहणेनैव गृह्यते।

ननु स्थास्नुतार्थानां नित्यतोच्यते, सा च त्रिकालापेक्षा, तदप्रतिपत्तौ च कथं तदपेक्षनित्यताप्रतिपत्तिः ? तदसाम्प्रतम्; वस्तुस्वभावभूतत्वेनान्यानपेक्षत्वान्नित्यतायाः, तथाभूतायाश्चास्याः प्रत्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धत्वेन प्रतीतेः प्रतिपादनात्। न खलु स्वयं नित्यतारहितस्य त्रिकालेनासौ क्रियतेऽनित्यतावत्। न हि वर्तमानकालेनानित्यता क्रियते तस्याऽसत्त्वात्, सत्त्वे वा तदनित्यत्वस्याप्यपरेण करणेऽनवस्थाप्रसङ्गः। ततो यथा स्वभावतः पूर्वोत्तरकोटिविच्छिन्नः क्षणो जातः क्षणिको विधीयते कालनिरपेक्षश्च प्रतीयते तथाऽक्षणिकत्वमपि।

प्रतीति होना आप बतला रहे हैं वैसे स्थास्नुता (नित्यता) प्रतीति होना भी क्यों नहीं बनता ? बन ही सकता है, क्योंकि पूर्वोत्तर क्षणों का मध्य में कथंचित् सद्भाव है वही स्थास्नुता है, अथवा मध्य का उन क्षणों में सद्भाव है वही स्थास्नुता कहलाती है, और वह तदात्मक होने से क्षणों के ग्रहण से ही ग्रहण में आ जाती है, इस प्रकार स्थास्नुता सिद्ध होती है।

बौद्ध—पदार्थों की नित्यता को आप स्थास्नुता कहते हैं, और वह त्रिकालभूत वर्त्तमान और भविष्यति की अपेक्षा रखने वाली हुआ करती है, किन्तु तीनों काल प्रतीत नहीं होते तो उनकी अपेक्षा से होने वाली नित्यता भी कैसे प्रतीत होवेगी ?

जैन—यह कथन गलत है, नित्यता तो वस्तु का स्वभाव है स्वभाव अन्य की अपेक्षा नहीं रखता है, वस्तु का उस तरह का नित्य स्वभाव प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्रसिद्ध है ऐसा प्रतिपादन करने वाले ही हैं। यह नियम है कि जो स्वयं नित्यता से विहीन है वह तीनों कालों से नित्य नहीं किया जा सकता, जैसे कि अनित्यता नहीं की जा सकती है। अब अनित्यता त्रिकाल से कैसे नहीं की जा सकती सो बताते हैं—वर्त्तमान काल द्वारा अनित्यता नहीं की जाती, क्योंकि उसका असत्व (सौगत मतानुसार) है यदि वर्त्तमान में अनित्यता का सत्व मानेंगे तो उसको अन्य कोई काल करेगा इस तरह तो अनवस्था होगी। इसलिये जिस प्रकार आप स्वभाव से पूर्वोत्तर कोटि विच्छिन्न क्षण होता है वह क्षणिक एवं काल निरपेक्ष प्रतीत होता है इस प्रकार मानते हैं, ऐसे ही अक्षणिकत्व या स्थास्नुता काल निरपेक्ष होती है ऐसा मानना चाहिये।

ननु चाक्षणिकत्वम् अर्थानामतीतानागतकालसम्बन्धित्वेनातीतानागतत्वम् । न च काल-स्यातीतानागतत्वं सिद्धम्; तद्धि किमपरातीतादिकालसम्बन्धात्, तथाभूतपदार्थक्रियासम्बन्धाद्वा स्यात्, स्वतो वा ? प्रथमपक्षेऽनवस्था ।

द्वितीयपक्षेपि पदार्थक्रियाणां कुतोऽतीतानागतत्वम् ? अपरातीतानागतपदार्थक्रियासम्बन्धा-च्चेत्; अनवस्था । अतीतानागतकालसम्बन्धाच्चेत्; अन्योन्याश्रयः । स्वतः कालस्यातीतानागतत्वे अर्थानामपि स्वत एवातीतानागतत्वमस्तु किमतीतानागतकालसम्बन्धित्वकल्पनया ? इत्यप्यसमीक्षिता-

---

बौद्ध – अतीत काल के सम्बन्ध से पदार्थों का अतीतपना होना और अनागत काल के सम्बन्ध से अनागतपना होना अक्षणिकत्व कहलाता है, किन्तु काल का अतीतानागतपना सिद्ध नहीं होता है, काल में अतीतादिपना किस हेतु से सिद्ध करे, अन्य अतीतादि काल सम्बन्ध से, अथवा उस प्रकार के पदार्थों की क्रिया सम्बन्ध से या कि स्वतः ही ? प्रथम पक्ष कहो तो अनवस्था होगी, क्योंकि अन्य अन्य काल सम्बन्ध को अपेक्षा बढती जायगी । दूसरा पक्ष कहो तो पुनः प्रश्न होता है कि पदार्थों की क्रियाओं का अतीतानागतपना किससे सिद्ध होता होगा ? किसी दूसरे अतीतानागत पदार्थो की क्रिया सम्बन्ध से कहो तो अनवस्था तैयार है, और अतीतानागत काल के सम्बन्ध से कहो तो अन्योन्याश्रय होता है—काल का अतीतानागतपना सिद्ध होवे तो पदार्थो की क्रियाओं का अतीतानागतपना सिद्ध होवे, और वह सिद्ध होवे तो काल का अतीतादिपना सिद्ध होवे इस तरह दोनों ही असिद्ध कोटि में रह जाते हैं । यदि जैनादि वादी तीसरा पक्ष कहे कि काल में अतीतादिपना तो स्वतः ही रहता है तब पदार्थों में भी स्वतः ही अतोतादिपना होना चाहिए, फिर अतीतादि काल के सम्बन्ध से पदार्थों में अतीतादिपना आता है ऐसा कहना व्यर्थ ही ठहरता है ?

जैन—यह बखान बिना सोचे किया गया है, यह बात बिलकुल प्रसिद्ध है कि अतीतादि कालों में अतीतादिपना स्वरूप से ही रहता है, इसका खुलासा करते हैं-द्रव्य रूप पुरुषादि द्वारा जो वर्त्तमानत्व अनुभूत हो चुका है वह काल अतीत कहलाता है, तथा जो वर्त्तमानत्व अनुभव में आवेगा वह काल अनागत कहलाता है और उन अतीतादिकाल के संबंध से पदार्थो का अतीतानागतपना सिद्ध होता है । काल के समान पदार्थो में भी स्वरूप से अतीतादिपना होवे ऐसा कहना अयुक्त है, क्योंकि एक वस्तु का स्वभाव अन्य वस्तु में जोड़ना गलत है, यदि ऐसा करेंगे तो निंब

भिधानम्; स्वरूपत एवातीतादिसमयस्यातीतादित्वप्रसिद्धेः। अनुभूतवर्त्तमानत्वो हि समयोतीतः, अनुभविष्यद्वर्त्तमानत्वश्चानागतः, तत्सम्बन्धित्वाच्चार्थानामतीतानागतत्वम्। न च कालवदर्थानामपि स्वरूपेणैवातीतानागतत्वं युक्तम्; न ह्येकस्य धर्मोन्यत्राप्यासञ्जयितु युक्तः, अन्यथा निम्बादेस्तिक्ततादिधर्मो गुडादेरपि स्यात्, ज्ञानधर्मो वा स्वपरप्रकाशकत्व घटादेरपि स्यात्, तद्धर्मो वा जडता ज्ञानस्यापि स्यात्।

ननु चानुवृत्ताकारप्रत्ययोपलम्भादक्षणिकत्वधर्मोर्थानां साध्यते, स च बाध्यमानत्वादसत्यः; तदप्यसम्यक्; यतोऽस्य बाधको विशेषप्रतिभास एव, स चानुपपन्न। तथाहि-अनुवृत्ताकारे प्रतिपन्ने, अप्रतिपन्ने वासौ तद्बाधको भवेत्? यदि प्रतिपन्ने; तदा किमनुवृत्तप्रतिभासात्मको विशेषप्रतिभासः, तद्व्यतिरिक्तो वा? प्रथमपक्षेऽनुवृत्तप्रतिभासस्य मिथ्यात्वे विशेषप्रतिभासस्यापि तदात्मकत्वात्तत्प्रसक्तेः

आदि में कडुआपन होता है अतः गुड़, शक्कर आदि में भी कडुआपन होता है ऐसा भी कह सकेंगे। क्योंकि एक का धर्म अन्य में जोडना आपने स्वीकार किया है। इसीप्रकार ज्ञान का स्वभाव स्व और परको जानना है अतः घट, पट आदि में भी स्वपर को जानना रूप स्वभाव होवे या घट पट आदि का जड़ स्वभाव ज्ञान मे होवे ऐसा भी कह सकते हैं।

बौद्ध—जैन आदि वादीगण पदार्थों का नित्यधर्म अनुवृत्त आकार वाले ज्ञान के द्वारा उपलब्ध होने से सिद्ध करते हैं, अर्थात् अनुवृत्ताकार ज्ञान होता है अतः पदार्थों में नित्यता है ऐसा इनका कहना है किन्तु अनुवृत्ताकार ज्ञान तो बाधित होता है अतः असत्य है?

जैन—यह बात असत् है, आपने कहा कि अनुवृत्ताकार प्रत्यय बाधित होता है सो इस ज्ञान को बाधा देनेवाला कौन है विशेष प्रतिभास ही तो होगा? किन्तु वह स्वयं अनुपपन्न है, कैसे सो बताते हैं—अनुवृत्त प्रत्यय बाधित होता है ऐसा आपका कहना है सो वह कब बाधित होगा अनुवृत्ताकार को जान लेने पर अथवा बिना जाने? अर्थात् अनुवृत्त प्रत्यय विशेष प्रतिभास द्वारा बाध्यमान ठहरा सो विशेष प्रतिभास ने उसको जाना कि नहीं? यदि जाना है तो उसमें पुनः दो प्रश्न होते हैं कि अनुवृत्त प्रतिभासात्मक विशेष प्रतिभास बाधक बनता है अथवा अनुवृत्त प्रतिभास से रहित जो विशेष प्रतिभास है वह बाधक बनता है? प्रथम पक्ष कहो तो जब

कथमसौ तद्बाधकः ? द्वितीयपक्षेप्यनुवृत्ताकारप्रतिभासमन्तरेण स्थासकोशादिप्रतिभासस्य तद्व्यतिरिक्तस्यासंवेदनात्तद्बाधकत्वायोगात् । अनुवृत्ताकाराप्रतिपत्तौ च विशेषप्रतिभासस्यैवासम्भवात्कथं तद्बाधकता ?

किञ्च, विपरीतार्थव्यवस्थापकं प्रमाणं बाधकमुच्यते । प्रतिक्षणविनाशिपदार्थव्यवस्थापकत्वेन च प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा प्रवर्त्ततान्यस्य प्रमाणत्वेन सौगतैरनभ्युपगमात् ? तत्र न तावत्प्रत्यक्षं तद्व्यवस्थापकम्; तत्र तथार्थानामप्रतिभासनात् । न हि प्रतिक्षणं त्रुटद्रूपता बिभ्राणास्तत्रार्थाः प्रतिभासन्ते, स्थिरस्थूलसाधारणरूपतयैव तत्र तेषां प्रतिभासनात् । न चान्यादृग्भूतः प्रतिभासोऽन्यादृग्भूतार्थव्यवस्थापकोऽतिप्रसङ्गात् ।

अनुवृत्त प्रत्यय मिथ्या है तब अनुवृत्त प्रत्ययाकार हुआ जो विशेष प्रतिभास है वह भी तो मिथ्या कहलायेगा फिर वह कैसे बाधक बनेगा ? द्वितीय पक्ष—अनुवृत्त प्रतिभास रहित जो विशेष प्रतिभास है वह अनुवृत्तप्रत्यय का बाधक है ऐसा कहे तो अनुवृत्ताकार का प्रतिभास हुए बिना स्थास कोश आदि का प्रतिभास उनसे व्यतिरिक्त अनुभव में नही आता है अत: बाधक नहीं हो सकता । अनुवृत्ताकारकी प्रतिपत्ति नहीं होने पर भी विशेष प्रतिभास उसका बाधक होता है ऐसा द्वितीय विकल्प कहो तो ऐसा विशेष प्रतिभास होना ही असंभव है, अत: उसमें बाधकपना किसप्रकार सिद्ध होगा ? नहीं हो सकता ।

दूसरी बात यह है कि बाधक तो उसे कहते हैं जो विपरीत अर्थ का व्यवस्थापक प्रमाण होता है । अब बताइये कि हमारे नित्य वस्तु से विपरीत अर्थ जो क्षणिकत्व है उसको कौनसा प्रमाण सिद्ध करता है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण विनाश शील है ऐसी व्यवस्था प्रत्यक्ष प्रमाण करता है अथवा अनुमान प्रमाण करता है ? अन्य तीसरा प्रमाण तो बौद्धों ने माना नहीं । प्रत्यक्ष प्रमाण पदार्थ के प्रतिक्षण विनाश शील स्वभाव की व्यवस्था कर नहीं सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष में उस प्रकार के पदार्थ प्रतिभाषित ही नहीं होते हैं । प्रत्यक्ष प्रमाण में प्रतिक्षण विनाश रूपता को धारण करने वाले पदार्थ प्रतिभासित नहीं होते हैं, उसमें तो स्थिर स्थूल साधारण स्वरूप को धारण करने वाले पदार्थ ही प्रतीत हो रहे हैं, अन्य किसी रूप तो प्रतिभासित हो और अन्य ही किसी रूप बतावे सो बनता नहीं, यदि ऐसा कहेंगे तो अति प्रसंग होगा फिर तो घट ज्ञान पटका व्यवस्थापक बन सकता है ।

न च तत्र तथा तेषां प्रतिभासेपि सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भाद्यथानुभवं व्यवसायानुपपत्तेः स्थिरस्थूलादिरूपतया व्यवसायः; इत्यभिधातव्यम्; अनुपहतेन्द्रियस्यान्यादृग्भूतार्थनिश्चयोत्पत्ति-कल्पनायां प्रतिनियतार्थव्यवस्थित्यभावानुषङ्गात् । नीलानुभवेपि पीतादिनिश्चयोत्पत्तिकल्पना-प्रसङ्गात् । तथा च "यत्रैवजनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" [ ] इत्यस्य विरोधः । ततो

भावार्थ—पहले पदार्थ का किसी अन्य रूप प्रतिभास हुआ था और पुनः किसी अन्य रूप हुआ तब उस दूसरे प्रतिभास के अनुसार जब पदार्थ साक्षात् अर्थक्रियाकारी दिखायी देवे तब वह दूसरा प्रतिभास या ज्ञान पहले प्रतिभास का बाधक कहलाता है । जैसे "यह जल है" ऐसा मरीचिका में पहले प्रतिभास हुआ था वह दूसरे वास्तविक प्रतिभास से बाधित होता है कि यह जल नहीं किन्तु मरीचिका है, क्योंकि इसमें अर्थक्रियादि दिखायी नहीं देती इत्यादि । यहां पर बौद्ध ने कहा था कि अनुवृत्ताकार प्रतिभास बाधित होता है अतः वह असत्य है, किन्तु यह बात सर्वथा गलत है, अनुवृत्ताकार प्रतिभास को बाधित करने वाला कोई वास्तविक प्रमाण ही नहीं है, प्रत्यक्षादि प्रमाण तो प्रत्येक पदार्थ को स्थिर, साधारण–सदृश परिणामादि से युक्त ही प्रतिभासित कर रहे हैं । अतः अनुवृत्ताकार प्रत्यय बाधित होता है ऐसा बौद्ध का कहना ही बाधित होता है न कि अनुवृत्त प्रत्यय बाधित होता है ।

बौद्ध प्रत्यक्षादि प्रमाण में जो पदार्थों की स्थिर–सदृश आदि रूप प्रतीति होती है वह अन्य अन्य सदृश परिणामों के उत्पन्न होने से होती है, उस अपर अपर सदृश परिणाम के कारण ही पदार्थ का वास्तविक प्रतिभास होता नही और स्थिर–स्थूल-सदृशादि रूप प्रतिभास होने लग जाता है, अर्थात् पदार्थ का क्षणिक रूप निश्चय न होकर नित्य रूप निश्चय होने लगता है ?

जैन—इस तरह नही कहना ! देखिये–जिसकी इन्द्रिय उपहत [सदोष] नही है ऐसे मनुष्य के भी अन्य तरह–[वस्तु स्वरूप से विपरीत] का अर्थ निश्चय उत्पन्न होना स्वीकार करेंगे तो किसी भी पदार्थ की प्रतिनियत व्यवस्था बन नही सकेंगी । फिर तो कोई पदार्थ नील स्वरूप अनुभव में आने पर भी उसमें पीत आदि रूप निश्चय उत्पन्न होने लगेगा ? इस तरह तो "यत्रैव जनयेदेनां तत्रैवास्य प्रमाणता" निर्विकल्प प्रत्यक्ष जिस विषय में सविकल्प बुद्धि को उत्पन्न करता है मात्र उसी विषय

यथाविधार्थाध्यवसायो विकल्पस्तथाविधार्थस्यैवानुभवो ग्राहकोऽभ्युपगन्तव्यः। न चार्थस्य प्रति [क्षण] विनाशित्वात्तत्सामर्थ्यबलोद्भूतेनाध्यक्षेणापि तद्रूपमेवानुकरणीयमिति वाच्यम्; इतरेतराश्रयानुषङ्गात्-सिद्धे हि क्षणक्षयित्वेऽर्थानां तत्सामर्थ्याविनाभाविनोध्यक्षस्य तद्रूपानुकरणं सिद्धयति, तत्सिद्धौ च क्षणक्षयित्व तेषां सिध्यतीति।

नाप्यनुमानं तद्ग्राहकम्; तत्र प्रत्यक्षाप्रवृत्तावनुमानस्याप्रवृत्ते:। तथा हि-अध्यक्षाधिगतमविनाभावमाश्रित्य पक्षधर्मतावगमबलादनुमानमुदयमासादयति। प्रत्यक्षाविषये तु स्वर्गादाविवानुमानस्याप्रवृत्तिरेव।

में वह प्रमाणभूत माना है" इत्यादि कथन विरुद्ध पड़ेगा ? क्योंकि इस कथन से तो यह सिद्ध होता है कि वस्तु जैसी है वैसा ही उसमें निश्चय होता है। इस अति प्रसंग को दूर करने के लिये जिस प्रकार का पदार्थ का निश्चायक विकल्प होता है उसी प्रकार के पदार्थ का ग्राहक अनुभव होता है ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

बौद्ध – प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण विनाशशील है अतः उस पदार्थ के सामर्थ्य के बल से उत्पन्न होने वाला जो प्रत्यक्ष है वह उसके रूप का ही अनुकरण करेगा मतलब प्रत्यक्ष प्रमाण पदार्थ से उत्पन्न होता है अतः उसीके आकार वाला होना जरूरी है और इसीलिये उस तरह के [क्षणिकत्व के] अनुभव का ग्राहक प्रमाण होता है ?

जैन—ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय दोष आवेगा–पदार्थों का क्षणिकपना सिद्ध होने पर तो उसके सामर्थ्य का अविनाभावी प्रत्यक्ष का तद् रूप अनुकरण सिद्ध होगा, और उसके सिद्ध होने पर पदार्थों का क्षणक्षयीपना सिद्ध होगा, इस तरह दोनों असिद्ध ही रहेंगे।

पदार्थों के क्षणिकत्व को अनुमान भी ग्रहण नहीं कर सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष की उसमें प्रवृत्ति नहीं होने से अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी, अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा जाने हुए अविनाभाव का आश्रय लेकर पक्षधर्मता के ज्ञान के बल से अनुमान प्रमाण उत्पन्न होता है, जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है ऐसे स्वर्ग आदि के विषय के समान विषय में तो अनुमान की अप्रवृत्ति हो रहती है।

किञ्च, अत्र स्वभावहेतोः, कार्यहेतोर्वा व्यापारः स्यात् ? न तावत्स्वभावहेतोः; क्षणिकस्वभावतया कस्यचिदर्थस्य भावस्यानिश्चयात्, क्षणिकत्वस्याध्यक्षागोचरत्वात् । अध्यक्षगोचरे एव ह्यर्थे स्वभावहेतोर्व्यवहृतिप्रवर्तनफलत्वम्, यथा विशददर्शनावभासिनि तरौ वृक्षत्वव्यवहारप्रवर्त्तनफलत्वं शिंशपायाः ।

अथोच्यते-'यो यद्भावं प्रत्यन्यानपेक्षः स तत्स्वभावनियतः यथाऽन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने, विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षाश्च भावाः' इति; तदप्युक्तिमात्रम्; हेतोरसिद्धेः । न खलु मुद्गराद्यनपेक्षा घटादयो भावाः प्रमाणतो विनाशमनुभवन्तोनुभूयन्ते प्रतीतिविरोधात् ।

यदि जबरदस्ती मान भी लेवे कि प्रत्यक्ष के अविषयभूत क्षणिकत्व में अनुमान की प्रवृत्ति होती है तो उसमें कौन से हेतु का व्यापार होगा स्वभाव हेतु का या कार्य हेतु का ? स्वभाव हेतु का तो हो नहीं सकता, क्योंकि किसी भी पदार्थ का स्वभाव क्षणिकत्व स्वभाव रूप से निश्चित नहीं है । क्षणिकत्व का अनिश्चय भी इसीलिये है कि वह प्रत्यक्ष के गोचर नहीं है । तथा स्वभाव हेतु के व्यवहार प्रवृत्ति की सफलता प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थ में ही हुआ करती है, जिस प्रकार कि विशद प्रत्यक्ष से अवभासित हुए वृक्ष में शिंशपानामा स्वभाव हेतु से वृक्षत्व व्यवहार की प्रवृत्तिरूप फल है, अभिप्राय यह है कि स्वभाव हेतु वाला अनुमान प्रत्यक्ष गोचर पदार्थ में प्रवृत्त होता है न कि प्रत्यक्ष के अविषय में, अतः स्वभाव हेतु वाला अनुमान क्षणिकत्व का ग्राहक नहीं बन सकता ।

बौद्ध—पदार्थ विनाश स्वभाव से नियत है, क्योंकि विनाश के लिये अन्य की अपेक्षा नही रखते हैं, जो जिस भाव के प्रति अन्य से अनपेक्ष है वह विनाश स्वभाव से नियत रहता है, जैसे अंतिम कारण सामग्री अपने कार्य को उत्पन्न करने में अन्य की अपेक्षा नही करती है, प्रत्येक पदार्थ विनाश के प्रति अन्य की अपेक्षा रखते ही नहीं, अतः विनाश स्वभाव नियत है, इस अनुमान द्वारा पदार्थों का क्षणिकत्व सिद्ध होता है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, विनाश प्रति अन्य अनपेक्षत्वनामा अनुमान का हेतु असिद्ध है, आपका जो कहना है कि पदार्थ विनाश होने के लिये अन्य अनपेक्ष है किन्तु यह बात असिद्ध है, घट आदि पदार्थ लाठी आदि की अपेक्षा किये बिना विनाश को प्राप्त होते हैं ऐसा प्रमाण से अनुभव में नहीं आता है, यह तो प्रतीति विरुद्ध बात

किञ्च, अन्यान्यानपेक्षत्वमात्रं हेतुः, तत्स्वभावत्वे सत्यन्यानपेक्षत्वं वा ? प्रथमपक्षे यव-बीजादिभिरनैकान्तो हेतोः, शाल्यंकुरोत्पादनसामग्रीसन्निधानावस्थायां तदुत्पादनेऽन्यानपेक्षाणामप्येषां तद्भावनियमाभावात् । द्वितीयपक्षे तु विशेष्यासिद्धो हेतुः; तत्स्वभावत्वे सत्यप्यन्यानपेक्षत्वासिद्धेः । न ह्यन्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादनस्वभावापि द्वितीयक्षणानपेक्षा तदुत्पादयति, दहनस्वभावो वा वह्निः करतलादिसंयोगानपेक्षो दाहं विदधाति । भागे विशेषणासिद्धं च तत्स्वभावत्वे सत्यन्यान-पेक्षत्वम्; शृङ्गोत्थशरादीनां क्षणिकस्वभावाभावात् ।

है । तथा "विनाशं प्रति अन्यानपेक्षत्व" जो हेतु है वह अन्यानपेक्षत्व–मात्र है अथवा "तत्स्वभावत्वे सति अन्यानपेक्षत्व" है । प्रथम पक्ष–विनाश के प्रति अन्य की अपेक्षा मात्र नहीं रखना ऐसा हेतु बनाते हैं तो यव बीजादि के साथ हेतु की अनैकान्तिकता होगी, कैसे सो बताते हैं–जो अन्य की अपेक्षा नहीं रखता वह विनाश स्वभाव नियत है ऐसा कथन व्यभिचरित है, क्योंकि शालि के अंकुर को उत्पन्न करनेवाली सामग्री निकट होने पर उनके उत्पादन में अन्य की अपेक्षा नहीं रखने वाले भी इन यव बीजो के तद् भाव नियम विनाश स्वभाव का नियम नहीं रहता है ।

दूसरापक्ष—"तत् स्वभावत्वे सति अन्यानपेक्षत्व" विनाश स्वभाव होने पर अन्य अनपेक्षपना है । इस तरह का हेतु बनावे तो वह विशेष्य–असिद्ध नामा सदोष हेतु कहलायेगा । क्योंकि वस्तु में विनाश स्वभाव सिद्ध होने पर भी वह विनाश अन्य निरपेक्ष ही है ऐसा सिद्ध नही है, यह बात भी है कि अंतिम कारण सामग्री स्व कार्य को उत्पादन स्वभाव वाली है किन्तु वह भी द्वितीय क्षण की अपेक्षा बिना स्व कार्य को उत्पन्न नही कर सकती, जैसे कि जलाने का स्वभाव वाली अग्नि हाथ आदि के संयोग की अपेक्षा किये बिना जलाने का कार्य नहीं कर सकती । "तत् स्वभावत्वे सति अन्यानपेक्षत्व" हेतु भागा सिद्ध विशेषण वाला भी है, क्योंकि सभी पदार्थ विनाश स्वभाव नियत है, ऐसा पक्ष है किन्तु महिष आदि के सींग से बनाये हुए बाण आदि में क्षणिक स्वभाव का अभाव है । अतः सभी पदार्थ क्षणिक स्वभावी विनाश स्वभावी हैं ऐसा कहना गलत पड़ता है ।

दूसरी बात यह विचारणीय है, यदि मान लेवे कि विनाश अहेतुक है तथापि जब लाठी आदि के व्यापार के अनंतर उपलब्ध हो तब उसे मानना चाहिये न कि उत्पत्ति के अनंतर ही, अर्थात् घट का विनाश लाठी की चोट लगने पर होता हुआ

किञ्च, यदि नामाऽहेतुको विनाशस्तथापि यदैव मुद्गरादिव्यापारानन्तरमुपलभ्यते तदैवासावभ्युपगमनीयो नोदयानन्तरम्, कस्यचित्तदा तदुपलम्भाभावात् । न च मुद्गरादिव्यापारानन्तरमस्योपलम्भात्प्रागपि सद्भावः कल्पनीयः; प्रथमक्षणे तस्यानुपलम्भान्मुद्गरादिव्यापारानन्तरमप्यभावानुषङ्गात् । न चान्ते क्षयोपलम्भादादावप्यसावभ्युपगन्तव्यः, सन्तानेनानेकान्तात् ।

किञ्च, उदयानन्तरध्वंसित्वं भावानाम् भिन्नाभिन्नविकल्पाभ्यामन्येन ध्वंसस्यासम्भवादवसीयते, प्रमाणान्तराद्वा ? तत्रोत्तरविकल्पोऽयुक्तः; प्रत्यक्षादेरुदयानन्तरध्वंसित्वेनार्थग्राहकत्वाप्रतीतेः । प्रथमविकल्पे तु भिन्नाभिन्नविकल्पाभ्यां मुद्गराद्यनपेक्षत्वमेवास्य स्यात् न तूदयानन्तरं भावः । न खलु निर्हेतुकस्याश्वविषाणादेः पदार्थोदयानन्तरमेव भावितोपलब्धा ।

दिखायी देता है अतः तभी उसे मानना चाहिये न कि कुम्हार के द्वारा घट के बनते ही । घट उत्पत्ति के अनंतर विनष्ट हुआ ऐसा किसी को उस समय दिखायी भी नहीं देता है । लाठी आदि के व्यापार के अनंतर घट का नाश उपलब्ध होने से पहले भी उसका नाश का सद्भाव बताना तो ठीक नही, यदि इस तरह मानेंगे तो लाठी के व्यापार के पूर्व क्षण में नाश की उपलब्धि नही होने से उस व्यापार के अनंतर भी नाश की उपलब्धि नहीं हो सकेगी । लाठी के व्यापार के अंत में घट विनाश उपलब्ध होना है अतः उस व्यापार के आदि में भी विनाश था ऐसा कहना भी गलत ठहरेगा, देखिये–जो जो अंत में विनष्ट होता है वह वह आदि में विनष्ट होता है ऐसा कहेंगे तो संतान के साथ अनेकान्त होगा, क्योंकि आत्म संतान का निर्वाण के अन्त में तो उत्तर क्षण की उत्पत्ति का नाश होता है किन्तु आदि में तो नाश नही होता ।

संपूर्ण पदार्थ उत्पत्ति अनंतर ही नष्ट हो जाते हैं, सो इस बात का निश्चय कैसे होता है ? लाठी द्वारा घट का नाश किया जाता है वह घट से यदि भिन्न है तो घट का अभाव हो नहीं सकता, और यदि अभिन्न है तो लाठी ने घट को ही किया ऐसा अर्थ निकलता है, अतः हम बौद्ध घट का विनाश पर से होना असंभव देख स्वयं ही घटादिक विनाश शील है ऐसा मानते हैं । इस तरह बौद्ध की मान्यता है, अथवा "घटादि पदार्थ उत्पत्ति के अनंतर नाश होने वाले है" ऐसा प्रमाणांतर से ज्ञात होने के कारण पदार्थ को विनाश शील मानते हैं । किसी प्रमाण से घटादि का उत्पत्ति अनतर विनाश जाना जाता है ऐसा उत्तर विकल्प अयुक्त होगा, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण से उत्पत्ति के अनंतर ही पदार्थ नष्ट होते हैं ऐसा जाना नहीं जाता । प्रथम

अथाहेतुकत्वेन ध्वंसस्य सदा सम्भवात्कालाद्यनपेक्षात: पदार्थोदयानन्तरमेव भाव:; नन्वेवमहेतुकत्वेन सर्वदा भावात्प्रथमक्षणे एवास्य भावानुषङ्गो नोदयानन्तरमेव। न ह्यनपेक्षत्वादहेतुक: क्वचित्कदाचिच्च भवति, तथाभावस्य सापेक्षत्वेनाहेतुकत्वविरोधिना सहेतुकत्वेन व्याप्तत्वात्, तथा सौगतैरप्यभ्युपगमात्।

ननु प्रथमक्षणे एव तेषां ध्वंसे सत्त्वस्यैवासम्भवात्कुतस्तत्प्रच्युतिलक्षणो ध्वंस: स्यात् ? तत: स्वहेतोरेवार्था ध्वंसस्वभावा: प्रादुर्भवन्ति; इत्यप्यविचारितरमणीयम्; यतो यदि भावहेतोरेव

विकल्प—लाठी आदि से घट आदि का नाश किया जाता है वह घट से भिन्न माने चाहे अभिन्न माने, दोनों तरह से बनता नहीं अत: घटादि का विनाश स्वयं होता है ऐसा यदि क्षणिक वादी का मंतव्य हो तो इससे "घटादि का विनाश लाठी आदि की अपेक्षा नहीं रखता" इतना ही सिद्ध होगा किन्तु उत्पत्ति के अनंतर तत्काल ही नाश होना सिद्ध नहो हो सकता। कहने का अभिप्राय यही है कि आप नाश को निर्हेतुक मानते हैं लाठी आदि हेतु से घटादिक नष्ट हुए ऐसा कहना आपको इष्ट नहीं है किन्तु ऐसे निर्हेतुक रूप विनाश को मान लेने पर भी आपका सिद्धांत—"घटादि पदार्थ उत्पत्ति के अनंतर तत्काल ही नष्ट होते हैं" सिद्ध नहीं होता है, देखिये—जो निर्हेतुक हो वह उत्पत्ति अनंतर नष्ट हो ऐसा नियम नहीं है, अश्व विषाण आदिक निर्हेतुक है किन्तु वह अश्व रूप पदार्थ के उत्पत्ति अनंतर ही होते हुए नहीं देखे जाते हैं।

बौद्ध—हम तो ऐसा मानते हैं कि नाश जब निर्हेतुक है अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखता है तो वह हमेशा होना संभव ही है अत: काल आदि की अपेक्षा किये बिना वह विनाश पदार्थ के उत्पत्ति अनंतर ही हो जाया करता है।

जैन—यदि ऐसी बात है तो अहेतुक होने के कारण सदा विद्यमान ऐसे उस विनाश को प्रथम क्षण में ही हो जाना चाहिये, उत्पत्ति के अनंतर ही होना तो बनता नही। जो अनपेक्ष होने से अहेतुक है वह किसी एक स्थान पर, किसी एक समय ही होता हो ऐसा नहीं बनता, क्योंकि जो कभी कभी किसी किसी स्थान पर मात्र होता है वह कालादि की अपेक्षा सहित होता है अत: वह अहेतुकपन का विरोधी सहेतुक से व्याप्त रहेगा। आप बौद्धो ने भी ऐसा ही स्वीकार किया है कि जो कभी कभी होता है वह निर्हेतुक नहीं होता किन्तु सापेक्ष होता है।

तत्प्रच्युतिः; तदा किमेकक्षणस्थायिभावहेतोस्तत्प्रच्युतिः, कालान्तरस्थायिभावहेतोर्वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः, एव (क) क्षणस्थायिभावहेतुत्वस्याऽद्याप्यसिद्धेः तत्कृतत्वं तत्प्रच्युतेरसिद्धमेव । द्वितीयपक्षे तु क्षणिकताऽभावानुषङ्गः ।

किञ्च, भावहेतोरेव तत्प्रच्युतिहेतुत्वे किमसौ भावजननात्प्राक्तत्प्रच्युतिं जनयति, उत्तरकालम्, समकालं वा ? प्रथमपक्षे प्रागभावः प्रच्युतिः स्यान्न प्रध्वंसाभावः । द्वितीयपक्षे तु भावो-

---

बौद्ध—प्रथम क्षण में ही विनाश हो जाना चाहिये ऐसा आपने कहा किन्तु पदार्थों का नाश प्रथम क्षण में ही होवेगा तो उनका सत्त्व ही असंभव है फिर सत्त्व की प्रच्युति रूप नाश कैसे होवे ? क्योंकि पदार्थ तो उत्पन्न ही नही हो पाये, अतः पदार्थ अपने हेतु से उत्पन्न होते हुवे नाश स्वभाव वाले ही उत्पन्न हुआ करते हैं, ऐसा हम मानते हैं ।

जैन—यह कथन अविचारित रमणीय है, आपने कहा कि पदार्थ अपने हेतु से उत्पन्न होते हुए नाश स्वभाव वाले ही उत्पन्न होते हैं सो पदार्थ की उत्पत्ति का जो हेतु है वही प्रच्युति–नाश का हेतु है ऐसा आपने स्वीकार किया है, इस पर हम जैन का प्रश्न है कि पदार्थ के उत्पत्ति का जो हेतु है वह एक क्षण स्थायी है या कालांतर स्थायी है जिससे कि प्रच्युति–नाश भी होना है ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि एक क्षण स्थायी पदार्थ हेतु रूप होना अभी तक सिद्ध नहीं है, अतः पदार्थ की उत्पत्ति का जो हेतु है वही प्रच्युति का हेतु है यह असिद्ध ही है । द्वितीय पक्ष–कालांतर स्थायी भाव हेतु पदार्थ की उत्पत्ति का कारण है ऐसा कहने पर पदार्थों की क्षणिकता सिद्ध नहीं होती है ।

दूसरी बात यह है कि भाव स्वभाव वाले जो हेतु हैं जैसे मिट्टी, चक्र आदि घट के उत्पत्ति के भाव स्वभाव हेतु हैं, इन्हीं से घटादि के नाश होता है ऐसा जो बौद्ध कहते हैं उसमें प्रश्न होता है कि वह भाव रूप हेतु पदार्थ को उत्पन्न करने के पहले उसके नाश को पैदा करते हैं अथवा उत्तरकाल में याकि समकाल में करते हैं ? प्रथम पक्ष–घटादि को उत्पन्न करने के पहले उसके नाश को पैदा करते हैं ऐसा कहो तो घटादि का जो प्रागभाव है वही नाश कहलायेगा, प्रध्वंसाभाव नहीं । द्वितीय पक्ष–घटोत्पत्ति

त्पत्तिवेलायां तत्प्रच्युतेरुत्पत्त्यभावान्न भावहेतुस्तद्धेतुः। तथा चोत्तरोत्तरकालभाविभावपरिणतिमपेक्ष्योत्पद्यमाना तत्प्रच्युतिः कथं भावोदयानन्तरं भाविनी स्यात्? तृतीयपक्षेपि भावोदयसमसमयभाविन्या तत्प्रच्युत्या सह भावस्यावस्थानाविरोधान्न कदाचिद्भावेन नष्टव्यम्। कथं चासौ मुद्गरादिव्यापारानन्तरमेवोपलभ्यमाना तदभावे चानुपलभ्यमाना तज्जन्या न स्यात्? अन्यत्रापि हेतुफलभावस्यान्वयव्यतिरेकानुविधानलक्षणत्वात्।

न च मुद्गरादीनां कपालसन्तत्युत्पादे एव व्यापार इत्यभिधातव्यम्; घटादेः स्वरूपेणाविकृतस्यावस्थाने पूर्ववदुपलब्ध्यादिप्रसङ्गात्। न चास्य तदा स्वयमेवाभावान्नोपलब्ध्यादिप्रसङ्गः; तदभावस्यापि तदैवोपलभ्यमानतयाऽन्यदा चानुपलभ्यमानतया कपालादिवत्तत्कार्यतानुषङ्गात्।

के उत्तर काल में भाव हेतु घटादि के नाश को उत्पन्न करते हैं, ऐसा कहो तो घट आदि के उत्पत्ति के समय में उसके नाश की उत्पत्ति नहीं होने के कारण भाव हेतु ही [उत्पत्ति का हेतु ही] नाश का हेतु है ऐसा कहना गलत ठहरता है। जब भाव हेतु [मिट्टी चक्रादि] नाश के हेतु रूप सिद्ध नहीं होते हैं तब जो नाश उत्तरोत्तर कालभावी पदार्थ की परिणति की अपेक्षा लेकर उत्पन्न होता है उस नाश को पदार्थ की उत्पत्ति के अनंतर ही होता है ऐसा किस प्रकार कह सकते हैं? तीसरा पक्ष–भाव हेतु पदार्थ की उत्पत्ति के समान काल में प्रच्युति को पैदा करते हैं ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि इस तरह तो पदार्थ की उत्पत्ति के समान काल में होने वाली प्रच्युति के साथ पदार्थ का अवस्थान होने में भी विरोध नहीं रहने से पदार्थ को कभी भी नष्ट नहीं होना चाहिये। आप घटादि पदार्थों का नाश लाठी आदि से नहीं होता है ऐसा कहते हैं किन्तु जब लाठी की चोट लगते ही घटादिक नष्ट होते हैं और नहीं लगने पर नष्ट नहीं होते हैं, तो किसप्रकार लाठी आदि द्वारा घटादि का नाश होना नहीं मानेंगे। क्योंकि घटादि का नाश होकर कपालादिको उत्पत्ति में भी कारण कार्य का अन्वय व्यतिरेक भाव देखा जाता है, अर्थात् लाठी की चोट लगे तो घट फूट कर कपाल बना [अन्वय] और लाठी आदि की चोट का निमित्त नहीं मिला तो घट फूटकर कपाल की उत्पत्ति नहीं हुई [व्यतिरेक] अतः घटादि पदार्थ के नाश के कारण लाठी आदिक है ऐसा सिद्ध होता है।

बौद्ध – घट आदि पदार्थ के नाश का कारण लाठी आदि नहीं है, लाठी आदिक तो मात्र कपाल [ठोकरे] की उत्पत्ति में कारण हुआ करते हैं।

अथ घट एव मुद्गरादिकं विनाशकारणत्वेन प्रसिद्धमपेक्ष्य समानक्षणान्तरोत्पादनेऽसमर्थं क्षणान्तरमुत्पादयति, तदप्यपेक्ष्य अपरमसमर्थतरम्, तदप्युत्तरमसमर्थतमम्, यावद्घटसन्ततेर्निवृत्तिरित्युच्यते; ननु चात्रापि घटक्षणस्यासमर्थक्षणान्तरोत्पादकत्वेनाभ्युपगतस्य मुद्गरादिना कश्चित्सामर्थ्यविघातो विधीयते वा, न वा? प्रथमविकल्पे कथमभावस्याहेतुकत्वम्? द्वितीयविकल्पे तु

जैन—यह कथन गलत है, यदि लाठी द्वारा घट का नाश नहीं होता है तो घटादि का स्वरूप लाठी के चोट के बाद भी जैसा का तैसा बना रहेगा, फिर उसकी पहले के समान उपलब्धि होना, जल भरने में काम आना इत्यादि क्यों नही होते हैं? होने चाहिये।

बौद्ध—लाठी आदि के सन्निधि में स्वयं ही घटादि का अभाव हो जाता है, अतः वह उपलब्ध नही हो पाता है।

जैन—यदि ऐसा कहेंगे तो घट का अभाव भी जब लाठी का व्यापार होता है तब उपलब्ध होता है और लाठी का व्यापार नहीं होने पर नही होता है इस तरह घटाभाव का कपाल के समान ही लाठी व्यापार के साथ अन्वय व्यतिरेक होने से उसका कार्य कहलाने लगेगा, अर्थात् जैसे कपाल की उत्पत्ति लाठी व्यापार के साथ अन्वय व्यतिरेक रखने से लाठी व्यापार का कार्य माना जाता है वैसे ही घट का अभाव भी लाठी व्यापार के साथ अन्वय व्यतिरेक रखता है अतः उसका कार्य माना जायगा। [फिर अभाव निर्हेतुक ही होता है ऐसा बौद्ध सिद्धांत गलत ठहरता है]

बौद्ध—घट विनाश के उत्पत्ति की प्रक्रिया इस प्रकार है—लाठी आदि लोक व्यवहार में घटादि के विनाश के कारण रूप से प्रसिद्ध है उसकी सहायता मात्र लेकर घट स्वयं ही नाश का कारण बनता है, प्रथम घट क्षण जो कि मिट्टी चक्र आदि से उत्पन्न हुआ है, वह समान क्षणान्तर को उत्पन्न करने में असमर्थ ऐसा दूसरा घट क्षण [घट] उत्पन्न करता है, पुनः वह द्वितीय घट क्षण भी उसकी [लाठी आदि की] अपेक्षा लेकर तीसरा असमर्थतर घट क्षण उत्पन्न करता है, फिर तीसरा भी चतुर्थ असमर्थतम घट क्षण को उत्पन्न करता है, यह कार्य तब तक चलता है जब तक कि घट सतति की निवृत्ति नही होती है। अभिप्राय यह है कि घट क्षण से आगे आगे

मुद्गरादिसन्निपाते तज्जनकस्वभावाऽव्याहतौ समर्थक्षणान्तरोत्पादप्रसङ्गः, समर्थक्षणान्तरजननस्वभावस्य भावात्प्राक्तनक्षणवत् ।

किञ्च, भावोत्पत्तेः प्रागभावस्याभावनिश्चये तदुत्पादककारणापादनं कुर्वन्तः प्रतीयन्ते प्रेक्षापूर्वकारिणः तदुत्पत्तौ च निवृत्तव्यापाराः, विनाशकहेतुव्यापारानन्तरं च शत्रुमित्रध्वंसे सुखदुःखभाजोऽनुभूयन्ते । न चानयोः सद्भावः सुखदुःखहेतुः, ततस्तद्व्यतिरिक्तोऽभावस्तद्धेतुरभ्युपगन्तव्यः ।

अशक्त–क्षीण क्षीण शक्ति वाले घट क्षण होते जाते हैं, और अंत में घट संतान का निरन्वय अभाव हो जाता है, इसमें घट का अभाव हुआ तो स्वयं ही किन्तु लाठी आदि की अपेक्षा मात्र लेकर हुआ अतः व्यवहार में कह देते है कि लाठी की चोट से घट का विनाश हुआ ।

जैन—यदि ऐसी बात है तो बताइये कि घट क्षण ही अन्य असमर्थ घट क्षण का उत्पादक है सो उस घट क्षण का लाठी द्वारा कुछ सामर्थ्य का विघात होता है कि नहीं, यदि होता है तो अभाव या नाश निर्हेतुक कहां रहा ? और यदि लाठी से घट क्षण के सामर्थ्य का विघात नही होता है ऐसा मानते हैं तो लाठी आदि के चोट लगने पर घट के क्षणांतर को उत्पन्न करने का स्वभाव अबाधित रह जाने से समर्थ अन्य घट क्षण को वह उत्पन्न कर सकता है क्योंकि उसमें समर्थ घट क्षण को उत्पन्न करने का स्वभाव मौजूद ही है, जैसे लाठी के चोट के पहले था । तथा घट आदि पदार्थ के उत्पत्ति के पहले उसका अभाव जब निश्चित मालूम रहता है तभी बुद्धिमान लोग उस घट आदि के उत्पादक कारणों को ग्रहण करते हुए देखे जाते हैं, एवं जब उनका घटोत्पत्ति आदि कार्य संपन्न हो जाता है तब वे उस कार्य से निवृत्त भी होते हुए देखे जाते हैं, घट आदि पदार्थ किसी को प्रिय होने से मित्रवत् हैं और किसी को अप्रिय होने से शत्रुवत् है अतः उस शत्रु मित्र रूप घटादि के विनाशक कारण–लाठी आदि के व्यापार के अनंतर किसी को सुख हर्ष और किसी पुरुष को दुःख होता है । शत्रु और मित्र स्वरूप इन घटों का सद्भाव तो सुख और दुःख का कारण नहीं हो सकता, अतः घटादि पदार्थ के अभाव का हेतु उन पदार्थ के अतिरिक्त कोई है ऐसा मानना चाहिये ।

किञ्च, अभावस्यार्थान्तरत्वानभ्युपगमे किं घट एव प्रध्वंसोऽभिधीयते, कपालानि, तदपरं पदार्थान्तरं वा ? प्रथमपक्षे घटस्वरूपेऽपरं नामान्तरं कृतम् । तत्स्वरूपस्य त्वविचलितत्वान्नित्यत्वानुषङ्गः । अथैकक्षणस्थायि घटस्वरूपं प्रध्वंसः, न; एकक्षणस्थायितया तद्रूपस्याद्याप्यप्रसिद्धेः । द्वितीयपक्षेपि प्राक्कपालोत्पत्तेः घटस्यावस्थितेः कालान्तरावस्थायित्वेवास्य, न क्षणिकता ।

किञ्च, कपालकाले 'सः, न' इति शब्दयोः किं भिन्नार्थत्वम्, अभिन्नार्थत्वं वा ? भिन्नार्थत्वे कथं न नञ्शब्दवाच्यः पदार्थान्तरमभावः ? अभिन्नार्थत्वे तु प्रागपि नञ्प्रयोगप्रसक्तिः । न चानुपलम्भे सति नञ्प्रयोग इत्यभिधातव्यम्; व्यवधानाद्यभावे स्वरूपादप्रच्युतार्थस्यानुपलम्भानुपपत्तेः । स्वरूपात्प्रच्युतौ वा कथं न कपालकाले मुद्गरादिहेतुकं भावान्तरं प्रच्युतिर्भवेत् ?

आप बौद्ध से हम जैन का प्रश्न है कि घट आदि पदार्थ से उसका अभाव [विनाश] अर्थान्तरभूत नहीं है ऐसा आप कहते हैं–सो विनाश किसे कहा जाय, घट को नाश कहेंगे कि कपाल–ठीकरों को नाश कहेंगे, अथवा अन्य ही पट आदि को नाश कहेंगे ? घट को ही नाश कहते हैं तो वह नाश घट का स्वरूप हुआ, उसीका प्रध्वंस या नाश यह नाम धरा, और जब प्रध्वंस घट का स्वरूप बना तो स्वरूप अचलित होता है अतः नित्य रहने का प्रसंग आयेगा ।

शंका – एक क्षण स्थायी घट का जो स्वरूप है उसे प्रध्वंस कहना चाहिये ?

समाधान – ऐसा नहीं कहना, घट का एक क्षण स्थायीपना अभी तक सिद्ध ही नहीं हुआ है । कपालों को प्रध्वंस कहते है ऐसा दूसरा पक्ष रखे तो कपालों की उत्पत्ति के पहले घट की अवस्थिति रह जाने से कालांतर तक घट का सद्भाव सिद्ध हुआ, इससे तो घट की क्षणिकता सिद्ध न होकर अक्षणिकता ही सिद्ध होती है ।

किंच, कपाल के काल में "वह" "नहीं" ऐसे दो शब्द हैं सो इन दोनों का भिन्न भिन्न अर्थ है अथवा अभिन्न–एक ही अर्थ है ? भिन्न भिन्न अर्थ है तो नञ शब्द का वाच्यभूत एक पृथक् पदार्थ रूप अभाव कैसे नहीं सिद्ध हुआ ? हुआ ही । 'वह' और 'नही', इन शब्दों का अभिन्न–एक अर्थ है ऐसा माने तो घटाभाव के पहले भी 'न' 'नही' शब्द का प्रयोग होने का प्रसंग आता है । अर्थात् घट मौजूद रहते हुए भी "घट नहीं है" ऐसा कहना होगा ।

अथ घटकपालव्यतिरिक्तं भावान्तरं घटप्रध्वंसः; नन्वत्रापि तेन सह घटस्य युगपद-वस्थानाविरोधात् कथं तत्तत्प्रध्वंसः ? अन्यथोत्पत्तिकालेपि तत्प्रध्वंसप्रसङ्गाद्घटस्योत्पत्तिरेव न स्यात् ।

अन्यानपेक्षतया चाग्नेरुष्णत्ववत्स्वभावतोऽभावस्य भावे स्थितेरपि स्वभावतो भावः किन्न स्यात् ? शक्यते हि तत्राप्येवं वक्तुं कालान्तरस्थायी स्वहेतोरेवोत्पन्नो भावो न तद्भावे भावान्तर-मपेक्षते अग्निरिवोष्णत्वे । भिन्नाभिन्नविकल्पस्य चाभाववत् स्थितावपि समानत्वात् तत्राप्यन्यानपेक्षया

शंका—जब घट उपलब्ध नहीं होगा तब 'न' नहीं शब्द का प्रयोग होगा, पहले से नहीं ?

समाधान—ऐसा नही कह सकते, जिसमें किसी प्रकार देश आदि का व्यवधान नही है, जो स्वरूप से च्युत भी नहीं हुआ है ऐसा यदि पदार्थ है तो वह अनुपलब्ध क्यों रहेगा ? वह तो उपलब्ध हो ही जायगा, मतलब दूर देशादि में भी घट नहीं है निकट में है, स्वरूप भी उसका नष्ट नहीं हुआ है तो वह दिखायी देना ही चाहिये । यदि घट, कपाल काल में स्वरूप से च्युत होता है ऐसा स्वीकार करते हैं, तब तो कपाल काल में लाठी आदि हेतु से घटादि का भावांतर रूप से हो जाना प्रच्युति या विनाश है यह सिद्ध हुआ ।

तीसरा पक्ष–घट तथा कपाल से पृथग्भूत पदार्थ को घट का प्रध्वंस कहते है ऐसा माने तो उसमें पुनः प्रश्न होता है कि पृथग्भूत पदार्थ स्वरूप उस घट के प्रध्वंस के साथ घट का युगपत् रहना अविरुद्ध होने से वह घट का प्रध्वंस कैसे करेगा ? यदि कर सकता है तो घट क्षण की उत्पत्ति काल में भी कर सकेगा । फिर तो घट की उत्पत्ति ही नही हो सकेगी ।

यदि अग्नि का उष्णत्व अन्य की अपेक्षा के बिना स्वभावतः है वैसे अभाव को स्वभावतः माना जाता है तो स्थिति-ध्रौव्य भी स्वभावतः पदार्थ में क्यों नहीं रह सकता ? स्थिति के विषय मे कह सकते हैं कि स्वहेतु से ही पदार्थ कालांतर तक ठहरने वाला उत्पन्न होता है [अर्थात् चिरकाल तक टिकने वाला पदार्थ उत्पन्न होता है न कि क्षणिक रूप उत्पन्न होता है] इसमें उसको अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती, जैसे अग्नि उष्ण रूप से स्वभावतः ही उत्पन्न होती है । जिस

निर्हेतुकत्वानुषङ्गः । तथाहि—न वस्तुनो व्यतिरिक्ता स्थितिस्तद्धेतुना क्रियते; तस्याऽस्थास्नुतापत्तेः । स्थितिसम्बन्धात्स्थास्नुता; इत्यप्ययुक्तम्; स्थितितद्वतोर्व्यतिरेकपक्षाभ्युपगमे तावत्तादात्म्यसम्बन्धोऽसङ्गतः । कार्यकारणभावोप्यनयोः सहभावादयुक्तः । असहभावे वा स्थितेः पूर्वं तत्कारणस्यास्थिति-प्रसंगः । स्थितेरपि स्वकारणादुत्तरकालमनाश्रयतानुषङ्गः । अव्यतिरिक्तस्थितिकरणे च हेतुवैयर्थ्यम् । ततः स्थितिस्वभावनियतार्थस्तद्भावं प्रत्यन्यानपेक्षत्वादिति स्थितम् ।

प्रकार आप अभाव या नाश के लिये प्रश्न करते हैं कि घट आदि पदार्थ का लाठी आदि से होने वाला अभाव घटादि से भिन्न है या अभिन्न ? भिन्न है तो घट का कुछ भी नही बिगड़ा, अभाव तो न्यारा पड़ा है, और घटाभाव घट से अभिन्न है तो उस लाठी की चोट ने घट को ही किया इत्यादि इसीलिये अभाव को निर्हेतुक मानना चाहिये । सो यह भिन्न अभिन्न के प्रश्न स्थिति के लिये भी कर सकते हैं, वे प्रश्न इस प्रकार हैं—पदार्थ को स्थिति अन्य हेतुक है तो वह भिन्न है कि अभिन्न ? भिन्न है तो वह स्थिति पदार्थ की नही कहलायेगी, और अभिन्न है तो उस हेतु ने पदार्थ को ही किया ऐसा अर्थ निकलता है अतः स्थिति को निर्हेतुक मानना चाहिये । इसी को आगे कहते हैं यदि वस्तु से व्यतिरिक्त स्थिति अन्य हेतु द्वारा की जाती है तो वस्तु अस्थिर–अस्थास्नु बन जायगी अर्थात् वस्तु एक क्षण भी टिकने वाली नहीं रहेगी ।

शका—वस्तु मे स्थिति का संबंध हो जाने से स्थास्नुता आ जाती है ।

समाधान – यह बात अयुक्त है, स्थिति और स्थितिमान् वस्तु इनमें भिन्नता स्वीकार करने पर प्रश्न होता है कि स्थिति और स्थितिमान् में कौनसा संबंध है, तादात्म्य संबंध तो हो नही सकता क्योंकि यह भिन्न वस्तु में नही होता है । कार्य कारण संबंध माने तो नहीं बनता, क्योंकि स्थिति और स्थितिमान् साथ रहने वाले हैं, साथ रहने वाले पदार्थों में कार्य कारण हो नही सकता जैसे गाय के दांये बांये सींगोंमे नही होता है । यदि स्थिति और स्थितिमान् मे सहभाव नहीं माना जाय तो स्थिति के पहले उसका कारण अस्थिति रूप बन जायगा ? और ऐसी परिस्थिति में स्थिति भी अपने उत्पत्ति कारण का उत्तर काल में आश्रय नहीं ले सकेगी । यदि वस्तु से अव्यतिरिक्त स्थिति को किया जाता है तो उसको हेतु की आवश्यकता नहीं रहती है, अर्थात् वस्तु से अभिन्न स्थिति को किसी कारण ने किया तो स्थितिमान्

अहेतुकविनाशाभ्युपगमे च उत्पादस्याप्यऽहेतुकत्वानुषङ्गो विनाशहेतुपक्षनिक्षिप्तविकल्पानामत्राप्यविशेषात्; तथा हि-उत्पादहेतुः स्वभावत एवोत्पित्सुं भावमुत्पादयति, अनुत्पित्सुं वा? आद्यविकल्पे तद्धेतुवैफल्यम् । द्वितीयविकल्पेपि अनुत्पित्सोरुत्पादे गगनाम्भोजादेरुत्पादप्रसङ्गः । स्वहेतुसन्निधेरेवोत्पित्सोरुत्पादाभ्युपगमे विनाशहेतुसन्निधानाद्विनश्वरस्य विनाशोप्यभ्युपगमनीयो न्यायस्य समानत्वात् ।

ततः कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ न सहेतुकाऽहेतुकौ कारणानन्तरं सहभावाद्रूपादिवत् । न चानयोः सहभावोऽसिद्धः; "नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः ।।" [ ]

वस्तु को ही किया ऐसा अर्थ निकलता है और वह वस्तु तो अपने हेतु से की जा चुकी है, अतः पुनः करना व्यर्थ ठहरता है । इसप्रकार स्थिति भी अभाव के समान निर्हेतुक सिद्ध होती है, अतः यह निश्चित हुआ कि घटादि यावन्मात्र पदार्थ स्थिति स्वभाव नियत ही हुआ करते हैं, क्योंकि अपने स्थिति स्वभाव के लिये उन्हें अन्य की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती ।

बौद्ध नाश को अहेतुक मानते हैं सो नाश की तरह उत्पाद को भी अहेतुक मानने का प्रसंग आता है, उत्पाद को अन्य हेतुक मानते हैं तो जैसे विनाश को अन्य हेतुक मानने के पक्ष में दोष आते है वैसे इसमें भी आयेंगे, अब उसीको बताते हैं– उत्पाद का कारण उत्पाद को उत्पन्न करता है सो स्वतः स्वभाव से ही उत्पन्न होने वाले पदार्थ को उत्पन्न करता है, या उत्पन्न नहीं होने के इच्छुक पदार्थ को उत्पन्न करता है ? प्रथम बात स्वीकार करते हैं तो उत्पाद का कारण मानना व्यर्थ ठहरता है, क्योंकि पदार्थ स्वतः स्वभाव से ही उत्पन्न हो जाते है । द्वितीय विकल्प–उत्पन्न नही होने वाले पदार्थ को उत्पादक कारण उत्पन्न करते हैं ऐसा माने तो नही उत्पन्न होने वाले आकाश पुष्प आदि को भी उत्पन्न करने का प्रसंग आता है । यदि कहो कि उत्पन्न होने वाले पदार्थ का हेतु जब निकट होता है तभी उस पदार्थ का उत्पाद होता है, तो इसी तरह विनाश का हेतु निकट होने पर ही विनश्वर पदार्थ का विनाश होता है ऐसा मानना चाहिये । क्योंकि न्याय तो समान होता है । जो न्याय उत्पाद के विषय में लागू करते हैं वही व्यय, नाश, अभाव या प्रच्युति के विषय में करना चाहिये ।

इत्यभिधानात् । न चाहेतुकेन पर्यायसहभाविना द्रव्येणानेकान्त:; 'कारणानन्तरम्' इति विशेषणात् । न चैवमसिद्धत्वम्; मुद्गरादिव्यापारानन्तर कार्योत्पादवत्कारणविनाशस्यापि प्रतीतेः, 'विनष्टो घटः, उत्पन्नानि कपालानि' इति व्यवहारद्वयदर्शनात् । न च साध्यविकलमुदाहरणम्; न हि कारणभूतो रूपादिकलाप: कार्यभूतस्य रूपस्यैव हेतुर्न तु रसादेरिति प्रतीतिः । नाप्यसहभावो रूपादीनां येन साधनविकलं स्यात् । तन्नोक्तहेतोरर्थानां क्षणक्षयावसायः ।

इसप्रकार बौद्धाभिमत निर्हेतुक विनाश सिद्ध नहीं हो पाता है, इसलिये कार्य-कारण का उत्पाद विनाश न सहेतुक मानना चाहिये न निर्हेतुक ही, क्योंकि कारण के अनंतर इनमें सहभाव देखा जाता है, जिसमें सहभाव रहता है वे सहेतुक या निर्हेतुक-पने से उत्पन्न नही होते, जैसे रूप आदि में सहभाव होने से वे सहेतुकादि स्वभाव से उत्पन्न नहीं होते हैं । नाश और उत्पाद में सहभावीपन असिद्ध भी नही है—"नाशोत्पादौ सम यद् वद् नामोन्नामौ तुलांतयो:" जिसप्रकार तराजू के दो पलड़ों में ऊँचापन और नीचापन एक साथ होता है उसीप्रकार पदार्थ में नाश और उत्पाद एक साथ होते हैं । ऐसा सिद्धांत है । "कारणांतरं सहभावात्" यह हेतु अहेतुक ऐसे पर्याय सहभावी द्रव्य के साथ व्यभिचरित भी नही होता है अर्थात् द्रव्य और पर्याय सहभावी होकर भी अहेतुक है अतः जो सहभावी हो वह अहेतुक सहेतुक नही होता ऐसा कथन गलत ठहरता है, इसतरह की आशंका भी नही करना, क्योंकि "सहभावात्" हेतु में "कारणानंतरम्" यह विशेषण जुडा हुआ है, पर्याय सहभावी द्रव्य कारणांतर सहभावी नही होता अतः अहेतुक है । इस हेतु में असिद्धपना भी नही है, लाठी आदि के व्यापार के अनंतर जैसे कपाल रूप कार्य का उत्पाद होता हुआ प्रसिद्ध है वैसे घट रूप कारण का विनाश भी उसी कारण के अनंतर होता हुआ प्रतीत होता है । जैसे ही लाठी आदि की चोट लगी वैसे ही घट फूट गया, ठीकरे हो गये, इस प्रकार दो तरह का व्यवहार देखा जाता है । "रूपादिवत्" यह दृष्टांत भी साध्य विकल नहीं है, कारणभूत रूपादि कलाप केवल कार्यभूत रूप का ही हेतु होवे और रस गंध आदि का नही होवे ऐसा प्रतीत नहीं होता है । रूप रस आदि में असहभाव [क्रमभाव] हो सो भी बात नहीं जिससे कि दृष्टांत साधन विकल कहलावे इसलिये पहले जो "तत् स्वभावत्वे सति अन्य निरपेक्षत्वात्" ऐसा हेतु बौद्ध ने प्रस्तुत किया था वह घट आदि पदार्थो के क्षणक्षयीपने को सिद्ध नहीं कर सकता है ।

नापि सत्वात्; प्रतिबन्धासिद्धे:। न च विद्युदादौ सत्वक्षणिकत्वयोः प्रत्यक्षत एव प्रतिबन्धसिद्धेर्घटादौ सत्वमुपलभ्यमानं क्षणिकत्वं गमयति इत्यभिधातव्यम्; तत्राप्यनयोः प्रतिबन्धासिद्धे:। विद्युदादौ हि मध्ये स्थितिदर्शनं पूर्वोत्तरपरिणामौ प्रसाधयति। न हि विद्युदादेरनुपादानोत्पत्तियुक्तिमती; प्रथमचैतन्यस्याप्यनुपादानोत्पत्तिप्रसङ्गतः परलोकाभावानुषङ्गात्, विद्युदादिवत्तत्रापि प्रागुपादानाऽदर्शनात्। न चानुमीयमानमत्रोपादानम्; विद्युदादावपि तथात्वानुषङ्गात्।

पदार्थों की क्षणिकता "सत्वात्" हेतु से भी सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि उसका क्षणिकत्व के साथ अविनाभाव नहीं है।

बौद्ध—विद्युत् आदि पदार्थों में सत्त्वपना और क्षणिकपने का अविनाभाव प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है, अतः वहां के अविनाभाव को देखकर घट आदि में सत्व की उपलब्धि से क्षणिकत्व को भी सिद्ध करते हैं। अर्थात् बिजली आदि में सत्व और क्षणिकत्व साथ था अतः घट आदि में भी क्षणिकत्व होना चाहिये क्योंकि सत्व साक्षात् दिखायी दे रहा है तो उसका अविनाभावी क्षणिकत्व भी अवश्य होना चाहिये।

जैन—यह कथन गलत है, बिजली आदि पदार्थ में भी सत्व और क्षणिकत्व का अविनाभाव असिद्ध ही है, क्योंकि बिजली आदि की बीच में जो स्थिति देखी जाती है वह पूर्व और उत्तर परिणामों को सिद्ध करती है अर्थात् विद्युत आदि पदार्थ पहले दिखायी देते है फिर नष्ट होते हैं यह सब बीच में कुछ समय स्थिति रहने पर ही संभव हो सकता है जब बिजली आदि पदार्थ कुछ काल तक रहते हैं तो "सभी पदार्थ क्षणिक हैं क्योंकि सत्व रूप हैं, जैसे बिजली आदि पदार्थ सत्व रूप होकर क्षणिक होते हैं" इस तरह के अनुमान में वे उदाहरण भूत कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते।

बिजली आदि पदार्थ बिना उपादान के उत्पन्न होते हैं ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, यदि बिजली आदि की बिना उपादान की उत्पत्ति मानेंगे तो चार्वाक के अभिमत प्रथम चैतन्य की उपादान के बिना उत्पत्ति होना सिद्ध होवेगा फिर परलोक का अभाव मानना होगा क्योंकि विद्युत आदि का पहले कुछ भी उपादान कारण दिखायी नहीं देता वैसे चैतन्य का भी दिखायी नहीं देता है। तुम कहो कि चैतन्य का उपादान अनुमान से सिद्ध हो जाता है तो विद्युत आदि का उपादान भी अनुमान से सिद्ध हो सकता है।

नाप्यस्य निरन्वया सन्तानोच्छित्तिः, चरमक्षणस्याकिञ्चित्करत्वेनावस्तुत्वापत्तितः पूर्वपूर्वक्षणानामप्यवस्तुत्वापत्तेः सकलसन्तानाभावप्रसङ्गः। विद्युदादेः सजातीयकार्याकरणेपि योगिज्ञानस्य करणान्नावस्तुत्वमिति चेत्; न; आस्वाद्यमानरससमानकालरूपोपादानस्य रूपाकरणेपि रससहकारित्वप्रसङ्गात्। ततो रसाद्रूपानुमानं न स्यात्। 'तथा दृष्टत्वान्न दोषः' इत्यन्यत्रापि समानम्, विद्युच्छब्दादेरपि विद्युच्छब्दाद्यन्तरोपलम्भात्।

न चैकत्र सत्वक्षणिकत्वयोः सहभावोपलम्भात्सर्वत्र ततस्तदनुमानं युक्तम्; अन्यथा सुवर्णे सत्त्वादेव शुक्लतानुमितिप्रसङ्गः, शुक्ले शङ्खे शुक्लतया तत्सहभावोपलम्भात्। अथ सुवर्णाकारनिर्भासि-

---

आत्मा का निरन्वय संतति उच्छेद होना भी नहीं मानना चाहिये, यदि मानेंगे तो उसका जो चरम क्षण है वह अकिंचित्कर ठहरता है क्योंकि उसने अग्रिम क्षण को उत्पन्न नही किया है, जब वह अकिंचित्कर है तो अवस्तु ही कहलाया, और अवस्तु रूप है तो जितने भी पूर्व पूर्ववर्त्ती चित्तक्षण है वे सब अवस्तु रूप बन जायेंगे। फिर तो सकल संतान ही शून्य–अभाव रूप हो जायेगे।

शका—विद्युत आदि पदार्थ सजातीय कार्य [अन्य विद्युत क्षण] को भले ही नहीं करे किन्तु योगी के ज्ञान को तो करते ही हैं, अतः वे अवस्तु नही कहलाते हैं।

समाधान—ऐसा नही कहना, सजातीय कार्य नही करने वाले को भी कारण माना जाय तो आस्वादन में आया हुआ जो रस है उसके समान काल में होने वाला रूप उत्तरकालीन रूप क्षण को उत्पन्न नहीं करता है तो भी उसे रस का सहकारी कारण मानना होगा ? फिर रस से रूप का अनुमान होना अशक्य है। कोई कहे कि रस हेतु से रूप का अनुमान होता हुआ साक्षात् उपलब्ध है अतः उसको मानने में कोई दोष नही है। सो यह बात अन्यत्र भी है, विद्युत, शब्द आदि पदार्थ से अन्य विद्युत शब्दांतर होते हुए उपलब्ध हैं।

बौद्ध ने कहा कि विद्युत आदि में सत्व–अस्तित्व और क्षणिकत्व एक साथ एकत्र देखा जाता है अतः घट आदि में सत्व को देखकर क्षणिकत्व को भी उसीमें सिद्ध करते है। किन्तु एक किसी जगह इनका सहभाव देखकर सब जगह वैसा ही अनुमान लगाना युक्त नहीं है, अन्यथा सुवर्ण में सत्व को देखकर शुक्लता का

प्रत्यक्षेण शुक्लत्वानुमानस्य बाधितत्वान्न तत्र शुक्लतासिद्धिः, तर्हि घटादौ क्षणिकत्वानुमानस्य 'स एवायम्' इत्येकत्वप्रतिभासेन बाधितत्वात्प्रतिक्षणविनाशितासिद्धिर्न स्यात् ।

अथैकत्वप्रत्यभिज्ञा भिन्नेष्वपि लूनपुनर्जातनखकेशादिष्वभेदमुल्लिखन्ती प्रतीयत इत्येकत्वे नाऽसौ प्रमाणम्; नन्वेवं कामलोपहताक्षाणां धवलिमामाबिभ्राणेष्वपि पदार्थेषु पीताकारनिर्भासि-

---

अनुमान लगाना पड़ेगा ? क्योंकि शख में शुक्लता के साथ सत्व को देखा है अतः जहां सत्व है वहा शुक्लता है ऐसा भी अनुमान करने लग जायेंगे ।

शंका—सुवर्ण में शुक्लता को सिद्ध करने वाला अनुमान साक्षात् सुवर्ण के [पीले] आकार से प्रतिभासित हुए प्रत्यक्ष से बाधित है अतः उस अनुमान से सुवर्ण में शुक्लपना सिद्ध नही हो सकता है ?

समाधान— तो फिर यही बात घट आदि पदार्थ के विषय में माननी होगी घट आदि को क्षणिक रूप सिद्ध करने वाला अनुमान "यह वही घट है जिसे मैंने पहले देखा था" इत्यादि प्रतिभास द्वारा बाधित होता हुआ देखा ही जाता है, अतः उस अनुमान द्वारा उन पदार्थों का प्रतिक्षण विनाशपना सिद्ध नही हो सकता है ।

बौद्ध—यह वही है इत्यादि एकत्व रूप जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह काट कर पुनः उत्पन्न हुए नख केश आदि भिन्न भिन्न पदार्थों में भी "यह वही नख है" इत्यादि एकत्व का प्रतिभास कराता है अतः एकत्व के विषय में वह प्रतीति प्रमाण-भूत नही है ।

जैन—इस तरह एक जगह एकत्व की प्रतीति प्रमाण भूत नहीं होने से सब जगह ही उसको अप्रमाण माना जायगा तो बड़ा भारी दोष होगा देखिये ! किसी पीलिया नेत्र रोगी को सफेद रंग वाले पदार्थो मे पीत आकार को [पीत रंग को बतलाने वाला] प्रतीति कराने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह बाधित होता है अतः अप्रमाण है, इसलिये वास्तविक पीत वस्तु–सुवर्ण आदि में पीताकार प्रतीति कराने वाला ज्ञान भी अप्रमाणभूत कहलायेगा । क्योंकि वह एक जगह बाधित हो चुका है । जैसे आपने एकत्व का ज्ञान नख केशादि में बाधित होता देख सब जगह अप्रमाण-भूत माना है ।

प्रत्यक्षमुदेतीति सत्यपीताकारेऽपि न तत्प्रमाणम् । भ्रान्तादभ्रान्तस्य विशेषोऽन्यत्रापि समानः। प्रसाधितं च प्रत्यभिज्ञानस्याभ्रान्तत्वं प्रागित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

अथ विपक्षे बाधकप्रमाणबलात्सत्त्वक्षणिकत्वयोरविनाभावोवगम्यते । ननु तत्र सत्त्वस्य बाधकं प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा स्यात् ? न तावत्प्रत्यक्षम्; तत्र क्षणिकत्वस्याप्रतिभासनात् । न चाप्रतिभासमानक्षणक्षयस्वरूपं प्रत्यक्षं विपक्षाद्व्यावर्त्य सत्त्वं क्षणिकत्वनियतमादर्शयितुं समर्थम् । अथानुमानेन तत्ततो व्यावर्त्य क्षणिकनियततया साध्येत; ननु तदनुमानेऽप्यविनाभावस्यानुमानबलात्प्रसिद्धिः, तथा चानवस्था । न च तद्बाधकमनुमानमस्ति ।

बौद्ध—भ्रान्त ज्ञान से अभ्रान्त ज्ञान विशेष ही हुआ करता है अतः भ्रान्त ज्ञान बाधित होने पर भी अभ्रान्त ज्ञान को बाधित नहीं मानते है ।

जैन—यह बात तो एकत्व ज्ञान के विषय में भी है वह भी कहीं नख केशादि विषय में भ्रान्त होते हुए भी घट–देवदत्त आदि विषयों में अभ्रान्त ही है, प्रत्यभिज्ञान अभ्रान्त–सत्य होता है इस बात की सिद्धि पहले [तीसरे परिच्छेद में] ही कर आये हैं अतः यहां अधिक नहीं कहते हैं ।

शका—विपक्ष में बाधक प्रमाण को देखकर क्षणिकत्व और सत्व में अविनाभाव सिद्ध किया जाता है, अर्थात् पहले सत्व को क्षणिकत्व के साथ देखा था अतः यह सत्व क्षणिकत्व का विपक्ष अक्षणिक–नित्य में नहीं रह सकता । इस प्रकार दोनों का अविनाभाव सिद्ध करते हैं ?

समाधान—अक्षणिक में सत्व नहीं रहता "इस तरह कहने वाला बाधक प्रमाण कौनसा होगा, प्रत्यक्ष या अनुमान ? प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष में तो क्षणिक रूप वस्तु प्रतीत ही नहीं होती, जिसमें पदार्थ का क्षणक्षयीपना प्रतिभासित ही नहीं होता है वह प्रत्यक्ष सत्व को विपक्ष भूत अक्षणिकत्व से हटाकर क्षणिकत्व में ही नियत करने को समर्थ नहीं हो सकता है । अनुमान प्रमाण बाधक है वह सत्व को विपक्षभूत अक्षणिकत्व से हटाकर क्षणिकत्व में नियत कर देता है, ऐसा कहो तो वह "सर्वं क्षणिकं सत्वात्" जो अनुमान है उसके साध्य साधन के अविनाभाव को भी सिद्ध करना होगा अतः दूसरा अनुमान चाहिये, पुनः उसके

ननु 'यत्र क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधो न तत्सत् यथा गगनाम्भोरुहम्, अस्ति च नित्ये स:' इत्यतोनुमानात्ततो व्यावर्त्तमानं सत्त्वमनित्ये एवावतिष्ठत इत्यवसीयते; तन्न; सत्त्वाऽक्षणिकत्वयोर्विरोधाऽसिद्धेः । विरोधो हि सहानवस्थानलक्षणः, परस्परपरिहारस्थितिलक्षणो वा स्यात् ? न तावदाद्यः, स हि पदार्थस्य पूर्वमुपलम्भे पश्चात्पदार्थान्तरसद्भावादभावावगतौ निश्चीयते शीतोष्णवत् । न च नित्यत्वस्योपलम्भोस्ति सत्त्वप्रसङ्गात् । नापि द्वितीयो विरोधस्तयोः सम्भवति; नित्यत्वपरिहारेण सत्त्वस्य तत्परिहारेण वा नित्यत्वस्यानवस्थानात् । 'क्षणिकतापरिहारेण ह्यक्षणिकता व्यवस्थिता तत्परिहारेण च क्षणिकता' इत्यनयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणो विरोधः । न चार्थक्रियालक्षणसत्त्वस्य क्षणिकतया व्याप्तत्वान्नित्येन विरोधः; अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्-

---

अविनाभावसिद्धि को तीसरा चाहिये, इस तरह अनवस्था फैलेगी, तथा अक्षणिक में सत्व को बाधा देने वाला अनुमान भी नहीं है ।

बौद्ध— जहां पर क्रम तथा युगपत् रूप से अर्थ क्रिया नही होती वह सत् नहीं है, जैसे आकाश पुष्प में अर्थ क्रिया नहीं होने से सत्व नही रहता है, नित्य–अक्षणिक में भी अर्थ क्रिया का विरोध है अतः उसमें सत्व नही रहता है, इस अनुमान से अक्षणिक से सत्व व्यावृत्त होकर अनित्य–क्षणिक में ही रहता है ऐसा सिद्ध होता है ।

जैन—यह कथन गलत है, सत्व और अक्षणिक [नित्य] में विरोध की असिद्धि है । विरोध दो प्रकार का है सहानवस्थान विरोध और परस्पर परिहार स्थिति विरोध, इनमें से सहानवस्थान नामा विरोध तो सत्व और क्षणिक में हो नही सकता, क्योंकि वह तो पहले पदार्थ का उपलभ हो पीछे अन्य पदार्थ के सद्भाव से उस प्रथम पदार्थ के अभाव को देखकर निश्चित होता है, जैसे शीत और उष्ण में होता है । किन्तु ऐसा नित्य का उपलंभ होना आप मान नही सकते अन्यथा आपके यहां नित्य में सत्व मानने का प्रसंग आयेगा । परस्पर परिहार स्थिति वाला विरोध भी सत्व और अक्षणिकत्व में दिखायी नहीं देता है, इससे विपरीत नित्य का परिहार करके सत्व और सत्व का परिहार करके नित्य रहता ही नहीं । क्षणिकता का परिहार करके अक्षणिकता और अक्षणिकता का परिहार करके क्षणिकता रहती है अतः इनमें परस्पर परिहार स्थिति नामा विरोध होता है ।

अर्थक्रियालक्षणं सत्वं क्षणिकतया व्याप्तं नित्यताविरोधात्सिध्यति, सोप्यस्य क्षणिकतया व्याप्तेरिति ।

ननु च अर्थक्रियायाः क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्तत्वात्तयोश्चाक्षणिकेऽसम्भवात्कुतः क्रमवत्यर्थक्रिया नित्ये सम्भविनी ? न च सहकारिक्रमान्नित्ये क्रमवत्यप्यसौ सम्भवति; अस्योपकारकानु-

---

बौद्ध—अर्थ क्रिया है लक्षण जिसका ऐसे सत्व की व्याप्ति क्षणिकत्व साथ है अतः सत्व का नित्य के साथ विरोध है।

जैन—इस तरह से तो अन्योन्याश्रय दोष आयेगा–अर्थ क्रिया लक्षण वाले सत्व की क्षणिकत्व के साथ व्याप्ति तो नित्यता के विरोध से सिद्ध होगी और नित्य के साथ विरोध की सिद्धि सत्व के क्षणिकत्व व्याप्ति से होगी, इस तरह दोनों ही असिद्ध रह जाते है।

भावार्थ—सत्व-सत्ता या अस्तित्व और क्षणिकत्व का अविनाभाव सिद्ध करने के लिये बौद्ध ने विद्युत् का उदाहरण प्रस्तुत किया है कि जिस प्रकार विद्युत आदि पदार्थ क्षण मात्र मे रहकर नष्ट हो जाते हैं वैसे ही संसार भर के यावन्मात्र घट पट आत्मा आदि पदार्थ हैं वे सब क्षणिक हैं । विद्युत आदि में जो सत्व या सत्ता रूप धर्म था वह क्षणिकत्व के साथ देखा गया था, अतः घट आदि पदार्थ में जो सत्व दिखायी देता है वह भी क्षणिकत्व साथ ही रहना चाहिये, उन घटादि में क्षणिकत्व की सिद्धि अनुमान से 'सर्वं क्षणिकं सत्वात्' करते है किन्तु आचार्य ने इस अनुमान को प्रत्यक्ष बाधित सिद्ध किया है, एवं उसमें क्षणिकत्व का अविनाभावी सत्व सिद्ध करने का प्रयत्न असफल है ऐसा बतलाया है । विद्युत आदि पदार्थ भी सर्वथा क्षणिक नहीं हैं–क्षण मात्र रहने वाले नही हैं अपितु अनेक क्षण तक रहने वाले हैं न ये पदार्थ उपादान रहित है और न निरन्वय विनाशी हैं। पदार्थ को नित्य मानेंगे तो वह कूटस्थ हो जाने से उसमें क्रम से या युगपत् अर्थ क्रिया नहीं हो सकती अतः पदार्थ क्षणिक है ऐसा बौद्ध का कहना भी अन्योन्याश्रय दोष से भरा है, इस तरह क्षणिकत्व सिद्धि नहीं होती है।

बौद्ध—अर्थ क्रिया की व्याप्ति क्रम और युगपत् के साथ है और वे नित्य में हो नहीं सकते, कैसे सो बताते हैं–क्रमिक अर्थ क्रिया नित्य में होना तो असंभव

पकारकपक्षयो: सहकार्यपेक्षाया एवासम्भवात् । नापि यौगपद्येनासौ नित्ये सम्भवति; पूर्वोत्तर-कार्ययोरेकक्षण एवोत्पत्तेर्द्वितीयक्षणे तस्यानर्थक्रियाकारित्वेनावस्तुत्वप्रसङ्गात्; इत्यप्यसारम्; एकान्तनित्यवदऽनित्येपि क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाऽसम्भवात्, तस्या: कथञ्चिन्नित्ये एव सम्भवात्, तत्र क्रमाक्रमवृत्त्यनेकस्वभावत्वप्रसिद्धे:, अन्यत्र तु तत्स्वभावत्वाप्रसिद्धे: पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानान्वितरूपाभावात्, सकृदनेकशक्त्यात्मकत्वाभावाच्च । न खलु कूटस्थेर्थे पूर्वोत्तरस्वभावत्यागोपादाने स्त:, क्षणिके चान्वितं रूपमस्ति, यत: क्रम: कालकृतो देशकृतो वा । नापि युगपदनेकस्वभावत्व यतो यौगपद्यं स्यात्, कौटस्थ्यविरोधान्निरन्वयविनाशित्वव्याघाताच्च ।

ही है सहकारी कारण क्रम से मिलते हैं अतः नित्य में क्रमशः अर्थ क्रिया हो सकती है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि नित्य वस्तु के सहकारी कारण उपकारक भी नहीं हो सकते और अनुपकारक भी नहीं हो सकते, [उपकारक तो तब बने जब नित्य में परिवर्तन होवे, और अनुपकारक सहकारी कारण नित्य में अर्थ क्रिया की शक्ति ला नही सकते, क्योंकि वे तो नित्य से पृथक् हैं] नित्य मे सहकारी की अपेक्षा होना ही दुर्लभ है । युगपत् अर्थ क्रिया भी नित्य में होना शक्य नहीं, नित्य में यदि अर्थ क्रिया की सामर्थ्य युगपत् है तो पूर्व कार्य और उत्तर कार्य एक ही क्षण में संपन्न हो जायगा, फिर द्वितीय क्षण में अर्थ क्रियाकारी नहीं होने से नित्य अवस्तु ही कहलायेगा ।

जैन— यह कथन असार है, यह सब बाधा एकांत नित्य में आती है और जैसे एकान्त नित्य में क्रम तथा युगपत् अर्थ क्रिया होना असंभव है वैसे ही अनित्य के एकांत पक्ष में भी क्रमिक या युगपत् अर्थ क्रिया का होना असंभव है, अर्थ क्रिया तो कथंचित् नित्य पदार्थ में ही हो सकती है, क्योंकि उसमें क्रमवर्त्ती स्वभाव [पर्याय] और अक्रमवर्त्ती अनेकों स्वभाव [गुण] पाये जाते है, सर्वथा क्षणिक आदि में ऐसे स्वभावों की सिद्धि नही हो सकती, क्योंकि जो वस्तु सर्वथा क्षणिक है उसमें पूर्व स्वभाव का त्याग और उत्तर स्वभाव को ग्रहण करनेवाला अन्वयपना नहीं रहता और एक साथ अनेक शक्तियां भी नहीं रह सकती । कूटस्थ नित्य पदार्थ में पूर्व स्वभाव का त्याग और उत्तर स्वभाव का ग्रहण संभव नहीं और सर्वथा क्षणिक पदार्थ में अन्वयपना संभव नहीं है, उस कारण से सर्वथा क्षणिक या कूटस्थ पदार्थ में देशकृत क्रम और काल कृत क्रम बन नहीं सकता । अर्थात् देशकृत क्रम—एक देश से अन्य देश

किञ्च, क्षणिकं वस्तु विनष्टं सत्कार्यमुत्पादयति, अविनष्टम्, उभयरूपम्, अनुभयरूपं वा ? न तावद्विनष्टम्; चिरतरनष्टस्येवानन्तरनष्टस्याप्यसत्त्वेन जनकत्वविरोधात्। नाप्यविनष्टम्; क्षणभङ्गभङ्गप्रसङ्गात् सकलशून्यतानुषङ्गाद्वा, सकलकार्याणामेकदैवोत्पद्य विनाशात्। नाप्युभयरूपम्; निरंशैकस्वभावस्य विरुद्धोभयरूपासम्भवात्। नाप्यनुभयरूपम्; अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकनिषेधस्यापरविधाननान्तरीयकत्वेनानुभयरूपत्वायोगात्।

में जाना, व्याप्त होना इत्यादि एवं काल कृत क्रम–क्रमशः अनेक समयों में व्याप्त होकर रहना इत्यादि क्रम या क्रमिक अर्थ क्रिया सर्वथा क्षणिकादि पदार्थ में नही है। सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक वस्तु में युगपत् अनेक स्वभावपना भी सिद्ध नही होता है जिससे युगपत् अर्थ क्रिया हो सके। यदि वस्तु में देशादि क्रम स्वीकार करते हैं तो वह कूटस्थ नित्य नहीं कहलाती और कालादि कृत क्रम या अनेक स्वभावत्व इत्यादि वस्तु में मानते है तो उसके निरन्वय विनाशपना [क्षणिकपना] सिद्ध नही होता है। इस तरह सर्वथा नित्य और सर्वथा क्षणिक रूप वस्तु मे अर्थ क्रिया सिद्ध नही होती है।

बौद्ध से जैन का प्रश्न है कि वस्तु सर्वथा क्षणिक है ऐसा आप कहते हैं वह क्षणिक वस्तु कार्य को कब उत्पन्न करेगी, नष्ट होकर करेगी, कि अविनष्ट रहकर, उभयरूप से या कि अनुभय रूप से। नष्ट होकर तो कर नही सकती, क्योंकि जिस तरह चिर काल की नष्ट हुई वस्तु असत् होने मे कार्य को उत्पन्न नही करती है उसी तरह अनतर समय में नष्ट हुई वस्तु भी असत् होने से कार्योत्पादक नही हो सकती है। अविनष्ट–बिना नष्ट हुए ही वस्तु कार्योत्पादक बनती है ऐसा दूसरा विकल्प कहे तो क्षणभगवाद ही भंग–नष्ट हो जायेगा। अथवा सकल शून्यपने का प्रसंग उपस्थित होगा, क्योंकि संपूर्ण कार्य एक काल में हो उत्पन्न होकर नष्ट हो जायेगे। उभयरूप–नष्ट और अविनष्ट दोनो रूप होकर वस्तु कार्य को करती है ऐसा कहना ही अशक्य है, क्योंकि निरंश, एक स्वभाव वाली वस्तु में विरुद्ध दो धर्म रहना असिद्ध है। अनुभय रूप वस्तु अर्थात् नष्ट तथा अविनष्ट न होकर कार्य को उत्पन्न करती है ऐसा पक्ष भी गलत है, जो एक दूसरे का व्यवच्छेद करके रहते हैं उनमें से एक का निषेध करने पर अन्य का विधान अवश्य हो जाता है, अतः वस्तु में नष्ट और अविनष्ट का अनुभयपना असंभव ही है।

कथं च निरन्वयनाशित्वे कारणस्योपादानसहकारित्वस्य व्यवस्था तत्स्वरूपापरिज्ञानात्? उपादानकारणस्य हि स्वरूपं किं स्वसन्ततिनिवृत्तौ कार्यजनकत्वम्, यथा मृत्पिण्डः स्वयं निवर्तमानो घटमुत्पादयति, आहोस्विदनेकस्मादुत्पद्यमाने कार्ये स्वगतविशेषाधायकत्वम्, समनन्तरप्रत्ययत्वमात्रं वा स्यात्, नियमवदन्वयव्यतिरेकानुविधानं वा? प्रथमपक्षे कथञ्चित्सन्ताननिवृत्तिः, सर्वथा वा? कथञ्चिच्चेत्; परमतप्रसङ्गः। सर्वथा चेत्; परलोकाभावानुषङ्गो ज्ञानसन्तानस्य सर्वथा निवृत्तेः।

यह भी एक जटिल प्रश्न है कि बौद्ध मत में वस्तु निरन्वय–समूल चूल क्षणमात्र में नष्ट हो जाती है तो उसमें कारण के उपादान और सहकारीपने की व्यवस्था कैसे हो सकेगी, क्योंकि क्षणिक वस्तु का परिज्ञान या उसके उपादान तथा सहकारीपने का परिज्ञान तो हो नहीं सकता। बौद्ध ही बतावे कि उपादान का लक्षण क्या है, स्व संतति की निवृत्ति होने पर कार्य को उत्पन्न करना उपादान कारण कहलाता है, जैसे कि मिट्टी का पिंड स्वयं निवृत्त होता हुआ घट को उत्पन्न करता है, अथवा अनेक कारण से उत्पन्न हो रहे कार्य में अपने में होने वाला विशेष डालना, या समनंतर प्रत्यय मात्र होना, याकि नियम से कार्य के साथ अन्वय व्यतिरेकानुविधान होना? प्रथम पक्ष–स्वसंतति के निवृत्त होने पर कार्य को उत्पन्न करना उपादान कारण है ऐसा कहो तो पुनः प्रश्न होता है कि कथंचित् [पर्याय रूप से] संतान निवृत्ति होती है अथवा सर्वथा [द्रव्यरूप से भी] संतान निवृत्ति होती है? कथंचित् कहने से तो बौद्ध का परमत में–जैनमत में प्रवेश हो जाता है, और सर्वथा कहते है तो परलोक का अभाव होता है, क्योंकि ज्ञान रूप संतान का सर्वथा नाश होना स्वीकार किया है।

भावार्थ—उपादान कारण का लक्षण बौद्ध से जैन पूछ रहे हैं चार तरह से उसका लक्षण हो सकता है ऐसा बौद्ध से कहा है, स्व संतान के निवृत्त होने पर कार्य को पैदा करना, उपादान कारण है, अथवा अनेक कारण से उत्पन्न हो रहे कार्य में विशेषता लाना, या समनंतर प्रत्यय मात्र होना याकि नियम से कार्य के साथ अन्वय व्यतिरेकपना होना? प्रथम विकल्प–जो अपने संतान के निवृत्ति में कार्य को पैदा करे वह उपादान कारण कहलाता है, ऐसा कहना बनता नहीं, क्योंकि अपने संतान का यदि कथंचित् नाश होकर कार्योत्पादकपना मानते हैं बौद्ध का जैनमत में प्रवेश होता है, और सतान का सर्वथा नाश होने पर उपादान कारण कार्य को उत्पन्न

द्वितीयपक्षेपि किं स्वगतकतिपयविशेषाधायकत्वम्, सकलविशेषाधायकत्वं वा ? तत्राद्य-विकल्पे सर्वज्ञज्ञाने स्वाकारार्पकस्यास्मदादिज्ञानस्य तत्प्रत्युपादानभावः, तथा च सन्तानसङ्करः। रूपस्य वा रूपज्ञानं प्रत्युपादानभावोनुषज्येत स्वगतकतिपयविशेषाधायकत्वाविशेषात्। रूपोपादानत्वे

करता है ऐसा माने तो परलोक का अभाव होता है, क्योंकि घट संतान, पट संतान आदि के समान आत्मा भी एक संतान है और उसका यदि सर्वथा नाश होता है तो परलोक में कौन गमन करेगा ? अतः उपादान कारण का प्रथम लक्षण गलत है। ऐसे ही अनेक कारण कलाप से उत्पद्यमान कार्य में विशेपाधायकत्व, समनंतर प्रत्यय मात्र, नियम से अन्वय व्यतिरेक विधानत्व रूप उपादान कारण का लक्षण सिद्ध नहीं होता है, इन सब लक्षणों का आगे क्रमशः विवेचन हो रहा है, यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि उपादान कारण के ये जो चार तरह से लक्षण बतलाये है वे सब परमत की जैसी मान्यता है तदनुसार पूछे हैं, क्योंकि उन्ही द्वारा मान्य लक्षणो को बाधित करना है, इसी प्रकार अन्यत्र भी जहा कही लक्षण आदि के विषय मे विकल्प उठाते हैं तो उसी–उसी मत की अपेक्षा लेकर कह रहे हैं ऐसा समझना चाहिये। अस्तु।

द्वितीय पक्ष–अनेक कारण कलाप से उत्पद्यमान कार्य में विशेपाधायक होना उपादान कारण है ऐसा कहो तो विशेषाधायकत्व कौनसा है, स्वगत कतिपय विशेपाधायकत्व–अपने मे [उपादान में] होने वाले कुछ विशेपो को कार्य मे डालना, या सकल विशेपाधायकत्व–अपनी सारी विशेषता को कार्य में डालना ? पहली बात स्वीकार करे तो सर्वज्ञ के ज्ञान मे जब हमारा छद्मस्थों का ज्ञान अपना आकार अर्पित करता है तब उस सर्वज्ञ ज्ञान के प्रति उपादान भाव बनता ही है सो यह संतान संकर हुआ ? [इसी तरह हमारे ज्ञान सर्वज्ञ को विषय करेगे तो संकर होगा] क्योंकि अपने मे होने वाले कुछ कुछ विशेषों को–चेतनत्वादि को कार्यभूत सर्वज्ञ ज्ञान में डाल दिया है [ज्ञान जिसको जानता है उसीसे उत्पन्न होता है और उसीके आकार वाला होता है ऐसी बौद्ध की मान्यता है अतः सर्वज्ञ का ज्ञान जब हम जैसे को जानेगा तो हमारे मे या हमारे ज्ञान मे उत्पन्न होगा, सो हम जो उनके ज्ञान के प्रति उपादान बने हैं इसलिये हमारी संतान का उनके संतान के साथ संकर होने का प्रसंग आ रहा है] इसीप्रकार नील, पीत आदि वर्ण जब रूप ज्ञान के प्रति उपादान होते हैं तब उनका संतान संकर होवेगा, क्योंकि स्वगत कतिपय विशेषाधायकत्व

च परलोकाय दत्तो जलाञ्जलिः। कतिपयविशेषाधायकत्वेनोपादानत्वे च एकस्यैव ज्ञानादिक्षणस्यानुवृत्तव्यावृत्ताऽनेकविरुद्धधर्माध्यासप्रसङ्गात् स एव परमतप्रसङ्गः । द्वितीयविकल्पे तु कथं निर्विकल्पकाद्विकल्पोत्पत्तिः रूपाकारात्समनन्तरप्रत्ययाद्रसाकारप्रत्ययोत्पत्तिर्वा, स्वगतसकलविशेषाधायकत्वाभावात् ? सन्तानबहुत्वोपगमात्सर्वस्य स्वसदृशादेवोत्पत्तिरित्यभ्युपगमे तु एकस्मिन्नपि पुरुषे प्रमातृबहुत्वापत्तिः । तथा च गवाश्वादिदर्शनयोर्भिन्नसन्तानत्वादेकेन दृष्टेर्थे परस्यानुसन्धानं न स्याद्देवदत्तेन दृष्टे यज्ञदत्तवत् ।

तो इसमें भी है अर्थात् नील पीतादि पदार्थ रूपज्ञान के प्रति उपादान होते समय अपना आकार उसमे अर्पित करते हैं—उसमें विशेषता डालते है । इस तरह अचेतन स्वरूप पीतादि वर्ण चेतन स्वरूप ज्ञान का उपादान कारण बनना स्वीकार करने पर तो परलोक के लिये जलांजलि देनी पड़ेगी । क्योंकि अचेतन रूप से चेतनवस्तु उत्पन्न होती है ऐसा बौद्ध ने मान लिया जैसे चार्वाक मानते हैं । स्वगत कतिपय विशेष का ही मात्र विधायक होना उपादान कारण है अर्थात् पीत नील आदि वर्ण अपने वर्ण को ही रूप ज्ञान में डालते है जडत्व को नहीं डालते है ऐसा मानते है तो एक ही ज्ञानादि क्षण के अनुवृत्त व्यावृत्त रूप अनेक विरुद्ध धर्म मानने पड़ेंगे सो इस मान्यता में वही पूर्वोक्त परमत प्रवेश का प्रसंग आता है, क्योंकि जैन ही एक वस्तु में अनेक विरुद्ध धर्म रहना स्वीकार करते हैं । अपने में होने वाली सकल विशेषता को कार्य में जोड़ देना उपादान कारण है ऐसा दूसरा पक्ष कहे तो निर्विकल्प ज्ञान से सविकल्प ज्ञान की उत्पत्ति होना, तथा रूपाकार समनंतर प्रत्यय से रसाकार ज्ञान की उत्पत्ति होना कैसे संभव होगा ? क्योंकि इनमें स्वगत सकल विशेषाधायकपना तो है नहीं, अर्थात् निर्विकल्प ज्ञान रूप उपादान से सविकल्प ज्ञान उत्पन्न हुआ उस सविकल्प में निर्विकल्प ज्ञान ने स्वगत विशेषता कहां डाली है ? यदि डाली होती तो वह निर्विकल्प कहलाता । इसी तरह रूप के आकार वाला ज्ञान रसाकार ज्ञान का कारण बनता है ऐसा आप स्वयं मानते हैं सो उस रूप ज्ञान की स्वगत विशेषता रसाकार ज्ञान में क्यों नहीं है ?

बौद्ध—बहुत सी ज्ञान संतानें स्वीकार की गयी है, अतः अपने सदृश उपादान से सदृश ही ज्ञान उत्पन्न होता है, सभी ज्ञानों की उत्पत्ति इसी तरह होती है ।

किञ्च, सकलस्वगतविशेषाधायकत्वे सर्वात्मनोपादेयक्षणे एवास्योपयोगात् तत्रानुपयुक्त-स्वभावान्तराभावाच्च एकसामग्र्यन्तर्गतं प्रति सहकारित्वाभावः, तत्कथं रूपादेः रसतो गतिः ?

जैन—ऐसा कहो तो एक पुरुष में बहुत से प्रमाता मानने पड़ेंगे, फिर गो दर्शन और अश्व दर्शन मे भिन्न संतानपना हो जाने से एक के द्वारा देखे हुए पदार्थ में दूसरे को अनुसंधान नही होवेगा, अर्थात् जिसने पहले गाय को देखा था वही मैं अब अश्व को देख रहा हूं इत्यादि एक ही जीव के गो ज्ञान का अश्व ज्ञान के साथ अनुसंधान नहीं हो सकेगा । जैसे कि देवदत्त द्वारा देखे हुए पदार्थ में यज्ञदत्त को अनुसंधान [दोनों का जोड़ रूप प्रतिभास] नही होता है ।

कार्य में स्वगत सकल विशेष को दे डालना मात्र उपादान कारण का स्वरूप माना जाय तो और भी बहुत सी बाधा आती हैं, आगे उसी को दिखाते हैं–उपादान कारण जब कार्य में सर्व रूप से अपनी विशेषता निहित करता है उसी समय वह उपयोगी ठहरेगा, क्योंकि इतना ही उसका स्वरूप मान लिया है । तथा इस तरह उपादान में अन्य अनुपयुक्त [कार्य मे अनुपयोगी या नही डालने योग्य धर्म] स्वभावांतर नहीं होने से उस उपादान कारण मे एक सामग्री के अन्तर्गत होकर सहकारी होने का अभाव होने से रस से रूपादि का अनुमान ज्ञान कैसे हो सकेगा ? नही हो सकता ।

भावार्थ—बौद्ध रससे रूपादिका अनुमान होना स्वीकार करते हैं, उनके यहां रूप क्षण और रसादि के क्षण संतान पृथक् हैं, रूप क्षण का उपादान पूर्व रूप क्षण है, इस तरह आगे आगे क्रम चलता है, पूर्वोत्तर क्षणों का समूह संतान है और एक क्षण एक क्षण संतानी है । किसी पुरुष ने आम्र फल का रस चखा, उस रस के स्वाद से–रस ज्ञान से उसने प्रथम तो रस को पैदा करने वाली सामग्री का अनुमान किया, फिर सामग्री के अनुमान से रूप का अनुमान किया, ऐसी बौद्ध की मान्यता है ।

उनका यह भी कहना है कि पूर्व का जो रूपक्षण है [प्रत्येक नील, पीत, घट, पट, आत्मा आदि पदार्थ क्षण क्षण में नष्ट होकर नये नये उत्पन्न होते रहते हैं अपनी क्षणों की धारा चलती रहती है, उसमें पूर्व क्षण उत्तर क्षण का उपादान होता है और उत्तर क्षण उसका कार्य कहलाता है; प्रत्येक पदार्थ के क्षण पृथक् पृथक् है]

स्वभावान्तरोपगमे त्रैलोक्यान्तर्गतान्यजन्यकार्यान्तरापेक्षया तस्याजनकत्वमपि स्वभावान्तरमभ्युपगन्तव्यम्, इत्यायातमेकस्यैवोपादानसहकार्यऽजनकत्वाद्यनेकविरुद्धधर्माध्यासितत्वम् । न चैते धर्माः काल्पनिकाः; तत्कार्याणामपि तथात्वप्रसङ्गात् ।

समनन्तरप्रत्ययत्वमप्युपादानलक्षणमनुपपन्नम्; कार्ये समत्वं कारणस्य सर्वात्मना, एकदेशेन वा ? सर्वात्मना चेत्; यथा कारणस्य प्राग्भावित्वं तथा कार्यस्यापि स्यात्, तथा च सव्येतरगोविषाणवदेककालत्वात्तयोः कार्यकारणभावो न स्यात् । तथा कारणाभिमतस्यापि स्व-

---

वह सजातीय उत्तर रूप क्षण को पैदा करता हुआ विजातीय रस क्षण की उत्पत्ति में सहकारी भी बनता है, बस ! इसी बात को यहां पर जैनाचार्य कह रहे हैं कि आप इधर तो उपादान कारण का अर्थ कार्य में अपनी सारी विशेषता अर्पित करना बतलाते है, और इधर वही एक उपादान कारण विजातीय कार्य का सहकारी बनता है ऐसा बतलाते हैं सो जब उपादान ने अपना सर्वस्व कार्य मे दे डाला तो अब किस स्वभाव से वह अन्य का सहकारी बनेगा ? तथा रससे रूप का अनुमान होना भी दुर्लभ हो जाता है, अतः "स्वगतसकलविशेषाधायकत्व" उपादान का लक्षण करना गलत ठहरता है ।

यदि उपादान कारण में कार्य के अनुपयोगी ऐसा स्वभावांतर का सद्भाव माना जाता है तो तीन लोक के अंदर होने वाले अन्य अन्य उपादान द्वारा जन्य जो कार्यांतर समूह है उसकी अपेक्षा से इस विवक्षित उपादान मे कार्य का अजनकपना रूप स्वभावातर भी मानना होगा । इस तरह एक ही पदार्थ मे उपादानत्व, सहकारित्व, अजनकत्व इत्यादि अनेक विरुद्ध धर्म सिद्ध हो जायेंगे जो जैन को इष्ट है । एक पदार्थ के उक्त विरुद्ध धर्म काल्पनिक नही है यदि इन्हें काल्पनिक मानेंगे तो उनसे होने वाले कार्य भी काल्पनिक कहलायेंगे ।

समनंतर प्रत्ययत्व होना उपादान कारण है ऐसा तीसरा उपादान का लक्षण भी ठीक नही है, "समनतर" इस पद में सं शब्द है उसका अर्थ समान है सो कार्य में कारण का समत्व होने का अर्थ सर्व रूप से समत्व होना है या एक देश से समत्व होना है ? सर्व रूप से कहो तो जैसे कारण पूर्ववर्त्ती होता है वैसे कार्य भी पूर्ववर्त्ती कहलाने लगेगा, क्योंकि सर्व रूप से समान है । फिर कारण और कार्य गाय के दांये बांये सींग की तरह एक कालीन हो जाने से उनमें कार्य कारण भाव हो नही रहेगा ।

कारणकालता, तस्यापि सेति सकलशून्यं जगदापद्येत । कथञ्चित्समत्वे योगिज्ञानस्याप्यस्मदादिज्ञानावलम्बनस्य तदाकारत्वेनैकसन्तानत्वप्रसङ्गः स्यात् ।

अनन्तरत्वं च देशकृतम्, कालकृतं वा स्यात् ? न तावद्देशकृतं तत्त्रोपयोगि; व्यवहितदेशस्यापि इह जन्ममरणचित्तस्य भाविजन्मचित्तोपादानत्वोपगमात् नापि कालानन्तर्यं तत्; व्यवहितकालस्यापि जाग्रच्चित्तस्य प्रबुद्धचित्तोत्पत्तावुपादानत्वाभ्युपगमात् । अव्यवधानेन प्राग्भावमात्रमनन्तरत्वम्; इत्यप्ययुक्तम्; क्षणिकैकान्तवादिनां विवक्षितक्षणानन्तरं निखिलजगत्क्षणानामुत्पत्तेः सर्वेषामेकसन्तानत्वप्रसङ्गात् ।

तथा कारण रूप से अभिमत जो उपादान है उसका कारण जो पूर्वतर क्षण है वह भी समकाल भावी सिद्ध होगा अर्थात् पूर्व क्षण भी एक कार्य है उसमें उससे भी पूर्ववर्त्ती जो क्षण है वह कारण है इन दोनों कार्य कारण का भी समत्व–काल समानत्व सिद्ध होगा, और ऐसा होने से जगत् सकल शून्य होवेगा क्योंकि कार्य और कारण में समकालत्व होने से भेद नही रहता और उक्त भेद के अभाव में कार्य कारण ही समाप्त होते है । कार्य में कारण का कथंचित् समत्व होना माने तो, जिसमें हम जैसे अल्पज्ञों के ज्ञान का अवलंबन है ऐसे योगीजन का ज्ञान तदाकार [हमारे ज्ञान का आकार वाला] होने से एक संतान रूप बन जायगा क्योंकि योगी ज्ञान कथचित् हमारे ज्ञान के आकार जैसा बनता है और आप ज्ञान के विषय को ज्ञान का कारण मानते हैं, अर्थात् ज्ञान जिसको जानता है उसीसे उत्पन्न भी होता है ऐसा मानते है ।

"समनंतर" इन अक्षरों में जो अनंतर शब्द है उसका वाच्य क्या होगा, देशकृत अनंतरत्व या कालकृत अनंतरत्व ? देशकृत अनंतरत्व वाच्यार्थ करना ठीक नही होगा, उपादान कारण में देशकृत अनंतर उपयोगी इसलिये नही होगा कि आपने व्यवहित देश वाले जन्म मरण युक्त चित्त को भावी जन्म वाले चित्त का उपादान माना है । कालकृत अनंतरत्व भी उपयुक्त नहीं होगा, क्योंकि व्यवहित काल वाले जाग्रत चित्त को निद्रित अवस्था के अनंतर प्रबुद्ध हुए चित्त का उपादान रूप से स्वीकार किया गया है ।

शंका—भावी जन्म के चित्त का उपादान इस जन्म के चित्त को माना अवश्य है किन्तु इनमें अव्यवधान रूप से प्राग्भाव–पहले होना, कार्य के पूर्व होना, इतना ही अनंतरपना है ?

नियमवदन्वयव्यतिरेकानुविधानं तल्लक्षणम्; इत्यप्यसमीचीनम्; बुद्धेतरचित्तानामप्युपादानोपादेयभावानुषङ्गात्, तेषामव्यभिचारेण कार्यकारणभूतत्वाविशेषात् । निरास्रवचित्तोत्पादात्पूर्वं बुद्धचित्तं प्रति सन्तानान्तरचित्तस्याकारणत्वान्न तेषामव्यभिचारी कार्यकारणभाव: इति चेत्; यतः प्रभृति तेषां कार्यकारणभावस्ततप्रभृतितस्तस्याव्यभिचारात्, अन्यथाऽस्याऽसर्वज्ञत्वं स्यात् । "नाकारणं विषय:" [ ] इत्यभ्युपगमात् ।

समाधान—यह कथन अयुक्त है, क्षणिक एकान्तवादी के यहां यह बात घटित नहीं होगी, कार्य के पूर्व होना मात्र उपादानत्व है तो विवक्षित एक क्षण के अनंतर संपूर्ण जगत के क्षणों की उत्पत्ति हो जायगी क्योंकि विवक्षित क्षण सामान्य उपादान रूप होनेसे सबको उत्पन्न कर सकेगा और सभी चेतन अचेतन कार्यों का एक संतापना सिद्ध होने का प्रसंग प्राप्त होगा ।

नियम से कार्य में अन्वयव्यतिरेक का अनुविधान होना उपादान कारण है ऐसा चौथा लक्षण भी सुघटित नही होता, जिस कार्य में नियम से अन्वयव्यतिरेक हो वह उसका उपादान कारण मानें तो सुगता और इतर चित्तो में उपादान–उपादेय भाव बन बैठेगा, क्योकि इनके चित्तों का अव्यवधान रूप से कार्य कारण भाव समान ही है अर्थात् हमारे ज्ञान के सद्भाव पर तो सुगत ज्ञान उस ज्ञान को विषय करके उत्पन्न होता है और उसके अभाव में उत्पन्न नहीं होता, इस तरह अन्वयव्यतिरेकत्व बन सकता है ।

बौद्ध—निरास्रव चित्त की उत्पत्ति से पूर्व बुद्ध चित्त के प्रति अन्य संतान अकारण है अत: बुद्ध और इतर जनों के चित्तों में उपादान उपादेय भाव नहीं हो सकने से उनमें अव्यवधानपने से कार्य कारण भाव का अभाव ही है ।

जैन—अच्छा तो जबसे उनमें कार्य कारण बनेगा तब से ही सुगत के अव्यभिचारीपना सिद्ध होगा, अर्थात् जब सुगत ज्ञान हमारे ज्ञान को विषय करके उत्पन्न होगा तभी हमारा ज्ञान कारण और सुगत ज्ञान कार्य इस तरह कार्य कारणपना होगा, अन्यथा सुगत के असर्वज्ञपने का प्रसंग होगा, क्योंकि आपके यहां यह नियम है कि "नाकारणं विषय:" जो ज्ञान का कारण नहीं है वह उसका विषय भी नहीं है ऐसा माना है ।

अव्यभिचारेण कार्यकारणभूतत्वाविशेषेपि प्रत्यासत्तिविशेषवशात्केषाञ्चिदेवोपादानोपादेयभावो न सर्वेषामिति चेत्; स कोन्योन्यत्रैकद्रव्यतादात्म्यात् ? देशप्रत्यासत्तेः रूपरसादिभिर्वातातपादिभिर्वा व्यभिचारात् । कालप्रत्यासत्तः एकसमयवर्तिभिरशेषार्थैरनेकान्तात् । भावप्रत्यासत्तेश्च एकार्थोद्भूतानेकपुरुषविज्ञानैरनेकान्तात् ।

बौद्ध—अव्यभिचार रूप से कार्य कारण भाव समान होते हुए भी प्रत्यासत्ति विशेष के वश से किन्हीं किन्ही में ही उपादान उपादेय भाव बन पाता है न कि सभी के साथ ।

जैन—अच्छा तो यह बताईये कि वह प्रत्यासत्ति विशेष क्या है, एक द्रव्य में तादात्म्य रूप से रहना ही तो प्रत्यासत्ति विशेष कहलाती है ? क्योंकि यदि देश प्रत्यासत्ति में उपादान उपादेय भाव मानेंगे तो रूप रस या वायु आतप आदि के साथ व्यभिचार आता है क्योंकि इनमें देश प्रत्यासत्ति [देश संबधी अति निकटता] होते हुए भी परस्पर में उपादान–उपादेयत्व नही पाया जाता है । काल प्रत्यासत्ति में उपादान उपादेय भाव मानेंगे तो एक समय होने वाले जितने भी पदार्थ हैं उनमें परस्पर में उपादान–उपादेय भाव आयेगा किन्तु है नही अतः व्यभिचार दोष होता है । भाव प्रत्यासत्ति भी उपादान उपादेय भाव की नियामिका नही होवेगी, क्योंकि एक ही पदार्थ से उत्पन्न हुए अनेक पुरुषों के अनेकों ज्ञानों के साथ व्यभिचार होता है, अर्थात् भाव स्वरूप की निकटता–समानता होना भाव प्रत्यासत्ति है और यह जिनमें हो उनमें उपादान–उपादेय भाव होता है ऐसा कहे तो एक हो घट आदि विषय से अनेक पुरुषों के अनेक ज्ञान हुआ करते हैं, एक ही वस्तु को अनेकों व्यक्तियों के ज्ञान विषय किया करते है, उन ज्ञानों में समान स्वरूप समानाकार वाली भाव प्रत्यासत्ति तो है किन्तु उन ज्ञानों का परस्पर में उपादान–उपादेय भाव तो नही है फिर किस तरह भाव प्रत्यासत्ति भी कार्य कारण भाव रूप उपादान–उपादेय की नियामिका हुई, अर्थात् नहीं हुई । इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारों प्रकार की प्रत्यासत्तियां कार्य कारण भाव को सिद्ध नहीं कर सकती है ऐसा निश्चित हुआ । तथा—

न चात्रान्वयव्यतिरेकानुविधानं घटते । न खलु समर्थे कारणे सत्यभवतः स्वयमेव पश्चाद्भवतस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधानं नाम नित्यवत् । 'स्वदेशवत्स्वकाले सति समर्थे कारणे कार्यं जायते नासति' इत्येतावता क्षणिकपक्षेऽन्वयव्यतिरेकानुविधाने नित्येपि तत्स्यात्, स्वकालेऽनाद्यनन्ते सति समर्थे नित्ये स्वसमये कार्यस्योत्पत्तेरसत्यऽनुत्पत्तेश्च प्रतीयमानत्वात् । सर्वदा नित्ये समर्थे सति स्वकाले एव कार्यं भवत्कथं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायीति चेत् ? तर्हि कारणक्षणात्पूर्वं पश्चाच्चानाद्यनन्ते तदभावेऽविशिष्टे क्वचिदेव तदभावसमये भवत्कार्यं कथ तदनुविधायीति समानम् ?

बौद्ध के क्षणिक पदार्थ में अन्वय व्यतिरेक का अनुविधान ही घटित नहीं होता है, अब इसी को बताते है–समर्थ कारण के होने पर तो नहीं होना और पीछे स्वयमेव हो जाना, ऐसा जहां दिखाई देता है वहां अन्यव व्यतिरेक विधान नाम कैसे पा सकता है, अर्थात् क्षणिक पदार्थ एक क्षण रहता है उसके अस्तित्व में तो कार्य उत्पन्न होता नही है और पीछे हो जाता है सो कारण के होने पर कार्य होता है [अन्वय] और कारण के नही होने पर कार्य नहीं होता [व्यतिरेक] ऐसा कैसे कह सकते है ? अत: जैसे नित्य में कार्य कारण भाव नहीं बनता वैसे क्षणिक में भी नही बनता है ।

बौद्ध – स्वदेश और स्वकाल में समर्थ कारण के होने पर कार्य होता है और नहीं होने पर नहीं होता, इतना ही कार्य कारण का अन्वय व्यतिरेकपना है ।

जैन—तो फिर क्षणिक की तरह नित्य में भी अन्वय व्यतिरेक का अनुविधान बन सकता है, देखिये–अनादि अनंत जो स्वकाल है उस स्वकाल में समर्थ कारण के होने पर कार्य की उत्पत्ति होती है और समर्थ कारक के नही होने पर नहीं होती, इस तरह प्रतीत होता ही है ।

बौद्ध—समर्थ कारण सर्वदा नित्य रहता है फिर स्वकाल में ही कार्य होता हुआ किस प्रकार उसका अन्वय व्यतिरेक घटित होगा ?

जैन—तो फिर कारण क्षण के पूर्व और उत्तर अनादि अनंत काल में उस कारण का अभाव समान रूप से रहते हुए भी मात्र किसी एक अभाव के समय में होता हुआ कार्य किस प्रकार कारण का अनुविधायी बनेगा ? नहीं बन सकता । इस तरह नित्य के समान ही क्षणिक की बात है ।

नित्यस्य प्रतिक्षणमनेककार्यकारित्वे क्रमशोनेकस्वभावत्वसिद्धेः कथमेकत्वं स्यादिति चेत् ? क्षणिकस्य कथमिति समः पर्यनुयोगः ? स हि क्षणस्थितिरेकोपि भावोऽनेकस्वभावो विचित्र-कार्यत्वान्नानार्थक्षणवत् । न हि कारणशक्तिभेदमन्तरेण कार्यनानात्वं युक्तं रूपादिज्ञानवत् । यथैव हि कर्कटिकादौ रूपादिज्ञानानि रूपादिस्वभावभेदनिबन्धनानि तथा क्षणस्थितेरेकस्मात्प्रदीपादिक्षणाद् वर्तिकादाहतैलशोषादिविचित्रकार्याणि शक्तिभेदनिमित्तकानि व्यवतिष्ठन्ते, अन्यथा रूपादेरपि नानात्वं न स्यात् ।

ननु च शक्तिमतोऽर्थान्तरानर्थान्तरपक्षयोः शक्तीनामघटनात्तासां परमार्थसत्त्वाभावः; तर्हि रूपादीनामपि प्रतीतिसिद्धद्रव्यादर्थान्तरानर्थान्तरविकल्पयोरसम्भवात्परमार्थसत्त्वाभावः स्यात् ।

शंका—नित्य पदार्थ प्रतिक्षण अनेक कार्यों का करता है ऐसा मानने पर उसमें क्रमशः अनेक स्वभावपना सिद्ध होता है, फिर उसका एकपना किस प्रकार रह सकेगा ?

समाधान—बिलकुल यही शंका क्षणिक पदार्थ मे भी होती है, क्षणिक पदार्थ में अनेक स्वभाव नही हैं, ऐसा भी नही कह सकेंगे, क्योकि वह एक क्षण स्थित रहते हुए भी विचित्र–नाना कार्यो का करने वाला होने से अनेक स्वभाव वाला सिद्ध होता है, जैसे नाना क्षणों मे अनेक कार्यो को करने से नाना स्वभावत्व सिद्ध होता है। कारण में अनेक शक्ति स्वभाव नहीं होते हुए भी वह नाना कार्यो को करता है ऐसा भी नहीं कहना । क्योंकि जैसे रूप आदि के विभिन्न ज्ञानरूप कार्य विभिन्न स्वभाव भूत रूपादि कारणो से होने से नानारूप हैं । अर्थात् जिस प्रकार ककड़ी आदि वस्तु में रूप, रस आदि के भिन्न भिन्न प्रतिभास रूप रस आदि के स्वभावों में भेद होने के कारण ही होते हैं, उसी प्रकार क्षण मात्र स्थिति वाले प्रदीपादि क्षण से बत्ती का जलाना, तेल का सुखाना–कम करना, इत्यादि विचित्र कार्य शक्ति भेद होने के कारण बन जाते हैं यदि प्रदीपादि में इसप्रकार का नाना शक्तिपना नही माने तो रूप रस आदि में भी नानापना सिद्ध नही होगा ।

बौद्ध—यह नाना शक्तिया शक्तिमान पदार्थ से न अर्थान्तर भूत सिद्ध होती हैं और न अनर्थांतर भूत सिद्ध होती हैं अतः इनका परमार्थपने से सत्त्व ही नहीं है । अर्थात् शक्तिमान से अनेक शक्तियो को अर्थांतर मानते है तो दोनों का संबंध नहीं

प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानत्वाद्रूपादयः परमार्थसन्तो न पुनस्तच्छक्तयस्तासामनुमानबुद्धौ प्रतिभासमानत्वात्; इत्यप्ययुक्तम्; क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादीनामपरमार्थसत्त्वप्रसङ्गात् । ततो यथा क्षणिकस्य युगपदनेककार्यकारित्वेप्येकत्वाविरोधः, तथाऽक्षणिकस्य क्रमशोनेककार्यकारित्वेपीत्यनवद्यम् ।

यच्चार्थक्रियालक्षणं सत्त्वमित्युक्तम्; तत्र लक्षणशब्दः कारणार्थः, स्वरूपार्थः, ज्ञापकार्थो वा स्यात् ? प्रथमपक्षे किमर्थक्रिया लक्षण कारणं सत्त्वस्य, तद्वार्थक्रियायाः ? तत्रार्थक्रियातः सत्त्व-

---

रहेगा, किसी अन्य से संबंध माने तो अनवस्था आती है । तथा शक्तिमान से शक्तियां अनर्थांतर भूत है तो शक्तिमान और शक्तियां एक स्वरूप हो जाती हैं ।

जैन— यदि अनेक शक्तिया शक्तिमान पदार्थ में नहीं रह सकती हैं तो प्रतीति सिद्ध रूप, रस आदि अनेक स्वभाव भी एक पदार्थ में नहीं रह सकेंगे । उनमें वे ही प्रश्न होने लगेंगे कि रूप, रस आदि अनेक स्वभाव द्रव्य से पृथक् मानते हैं तो संबंध कौन करावे; और अपृथक् है तो द्रव्य और वे नाना स्वभाव एकमेक होकर एक ही चीज रह जायगी, अतः उनका परमार्थ से अभाव सिद्ध होवेगा ।

बौद्ध—रूप, रस आदि नाना स्वभाव तो एक वस्तु में साक्षात् ही बुद्धि में प्रतिभासित हो रहे हैं अतः वे स्वभाव परमार्थ भूत हैं, किन्तु शक्तिमान की शक्तियां केवल अनुमान ज्ञान में ही प्रतीत होती हैं, अतः इनका परमार्थ भूत सत्त्व सिद्ध नहीं हो पाता ।

जैन— यह कथन अयुक्त है, जो अनुमान में प्रतीत होवे उसका परमार्थ सत्व नही माना जाय तो, वस्तु में जो क्षणक्षयीपने की शक्ति या स्वर्ग प्राप्य शक्ति आदि शक्तियां होती हैं वे सब अपरमार्थ भूत कहलायेगी, इसलिये जैसे क्षणिक के युगपत् अनेक कार्यकारीपना होते हुवे भी एकपने का विरोध नहीं है, वैसे ही नित्य के भी क्रमशः अनेक कार्यों को करने के स्वभाव या शक्तियां परमार्थ भूत ही हैं, ऐसा निर्दोष सिद्धांत स्वीकार करना चाहिये ।

बौद्ध ने कहा था कि जो अर्थक्रिया लक्षण वाला है उसमें सत्व रहता है अथवा जिसमें अर्थक्रिया नही होती उसमें सत्व [अस्तित्व] नही रहता इस प्रकार सत्व का लक्षण अर्थक्रिया किया, सो लक्षण शब्द किस अर्थ वाला अभीष्ट है, कारण

स्योत्पत्तौ प्राक् पदार्थानां सत्त्वमन्तरेणाप्यस्याः प्रादुर्भावान्निर्हेतुकत्वं निराधारकत्वं वानुषज्येत । अथ सत्त्वादर्थक्रियोत्पद्यते; तदार्थक्रियातः प्रागपि सत्त्वसिद्धेर्भावानां स्वरूपसत्त्वमायातम् ।

को लक्षण कहना अथवा स्वरूप को या ज्ञापक को लक्षण कहना ? कारण को लक्षण कहे तो सत्व का कारण अर्थक्रिया लक्षण है अथवा अर्थक्रिया का कारण सत्व लक्षण है ? इनमें से यदि अर्थक्रिया से सत्व की उत्पत्ति होना माने [अर्थ क्रिया को कारण] तो पहले पदार्थो के सत्व बिना भी अर्थक्रिया का प्रादुर्भाव होने से अर्थक्रिया निर्हेतुक या निराधार बन जायगी । मतलब अर्थ क्रिया से पदार्थ का सत्व उत्पन्न हुआ ऐसा माने तो अर्थ क्रिया पदार्थ के बिना निराधार और किसी कारण से नही हुई अतः निर्हेतुक है ऐसा मानने का प्रसंग आता है जो सर्वथा विसंगत है । सत्व से अर्थ क्रिया उत्पन्न होती है ऐसा दूसरा पक्ष कहे तो, पदार्थ में अर्थ क्रिया के होने के पहले से ही सत्व था ऐसा अर्थ निकला, इसका मतलब तो यही हुआ कि पदार्थो में स्वरूप से ही सत्व है ।

भावार्थ—पदार्थ का सत्व या अस्तित्व किस कारण से रहता है इस पर विचार हुआ, पर वादी अर्थ क्रिया से वस्तु का सत्व सिद्ध करते हैं, किन्तु ऐसा कहना सर्वथा सिद्ध नहीं होता है, सूक्ष्म दृष्टि से सोचा जाय तो इस पर पक्ष में बाधा दिखायी देती है, यदि सत्व से अर्थ क्रिया की उत्पत्ति हुई अर्थात् सत्व अर्थ क्रिया का हेतु है तो सत्व पहले अर्थ क्रिया से रहित था सो वस्तु अर्थक्रिया शून्य नहीं होती है ऐसा कहना गलत ठहरता है, तथा अर्थक्रिया से सत्व की उत्पत्ति होना स्वीकार करे तो पदार्थ के बिना सत्व के अर्थ क्रिया कहां हुई, किस कारण से हुई इत्यादि कुछ भी समाधान नहीं होने से वह अर्थ क्रिया निराधार निर्हेतुक ठहरती है, जो किसी भी वादी प्रतिवादी को इष्ट नही है, इसलिये फलितार्थ यही निकलता है कि पदार्थों का सत्व या अस्तित्व स्वरूप से ही है, किसी कारण वश से नही है । प्रत्येक पदार्थ में सामान्य या साधारण गुण और विशेष गुण होते है, उन गुणों में से सामान्य गुणों के अन्तर्गत अस्तित्व नामा गुण है इसी को सत्व कहना चाहिये, यह सत्व स्वरूप से ही उस वस्तु में मौजूद है अथवा यों कहिये अस्तित्व गुण से ही वस्तु मौजूद है । इस-प्रकार सत्व का लक्षण अर्थ क्रिया या अर्थ क्रिया का लक्षण सत्व है ऐसा कथन असत्य हो जाता है ।

अथ स्वरूपार्थोसौ; तत्रापि तद्धेतोरसत्त्वप्रसङ्गः, न ह्यर्थक्रियाकाले तद्धेतुर्विद्यते । न चान्यकालस्यास्यान्यकाला सा स्वरूपमतिप्रसङ्गात् ।

नापि ज्ञापकार्थोसौ; अर्थक्रियाकालेर्थस्यासत्त्वादेव । असतश्चास्याऽत: कथं सत्ताज्ञप्तिरतिप्रसङ्गात् ? न चार्थक्रियोदयात्प्राक् कारणमासीदिति व्यवस्थापयितुं शक्यम् । यतो यदि स्वरूपेण पूर्वं हेतुरवगतो भवेत्तदनन्तरं चार्थक्रिया, तदार्थक्रिया प्रतिपन्नसम्बन्धोपलभ्यमाना प्राग्धेतुसत्तां व्यवस्थापयतीति स्यात् । न चार्थक्रियामन्तरेण हेतुः स्वरूपेण कदाचिदप्युपलब्धः परैः स्वरूपसत्त्वप्रसङ्गात् ।

अर्थक्रियायाश्चापरार्थक्रिया यदि सत्त्वव्यवस्थापिका; तदानवस्था । न चार्थक्रियाऽनधिगतसत्त्वस्वरूपापि हेतुसत्त्वव्यवस्थापिका; अश्वविषाणादेरपि तत्सत्त्वव्यवस्थापकत्वानुषङ्गात् । न

"लक्षण" शब्द का अर्थ स्वरूप करते हैं तो भी उस स्वरूप के हेतु का अभाव होता है, क्योंकि जब अर्थ क्रिया का समय आता है तब उसका हेतु तो रहता नही, क्योंकि पदार्थ सर्वथा क्षणिक है । अन्य काल का सत्व अन्य काल की अर्थ क्रिया का स्वरूप होना तो शक्य नही, अन्यथा अति प्रसंग होगा ।

"लक्षण" शब्द का अर्थ ज्ञापक है ऐसा कहना भी जमता नहीं, क्योंकि अर्थ क्रिया के काल में पदार्थ का सत्व रहता ही नही । जब पदार्थ का असत्व है तब उसके सत्ता को जानना कैसे संभव हो सकता है, अति प्रसंग दोष आता है, अर्थात् असत् होकर भी कोई ज्ञापक बनता है तो आकाश पुष्प, अश्व विषाणादि को ज्ञापक मानना होगा । यह भी बात है कि अर्थ क्रिया का उदय होने के पहले "कारण था" इत्यादि रूप से व्यवस्था होना शक्य नहीं, क्योंकि यदि पहले स्वरूप से हेतु ज्ञात हो उसके अनंतर अर्थ क्रिया भी ज्ञात हो तब तो प्रतिपन्न संबंधयुक्त एवं उपलभ्यमान अर्थ क्रिया पहले से ही हेतु की सत्ता को सिद्ध कर सकती है, अन्यथा नहीं । आप बौद्ध द्वारा कभी कभी अर्थ क्रिया के बिना उसका कारण, स्वरूप से जाना हुआ तो हो नहीं सकता, क्योंकि ऐसा मानते हैं तो जैन के समान पदार्थ का सत्व स्वरूप से है ऐसा स्वीकार करने का प्रसंग आता है ।

अर्थ क्रिया से सत्व की सिद्धि होती है ऐसा मानते हैं तो विवक्षित अर्थ क्रिया का सत्व किसी अन्य अर्थ क्रिया से सिद्ध होगा, इस तरह तो अनवस्था फैलती

च हेतुजन्यत्वादर्थक्रिया सती नार्थक्रियान्तरोदयात्, इत्यभिधातव्यम्; इतरेतराश्रयानुषङ्गात्-हेतुसत्त्वादध्यऽर्थक्रिया सती, तत्सत्त्वाच्च हेतोः सत्त्वमिति ।

अस्तु वार्थक्रियालक्षणं सत्त्वम् । तथाप्यतोर्थानां क्षणस्थायिता क्षणिकत्वं साध्येत, क्षणादूर्द्ध्वमभावो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, नित्यस्याप्यर्थस्य क्षणावस्थित्यभ्युपगमात् । कथमन्यथास्य सदावस्थितिः क्षणावस्थितिनिबन्धनत्वात् । क्षणान्तराद्यवस्थितेः ? अथ क्षणादूर्द्ध्वमभावः साध्यते; तन्न; अभावेन सहास्य प्रतिबन्धासिद्धः । न चाप्रतिबन्धविषयोऽश्वविषाणादिवदनुमेयः । तन्न सत्त्वादप्यर्थाना क्षणिकत्वावगतिः ।

है, जिसका सत्व स्वरूप ज्ञात नहीं है ऐसी अर्थ क्रिया भी अपने कारण के सत्व की व्यवस्थापिका होती है ऐसा भी नही कहना, इस तरह तो अश्व विषाण आदि से भी उसके सत्व की व्यवस्था होने लग जायगी ।

शका—हेतु द्वारा जन्य होने से अर्थ क्रिया सत् रूप है न कि अन्य अर्थ क्रिया द्वारा जन्य होने से सत् रूप है ।

समाधान—ऐसा माने तो अनवस्था दोष से छूट कर अन्योन्याश्रय दोष में आकर पड़ेगे-हेतु के सत्व से तो अर्थ क्रिया का सत्व सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर अर्थ क्रिया के सत्व से हेतु का सत्व सिद्ध होगा, इस तरह कुछ भी सिद्ध नही होगा ।

मान भी लेवे कि अर्थ क्रिया का लक्षण सत्व है, तथापि इस सत्व हेतु से पदार्थों का क्षण रूप रहने वाला क्षणिकत्व सिद्ध किया जाता है अथवा एक क्षण के ऊपरले समय में पदार्थ का अभाव होना सिद्ध किया जाता है ? प्रथम पक्ष कहो तो सिद्ध साध्यता है, क्योंकि हम जैन ने अर्थ के नित्य होते हुए भी क्षण रूप अवस्थिति स्वीकार की है, यदि नित्य रूप माने गये पदार्थ में क्षण का अवस्थान नहीं मानते हैं तो वह पदार्थ सदा अवस्थित कैसे कहलायेगा ? क्योंकि क्षण के अनंतर की स्थिति का कारण तो क्षणभर अवस्थान ही तो है । अब यदि दूसरा पक्ष—"क्षण के ऊपर अभाव होना क्षणिकपना है" ऐसा कहें तो ठीक नहीं है क्योंकि अभाव के साथ क्षणिकपने का कोई अविनाभाव सिद्ध नहीं है । जिसमें अविनाभाव संबंध नहीं है वह पदार्थ अनुमान गम्य नहीं हुआ करता है, जैसे अश्व विषाण अनुमेय नही है । इस प्रकार सत्व हेतु से पदार्थों का क्षणिकत्व सिद्ध करना भी गलत ठहरता है ।

नापि कृतकत्वात्; उक्तप्रकारेण क्षणिके कार्यकारणभावप्रतिषेधतः कृतकस्याऽसिद्धस्वरूपत्वेन तदवगतिं प्रत्यनङ्गत्वात् । ततः प्रतीत्यनुरोधेन स्थिरः स्थूलः साधारणस्वभावश्च

कृतकत्व नामा हेतु से पदार्थों के क्षणिकत्व को सिद्ध करे तो वे ही पूर्वोक्त दोष आयेंगे, क्षणिक पदार्थ में कार्य कारण भाव ही सिद्ध नहीं होता है ऐसा अभी बहुत कह दिया है, इसी कथन से कृतकत्व हेतु भी असिद्ध दोष युक्त है यह निश्चय होता है, और जो असिद्ध है वह अन्य के सिद्धि का हेतु या ज्ञान का हेतु होना अशक्य ही है । इसलिये पदार्थ की जैसे प्रतीति आती है उस प्रतीति के अनुसार पदार्थों की व्यवस्था करनी चाहिये, प्रतीति में स्थिर स्थूल, साधारण [सदृश परिणाम] स्वभाव वाले पदार्थ आ रहे हैं, अतः वैसे ही स्वीकार करना चाहिये ।

विशेषार्थ—जगत में घट, पट, आत्मा, पृथिवी, वायु आदि यावन्मात्र पदार्थ हैं वे सभी सामान्य विशेषात्मक होते हैं, सामान्य हो चाहे विशेष, वस्तु में दोनों स्वतः सिद्ध ही हैं, ऊपर से किसी कारण द्वारा संबंधित नही किये हैं । अद्वैतवादी पदार्थ को सर्वथा सामान्य धर्म वाला ही मानते हैं । उनकी दृष्टि से वस्तुओं का प्रतिनियत वैशिष्ट्य मात्र काल्पनिक है, यहां तक कि उनमे चेतन अचेतन कृत विशेष भी नही है । बौद्ध वस्तु को सर्वथा विशेषात्मक ही प्रतिपादित करते हैं । इनका मंतव्य पूर्व वादी से सर्वथा उलटा है । गायों में सफेद, कृष्ण, खण्ड, मुण्ड आदि को छोड़कर और कोई सामान्य धर्म नहीं है ऐसा इनका कहना है । नैयायिक, वैशेषिक वस्तु में दोनों धर्म मानते हैं किन्तु वे पदार्थ की उत्पत्ति निर्गुणात्मक मानते हैं, अर्थात् पदार्थ प्रथम क्षण में निर्गुण ही उत्पन्न होते हैं और उनमें समवाय संबंध फिर गुणों का सयोजन करता है, गो व्यक्तियों में जो सास्नादि सामान्य धर्म है वह निजी नहीं अपितु समवाय से संयुक्त है, वह सामान्य, एक–व्यापक एवं नित्य है, इत्यादि सामान्य के विषय में इनकी विपरीत मान्यता है, इसका सयुक्तिक विस्तृत खण्डन "सामान्य स्वरूप विचार" प्रकरण में हो चुका है । पदार्थ का सामान्य धर्म दो तरह का है तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य । तिर्यक् सामान्य अनेक वस्तुओ में पाया जाने वाला सादृश्य धर्म है जो बौद्ध को अरुचिकर है उसको सिद्ध करके पुनः ऊर्ध्वता सामान्य का प्रतिपादन किया है, एक ही पदार्थ की जो पूर्व और उत्तर अवस्था होती है उन अवस्थाओं में जो पदार्थ मौजूद रहता है उसको ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं जैसे

भावोऽभ्युपगन्तव्यः।

॥ क्षणभंगवादः समाप्तः ॥

स्थास आदि अवस्थाओं में मिट्टी मौजूद रहती है । पूर्वोत्तर अवस्थाओं में एक ही वस्तु का रहना कहते ही बौद्ध का क्षणवाद खड़ा हुआ, क्योंकि बौद्ध प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक मानते हैं । प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्रतिभासित पदार्थ का स्वरूप स्थिर, स्थूल और साधारण या सदृश परिणाम रूप है किन्तु एकान्तवादी बौद्ध पदार्थ को अस्थिर, अर्थात् क्षणिक स्थूलता रहित [परमाणु मात्र] एवं सदृशता रहित मानते हैं । अस्थिर-क्षणिकत्व धर्म का तो इस प्रकरण "क्षणभंगवाद" मे खण्डन किया है, और सदृश या साधारण धर्म की सिद्धि सामान्य स्वरूप विचारनामा प्रकरण में की है । इसके बाद आगे स्थूलत्व धर्म का विवेचन संबंध सद्भाव प्रकरण में होगा । इस तरह पदार्थ, वस्तु या द्रव्य स्थिर, स्थूल और साधारण धर्म वाले होते है ऐसा निर्बाध सिद्ध होता है ।

॥ क्षणभगवाद समाप्त ॥

बौद्ध के क्षणभंगवाद के निरसन का सारांश

बौद्ध पदार्थ को क्षणिक मानते हैं, उनके यहां वस्तु के क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिये तीन हेतु दिये जाते हैं अर्थ क्रियाकारित्व, सत्व और कृतत्व किन्तु इनसे क्षणिकत्व सिद्ध नही होता है । प्रत्येक पदार्थ प्रत्यक्ष से ही अन्वयरूप प्रतीत होता है । त्रिकाल में रहने वाली स्थिति क्षणिक बुद्धि द्वारा गम्य नहीं होती, किन्तु जानने वाला आत्मा नित्य है वह प्रत्यक्ष बुद्धि प्रत्यभिज्ञान इत्यादि की सहायता से पदार्थों को उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप ही ग्रहण करता है । जिसप्रकार कि घट के उत्पाद व्यय प्रतीत होते है सो उन्हींके साथ उनकी मिट्टी रूप स्थिति भी प्रत्यक्ष से ही दिखाई देती है ।

दूसरी बात यह भी है कि द्रव्य के ग्रहण करने पर उसकी अतीतादि सभी पर्यायें ग्रहण हो ही जाय ऐसा कोई नियम नही, बौद्ध कहते हैं कि द्रव्य से अतीतादि अवस्था अभिन्न हैं अतः द्रव्य के साथ उनका भी ग्रहण हो जाना चाहिये सो ऐसा मानने पर तो ज्ञान द्वारा पदार्थों का अनुभव करते समय जैसे उनसे अभिन्न चेतनत्वादि प्रतीत होते हैं वैसे ही उन्हींके साथ अभिन्न रहने वाले जो स्वर्ग प्रापणत्वादि धर्म है वे सब प्रतीत होने चाहिये क्योंकि वे धर्म उन ज्ञानादि से अभिन्न हैं, किन्तु ऐसा आपने माना नहीं और ऐसा है भी नही अतः अभिन्न होने से अतीतादि अवस्था द्रव्य के ग्रहण होते ही ग्रहण में आ ही जाय ऐसा नियम नही बन सकता ।

पदार्थ की स्थास्नुता अर्थात् ठहरने का स्वभाव रूप जो नित्यता है वह तीन काल की अपेक्षा से होती है अतः तीनो कालों को जाने बिना नित्यता कैसी जाने ऐसा प्रश्न है वह गलत है क्योंकि पदार्थ की नित्यता तीन काल की अपेक्षा से न होकर स्वभाव से ही है । पदार्थ की अतीत पर्याय भविष्यत पर्याय ऐसा जो नाम है वह काल के निमित्त से है सो काल में अतीतपना किससे है ऐसी शंका करना भी ठीक नहीं है,

काल में अतीत अनागतत्व स्वतः रहता है और वस्तु की पर्यायों में अतीतादित्व काल के निमित्त से आता है ऐसी ही वस्तु व्यवस्था है ।

घटादि का विनाश लाठी आदि के व्यापार के बाद देखा जाता है अतः विनाश को निर्हेतुक नही कह सकते । लाठी का व्यापार कपाल की उत्पत्ति मे निमित्त होता है ऐसा भी नहीं कहना । क्योंकि कपाल की उत्पत्ति में लाठी सहायक है तो उससे घट का तो कुछ बिगड़ा नही वह लाठी मारने पर भी जैसा का तैसा दिखाई देना चाहिये । बौद्धमतानुसार यदि नाश स्वतः होता है तो नाश के कारण उपस्थित होने पर जो सुख दुःखादिका अनुभव होता है वह नही होना चाहिये । अर्थात् लाठी आदि के व्यापार के अनंतर घट का इच्छुक पुरुष दुःखी होता है और कपाल का इच्छुक सुखी होता है एवं इन दोनो कार्यों को नही चाहने वाला व्यक्ति मध्यस्थ रहता है सो यह बात क्यों होती ।

अतः नाश का कारण जरूर है यह सिद्ध होता है । हम जैन बौद्ध को पूछते है कि जैसे आप नाश को स्वतः होना मानते हैं वैसे उत्पाद को स्वतः होना मानना चाहिये । किन्तु आप उत्पाद को सहेतुक मानते है । सत्व हेतु से वस्तु का क्षणिकत्व सिद्ध करना भी शक्य नहीं है । क्योंकि सत्व का क्षणिकत्व के साथ अविनाभाव नहीं है । बिजली में सत्व और क्षणिकत्व का अविनाभाव प्रत्यक्ष से दिखता है ऐसा कहना भी अशक्य है । हम जैन बिजली का भी निरन्वय नाश नही मानते "भवान्तर स्वभावत्वात् अभावस्य" यह सुप्रसिद्ध न्याय है । नित्य वस्तु में सत्व नहीं है इस बात को, कौनसा प्रमाण पुष्ट करता है ? आपके यहां प्रत्यक्ष निर्विकल्प है अतः नित्य हो चाहे क्षणिक दोनों को भी जान नहीं सकता । अनुमान प्रमाण भी क्षणिकत्व को विषय नही करेगा, उसके लिये अविनाभावी हेतु चाहिये, आप सत्व हेतु का क्षणिकत्व के साथ अविनाभाव करके अनुमान करते हैं किन्तु सत्व और क्षणिकत्व का अविनाभाव का नही है यह बात कह चुके हैं । अर्थ क्रिया कारित्व हेतु भी क्षणिकत्व को पुष्ट न करके नित्य को ही पुष्ट करेगा अर्थात् क्षणिक वस्तु मे क्रम या युगपत् अर्थ क्रिया का होना शक्य नही है । जैन प्रत्येक पदार्थ को कथंचित् नित्य मानते हैं अतः उसीमें अर्थ क्रिया संभव है । यदि वस्तु क्षणिक है तो वह नष्ट होकर कार्य को पैदा करेगो कि अविनष्ट होकर ? नष्ट होकर कहो तो ठीक नहीं क्योंकि जैसे

पूर्व पूर्व की नष्ट हुई वस्तु ने कार्य पैदा नहीं किया था वैसे कार्य क्षण के प्रथम समय को नष्ट हुई वस्तु भी कार्योत्पादक नहीं बन सकती । अर्थात् बौद्ध वस्तु को उत्पन्न होते ही नष्ट होती है ऐसा मानते हैं सो जब घट उत्पन्न हुआ था तभी तत्काल ही कपालरूप कार्य क्यों नहीं दिखता । अविनष्ट होकर घटादि पदार्थ कार्य करते हैं ऐसा मानो तो क्षणभगवाद समाप्त होगा क्योंकि वस्तु स्थित होकर कार्य करने लगी तो वह नित्य हो ही जायगी अथवा कम से कम दो चार क्षण तो ठहर ही जायगी । तथा वस्तु सर्वथा क्षणिक है तो उसमें अनेक स्वभाव हो नहीं सकते किन्तु आपने वस्तु को क्षणिक मान कर भी उसे उत्तर क्षण के सजातीय कार्य का उपादान और विजातीय कार्य का सहकारी कारण रूप माना है । अर्थात् पूर्व क्षण का रूप उत्तर क्षण के रूप का उपादान और रस क्षण का सहकारी है सो ऐसे दो स्वभाव निरन्वय क्षणिक में होना शक्य नही । उपादान का सही स्वरूप भी आपके यहां सिद्ध नही है कार्य में अपनी संपूर्ण विशेषता को डालना उपादान है ऐसा कहो तो निर्विकल्प से विकल्प पैदा होना रूपाकार प्रत्यक्ष से रस का ज्ञान होना इत्यादि नहीं बनता क्योंकि इन कार्यों में उपादान की सपूर्ण विशेषता नहीं है । कृतकत्व हेतु भी क्षणिकत्व सिद्धि मे कार्यकारी नही है, क्षणिक वस्तु में अन्वय व्यतिरेक भी सभव नही है इस प्रकार क्षणभंगवाद अर्थात् वस्तु क्षण क्षण में नष्ट होना यह जो बौद्धाभिमत सिद्धांत है वह नितरां असिद्ध है, प्रत्यक्ष या अनुमान किसी से भी वह सिद्ध नही हो पाता अतः स्थिर अर्थात् कथंचित् नित्य और स्थूल अर्थात् अवयवी स्वरूप साधारण धर्मयुक्त प्रत्येक वस्तु है ऐसा प्रतीति सिद्ध तत्व स्वीकार करना चाहिये ।

✤ क्षणभंगवाद के निरसन का सारांश समाप्त ✤

४

संबंधसद्भाववादः

ननु चाणूनामयःशलाकाकल्पत्वेनान्योन्यं सम्बन्धाभावतः स्थूलादिप्रतीतेर्भ्रान्तत्वात्कथं तद्वशात्तत्स्वभावो भावः स्यात् ? तथाहि–सम्बन्धोर्थानां पारतन्त्र्यलक्षणो वा स्यात्, रूपश्लेषलक्षणो वा स्यात् ? प्रथमपक्षे किमसौ निष्पन्नयोः सम्बन्धिनोः स्यात्, अनिष्पन्नयोर्वा ? न तावदनिष्पन्नयोः, स्वरूपस्यैवाऽसत्त्वात् शशाश्वविषाणवत् । निष्पन्नयोश्च पारतन्त्र्याभावादसम्बन्ध एव । उक्तञ्च—

अब यहां पर पदार्थ के स्थूलत्व धर्म का बौद्ध बहुत बड़ा पक्ष रखकर खण्डन करना चाह रहा है—

बौद्ध—जैन ने अभी कहा कि पदार्थ स्थूल रूप को लिये हुए हैं, सो यह स्थूलत्व असिद्ध है, अणु रूप ही पदार्थ हुआ करते है, उनका परस्पर में संबंध नही होता है, जैसे लोहे की शलाकायें परस्पर में सबंध रहित हुआ करती हैं। पदार्थों में जो स्थूलत्वादि धर्म प्रतीत होते हैं वह प्रतीति भ्रान्त है, उस भ्रान्त ज्ञान से पदार्थों में स्थूलता को सिद्धि किस प्रकार हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती । अब इसीका खुलासा करते हैं–पदार्थों के संबंध का स्वरूप क्या है यह पहले देखना होगा, पारतन्त्र्य को संबंध कहते हैं या रूपश्लेषको सबंध कहते हैं ? पारतन्त्र्य को संबंध मानें तो वह किन पदार्थों में होगा निष्पन्नों मे या अनिष्पन्नों में ? अनिष्पन्न दो पदार्थों में संबंध हो नही सकता क्योंकि उनका अभी स्वरूप से ही असत्व है। जैसे शश विषाण और अश्व विषाणों का स्वरूपास्तित्व नहीं होने से संबंध नहीं होता

"पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतन्त्रता ।
तस्मात्सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ।।१।।"

[सम्बन्धपरी०]

नापि रूपश्लेषलक्षणोसौ; सम्बन्धिनोर्द्वित्वे रूपश्लेषविरोधात् । तयोरैक्ये वा सुतरां सम्बन्धाभावः, सम्बन्धिनोरभावे सम्बन्धायोगात् द्विष्ठत्वात्तस्य । अथ नैरन्तर्यं तयो रूपश्लेषः; न; अस्यान्तरालाभावरूपत्वेनाऽतात्त्विकत्वात् सम्बन्धरूपत्वायोगः । निरन्तरतायाश्च सम्बन्धरूपत्वे सान्तरतापि कथं सम्बन्धो न स्यात् ?

किञ्च, असौ रूपश्लेषः सर्वात्मना, एकदेशेन वा स्यात् ? सर्वात्मना रूपश्लेषे अणूनां पिण्डः अणुमात्रः स्यात् । एकदेशेन तच्छ्लेषे किमेकदेशास्तस्यात्मभूताः, परभूताः वा ? आत्मभूता-

---

है । निष्पन्न हुए दो पदार्थों का संबंध होता है ऐसा कहो तो इनमें पारतन्त्र्य का ही अभाव है अतः असंबंध ही रहेगा । कहा भी है—पारतन्त्र्य होने को संबंध कहते हैं, सो जब पदार्थ सिद्ध हैं तो उनमें क्या परतंत्रता आयेगी ? इसलिये सभी पदार्थों का परस्पर में वास्तविक सबंध नहीं है ।।१।।

रूप श्लेष—[अन्योन्य स्वभावों का अनुप्रवेश] लक्षण वाला संबंध भी सिद्ध नही होता है, क्योंकि इन रूप आदि संबंधियों में दोपना है तो रूप श्लेष कैसे होवे विरोध आता है । संबधियों में एकत्व मानें तो बिल्कुल ही संबंध का अभाव होवेगा, जहां पर दो संबंधी ही नही हैं वहां पर संबंध का अयोग रहेगा संबंध तो दो वस्तुओं में हुआ करता है ।

शंका—संबंधियों में जो निरंतरपना है वही उनका रूप श्लेष कहलाता है ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना, निरंतर का अर्थ होता है अंतराल का अभाव, और अभाव होता है अतात्विक, अतः वह संबंध रूप नहीं हो सकता । यदि निरंतरता के संबंधपना संभव है तो सान्तरता के कैसे नहीं हो सकता ? क्योंकि इसमें भी निरंतरता के समान दो पदार्थों की अपेक्षा रहती है । तथा यह रूप श्लेष लक्षण संबंध सर्वदेश से होता है या एकदेश से होता है ? सर्वदेश से संबंधियों का संबंध होना रूप श्लेष कहलाता है ऐसा मानने पर अणुओं का पिण्ड भी अणु मात्र रह जायगा । एकदेश से रूप श्लेष संबंध होता है अर्थात् वस्तु के एकदेश मे रूप श्लेष होता है,

श्चेत्; न एकदेशेन रूपश्लेषस्तदभावात् । परभूताश्चेत्; तैरप्यणूनां सर्वात्मनैकदेशेन वा रूपश्लेषे स एव पर्यनुयोगोनवस्था च स्यात् । तदुक्तम्—

"रूपश्लेषो हि सम्बन्धो द्वित्वे स च कथं भवेत् ।
तस्मात्प्रकृतिभिन्नानां सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ॥२॥"

[सम्बन्धपरी०]

किञ्च, परोपेक्षैव सम्बन्धः, तस्य द्विष्ठत्वात् । तं चापेक्षते भावः स्वयं सन्, असन्वा ? न तावदसन्; अपेक्षाधर्माश्रयत्वविरोधात् खरशृङ्गवत् । नापि सन्; सर्वनिराशंसत्वात्, अन्यथा सत्त्वविरोधात् । तन्न परापेक्षा नाम यद्रूपः सम्बन्धः सिद्धयेत् । उक्तञ्च—

"परापेक्षा हि सम्बन्धः सोऽसन् कथमपेक्षते ।
संश्च सर्वनिराशंसो भावः कथमपेक्षते ॥३॥"

[सम्बन्धपरी०]

ऐसा कहो तो उसके एकदेश अंश आत्मभूत हैं या परभूत हैं ? आत्मभूत कहो तो ठीक नहीं होगा, क्योंकि अणु के अंश नहीं होने से एकदेश से रूप श्लेष नहीं बनेगा । रूप श्लेष के अंश परभूत [पर स्वरूप] है ऐसा कहो तो पुनः प्रश्न होगा कि उन परभूत अंशों से अणुओं का एकदेश से रूप श्लेष होगा अथवा सर्वदेश से इत्यादि वे ही प्रश्न होते हैं, और अनवस्था भी आती है । यही बात संबंध परीक्षा नामा ग्रन्थ में लिखी है—रूप श्लेष लक्षण वाला संबंध होता है ऐसा मानें तो वह दो मे किस प्रकार हो सकेगा ? अतः स्वभाव से भिन्न भिन्न अणुओं का कोई तात्विक सबध नहीं है ॥२॥

यह संबंध पर की अपेक्षा लेकर होता है क्योंकि दो में होता है, सो पर की अपेक्षा रखने वाला यह सबंध स्वयं सत् है या असत्, असत् हो नहीं सकता, असत् पदार्थ अपेक्षा धर्माश्रय का विरोधी होता है, जैसे गधे के सींग अपेक्षा धर्म के आश्रयभूत नहीं होते है । परापेक्ष संबंध स्वयं सत् है ऐसा कहना भी गलत है, जो स्वयं सत् है वह सर्वत्र निराकांक्ष हुआ करता है, अन्यथा वह स्वतः सत्व रूप नहीं हो सकता । इसलिये परापेक्ष रूप श्लेष संबंध भी सिद्ध नहीं होता है । कहा भी है—परापेक्ष संबंध माने तो वह यदि असत् है तो पर की अपेक्षा किस प्रकार करेगा और यदि सत् है तो भी सर्वत्र निरीच्छ होने से पर की अपेक्षा किस तरह कर सकेगा ? अतः परापेक्ष सबंध का अभाव है ॥३॥

किञ्च, असौ सम्बन्धः सम्बन्धिभ्यां भिन्नः, अभिन्नो वा ? यद्यभिन्नः; तदा सम्बन्धिनावेव न सम्बन्धः कश्चित्, स एव वा न ताविति । भिन्नश्चेत्; सम्बन्धिनौ केवलौ कथं सम्बद्धौ (द्धौ) स्याताम् ?

भवतु वा सम्बन्धोर्थान्तरम्; तथापि तेनैकेन सम्बन्धेन सह द्वयोः सम्बन्धिनोः कः सम्बन्धः? यथा सम्बन्धिनोर्यथोक्तदोषान्न कश्चित्सम्बन्धस्तथात्रापि तेनानयोः सम्बन्धान्तराभ्युपगमे चानवस्था स्यात्तत्रापि सम्बन्धान्तरानुषङ्गात् । तन्न सम्बन्धिनोः सम्बन्धबुद्धिर्वास्तवी तद्वचतिरेकेणान्यस्य सम्बन्धस्यासम्भवात् । तदुक्तम्—

"द्वयोरेकाभिसम्बन्धात्सम्बन्धो यदि तद्द्वयोः ।
कः सम्बन्धोनवस्था च न सम्बन्धमतिस्तथा ॥४॥

ततः—

तौ च भावौ तदन्यश्च सर्वे ते स्वात्मनि स्थिताः ।
इत्यमिश्राः स्वयं भावास्तान् मिश्रयति कल्पना ॥५॥
[सम्बन्धपरी०]

दूसरी बात यह है कि यह सबंध अपने दो संबंधियों से भिन्न है कि अभिन्न ? यदि अभिन्न है तो मात्र दो सबंधी ही रहेंगे, सम्बंध नहीं रहेगा, अथवा अकेला संबंध ही रह सकेगा, सम्बंधी पदार्थ नही रह सकेंगे । दो सम्बंधियों से सम्बंध भिन्न माने तो अकेले सम्बंधी किस प्रकार परस्पर में सम्बद्ध हो सकेंगे ? सम्बंध तो न्यारा है ।

मान भी लेवें कि सम्बध भिन्न रहता है, तथापि उस एक सम्बंध के साथ दोनों सम्बंधियों का कौनसा सम्बंध है ? जिस प्रकार दो सम्बंधियों में पूर्वोक्त दोष होने से कोई सम्बंध सिद्ध नहीं हो पाता है उसीप्रकार सम्बंध के साथ सम्बंधियों का सम्बंध मानने में वे ही दोष आने से कोई सम्बंध सिद्ध नहीं होता है । संबंध के साथ संबंधियों का संबंध कराने हेतु अन्य सम्बंध की कल्पना करे तो अनवस्था होगी, क्योंकि वहां भी सम्बंधांतर की आवश्यकता रहेगी, अतः सम्बंधियों में सम्बंध का जो प्रतिभास होता है वह सत्य नहीं है, क्योंकि सम्बंधियों को छोड़कर अन्य कोई सम्बंध नामा पदार्थ नहीं है । कहा भी है – दो सम्बंधियों में एक सम्बंध से सम्बंध होता है वह सम्बंध भी उनमें किससे सम्बद्ध है ? अन्य किसी सम्बद्ध से है तो अनवस्था आती है अतः सम्बंधि पदार्थों में सम्बंध का जो प्रतिभास होता है वह असत् है ॥४॥

तौ च भावौ सम्बन्धिनौ ताभ्यामन्यश्च सम्बन्धः सर्वे ते स्वात्मनि स्वस्वरूपे स्थिताः। तेनामिश्रा व्यावृत्तस्वरूपाः स्वयं भावास्तथापि तान्मिश्रयति योजयति कल्पना। अत एव तद्वास्तवसम्बन्धाभावेपि तामेव कल्पनामनुरुन्धानैर्व्यवहर्तृभिर्भावानां भेदोऽन्यापोहस्तस्य प्रत्यायनाय क्रियाकारकादिवाचिनः शब्दाः प्रयोज्यन्ते-'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' इत्यादयः। न खलु कारकाणां क्रियया सम्बन्धोस्ति; क्षणिकत्वेन क्रियाकाले कारकाणामसम्भवात्। उक्तञ्च—

"तामेव चानुरुन्धानैः क्रियाकारकवाचिनः।
भावभेदप्रतीत्यर्थं संयोज्यन्तेभिधायकाः ॥६॥"
[सम्बन्धपरी०]

कार्यकारणभावस्तर्हि सम्बन्धो भविष्यति; इत्यप्यसमीचीनम्; कार्यकारणयोरसहभावतस्तस्यापि द्विष्ठस्यासम्भवात्। न खलु कारणकाले कार्यं तत्काले वा कारणमस्ति, तुल्यकालं कार्य-

---

इसलिये वे दोनों सम्बंधी, तथा सम्बंध ये सबके सब अपने में ही स्थित हैं, इसप्रकार अमिश्र सम्बन्ध रहित ही पदार्थ है, ऐसे मिश्र रहित पदार्थों को कल्पना बुद्धि मिश्रित करती है सम्बंध सहित प्रतिभासित कराती है ॥५॥

वे दोनों सम्बंधी पदार्थ, तथा उनसे अन्य सम्बंध ये सबके सब निज निज स्वरूप में स्थित हैं, इसप्रकार पदार्थ स्वयं अमिश्र व्यावृत्त स्वरूप है, फिर भी उन अमिश्र पदार्थों को कल्पना बुद्धि परस्पर में संयुक्त-संबद्ध करा देती है। अतएव उन पदार्थों में वास्तविक सम्बंध नहीं होते हुवे भी जो सम्बन्ध की कल्पना करा देती है उस काल्पनिक बुद्धि को करने वाले व्यवहारी जनों ने पदार्थों के भेद रूप अन्यापोह स्थापित किया और उसकी प्रतीति कराने के लिये क्रिया, कारकादि वाचक शब्दों को प्रयुक्त किया है जैसे हे देवदत्त ! सफेद गाय को दण्डे से भगादो, इत्यादि। यह वाचक शब्दादिक इसलिये काल्पनिक है कि कारकों का क्रिया के साथ कोई सम्बन्ध नही है, कारक तो क्षणिक है वे क्रिया के समय नहीं रहते हैं। कहा भी है—उसी काल्पनिक बुद्धि को करने वाले व्यवहारी लोगों द्वारा क्रिया, कारक वाचक शब्द पदार्थों में भेद बताने हेतु प्रयुक्त होते है ॥६॥

शंका— रूप श्लेषादि सम्बन्ध नहीं हो किन्तु कार्य कारणभाववाला सबंध तो सिद्ध होगा ?

कारणभावानुपपत्तेः सव्येतरगोविषाणवत् । तन्न सम्बन्धिनौ सहभाविनौ विद्येते येनानयोर्वर्तमानोसौ सम्बन्धः स्यात् । अद्विष्ठे च भावे सम्बन्धतानुपपन्नैव ।

कार्ये कारणे वा क्रमेणासौ सम्बन्धो वर्त्तते; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतः क्रमेणापि भावः सम्बन्धाख्य एकत्र कारणे कार्ये वा वर्त्तमानोऽन्यनिस्पृहः=कार्यकारणयोरन्यतरानपेक्षो नैकवृत्तिमान् सम्बन्धो युक्तः, तदभावेपि=कार्यकारणयोरभावेपि तद्भावात् । यदि पुनः कार्यकारणयोरेकं कार्यं कारणं वापेक्ष्यान्यत्र कार्ये कारणे वासौ सम्बन्धः क्रमेण वर्त्तत इति सस्पृहत्वेन द्विष्ठ एवेष्यते; तदाने-

---

समाधान—यह भी ठीक नहीं है, कारण और कार्य में सहभाव नहीं है अतः द्विष्ठ सम्बन्ध का भी उसमें असंभव है । आगे इसीको कहते हैं—कारण के समय में कार्य और कार्य के समय में कारण नहीं होता, क्योंकि समान काल वाले पदार्थों में कार्यकारण भाव असंभव है, जैसे गो के दांये बायें सींगों में कार्य कारणभाव नही है, अर्थात् दोनों सींग एक साथ उत्पन्न होने से एक सींग कारण और दूसरा कार्य है ऐसी व्यवस्था सर्वथा नहीं होती है । कार्य कारण सम्बन्ध वाले पदार्थ सहभावी नहीं पाये जाते, जिससे कि उनमें यह सम्बन्ध घटित हो सके । अर्थात् कारण और कार्य दोनों एक साथ नही रहते इसलिये दो में स्थित होने वाला यह सम्बन्ध उनमें घटित नहीं होता है ।

अद्विष्ठ पदार्थ में संबंध का सद्भाव सर्वथा असंभव है ।

शंका—यह सम्बन्ध क्रमशः पहले कारण में और पुनः कार्य में रहता है ।

समाधान—ऐसा भी नही जमता, क्योंकि यदि संबंध नामा वस्तु क्रम से एक कारण या कार्य में रहकर अन्यसे निस्पृह हैं, कार्य और कारण में से किसी एक की अपेक्षा नहीं रखता तो ऐसा एक वृत्तिवाला संबंध युक्त नहीं है, क्योंकि कार्य कारण के अभाव में भी रहता है । यदि कहा जाय कि कारण या कार्य में से एक किसी की अपेक्षा लेकर यह संबंध अन्य कारण अथवा कार्य में क्रम से विद्यमान है अतः सस्पृह होने से द्विष्ठ ही माना जाता है तो ये जो कार्य कारण हैं इनमें से अपेक्षा सहित होने के नाते उपकारकपना होना चाहिये, क्योंकि उपकारी ही सापेक्ष होता है अन्य नहीं, इस कथन का साराश यह निकला कि कार्य और कारण एक दूसरी अपेक्षा रखते हैं

नापेक्ष्यमाणेनोपकारिणा भवितव्यं यस्मादुपकार्यऽपेक्ष्य: स्यान्नान्य: । कथं चोपकरोत्यऽसन् ? यदा कारणकाले कार्याख्यो भावोऽसन् तत्काले वा कारणाख्यस्तदा नैवोपकुर्यादसामर्थ्यात् ।

किञ्च, यद्येकार्थाभिसम्बन्धात्कार्यकारणता तयो: कार्यकारणभावत्वेनाभिमतयो:, तर्हि द्वित्वसंख्यापरत्वापरत्वविभागादिसम्बन्धात्प्राप्ता सा सव्येतरगोविषाणयोरपि । न येन केनचिदेकेन सम्बन्धात्सेष्यते; किं तर्हि ? सम्बन्धलक्षणेनैवेति चेत्; तन्न; द्विष्ठो हि कश्चित्पदार्थ: सम्बन्ध:, नातोर्थद्वयाभिसम्बन्धादन्यत्तस्य लक्षणम्, येनास्य सख्यादेर्विशेषो व्यवस्थाप्येत ।

कस्यचिद्भावे भावोऽभावे चाभाव: तावुपाधी विशेषणं यस्य योगस्य=सम्बन्धस्य स कार्यकारणता यदि न सर्वसम्बन्ध:; तदा तावेव योगोपाधी भावाभावौ कार्यकारणताऽस्तु किम-

---

तो उनका परस्पर में उपकारक पना भी जरूरी है, किन्तु वे उपकार कैसे करें ? कारण के समय कार्य नहीं रहता और कार्य के समय कारण नही रहता अत: उनमें सामर्थ्य नहीं होने से उपकारकपना असंभव है ।

दूसरी बात यह है कि यदि एक के संबंध से कार्य कारण रूप से माने गये पदार्थों में कार्य कारणपना सिद्ध हो सकता है तो द्वित्व [दो] संख्या परत्व–अपरत्व, विभाग इत्यादि संबंध से वह कार्य कारणता गाय के दाये-बांये सींग मे भी हो सकती है ।

शंका—जिस किसी एक संबंध से कार्य कारणता नही मानी है किन्तु संबंध का लक्षण जिसमें है उससे कारण कार्यता आया करती है ?

समाधान—ऐसी बात नही है, द्विष्ठ रूप पदार्थ ही संबंध कहलाता है, दो पदार्थों के अभि संबंध से अन्य कुछ भी उसका लक्षण देखा नही जाता है, जिससे कि संख्या परत्व आदि से उसकी विशेषता–विभिन्नता व्यवस्थित की जा सके ।

शंका—किसी एक के [कार्य अथवा कारण के] होने पर होना और नहीं होने पर नही होना इसप्रकार भाव और अभाव है विशेषण जिसके उस सबंध को कार्य कारण संबध कहते है, न कि सभी संबधो को कार्य कारण संबंध कहते हैं ?

समाधान—यदि ऐसो बात है तो उन्हीं भाव और अभाव रूप विशेषणों को कार्य कारणपना माना जाय । व्यर्थ के असत् संबंध की कल्पना क्यों करे ? यदि जैनादि परवादी कहे कि अभाव भावरूप विशेषण और कार्य कारण में भेद [अंतर]

सत्सम्बन्धकल्पनया ? भेदाच्चेत् 'भावे हि भावोऽभावे चाभाव:' इति बहवोऽभिधेयाः कथं कार्यकारणतेत्येकार्थाभिधायिना शब्देनोच्यन्ते ? नन्वयं शब्दो नियोक्तारं समाश्रितः। नियोक्ता हि यं शब्दं यथा प्रयुङ्क्ते तथा प्राह, इत्यनेकत्राप्येका श्रुतिर्न विरुध्यते इति तावेव कार्यकारणता ।

यस्मात् पश्यन्नेकं कारणाभिमतमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्याऽदृष्टस्य कार्याख्यस्य दर्शने सति तददर्शने च सत्यऽपश्यत्कार्यमन्वेति 'इदमतो भवति' इति प्रतिपद्यते जनः 'अत इदं जातम्' इत्याख्यातृभिर्विनापि । तस्माद्दर्शनादर्शने–विषयिणि विषयोपचारात्–भावाभावौ मुक्त्वा कार्यबुद्धेरसम्भवात् कार्यादिश्रुतिरप्यत्र भावाभावयोर्मा लोकः प्रतिपदमियतीं शब्दमालामभिदध्यात् इति व्यवहारलाघवार्थं निवेशितेति ।

है, अर्थात् "होने पर होना और न होने पर नहीं होना" इस विशेषण रूप वाक्य के बहुत अर्थ हुआ करते हैं, उन सब अर्थों को कार्य कारणता रूप एक मात्र अर्थ को कहने वाले शब्द द्वारा कैसे कहा जा सकता है ? सो इस परवादी के प्रश्न का उत्तर यह है कि कौन से अर्थ को कितने अर्थों को शब्द कह रहा है यह काम तो शब्द का प्रयोग करने वाले व्यक्ति के अधीन है, शब्द का प्रयोक्ता जिस शब्द को जिसप्रकार से प्रयोग में लाता है उसी एक वा अनेक अर्थों को वह शब्द कहने वाला बन जाता है, अत: अनेक अर्थो में भी एक शब्द का प्रयुक्त होना विरुद्ध नहीं पड़ता है । इसप्रकार किसी एक के होने पर होना और न होने पर नहीं होना रूप भाव अभाव ही कार्य कारणपना है ऐसा सिद्ध होता है ।

कारणपने से माने गये कोई एक पदार्थ को देखते हुए जो "कारण के पहले अदृष्ट रहता है और उपलब्ध स्वभाववाला है "ऐसे कार्य की खोज मनुष्य किया करता है जिसका कि दर्शन और अदर्शन होता है, अर्थात् कारण जब दिखता है तब कार्य नहीं दिखता है और जब कार्य दिखता है तब कारण मौजूद नहीं रहने से दिखायी नहीं देता है, सो इस कारण कार्यता को बताने वाले व्यक्तियों के नही होने पर भी अपने आप ही मनुष्य समझ जाते हैं कि यह कार्य इस कारण से होता है" इसलिये कारण और कार्य में से किसी एक का दर्शन और एक का अदर्शन जिसमें है उस विषयी ज्ञान में विषय का उपचार होकर "इसके होने पर होता है और नहीं होने पर नही होता" ऐसी कार्य बुद्धि होती है, सो यह कार्य बुद्धि अर्थात् कार्य का ज्ञान भाव अभाव को छोड़कर नहीं होता है, कार्य आदि शब्द जो प्रयुक्त होते हैं वे

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कार्यकारणता नान्या चेत् कथं भावाभावाभ्यां सा प्रसाध्यते ? तदभावाभावात् लिंगात्तत्कार्यतागतिर्याप्यनुवर्ण्यते 'अस्येदं कार्यं कारणं च' इति; संकेतविषयाख्या सा । यथा 'गौरयं सास्नादिमत्त्वात्' इत्यनेन गोव्यवहारस्य विषयः प्रदर्श्यते । यतश्च 'भावे भाविनि=भवनधर्मिणि तद्भावः=कारणाभिमतस्य भाव एव कारणत्वम्, भावे एव कारणाभिमतस्य भाविता कार्याभिमतस्य कार्यत्वम्' इति प्रसिद्धे प्रत्यक्षानुपलम्भतो हेतुफलते । ततो भावाभावावेव कार्यकारणता नान्या तेनैतावन्मात्र=भावाभावौ तावेव तत्त्वं यस्यार्थस्यासावे तावन्मात्रतत्त्वः, सोऽर्थो येषां विकल्पानां ते एतावन्मात्रतत्त्वार्थाः=एतावन्मात्रबीजाः कार्यकारणगोचराः, दर्शयन्ति घटितानिव=सम्बद्धानिवाऽसम्बद्धानप्यर्थान् । एवं घटनाच्च मिथ्यार्थाः ।

किञ्च, असौ कार्यकारणभूतोऽर्थो भिन्नः, अभिन्नो वा स्यात् ? यदि भिन्नः; तर्हि भिन्नै का घटना स्वस्वभावव्यवस्थितेः ? अथाऽभिन्नः; तदाऽभिन्ने कार्यकारणतापि का ? नैव स्यात् ।

तो व्यवहार की लघुता के लिये हुआ करते है कि प्रत्येक समय या प्रत्येक स्थान पर ऐसा नही कहना पड़े कि "इसके होने पर यह होता है और न होने पर नहीं होता"। अभिप्राय यह हुआ कि कारण और कार्य को छोड़कर अन्य तीसरा कोई सबध नामा पदार्थ नही है ।

कोई पूछे कि अन्वय व्यतिरेक को छोडकर अन्य कार्य कारणता नही है तो उसको भाव अभाव से कैसे सिद्ध करते हैं, तथा कारण के भाव अभाव रूप हेतु से कार्य का अनुमान कैसे होता है कि यह इसका कार्य है और यह इसका कारण है ? सो इस प्रश्न का उत्तर यही है कि यह कार्य कारणता संकेत विषयक है, जैसे कि यह गाय है क्योंकि सास्नादिमान है "इत्यादि अनुमान में पहले का सकेत किया हुआ रहता है कि जिसमें ऐसी सास्ना [गले में लटकता हुआ जो चर्म रहता है उसे सास्ना कहते हैं] हो वह पशु गाय नाम से पुकारा जाता है इत्यादि । यह भी एक बात है कि पदार्थ में होना रूप धर्म रहना कार्य है, एवं कारण रूप से अभिमत पदार्थ ही कारण कहलाता है, पदार्थ में ही आगामी कालीन भाविता कार्यपने से प्रसिद्ध होता है, इसप्रकार प्रत्यक्ष और अनुपलंभ से हेतु और फल की [कारण कार्य की] सिद्धि होती है । इसीलिये हम बौद्ध भाव और अभाव को ही कार्य कारणपना मानते हैं । भाव और अभाव ही है तत्व जिसके उसे या उतने मात्र तत्व को कार्य कारण कहते हैं, और इस तरह के कार्य कारण तत्त्व जिन ज्ञानों के विषय हैं उन्हें विकल्प कहते

स्यादेतत्, न भिन्नस्याभिन्नस्य वा सम्बन्धः। किं तर्हि ? सम्बन्धाख्येनैकेन सम्बन्धात्; इत्यत्रापि भावे सत्तायामन्यस्य सम्बन्धस्य विश्लिष्टौ कार्यकारणाभिमतौ श्लिष्टौ स्याताम् कथं च तौ संयोगिसमवायिनौ ? आदिग्रहणात्स्वस्वाम्यादिकम्, सर्वमेतेनानन्तरोक्तेन सामान्यसम्बन्धप्रतिषेधेन चिन्तितम्।

संयोग्यादीनामन्योन्यमनुपकाराच्चाऽजन्यजनकभावाच्च न सम्बन्धो च तादृशोनुपकार्योपकारकभूतः।

अथास्ति कश्चित्समवायी योऽवयविरूपं कार्यं जनयति अतो नानुपकारादसम्बन्धितेति; तन्न; यतो जननेपि कार्यस्य केनचित्समवायिनाभ्युपगम्यमाने समवायी नासौ तदा जननकाले कार्य-

---

हैं, उन विकल्प या भ्रान्त ज्ञानों का यही काम है कि वे ज्ञान असंबद्ध पदार्थों को भी संबद्ध हुए के समान प्रतीति कराते हैं, और इसीलिये विकल्प मिथ्या कहलाते हैं।

किञ्च, कार्य कारण भूत पदार्थ परस्पर में भिन्न है या अभिन्न है, यदि भिन्न कहे तो दोनों का संबंध कैसे, क्योंकि दोनो भी स्व स्व स्वभाव में स्थित हैं। यदि अभिन्न कहे तो अभिन्न वस्तु में काहे की कार्य कारणता ? अर्थात् अभिन्न एकमेक हैं उसमें कार्य और कारण भाव बनना शक्य नहीं।

शंका—भिन्न या अभिन्न कार्य कारण का संबंध नहीं होता किन्तु संबंध नाम के एक संबंध से संबंध होता है ?

समाधान—ऐसा कहो तो स्वरूप से जो विश्लिष्ट थे उन कार्य कारण का पदार्थ में संबंध हुआ इस तरह का अर्थ निकला। फिर उन्हें संयोगी या 'समवायी' ऐसे नामों से कैसे पुकारेंगे ? तथा ऐसे विश्लिष्ट पदार्थ—स्वामी—भृत्य, गुरु—शिष्य, देवदत्तस्य धनं, इत्यादि संबंध द्वारा कैसे कहे जायेंगे। अतः सामान्य संबंध के निराकरण से ही सभी संयोग समवाय स्वस्वामी आदि संबंधों का निराकरण हुआ ऐसा समझना चाहिये। यह संयोगी आदि नामों से कहे जाने वाले जो पदार्थ हैं उनका परस्पर में अनुपकारत्व एवं अजन्य जनकत्व होने से भी कोई संबंधी सिद्ध नहीं होता, जिससे कि वैसा अनुपकारी उपकारक भूत पदार्थ न बने, अर्थात् सभी पदार्थ अनुपकारक या अजन्य आदि रूप से ही दिखायी देते हैं।

शंका—कोई एक समवायी नामा उपकारक है जो अवयवी स्वरूप कार्य को पैदा करता है। अतः "अनुपकारक होने से असंबंधिता है" ऐसा नहीं कह सकते ?

स्यानिष्पत्तेः। न च ततो जननात्समवायित्वं सिद्धयति; कुम्भकारादेरपि घटे समवायित्वप्रसंगात्। तयोः समवायिनोः परस्परमनुपकारेपि ताभ्यां वा समवायस्य नित्यतया समवायेन वा तयोः परत्र वा क्वचिदनुपकारेपि सम्बन्धो यदोष्यते; तदा विश्वं परस्परासम्बद्धं समवायि परस्परं स्यात्। यदि च संयोगस्य कार्यत्वात्तस्य ताभ्यां जननात्संयोगिता तयोः तदा संयोगजननेपीष्टौ, ततः संयोगजननाच्च तौ संयोगिनौ, कर्मणोपि संयोगितापत्तेः। संयोगो ह्यन्यतरकर्मजः उभयकर्मजश्चेष्यते।

समाधान—यह कथन ठीक नही है, किसी समवायी द्वारा कार्य को पैदा होना मानेंगे तो कार्य के उत्पत्ति काल में समवायी नही रहने से कार्य पैदा ही नहीं हो सकेगा, कार्य के पैदा होने पर उस पदार्थ में समवायीपना सिद्ध होता है ऐसा कहे तो कुंभकारादिका भी घट में समवायीपना मानना पड़ेगा। कार्य कारण रूप दो समवायी का परस्पर में उपकारकपना नहीं होते हुए भी संबंध माना जाता है, तथा उन कार्य कारण से नित्य समवाय का समवाय होना स्वीकार करते हैं, तथा च असमवायी अथवा अकार्य कारण स्वरूप कही अन्यत्र अनुपकारक वस्तु में भी कार्य कारणादि का संबंध मानते हैं तब तो परस्पर असंबद्ध विश्व भी परस्पर में समवायी मानना पड़ेगा ? क्योंकि अनुपकारकादि में भी संयोग आदि संबंध स्वीकार किये। यदि कहा जाय कि संयोग संबंध तो उन समवायी पदार्थों से उत्पन्न होता है अतः उन्ही दो पदार्थो का संबध माना जाता है। तब तो यह अर्थ निकला कि वे पदार्थ संयोग या संबंध को उत्पन्न भी करते है, किन्तु इस तरह वे संयोगी नहीं कहलायेंगे, क्योंकि यदि संयोग को उत्पन्न करने वाले पदार्थ को संयोगी कहेंगे तो कर्म पदार्थ को भी संयोगी मानना होगा।

भावार्थ—नैयायिकादि संयोग को उत्पन्न करने वाला कर्म नामा एक अलग ही पदार्थ मानते हैं, उनके यहां द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इस प्रकार छह पदार्थ माने हैं, सो कार्य कारण रूप समवायी से संयोगीपना होना स्वीकार करते हैं तो कर्म नामा पदार्थ भी संयोगी का कारण सिद्ध होता है, फिर दो द्रव्यों में ही संयोग होता है कर्मों में नही ऐसा मत गलत ठहरता है।

दो पदार्थों की क्रिया से तथा दोनों में से एक की क्रिया या कर्म से संयोग उत्पन्न होता है ऐसा नैयायिक ने माना ही है। संयोग की प्रतिपादक कारिका में आदि शब्द का ग्रहण किया है उससे संयोग नामा गुण भी संयोगी द्रव्यपने को प्राप्त

आदिग्रहणात्संयोगस्यापि संयोगिता स्यात् । न संयोगजननात्संयोगिता । किन्तर्हि ? स्थापनादिति चेत्; न स्थितिश्च प्रतिवर्णिता—ग्रन्थान्तरे प्रतिक्षिप्ता, स्थाप्यस्थापकयोर्जन्यजनकत्वाभावान्नान्या स्थितिरिति ।

"कार्यकारणभावोपि तयोरसहभावतः ।
प्रसिद्धयति कथं द्विष्ठोऽद्विष्ठे सम्बन्धता कथम् ।।७।।

क्रमेण भाव एकत्र वर्त्तमानोन्यनिस्पृहः ।
तदभावेपि तद्भावात्सम्बन्धो नैकवृत्तिमान् ।।८।।

होता है अभिप्राय यह है कि नैयायिक तो केवल द्रव्यों में ही संयोगीपना मानते है किन्तु यहां कर्म तथा गुण नामा पदार्थ में भी संयोगीपना सिद्ध हो रहा है ।

शंका—संयोग को उत्पन्न करने से संयोगीपना नहीं आता अपितु स्थापना से आता है, मतलब दो संयोगी पदार्थ द्वारा स्थापने योग्य संयोग लक्षण वाले पदार्थ की स्थिति को करने से संयोगीपना आता है ?

समाधान—यह बात असिद्ध है, हमने आपके इस स्थिति स्थापनका ग्रन्थांतर मे खण्डन कर दिया है, क्योंकि स्थाप्य और स्थापकमें आप जो जन्य जनक भाव बताते हैं सो जन्य जनक भावका तो निषेध कर चुके हैं, इसतरह स्थाप्य-स्थापक के असिद्ध होने से स्थिति सिद्ध नहीं होती ।

अब यहां पर संबंध के विषयका जो "संबंध परीक्षा" नामा ग्रन्थ में विवरण है उसको प्रस्तुत करते हैं—

कार्य कारण में असहभाव होने से द्विष्ठ संबंध कैसे बने, अद्विष्ठ में संबंधपना किसप्रकार हो सकता है ? [अर्थात् नहीं हो सकता] ।।७।।

पदार्थ तो क्रमसे अन्योन्य निस्पृह वर्त्तमान हैं, अतः कार्य या कारण के नहीं होनेपर भी इनमेंसे एक तो होता ही है, इसतरह संबंध सिद्ध नहीं होता, क्योंकि एक वृत्तिमान् (एक में रहना) को संबंध नहीं कहते ।।८।।

यद्यपेक्ष्य तयोरेकमन्यत्रासौ प्रवर्त्तते ।
उपकारी ह्यपेक्ष्यः स्यात्कथं चोपकरोत्यसन् ॥९॥
यद्येकार्थाभिसम्बन्धात्कार्यकारणता तयोः ।
प्राप्ता द्वित्वादिसम्बन्धात्सव्येतरविषाणयोः ॥१०॥
द्विष्ठो हि कश्चित्सम्बन्धो नातोन्यत्तस्य लक्षणम् ।
भावाभावोपधिर्योगः कार्यकारणता यदि ॥११॥
योगोपाधी न तावेव कार्यकारणतात्र किम् ।
भेदाच्चेन्नन्वऽयं शब्दो नियोक्तारं समाश्रितः ॥१२॥

उन कार्य कारणोंमें सापेक्ष भाव है तो उनमें से एक अन्यत्र कैसे प्रवृत्त हो ? उपकारीपना तो दोनों एक साथ रहे तो बने, जब कार्य और कारण में से वर्त्तमान में एक असत् है तब उपकार किसप्रकार कर सकता है ॥९॥

यदि कहा जाय कि पृथक् समयों में अवस्थित ऐसे कार्य कारणभूत पदार्थों में एकार्थाभिसंबंध होने से कार्य कारण रूप उपकारकपना बन जाता है तब तो द्वित्व आदि के अभिसंबंध से दांये बांये सींगों में भी कार्य कारण भाव मानना पड़ेगा ॥१०॥

कोई भी संबंध हो वह दो पदार्थों में होता है, द्विष्ठ ही उसका लक्षण है, अन्य लक्षण नहीं है । तथा भावाभाव के उपाधि का योग अर्थात् इसके होने पर (कारण के) होना और न होने पर नहीं होना यही कार्य कारणता है ऐसा कहा जाय तो ॥११॥

उसी भावाभाव की उपाधि के योग को कार्यकारण संबंध कहना चाहिये अर्थात् इससे पृथक् कोई संबंधनामा वस्तु नहीं है ऐसा मानना चाहिये । इस पर शंका होवे कि संबध अनेक भेद वाला होता है अतः यह निश्चय किस प्रकार होगा कि यहां विवक्षित प्रकरणमें कार्य कारणता ही भावाभाव वाच्य से कही जा रही है इत्यादि ? सो इसका उत्तर यह है कि इस तरह का निश्चय अर्थात् शब्द प्रयोग तो प्रयोक्ता के अधीन है ॥१२॥

पश्यन्नेकमदृष्टस्य दर्शने तददर्शने ।
अपश्यत्कार्यमन्वेति विना व्याख्यातृभिर्जनः ॥१३॥

दर्शनादर्शने मुक्त्वा कार्यबुद्धेरसम्भवात् ।
कार्यादिश्रुतिरप्यत्र लाघवार्थं निवेशिता ॥१४॥

तद्भावाभावात्तत्कार्यगतिर्याप्यनुवर्ण्यते ।
संकेतविषयाख्या सा सास्नादेर्गोगतिर्यथा ॥१५॥

भावे भाविनि तद्भावो भाव एव च भाविता ।
प्रसिद्धे हेतुफलते प्रत्यक्षानुपलम्भतः ॥१६॥

एतावन्मात्रतत्त्वार्थाः कार्यकारणगोचराः ।
विकल्पा दर्शयन्त्यर्थान् मिथ्यार्था घटितानिव ॥१७॥

किसी एक कारण को देखता हुआ पुरुष अवशेष जो अदृष्ट कार्य है उसका अन्वेषण व्याख्याता के बिना स्वयं करता है ॥१३॥

कार्य कारणका दर्शन अदर्शन ही कार्य बुद्धि है इससे अन्य नहीं, कार्य कारण आदि शब्दों की योजना तो व्यवहार लाघव के लिये की गयी है ॥१४॥

इस कारण के होने पर यह कार्य होता है इत्यादि जो कहा जाता है अथवा ऐसा ज्ञान होता है वह केवल संकेत विषयक है, जैसे कि किसी ने कहा कि यह गो है, क्योंकि सास्नादिमान है, सो सास्नायुक्त पदार्थ में संकेत मात्र ही तो है ॥१५॥

पदार्थका भावी भवनरूप होना यही तो कार्य कारणता है, और यह हेतु तथा फल स्वरूप कारण कार्य भाव प्रत्यक्ष और अनुपलंभ से सिद्ध होता है ॥१६॥

भावाभावकी उपाधि मात्र ही कार्य कारणपने का स्वरूप है, इस कार्य कारणपने को ग्रहण करने वाले विकल्प हुआ करते हैं वे असंबद्ध पदार्थों को भी संबद्ध के सदृश प्रतीत कराते हैं, इसीलिये तो विकल्प ज्ञान मिथ्या कहलाते हैं ॥१७॥

भिन्ने का घटनाऽभिन्ने कार्यकारणतापि का ।
भावे ह्यन्यस्य विश्लिष्टौ श्लिष्टौ स्यातां कथं च तौ ।।१८।।

संयोगिसमवाय्यादि सर्वमेतेन चिन्तितम् ।
अन्योन्यानुपकाराच्च न सम्बन्धी च तादृशः ।।१९।।

जननेपि हि कार्यस्य केनचित्समवायिना ।
समवायी तदा नासौ न ततोतिप्रसंगतः ।।२०।।

तयोरनुपकारेपि समवाये परत्र वा ।
सम्बन्धो यदि विश्वं स्यात्समवायि परस्परम् ।।२१।।

संबंध वादी से हम बौद्ध पूछते हैं कि कारण और कार्यरूप पदार्थ को छोड़कर अन्य संबंध नामा क्या चीज है ? यदि इस संबंध को उनसे भिन्न बतलायेंगे तो वह संबंध ही नहीं कहलायेगा, एवं अभिन्न कहें तो वे एकमेक हुए, उसमें काहेका संबंध ? विभिन्न दो पदार्थों में विभिन्न संबंध किसप्रकार संबन्ध स्थापित कर सकता है ।।१८।।

जैसे यह कार्य कारण संबंध सिद्ध नहीं होता है वैसे समवाय संबंध, संयोग संबन्ध या संयोगी पदार्थ, समवायी पदार्थ आदि भी सिद्ध नहीं होते ऐसा समझना चाहिये । क्योंकि संयोगी आदि पदार्थों में परस्पर उपकारपना तो है नहीं, जिससे वैसा संबंधी सिद्ध हो ।।१९।।

समवायी द्वारा कार्य को उत्पन्न किया जाता है ऐसा कहे तो भी ठीक नहीं, क्योंकि कार्य निष्पत्ति के समय समवायी पदार्थ नष्ट हो चुकता है, नष्ट हुए को समवायी माना जाय तो अति प्रसंग आता है ।।२०।।

समवायीरूप दो पदार्थ एव समवाय ये सब परस्पर पृथक् हैं, इनका उपकारभाव बनता नही, अनुपकार नित्य पृथक् ऐसे समवाय से यदि संबन्ध होना मानें तो विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ परस्पर के समवायी कहलाने लगेंगे ।।२१।।

संयोगजननेपीष्टौ ततः संयोगिनौ न तौ ।
कर्मादियोगितापत्तेः स्थितिश्च प्रतिवर्णिता ॥२२॥"

[सम्बन्धपरी०] इति ।

अस्तु वा कार्यकारणभावलक्षणः सम्बन्धः, तथाप्यस्य प्रतिपन्नस्य, अप्रतिपन्नस्य वा सत्त्वं सिद्ध्येत् ? न तावदप्रतिपन्नस्य; अतिप्रसंगात् । प्रतिपन्नस्य चेत्; कुतोस्य प्रतिपत्तिः-प्रत्यक्षेण, प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां वा, अनुमानेन वा प्रकारान्तराऽसम्भवात् ? प्रत्यक्षेण चेत्; अग्निस्वरूप-

---

समवायीकी जैसी बात है वैसी संयोगी की भी बात है, अर्थात् दो संयोगी द्रव्य संयोग को उत्पन्न करते हैं ऐसा मानें तो भी ठीक नहीं है, संयोग को कर्म नामा पदार्थ करता है सो उसको भी संयोगी मानना पड़ेगा, नैयायिकादिने कर्म पदार्थ का जो स्थिति स्थापक आदि लक्षण या काम निर्धारित किया है वह भी खंडित कर दिया है, क्योंकि स्थाप्य-स्थापक भाव भी जन्य-जनक के असिद्ध रहने से किसी तरह से भी सिद्ध नहीं होता है ॥२२॥

नैयायिकादि के आग्रह से मान भी लेवें कि कार्य-कारण लक्षण भूत कोई संबन्ध है, किन्तु प्रतिपन्न संबन्ध का सत्व सिद्ध करे कि अप्रतिपन्नका ? अप्रतिपन्नका सत्व तो सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अतिप्रसंग दोष आता है, अर्थात् अप्रतिपन्न वस्तु भी माने तो गगनपुष्प आदि भी मानने होंगे, क्योंकि वे भी अप्रतिपन्न हैं । प्रतिपन्न कार्यकारणका सत्व सिद्ध करते हैं ऐसा कहो तो उक्त कार्य कारणको किस प्रमाण से जाना प्रत्यक्ष से या अन्वय व्यतिरेकी ज्ञानों से, याकि अनुमान से ? अन्य कोई प्रमाण नहीं है । प्रत्यक्ष प्रमाण से कार्य कारण संबन्ध जाना जाता है ऐसा माने तो वह प्रत्यक्ष कौनसा है, अग्नि स्वरूप (कारण) का ग्राहक है कि धूम स्वरूपका (कार्य का) ग्राहक है, याकि उभय स्वरूप (कार्य कारण दोनों) का ग्राहक है ? अग्निस्वरूप ग्राहक प्रत्यक्ष से कार्यकारण संबन्ध तो जाना नही जा सकता, क्योंकि वह प्रत्यक्ष तो मात्र अग्नि का सद्भाव जान रहा है, धूम स्वरूप का नहीं, बिना धूम को जाने "यह अग्नि धूम का कारण है" इत्यादि रूप से निश्चय हो नही सकता । और इस तरह प्रतियोगी जो धूमादि कार्य है उसको जाने बिना उसके प्रति जो कारण

ग्राहिणा, धूमस्वरूपग्राहिणा, उभयस्वरूपग्राहिणा वा ? न तावदग्निस्वरूपग्राहिणा; तद्धि तत्सद्भावमात्रमेव प्रतिपद्यते न धूमस्वरूपम्, तदप्रतिपत्तौ च न तदपेक्षयाग्नेः कारणत्वावगमः। न हि प्रतियोगिस्वरूपाप्रतिपत्तौ तं प्रति कस्यचित्कारणत्वमन्यद्वा धर्मान्तरं प्रत्येतुं शक्यमतिप्रसंगात्। नापि धूमस्वरूपग्राहिणा प्रत्यक्षेण कार्यकारणभावावगमः; अत एव, उभयस्वरूपग्रहणे खलु तन्निष्ठसम्बन्धावगमो युक्तो नान्यथा। नाप्युभयस्वरूपग्राहिणा; तत्रापि हि तयोः स्वरूपमात्रमेव प्रतिभासते न त्वग्नेर्धूमं प्रति कारणत्वं तस्यैव तं प्रति कार्यत्वम्। न हि स्वस्वरूपनिष्ठपदार्थद्वयस्यैकज्ञानप्रतिभासमात्रेण कार्यकारणभावप्रतिभासः, घटपटादेरपि तत्प्रसंगात्। यत्प्रतिभासानन्तरमेकत्र ज्ञाने यस्य प्रतिभासस्तयोस्तदवगमः; इत्यपि तादृग्; घटप्रतिभासानन्तरं पटस्यापि प्रतिभासनात्। न च 'क्रमभाविपदार्थद्वयप्रतिभाससमन्वय्येकं ज्ञानम्' इति वक्तुं शक्यम्; सर्वत्र प्रतिभासभेदस्य भेदनिबन्धनत्वात्।

है उसका प्रतिपादन नहीं कर सकते है कि यह पदार्थ इसका कारण है, या इसका कोई धर्म या स्वभाव है इत्यादि। यदि प्रतियोगी कार्यादिक संबंधित पदार्थ के ज्ञात किये बिना उसका कारण ज्ञात होना माने तो अति प्रसंग आयेगा।

धूम स्वरूप ग्राही प्रत्यक्ष द्वारा कार्य कारण संबन्ध जाना जाता है ऐसा भी नही कहना, क्योंकि उसमें वही दोष आता है। उभय–कारण कार्य को ग्रहण करने पर ही दोनों में होने वाला संबन्ध जान सकते हैं अन्यथा नही। उभय स्वरूप ग्राही प्रत्यक्ष द्वारा कार्य कारण संबन्ध का ज्ञान होता है ऐसा कहना भी जंचता नहीं, क्योंकि उस प्रत्यक्ष में भी दोनों का (अग्नि और धूमका) स्वरूप मात्र प्रतिभासित हो रहा है न कि अग्नि धूम के प्रति कारण है, धूम अग्नि का कार्य है इत्यादि रूप प्रतीत होता है। अपने अपने स्वरूप में निष्ठ ऐसे दो पदार्थो का एक ज्ञान द्वारा प्रतिभास होने मात्र से कोई कारण कार्य भाव जाना नहीं जाता, यदि ऐसा माना जाय तो घट और पट आदि में भी कार्य कारण भाव मानना पड़ेगा। क्योंकि वे भी एक ज्ञान द्वारा प्रतिभासित होते हैं।

शंका—एक के प्रतिभासित होने के अनन्तर जिसका एक ज्ञान में प्रतिभास होगा वह उन कार्य कारण के सम्बन्ध को जान लेगा ?

समाधान—यह कथन भी पहले जैसा सदोष है, प्रतिभास के अनंतर होने वाला प्रतिभास यदि कार्य कारण सम्बन्ध का ग्राहक माना जाय तो घट प्रतिभास के

अथाग्निधूमस्वरूपद्वयग्राहिज्ञानद्वयानन्तरभाविस्मरणसहकारीन्द्रियजनितसविकल्पकज्ञाने तद्-द्वयस्य पूर्वापरकालभाविन: प्रतिभासात्कार्यकारणभावनिश्चयो भविष्यतीत्युच्यते; तदप्युक्ति-मात्रम्; चक्षुरादीनां तज्ज्ञानजननासामर्थ्ये स्मरणसव्यपेक्षाणामपि जनकत्वविरोधात् । न हि परि-मलस्मरणसव्यपेक्षं लोचनं 'सुरभि चन्दनम्' इति प्रत्ययमुत्पादयति । तत्सव्यपेक्षलोचनव्यापारानन्त-रमेते कार्यकारणभूता इत्यवभासनात्तद्भाव: सविकल्पकप्रत्यक्षप्रसिद्धः; इत्यप्यसमीचीनम्; गन्ध-

---

अनन्तर पट प्रतिभास होता है । उसे भी कार्यकारण सम्बन्धका ग्राहक मानना पड़ेगा । क्रम से होने वाले दो पदार्थों के प्रतिभासों का समन्वय करने वाला कोई एक ज्ञान है ऐसा भी कह नही सकते क्योंकि ज्ञान हो चाहे प्रमेय हो सर्वत्र ही प्रतिभास के भेद से ही भेद व्यवस्था हुआ करती है ।

शंका—अग्नि और धूम के स्वरूप को ग्रहण करने वाले दो ज्ञानों के अनंतर एक ऐसा ज्ञान होता है कि जिसमें स्मरण महायक है, एवं जो इन्द्रिय से पैदा हुआ है, उस ज्ञान मे पूर्वापर काल भावी अग्नि धूम का प्रतिभास हो जाता है, अतः उस ज्ञान द्वारा कार्यकारण भाव का निश्चय हो जायगा ?

समाधान—यह कथन ठीक नही है, जब चक्षु आदि इन्द्रियां उस ज्ञान को पैदा करने में असमर्थ हैं तब स्मरण की सहायता मिलने पर भी वे उस ज्ञान को पैदा नहीं कर सकती । क्या चक्षु इन्द्रिय स्मरण की सहायता लेकर "यह चंदन सुगंधित है" इसप्रकार का निश्चय करा सकती है ? नहीं करा सकती ।

शंका—स्मरण सहायक नेत्र ज्ञान होने के अनंतर इन धूम अग्नि में कार्य कारण भाव सम्बन्ध है ऐसा प्रतीत होता है अतः वह सम्बन्ध सविकल्प प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है ?

समाधान—यह बात असत् है, इसतरह कहो तो नेत्र ज्ञान का विषय गंध भी है ऐसा मानना पड़ेगा ? क्योंकि गंध के स्मरण की सहायता युक्त नेत्र के व्यापार होने के अनंतर "चंदन सुगंधित है" ऐसा प्रतिभास होता है । इसतरह विषय संकर रूप अति प्रसंग न हो जाय इसलिये मानना होगा कि कार्य कारण भाव संबंध प्रत्यक्ष ज्ञान से नहीं जाना जाता ।

स्यापि लोचनज्ञानविषयत्वप्रसंगात्, गन्धस्मरणसहकारिलोचनव्यापारानन्तरं 'सुरभि चन्दनम्' इति प्रत्ययप्रतीतेः। तन्न प्रत्यक्षेणासौ प्रतीयते।

नापि प्रत्यक्षानुपलम्भाभ्याम्; प्रत्यक्षस्येवानुपलम्भस्यापि प्रतिषेध्यविविक्तवस्तुमात्रविषयत्वेनात्राऽसामर्थ्यात्। अथाग्निसद्भाव एव धूमस्य भावस्तदभावे चाभावः कार्यकारणभावः, स

प्रत्यक्ष और अन्वय व्यतिरेक रूप अनुपलंभ से कार्य कारण संबंध जाना जाता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण में उस संबंध को जानने की सामर्थ्य नहीं है, वैसे अनुपलंभ में भी नही है, क्योंकि अनुपलंभ ज्ञान भी प्रतिषेध्य जो अग्नि धूमादि है उनसे पृथक्भूत जो महाह्रद (तालाब) आदि है उसीको विषय करता है।

शंका—अग्नि के होने पर ही धूम होता है और अग्नि के अभाव में नहीं होता है इस तरह का इन दोनों का जो कार्य कारण संबंध है उसका प्रत्यक्ष तथा अनुपलंभ से प्रतिभास होता है ऐसा हम कहते हैं ?

समाधान—तो फिर वक्तृत्व आदि हेतुकी असर्वज्ञत्व के साथ व्याप्ति सिद्ध हो जायगी। देखो ! रागादिमान असर्वज्ञस्वरूप हमारे में ही वक्तृत्व देखा जाता है और रागादिभाव रहित एवं असर्वज्ञत्व रहित शिला खण्ड आदि में वह वक्तृत्व देखा नहीं जाता, इससे वक्तृत्व की असर्वज्ञ के साथ व्याप्ति सिद्ध होती है। और यदि इस बात को सही मानते है तो आप संबंधवादी जैन नैयायिकादिने सर्वज्ञ वीतराग प्रभु के लिये जलांजलि दी समझनी चाहिये।

विशेषार्थ—"अग्नि के सद्भाव में ही धूम होता है और अग्नि के अभाव में धूम का भी अभाव होता है" ऐसा अन्वय व्यतिरेक सही मानकर उसके द्वारा कार्य कारण भाव सम्बन्ध सिद्ध किया जाता है तो सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार करने वाले जैन, नैयायिकादिके यहां पर बड़ा भारी दोष उपस्थित होता है, कैसे सो बताते हैं–मीमांसक सर्वज्ञ का अभाव करने के लिये अनुमान प्रमाण उपस्थित करते हैं कि "नास्ति सर्वज्ञः वक्तृत्वात्" सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वह बोलने वाला है, जो बोलनेवाला होता है वह सर्वज्ञ नहीं होता, जैसे हम लोग, अर्थात् हम असर्वज्ञ तथा रागादियुक्त हैं सो हम स्वयं में असर्वज्ञ के सद्भाव में वक्तृत्व पाया जाता है और रागादि तथा असर्वज्ञत्व के

चेताभ्यां प्रतीयते इत्युच्यते; तर्हि वक्तृत्वस्यासर्वज्ञत्वादिना व्याप्तिः स्यात्। तद्धि रागादिमत्त्वाऽसर्वज्ञत्वसद्भावे स्वात्मन्येव दृष्टम्, तदभावे चोपलशकलादौ न दृष्टम्। तथा च सर्वज्ञवीतरागाय दत्तो जलांजलिः।

वक्तृत्वस्य वक्तुकामताहेतुकत्वान्नायं दोषः; रागादिसद्भावेपि वक्तुकामताभावे तस्या सत्त्वात् नन्वेवं व्यभिचारे विवक्षाप्यस्य निमित्तं न स्यात्, अन्यविवक्षायामप्यन्यशब्दोपलम्भात्, अन्यथा गोत्रस्खलनादेरभावप्रसंगात्। अथार्थविवक्षाव्यभिचारेपि शब्दविवक्षायामप्यव्यभिचारः; न;

अभाव में पत्थर आदि में वक्तृत्व पाया नहीं जाता सो यह अनुमान सर्वज्ञ के अभाव को निर्बाध सिद्ध कर देगा क्योंकि यहां पर संबंधवाद के प्रकरण में नैयायिकादि इस तरह का अन्वय व्यतिरेक स्वीकार कर रहे हैं किन्तु सर्वज्ञ का अभाव हम किसी को भी इष्ट नही है, अतः इस तरह की व्याप्ति बतलाकर कार्य कारण सम्बन्ध को सिद्ध करना शक्य नहीं है ऐसा बौद्ध ने संबंधका निराकरण करते हुए कहा है।

शंका—बौद्ध ने जो अभी कहा कि अग्नि और धूम का कार्य कारण भाव इसतरह के अन्वय व्यतिरेक से सिद्ध करेंगे तो वक्तृत्व हेतु से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध हो जायगा सो ऐसी बात नहीं है, वक्तृत्व जो होता है वह बोलने की इच्छा से होता है, बोलने को इच्छा सर्वज्ञ के होती नही, अतः वक्तृत्व हेतु से असर्वज्ञपना सिद्ध नहीं होता है। हम लोग देखते हैं कि रागादि के सद्भाव में भी जब बोलने की इच्छा नहीं होती तो वक्तृत्व (बोलनारूप क्रिया) नहीं होता अतः रागादि जहां हो वहां वक्तृत्व होवे ही ऐसा नियम नहीं होने से वक्तृत्व हेतु सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं कर सकता।

समाधान—इस तरह वक्तृत्व हेतु को व्यभिचरित ठहराया जाय तो आपकी यह बोलने को इच्छा रूप विवक्षा भी वक्तृत्व का निमित्त सिद्ध नहीं हो सकेगी अर्थात् बोलने की इच्छा होने पर ही वक्तृत्व होता है ऐसा वक्तृत्व का कारण विवक्षा बतायी जाय तो उसमें भी वही व्यभिचार आता है, देखा जाता है कि विवक्षा तो और कुछ है और बोला जाता है और कुछ, अतः विवक्षा ही वक्तृत्व का निमित्त है यह कहां सिद्ध हुआ। अन्यथा गोत्र स्खलन आदि का अभाव होवेगा अर्थात् विवक्षा अन्य है और कह देते हैं अन्य। कहना चाहते हैं देवदत्त, और कहते हैं जिनदत्त, सो इससे मालूम

स्वप्नावस्थायामन्यत्र गतचित्तस्य वा शब्दविवक्षाभावेपि वक्तृत्वसंवेदनात् । न च व्यवहिता सा तन्निमित्तमिति वक्तव्यम्; प्रतिनियतकार्यकारणभावाभावप्रसंगात्, सर्वस्य तत्प्राप्तेः । अथ 'असर्वज्ञत्वाद्यभावे सर्वत्र वक्तृत्वं न सम्भवति' इत्यत्र प्रमाणाभावान्न तस्य तेन कार्यकारणभावलक्षणः प्रतिबन्धः सिद्धयति; तदग्निधूमावावपि समानम् । अथ 'अग्न्यभावे धूमस्य भावे तद्धेतुकताविरहात्सकृदप्यहेतोरग्नेस्तस्य भावो न स्यात्, दृश्यते च महानसादावग्नितः, ततो नानग्नेर्धूमसद्भावः' इति

होता है कि विवक्षा वक्तृत्वका निमित्त नही है ।

प्रश्न—अर्थ विवक्षा में भले ही व्यभिचार हो किन्तु शब्द विवक्षा में व्यभिचार नहीं है अर्थात् कहना चाहा कुछ और निकल गया कुछ किन्तु इच्छा तो थी ही, बिना इच्छा के वक्तृत्व कहां हुआ ।

उत्तर—ऐसा कहना भी नही जमता, देखिये—कोई स्वप्न अवस्था में है अथवा उसका कही अन्यत्र मन गया है तब उस व्यक्ति के कोई भी विवक्षा नही होती किन्तु वक्तृत्व तो देखा जाता है । तुम कहो कि पहले जाग्रत आदि अवस्था की विवक्षा उस स्वप्नावस्था आदि में निमित्त पड़ जायगी सो भी ठीक नही है, इसतरह के व्यवहित विवक्षा को भी निमित्त माना जाय तो प्रतिनियत कार्य कारणभाव ही समाप्त होवेगा क्योंकि हर किसी व्यवहित कारण से हर कोई व्यवहित कार्य होवेगा, सब कार्य के लिए व्यवहित कारण निमित्त पड़ने लग जायेंगे ।

शंका—सभी पुरुषों में रागादिक तथा असर्वज्ञ के अभाव होने पर वक्तृत्व नहीं होता है, अर्थात् सभी पुरुष रागादिमान होकर ही वक्तृत्व युक्त होते है ऐसा जानने के लिए कोई प्रमाणभूत ज्ञान नहीं है, अत असर्वज्ञत्वादि के साथ वक्तृत्व का कार्य कारणभाव रूप अविनाभाव सिद्ध नही हो पाता है ।

समाधान—सो यही बात अग्नि और धूम में भी लागु होगी अर्थात् सब जगह धूम और अग्नि में कार्य कारण सबध है ऐसा जानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है अतः उनमें भी अविनाभाव सिद्ध नहीं हो सकेगा ।

शंका—यदि अग्नि के अभाव में धूम का सद्भाव होता है तो धूम अग्नि हेतुक सिद्ध नहीं होने से एक बार भी अग्नि धूम का हेतु नहीं बन सकेगी, किन्तु

प्रतिबन्धसिद्धिरित्यभिधीयते; तदप्यभिधानमात्रम्; यथैव ह्रीन्धनादेरेकदा समुद्भूतोप्यग्नि: अन्य-दारणिनिर्मथनात् मण्यादेर्वा भवन्नुपलभ्यते, धूमो वाग्नितो जायमानोपि गोपालघटिकादौ पावकोद्-भूतधूमादप्युपजायते, तथा 'अग्न्यभावेपि कदाचिद्धूमो भविष्यति' इति कुतः प्रतिबन्धसिद्धिः ? अथ 'यादृशोग्निरिन्धनादिसामग्रीतो जायमानो दृष्टो न तादृशोऽरणितो मण्यादेर्वा। धूमोपि यादृशोग्नितो न तादृशो गोपालघटिकादौ वह्निप्रभवधूमात्, अन्यादृशात्तादृशभावेतिप्रसंगात् इति नाग्निजन्यधूमस्य तत्सदृशस्य चानग्नेर्भावः। भावे वा तादृशधूमजनकस्याग्निस्वभावतैव इति न व्यभिचारः। तदुक्तम्—

महानसादि में अग्नि से धूम निकलता हुआ देखा जाता है, अतः मालूम होता है कि बिना अग्नि के धूम का सद्भाव नहीं हो सकता, इसप्रकार कार्य कारण का अविनाभाव सिद्ध होता है ?

समाधान—यह भी कथन मात्र है, जिसप्रकार किसी एक समय ईन्धनादि से अग्नि उत्पन्न होती देखी जाती है, वैसे अन्य समय में कभी अरणि मथन से या कभी मणि मन्त्रादि से भी अग्नि उत्पन्न होती है, ठीक इसीप्रकार धूम अग्नि से उत्पन्न होता हुआ कही दिखाई देने पर भी कहीं गोपाल घटिका (इन्द्रजालियो के घड़े में) आदि में अग्नि जन्य धूम से भी धूम की उत्पत्ति देखी जाती है, इसतरह के धूम को देखे तो मालूम पड़ता है कि कदाचित् अग्नि के अभाव में भी धूम होता है, फिर किससे धूम और अग्नि में कार्य कारण का अविनाभाव सिद्ध करे ? अर्थात् नहीं कर सकते।

शंका—जिसप्रकार की ईन्धनादि से पैदा हुई अग्नि होती है उसप्रकार की अरणि या मणि आदि से उत्पन्न हुई अग्नि नहीं हुआ करती, ऐसा अग्नि मे भेद माना जाता है, इसीतरह अग्नि से पैदा हुआ धूम जैसा होता है वैसा गोपाल घटिकादि में अग्नि से जन्य धूमके निमित्त से निकलने वाला धूम नहीं होता है, अतः धूमों में भी विभिन्नता स्वीकार करनी होगी, यदि अन्य प्रकार के धूम को भी वैसा ही धूम माना जायगा तो अतिप्रसंग आता है, अतः जो साक्षात् अग्नि जन्य धूम है उसकी गोपाल घटिका के धूम के समानता नहीं हो सकती। यदि धूमो में समानता है तो उनमें अग्नि स्वभावता ही सिद्ध होगी। इसप्रकार धूम और अग्नि में कार्य कारण संबंध का कोई भी व्यभिचार नही है, ऐसा निश्चित हुआ, कहा भी है—गोपाल घटिका में धूम दिखाई देता है वह यदि अग्निस्वभाव वाला मानें तो वहां अग्नि है ही, और

"अग्निस्वभावः शक्रस्य मूर्धा यद्यग्निरेव सः ।
अथानग्निस्वभावोसौ धूमस्तत्र कथं भवेत् ।।"
[प्रमाणवा० ३।३५] इत्यादि ।

तदेतद्वक्तृत्वेपि समानम्—'सद्धि सर्वज्ञे वीतरागे वा यदि स्यात्, असर्वज्ञाद्रागादिमतो वा कदाचिदपि न स्यादहेतोः सकृदप्यसम्भवात्, भवति च ततः, अतो न सर्वज्ञे तस्य तत्सदृशस्य वा सम्भवः' इति प्रतिबन्धसिद्धिः ।

यदि वह धूम अग्निस्वभाव नही है तो वह धूम ही कैसे कहलायेगा ? ।।१।।

समाधान—अग्नि और धूम के बारे मे नैयायिकादिका दिया हुआ यह व्याख्यान वक्तृत्व हेतु में भी घटित होता है, सो ही बताते है, सर्वज्ञ या वीतराग पुरुष में यदि वक्तृत्व है तो वह असर्वज्ञ के या रागादि मान के कभी भी नही होगा, क्योंकि जो हेतु नहीं है, वह एक बार भी नहीं होना था, किन्तु असर्वज्ञ में तो वक्तृत्व पाया जाता है अतः सर्वज्ञ में उस वक्तृत्व का अथवा उसके समान वक्तृत्व का सद्भाव सम्भव नहीं, इसतरह असर्वज्ञत्व एवं रागादिमान पुरुषों के साथ ही वक्तृत्व हेतु का अविनाभाव सिद्ध होगा ।

भावार्थ—मीमांसकादि सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करने के लिए वक्तृत्व हेतु देते हैं कि सर्वज्ञ नही है, क्योंकि वह बोलनेवाला है, जो जो बोलनेवाला होता है वह वह असर्वज्ञ ही होता है, जैसे हम लोग बोलते हैं तो असर्वज्ञ ही है सर्वज्ञ नही है । इस अनुमान में असर्वज्ञपना और वक्तृत्वपना इन दोनों का अविनाभाव सिद्ध करने की मीमांसक ने कोशिश की है । किन्तु सर्वज्ञवादी जैन, नैयायिकादि लोग इस वक्तृत्व हेतु को सदोष ठहराकर अनुमान का खण्डन करते हैं, जैनादि का कहना है कि सर्वज्ञत्व के साथ वक्तृत्व का कोई विरोध तो है नही जिससे कि वह सर्वज्ञ में न रहकर अकेले असर्वज्ञ में ही रहे । जगत में देखा जाता है कि जो विशेष ज्ञानी या विद्वान होता है वह अज्ञानो की अपेक्षा अधिक अच्छा, स्पष्ट, मधुर अर्थ सन्दर्भ युक्त बोलता है, इससे विपरीत अज्ञानी को कुछ भी ठीक से बोलना नही आता है, अतः जो सम्पूर्ण जगतत्रय एव कालत्रयवर्ती पदार्थों का ज्ञायक है वह तो विशेष अधिक स्पष्ट बोलेगा, इसलिए बोलनेवाला होने से सर्वज्ञ नही है, ऐसा मीमांसकका कथन गलत ठहरता है ।

किञ्च, कार्यकारणभावः सकलदेशकालावस्थिताखिलाग्निधूमव्यक्तिक्रोडीकरणेनावगतोऽनु-मानिमित्तम्, नान्यथा। न च निर्विकल्पकसविकल्पकप्रत्यक्षस्येयति वस्तुनि व्यापारः, प्रत्यक्षानु-पलम्भयोर्वा।

किञ्च, कार्योत्पादनशक्तिविशिष्टत्वं कारणत्वम्। न चासौ शक्तिः प्रत्यक्षावसेया किन्तु कार्य-दर्शनगम्या,

"शक्तयः सर्वभावानां कार्यार्थापत्तिगोचराः"

[मी० श्लो० शून्यवाद श्लो० २५४] इत्यभिधानात्।

यहां पर कार्यकारण आदि सम्बन्धका खण्डन करते हुए बौद्ध लोग जैन आदि पर आक्षेप लगा रहे हैं कि आप यदि धूम और अग्निमें कार्य कारण का सर्वथा अविनाभाव सिद्ध करते हैं, उसमें किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं मानते हैं तो वक्तृत्व और असर्वज्ञ-त्व मे अविनाभाव मानना पड़ेगा इत्यादि। अस्तु। आगे जैन इस बौद्ध के मन्तव्य का निरसन करनेवाले है।

अग्नि और धूम इत्यादि पदार्थों में सम्बन्ध वादी कार्य कारण सम्बन्ध मानते हैं, किन्तु जब सम्पूर्ण देश और सम्पूर्ण कालों मे होनेवाले जितने भी धूम और अग्नि है उन सबको एक एक को जानेंगे तब वह कार्य कारणभाव संबंध अनुमान का हेतु बन सकता है, अन्यथा नहीं बन सकता। तीनों लोकों में अवस्थित सम्पूर्ण धूम और अग्निओंको जानने का कार्य न सविकल्प प्रत्यक्ष कर सकता है और न निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही कर सकता है, तथा प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ ये दोनों भी इतने बड़े विषय में प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं। इसलिए हम बौद्ध कार्य कारणादि संबध को नही मानते हैं। दूसरी बात यह है कि कार्य को उत्पन्न करने को शक्ति से विशिष्ट होना कारणपना कहलाता है, किन्तु कार्योत्पादन शक्ति प्रत्यक्ष से जानी नहीं जाती, केवल कार्य को देखकर उसका अनुमान होता है, कहा भी है—'शक्तयः सर्वभावानां कार्यार्थापत्ति गोचराः" सभी पदार्थो की शक्तियां कार्योंकी अन्यथानुपत्ति से जानी जाती हैं। अब देखिये—जब धूमादि कार्य से अग्नि आदि कारणत्वका ज्ञान होगा तभी तो अनुमान से शक्ति का ज्ञान होगा। पुनः "इस शक्ति का यह कार्य है" इसप्रकार का उस अनुमान में

तत्र कार्यात्कारणत्वावगमेऽनुमानाच्छक्त्यवगमः स्यात् । तत्रापि शक्तिकार्ययोः प्रतिबन्धप्रतीतिर्न प्रत्यक्षादेः; उक्तदोषानुषंगात् । अनुमानात्तदवगमेऽनवस्थेतरेतराश्रयानुषंगो वा स्यात् । एतेन तृतीयोपि पक्षश्चिन्तित इति ।

तदेतत्सर्वमसमीचीनम्; सम्बन्धस्याध्यक्षेणैवार्थानां प्रतिभासनात्; तथाहि–पटस्तन्तुसम्बद्ध एवावभासते, रूपादयश्च पटादिसम्बद्धाः । सम्बन्धाभावे तु तेषां विश्लिष्टः प्रतिभासः स्यात्, तमन्तरेणान्यस्य संश्लिष्टप्रतिभासहेतोरभावात् । कथं च सम्बन्धे प्रतीयमानेऽप्रतीयमानस्याप्यसम्बन्धस्य

स्थित कार्यकारण का अविनाभाव सम्बन्ध किससे जाना जाता है ? प्रत्यक्ष से तो जान नहीं सकते, इत्यादि वही पहले दिये हुए दोष आते हैं । अनुमान से अविनाभाव को जानना भी शक्य क्योकि उसमें अनवस्था या अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट दिखाई दे रहा है । कार्य कारण भाव को अनुमान प्रमाण जानता है ऐसा तीसरा पक्ष भी पहले के दो पक्षों के समान असिद्ध ठहरता है, उसमें पहले के समान शंका समाधान का विचार कर लिया समझना चाहिए । इसतरह जैनादि का कार्य कारण आदि कोई भी संबंध सिद्ध नहीं होता है, यह निश्चित हुआ ।

जैन—यह बौद्ध का विस्तृत विवेचन असत्य है, पदार्थों का सम्बन्ध तो प्रत्यक्ष प्रमाण से साक्षात् ही उपलब्ध हो रहा है, देखिये––वस्त्र धागों में सम्बन्धित प्रतीत हो रहा है, वस्त्र में शुक्लता आदि धर्म सम्बद्ध दिखायी दे रहे हैं, यदि ऐसी बात नही होती तो तन्तुओं का वस्त्र से भिन्न ही प्रतिभास होता, सम्बन्ध को छोड़कर अन्य कोई संश्लिष्ट प्रतिभास का कारण नही है । इसतरह जब सम्बन्ध का साक्षात् प्रतिभास हो रहा है तब उसे छोड़कर प्रतीति में नहीं आने वाले ऐसे असम्बन्ध की कल्पना कैसे कर सकते हैं ? ऐसी कल्पना करने में तो प्रतिभास से विरुद्ध पड़ता है, तथा पदार्थों का सम्बन्ध नहीं मानेंगे तो उनमें अर्थ क्रिया नहीं हो सकेगी, जब घट आदि पदार्थों के परमाणु परस्पर में सम्बन्ध रहित हैं तब घट पदार्थ जल धारण आदि रूप अर्थ क्रिया को कैसे कर सकता है ? अर्थात् नही कर सकता है । पदार्थों के प्रत्येक परमाणु यदि पृथक्-पृथक् ही हैं तो रस्सी, दण्डा, बांस आदि वस्तुओं के एक भाग या छोर को पकड़कर खीचते ही अन्य भागरूप सम्पूर्ण वस्तुका आकर्षण कैसे होता है ? नहीं होना चाहिए ! किन्तु इन रस्सी आदि का आकर्षण बराबर होता है, अतः निश्चित होता है कि पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध अवश्य है ।

कल्पना प्रतीतिविरोधात् ? अर्थक्रियाविरोधश्च, अणूनामन्योन्यमसम्बन्धतो जलधारणाहरणाद्यर्थक्रियाकारित्वानुपपत्तेः। रज्जुवंशदण्डादीनामेकदेशाकर्षणे तदन्याकर्षणं चासम्बन्धवादिनो न स्यात्। अस्ति चैतत्सर्वम्। अतस्तदन्यथानुपपत्तेश्चासौ सिद्धः।

यच्च—'पारतन्त्र्यं हि' इत्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; एकत्वपरिणतिलक्षणपारतन्त्र्यस्यार्थानां प्रतीतितः सुप्रसिद्धत्वात्, अन्यथोक्तदोषानुषंगः। न चार्थानां सम्बन्धः सर्वात्मनैकदेशेन वाभ्युपगम्यते येनोक्तदोषः स्यात् प्रकारान्तरेणैवास्याभ्युपगमात्। सर्वात्मैकदेशाभ्यां हि तस्यासम्भवात् प्रकारान्तर-

---

विशेषार्थ—बौद्ध घट, पट, गृह, बास आदि सम्पूर्ण पदार्थों के परमाणुओं को परस्पर सम्बन्ध रहित मानते हैं, कोई पदार्थ स्थूल नहीं है जो भी दृश्यमान वस्तु स्थूल दिखाई देती है वह मात्र कल्पना से दिखाई देती है, प्रत्येक वस्तु के एक-एक परमाणु बिखरे अर्थात् पृथक्-पृथक् ही हैं, सो इस असम्बंध मान्यता पर आचार्य समझा रहे हैं कि यदि घट, पट, रस्सी, दण्ड आदि पदार्थ के अंश या परमाणु भिन्न-भिन्न होते तो घट में जल भरना, वस्त्र को पहनना, रस्सी को खीचना, रस्सी से बालटी को बांधकर कुआ से पानी निकालना इत्यादि लोक प्रसिद्ध कार्य किस प्रकार सम्पन्न होते ? अर्थात् नही हो सकते, अतः सिद्ध होता है कि घटादि पदार्थों के परमाणु परस्पर सम्बंध है।

बौद्ध ने कहा था कि "पारतन्त्र्यं हि संबंधः" दो वस्तुओं का पारतन्त्र्य भाव सम्बन्ध कहलाता है इत्यादि, सो वह कथन अयुक्त है, पदार्थों की जो एकत्वरूप परिणतियां हुआ करती हैं वह पारतन्त्र्य तो प्रत्यक्ष से प्रतीत हो रहा है, अन्यथा वही पूर्वोक्त अर्थ क्रिया का अभाव होना आदि दोष आते है। हम जैन घटादि परमाणुओं का परस्पर में जो सम्बन्ध मानते हैं वह न एकदेश से मानते हैं, और न सर्वदेश से मानते हैं, जिससे कि बौद्ध के दिए हुए दूषण आ जाय, हमारे यहां तो एक भिन्न ही प्रकार का सम्बन्ध माना जाता है, एकदेश या सर्वदेश सम्बन्ध तो सिद्ध नही हो पाता, अतः अन्य ही प्रकार का सम्बन्ध उन परमाणुओ में होना चाहिए, इसतरह प्रतीति की अन्यथानुपपत्ति से एकदेश तथा सर्वदेश सम्बन्ध से पृथक् जाति का सम्बन्ध स्वीकार किया गया है जो स्निग्ध तथा रूक्ष गुणों के कारण हुआ करता है, अर्थात् परमाणुओं में जो बंध या संबंध होकर स्थूलता आती है वह स्निग्ध या रूक्ष गुणों के

स्य वा भावात्, तत्प्रतीत्यन्यथानुपपत्तेश्च ताभ्यां जात्यन्तरतया श्लेषः स्निग्धरूक्षतानिबन्धनो बन्धोऽभ्युपगन्तव्योऽसौ सक्तुतोयादिवत्। विश्लिष्टरूपतापरित्यागेन हि संश्लिष्टरूपतया कथञ्चिदन्यथात्वलक्षणैकत्वपरिणतिः सम्बन्धोऽर्थानां चित्रसंवेदने नीलाद्याकारवत्। न हि चित्रसंविदो जात्यन्तररूप-

---

निमित्त से आती है, जैसे सत्तू जल आदि में सम्बन्ध होता है।

भावार्थ—बौद्ध पदार्थों को स्थिर, स्थूल, साधारण नहीं मानता है, उसके यहां सभी पदार्थ क्षणिक, सूक्ष्म परमाणु मात्र एवं विशेषरूप ही स्वीकार किए गये हैं, इनमें से यहां संबंधवाद प्रकरण में स्थूलत्व पर विचार कर रहे है, स्थिरत्व का समर्थन क्षणिकभंगवाद का निरसन में कर दिया है, और सामान्यवाद में साधारणत्व का समर्थन कर चुके हैं। घट आदि पदार्थों के परमाणु एक दूसरे से सम्बन्धित नहीं हो सकते, क्योंकि उन परमाणुओं का परस्पर में एक देश से सबध होना माने तो परमाणु के अंश सिद्ध होते हैं और सर्वदेश से सबध माने तो सब परमाणु मिलकर एक अणु पिण्ड बराबर मात्र रह जायेगे ऐसा बौद्ध का कहना है, सो जैनाचार्य बौद्ध को समझा रहे हैं कि परमाणुओ का जो संबध होता है वह न तो एक देश से होता है और न सर्वदेश से, वह तो "स्निग्ध रूक्षत्वाद् बंधः" उन्हीं परमाणुओं में होनेवाले स्निग्ध तथा रूक्ष गुणों के कारण होता है, नैयायिक आदि पर वादी के यहा इस तरह का संबंध का सिद्धान्त नही होने से उनके संबंध को भले ही बौद्ध दूषित ठहरावे किन्तु जैन के अकाट्य नियम एवं सिद्धान्त पर दोष की गध भी नहीं है। परमाणुओं का परस्पर सबंध होने के बाद वे एक पिण्डरूप भी हो जाते हैं और स्थूलता को भी धारण करते हैं। यदि परमाणुओं को सर्वथा पृथक्-पृथक् ही माना जाय तो यह साक्षात् दिखाई देनेवाली स्थूलता असत् ठहरती है, अतः प्रतीति के अनुसार सबंध को स्वीकार करना चाहिए। संबंध को नहीं मानने से अर्थ क्रिया का अभाव आदि अनेकों दोष उपस्थित होते हैं, उनका यथाक्रम निर्देश करते जारहे हैं। घट आदि पदार्थों के परमाणुओ का विश्लिष्टरूप पूर्व अवस्था का त्याग और कथंचित् पर्याय रूप से संश्लेष होकर अन्य प्रकार से एकत्व परिणति हो जाना ही संबंध कहलाता है, जैसे कि आप बौद्ध चित्र ज्ञान में नील, पीत आदि आकारों की एकत्वरूप परिणति मानते हैं। चित्र ज्ञान में जो नील, पीत आदि आकारों का संश्लेष है वह एक जात्यन्तर रूप से उत्पाद ही है,

तयोरुत्पादादन्यो नीलाद्यनेकाकारैः सम्बन्धः, सर्वात्मनैकदेशेन वा तैस्तस्याः सम्बन्धे प्रोक्ताशेषदोषानुषङ्गाविशेषात् ।

स चैवंविधः सम्बन्धोर्थानां क्वचिन्निखिलप्रदेशानामन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशतः–यथा सक्तुतोयादीनाम्, क्वचित् प्रदेशसंश्लिष्टतामात्रेण-यथांगुल्यादीनाम् । न चान्तर्बहिर्वा सांशवस्तुवादिनः सांशत्वानुषङ्गो दोषाय; इष्टत्वात् । न चैवमनवस्था; तद्वतस्तत्प्रदेशानामत्यन्तभेदाभावात् । तद्भेदे हि तेषामपि तद्वता प्रदेशान्तरैः सम्बन्ध इत्यनवस्था स्यात् नान्यथा, अनेकान्तात्मकवस्तुनोऽत्यन्तभेदाभेदाभ्यां जात्यन्तरत्वाच्चित्रसंवेदनवदेव ।

नन्वेवं परमाणूनामप्यंशवत्त्वप्रसङ्गः स्यात्; इत्यप्यनुत्तरम्; यतोऽत्रांशशब्दः स्वभावार्थः;

और तो कोई सम्बन्ध हो नहीं सकता, क्योंकि उन आकारों का चित्र ज्ञान में एकदेश या सर्वदेश से सम्बन्ध होना स्वीकार करेंगे तो वही पूर्वोक्त पिण्ड मात्र होना इत्यादि दोष आते हैं, कोई विशेषता नहीं है । यह पदार्थों का जो सम्बन्ध है वह किसी जगह तो सम्पूर्ण प्रदेशों का परस्पर में प्रवेशानुप्रवेश होकर होता है, जैसे कि सत्तू और जल आदि में हुआ करता है, तथा किसी जगह प्रदेशो का संश्लेष मात्र से होता है, जैसे अंगुलियों का परस्पर में स्पर्श मात्र से सम्बन्ध होता है । हम जैन अंतरंग आत्मादि पदार्थ को तथा बहिरंग जड पुद्गलादि पदार्थों को सांश ही मानते हैं अतः सम्बन्ध मानेंगे तो सांशता आ जायेगी ऐसा दोष नहीं दे सकते, हमारे लिये तो सांशपना इष्ट ही है । इसतरह मानने में अनवस्था भी नहीं आती है पदार्थ से उसके प्रदेश सर्वथा भिन्न नही हुआ करते । हां यदि पदार्थ से परमाणुरूप प्रदेश सर्वथा भिन्न मानते तब तो प्रदेशों का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए अन्य प्रदेशों की कल्पना करनी पड़ती, और अनवस्था आ जाती, किन्तु वे प्रदेश पदार्थ से कथंचित भिन्न मानने से कोई दोष नहीं आता है, वस्तु स्वयं अनेक धर्म स्वरूप है, उसमें न सर्वथा भेद है और न सर्वथा अभेद है, किन्तु कथंचित भेदाभेदात्मक जात्यंतर ही है, जैसे कि चित्र ज्ञान नीलादि आकारों से सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न नहीं है, अपितु कथंचित भेदाभेदात्मक है ।

शंका—इसतरह मानेंगे तो परमाणु अंशवान बन जायगा ?

समाधान—ऐसी बात नही है, यह तो बताइये कि अंश शब्द का अर्थ क्या

अवयवार्थो वा स्यात् ? यदि स्वभावार्थः; न कश्चिद्दोषस्तेषां विभिन्नदिग्विभागव्यवस्थितानेकाणुभिः सम्बन्धान्यथानुपपत्त्या तावद्वा स्वभावभेदोपपत्तेः। अवयवार्थस्तु तत्रासौ नोपपद्यते; तेषामभेद्यत्वेनावयवासम्भवात्। न चैवं तेषामविभागित्वं विरुध्यते, यतोऽविभागित्वं भेदयितुमशक्यत्वं न पुनर्निःस्वभावत्वम्।

यत्तूक्तम्—'निष्पन्नयोरनिष्पन्नयोर्वा पारतन्त्र्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात्' इत्यादि; तदप्यसारम्; कथञ्चिन्निष्पन्नयोस्तदभ्युपगमात्। पटो हि तन्तुद्रव्यरूपतया निष्पन्न एव अन्वयिनो द्रव्यस्य पटपरिणामोत्पत्तेः प्रागपि सत्त्वात्, स्वरूपेण त्वऽनिष्पन्नः, तन्तुद्रव्यमपि स्वरूपेण निष्पन्नं पटपरिणामरूपतयाऽनिष्पन्नम्। तथांगुल्यादिद्रव्यं स्वरूपेण निष्पन्नम् सयोगपरिणामात्मकत्वेनानिष्पन्नमिति।

है, स्वभाव अर्थ है या अवयव अर्थ है ? यदि स्वभाव अर्थ है तो कोई दोष नही आयेगा, विभिन्न दिशा देश आदि में स्थित जो अनेकों परमाणु थे उनका सम्बन्ध होने से उतने स्वभाव भेद उनमें होना संगत ही है। दूसरा विकल्प—अवयव को अश कहते है, ऐसा माने तो ठीक नहीं, क्योंकि परमाणु अभेद्य हुआ करते है उनमे अवयव होना असम्भव है। स्वभाव भेद होते हुए भी परमाणुओं मे अविभागीपना रह सकता है, अविभागपने का तो यही अर्थ है कि भेद नही कर सकना, स्वभाव रहित होना अविभागीपना नहीं कहलाता है।

पहले कहा था कि निष्पन्न वस्तुओं में पारतन्त्र लक्षण वाला सम्बन्ध होता है अथवा अनिष्पन्न दो वस्तुओ में होता है इत्यादि सो यह प्रश्न व्यर्थ का है, हम स्याद्वादी तो कथचित निष्पन्न दो वस्तुओं में सम्बन्ध होना मानते हैं। इसका खुलासा करते हैं—एक वस्त्र है वह तन्तु द्रव्य रूप से निष्पन्न ही है ऐसे अन्वयी द्रव्य को पट परिणाम रूप उत्पत्ति होती है, इसमें तन्तु रूप से तो उसको पहले भी सत्त्व रहता है, किन्तु पहले वह पट स्वरूप से अनिष्पन्न था (बना नहीं था) ऐसे ही अगुली आदि द्रव्य स्वरूप से निष्पन्न रहते हैं और उनका संयोग होना रूप जो परिणाम है वह अनिष्पन्न रहता है।

बौद्ध का कहना है कि पदार्थ तो स्वतन्त्र रहते हैं उनमें पारतन्त्रय नही होने से सम्बन्ध हो ही नही सकता, इस पर प्रश्न होता है कि परतन्त्रता के साथ सम्बन्ध की कहीं पर व्याप्ति देखो हुई प्रसिद्ध है या नहीं ? अर्थात् ज्ञात है या नही ?

किञ्च, पारतन्त्र्यस्याऽभावाद्भावानां सम्बन्धाभावे तेन व्याप्तः क्वचित्सम्बन्धः प्रसिद्धः, न वा ? प्रसिद्धश्चेत्; कथं सर्वत्र सर्वदा सम्बन्धाभावः विरोधात् ? नो चेत्; कथमव्यापकाभावादव्याप्यस्याभावसिद्धिरतिप्रसङ्गात् ?

'रूपश्लेषो हि' इत्याद्यप्येकान्तवादिनामेव दूषणं नास्माकम्; कथञ्चित्सम्बन्धिनोरेकत्वापत्तिस्वभावस्य रूपश्लेषलक्षणसम्बन्धस्याभ्युपगमात् । अशक्यविवेचनत्वं हि सम्बन्धिनो रूपश्लेषः, असाधारणस्वरूपता च तदऽश्लेषः । स चानयोर्द्वित्वं न विरुन्ध्यात् तथा प्रतीतेश्चित्राकारकैसंवेदनवत् । न चापेक्षिकत्वात्सम्बन्धस्वभावस्यापि तथाभावानुषङ्गात् । सोपि ह्यापेक्षिक एव कञ्चिदर्थमपेक्ष्य

यदि ज्ञात है तो सर्वत्र हमेशा संबंध का अभाव कैसे कर सकते है ? ज्ञात रूप से प्रसिद्ध सम्बन्ध का अभाव करना विरुद्ध है । यदि कहो कि परतन्त्रता के साथ संबध की व्याप्ति ज्ञात नही है तो फिर अव्यापक के अभाव से अव्याप्य के अभाव की सिद्धि किस प्रकार कर सकते हैं अर्थात् परतन्त्रता और सम्बन्ध में जब व्यापक–व्याप्य भाव ही प्रसिद्ध नही है तो एक के अभाव में दूसरे का अभाव कैसे कर सकते हैं, नही कर सकते, अन्यथा घट के अभाव में पट का अभाव करने का अति प्रसंग उपस्थित होगा ।

सम्बन्ध का लक्षण रूप श्लेष करे तो भी नहीं बनता इत्यादि पहले कहा था सो वह दूषण तो एकान्तवादी के ऊपर लागू होगा हम अनेकान्तवादी के ऊपर नहीं, क्योंकि हम तो दो सम्बन्धी पदार्थों का एकलोली भाव या एकत्व परिणति होना यही रूपश्लेष का लक्षण करते हैं, सम्बन्धी पदार्थों का विवेचन नहीं कर सकना यही रूपश्लेष कहलाता है, तथा अपना असाधारण स्वरूप नही छोड़ना यही उसका अश्लेष (असम्बन्ध) कहा जाता है । ऐसा रूपश्लेष उन पदार्थोंके द्वित्व के विरुद्ध भी नहीं पड़ता है, क्योंकि वैसी प्रतीति आ रही है, जैसे कि चित्ररूप एक ज्ञान में नील पीत आदि अनेक आकारों की प्रतीति आती है । "सम्बन्ध अपेक्षा रखनेवाला है अतः मिथ्या है क्योंकि पदार्थ सूक्ष्म आदि स्वभावों को लिए हुए हैं उनमें अपेक्षा हो नहीं सकती" ऐसा बौद्ध का कहना भी ठीक नहीं है, आप पदार्थो को असम्बन्ध स्वभाववाले मानते हैं किन्तु असम्बन्ध स्वभाव भी तो अपेक्षा युक्त होता है, यह पदार्थ इससे पृथक् है अथवा एक परमाणु दूसरे परमाणु से असम्बद्ध है ऐसा किसी पदार्थ की अपेक्षा लेकर ही तो असम्बन्ध की व्यवस्था हुआ करती है अपेक्षा बिना तो हो नहीं

कस्यचित्तद्व्यवस्थित्यन्यथानुपपत्तेः स्थूलतादिवत् । 'प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानः सोनापेक्षिक एव तत्पृष्ठभाविविकल्पेनाध्यवसीयमानो यथापेक्षिकस्तथाऽवास्तवोपि' इत्यन्यत्रापि समानम् । न खलु सम्बन्धोऽध्यक्षेण न प्रतिभासते यतोऽनापेक्षिको न स्यात् ।

एतेन 'परापेक्षा हि' इत्याद्यपि प्रत्युक्तम्; असम्बन्धेपि समानत्वात् ।

'द्वयोरेकाभिसम्बन्धात्' इत्याद्यप्यविज्ञातपराभिप्रायस्य विजृम्भितम्; यतो नास्माभिः सम्बन्धिनोस्तथापरिणति व्यतिरेकेणान्यः सम्बन्धोभ्युपगम्यते, येनानवस्था स्यात् ।

सकती । जैसे कि स्थूलत्व आदि अपेक्षा के बिना सिद्ध नहीं होते हैं ।

बौद्ध—निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रत्येक पदार्थ या परमाणु अपेक्षा रहित ही प्रतिभासित होता है, उस निर्विकल्प ज्ञान के पीछे जो विकल्प ज्ञान पैदा होता है वह सापेक्ष पदार्थ की प्रतीति कराता है, किन्तु वह जैसे अपेक्षा सहित है वैसे अवास्तविक भी है । अर्थात् असत् अपेक्षा को प्रतिभासित करने से ही विकल्प को अवास्तविक माना जाता है ।

जैन—यही बात सम्बन्ध के विषय में भी कह सकते है ? सम्बन्ध प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रतिभासित नहीं होता सो बात नही है जिससे कि वह अनपेक्षिक न माना जाय, कहने का अभिप्राय यह है कि जो प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रतीत हो वह अनपेक्षिक होता है ऐसा कहो तो सम्बन्ध साक्षात् ही प्रत्यक्ष में प्रतिभासित होता ही है अतः वह भी अपेक्षा रहित ही है, ऐसा मानना चाहिए ।

सम्बन्ध में पर की अपेक्षा होती है अत वह असत् है ऐसा जो कहा था वह भी अयुक्त है, असम्बन्ध में भी पर की अपेक्षा हुआ करती है । दो सम्बन्धी पदार्थों में एक संबंध से कैसे संबंध होगा । इत्यादि जो कहा था वह भी जैन के अभिप्राय को नही समझने से ही कहा था, क्योंकि हम जैन सम्बन्धी पदार्थों की उस तरह की अर्थात् विश्लिष्ट अवस्था का त्याग करके संश्लिष्ट एक लोलीभाव से परिणति होना ही संबध है ऐसा मानते हैं, इससे पृथक् कोई संबंध नहीं माना है, जिससे अनवस्था दोष आवे ।

बौद्ध ने कहा था कि अवास्तविक ऐसी कल्पना बुद्धि के कारण ही क्रिया

तथा च 'तामेव चानुरुन्धानैः' इत्याद्यप्ययुक्तम्; क्रियाकारकादीनां सम्बन्धिनां तत्सम्बन्धस्य च प्रतीत्यर्थं तदभिधायकानां प्रयोगप्रसिद्धेः। अन्यापोहस्य च प्रागेवापास्तस्वरूपत्वाच्छब्दार्थत्वमनुपपन्नमेव। चित्रज्ञानवच्चानेकसम्बन्धितादात्म्येप्येकत्वं सम्बन्धस्याविरुद्धमेव।

यदप्युक्तम्—'कार्यकारणभावोपि' इत्यादि; तदप्यविचारितरमणीयम्; यतो नास्माभिः सहभावित्वं क्रमभावित्वं वा कार्यकारणभावनिबन्धनमिष्यते। किन्तु यद्भावे नियता यस्योत्पत्तिस्तत्तस्य कार्यम्, इतरच्च कारणम्। तच्च किञ्चित्सहभावि, यथा घटस्य मृद्द्रव्य दण्डादि वा। किञ्चित्तु क्रमभावि, यथा प्राक्तनः पर्यायः। तत्प्रतिपत्तिश्च प्रत्यक्षानुपलम्भसहायेनात्मना नियते व्यक्तिविशेषे,

---

कारक आदि सम्बन्ध वाचक शब्दों का प्रयोग हुआ करता है इत्यादि, सो बात अयुक्त है, देखिये "हे देवदत्त ! गां निवारय" इत्यादि क्रियाकारक संबंधी पदार्थों की एव संबंध की प्रतीति कराने के लिए ही उनके वाचक शब्दों का (हे देवदत्त इत्यादि) प्रयोग किया जाता है, यह बात तो बिलकुल प्रसिद्ध है। आप बौद्ध शब्दों को केवल अन्यापोह वाचक मानते हैं सो उसका पहले ही अपोहवाद प्रकरण में (द्वितीय भाग में) खण्डन कर आये हैं। आपका कहना है कि सबंधी पदार्थ यदि दो हैं या अनेक हैं तो उनमें होनेवाला संबंध भी अनेक होना चाहिए, सो बात गलत है, जिसप्रकार आप एक चित्र ज्ञान में एकत्व रहते हुए भी अनेक नील पीत आदि आकारों का तादात्म्य होना स्वीकार करते हैं वैसे ही सम्बन्ध के विषय में समझना चाहिए (अर्थात् दो या अनेक पदार्थों का एक लोली भाव ही संबंध है अतः दो को जोड़नेवाला सम्बन्ध भी दो होना चाहिये ऐसा दोष देना गलत है)।

पहले जो कहा था कि कार्य कारण भाव भी कैसे बने, क्योंकि वे दोनों पदार्थ साथ नहीं होते इत्यादि, सो बिना सोचे कहा है, हम जैनो के यहां कोई सहभाव या क्रमभाव के निमित्त से कार्य कारण संबंध नहीं माना है, किन्तु जिसके होनेपर नियम से जिसकी उत्पत्ति होती है वह उसका कार्य और इतर कारण कहलाता है, इन कारणों में कोई तो सहभावी हुआ करता है, जैसे घटरूप कार्य का कारण मिट्टी अथवा दण्ड आदिक सहभावी है, तथा कोई कारण क्रमभावी हुआ करता है, जैसे उस घट की पहली पर्याय कुशलादि क्रम भावी है। इन कार्य कारण भावों का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ है सहायक जिसमें ऐसे आत्मा द्वारा नियतरूप व्यक्ति विशेष में हो जाता है,

तर्कसहायेन वाऽनियते प्रसिद्धा। एकमेव च प्रत्यक्षं प्रत्यक्षानुपलम्भशब्दाभिधेयम्। तद्धि कार्यकारणभावाभिमतार्थविषयं प्रत्यक्षम्, तद्विविक्तान्यवस्तुविषयमनुपलम्भशब्दाभिधेयम्। तथाहि-एतावद्भिः प्रकारैर्धूमोऽग्निजन्यो न स्यात्-यदि अग्निसन्निधानात्प्रागपि तत्र देशे स्यात्, अन्यतो वाऽऽगच्छेत्, तदन्यहेतुको वा भवेत्। एतच्च सर्वमनुपलम्भपुरस्सरेण प्रत्यक्षेण प्रत्याख्यातम्।

एतेन प्रागनुपलब्धस्य रासभस्य कुम्भकारसन्निधानानन्तरमुपलभ्यमानस्य तस्य तत्कार्यता स्यादिति प्रतिव्यूढम्; यदि हि तस्य तत्र प्रागसत्त्वमन्यदेशादनागमनन्याहेतुकत्वं च निश्चेतुं शक्येत

अथवा तर्क प्रमाण की है सहायता जिसमें ऐसे उस आत्मा द्वारा अनियत अर्थात् सर्वत्र स्थान पर उस कार्य कारण भाव संबंध का ज्ञान होता है। कार्य कारण भाव का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुपलंभ प्रमाण द्वारा होता है ऐसा जो कहा उसमें "प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ" इन दोनों शब्दों का वाच्य एक ही प्रत्यक्ष रूप है, धूम और अग्नि आदि कार्य-कारण रूप माने गये पदार्थ को विषय करने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है और इन धूम आदि से पृथक् भूत जो महाह्रदादि पदार्थ हैं उसको विषय करनेवाले ज्ञान को अनुपलंभ शब्द से कहते हैं। इसी का खुलासा करते हैं—इतने प्रकार के प्रमाणों द्वारा धूम अग्नि जन्य नहीं है अर्थात् यदि अग्नि के सानिध्य के पहले भी उस स्थान पर (पर्वतादि में) धूम होवे, अथवा अन्य स्थान से आता होवे तो उस धूम को अन्य हेतुक अर्थात् अग्नि को छोड़कर किसी अन्य कारण से जन्य ऐसा सिद्ध होता। किन्तु यह सब अनुपलम्भ युक्त प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बाधित होता है अर्थात् युक्त प्रत्यक्ष द्वारा धूम का अग्नि रूप कारण से उत्पन्न होना हो सिद्ध होता है। अतः कार्य कारण सम्बन्ध प्रत्यक्षादि प्रमाण से ज्ञात होना सिद्ध है।

यदि बौद्ध कहे कि "जिसके होनेपर जो उत्पन्न होता है वह उसका कारण है" ऐसा माना जाय तो पहले जो उपलब्ध नहीं है और कुम्हार के सन्निधि में उपलब्ध हो जाता है ऐसा रासभ (गधा) कुम्हार का कार्य कहलायेगा और कुम्हार उसका कारण माना जायेगा? सो ऐसी बात नहीं है, गधा यदि कुम्हार के स्थान पर कुम्हार आने के पहले असत् रहता, तथा अन्य स्थान से नहीं आता, एवं अन्य हेतुक नही होता, इतनी सारी बात निश्चित कर सकते तब तो "गधा कुम्हार का कार्य है" ऐसा कह सकते थे किन्तु ऐसा नहीं है अतः गधा और कुम्हार का उदाहरण देकर कार्य

स्यादेव कुम्भकारकार्यता । तत्तु निश्चेतुमशक्यम् ।

न च भिन्नार्थग्राहि प्रत्यक्षद्वय द्वितीयाग्रहणे तदपेक्ष कारणत्वं कार्यत्वं वा ग्रहीतुमसमर्थमित्यभिधातव्यम्; क्षयोपशमविशेषवतां धूममात्रोपलम्भेप्यभ्यासवशाद्वह्निजन्यत्वावगमप्रतीतेः, अन्यथा बाष्पादिवैलक्षण्येनास्याऽनवधारणात्ततोग्न्यनुमाभावे सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः । ततः कारणाभिमतपदार्थग्रहणपरिणामापरित्यागवतात्मना कार्यस्वरूपप्रतीतिरभ्युपगन्तव्या नीलाद्याकारव्याप्येकज्ञाने तत्स्वरूपवत् ।

ननु नालिकेरद्वीपादिवासिनामकस्माद्धूमस्याग्नेर्वोपलम्भेपि कार्यकारणभावस्यानिश्चयान्नासौ

कारण भाव को व्यभिचरित करना अशक्य है ।

शंका—धूम और अग्नि आदि भिन्न भिन्न पदार्थ हैं, उनको ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष भी दो है, उनमे से एक को ग्रहण करनेवाला प्रत्यक्ष दूसरे को ग्रहण नहीं करता फिर उन पदार्थों की अपेक्षा लेकर होनेवाला जो कारणपना या कार्यपना है उसको कौन जानेगा उसको जानने के लिए तो दोनों ही प्रत्यक्ष असमर्थ ही रहेगे ?

समाधान—इसतरह नहीं कहना, जिन पुरुषोंके ज्ञानावरण का विशेष क्षयोपशम हुआ है उनको अकेले धूम को देखने मात्र से भी अभ्यास के कारण "यह धूम अग्नि से पैदा हुआ है" ऐसा ज्ञान हो जाता है, यदि इसप्रकार नहीं माना जाय तो उस व्यक्ति को बाफ से धूम विलक्षण (पृथक्) होता है इसतरह का धूम और बाफ में भेद मालूम नहीं पड़ता, फिर तो धूम को देखकर अग्नि का अनुमान नहीं हो पायेगा और इसतरह सम्पूर्ण लोक व्यवहार ही समाप्त हो जाने का प्रसग आता है । इन दोषो को दूर करने के लिए कारणरूप से माना गया पदार्थ जिसने पहले जाना है तथा उस संस्कार को जिसने नहीं छोड़ा है ऐसे आत्मा द्वारा कार्य स्वरूप का प्रतिबोध होता है ऐसा स्वीकारना चाहिये, जैसे कि नील, पीत आदि आकारों में व्यापक ऐसा एक ही ज्ञान होते हुए भी उसमें अनेक नील आदि के स्वरूप प्रतीत होते है ।

शंका—जो पुरुष नालिकेर नामा द्वीप में निवास करते हैं, वे यहां आनेपर, अग्नि को अथवा धूम मात्र को देखते हैं उनको तो उन अग्नि आदि में होनेवाला कार्य कारणभाव निश्चित नहीं होता है, अतः मालूम पड़ता है कि कार्य कारण संबंध

वास्तवः; तदप्यपेशलम् बाह्यान्तःकारणप्रभवत्वात्तन्निश्चयस्य । क्षयोपशमविशेषो हि तस्यान्तःकारणम्, तद्भावभावित्वाभ्यासस्तु बाह्यम्, अकार्यकारणभावावगमस्य त्वऽतद्भावभावित्वाभ्यासः । तदभावाच्च क्वचित्तेषां कार्यकारणभावस्याऽकार्यकारणभावस्य वा निश्चय इति ।

धूमादिज्ञानजननसामग्रीमात्रात्तत्कार्यत्वादिनिश्चयानुत्पत्तेर्न कार्यत्वादि धूमादेः स्वरूपमिति चेत्; तर्हि क्षणिकत्वादिरपि तत्स्वरूपं मा भूत्तत एव । क्षणिकत्वाभावेऽवस्तुत्वम् अन्यत्रापि समानम्,

---

वास्तविक नहीं है ?

समाधान—यह शका असत् है, कार्य कारण संबंध का निश्चय तो बाह्य तथा अभ्यन्तर कारण से हुआ करता है, क्षयोपशम विशेष हो जाना इस निश्चय ज्ञान का अन्तरंग कारण है, और कारण के सद्भाव में कार्य होता है ऐसा बार बार देखने को मिलना रूप अभ्यास होना बाह्य कारण है । जिनमें कार्य कारण भाव नही है ऐसे जल और अग्नि आदि को बार बार देखने को मिलना कि इस जल के होने पर भी अग्नि नहीं होती अथवा इस घट के नही होने पर भी पट होता है इत्यादि अतद् भाव भावित्व को बार बार देखना रूप अभ्यास भी कार्य कारण भाव के निश्चय का बाह्य निमित्त हुआ करता है । जिन जीवों के इसतरह के बाह्य तथा अन्तरंग निमित्त नही होते हैं उनको अग्नि और धूम आदि सम्बन्धी कार्य कारण भाव का निश्चय ज्ञान नही हो पाता है, और न अकार्य कारण भाव का ही निश्चय हो पाता है ।

शङ्का—धूम आदि पदार्थ के ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली जो नेत्र आदि सामग्री है उससे यदि धूमादिका कार्यपना निश्चित नही होता है तो वह कार्यपना आदि धर्म धूमादिका स्वरूप ही नहीं कहलायेगा ?

समाधान—तो फिर क्षणिकपना आदि धर्म भी उन पदार्थोंके स्वरूप नहीं कहलायेंगे । क्योंकि उनके ज्ञान की नेत्रादि सामग्री होते हुए भी क्षणिकत्वादि का निश्चय नहीं होता है ।

शंका—यदि क्षणिकपना वस्तु का धर्म नही रहेगा तो वह वस्तु ही नहीं कहलायेगी ?

सर्वथाप्यकार्यकारणस्य वस्तुत्वानुपपत्तेः खरशृङ्गवत् ।

न च कार्यस्यानुत्पन्नस्यैव कार्यत्वं धर्मः; असत्त्वात् । नाप्युत्पन्नस्यात्यन्तं भिन्नं तत्; तद्धर्मत्वात् । तत एव कारणस्यापि कारणत्वं धर्मो नैकान्ततो भिन्नम् । तच्च ततोऽभिन्नत्वात्तद्ग्राहिप्रत्यक्षेणैव प्रतीयते तद्व्यक्तिस्वरूपवत् । दृश्यते हि पिपासाद्याक्रान्तचेतसामितरार्थव्यवच्छेदेनाबालं तदपनोदसमर्थे जलादौ प्रत्यक्षात्प्रवृत्तिः । तच्छक्तिप्रधानतायां तु कार्यदर्शनात्तन्निश्चीयते तद्व्यतिरेकेणास्यासम्भवात् । न च स्वरूपेणाकार्यकारणयोस्तद्भावः सम्भवति । नाप्युत्तरकालं भिन्नेन तेनानयोः कार्यकारणताऽभिन्ना कर्तुं शक्या; विरोधात् । नापि भिन्ना; तयोः स्वरूपेण कार्यकारणताप्रसंगात् ।

समाधान—सो यही बात कार्यपना आदि धर्मों की है, अर्थात् जो सर्वथा अकार्य या अकारणरूप है वह वस्तु हो नहीं हो सकती, जैसे कि गधे के सींग सर्वथा अकार्य कारणरूप है अतः वस्तुभूत नहीं है । कार्य कारण के विषय में यह बात ध्यान में रखने की है कि जो कार्य अभी अनुत्पन्न है उसका कार्यत्व धर्म नहीं हुआ करता, क्योंकि उसका अभी सत्त्व नहीं है, तथा कार्य के उत्पन्न होनेपर उस कार्यभूत पदार्थ से कार्यपना अत्यन्त भिन्न भी नही पड़ा रहता, क्योंकि उसीका वह धर्म है । इसीप्रकार कारणभूत पदार्थ का कारणपना धर्म भी एकान्त से भिन्न नही है, वह उससे अभिन्न होने से कारणभूत पदार्थ को ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष द्वारा ही कारणपना प्रतीत हो जाता है, जैसे कि उस व्यक्ति का स्वरूप प्रतीत होता है । देखा जाता है कि प्यास आदि पीड़ा से आक्रांत पुरुषों के इतर वस्तु का व्यवच्छेद करके प्यासादि को दूर करने में समर्थ ऐसे जल आदि कारणभूत पदार्थ में प्रत्यक्ष से प्रवृत्ति होती हुई आबाल गोपाल प्रसिद्ध है ।

जब कारणभूत पदार्थ के शक्ति की प्रधानता रहती है तब कार्य को देखकर उसके कारणपने का निश्चय करते हैं कि यह कार्य उस कारण के बिना नही हो सकता था इत्यादि । जिन पदार्थों में निज स्वरूप से कार्य कारणपना नही है उनमें उसके होनेपर होना इत्यादि रूप तद्भाव बन नहीं सकता । कारण के उत्तर कालमें किसी भिन्न सम्बन्ध द्वारा कार्य कारणभूत दो पदार्थों का अभिन्न स्वरूप कार्य कारणपना किया जाना शक्य नहीं है, क्योंकि भिन्न सम्बन्ध द्वारा अभिन्नता करना विरुद्ध है । भिन्न संबंध द्वारा भिन्न कार्य कारणपना किया जाना भी शक्य नहीं है, क्योंकि यदि

न च स्वरूपेण कार्यकारणयोरर्थान्तरभूततत्सम्बन्धकल्पने किञ्चित्प्रयोजनं कार्यकारणतायाः स्वतः सिद्धत्वात् ?

ननु कार्याप्रतिपत्तौ कथं कारणस्य कारणताप्रतिपत्तिस्तदपेक्षत्वात्तस्याः ? कथमेवं पूर्वापरभागाप्रतिपत्तौ मध्यभागस्यातो व्यावृत्तिप्रतिपत्तिरपेक्षाकृतत्वाविशेषात् ? ततः "पश्यन्नयं क्षणिकमेव पश्यति" इति [ ] वचो विरुध्येत । मध्यक्षणस्वभावत्वात्तद्व्यावृत्तेः तद्ग्राहिज्ञानेन प्रति-

---

सम्बन्ध भिन्न है और पदार्थों में कार्य कारणपना है तो उस कार्य कारणता को स्वरूप से मानने का प्रसंग आता है। जब पदार्थों में कार्य कारण भाव स्वरूप से ही है तब अर्थांतरभूत (पृथक् ऐसे) सम्बन्ध को मानने में कुछ भी प्रयोजन नही रहता है, क्योंकि कार्य कारणपना स्वतः स्वरूप से ही सिद्ध हो चुका है।

बौद्ध—कार्य को बिना जाने देखे कारण का कारणपना किसप्रकार जाना जा सकता है ? क्योंकि कार्य की अपेक्षा से ही कारणपना हुआ करता है।

जैन—ऐसी बात है तो हम आपसे पूछते हैं कि पूर्व और उत्तर भागों को बिना जाने (अथवा पूर्व तथा उत्तर क्षण को बिना जाने) मध्य भाग की (अथवा मध्य क्षण की) इनसे व्यावृत्ति है ऐसा कैसे जान सकेंगे ? क्योंकि यहां पर भी अपेक्षा कृतपना समान ही है। अर्थात् जैसे कार्य की अपेक्षा से कारण में कारणपना होता है वैसे ही पूर्व आदि भाग की अपेक्षा से मध्य भाग या उसकी व्यावृत्ति हुआ करती है। इसतरह मध्य भाग की व्यावृत्ति करना या मध्य क्षण को व्यावृत्ति करना आप बौद्ध को अशक्य हो जायगा, फिर "पश्यन्नयं क्षणिक मेव पश्यति" देखता हुआ योगी क्षणिकको ही देखता है, इत्यादि आपका कथन विरुद्ध पड़ता है।

बौद्ध—मध्य क्षण जो होता है वह पूर्व तथा उत्तर क्षण की व्यावृत्ति स्वभाव वाला ही हुआ करता है, अतः पूर्व उत्तर क्षण को ग्रहण करनेवाले ज्ञानसे उसकी प्रतिपत्ति भी हो जाती है।

जैन—इसी तरह कार्य को उत्पन्न करने की जो शक्ति है वही कारण कहलाता है अतः उसको ग्रहण करनेवाले ज्ञान से ही कार्य की प्रतिपत्ति होती है ऐसा भी

पत्तिश्चेत्; तर्हि कार्योत्पादनशक्तेः कारणस्वभावत्वात्तद्ग्राहिणैक ज्ञानेन प्रतिपत्तिरिष्यतां विशेषाभावात्। उक्ता च कार्यप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षादिसहायेनात्मनेत्युपरम्यते।

किञ्च, कार्यानिश्चये शक्तेरप्यनिश्चये नीलादिनिश्चयोपि मा भूत्। यदेव हि तस्याः कार्यं तदेव नीलादेरपि, अनयोरभेदात्। वक्तृत्वस्य चासर्वज्ञत्वादिना व्याप्त्यसम्भवः सर्वज्ञसिद्धिप्रघट्टके प्रतिपादितः।

मानना चाहिए। कोई विशेष नहीं है। इस बात को हम जैन ने भली प्रकार सिद्ध किया है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण है सहायक जिसके ऐसे आत्मा द्वारा कार्य का ज्ञान हो जाया करता है, अब इस विषय पर अधिक नहीं कहना चाहते। बौद्ध यदि कार्य के निश्चय नहीं होने से उसकी शक्ति भी अनिश्चित रहती है ऐसा हटाग्रह करते हैं तो नील, पीत आदि वस्तु का निश्चय होना भी अशक्य हो जायगा। क्योंकि जो शक्ति का कार्य है वही नील आदि का भी है, नील और शक्ति में अभेद होने से बौद्ध ने कार्य कारण सम्बन्ध का निषेध करते हुए कहा था कि कार्य और कारण में व्याप्ति करेंगे अर्थात् जहां कार्य होता है वहां अवश्य कारण होना चाहिये इत्यादि रूप से दोनों का अविनाभाव निश्चित करेंगे तो वक्तृत्व और असर्वज्ञत्व की व्याप्ति है ऐसा मानना पड़ेगा। अर्थात् जहा वक्तृत्व है वहां असर्वज्ञपना निश्चित है ऐसा दोनों का अविनाभाव सिद्ध होने से सर्वज्ञ का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा इत्यादि, सो इस विषय में हम सर्वज्ञ सिद्धि प्रकरण में (द्वितीय भाग में) भली प्रकार प्रतिपादन कर आये हैं कि वक्तृत्व के साथ असर्वज्ञपने का कोई नियम नहीं है कि जो बोलने वाला हो अवश्य ही असर्वज्ञ या रागादिमान हो, उलटे जो अधिक ज्ञानी होगा वही अच्छी तरह बोल सकेगा इत्यादि।

धूम और अग्नि आदि कार्य कारणों का व्यभिचार सिद्ध करने के लिए बौद्ध ने ईन्धन से उत्पन्न हुई अग्नि और मणि आदि से उत्पन्न हुई अग्नि आदि का दृष्टांत देकर कहा था कि जैसे अग्नि कहीं पर तो ईन्धनसे पैदा होती है और कभी मणि से अथवा अरणि मथन से होती है, वैसे ही धूम कहीं पर तो अग्नि से होता है और कहीं बिना [गोपाल घटिका में] अग्नि के भी हो जाता है अतः धूम और अग्नि में कार्य कारण भाव नहीं मानना चाहिए इत्यादि सो इस विषय में यह बात है कि ईंधन से उत्पन्न हुई अग्नि और मणि आदि से उत्पन्न हुई अग्नि में भेद है, अभेद नहीं, इसलिये इनका दृष्टान्त देकर कार्य कारणभाव का अभाव करना शक्य नहीं है, साक्षात्

न चेन्धनादिप्रभवपावकस्य मण्यादिप्रभवपावकादभेदो येन नियत: कार्यकारणभावो न स्यात् । अन्यादृशाकारो हीन्धनप्रभव: पावकोऽन्यादृशाकारश्च मण्यादिप्रभव: । तद्विचारे च प्रतिपत्त्रा निपुणेन भाव्यम् । यत्नत: परीक्षितं हि कार्यं कारणं नातिवर्त्तते । कथमन्यथा वीतरागेतरव्यवस्था तच्चेष्टाया: साङ्कर्योपलम्भात् ?

कथ चैवंवादिनो मृतेतरव्यवस्था स्यात् ? व्यापारव्याहाराकारविशेषस्य हि क्वचिच्चैतन्यकार्यतयोपलम्भे सत्यस्त्यत्र जीवच्छरीरे चैतन्यं व्यापारादिकार्यविशेषोपलम्भात्, मृतशरीरे तु नास्ति तदनुपलम्भादिति कार्यविशेषस्योपलम्भानुपलम्भाभ्यां कारणविशेषस्य भावाभावप्रसिद्धेस्तद्व्यवस्था युज्येत ।

दिखाई देता है कि ईन्धन से पैदा हुई अग्नि अन्य ही आकार वाली हुआ करती है और सूर्यकान्त मणि से पैदा हुई अग्नि अन्य आकार की होती है । अग्नि और धूम हो चाहे अन्य भी कोई वस्तु उसका सही ज्ञान प्राप्त कराने के लिए पुरुष को निपुण होना आवश्यक है । "यत्नत: परीक्षितं हि कार्यं कारणं नातिवर्त्तते" प्रयत्न पूर्वक यदि कार्य कारण की परीक्षा करते है तो कभी भी कार्य कारण का उल्लघन करनेवाला (कारण के बिना ही होनेवाला) दिखाई नही देगा । इसतरह की व्यवस्था यदि नहीं मानी जाय तो सराग और वीतराग पुरुष की सिद्धि किस प्रकार होगी ? क्योंकि उन दोनों की चेष्टा भी समान हुआ करती है ।

ईन्धन प्रभव अग्नि और मणि प्रभव अग्नि में यदि बौद्ध को भेद नही दिखाई देता है तो वह मृतक पुरुप और जीवंत पुरुष में किसप्रकार भेद सिद्ध कर सकेंगे ? व्यापार, वचन आदि विशेष चिह्न को देखकर "यह चैतन्य का काम है" अत: यह पुरुष जीवंत है ऐसा कहा जाता है, अर्थात् इस जीवंत शरीर में अवश्य ही चैतन्य है, क्योंकि उसका कार्य व्यापार (हाथ आदि को हिलाना आदि क्रिया) जानना, देखना, श्वास लेना इत्यादि हो रहा है, मृतक शरीर में व्यापारादि नही होते अत: उसमें चैतन्य नहीं है, ऐसी मृतक और जीवंत पुरुष की व्यवस्था हो जाती है ऐसा कहो तो वैसे ही कार्य विशेष की उपलब्धि होने से कारण विशेष की उपलब्धि होना तथा कारण के न होने से कार्य का नहीं होना इत्यादि रूप से धूम और अग्नि आदि पदार्थों में कार्य कारण भाव सम्बन्ध की सिद्धि होती है । तथा यदि बौद्ध कार्य कारण भाव में दोष देते हैं, तो अकार्य कारण भाव मे भी वे दोष आते है, कैसे सो बताते है—

अकार्यकारणभावेपि चैतत्सर्वं समानम्–सोपि हि द्विष्ठः कथमसहभाविनोः कार्यकारणत्वाभ्यां निषेध्ययोर्वर्तेत ? न चाद्विष्ठोसौ; सम्बन्धाभावविरोधात् । पूर्वत्र भावे वर्तित्वा परत्र क्रमेणासौ वर्तमानोऽन्यनिस्पृहत्वेनैकवृत्तिमत्त्वात्कथं सम्बन्धाभावरूपता (तां) प्रतिपद्येत ? अथाकार्यकारणयोरेकम पेक्ष्यान्यत्रासौ क्रमेण वर्त्तत इति सस्पृहत्वेनास्य द्विष्ठत्वात्तदभावरूपतेष्यते; तदा तेनापेक्ष्यमाणेनोपकारिणा भवितव्यम् । 'कथं चोपकरोत्यसन्' इत्यादि सर्वमत्रापि योजनीयम् ।

अकार्य कारणभाव भी दो में हुआ करता है, जो पदार्थ परस्पर में कार्य कारणरूप नहीं हैं अर्थात् अकार्य कारणरूप गो महिषादिक हैं वे यदि सहभावी (साथ) नही है उनका कार्य और कारणपने से कैसे निषेध कर सकते हैं अथवा वे अपने को कार्य कारण के निषेधरूप कैसे रख सकते है ? तुम कहो कि अकार्य कारणभाव अद्विष्ठ (एक में रहने वाला) होता है, सो भी बात नही है, यदि वह अद्विष्ठ है तो संबंध का अभावरूप होने में विरोध आयेगा । पूर्व की अकारणरूप अवस्था में रहकर क्रमसे अन्य अकार्य में प्रवृत्तमान वह पदार्थ जब अन्य से निस्पृह एवं एक में ही वृत्तिमान है तब उस पदार्थ के सम्बन्ध के अभावपने को कैसे जान सकते है ? इसप्रकार सम्बन्ध के समान सम्बन्ध के अभाव के विषय में शंकाये कर सकते हैं ।

बौद्ध—अकार्य और अकारण इन दो पदार्थों में से एक की अपेक्षा लेकर क्रम से यह असम्बन्ध रहा करता है इसतरह यह असम्बन्ध सस्पृह होने से द्विष्ठ ही है, इसप्रकार हम सम्बन्ध के अभाव को मानते हैं ।

जैन—यदि ऐसी बात है तो पुनः वही सम्बन्ध के विषय में किये गये प्रश्न उठेगे कि वह असम्बन्ध अकार्य अकारण से पृथक् है अतः उसको जोड़नेवाला उपकारक चाहिये, पुनः वह उपकारक भी पृथक् होगा इत्यादि अनवस्था आदि दूषण आते हैं, तथा जब अकार्य आदि असत् है तब उपकारक कैसे हो सकता है इत्यादि दोष असंबंध पक्ष में भी आते हैं ।

यदि पदार्थों में अकार्य कारणभाव भी न मानें तब तो कार्य कारणभाव वास्तविक ही सिद्ध हो जायगा, क्योंकि दोनों का अभाव करने में विरोध आता है । जैसे किसी पदार्थ में नील और अनील दोनोंका अभाव नहीं कर सकते, अर्थात् यह

अकार्यकारणभावस्याप्यर्थानामनभ्युपगमे तु कार्यकारणभावो वास्तवः स्यात् । उभयाभावस्तु न युक्तः विरोधात्, क्वचिन्नीलेतरत्वाभाववत् । ततो यथा कुतश्चित्प्रमाणादकार्यकारणभावो गवाश्वादीनामतद्भावभावित्वप्रतीतेः परस्परं परमार्थतो व्यवतिष्ठते, तथाग्निधूमादीनां तद्भावभावित्वप्रतीतेः कार्यकारणभावोपि बाधकाभावात् । तन्न प्रमाणतः प्रतीयमानः सम्बन्धः स्वाभिप्रेत-

---

वस्तु नीली नहीं है और अनील (पीत आदि रूप) भी नहीं है ऐसा नही कह सकते हैं। इसप्रकार बौद्ध सम्बन्ध का निराकरण नहीं कर सकते हैं इसलिए जैसे गाय और अश्व आदि पदार्थों में परस्पर जो पारमार्थिक अकार्य अकारण भाव है वह अतद्भाव भावीपने से अर्थात् गाय के होने पर भी अश्व का नही होना या अश्व के नहीं होनेपर भी गाय का होना इत्यादि रूप से प्रतीत होता है अतः उसे सत्य मानते हैं, इसी प्रकार अग्नि और धूम इत्यादि पदार्थों में तद्भावभाविपने से अर्थात् अग्नि के होनेपर ही धूम का होना इत्यादि रूप से कार्य कारण भाव की प्रतीति होती है अतः उसे भी सत्य मानना चाहिए, दोनों–कार्य कारणभाव और अकार्य कारणभाव मे किसी प्रकार की भी बाधा नही आती है। इसलिये बौद्धों को चाहिए कि वे अपने इष्ट तत्व जो असंबधत्व आदिको जिसप्रकार मानते हैं उसका निह्नव नही करते हैं, उसीप्रकार प्रमाण से प्रतीत हो रहे सम्बन्ध का भी निह्नव नही करना चाहिए। जब सम्बन्ध का अपलाप नही हो सकता तो बौद्ध का यह कहना कि "स्थूलत्व धर्म की प्रतीति भ्रान्त है अतः स्थूलत्व आदि पदार्थ के स्वभाव नहीं है" इत्यादि गलत ठहरता है। जिसप्रकार बौद्ध एक ही चित्र ज्ञान में एक साथ अनेक आकार सम्बन्धी पदार्थ प्रतिभासित होना स्वीकार करते है, वैसे ही उस ज्ञान में क्रम से भी अनेक आकार रूप कार्य कारणपना प्रतिभासित होता है ऐसा स्वीकार करना चाहिए इसमें कोई विरोध की बात नहीं है।

भावार्थ—बौद्ध ने कार्य कारण सम्बन्ध का खण्डन करते हुए कहा था कि कारण को प्रतिभासित करानेवाला प्रमाण अलग है और कार्य को प्रतिभासित करने वाला प्रमाण अलग है अतः दोनों के परस्पर में होनेवाले सम्बन्ध को कौन जान सकता है तथा कार्यभूत पदार्थ या कारणभूत पदार्थ क्षणिक हैं उनका ग्राहक ज्ञान भी क्षणिक है, फिर किस तरह उन दोनो के सम्बन्ध को जाने। इस पर आचार्य उन्हीं के चित्र ज्ञान का उदाहरण देकर समझाते हैं कि जैसे एक ही चित्र ज्ञान में एक साथ अनेक

तत्त्ववन्निह्लवनीयो येन स्थूलादिप्रतीतेर्भ्रान्तत्वात्तत्स्वभावतार्थस्य न स्यात् । चित्रज्ञानवद्युगपदेकस्यानेकाकारसम्बन्धित्ववत्क्रमेणापि तत्तस्याविरुद्धम् । इति सिद्धं परापरविवर्त्तव्याप्येकद्रव्यलक्षणमूर्ध्वतासामान्यम् ।

।। सम्बन्धसद्भाववादः समाप्तः ।।

नील पीत आदि आकार प्रतीत होते हैं, या एक ज्ञान का एक साथ अनेक आकारों के साथ सम्बन्धीपना हो सकता है, वैसे क्रम क्रम से भी उस ज्ञान में अनेक आकार (कार्य कारण आदि) प्रतीत हो सकते हैं, कोई विरुद्ध बात नहीं है । इसतरह जब कार्य कारण संबंध को ग्रहण करनेवाला ज्ञान मौजूद है तो उस सम्बन्ध का कैसे खंडन कर सकते हैं ? अर्थात् नहीं कर सकते ।

इसप्रकार "परापर विवर्त्तव्यापि द्रव्य मूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ।। इस सूत्र में जो ऊर्ध्वता सामान्य का लक्षण बतलाया था वह निर्बाध सिद्ध हो गया । इस सूत्र में जब आचार्य ने यह कहा कि पर अपर अर्थात् पूर्व और उत्तर पर्यायों में व्यापक रूप से रहनेवाला जो एक ही द्रव्य होता है उसे ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं इत्यादि तब बौद्ध ने द्रव्य को क्षणिक सिद्ध करनेके लिए अपना लम्बा पक्ष स्थापित किया था उसका आचार्य ने खण्डन किया, तथा इसी ऊर्ध्वता सामान्य भूत द्रव्य में जो कार्य कारण भाव रहता है उसको दूषित करने का बौद्ध ने असफल प्रयत्न किया तब संबंध का सद्भाव सिद्ध किया इसतरह इस चौथे परिच्छेद के छठे सूत्र की व्याख्या करते हुए श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने बौद्ध के क्षणभंगवाद का खण्डन किया है और असम्बन्ध का निरसन कर कार्य कारण भाव, व्याप्य, व्यापक भाव आदि अनेक तरह के सम्बन्ध को सत्यभूत सिद्ध किया है ।

।। संबंधसद्भाववाद समाप्त ।।

❁❂❁

संबंधसद्भाववाद का सारांश

❖

पूर्वपक्षः—बौद्ध किसी वस्तु का किसी के साथ सम्बन्ध नहीं मानते हैं, अतः उनके यहां अवयवी, स्कन्ध, स्थूलत्व इत्यादि स्वभाव का निषेध किया जाता है। उनका कहना है कि पदार्थों में परतन्त्र स्वरूप या रूपश्लेष स्वरूप कोई भी सम्बन्ध प्रतीति नहीं होता है क्योंकि परतन्त्र स्वरूप संबंध माने तो वह दो पदार्थों में निष्पन्न होने के बाद होगा या बिना निष्पन्न हुए यह प्रश्न है, निष्पन्नों का सम्बन्ध कहो तो वे बन चुके अब संबंध से क्या प्रयोजन और अनिष्पन्न असत् मे सम्बन्ध हो नहीं सकता। रूपश्लेष सम्बन्ध माने तो वह भी एकदेश से होगा या सर्वदेश से, यदि एक-देश से एक अणु में अन्य अणु का सम्बन्ध माना जाय तो वे सम्बन्धित होने वाले अन्य परमाणु उस एक अणु से पृथक् रहेंगे या अपृथक्? पृथक् माने तो सम्बन्ध ही नही रहा और अपृथक् कहो तो सब परमाणु मिलकर एक अणुमात्र रह जायेंगे। तथा संबंध, संबंधीभूत दो वस्तुओं से भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है तो सबंध एक है उसका दो के साथ कौनसा सम्बन्ध बनेगा वह भी बड़ा कठिन प्रश्न है। कार्य कारण भाव असहभावी है अतः उनमें होनेवाला सम्बन्ध कैसे बने। जैसे कार्य कारणादि सम्बन्ध सिद्ध नही होता वैसे योगाभिमत संयोग, समवायादि सम्बन्ध भी सिद्ध नही होते उस पक्ष में भी उपर्युक्त प्रश्न उठते हैं। संबंधवादी यह बता देवें कि कार्य कारण भाव प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है या अनुमान से? प्रत्यक्ष से ग्रहण नही हो सकता। क्योंकि दोनों वर्तमान काल में एक साथ नही रहते। अनुमान से कहो तो उसको हेतु चाहिए। कारण होनेपर कार्य होता है, कारण नही होनेपर कार्य नहीं होता ऐसा देखकर कार्य कारण भाव सिद्ध करो तो वक्तृत्वादि हेतु मे भी ऐसा अन्वय व्यति-रेक पाया जाने से उस हेतु से सर्वज्ञ का अभाव स्वीकार करना होगा अर्थात् जहां वक्तृत्व है वहां असर्वज्ञत्व है और जहां असर्वज्ञत्व नही वहां वक्तृत्व नही ऐसा अन्वय

व्यतिरेक होने से वक्तृत्व हेतु सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करने वाला मानना पड़ेगा तथा कार्य कारण भाव का ज्ञान सम्पूर्ण वस्तु को जाने बिना कैसे होवे क्योंकि सभी धूम और अग्नि को जानेंगे तभी तो उनका कार्य कारण संबंध जोड़ेंगे अन्यथा नहीं। कारण में कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति भी प्रत्यक्ष नहीं होती है इस तरह सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो पाता है।

उत्तरपक्ष जैन :— यह कथन असमीचीन है। सम्बन्ध प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है, उसका लोप करना अशक्य है। तन्तुओं का सम्बन्ध रूप वस्त्र प्रत्यक्ष दिखाई देता है। बौद्ध संबंध को नहीं मानोगे तो रस्सी का एक छोर अन्य भागों से पृथक् होने से उसको एक तरफ से खींचते ही सारी रस्सी खींचती हुई नहीं आनी चाहिए। फिर कुआ पर पानी कैसे भरेंगे क्योंकि रस्सी का एक भाग हाथ में है अन्य भाग कुआ में है और वे सब भाग पृथक् पृथक् हैं अतः बाल्टी कैसे खींचे ? आपका पढ़ाया हुआ विद्यार्थी कहेगा कि यह बाल्टी खींच नहीं सकती क्योंकि रस्सी के सब अवयव बिखरे हैं इसलिये इन व्यवहारों को देखकर सम्बन्ध को मानना पड़ेगा, वह भी संवृत्ति से नहीं किन्तु वास्तविकता से, क्योंकि कल्पना से कोई काम नहीं होता है।

सम्बन्ध यही है कि दो वस्तुओं की विश्लिष्ट अवस्था बदलकर एक नयी संश्लिष्ट अवस्था हो जाना, यह अवस्था का परिवर्तन वस्तु के स्निग्धत्व और रुक्षत्व के कारण हुआ करता है। सम्बन्ध कई प्रकार का होता है। कहीं पर एक दूसरे के प्रदेशों का अनुप्रवेश होना रूप होता है जैसे सत्तु और जल के प्रदेश परस्पर मिश्रित होते हैं। कहीं पर श्लेष रूप होता है जैसे दो अंगुलियों का। परमाणु में हम अवयव (भाग) रूप अंश नही मानते हैं अर्थात् जब कभी एक परमाणु अन्य परमाणुओं से सम्बन्ध को प्राप्त होता है वह दिशादि के स्वभाव भेद से प्राप्त होता है इसलिये वे सब परमाणु उस एक अणुमात्र नही होते हैं। आपने निष्पन्न वस्तु में सम्बन्ध होता है या अनिष्पन्न में ऐसा पूछा था उसका उत्तर यही है कि निष्पन्न दो वस्तुओं में ही सम्बन्ध होगा और सम्बन्ध होने पर उनकी अवस्था एक जात्यन्तर रूप रहेगी। संबंध होने पर पदार्थ पृथक् नहीं होते हैं जैसे चित्र ज्ञान में नीलादि अनेक आकार पृथक् नहीं होते हैं तथा कार्य कारण का नियम इतना ही है कि जिसके होने पर जो नियम से हो और नहीं होने पर न हो। बौद्ध ने कहा था कि यदि कारण पहले और कार्य

पीछे ऐसे पूर्वोत्तर क्षणवर्ती होते हैं तो उनको कौन सा प्रमाण जानेगा इत्यादि उसका उत्तर यह है कि क्षयोपशम विशिष्ट जो आत्मा है वह इन कार्य कारण भावरूप पदार्थों को जानता है, क्योंकि वह कारण और कार्य दोनों के क्षणों में अन्वयरूप से रहता है। आपके क्षणिकत्व का तो अभी क्षणभंगवाद में खण्डन हो चुका है। कार्यकारण संबंध के जितने प्रश्न हैं वे सब अकार्यकारणवाद में भी आते हैं वह भी दो वस्तु में होकर अतः दिष्ट रहेगा फिर उसको कौन जानेगा इत्यादि। इसलिए प्रत्यक्ष सिद्ध इस संबंध को अवश्य मानना चाहिए।

॥ सम्बन्धसद्भाववाद का सारांश समाप्त ॥

यथा च द्वेधा सामान्यं तथा—

विशेषश्च ।। ७ ।।

चकारोऽपिशब्दार्थे । कथं तद्द्वैविध्यमित्याह—

पर्यायव्यतिरेकभेदात् ।। ८ ।।

अब यहां विशेष का भेद सहित वर्णन करते हैं—

विशेषश्च ।। ७ ।।

जैसे सामान्य के दो भेद हैं वैसे विशेष के भी दो भेद हैं। सूत्रस्थ चकार शब्द 'भी' अर्थ का वाचक है। उसी दो भेदों के नाम बताते हैं—

पर्यायव्यतिरेकभेदात् ।। ८ ।।

तत्र पर्यायस्वरूपं निरूपयति—

एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्षविषादादिवत् ॥ ६ ॥

अत्रोदाहरणमाह आत्मनि हर्षविषादादिवत् ।

ननु हर्षादिविशेषव्यतिरेकेणात्मनोऽसत्त्वादयुक्तमिदमुदाहरणमित्यन्यः; सोप्यप्रेक्षापूर्वकारी; **चित्रसंवेदनवदनेकाकारव्यापित्वेनात्मनः स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रसिद्धत्वात् 'यद्यथा प्रतिभासते तत्तथैव व्यवहर्त्तव्यम् यथा वेद्याद्याकारात्मसंवेदनरूपतया प्रतिभासमानं संवेदनम्, सुखाद्यनेकाकारैकात्मतया प्रतिभासमानश्चात्मा** इत्यनुमानप्रसिद्धत्वाच्च ।

पर्याय विशेष और व्यतिरेक विशेष इस तरह विशेष के दो भेद हैं । इनमे से पर्याय विशेष का स्वरूप बतलाते हैं—

एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्यायाः आत्मनि हर्ष विषादादिवत् ॥ ६ ॥

एक द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणामों को पर्याय विशेष कहते हैं, जैसे आत्मा में क्रमशः हर्ष और विषाद हुआ करते हैं ।

सौगत—हर्ष और विषाद आदि को छोड़कर दूसरा कोई आत्मा नामा पदार्थ नहीं है, अतः उसका उदाहरण देना अयुक्त है ?

जैन—यह कथन अविचारकपने का सूचक है, जिसप्रकार आप एक चित्र ज्ञान को अनेक नील पीत आदि आकारों में व्यापक मानते हैं वैसे आत्मा अनेक हर्षादि परिणामों में व्यापक रहता है ऐसा मानना होगा, क्योंकि ऐसा स्वयं अपने को ही साक्षात् अनुभव में आ रहा है । जो जैसा अनुभव में आता है उस वस्तु को वैसा ही कहना चाहिए, जिस तरह संवेदन (ज्ञान) वेद्य तथा वेदक आकार रूप से प्रतीत होता है तो उसे वैसा मानते हैं, उसी तरह आत्मा भी सुख तथा दुःख आदि अनेक आकार से प्रतीत होता है अतः उसे वैसा मानना चाहिए । इसप्रकार अनुमान से आत्मा की सिद्धि होती है ।

सुख-दुःख आदि पर्याय परस्पर में एकान्त से भिन्न हैं उनमें कोई व्यापक एक द्रव्य नहीं है ऐसा माने तो "मैं पहले सुखी था, अब दुःखी हूं" इसतरह अनुसंधान-रूप ज्ञान नहीं होना चाहिए किन्तु होता है ।

सुखदुःखादिपर्यायाणामन्योन्यमेकान्ततो भेदे च 'प्रागहं सुख्यासं सम्प्रति दुःखी वर्ते' इत्यनुसन्धानप्रत्ययो न स्यात् । तथाविधवासनाप्रबोधादनुसन्धानप्रत्ययोत्पत्तिः; इत्यप्यसत्यम्; अनुसन्धानवासना हि यद्यनुसन्धीयमानसुखादिभ्यो भिन्ना; तर्हि सन्तानान्तरसुखादिवत्स्वसन्तानेप्यनुसन्धानप्रत्ययं नोत्पादयेदविशेषात् । तदभिन्ना चेत् तावद्धा भिद्येत । न खलु भिन्नादभिन्नमभिन्नं नामाऽतिप्रसङ्गात् । तथा तत्प्रबोधात्कथं सुखादिष्वेकमनुसन्धानज्ञानमुत्पद्येत? तेभ्यस्तस्याः कथञ्चिद्भेदे नाममात्रं भिद्येतग्रहमहमिकया स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रसिद्धस्यात्मनः सहक्रमभाविनो गुणपर्यायानात्मसात्कुर्वतो 'वासना' इति नामान्तरकरणात् ।

बौद्ध— मैं पहले दुःखी था इत्यादि प्रकार की वैसी वासना प्रगट होने से ही अनुसंधानात्मक ज्ञान पैदा होता है ।

जैन—यह असत् है, अनुसन्धान को करनेवाली उक्त वासना अनुसंधीयमान सुख दुःख आदि से भिन्न है कि अभिन्न ? यदि भिन्न है तो जैसी वह वासना अन्य संतानों में सुखादिका अनुसंधान ज्ञान (प्रत्यभिज्ञान) पैदा नहीं कराती वैसे अपने संतान में नही करा सकेगी । क्योंकि कोई विशेषता नहीं है, जैसे पर सन्तानों से भिन्न है वैसे स्व संतान से भिन्न है । यदि उस वासना को सुखादि से अभिन्न माने तो जितने सुखादि के भेद हैं उतने वासना के भेद मानने होंगे क्योंकि ऐसा हो नहीं सकता कि वासना उन सुखादि से अभिन्न होवे और एक भी बनी रहे । यदि वासना अनेकों सुख-दुःख आदि में अभिन्नपने से रहकर भी अपने एकत्व को भिन्न बनाये रख सकती हैं तो घट, पट, गृह आदि से अभिन्न जो उनके घटत्व आदि स्वरूप है वे भी भिन्न मानने होंगे । इस अति प्रसंग को हटाने के लिए कहना होगा कि जितने सुखादि के भेद हैं उतने वासना के भेद हैं, इसतरह जब वासनायें अनेक है तो उनके प्रबोध से सुख, दुःख आदि में एक अनुसन्धानात्मक ज्ञान किसप्रकार उत्पन्न होगा ? क्योंकि वासनारूप कारण अनेक हैं तो उनसे होने वाला कार्य (ज्ञान) भी अनेक होना चाहिए ? यदि इस दोष को दूर करने के लिए सुख-दुःख आदि से वासना को कथंचित् भेद रूप माना जाय तो आत्मा और वासना में नाम मात्रका भेद रहा "अहं" मैं इस प्रकार से जो अपने में प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्रसिद्ध है, जो सहभावी गुण एवं क्रमभावी पर्यायों को आत्मसात् (धारण) कर रहा है ऐसे आत्मा के ही "वासना" ऐसा नामान्तर कर दिया है, और कुछ नहीं ।

क्रमवृत्तिसुखादीनामेकसन्ततिपतितत्वेनानुसन्धाननिबन्धनत्वम्; इत्यपि तादृगेव; आत्मनः सन्ततिशब्देनाभिधानात्। तेषां कथंचिदेकत्वाभावे नैक पुरुषसुखादिवदेकसन्ततिपतितत्वस्याप्ययोगात्।

आत्मनोऽनभ्युपगमे च कृतनाशाकृताभ्यागमदोषानुषङ्गः। कर्तुं निरन्वयनाशे हि कृतस्य कर्मणो नाशः कर्त्तुः फलानभिसम्बन्धात्, अकृताभ्यागमश्च अकर्त्तुरेव फलाभिसम्बंधात्। ततस्तद्दोषपरिहारमिच्छतात्मानुगमोऽभ्युपगन्तव्यः। न चाप्रमाणकोयम्; तत्सद्भावावेदकयोः स्वसंवेदनानुमानयोः प्रतिपादनात्।

'अहमेव ज्ञातवानहमेव वेद्मि' इत्यादेरेकप्रमातृविषयप्रत्यभिज्ञानस्य च सद्भावात्। तथा चोक्तं भट्टेन—

बौद्ध— क्रम से होने वाले सुख, दुःख आदि का एक संततिरूप प्रमुख होना है वही अनुसन्धानात्मक ज्ञान का कारण है।

जैन— यह कथन भी पहले के समान है, यहां आत्मा को "संतति" शब्द से कहा। जब तक उन सुख-दुःख या हर्ष-विषाद आदि पर्यायों के कथंचित् द्रव्यदृष्टि से एकपना नहीं मानते हैं तब तक अनेक पुरुषों के सुख दु खादि में जैसे एकत्व का ज्ञान नहीं होता वैसे एक पुरुष के सुखादि में भी एक संतति पतित्व से अनुसन्धान होना शक्य नहीं।

तथा आत्म द्रव्यको नहीं माने तो कृत प्रणाश और अकृत अभ्यागम नामा दोष भी उपस्थित होता है, इसीका स्पष्टीकरण करते हैं—जब कर्त्ता का निरन्वय नाश हो जाता है तब उसके द्वारा किए हुए कर्म का नाश होवेगा फिर कर्त्ता को उसका फल कैसे मिलेगा? तथा जिसने कर्म को नहीं किया है उसको फल मिलेगा। अतः इस दोष को दूर करने के लिए आप बौद्धों को अनुगामी एक आत्मानामा द्रव्य को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। यह आत्मा अप्रामाणिक भी नहीं समझना, क्योंकि आत्मा को सिद्ध करने वाले स्वसंवेदन ज्ञान तथा अनुमान ज्ञान हैं, ऐसा प्रतिपादन कर दिया है। आत्मा को सिद्ध करनेवाला और भी ज्ञान है मैंने ही जाना था, अभी मैं ही जान रहा हूं, इत्यादि रूप से एक ही प्रमाता को विषय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान मौजूद है। भट्ट मीमांसक ने भी कहा है—आत्मद्रव्य में हर्ष-विषाद, सुख-दुःख आदि

"तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मकः ।
पुरुषोऽभ्युपगन्तव्यः कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥"

[मी० श्लो० आत्मवाद श्लो० २८] इति ।

"तस्मात्तत्प्रत्यभिज्ञानात्सर्वलोकावधारितात् ।
नैरात्म्यवादबाधः स्यादिति सिद्धं समीहितम् ॥"

[मी० श्लो० आत्मवाद श्लो० १३६] इति च ।

अथ कथमतः प्रत्यभिज्ञानादात्मसिद्धिरिति चेत् ? उच्यते—'प्रमातृविषयं तत्' इत्यत्र तावदावयोरविवाद एव। स च प्रमाता भवन्नात्मा भवेत्, ज्ञानं वा? न तावदुत्तरः पक्षः, 'अहं ज्ञातवानहमेव च साम्प्रतं जानामि' इत्येकप्रमातृपरामर्शेन ह्यहंबुद्धे रुपजायमानाया ज्ञानक्षणो विषयत्वेन कल्प-

---

विवर्त्तोंको सर्वथा भिन्न या अभिन्न मानते हैं तो बाधा आती है अर्थात् आत्म द्रव्य को एक अन्वयी न मानकर द्रव्य तथा पर्यायों को सर्वथा क्षणिक एवं पृथक्-पृथक् मानते हैं तो दोनों ही असिद्ध हो जाते हैं अतः व्यावृत्त अनुवृत्त स्वरूप वाला पुरुष आत्मा नित्य है ऐसा स्वीकार करना चाहिए, जैसे कि सर्प एक स्थिर है और उसमें कुण्डलाकार होना लम्बा होना इत्यादि पर्यायें होती हैं, अथवा सुवर्ण एक है और वह कड़ा, हार, कुण्डल आदि आकारों में क्रम-क्रमसे प्रवृत्त होता है ॥ १ ॥ सम्पूर्ण लोक में प्रसिद्ध प्रत्यभिज्ञान द्वारा आत्मा की सिद्धि होने से बौद्धका नैरात्म्यवाद बाधित होता है, अतः हमारा आत्मनित्यवाद सिद्ध होता है। यदि कोई कहे कि प्रत्यभिज्ञान द्वारा आत्मा की सिद्धि कैसे होती है ? तो बताते हैं—प्रत्यभिज्ञान प्रमाता को विषय करता है इस विषय में जैन तथा बौद्ध का विवाद नहीं है, अब यह देखना है कि वह प्रमाता कौन है आत्मा है कि ज्ञान है ज्ञान तो हो नहीं सकता, क्योंकि "मैंने जाना था अब मैं ही जान रहा हूं" इत्यादिरूप से एक प्रमाता का परामर्श जिसमें है ऐसे प्रत्यभिज्ञान द्वारा अहं (मैं) इसप्रकार की बुद्धि उत्पन्न होती है वह यदि ज्ञान क्षण विषयक है तो कौनसा ज्ञान क्षण है अतीत ज्ञान क्षण है, या वर्त्तमान है, अथवा दोनों है अथवा संतान है इनको छोड़कर अन्य कुछ तो हो नहीं सकता। अहंबुद्धि अतीत ज्ञान क्षण को विषय करती है ऐसा प्रथम विकल्प माने तो "जाना था" इतना आकार ही निश्चित होना शक्य है, क्योंकि उसने पहले जाना है "अभी जान रहा हूं" इस आकार

मानोतीतो वा कल्प्येत, वर्तमानो वा, उभौ वा, सन्तानो वा प्रकारान्तरासम्भवात् ? तत्राद्यविकल्पे 'ज्ञातवान्' इत्ययमेवाकारावसायो युज्यते पूर्वं तेन ज्ञातत्वात्, 'सम्प्रति जानामि' इत्येतत्तु न युक्तम्, न ह्यसावतीतो ज्ञानक्षणो वर्त्तमानकाले वेत्ति पूर्वमेवास्य निरुद्धत्वात् । द्वितीयपक्षे तु 'सम्प्रति जानामि' इत्येतद्युक्तं तस्येदानीं वेदकत्वात्, 'ज्ञातवान्' इत्या-कारग्रहणं तु न युक्तं प्रागस्यासम्भवात् । अत एव न तृतीयोपि पक्षो युक्तः; न खलु वर्तमानातीता-वुभौ ज्ञानक्षणौ ज्ञान (त) वन्तौ, नापि जानीतः । किं तर्हि ? एको ज्ञातवान् अन्यस्तु जानातीति । चतुर्थपक्षोप्ययुक्तः; अतीतवर्त्तमानज्ञानक्षणव्यतिरेकेणान्यस्य सन्तानस्यासम्भवात् । कल्पितस्य सम्भवेपि न ज्ञातृत्वम् । न ह्यसौ ज्ञान (त) वान्पूर्वं नाप्यधुना जानाति, कल्पितत्वेनास्याऽवस्तु-त्वात् । न चावस्तुनो ज्ञातृत्वं सम्भवति वस्तुधर्मत्वात्तस्य इति अतोऽन्यस्य प्रमातृत्वासम्भवादात्मैव प्रमाता सिद्धयति । इति सिद्धोऽतः प्रत्यभिज्ञानादात्मेति ।

को जानना उसके लिए शक्य नहीं है, क्योंकि यह जो अतीत ज्ञान क्षण है वह पहले ही नष्ट हो जाने से वर्त्तमानकाल में नहीं जान रहा है । द्वितीय विकल्प वर्त्तमान ज्ञान-क्षण उस जोड़रूप प्रतिभास को जानता है ऐसा मानना भी शक्य नहीं, वर्त्तमान ज्ञानक्षण केवल "अभी जान रहा हूं" इतने को ही जानता है, "जाना था" इस आकार को ग्रहण कर नहीं सकता, क्योंकि वह पहले नहीं था । अतीत और वर्त्तमान दोनों ज्ञानक्षण उस जोड़रूप प्रतीति को विषय करते हैं ऐसा तीसरा पक्ष भी जमता नहीं, क्योंकि वे दोनों न ज्ञात हैं (अतीत में) और न जान रहे (वर्त्तमान में) किन्तु उन ज्ञानक्षणों में से एक तो "ज्ञातवान्—जाना था" इस आकार को लिए हुए है, और दूसरा "जानाति जान रहा है" इस आकार को लिए है । चौथा पक्ष—संतान अहं बुद्धि को विषय करती है ऐसा कहना भी अयुक्त है, क्योंकि अतीत और वर्त्तमान ज्ञान क्षण को छोड़कर अन्य संतान नामा ज्ञानक्षण नहीं है । काल्पनिक संतान मान लेवे तो वह ज्ञाता नहीं होगी । काल्पनिक संतान न पहले ज्ञातवान् है और न वर्त्तमान ज्ञाता है क्योंकि वह अवस्तुरूप है अवस्तु में ज्ञातृत्व संभव नहीं है, ज्ञातृत्व वस्तु का धर्म है । इसप्रकार अतीत आदि ज्ञानक्षण अहं बुद्धि विषय वाले सिद्ध नहीं हैं अतीतादि क्षणोंको छोड़कर अन्य प्रमाता बन नहीं सकता अतः निश्चित होता है कि आत्मा ही प्रमाता है, और वह प्रत्यभिज्ञान द्वारा सिद्ध हो जाता है ।

अब यहां पर क्षणिकवादी बौद्ध आत्मा के विषय में कुचोद्य उठाकर उसके अन्वयीपने का अभाव करना चाहते हैं—

ननु चात्मासुखादिपर्यायैः सम्बद्धयमानः परित्यक्तपूर्वरूपो वा सम्बद्धयेत, अपरित्यक्तपूर्वरूपो वा ? प्रथमपक्षे निरन्वयनाशप्रसङ्गः, अवस्थातुः कस्यचिदभावात् । द्वितीयपक्षे तु पूर्वोत्तरावस्थयोरात्मनोऽविशेषादपरिणामित्वानुषङ्गः । प्रयोगः यत्पूर्वोत्तरावस्थासु न विशिष्यते न तत्परिणामि यथाकाशम्, न विशिष्यते पूर्वोत्तरावस्थास्वात्मेति, तदपरीक्षिताभिधानम्; आत्मनो भेदेन प्रसिद्धसत्ताकैः सुखादिपर्यायैः स्वस्य सम्बन्धानभ्युपगमात् । आत्मैव हि तत्पर्यायतया परिणमते नीलाद्याकारतया चित्रज्ञानवत्, स्वपरग्रहणशक्तिद्वयात्मकतयैकविज्ञानवद्वा । न खलु ययैव शक्त्यात्मानं प्रतिपद्यते विज्ञान तयैवार्थम्, तयोरभेदप्रसङ्गात् । अन्यथात्मनो येन रूपेण सुखपरिणामस्तेनैव दुःख-

---

बौद्ध—अभी जैन ने पर्याय विशेष का लक्षण करते हुए कहा कि एक द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणमनो को पर्याय विशेष कहते हैं, जैसे आत्मा में क्रमशः हर्ष और विषाद हुआ करते हैं, उसमें हमारा प्रश्न है कि सुखादि पर्यायो के साथ आत्मा क्रम से सम्बन्ध करता है वह पूर्व रूप को छोड़कर करता है या बिना छोड़े ही, यदि छोड़कर करता है तब निरन्वय विनाश का प्रसंग आयेगा, क्योंकि अवस्थित रहनेवाला कोई पदार्थ नहीं और यदि पूर्वरूप को बिना छोड़े उन पर्यायों से सम्बद्ध होता है तो पूर्वोत्तर अवस्थाओं मे आत्मा में कुछ विशेषपना नही रहने से वह अपरिणामी कहलायेगा । अनुमान से यही बात सिद्ध होती है कि आत्मा परिणामी नहीं है, क्योंकि वह पूर्वोत्तर अवस्थाओं में एकसा रहता है, जो पूर्वोत्तर अवस्थाओं में विशिष्ट न होकर एकसा रहता है वह परिणामी नहीं माना जाता, जैसे आकाश हमेशा एकसा रहने से परिणामी नहीं है, आत्मा भी आकाश के समान पूर्वोत्तर अवस्थाओं में (सुखादि पर्यायों में) एकसा है अतः अपरिणामी है ?

जैन—यह बौद्ध का कथन असत् है, आत्मा से कथंचित् भिन्न ऐसी सर्वजन प्रसिद्ध जो सुख-दुःख आदि पर्यायें हैं उनका अपना कोई सम्बन्ध नहीं है (उन सुख-दुःख का परस्पर में संबंध नही होता) अब इसी को बतलाते हैं—आत्मा स्वयं एक परिणमनशील पदार्थ है, वही सुख आदि पर्यायरूप परिणमन करता है, जैसे बौद्ध के यहां नील, पीत आदि आकार रूप एक चित्र ज्ञान परिणमन करता है, अथवा स्व और पर दोनों को जानने की दो शक्तियोंरूप एक विज्ञान हुआ करता है वैसे ही आत्मद्रव्य है । जिस शक्ति से ज्ञान अपने को जान रहा है उसी शक्ति से पदार्थ को नहीं जानता । यदि एक शक्ति से दोनों को जानेगा तो उन दोनों में स्व-पर में अभेद

परिणामेपि अनयोरभेदो न स्यात् । न च तच्छक्तिभेदे तदात्मनो ज्ञानस्यापि भेद:; अन्यथैकस्य स्व-परग्राहकत्वं न स्यात् । नापि चित्रज्ञानस्य नीलाद्यनेकाकारतया परिणामेपि एकाकारताव्याघात: । तद्वत्सुखाद्यनेकाकारतया परिणामेपि आत्मनो नैकत्वव्याघातो विशेषाभावात् । न चैकत्र युगपत्, अन्यत्र तु कालभेदेन परिणामाद्विशेषः; प्रतीतेर्नियामकत्वात् । यत्र हि प्रतीतिर्देशकालभिन्ने तदभिन्ने वा वस्तुन्येकत्वं प्रतिपद्यते तत्रैकत्वं प्रतिपत्तव्यम्, यत्र तु नानात्वं प्रतिपद्यते तत्र तु नानात्वमिति ।

ततो यदुक्तम्-सर्वात्मनैवाभेदे भेदस्तद्विपरीत: कथं भवेत् ? न ह्येकदा विधिप्रतिषेधौ पर-स्परविरुद्धौ युक्तौ । प्रयोग:-यत्राभेदस्तत्र तद्विपरीतो न भेद: यथा तेषामेव पर्यायाणां द्रव्यस्य च

का प्रसंग आयेगा । आत्मा यदि उन पर्यायोंरूप परिणमन नहीं करता तो जिस रूप से उसके सुख परिणाम होता है उसी रूप से दु:ख परिणाम होने पर भी इनमें अभेद नहीं होता । परिणमन की शक्तियों में भेद स्वीकार करने पर तद्‌युक्त ज्ञान में भी भेद हो जायगा ऐसा नियम नहीं है यदि ऐसा होता तो एक ज्ञान स्व और पर दोनों का ग्राहक नहीं कहलाता । जैसे चित्र ज्ञान में नील आदि अनेक आकारपने से परिणमित हो जाने पर भी उसके एकाकारता में कोई बाधा नहीं आती, वैसे सुख-दु:ख आदि अनेक आकारपने से परिणत होने पर भी आत्मा में एकपने का कोई विरोध नहीं आता । चित्रज्ञान और आत्मा इनमें अनेकाकार होकर भी एकरूप बने रहने की समानता है कोई विशेषता नही है । कहने का अभिप्राय यह है कि बौद्ध चित्रज्ञान को जैसे अनेका-कार होकर एक रूप मानते है, वैसे हम जैन सुख आदि अनेक परिणाम स्वरूप होते हुए भी आत्मा को एक रूप मानते हैं । बौद्ध कहे कि चित्र ज्ञान में एक साथ अनेक आकार होते हैं किन्तु आत्मा में ऐसे युगपत् सुख-दु:ख आदि परिणाम नहीं होते अत: कालभेद होने से चित्र ज्ञान और आत्मा में समानता नही हो सकती सो ऐसी बात नहीं है, यहां तो प्रतीति ही नियामक है, अर्थात् जहां पर देश और काल भेद से भिन्न वस्तु में या देश और काल के अभेद से अभिन्न वस्तु में प्रतीति द्वारा एकत्व प्राप्त होता है वहां पर एकत्व मानना चाहिए और जहां पर प्रतीति द्वारा नानापना प्राप्त होता है वहां पर नानापना मानना चाहिए ।

बौद्ध—द्रव्य और उसकी पर्याय या परिणाम इनमें सर्वात्मना अभेद है तो उसका विपक्षी जो भेद है वह कैसे सम्भव है क्योंकि एक काल में परस्पर विरुद्ध

यत्प्रतिनियतमसाधारणमात्मस्वरूपं तस्य न स्वभावाद्भेदः अभेदश्च द्रव्यपर्याययोरिति । किञ्च, पर्यायेभ्यो द्रव्यस्याभेदः, द्रव्यात्पर्यायाणां वा ? प्रथमपक्षे पर्यायवद्द्रव्यस्याप्यनेकत्वानुषङ्गः । तथा हि–यद्व्यावृत्तिस्वरूपाऽभिन्नस्वभावं तद्व्यावृत्तिमत् यथा पर्यायाणां स्वरूपम्, व्यावृत्तिमद्रूपाव्यतिरिक्तं च द्रव्यमिति । द्वितीयपक्षे तु पर्यायाणामप्येकत्वानुषङ्गः । तथाहि—यदनुगतस्वरूपाऽव्यतिरिक्तं तदनुगतात्मकमेव यथा द्रव्यस्वरूपम्, अनुगतात्मस्वरूपाऽभिन्नस्वभावाश्च सुखादयः पर्यायाः इत्यादि;

तन्निरस्तम्; प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुरूपे कुचोद्याऽनवकाशात् । न खलु मदोन्मत्तो हस्ती सन्निहितम् व्यवहितं वा परं मारयति, सन्निहितस्य मारणे मेण्ठस्यापि मारणप्रसंगः । व्यवहितस्य च

विधि प्रतिषेधों का होना अयुक्त है, अर्थात् भेद और अभेद होना युक्त नहीं है । अनुमान से सिद्ध है कि द्रव्य और पर्याय भिन्न नही हैं क्योंकि उनमें अभेद माना है, जहां पर अभेद है वहां पर उससे विपरीत भेद नहीं रहता, जैसे उन पर्यायोंका और द्रव्य का जो प्रतिनियत असाधारण निजी स्वरूप है उसका स्वभाव से भेद नही हुआ करता, जैन ने द्रव्य और पर्याय मे अभेद माना ही है, अतः उनमें अभेद ही रहेगा भेद नहीं रह सकता । दूसरी बात यह है कि जैन पर्यायों से द्रव्य का अभेद मानते हैं कि द्रव्य से पर्यायों का अभेद मानते हैं ? प्रथम पक्ष लेवे तो पर्यायों के समान द्रव्य को भी अनेक होने का प्रसंग आता है । इसी का खुलासा करते हैं—जो व्यावृत्ति स्वरूप अभिन्न स्वभाव वाला है वह व्यावृत्तिमान ही है, जैसे कि पर्यायों का स्वरूप है, द्रव्य भी व्यावृत्तिमान रूप से अव्यतिरिक्त है इसलिये उसे अनेक माना जायगा । दूसरा पक्ष—द्रव्य से पर्यायों का अभेद है ऐसा माने तो सब पर्यायें एक रूप को प्राप्त होंगी, जो अनुगत स्वरूप होकर अव्यतिरिक्त रहता है वह अनुगतात्मक ही कहलाता है, जैसे द्रव्य स्वरूप अनुगतात्मक है, सुखादि पर्यायें भी अनुगत स्वरूप अभिन्न स्वभाव वाली हैं अतः वे एकरूप हैं । इसतरह जैन मान्यता में भी दोष आते हैं ?

जैन— बौद्ध का यह कहना भी पूर्वोक्त रीत्या खण्डित हो जाता है, क्योंकि प्रमाण से निश्चित हुए वस्तु स्वरूप में कुचोद्योंको अवकाश नहीं हुआ करता है, मदोन्मत्त हाथी के विषय में कोई व्यर्थ के कुचोद्य उठावे कि मत्त हाथी निकटवर्ती को मारता है या दूरवर्ती को मारता है ? निकटवर्ती को मारता है ऐसा कहो तो

मारणेतिप्रसङ्गः, इत्यनर्थानल्पकल्पनाभयात् स्वकार्यकारणदुपरमते । चित्रज्ञानादावपि चैतत्सर्वं समानम् । प्रतिक्षिप्तं च प्रतिक्षणं क्षणिकत्वं प्रागित्यलमतिप्रसंगेन ।

अथेदानीं व्यतिरेकलक्षणं विशेषं व्याचिख्यासुरर्थान्तिरेत्याह—

अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेकः गोमहिषादिवत् ।।१०।।

एकस्मादर्थात्सजातीयो विजातीयो वार्थोऽर्थान्तरम्, तद्गतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् । यथा गोषु खण्डमुण्डादिलक्षणो विसदृशपरिणामः, महिषेषु विशालविसङ्कटत्वलक्षणः,

---

महावत को भी मारना चाहिए और यदि दूरवर्ती को मारता है तो उसे सबको ही मारना चाहिए इत्यादि बहुत प्रकार के व्यर्थ के प्रश्न एव कल्पना होने के प्रसंग आते है अतः द्रव्य और पर्याय के विषय में व्यर्थ के प्रश्न नही करने चाहिए, मत्त हाथी तो अपना कार्य करने में चूकता नहीं, कोई चाहे जितने प्रश्न उठा लो, वैसे ही द्रव्य और पर्याय कथंचित् भेदाभेद रूप प्रतीति सिद्ध है, इनके विषय में बौद्ध चाहे जितने प्रश्न उठा लेवे, किन्तु इस वस्तु स्वरूप का अपलाप नही कर सकते । बौद्ध के चित्र ज्ञान में भी द्रव्य पर्याय के समान प्रश्न कर सकते हैं कि चित्र ज्ञान नील पोत आदि आकारों से सर्वात्मना अभिन्न है तो उनका विभिन्न प्रतिभास नहीं होना चाहिए इत्यादि, अतः प्रतीति के अनुसार ही वस्तु स्वरूप को स्वीकार करना होगा । आत्मा आदि पदार्थ प्रतिक्षण विनष्ट होते है इस सिद्धान्त का पहले खण्डन कर चुके हैं अतः यहां अधिक नही कहते हैं ।

इसप्रकार यहां तक विशेष का प्रथम भेद पर्यायविशेष का विवेचन किया प्रसंगोपात्त आत्मा का अन्वयीपना अर्थात् आत्मद्रव्य कथंचित् द्रव्यदृष्टि से अपनी सुखादि पर्यायों से अभिन्न है और कथंचित् पर्यायदृष्टि से भिन्न भी है ऐसा सिद्ध किया, अब विशेष का द्वितीय भेद व्यतिरेक विशेष का व्याख्यान करते हैं—

अर्थांतरगतो विसदृशपरिणामोव्यतिरेको गो महिषादिवत् ।।१०।।

सूत्रार्थ—विभिन्न पदार्थों में होने वाले विसदृश परिणाम को व्यतिरेक विशेष कहते है, जैसे गाय, भैंस आदि में होने वाली विसदृशता विशेष कहलाती है उसीको व्यतिरेक विशेष कहते हैं ।

गोमहिषेषु चान्योन्यमसाधारणस्वरूपलक्षण इति । तावेवंप्रकारौ सामान्यविशेषावात्मा यस्यार्थस्याऽसौ तथोक्तः । स प्रमाणस्य विषय: न तु केवलं सामान्यं विशेषो वा, तस्य द्वितीयपरिच्छेदे 'विषयभेदात्-प्रमाणभेद:' इति सौगतमत प्रतिक्षिपता प्रतिक्षिप्तत्वात् । नाप्युभय स्वतन्त्रम्; तथाभूतस्यास्याप्य-प्रतिभासनात् ।

।। अन्वय्यात्मसिद्धि: समाप्त: ।।

एक कोई गाय आदि पदार्थ है उस पदार्थ से न्यारा सजातीय गाय आदि पदार्थ हो चाहे विजातीय भैंस आदि पदार्थ हो उन पदार्थों को अर्थान्तर कहते हैं, उनमें होने वाली विसदृशता या विलक्षणता ही व्यतिरेक विशेष कही जाती है, जैसे कि गाय भैंसादि में हुआ करती है अर्थात् अनेक गो व्यक्तियों में यह खण्डी गाय या बैल है, यह मुण्ड है (जिसका पैर आदि खण्डित हो वह गो खण्ड कहलाती है तथा जिसका सीग टूटा हो वह मुण्ड कहलाती है) इत्यादि विसदृशता का परिणाम दिखायी देता है और भैंसों में यह बड़ी विशाल है, यह बहुत बड़े सींग वाली है इत्यादि विसदृशता पायी जाती है, तथा गाय और भैंस आदि पशुओं में परस्पर में जो असाधारण स्वरूप है वही व्यतिरेक विशेष कहलाता है। इसप्रकार पूर्वोक्त सामान्य के दो भेद और यह विशेष के दो भेद ये सब पदार्थों में पाये जाते हैं। अत: सामान्य और विशेष है स्वरूप जिसका उसे सामान्य विशेषात्मक कहते है। यह सामान्य विशेषात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय होता है, अकेला सामान्य या अकेला विशेष प्रमाण का विषय नहीं होता है। प्रमाण अकेले अकेले सामान्यादि को विषय कैसे नहीं करता इस बात का विवेचन दूसरे अध्याय में प्रमेयभेदात् प्रमाणभेद: माननेवाले बौद्ध का खण्डन करते हुए हो चुका है, अर्थात् सामान्य एक पृथक् पदार्थ है और उसका ग्राहक अनुमान या विकल्प है तथा विशेष एक पृथक् तथा वास्तविक कोई पदार्थ है और उसका ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण है इत्यादि सौगतीय मत पहले हो खण्डित हो चुका है अत: निश्चित होता है कि प्रत्येक पदार्थ स्वयं सामान्य विशेषात्मक ही है। कोई कोई परवादी सामान्य और विशेष को एकत्र मानकर भी उन्हें स्वतन्त्र बतलाते हैं, सो वह भी गलत है, क्योंकि ऐसा प्रति-भास नहीं होता है।

।। अन्वय्यात्मसिद्धि समाप्त ।।

अन्वय्यात्मसिद्धि का सारांश

बौद्ध एक अनादि नित्य आत्मा को नही मानते है उनका कहना है कि सुखादि पर्यायों को छोड़कर अन्य आत्मा नामक नित्य वस्तु नहीं है, जो सुखादि पर्यायें हैं वे सब क्षणिक हैं इसी तरह सभी अन्तरंग बहिरंग वस्तुयें क्षणिक हैं यह सिद्ध होता है। इस मन्तव्य पर आचार्य कहते हैं कि जैसे आप एक ही चित्र ज्ञान में अनेक नीलादि आकार मानते हैं वैसे एक आत्मा में क्रम से सुखादि अनेक पर्यायें है। यदि ये सुखादि पर्यायें अत्यन्त भिन्न होती तो "पहले मैं सुखी था, अब दुःखी हू" ऐसा जोड़ रूप ज्ञान नहीं हो पाता। जोड़ रूप ज्ञान वासना से होता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, यह वासना भी सुखादि से भिन्न होगी तो अन्य संतान के सुखादि की तरह इस संतान के सुखादि में भी जोड़ नहीं कर सकती क्योंकि वह तो दोनों से पृथक् है। वासना इन सुखादि पर्याय से कथंचित् भिन्न है ऐसा कहो तो आपने आत्मा का ही वासना ऐसा दूसरा नाम रखा तथा आत्मा को एक अन्वयरूप नही माना जायगा तो कृत नाश और अकृताभ्यागम नामक अव्यवस्था करने वाला दोष आता है। अर्थात् जिस आत्मा ने कर्मबन्ध किया वह उसका फल नहीं भोगेगा और दूसरा उक्त फल को भोगेगा यह तो बड़ी भारी दोषास्पद बात है बताइये यदि धन कमाने वाले को उसका भोग करने को न मिले, याद करनेवाले विद्यार्थी को उसकी परीक्षा देकर उत्तीर्ण होने का आनन्द न मिले, प्रसव वेदना भोगने वाली स्त्री को पुत्र के पालन का अनुभव न आवे, तपस्या करनेवालों को स्वर्गापवर्गों का सुख न मिले तो वे सब व्यक्ति काहे को तपस्या अभ्यासादि करते हैं।

"प्रयोजनं विना मन्दोपि न प्रवर्तते"

मैंने पहले जाना था, अभी मैं जान रहा हूँ इत्यादि जोड़ ज्ञान का विषय कौनसी वस्तु होगी आत्मा या ज्ञान ? ज्ञान कहो तो वह कौनसा भूत क्षण का या वर्तमान क्षण का, अतीत क्षणवर्ती ज्ञान कहो तो वह सिर्फ "मैंने जाना था" इतना ही कहेगा और वर्तमान का ज्ञान कहो तो वह "मैं जानता हूं" इतना ही कहेगा दोनों को कौन जाने ? अर्थात् किसी भी ज्ञान क्षण में ऐसी सन्धान करने की शक्ति नहीं है। यदि आत्मा यह जोड़ करता है तो वाद विवाद ही समाप्त होता है फिर तो अन्वयी एक आत्मा सुखादि में रहता है ऐसा सिद्ध होगा। द्रव्य से पर्यायें या पर्यायों से द्रव्य भिन्न है या अभिन्न है इत्यादि प्रश्न तो व्यर्थ के हैं। स्वभाव में तर्क नहीं हुआ करते हैं जबकि वस्तु प्रतीति में वैसे ही आ रही है तब उसमें क्या तर्क करना। वह तो अनुभव से निश्चित हो चुकी है, अतः प्रतीति का लोप न हो इस बात को लक्ष्य में रखकर अन्वयी आत्मा द्रव्य को स्वीकार करना ही होगा। इसके लिए आपके यहा का चित्र ज्ञान का दृष्टान्त बहुत उपयोगी होगा अर्थात् जैसे आप चित्र ज्ञान को एक मानकर भी उसमें अनेक नीलादि आकार प्रतीत होना मानते हैं। वैसे ही एक अन्वयी आत्मा सुखादि अनेक अनुभवों में रहता है ऐसा मानना चाहिए।

।। अन्वय्यात्मसिद्धि का सारांश समाप्त ।।

६

अर्थस्य सामान्यविशेषात्मकत्ववादः

ननु चार्थस्य सामान्यविशेषात्मकत्वमयुक्तम्; तदात्मकत्वेनास्य ग्राहकप्रमाणाभावात्। सामान्यविशेषाकारयोश्चान्योन्यं प्रतिभासभेदेनात्यन्तं भेदात्। प्रयोग:—सामान्याकारविशेषाकारौ परस्परतोऽत्यन्तं भिन्नौ भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वाद्घटपटवत्। पटादौ हि भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वमत्यन्तभेदे

अब यहां पर पदार्थ के समान्य विशेषात्मक होने में आपत्ति उठाकर उसमें वैशेषिक अपना लम्बा पक्ष उपस्थित करता है—

वैशेषिक—जैन ने प्रत्येक पदार्थ को सामान्य विशेषात्मक माना है वह अयुक्त है, क्योंकि पदार्थ उस रूप है ऐसा जानने वाला कोई प्रमाण नहीं है। सामान्य और विशेष इन दोनों का परस्पर में अत्यन्त भिन्न रूप से प्रतिभास होता है, अतः इनमें भेद है। अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है कि सामान्य आकार और विशेष आकार परस्पर में अत्यन्त भिन्न हैं, क्योंकि भिन्न भिन्न प्रमाण द्वारा ग्राह्य हैं, जैसे घट और

सत्येवोपलब्धम्, तत् सामान्यविशेषाकारयोरुपलभ्यमानं कथं नात्यन्तभेदं प्रसाधयेत् ? अन्यत्राप्यस्य तदप्रसाधकत्वप्रसङ्गात् । न खलु प्रतिभासभेदाद्विरुद्धधर्माध्यासाच्चान्यत् पटादीनामप्यन्योन्यं भेदनिबन्धनमस्ति । स चावयवावयविनोर्गुणगुणिनोः क्रियातद्वतोः सामान्यविशेषयोश्चास्त्येव । पटप्रतिभासो हि तन्तुप्रतिभासवैलक्षण्येनानुभूयते, तन्तुप्रतिभासश्च पटप्रतिभासवैलक्षण्येन । एवं पटप्रतिभासाद्रूपादिप्रतिभासवैलक्षण्यमप्यवगन्तव्यम् ।

विरुद्धधर्माध्यासोप्यनुभूयत एव, पटो हि पटत्वजातिसम्बन्धी विलक्षणार्थक्रियासम्पादकोतिशयेन महत्त्वयुक्तः, तन्तवस्तु तन्तुत्वजातिसम्बन्धिनोल्पपरिमाणाश्च, इति कथं न भिद्यन्ते ? तादात्म्य

पट विभिन्न प्रमाण द्वारा ग्राह्य होने से परस्पर में अत्यन्त भिन्न हैं । पट आदि पदार्थों में भिन्न प्रमाण द्वारा ग्राह्य होना अत्यंत भेद होने पर ही दिखाई देता है अतः सामान्य और विशेषाकार में पाया जाने वाला भिन्न प्रमाण ग्राह्यपना उनके अत्यन्त भेद को कैसे नहीं सिद्ध करेगा, अर्थात् करेगा ही । यदि ऐसा नही माने तो पट आदि में भी भेद सिद्ध नही हो सकेगा । घट, पट, गृह, जीव आदि पदार्थों में प्रतिभास के भेद होने से ही भेद सिद्ध होता है, एवं विरुद्धधर्मत्व होने से भेद सिद्ध होता है, इनको छोड़कर अन्य कोई कारण नहीं है । यह भेद प्रसाधक प्रतिभास अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान तथा समान्य और विशेषों में पाया ही जाता है । इसी को बतलाते हैं—पट का जो प्रतिभास होता है वह तंतु के प्रतिभास से विलक्षण रूप अनुभव में आता है, एवं तंतुओं का प्रतिभास पट प्रतिभास से विलक्षण अनुभव में आता है, इसीप्रकार पट के प्रतिभास से पट का रूपत्व आदि का प्रतिभास विलक्षण होता है, इस प्रतिभास के विभिन्न होने से ही पट अवयवी और तंतु अवयव इनमें अत्यन्त भेद माना जाता है तथा गुण रूपादि और गुणी पट इन दो में भेद माना जाता है ।

पट और तंतु आदि में विरुद्ध धर्माध्यासपना भी भली प्रकार से अनुभव में आता है, जो पट है वह अपने पटत्व जाति से सम्बद्ध है, विलक्षण अर्थक्रिया (शीत निवारणादि) को करनेवाला है, अतिशय महान है, और जो तंतु हैं वे तंतुत्व जाति से सम्बद्ध हैं एवं अल्प परिमाणवाले हैं, फिर इन पट और तन्तुओं में किसप्रकार भेद नहीं होगा ? जैन पट और तन्तु या गुण और गुणी में तादात्म्य मानते हैं किन्तु

चैकत्वमुच्यते, तस्मिंश्च सति प्रतिभासभेदो विरुद्धधर्माध्यासश्च न स्यात्, विभिन्नविषयत्वात्तयोः। यदि च तन्तुभ्यो नार्थान्तरं पटः; तर्हि तन्तवोपि नांशुभ्योर्थान्तरम्, तेपि स्वावयवेभ्यः इत्येवं ताव-च्चिन्त्यं यावन्निरंशाः परमाणवः, तेभ्यश्चाभेदे सर्वस्य कार्यस्यानुपलम्भः स्यात्। तस्मादर्थान्तरमेव पटात्तन्तवो रूपादयश्च प्रतिपत्तव्याः।

तथा विभिन्नकर्तृकत्वात्तन्तुभ्यो भिन्नः पटो घटादिवत्। विभिन्नशक्तिकत्वाद्वा विषाऽगदवत्। पूर्वोत्तरकालभावित्वाद्वा पितापुत्रवत्। विभिन्नपरिमाणत्वाद्वा बदरामलकवत्।

तथा तन्तुपटादीनां तादात्म्ये 'पट तन्तव' इति वचनभेदः, 'पटस्य भावः पटत्वम्' इति षष्ठी, तद्धितोत्पत्तिश्च न प्राप्नोतीति।

तादात्म्य तो एकत्व को कहते हैं यदि यह एकत्व पटादि में होता तो भिन्न भिन्न प्रतिभास और विरुद्ध धर्माध्यास नहीं होता, क्योंकि ये विभिन्न विषयवाले हुआ करते हैं। तथा यदि तन्तुओं से वस्त्र भिन्न नही है तो तन्तु भी अपने अवयव जो अंश रूप हैं उनसे भिन्न नही रहेंगे तथा वे अंश भी अपने अवयवों से अभिन्न होंगे, इसतरह जब तक निरंश परमाणु रह जाते हैं तबतक अवयवो से अवयवी को अभिन्न बताते जाना। वे परमाणु भी अभिन्न है तो सब कार्य का अभाव हो जायेगा। इस आपत्ति को हटाने के लिये पट से तन्तु तथा रूपादि गुण भिन्न हैं ऐसा मानना चाहिए। तथा तन्तु और पट इन दोनों के कर्त्ता भी भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं अतः वे अत्यन्त भिन्न हैं, जैसे पट घट गृह विभिन्न कर्तृत्व के कारण अत्यन्त भिन्न हैं। तन्तुओं की शक्ति और वस्त्र की शक्ति पृथक्-पृथक् है इस कारण से भी दोनों भिन्न हैं, जैसे कि विष और औषधि में पृथक्-पृथक् शक्ति रहने के कारण भिन्नता है, तन्तु और वस्त्र में पूर्व तथा पश्चात् भावीपना होने के कारण भी विभिन्नता है, जैसे पिता और पुत्र में पूर्वोत्तर काल भावीत्व होने से विभिन्नपना है। इन तन्तु और पट में परिमाण अर्थात् माप भी अलग अलग है, तन्तु अल्प परिमाणवाले हैं और पट महान परिमाण वाला है अतः इनमें बेर आंवले की तरह भिन्नता है।

तन्तु और पट इत्यादि अवयव-अवयवी में तादात्म्य माना जायगा तो पटः ऐसा एक वचन और "तन्तवः" ऐसा बहुवचन रूप निर्देश नहीं हो सकता, "पटस्यभावः

किञ्च 'तादात्म्यम्' इत्यत्र किं स पट आत्मा येषां तन्तूनां तेषां भावस्तादात्म्यमिति विग्रहः कर्तव्यः, ते वा तन्तवः आत्मा यस्य पटस्य, स च ते आत्मा यस्येति वा ? प्रथमपक्षे पटस्यैकत्वात्तन्तूनामप्येकत्वप्रसङ्गः, तन्तूनां वाऽनेकत्वात्पटस्याप्यनेकत्वानुषङ्गः। अन्यथा तत्तादात्म्यं न स्यात्। द्वितीयविकल्पेऽप्ययमेव दोषः। तृतीयपक्षश्चाविचारितरमणीयः; तद्व्यतिरिक्तस्य वस्तुनोऽसम्भवात्। न हि तन्तुपटव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरमस्ति यस्य तन्तुपटस्वभावतोच्येत।

न च तन्तुपटादीनां कथञ्चिद्भेदाभेदात्मकत्वमभ्युपगन्तव्यम्; संशयादिदोषोपनिपातानुषङ्गात्। 'केन खलु स्वरूपेण तेषां भेदः केन चाभेदः' इति संशयः। तथा 'यत्राभेदस्तत्र भेदस्य

पटत्वं" ऐसी षष्ठी विभक्ति और तद्धित का त्व प्रत्यय भी आ नहीं सकता अतः इनमें अभेद मानना अशक्य है।

"तादात्म्यम्" इस पद का अर्थ भी किसप्रकार करना ? सः पटः स्वरूपंयेषां-तेषां भावः वह पट है स्वरूप जिन ततुओं का वह तदात्म तथा तदात्म का भाव तादात्म्य, इसतरह का विग्रह है, अथवा वे तन्तु हैं स्वरूप जिस पट का, उसे तदात्म कहे, याकि वस्त्र और तन्तु हैं स्वरूप (आत्मा) जिसका उसे तदात्म कहते हैं ? प्रथमपक्ष कहो तो पट एक रूप होने से तन्तु भी एकरूप बन जायेंगे, अथवा तन्तु अनेक होने से वस्त्र भी अनेक बन जायेंगे ? क्योंकि इनका परस्पर में अभेद है, अन्यथा तन्तु और वस्त्र में तादात्म्य नहीं माना जा सकता। द्वितीय पक्ष—तन्तु हैं स्वरूप जिस वस्त्र का उसे तदात्म कहते हैं और तदात्म का भाव ही तादात्म्य है ऐसा कहे तो यही दोष है कि वस्त्र अनेक रूप अथवा तन्तु एक रूप बन जाने का प्रसंग आता है। तीसरा पक्ष तो सर्वथा अविचारित रमणीय है क्योंकि वस्त्र और तन्तु को छोड़कर अन्य स्वरूप नहीं है। वस्त्र में वस्त्रपना और तन्तु इनसे अतिरिक्त तीसरी वस्तु नहीं है जो इन दोनों का स्वभावपना बने।

यदि तन्तु और वस्त्र इत्यादि पदार्थों में कथंचित भेद और कथंचित अभेद मानते हैं, तो इस पक्ष में संशय, अभाव आदि दोष आते हैं, आगे इसी का खुलासा करते हैं—भेदाभेदात्मक वस्तु में असाधारण आकार से निश्चय नहीं हो सकने के कारण किस स्वरूप से भेद है और किस स्वरूप से अभेद है ऐसा संशय होता है।

विरोधो यत्र च भेदस्तत्राभेदस्य शीतोष्णस्पर्शवत्' इति विरोधः। तथा—'अभेदस्यैकत्वस्वभावस्यान्यदधिकरणं भेदस्य चानेकस्वभावस्यान्यत्' इति वैयधिकरण्यम्। तथा 'एकान्तेनैकात्मकत्वे यो दोषोऽनेकस्वभावत्वाभावलक्षणोऽनेकात्मकत्वे चैकस्वभावत्वाभावलक्षणः सोत्राप्यनुषज्यते' इत्युभयदोषः। तथा 'यन स्वभावेनार्थस्यैकस्वभावता तेनानेकस्वभावत्वस्यापि प्रसङ्गः, येन चानेकस्वभावता तेनैकस्वभावत्वस्यापि' इति सङ्करप्रसङ्गः। "सर्वेषां युगपत्प्राप्तिः संकरः" [ ] इत्यभिधानात्। तथा 'येन स्वभावेनानेकत्व तेनैकत्वं प्राप्नोति येन चैकत्वं तेनानेकत्वम्' इति व्यतिकरः। "परस्परविषयगमनं व्यतिकरः" [ ] इति प्रसिद्धेः। तथा 'येन रूपेण भेदस्तेन कथञ्चिद्भेदो येन चाभेदस्तेनापि कथञ्चिदभेदः' इत्यनवस्था। अतोऽप्रतिपत्तितोऽभावस्तत्स्वस्यानुषज्येतानेकान्तवादिनाम्। एवं सत्त्वाद्यनेकान्ताभ्युपगमेप्येतेष्टौ दोषा द्रष्टव्याः। तन्न तदात्मार्थः प्रमाणप्रमेयः।

तथा जहां अभेद है वहीं भेद का विरोध है और जहां भेद है वहां अभेद के रहने में विरोध है जैसे कि शीत और उष्ण का विरोध है। अभेद तो एक स्वभावी होने से अन्य अधिकरण भूत है और भेद अनेक स्वभावी होने से अन्य अधिकरण वाला है यह वैयधिकरण्य दोष है। तथा पट आदि वस्तु को सर्वथा एकात्मक मानते हैं तो अनेक स्वभाव का अभाव होना रूप दोष आता है और सर्वथा अनेकात्मक माने तो एक स्वभाव का अभाव होना रूप दोष आता है, इसतरह उभय-दोष आता है (यह दोष वैयधिकरण्य नामा दोष मे अन्तर्निहित है) जिस स्वभाव से एक स्वभावपना है उस स्वभाव से अनेक स्वभावपने का भी प्रसङ्ग आता है एवं जिस स्वभाव से अनेक स्वभावपना है उस स्वभाव से एक स्वभावपना भी हो सकने से संकर नामा दूषण आता है, "सर्वेषां युगपत् प्राप्तिः सकरः" ऐसा संकर दोष का लक्षण है, जिस स्वभाव से अनेकत्व है उससे एकत्व प्राप्त होता है और जिससे एकत्व है उससे अनेकत्व प्राप्त है अतः व्यतिकर दोष उपस्थित होता है, "परस्परविषयगमनं व्यतिकरः" ऐसा व्यतिकर दोष का लक्षण है। तथा जिस रूप से भेद है उससे कथंचित भेद है और जिस रूप से अभेद है उससे कथंचित अभेद है सो यह अनवस्था नामा दोष आया। इसतरह वस्तु के स्वरूप की अप्रतिपत्ति होने से उसका अंत में जाकर अभाव ही हो जाता है, इसप्रकार अनेकान्तवादी जैन के यहां माने हुए तत्व में संशयादि आठों दूषण आते हैं। इसीतरह वस्तु को कथंचित सत् और कथंचित असत् रूप मानने में ये ही आठ दोष आते हैं, अतः सामान्यविशेषात्मक पदार्थ प्रमाण द्वारा ग्राह्य नहीं होता है।

किन्तु परस्परतोऽत्यन्तविभिन्ना द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्याः षडेव पदार्थाः। तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नवैव द्रव्याणि। पृथिव्यप्तेजोवायुरित्येतच्चतु:संख्यं द्रव्यं नित्यानित्यविकल्पाद्द्विभेदम्। तत्र परमाणुरूपं नित्यं सदकारणवत्त्वात्। तदारब्धं तु द्व्यणुकादि कार्यद्रव्यमनित्यम्। आकाशादिकं तु नित्यमेवानुत्पत्तिमत्त्वात् एषां च द्रव्यत्वाभिसम्बन्धाद्द्रव्यरूपता।

एतच्चेतरव्यवच्छेदकमेषां लक्षणम्; तथाहि-पृथिव्यादीनिमन:पर्यन्तानीतरेभ्यो भिद्यन्ते, 'द्रव्याणि' इति व्यवहर्त्तव्यानि, द्रव्यत्वाभिसम्बन्धात्, यानि नैव न तानि द्रव्यत्वाभिसम्बन्धवन्ति यथा गुणादीनीति। पृथिव्यादीनामप्यवान्तरभेदवतां पृथिवीत्वाद्यभिसम्बन्धो लक्षणम् इतरेभ्यो भेदे

हम नैयायिक वैशेषिक के यहां वस्तु तत्व की एक विभिन्न ही व्यवस्था है, प्रत्येक पदार्थ परस्पर में अत्यन्त विभिन्न है, उस पदार्थ के द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नामा छह भेद हैं अर्थात् छह ही पदार्थ प्रमाण ग्राह्य हैं। इन छह पदार्थो मे से द्रव्य नामा पदार्थ नौ भेद को लिये हुए है—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। इन नौ में भी जो पृथिवी, जल, अग्नि और वायु है वे चारों द्रव्य नित्य और अनित्य के भेद से दो प्रकार के है, परमाणु नामा द्रव्य तो नित्य, सत् और अकारणत्व रूप है अर्थात् इन पृथिवी आदि चारों द्रव्यों के चार प्रकार के जो परमाणु हैं वे सदा नित्य सत् एवं अकारण हुआ करते हैं तथा परमाणुओं से बना जो द्वयणुक, त्रिअणुक आदि कार्य है वह अनित्य है। इन पृथिवी आदि चारो को छोड़कर शेष पांच आकाशादि द्रव्य सर्वथा नित्य ही हैं अर्थात् ये दो प्रकार के नही है, एक नित्य स्वभावी ही हैं, क्योंकि ये अनुत्पत्तिमान हैं, इन सब द्रव्यों में द्रव्यत्व के संबध से द्रव्यपना हुआ करता है। इन पृथिवी आदि नौ द्रव्यों का अन्य पदार्थों से व्यवच्छेद करनेवाला लक्षण इसप्रकार का है—पृथिवी आदि से लेकर मन तक सभी द्रव्य इतर पदार्थो से भेद को प्राप्त हैं, इनको द्रव्य नाम से पुकारते हैं, क्योंकि इनमें द्रव्यत्व का सम्बन्ध है, जिनकी द्रव्य संज्ञा नहीं है वे द्रव्यत्व सम्बन्ध वाले नहीं हैं, जैसे गुण, कर्म इत्यादि। पृथिवी आदि द्रव्यों मे होनेवाले जो अवान्तर भेद हैं उनमें पृथिवीत्व आदि का सम्बन्ध रूप लक्षण मौजूद रहता है अतः इनका परस्पर में भेद व्यवहार बन जाता है, तथा इन द्रव्यों का पृथिवी, जल आदि नाम भी पृथक्-पृथक् होने से उस-उस शब्द द्वारा वाच्य होकर पृथक्पना सिद्ध होता है, अर्थात् पृथिवी नामा द्रव्य इतर जल आदि से भिन्न है अथवा पृथिवी इस नाम से

व्यवहारे तच्छब्दवाच्यत्वे वा साध्ये केवलव्यतिरेकिरूपं द्रष्टव्यम् । अभेदवतां त्वाकाशकालदिग्द्रव्याणामनादिसिद्धा तच्छब्दवाच्यता द्रष्टव्या ।

एवं रूपादयश्चतुर्विंशतिगुणाः । उत्क्षेपणादीनि पञ्च कर्माणि । परापरभेदभिन्नं द्विविधं सामान्यम् अनुगतज्ञानकारणम् । नित्यद्रव्यव्यावृ(व्यवृ)त्तयोऽन्त्या विशेषा अत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः । अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदमितिप्रत्ययहेतुर्यः सम्बन्धः स समवायः ।

अत्र पदार्थषट्के द्रव्यवद्गुणा अपि केचिन्नित्या एव केचित्त्वनित्या एव । कर्माऽनित्यमेव । सामान्यविशेषसमवायास्तु नित्या एवेति ।

व्यवहृत होता है क्योंकि इसमें पृथिवीत्व का ही सम्बन्ध है, इत्यादि केवल व्यतिरेकी अनुमान लगा लेना चाहिए । आकाश, दिशा और काल इन अभेद वाले द्रव्यों की तो अनादि सिद्ध ही तत् शब्द वाच्यता है अर्थात् इनमें किसी संबंध से नाम निर्देश न होकर स्वय अनादि से वे उन नामों से कहे जाते हैं ।

इसीतरह द्रव्य के अनन्तर कहा गया जो गुण नामा पदार्थ है उसके चौबीस रूप, रस आदि भेद हैं, उत्क्षेपण आदि कर्म नामा पदार्थ पांच प्रकार का है । पर सामान्य और अपर सामान्य ऐसे सामान्य के दो भेद हैं । यह सामान्य नामा पदार्थ अनुगत प्रत्यय का कारण है । जो नित्य द्रव्यों में रहते है, अन्त्य है, अत्यन्त पृथक्पने का ज्ञान कराते हैं वे विशेष नामा पदार्थ हैं । अयुत सिद्ध आधार्य और आधारभूत वस्तुओं में "यहां पर यह है" इसप्रकार की इह इदं बुद्धि को कराने में जो कारण है उस सम्बन्ध को समवाय नामा पदार्थ कहते हैं । इन छह पदार्थों में से जो द्रव्य नामा पदार्थ है उसमें रहनेवाले गुण होते हैं वे कोई तो नित्य ही हैं और कोई अनित्य ही हैं । कर्म नामा पदार्थ सर्वथा अनित्य ही है । सामान्य, विशेष एवं समवाय ये तीनों सर्वथा नित्य ही हैं । इसप्रकार हम वैशेषिक के यहां प्रमाण ग्राह्य पदार्थों की व्यवस्थिति है ।

जैन—अब यहां पर वैशेषिक के मन्तव्य का निरसन किया जाता है, अनेक धर्मात्मक वस्तु को ग्रहण करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा आपने कहा किन्तु यह असिद्ध है, प्रमाण से सिद्ध करते हैं कि अनेक धर्मात्मक पदार्थ ही वास्तविक है क्योंकि

अत्र प्रतिविधीयते । अनेकधर्मात्मकत्वेनार्थस्य ग्राहकप्रमाणाभावोऽसिद्धः; तथाहि—वास्तवानेकधर्मात्मकोर्थः, परस्परविलक्षणानेकार्थक्रियाकारित्वात्, पितृपुत्रपौत्रभ्रातृभागिनेयाद्यनेकार्थक्रियाकारिदेवदत्तवत् । न चायमसिद्धो हेतुः; आत्मनो मनोज्ञाङ्गनानिरीक्षणस्पर्शनमधुरध्वनिश्रवणताम्बूलादिरसास्वादनकर्पूरादिगन्धाघ्राणमनोज्ञवचनोच्चारणचङ्क्रमणावस्थानहर्षविषादानुवृत्तव्यावृत्तज्ञानाद्यन्योन्यविलक्षणानेकार्थक्रियाकारित्वेन अध्यक्षतोनुभवात् । घटादेश्च स्वान्यव्यक्तिप्रदेशाद्यपेक्षयानुवृत्तव्यावृत्तसदसत्प्रत्ययस्थानगमनजलधारणादिपरस्परविलक्षणानेकार्थक्रियाकारित्वेन प्रत्यक्षतः प्रतीतेरिति । दृष्टान्तोऽपि न साध्यसाधनविकलः; वास्तवानेकधर्मात्मकत्वाऽन्योन्यविलक्षणानेकार्थक्रियाकारित्वयोस्तत्र सद्भावात् ।

उसमें परस्पर विलक्षण ऐसी अनेक प्रकार की अर्थ क्रिया हो रही है, जैसे एक ही देवदत्त नामा पुरुष में परस्पर विरुद्ध ऐसी पिता, पुत्र, पौत्र, भाई, भानजा इत्यादि अनेक प्रकार की अर्थक्रिया हुआ करती है । यह अनेक अर्थक्रियाकारित्व हेतु असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि सुन्दर स्त्री को देखना, स्पर्श करना, उसके मधुर शब्द सुनना, तांबूल आदि रस का आस्वादन, कपूर आदि का गन्ध लेना, मनोज्ञ वचनालाप कहना, घूमना, स्थित होना, हर्ष और विषाद युक्त होना अनुवृत्त एव व्यावृत्त ज्ञानयुक्त होना इत्यादि परस्पर में विलक्षण अनेक अर्थ क्रियायें आत्मा में होती हुई प्रत्यक्ष से प्रतीत हो रही हैं ।

इसीप्रकार घट आदि में स्वप्रदेश की अपेक्षा अनुवृत्त प्रत्यय होना, पर प्रदेश की अपेक्षा व्यावृत्त प्रत्यय होना अर्थात् घट स्वस्थान में अस्तित्व का बोध कराता है एवं पर स्थान में जहां घट का अभाव है वहां नास्तित्व का बोध कराता है, एक स्थान पर स्थित होना, जल लाने के लिये व्यक्ति के हाथ से गमन करना, जल को धारण करना इत्यादि परस्पर मे विलक्षण ऐसी अर्थ क्रियायें होती हुई प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रतीत हो रही हैं तथा उपर्युक्त अर्थक्रियाकारित्व हेतु वाले अनुमान में प्रदत्त देवदत्तवत् दृष्टान्त भी साध्य साधन रहित नहीं है, क्योंकि उसमें वास्तविक अनेक धर्मात्मकपना और परस्पर विलक्षण अर्थक्रियाकारित्व इन दोनों का सद्भाव पाया जाता है ।

शंका—धर्म और धर्मी ये दो भिन्न-भिन्न प्रमाणों द्वारा ग्राह्य होने से इनमें अत्यन्त भेद प्रसिद्ध होता है, अतः एक धर्मी में वास्तविक अनेक धर्म भले ही सिद्ध हो किन्तु उनका तादात्म्य तो सिद्ध नहीं हो सकता ?

ननु भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वेन धर्मधर्मिणोरत्यन्तभेदप्रसिद्धेः । सिद्धे पि धर्मिणि वास्तवानेकधर्माणां सद्भावे तादात्म्याप्रसिद्धिः; इत्यप्यसमीचीनम्; अनैकान्तिकत्वाद्धेतोः. प्रत्यक्षानुमानाभ्यां हि भिन्न-प्रमाणग्राह्यत्वेप्यात्मादिवस्तुनो भेदाभावः, दूरेतरदेशवर्त्तिनामस्पष्टेतरप्रत्ययग्राह्यत्वेपि वा पादपस्याऽभेदः । ननु चात्र प्रत्ययभेदाद्विषयभेदोऽस्त्येव, प्रथमसमयवर्ति हि विज्ञानमूर्द्ध्वतांविषयमुत्तरं च शाखादिविशेषविषयम्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; एवंविषयभेदाभ्युपगमे 'यमहमद्राक्षं दूरस्थितः पादपमेतर्हि तमेव पश्यामि' इत्येकत्वाध्यवसायो न स्यात्, स्पष्टेतरप्रतिभासानां सामान्यविशेषविषयत्वेन घटादिप्रतिभासवद्भिन्नविषयत्वात् । अथ पादपापेक्षया पूर्वोत्तरप्रत्ययानामेकविषयत्वं सामान्य-

---

समाधान—यह शंका व्यर्थ है, धर्म और धर्मी भिन्न-भिन्न प्रमाण द्वारा ग्राह्य है ऐसा कहना अनेकान्तिक है (अर्थात् तन्तु पट आदि पदार्थ सर्वथा भिन्न हैं क्योंकि ये भिन्न प्रमाण ग्राह्य हैं, ऐसा "भिन्न प्रमाण ग्राह्यत्व" हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास रूप होता है) आत्मा आदि पदार्थ स्वानुभव प्रत्यक्ष प्रमाण तथा अनुमान प्रमाण ऐसे भिन्न दो प्रमाणों द्वारा ग्रहण में आते हैं तो भी उनमे भेद नही है तथा और भी उदाहरण है कि एक वृक्ष दूर में स्थित पुरुषों को अस्पष्ट और निकट में स्थित पुरुषों को स्पष्ट ज्ञान द्वारा ग्राह्य होता है तो भी उसमें अभेद है ।

शंका—यह वृक्ष का उदाहरण ठीक नही, इसमें ज्ञान के भेद से विषय में भी भेद सिद्ध होता है, कैसे सो बताते हैं कोई पुरुष पहले दूर से जो वृक्ष का ज्ञान करता है वह ज्ञान तो ऊर्ध्वता—ऊंचाई को विषय करनेवाला है और आगे निकट जाने पर जो ज्ञान होता है उसका विषय शाखा, पत्र आदि हैं, अतः प्रमाण भेद से विषय भेद सिद्ध ही होता है अभिप्राय यह है कि जो भिन्न प्रमाण ग्राह्य है वह भिन्न है ऐसा वैशेषिक का कथन ठीक ही है ?

समाधान—यह बात गलत है, इस तरह विषय भेद स्वीकार करेंगे तो दूर में स्थित हुए मैंने जिस वृक्ष को देखा था उसी को अब देख रहा हूं इसप्रकार का उस वृक्ष में एकपने का निश्चय नहीं हो सकेगा । क्योंकि स्पष्ट और अस्पष्ट प्रतिभासरूप ज्ञानों का सामान्य और विशेष रूप भिन्न विषय मान लिया है । जैसे घट आदि के प्रतिभासों के भिन्न विषय माने जाते है ।

विशेषापेक्षया तु विषयभेदः; कथमेवमेकान्ताभ्युपगमो न विशीर्यत ? गुणगुण्यादिष्वप्यतस्तद्वत्कथञ्चिद्भेदाभेदप्रसिद्धे र्भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वस्य विरुद्धत्वम् ।

एकान्ततोऽवयवावयव्यादीनां भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वं चासिद्धम्; 'पटोयम्' इत्याद्युल्लेखेनाभिन्नप्रमाणग्राह्यत्वस्यापि सम्भवात् । ननु 'पटोयम्' इत्याद्युल्लेखेनावयव्येव प्रतिभासते नावयवास्तत्कथमभिन्नप्रमाणग्राह्यत्वम्; इत्यप्यपेशलम्; तद्भेदाप्रसिद्धेः । तन्तव एव ह्यातानवितानीभूता अवस्थाविशेषविशिष्टाः 'पटोयम्' इत्याद्युल्लेखेन प्रतिभासन्ते नान्यस्ततोर्थान्तर पटः । प्रमाणं हि यथाविधं

शंका—वृक्ष की अपेक्षा उन पूर्वोत्तरवर्ती ज्ञानो में एक विषयपना है किन्तु सामान्य और विशेष की अपेक्षा तो विषय भेद है ?

समाधान—तो फिर आपका वह एकान्त आग्रह कैसे नहीं खण्डित होगा कि जिनमें भिन्न प्रमाण ग्राह्यत्व है वे सर्वथा भिन्न ही है । गुण और गुणो इत्यादि वस्तुओं में भिन्न प्रमाण ग्राह्यत्व होता है तो भी वे कथंचित भेदाभेदात्मक हुआ करते हैं, अतः जिनमें भिन्न प्रमाण ग्राह्यत्व हो वे सर्वथा भिन्न हैं ऐसा हेतु विरुद्ध पड़ता है । वैशेषिक ने तन्तु और वस्त्र आदि अवयव अवयवी में एकान्त से भिन्न प्रमाण द्वारा ग्राह्यपना बतलाया किन्तु यह असिद्ध है "पटोऽयम्" यह पट है, इसप्रकार के एक ही प्रमाण द्वारा अवयव और अवयवो का (तन्तु और वस्त्र) ज्ञान होता देखा जाता है ।

शंका—"पटोऽयं" यह पट है इत्यादि उल्लेखी जो ज्ञान है वह केवल अवयवी का प्रतिभास कराता है न कि अवयवों का, अतः अवयवी आदि अभिन्न एक प्रमाण द्वारा ग्राह्य कहा हुए ?

समाधान—यह बात असत् है, अवयव और अवयवी में भेद की सिद्धि नहीं है, जो तन्तु रूप अवयव होते हैं वे ही आतान वितानरूप होकर (लंबे चौड़े होकर) अवस्थाविशेष वाले हो जाते हैं तो यह वस्त्र है इस तरह के उल्लेख से प्रतीत होते हैं, इन तन्तुओं से पृथक् पट नहीं है, प्रमाण जिस तरह से वस्तु के स्वरूप को ग्रहण करता है उसीतरह से उसके स्वरूप को मानना चाहिए, जहां पर अत्यन्त भेद को ग्रहण करता है वहां पर अत्यन्त भेद मानना होगा, जैसे घट और पट में अत्यन्त भेद है । तथा जहां पर प्रमाण कथंचित भेद को ग्रहण करता है वहां पर कथंचित भेद मानना

वस्तुस्वरूपं गृह्णाति तथाविधमेवाभ्युपगन्तव्यम्, यत्रात्यन्तभेदग्राहकं तत्रात्यन्तभेदो यथा घटपटादौ, यत्र पुनः कथंचिद्भेदग्राहकं तत्र कथंचिद्भेदो यथा तन्तुपटादाविति।

अतः कालात्ययापदिष्टं चेदं साधनं यथानुष्णोग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत्। न च घटादौ तथाविधभेदेनास्य व्याप्त्युपलम्भात्सर्वत्रात्यन्तभेदकल्पना युक्ता: क्वचित्तार्णत्वादिविशेषाधारेणाग्निना धूमस्य व्याप्त्युपलम्भेन सर्वत्राप्यतस्तथाविधविशेषसिद्धिप्रसङ्गात्। अथ तार्णत्वादिविशेष परित्यज्य सकलविशेषसाधारणमग्निमात्रं धूमात्प्रसाध्यते। नन्वेवमत्यन्तभेदं परित्यज्यावयवावयव्यादिष्वपि भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वाद्भेदमात्रं किं न प्रसाध्यते विशेषाभावात्?

होगा, जैसे तन्तु और वस्त्र में कथंचित् भेद दिखायी देता है अतः इनमें कथंचित भेद मान सकते है, सर्वथा नही। इसप्रकार अवयव अवयवी आदि में सर्वथा भेद है ऐसा कहना बाधित होने से "भिन्नप्रमाणग्राह्यत्वात्" हेतु कालात्ययापदिष्ट भी हो जाता है, अग्नि ठंडी है, क्योंकि वह द्रव्य है, इसतरह के अनुमान मे जैसे द्रव्यत्वात् हेतु कालात्ययापदिष्ट होता है वैसे ही भिन्न प्रमाणग्राह्यत्व हेतु है। घट पट आदि पदार्थों में भी अत्यन्त भेद सिद्ध नही है, जिससे कि उनमें अत्यन्त भेद की व्याप्ति देखकर सब जगह तन्तु वस्त्रादि में भी अत्यन्त भेद की कल्पना कर सके। यदि ऐसी कल्पना करते हैं तो कही-कही तृण की आदि विशेष आधार वाली अग्नि के साथ धूम की व्याप्ति देखी जाती है उसे देख अन्य सब जगह भी अग्नि के साथ वैसी व्याप्ति करनी होगी? किन्तु ऐसा नहीं है।

शंका—तृणों की अग्नि, कंडे की अग्नि इत्यादि विशेष को छोड़कर सम्पूर्ण विशेषों में रहनेवाली साधारण अग्निमात्र को ही धूमहेतु से सिद्ध किया जाता है?

समाधान—बिलकुल इसीतरह अवयव अवयवी आदि में अत्यन्त भेद को छोड़कर भिन्नप्रमाणग्राह्यत्व हेतु द्वारा भेद मात्र को क्यों न सिद्ध किया जाय? उभयत्र समानता है, कोई विशेषता नहीं है।

अवयवी अवयव आदि में अत्यन्त भेद सिद्ध करने के लिये घट पटवत् ऐसा दृष्टान्त दिया है वह भी साध्य विकल होने से कार्यकारी नहीं है, क्योंकि घट और पट में भी अत्यन्त भेद सिद्ध नहीं है, उनमें कथंचित ही भेद सिद्ध होता है, कैसे सो

दृष्टान्तश्च साध्यविकलत्वान्न साधनाङ्गम् अत्यन्तभेदस्यात्राप्यसिद्धेः। तदसिद्धिश्च सद्रूपतया घटादीनामभेदात्। साधनविकलश्च; स्फारिताक्षस्यैकस्मिन्नप्यध्यक्षे घटादीनां प्रतिभाससम्भवात्। न च प्रतिविषयं विज्ञानभेदोऽभ्युपगन्तव्यः; मेचकज्ञानाभावप्रसङ्गात्। घटादिवस्तुनोप्येकविज्ञानविषयत्वाभावानुषङ्गाच्च; अत्राप्यूर्द्ध्वाधोमध्यभागेषु तद्भेदस्य कल्पयितुं शक्यत्वात्। तथा चावयविप्रसिद्धये दत्तो जलाञ्जलिः। प्रतीतिविरोधोन्यत्रापि न काकैर्भक्षितः।

विरुद्धधर्माध्यासोपि धूमादिनानैकान्तिकत्वान्नावयवावयविनोरात्यन्तिकं भेदं प्रसाधयति। न खलु स्वसाध्येतरयोर्गमकत्वागमकत्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासेपि धूमो भिद्यते। नन्वत्रापि सामग्री-

---

बताते हैं—घट सत्‌रूप है और पट भी सत्‌रूप है, इस सत्व की अपेक्षा घट और पट में भेद नहीं है। तथा यह घट पटवत् दृष्टान्त साधन विकल (हेतु के धर्म से रहित) भी है, आंख खोलते ही एक साथ एक ही प्रत्यक्ष ज्ञान में घट पट आदि अनेक पदार्थों का प्रतिभास होता हुआ देखा जाता है, अतः घटादिक भिन्नप्रमाणग्राह्य ही है ऐसा सिद्ध नही होता। वैशेषिक प्रत्येक विषय में भिन्न-भिन्न ही ज्ञान होते हैं ऐसा मानते हैं किन्तु वह ठीक नही है, यदि ऐसा मानेंगे तो मेचकज्ञान (अनेक वर्ण हरित, पीत आदि का चितकबरा ज्ञान) का अभाव होगा, क्योंकि उस एक ही ज्ञान में अनेक विषय हैं। तथा घट आदि वस्तु भी एक ज्ञान का विषय नहीं हो सकेगी, क्योंकि इसमें भी ऊपर का भाग, मध्य भाग, अधोभाग इसतरह भिन्न भिन्न विषय की कल्पना कर सकते हैं और कह सकते हैं कि एक ही ज्ञान इन तीन भागों को नहीं जान सकता उनमें से प्रत्येक के लिये पृथक्-पृथक् ज्ञान चाहिये इत्यादि। इसतरह तो आप वैशेषिक को अवयवी की प्रसिद्धि के लिये जलांजलि देनी पड़ेगी। अर्थात् एक ज्ञान से अवयवी का ग्रहण नहीं हो सकने से उसका अभाव ही होवेगा। यदि कहा जाय कि एक ही घट आदि अवयवी में और उसके ग्राहक ज्ञान में भेद मानने में प्रतीति से विरोध आता है तो यही बात घट और पट अथवा तन्तु और पट आदि में है, वे भी एक ज्ञान द्वारा साक्षात् प्रतीत हो रहे हैं, उनको भी भिन्न प्रमाण द्वारा ग्राह्य मानना प्रतीति से विरुद्ध होता है।

अवयव और अवयवी में विरुद्ध धर्माध्यास होने से अत्यन्त भेद है ऐसा वैशेषिक ने कहा किन्तु वह विरुद्ध धर्माध्यास हेतु भी धूमादि हेतु से अनैकान्तिक होता

'तन्तवः पट' इति संज्ञाभेदोप्यवस्थाभेदनिबन्धनो न पुनर्द्रव्यान्तरनिमित्तः। योषिदादिकरव्यापारोत्पन्ना हि तन्तवः कुविन्दादिव्यापारात्पूर्वं शीतापनोदाद्यर्थासमर्थास्तन्तुव्यपदेशं लभन्ते, तद्व्यापारात्तूत्तरकालं विशिष्टावस्थाप्राप्तास्तत्समर्थाः पटव्यपदेशमिति।

विभिन्नशक्तिकत्वाद्यप्यवस्थाभेदमेव तन्तूनां प्रसाधयति न त्ववयवावयविस्वेनात्यन्तिकं भेदम्।

यच्चोक्तम्—'पटस्य भावः' इत्यभेदे षष्ठी न प्राप्नोतीति; तदप्ययुक्तम्; 'षण्णां पदार्थानामस्तित्वम्, षण्णां पदार्थानां वर्गः' इत्यादौ भेदाभावेपि षष्ठ्याद्युत्पत्तिप्रतीतेः। न हि भवता

"तन्तवः, पटः" इत्यादि नाम भेद तो अवस्था के भेद के कारण होता है, न कि भिन्न-भिन्न द्रव्यों के कारण। स्त्री आदि के हाथों के व्यापार–चरखा चलना आदि क्रिया से तन्तु–सूत उत्पन्न होते हैं, वे जब तक जुलाहा आदि के हाथों में जाकर ताना बाना आदि रूप से बुने नहीं जाते तब तक तन्तु नाम को पाते हैं, और शीत, गरमी आदि की बाधा दूर करने में असमर्थ रहते हैं, जब वे जुलाहा आदि द्वारा बुने जाकर आगे विशिष्ट अवस्था को प्राप्त होते हैं तब वे शीत बाधा दूर करने आदि में समर्थ होकर "पट" ऐसा नाम पाते हैं। पट में भिन्न शक्ति है और तन्तुओं में भिन्न शक्ति है अतः दोनों सर्वथा भिन्न हैं ऐसा वैशेषिक ने कहा सो यह भेद अवस्था भेद के कारण ही है, इससे अवयव और अवयवी स्वरूप, तन्तु और वस्त्र आदि में सर्वथा भेद सिद्ध नहीं हो सकता है।

वैशेषिक ने कहा कि यदि वस्त्र और तन्तु आदि में सर्वथा भेद नहीं मानेगे तो "पटस्य भावः पटत्वं" इत्यादि षष्ठी विभक्ति एवं तद्धितका "त्व" प्रत्यय नही बन सकता इत्यादि सो बात अयुक्त है, छह पदार्थो का (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय) अस्तित्व है, छह पदार्थों का वर्ग है इत्यादि वाक्यों मे छह पदार्थ और उनका अस्तित्व भिन्न नही होते हुए भी षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त हुई है। आपने द्रव्य आदि छहों पदार्थों के अतिरिक्त अस्तित्वादि स्वीकार नहीं किया है जिससे षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त होती।

वैशेषिक—जो सत्‌रूप होता है वह ज्ञापक प्रमाण का विषय हुआ करता है, उस सत का जो भाव है वह सत्व कहलाता है जो कि सत्ता ग्राहक प्रमाण का

षट्पदार्थव्यतिरिक्तमस्तित्वादीष्यते। ननु सतो ज्ञापकप्रमाणविषयस्य भावः सत्त्वम्-सदुपलम्भकप्रमाणविषयत्वं नाम धर्मान्तरं षण्णामस्तित्वमिष्यते, अतो नानेनानेकान्तः; तदसत्; षट्पदार्थसंख्याव्याघातानुषङ्गात्, तस्य तेभ्योन्यत्वात्। ननु धर्मिरूपा एव ये भावास्ते षट्पदार्थाः प्रोक्ताः, धर्मरूपास्तु तद्व्यतिरिक्ता इष्टा एव। तथा च पदार्थप्रवेशकग्रन्थः—"एव धर्मैर्विना धर्मिणामेव निर्देशः कृतः" [प्रशस्तपादभा० पृ० १५] इति।

अस्त्वेवं तथाप्यस्तित्वादेर्धर्मस्य षट्पदार्थैः सार्धं कः सम्बन्धो येन तत्तेषां धर्मः स्यात्-संयोगः, समवायो वा? न तावत्संयोगः; अस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रयत्वात्। नापि समवायः; तस्यैकत्वेनेष्ट-

---

विषय है यह धर्मान्तरभूत सत्त्व छह पदार्थों का अस्तित्व है, अतः "षण्णां पदार्थानां अस्तित्वं" इत्यादि वाक्य के साथ हमारा कथन अनैकान्तिक नहीं होता, अर्थात् जहां षष्ठी विभक्ति होती है वहां पदार्थों में अत्यन्त भेद सिद्ध होता है ऐसा हमने कहा है वह षण्णां पदार्थानामस्तित्वं इत्यादि वाक्य से व्यभिचरित नहीं है, क्योंकि यहां भी छह पदार्थ और अस्तित्व भिन्न माने हैं अतः षष्ठी विभक्ति प्रयुक्त हुई है।

जैन—यह कथन अयुक्त है, इसतरह कहोगे तो आपके छह पदार्थों की संख्या का व्याघात होता है, क्योंकि सत्त्व को छह पदार्थों से पृथक् मान लिया।

वैशेषिक—धर्मी स्वरूप जो पदार्थ हैं वे छह ही हैं किन्तु अस्तित्व आदि धर्म रूप पदार्थ तो इन छहों से अतिरिक्त भी स्वीकार किये हैं, पदार्थ प्रवेशक ग्रन्थ में भी कहा है कि "एवं धर्मैर्विना धर्मिणां एव निर्देशः कृतः" धर्मों का निर्देष न कर केवल धर्मी पदार्थों का ही निर्देश किया है इत्यादि।

जैन—ऐसा होवे तथापि अस्तित्वादि धर्म का षट् पदार्थों के साथ कौनसा सम्बन्ध है, जिस सम्बन्ध से वे धर्म उनके कहलाते हैं, संयोग संबंध है या समवाय सम्बन्ध है? संयोग तो कह नहीं सकते, क्योंकि संयोग को गुण रूप मानकर उसका आश्रय केवल द्रव्यों में बतलाया जाता है। अस्तित्वादि धर्म का पदार्थ रूप धर्मी के साथ समवाय सम्बन्ध है ऐसा दूसरा विकल्प भी उचित नहीं, क्योंकि समवाय को आपने एक रूप माना है, यदि अस्तित्व धर्म का समवाय संबंध से धर्मी में रहना स्वीकार करेंगे तो समवाय अनेक रूप बन जायेंगे। सम्बन्ध के बिना ही पदार्थ और

त्वात् । समवायेन चास्य समवायसम्बन्धे समवायानेकत्वप्रसंगः । सम्बन्धमन्तरेण धर्मधर्मिभावाभ्युपगमे चातिप्रसंगः ।

किञ्च, अस्तित्वादेरपरास्तित्वाभावात्कथं तत्र व्यतिरेकनिबन्धना विभक्तिर्भवेत् ? अथ तत्राप्यपरमस्तित्वमंगीक्रियते तदानवस्था स्यात् । उत्तरोत्तरधर्मसमावेशेन च सत्त्वादेर्धर्मिरूपत्वानुषंगात् 'षडेव धर्मिणः' इत्यस्य व्याघातः । 'ये धर्मिरूपा एव ते षट्केनावधारिताः' इत्यप्यसारम्; एवं हि गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानामनिर्देशः स्यात् । न ह्येषां धर्मिरूपत्वमेव; द्रव्याश्रितत्वेन धर्मरूपत्वस्यापि सम्भवात् ।

तथा 'खस्य भावः खत्वम्' इत्यत्राभेदेपि तद्धितोत्पत्तेरुपलम्भान्न सापि भेदपक्षमेवावलम्बते ।

अस्तित्व आदि में धर्मी धर्म भाव माने तो अति प्रसंग होवेगा, फिर तो आकाशकुसुम और अस्तित्व आदि में भी धर्मी धर्मपना हो सकेगा ।

दूसरी बात यह है कि जहां षष्ठी विभक्ति होती है वहां अत्यन्त भेद होता है ऐसा सर्वथा माने तो "अस्ति इति एतस्य भावः अस्तित्वं" इत्यादि में षष्ठी विभक्ति परकत्व प्रत्यय नहीं होगा, क्योंकि अस्ति में अस्तित्व का अभाव है । तथा अस्तित्व आदि धर्म में पुनः अन्य अस्तित्व स्वीकार कर लेते हैं तो अनवस्था होगी । दूसरा दोष यह होगा कि अस्तित्व में अन्य अस्तित्व मानने पर पूर्व के अस्तित्व को धर्मी मानना होगा, इसतरह उत्तरोत्तर धर्म का समावेश होने से सत्त्वादिक धर्मी बनेंगे, फिर तो छह पदार्थ ही धर्मी कहलाते हैं, ऐसा आपका कहना खण्डित होगा ।

वैशेषिक—जो केवल धर्मी रूप ही हैं धर्म रूप नहीं हैं, वे पदार्थ छह ही हैं ऐसा हमने अवधारण किया है, अतः कोई दोष नहीं है !

जैन—यह भी असार है, ऐसा कहने से गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इनका निर्देश नही हो सकेगा, क्योंकि गुण आदि पांचों पदार्थ केवल धर्मीरूप से स्वीकार नहीं किये जा सकते, वे द्रव्य के आश्रय में रहने के कारण धर्मरूप भी होते हैं, न कि सर्वथा धर्मीरूप । तद्धित का प्रत्यय भेद में ही होता है ऐसा ऐकान्तिक कहना भी गलत है, "खस्यभावः खत्वे" इत्यादि पद में अभेद होते हुए भी तद्धित की उत्पत्ति देखी जाती है ।

यच्चोक्तम्–'तादात्म्यमित्यत्र कीदृशो विग्रहः कर्तव्यः' इत्यादि; तत्रेत्थं विग्रहो द्रष्टव्यः–तस्य वस्तुन आत्मानौ द्रव्यपर्यायौ सत्त्वासत्त्वादिधर्मौ वा तदात्मानौ, तच्छब्देन वस्तुनः परामर्शात्, तयोर्भावस्तादात्म्यम्–भेदाभेदात्मकत्वम्। वस्तुनो हि भेदः पर्यायरूपतैव, अभेदस्तु द्रव्यरूपत्वमेव, भेदाभेदौ तु द्रव्यपर्यायस्वभावावेव। न खलु द्रव्यमात्रं पर्यायमात्रं वा वस्तु; उभयात्मनः समुदायस्य वस्तुत्वात्। द्रव्यपर्याययोस्तु न वस्तुत्वं नाप्यवस्तुता; किन्तु वस्त्वेकदेशता। यथा समुद्रांशो न समुद्रो नाप्यसमुद्रः, किन्तु समुद्रैकदेश इति।

'स पट आत्मा येषाम्' इत्यपि विग्रहे न दोषः; अवस्थाविशेषा, पेक्षया तन्तूनामेकत्वस्याभीष्टत्वात्।

'ते तन्तव आत्मा यस्य इति विग्रहे तन्तूनामनेकत्वे पटस्याप्यनेकत्व स्यादिति चेत्; किमिदं तस्यानेकत्वं नाम–किमनेकावयवात्मकत्वम्, प्रतितन्तु तत्प्रसङ्गो वा? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता; आता-

---

वैशेषिक ने प्रश्न किया था कि "तादात्म्य" पद का विग्रह किस तरह करना चाहिये इत्यादि, सो उसका उत्तर यह है कि "तस्य वस्तुनः" आत्मानौ–द्रव्यपर्यायौ सत्वा सत्वादि धर्मौ वा तदात्मानौ तयोर्भावः तादात्म्यम्" तत् मायने वस्तु या पदार्थ, आत्मा मायने उस वस्तु का स्वरूप, अर्थात् द्रव्यपर्याय अथवा सत्व आदि धर्मों को आत्म या स्वरूप कहते हैं उस वस्तु स्वरूप का जो भाव है वह तादात्म्य कहलाता है, कथंचित् भेदाभेदात्मकपना होने को भी तादात्म्य कहते हैं, क्योंकि पर्यायपने से वस्तु में भेद है और द्रव्यपने से अभेद है, द्रव्य और पर्याय स्वभाव ही भेदाभेदरूप हुआ करते हैं, वस्तु न द्रव्यमात्र है और न पर्यायमात्र ही है, किन्तु उभयात्मक समुदाय ही वस्तु है। द्रव्य और पर्याय को अकेले अकेले को वस्तु नहीं कहते न अवस्तु ही कहते हैं किन्तु वस्तु को एक देश कहते हैं, जैसे समुद्र का अंश न समुद्र है और न असमुद्र ही है किन्तु समुद्र का एक देश है।

"सः पटः आत्मा येषां" इत्यादि रूप तादात्म्य शब्द का विग्रह करो तो भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि तन्तुओं में अवस्था विशेष की अपेक्षा कथंचित् एकपना भी माना जाता है।

"ते तन्तवः आत्मा यस्य" इसतरह तादात्म्य पद का विग्रह करे तो तन्तु अनेक रूप होने से वस्त्र भी अनेक रूप बन जायगा ऐसी कोई शंका करे तो उस व्यक्ति

नवितानीभूतानेकतन्त्वाद्यवयवात्मकत्वात्तस्य । द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; प्रत्येकं तेषां तत्परिणामाभावात् । सुमुदितानामेव ह्यातानवितानीभूतः परिणामोऽमीषां प्रतीयते, तथाभूताश्च ते पटस्यात्मेत्युच्यते ।

वस्तुनो भेदाभेदात्मकत्वे संशयादिदोषानुषंगोऽयुक्तः; भेदाभेदाऽप्रतीतौ हि संशयो युक्तः; क्वचित्स्थाणुपुरुषत्वाप्रतीतौ तत्संशयवत् । तत्प्रतीतौ तु कथमसौ स्थाणुपुरुषप्रतीतौ तत्संशयवदेव ? चलिता च प्रतीतिः संशयः, न चेयं तथेति ।

से हम जैन पूछते हैं कि अनेक रूप होवेंगे इसका क्या अर्थ है अनेक अवयव रूप होना या प्रत्येक तन्तु पट बन जाना ? अनेक अवयवात्मक होने को अनेकपना कहते हैं तो सिद्ध साध्यता है, क्योंकि आतान वितान भूत हुए (बने हुए) अनेक तन्तु आदि अवयव स्वरूप ही पटादि वस्तु हुआ करती है । प्रत्येक तन्तु पट रूप बन जाना अनेकत्व है ऐसा कहना तो अयुक्त है, क्या प्रत्येक तन्तु पट जितने मापवाले दिखाई देते हैं ? अर्थात् नहीं दिखाई देते । समुदित हुए तन्तुओं का जो आतान वितानभाव है वही पट रूप प्रतीत होता है, इसतरह का तन्तुओं का अवस्थान होना ही "ते पटस्य आत्मा" वे तन्तु पट का स्वरूप है, ऐसा हम कहते हैं ।

वस्तु को भेदाभेदात्मक माने तो संशय, विरोध आदि दोष आते हैं ऐसा कहना अयुक्त है, यदि वस्तु में भेदाभेदपना प्रतीत नहीं होता तब तो कह सकते थे कि उस स्वरूप में संशय है जैसे कही स्थाणु और पुरुषत्व की प्रतीति नही होने से संशय हो जाया करता है । जब वस्तु में भेदाभेदपना प्रतीत हो रहा है तब कैसे संशय होवेगा ? क्या स्थाणु और पुरुष के प्रतीत होने पर संशय होता है ? अर्थात् नहीं होता है । चलित प्रतिभास को संशय कहते हैं, ऐसा प्रतिभास तो यहां है नहीं ।

भेद और अभेद का परस्पर में विरोध भी नहीं है, जिसप्रकार वस्तु में अर्पित की अपेक्षा सत्व और असत्व का रहना विरुद्ध नहीं है अर्थात् वस्तु अपने धर्म की अपेक्षा सत्वरूप और पर की अपेक्षा असत्वरूप कहलाती है वैसे ही द्रव्य की अपेक्षा अभेदरूप और पर्याय की अपेक्षा भेदरूप कहलाती है अतः भेदाभेदात्मक होने में कोई विरोध नहीं है । तथा ऐसी प्रतीति ही आ रही है, प्रतीत होने पर विरोध किस प्रकार होवेगा ? विरोध तो अनुपलम्भ साध्य है—वैसा उपलब्ध न होता तो विरोध आता है ।

न चानयोर्विरोधः; कथञ्चिदर्पितयोः सत्त्वासत्त्वयोरिव भेदाभेदयोर्विरोधासिद्धेः, तथाप्रतीतेश्च। प्रतीयमानयोश्च कथं विरोधो नामास्यानुपलम्भसाध्यत्वात्? न च स्वरूपादिना वस्तुनः सत्त्वे तदैव पररूपादिभिरसत्त्वस्यानुपलम्भोस्ति। न खलु वस्तुनः सर्वथा भाव एव स्वरूपम्; स्वरूपेणेव पररूपेणापि भावप्रसंगात्। नाप्यभाव एव; पररूपेणेव स्वरूपेणाप्यभावप्रसंगात्।

न च स्वरूपेण भाव एव पररूपेणाभावः, परात्मना चाभाव एव स्वरूपेण भावः; तदपेक्षणीयनिमित्तभेदात्, स्वद्रव्यादिकं हि निमित्तमपेक्ष्य भावप्रत्ययं जनयत्यर्थः परद्रव्यादिकं त्वपेक्ष्याऽभावप्रत्ययम् इति एकत्वद्वित्वादिसंख्यावदेव वस्तुनि भावाभावयोर्भेदः। न ह्येकत्र द्रव्ये द्रव्यान्तरमपेक्ष्य

वस्तु में स्वस्वरूपादि की अपेक्षा सत्व मानने पर उसी वक्त पररूपादि की अपेक्षा असत्व मानने का अनुपलम्भ नहीं है। वस्तु का स्वरूप सर्वथा भावरूप ही नहीं हुआ करता, यदि सर्वथा भावरूप वस्तु है तो स्वरूप के समान पररूप से भी वह भावरूप–अस्तित्वरूप बन जायगी ? (फिर तो वह विवक्षित वस्तु घट पट गृह आदि सब रूप कहलाने लगेगी) तथा वस्तु सर्वथा अभावरूप भी नहीं है, यदि होती तो पर के समान स्वस्वरूप से भी वह अभावात्मक बनती।

विशेषार्थः—वैशेषिक अवयव–अवयवी, गुण-गुणी इत्यादि में सर्वथा भेद मानता है, उसका कहना है कि इन अवयव अवयवी आदि में विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं अर्थात् अवयव का धर्म अलग है और अवयवी का अलग, जैसे तन्तु अवयवों का धागेरूप अल्प परिमाणरूप रहना धर्म है अर्थात् स्वरूप है तथा वस्त्र अवयवी का विस्तार रूप रहना इत्यादि धर्म है अतः इनमें सर्वथा भेद है, तथा इनमें अर्थक्रिया भी पृथक् होती है, संख्या भी पृथक् है, भिन्न प्रमाण ग्राह्यत्व भी है, इत्यादि कारणों से अवयव अवयवी आदि पदार्थ आपस में सर्वथा भेद रूप ही होते हैं। जैन इस मत का क्रमशः खण्डन करते चले आये हैं, अवयव अवयवी आदि में भेद है वह कथंचित् हो है यदि सर्वथा भेद होता तो घट और पट के समान तन्तु और वस्त्र रूप अवयव अवयवी पृथक्-पृथक् दिखाई देते। तन्तुओं का अल्प परिमाण रहना आदि तो पट रूप बनने के पहले की बात है, तन्तुओं को आतान आदि रूप करके वस्त्र बनने के बाद वे स्वयं भी वस्त्ररूप प्रतीत होने लगते हैं। भिन्न-भिन्न प्रमाण से तन्तु पट आदि ग्रहण होते हैं अतः भिन्न हैं ऐसा कहना तो बिलकुल हास्यास्पद है, एक ही पदार्थ प्रत्यक्ष, अनुमान

द्वित्वादिसंख्या प्रकाशमाना स्वात्ममात्रापेक्षैकत्वसंख्यातो नान्या प्रतीयते । नापि सोभयी तद्वतो भिन्नैव; अस्याऽसंख्येयत्वप्रसंगात् । संख्यासमवायासत्त्वम्; इत्यप्यसुन्दरम्; कथञ्चित्तादात्म्यव्यतिरिक्तस्य समवायस्यासत्त्वप्रतिपादनात् । तत्सिद्धोऽपेक्षणीयभेदात्संख्यावत्सत्त्वासत्त्वयोर्भेदः । तथाभूतयोश्चानयोरेकवस्तुनिप्रतीयमानत्वात्कथं विरोधः द्रव्यपर्यायरूपत्वादिना भेदाभेदयोर्वा ? मिथ्येयं प्रतीतिः; इत्यप्यसंगतम्; बाधकाभावात् । विरोधो बाधकः; इत्यप्ययुक्तम्; इतरेतराश्रयानुषङ्गात्–सति हि विरोधे तेनास्याबाध्यमानत्वान्मिथ्यात्वसिद्धिः, ततश्च तद्विरोधसिद्धिरिति ।

आदि अनेकों प्रमाणों द्वारा ग्रहण में आता है, किन्तु इतने मात्र से उसमें भेद नहीं माना जाता, एक ही वृक्ष दूर से अस्पष्ट ज्ञान से ग्रहण होता है और निकटता से स्पष्ट ज्ञान द्वारा ग्रहण में आता है, पर्वत पर होने वाली अग्नि प्रथम धूम हेतु से अनुमान प्रमाण द्वारा ग्राह्य होती है एवं वहीं पुनः पर्वत पर जाकर प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ग्राह्य हो जाती है, सो क्या इन वृक्ष और अग्नि में भेद है ? अर्थात् नहीं, इसलिये भिन्न प्रमाण ग्राह्यत्व हेतु गुण गुणी आदि में सर्वथा भेद सिद्ध नही कर सकता, जैन गुण गुणी अवयवी आदि पदार्थों में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद मानते हैं, द्रव्य दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ अभेदरूप है और वही पदार्थ पर्याय दृष्टि से भेदरूप है । वैशेषिक का यह हटाग्रह है कि पदार्थ या तो भावरूप (अस्तित्व) है या सर्वथा अभावरूप है, सो बात गलत है, पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सद्भाव–अस्तित्व या सत्वरूप है, किन्तु पर द्रव्यादि की अपेक्षा से वैसा नहीं है, अपितु परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा वह अभाव–नास्ति या असत्वरूप ही है, यदि ऐसा न माना जाय तो एक पट नामा पदार्थ जैसे अपने पटपने है वैसे घटपने, गृहपने भी है, सबमें पट मौजूद है ऐसा मानना पड़ेगा जो कि प्रतीति विरुद्ध है, तथा वह पट यदि सर्वथा अभावरूप है तो स्वस्वरूप से भी रहित होवेगा । एक ही वस्तु में अस्ति नास्ति, भेद अभेद, नित्य अनित्य, एक अनेक इत्यादि विरोधी धर्म साक्षात् प्रतीति में आते हैं अतः उनको उसीतरह मानना चाहिये । विरोध तब होता है जब वस्तु वैसी प्रतिभासित न होवे ।

वस्तु में जो स्वरूप से सद्भाव है वही पररूप से अभाव नहीं कहलाता, तथा जो पररूप से अभाव है वही स्वरूप से सद्भाव नहीं होता, किन्तु इनमें अपेक्षा के निमित्त से भेद हुआ करता है, सो अपेक्षा ही बतलाई जाती है—स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा लेकर पदार्थ सद्भावरूप ज्ञान को उत्पन्न कराते हैं, और परद्रव्यादि चतुष्टय की

विरोधश्च अविकलकारणस्यैकस्य भवतो द्वितीयसन्निधानेऽभावादवसीयते। न च भेदसन्निधानेऽभेदस्याऽभेदसन्निधाने वा भेदस्याभावोऽनुभूयते।

किंच, अत्र विरोधः सहानवस्थानलक्षणः, परस्परपरिहारस्थितिस्वभावो वा, बध्यघातकरूपो वा स्यात् ? न तावत्सहानवस्थानलक्षणः; अन्योन्याव्यवच्छेदेनैकस्मिन्नाधारे भेदाभेदयोर्धर्मयोः सत्त्वा-

---

अपेक्षा से अभावरूप ज्ञान को उत्पन्न कराते हैं, जैसे कि एकत्व और द्वित्व आदि संख्या स्व अपेक्षा एकत्वरूप है और पर अपेक्षा द्वित्व है, ऐसे ही वस्तु में भाव और अभाव में भेद हुआ करता है (स्व अपेक्षा भाव और पर अपेक्षा अभाव) द्वित्व आदि संख्या एक द्रव्य में रहकर अन्य द्रव्य की अपेक्षा लेकर प्रकाशमान होती है वह अपने स्वरूप की अपेक्षा से एकत्व संख्या से अन्य प्रतीत नहीं है, तथा द्वित्व और एकत्व दोनों संख्या भी संख्यवान पदार्थ से सर्वथा भिन्न नहीं है, अन्यथा इसके असंख्येयपने का प्रसंग प्राप्त होगा।

वैशेषिक—संख्यावान में संख्या का समवाय होने से संख्येयत्व हुआ करता है ?

जैन—यह बात असत् है, कथंचित् तादात्म्य को छोड़कर अन्य समवाय नामा पदार्थ नहीं है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाले हैं। अतः जैसे अपेक्षणीय पदार्थ के भेद से संख्या में भेद होता है वैसे ही सत्व और असत्व में अपेक्षा करने योग्य पदार्थ के भेद होने से कथंचित् भिन्नता हुआ करती है ऐसा सिद्ध हुआ। जब इसप्रकार के सत्व और असत्व की वस्तु में प्रतीति आ रही है तब किसप्रकार विरोध आवेगा। अथवा द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से वस्तु में कथंचित् अभेद और भेद प्रतीत हो रहा तब कैसे विरोध आवेगा ? अर्थात् नहीं आवेगा।

वैशेषिक—वस्तु में जो सत्व और असत्व एवं भेद और अभेद प्रतीत होता है वह मिथ्या है ?

जैन—यह बात असंगत है, क्योंकि वस्तु में सत्व और असत्व आदि की प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं आती है।

वैशेषिक—विरोध है यही तो बाधा या बाधक है।

सत्त्वयोर्वा प्रतिभासमानत्वात् । परस्परपरिहारस्थितिलक्षणस्तु विरोधः सहैकत्राम्रफलादौ रूपरसयो-रिवानयोः सम्भवतोरेव स्यान्न त्वसम्भवतोः सम्भवदसम्भवतोर्वा ।

किञ्च, अयं विरोधो धर्मयोः, [धर्म] धर्मिणोर्वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनम्; एतल्ल-क्षणत्वाद् धर्माणाम् । ऐकाधिकरण्यं तु तेषां न विरुध्यते मातुलिंगद्रव्ये रूपादिवत् । धर्मधर्मिणोस्तु

जैन—यह अयुक्त है, इस तरह कहो तो इतरेतराश्रय नामा दोष आयेगा । जब सत्व और असत्व में एकत्र रहने का विरोध सिद्ध होगा तब उसके द्वारा इस सत्व असत्व की बाध्यमानता होने से मिथ्यापन की सिद्धि होगी और उसके सिद्ध होने पर उस बाधकत्व से विरोध की सिद्धि होवेगी, इस तरह दोनों असिद्ध ही रह जायेंगे ।

जहां पर अविकल एक कारण के होते हुए अन्य दूसरे के सन्निधान होने पर उसका अभाव हो जाता है वहां पर निश्चय होता है कि इन दोनों का एकत्र रहने में विरोध है, जैसे शीत के रहते हुए वहां उष्णता आते ही शीतता का अभाव होने से दोनों का विरोध निश्चित होता है, किन्तु ऐसा विरोध–भेद के सन्निधान में अभेद का अभाव या अभेद के सन्निधान में भेद का अभाव होना, दिखायी नहीं देता ।

किंच, वैशेषिक भेद और अभेद में विरोध होना बताते हैं सो कौनसा विरोध है, सहानवस्थालक्षणविरोध है, या परस्पर परिहार स्थिति लक्षण, अथवा बध्यघातक नामा विरोध है ? सहानवस्था नामा विरोध हो नहीं सकता, क्योंकि एक ही वस्तु में एक दूसरे का व्यवच्छेद किये बिना ही भेद और अभेद धर्म या सत्व और असत्व धर्म रहते हुए साक्षात् दिखायी दे रहे हैं । परस्पर परिहार स्थिति लक्षणवाला विरोध तो एक साथ एक आम्रफल आदि वस्तु में रूप तथा रस के समान विद्यमान वस्तुओं में ही हुआ करता है अर्थात् दोनों एकत्र एक साथ रहते हुए भी परिहार करके रहते हैं किन्तु एकत्र रहते अवश्य हैं, जो असंभव स्वरूप हैं ऐसे शशविषाण और अश्वविषाण में परस्पर परिहार स्थिति लक्षणविरोध नहीं होता और न संभव असंभव रूप वंध्या पुत्र और अवंध्यापुत्र में होता है । अभिप्राय यह हुआ कि परस्पर परिहार स्थितिवाला विरोध विद्यमानों में ही होता है न कि अविद्यमानों में, या विद्यमान-अविद्यमानों में तथा विरोध जो होता है वह दो धर्मों में होता है, या धर्म और धर्मी में होता है ।

विरोधे धर्मिणि धर्माणां प्रतीतिरेव न स्यात्, न चैवम्, अबाधबोधाधिरूढप्रतिभासत्वात्तत्र तेषाम् । वध्यघातकभावोपि विरोधः फणिनकुलयोरिव बलवदबलवतोः प्रतीतः सत्त्वासत्त्वयोर्भेदाभेदयोर्वा नाशङ्कनीयः; तयोः समानबलत्वात् ।

अस्तु वा कश्चिद्विरोधः; तथाप्यसौ सर्वथा, कथंचिद्वा स्यात् ? न तावत्सर्वथा; शीतोष्ण-स्पर्शादीनामपि सत्त्वादिना विरोधासिद्धेः । एकाधारतया चैकस्मिन्नपि हि धूपदहनादिभाजने क्वचि-त्प्रदेशे शीतस्पर्शः क्वचिच्चोष्णस्पर्शः प्रतीयत एव । अथानयोः प्रदेशयोर्भेद एवेष्यते; अस्तु नामान-

---

दो धर्मों में होता है कहो तो सिद्ध साधन है, क्योंकि धर्मोंका यही लक्षण है कि परस्पर का परिहार करके रहना, किन्तु इन धर्मों का एक ही वस्तुभूत आधार में रहना विरुद्ध नहीं है, जैसे कि एक ही बिजौरे आदि में रूप रस आदि रहते हैं । तथा धर्म और धर्मी में विरोध होता है ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो बड़ी भारी आपत्ति आवेगी, फिर तो धर्मी में धर्म प्रतीत ही नहीं हो पायेंगे, किन्तु ऐसी बात नहीं है, धर्मी में ही धर्मो की प्रतीति होती हुई अबाधित ज्ञान में प्रतिभासित हो रही है, बध्यघातक नामका तीसरा विरोध भी सर्प और नेवले के समान बलवान और अबलवान में होता है, अर्थात् एक बलवान हो और दूसरा कमजोर हो तो उनमें से बलवान कमजोर को नष्ट करता हुआ प्रतीत होता है और उनमें बध्यघातक विरोध माना जाता है, किन्तु ऐसा विरोध भेद और अभेद, अथवा सत्व और असत्व में नहीं है, क्योंकि वे दोनों समान बलवाले हैं ।

मान लेवे कि भेद अभेदादि में कोई विरोध है, किन्तु वह सर्वथा है या कथंचित् है ? सर्वथा कह नहीं सकते, शीत उष्ण आदि विरुद्ध कहलानेवाले स्पर्श भी एक साथ एक जगह सत्वादि की अपेक्षा रहते हुए दिखाई देते हैं, अतः उनमें विरोध सिद्ध नहीं होता, अर्थात् शीत स्पर्श सत्‌रूप है, उष्ण स्पर्श सत्‌रूप है, इत्यादि सत् की अपेक्षा दोनों में समानता है तथा शीत और उष्ण एक आधार में भी उपलब्ध होते हैं, एक ही धूपदान में कहीं तो उष्णता है और किसी भाग में शीतता है, यह साक्षात् प्रतीत होता है । अतः इनमें सर्वथा विरोध नहीं मान सकते ।

वैशेषिक—यह धूपदहन का उदाहरण गलत है, यहां अलग-अलग प्रदेश विभाग की अपेक्षा से शीत और उष्ण स्पर्श रहा करते हैं ।

योर्भेदः, धूपदहनावयविनस्तु न भेदः। न चास्य शीतोष्णस्पर्शाधारता नास्तीत्यभिधातव्यम्; प्रत्यक्षविरोधात्। तन्न सर्वथा विरोधः। कथंचिद्विरोधस्तु सर्वत्र समानः।

किंच, भावेभ्योऽभिन्नः, भिन्नो वा विरोधः स्यात्? न तावत्तेभ्योऽभिन्नो विरोधो विरोधको युक्तः; स्वात्मभूतत्वात्तत्स्वरूपवत्, विपर्ययानुषंगो वा। अथ भिन्नः, तथापि न विरोधकः; अनात्मभूतत्वादर्थान्तरवत्। अथार्थान्तरभूतोपि विरोधो विरोधको भावानां विशेषणभूतत्वात्, न पुनर्भावा-

---

जैन—ठीक है, किन्तु प्रदेश विभाग होकर भी धूपदहनरूप अवयवी तो एक ही है? यह एक ही धूपदहनरूप वस्तु शीत और उष्ण स्पर्श का आधार नहीं है ऐसा तो कोई कह नही सकता, क्योंकि ऐसा कहने में साक्षात् विरोध दिखाई देता है। अतः भेदाभेद, सत्वासत्व आदि में सर्वथा विरोध मानना असिद्ध है। इन भेद और अभेद आदि में कथंचित् विरोध है, ऐसा दूसरा विकल्प कहो तब तो कोई बात नहीं, ऐसा विरोध तो भेद अभेद में ही क्या घट पट आदि में भी हुआ ही करता है।

यह भी बताना चाहिये कि पदार्थों से विरोध भिन्न होता है या अभिन्न? अभिन्न तो हो नहीं सकता, जो अभिन्नरूप है वह उस वस्तु का स्वरूप ही है, फिर वह कैसे विरोधक होवेगा? यदि जो वस्तु से अभिन्न है, वह भी विरोधक होता है तब तो वस्तु का स्वरूप भी उसका विरोधक बन जायेगा। क्योंकि जैसे वस्तु से अभिन्न रहकर विरोध ने वस्तु का विरोध किया वैसे वस्तु का स्वरूप भी उससे अभिन्न होने से विरोधक हो सकेगा। यदि दूसरा पक्ष कहा जाय कि पदार्थों से विरोध भिन्न है तो भी ठीक नहीं, भिन्न रहकर विरोधक कैसे बने? क्योंकि वह अनात्मभूत है, अर्थात् पदार्थ का स्वरूप नहीं, जैसे दूसरा भिन्न पदार्थ अनात्मभूत होने से उसका विरोधक नहीं बन पाता है।

वैशेषिक—पदार्थों से विरोध अर्थांतर (अलग) रहकर भी विरोधक हो जाता है, क्योंकि वह उन पदार्थों का विशेषण हुआ करता है, किन्तु अन्य पदार्थ अन्य के विरोधक नही होते क्योंकि वे उनके विशेषणभूत नहीं हैं।

जैन—यह कथन असत् है, विरोध आपके यहां तुच्छाभावरूप बतलाया है, वह यदि शीत द्रव्य और उष्ण द्रव्य आदि का विशेषण बनेगा तो वे शीतादि पदार्थ

न्तरं तस्य तद्विशेषणत्वाभावात्; तदप्यसमीचीनम्; विरोधो हि तुच्छरूपोऽभावः, स यदि शीतोष्ण-द्रव्ययोर्विशेषणं तर्हि तयोरदर्शनापत्तिस्तत्सम्बद्धरूपत्वात्। असम्बद्धस्य च विशेषणत्वेऽतिप्रसंगात्।

अन्यतरविशेषणत्वेऽप्येतदेव दूषणम्। तदेव च विरोधि स्याद्यस्यासौ विशेषणं नान्यत्। न चैकत्र विरोधो नामास्य द्विष्ठत्वात्, अन्यथा सर्वत्र सर्वदा तत्प्रसंगः।

अथ विरुध्यमानत्वविरोधकत्वापेक्षया कर्मकर्तृस्थो विरोध, विरोधसामान्यापेक्षयोभयविशेषणत्व।द्द्विष्ठोभिधीयते। नन्वेवं रूपादेरपि द्विष्ठत्वापत्तिः किन्न स्यात् तत्सामान्यस्यापि द्विष्ठत्वाविशे-

---

दिखाई नहीं देंगे। क्योंकि अभावरूप विरोधनामा विशेषण से वे पदार्थ सम्बद्ध हो चुके हैं। यदि कहा जाय कि शीत आदि द्रव्य में विरोधनामा विशेषण असम्बद्ध रहकर ही विशेषणभूत बन जाता है, तब तो अतिप्रसंग उपस्थित होगा, फिर तो चाहे जो विशेषण चाहे जिस पदार्थ का कहलाने लगेगा।

यदि शीत द्रव्य और उष्ण द्रव्य इनमें से एक किसी का विशेषणरूप विरोध को माना जाय तो भी यही उपर्युक्त दोष आता है कि दिखायी नहीं देना, अर्थात् तुच्छाभाव स्वरूप विरोध शीत आदि द्रव्यों में से जिसका भी विशेषण होगा वही पदार्थ अदृष्टव्य बन जायगा-अभावरूप होवेगा। क्योंकि वह अभाव रूप विरोध से सम्बद्ध हुआ है। तथा यह भी बात होगी कि जिस किसी शीत या उष्ण द्रव्य का यह विरोध विशेषण माना जायगा उसी एक का ही वह विरोधक बनेगा, अन्य का नहीं। और भी दूषण सुनिये-यदि शीतादि उभय द्रव्यों में से एक का ही विरोध नामा विशेषण है ऐसा आप कहते हैं तो भी ठीक नहीं रहेगा। क्योंकि विरोध दो पदार्थों में हुआ करता है, एक मे काहे का विरोध! अन्यथा सब जगह हमेशा ही विरोध होता रहेगा।

वैशेषिक—विरुध्यमानत्व और विरोधकत्व की अपेक्षा लेकर कर्त्ता और कर्म में विरोध स्थित है ऐसा माना जाता है, इस तरह विरोध सामान्य की अपेक्षासे दोनों का (विरुध्य-विरोध करने योग्य शीत द्रव्य और विरोधक-विरोध करने वाला उष्ण द्रव्य इन दोनों का) विशेषण बन जाने से विरोध को द्विष्ठ कहा जाता है।

जैन— यदि ऐसी बात है तो रूपादि को भी द्विष्ठपने की आपत्ति क्यों नहीं आयेगी? क्योंकि उनके सामान्य का भी द्विष्ठपना समान रूप से है। तथा विरोध को

षात् ? विरोधस्याभावरूपत्वे सामान्यविशेषत्वाभावानुपपत्तिश्च । गुणरूपत्वे गुणविशेषणत्वाभावानुषंगः ।

अथ षट्पदार्थव्यतिरिक्तत्वात् पदार्थविशेषो विरोधोऽनेकस्थो विरोध्यविरोधकप्रत्ययविशेषप्रसिद्धः समाश्रीयते; तदाप्यस्यासम्बद्धस्य द्रव्यादौ विशेषणत्वम्, सम्बद्धस्य वा ? न तावदसम्बद्धस्य; अतिप्रसंगात्, दण्डादौ तथाऽप्रतीतेश्च । न खलु पुरुषेणासम्बद्धो दण्डस्तस्य विशेषणं प्रतीतो येनात्रापि तथाभावः । अथ सम्बद्धः; किं संयोगेन, समवायेन, विशेषणभावेन वा ? न तावत्संयोगेन; अस्याद्रव्यत्वेन संयोगानाश्रयत्वात् । नापि समवायेन; अस्य द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषव्यतिरिक्तत्वेनासम-

---

अभाव रूप मानते हैं तो उसमें सामान्य या विशेषपना असंभव होने से विशेषणत्व की अनुपपत्ति ही रहेगी । विरोध को गुणस्वभाव वाला मानते हैं तो भी बात नहीं बनती, क्योंकि विरोध यदि गुणरूप है तो उसमें विशेषणरूप गुणपना संभव नही होगा, गुण में पुनः गुण नहीं होता ।

वैशेषिक— द्रव्य, गुण इत्यादि छह पदार्थों के अतिरिक्त विरोध नामा पदार्थ माना जाता है जो कि अनेकस्थ है और विरोध्य-विरोधक ज्ञान का कारण होने से प्रसिद्ध है ।

जैन—इस तरह का लक्षण वाला विरोध मान लो तो भी प्रश्न होता है कि वह विरोध द्रव्य आदि में असम्बद्ध रहकर विशेषण बनता है, या सम्बद्ध होकर विशेषण बनता है ? असम्बद्ध रहकर विशेषण बन नही सकता, क्योंकि असम्बद्ध विशेषण बनते है तो सहयाचल विन्ध्याचल का विशेषण बन सकेगा, ऐसा अतिप्रसंग आता है । तथा दण्ड आदि विशेषण देवदत्त आदि से असम्बद्ध रहकर उसके विशेषणपने को प्राप्त होते हुए देखे नही जाते हैं, जिससे कि इस विरोधरूप विशेषण में असम्बद्ध रहकर ही विशेषणपना सिद्ध हो सके । विरोधनामा विशेषण पदार्थ में सम्बद्ध है ऐसा दूसरा पक्ष स्वीकारे तो संयोग सम्बन्ध से सम्बद्ध है, या समवाय सम्बन्ध से अथवा विशेषण भाव सम्बन्ध से सम्बद्ध है ? संयोग सम्बन्ध से सम्बद्ध है ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि विरोध द्रव्य रूप नही है, आपने दो द्रव्यों में संयोगनामा सम्बन्ध माना है । विरोध द्रव्यरूप नही होने से संयोग का आश्रय बन नहीं सकता । समवाय सम्बद्ध से विरोध सम्बद्ध होता है ऐसा कहना भी अयुक्त है, क्योकि विरोध द्रव्यरूप नहीं है, और न गुण, कर्म, सामान्य, विशेष इन रूप ही है, अतः असमवायीरूप ही रहेगा ।

वायित्वात्। नापि विशेषणभावेन; सम्बन्धान्तरेणासम्बद्धे वस्तुनि विशेषणभावस्याप्यसम्भवात्, अन्यथा दण्डपुरुषादौ संयोगादिसम्बन्धाभावेपि स स्यात् इत्यलं संयोगादिसम्बन्धकल्पनाप्रयासेन। 'विरोध्यविरोधकप्रत्ययविशेषस्तु विशिष्टं वस्तुधर्ममेवालम्बते' इति वक्ष्यते समवायसम्बन्धनिराकरण-प्रक्रमे। ततो विरोधस्य विचार्यमाणस्यायोगान्नानयोरसौ घटते।

नापि वैयधिकरण्यम्; निर्बाधबोधे भेदाभेदयोः सत्त्वासत्त्वयोर्वा एकाधारतया प्रतीयमान-त्वात्।

नाप्युभयदोषः; चौर [पार]दारिकाभ्यामचौरपारदारिकवत् जैनाभ्युपगतवस्तुनो जात्यन्तर-त्वात्। न खलु भेदाभेदयोः सत्त्वासत्त्वयोर्वाऽन्योन्यनिरपेक्षयोरेकत्वं जैनैरभ्युपगम्यते येनायं दोषः,

---

विशेषण भाव रूप सम्बन्ध से विरोध सम्बद्ध है, ऐसा तीसरा पक्ष कहना भी जमता नहीं, क्योंकि सम्बन्धान्तर असम्बद्ध वस्तु में विशेषणभाव होना भी असम्भव है, यदि असम्बद्ध वस्तुमें विशेषण भाव बनता तो दण्ड और पुरुष आदि में संयोगादि सम्बन्ध के नहीं होने पर विशेषण भाव हो सकता था। अतः विरोध के विषय में संयोगादि सम्बन्ध की कल्पना करने से अब बस हो। विरोध्य-विरोधक का ज्ञान विशेष विरोध कहलाता है ऐसा जो आपका कहना है वह तो विशिष्ट वस्तुधर्मका ही अवलम्बन लेता है, अर्थात् ऐसा लक्षण वाला विरोध वस्तु से अव्यतिरिक्त ही ठहरता है, इस विषय में समवाय सम्बन्ध का निराकरण करते समय आगे कहने वाले हैं। इस प्रकार विरोध विचार के अयोग्य है अतः भेद अभेद या सत्व असत्व इत्यादि एकत्र रहने में विरोध आता है ऐसा कहना सिद्ध नहीं होता है।

भेद और अभेद, या सत्व असत्व इत्यादि धर्मों को एकत्र मानने में वैयधि-करण्य नामा दोष आता है ऐसा कहना भी ठीक नही, भेद-अभेद या सत्व-असत्व एक ही आधार में साक्षात् ही प्रतीत हो रहे हैं।

अभेद-भेद आदि को एकत्र मानने में उभयदोष भी नहीं आता, क्योंकि भेद और अभेद जिस वस्तु में रहते हैं वह वस्तु एक पृथक् ही जाति वाली है जैसे कि चोरी करने वाले और परदारा सेवन करने वाले पुरुष से अचोर अपारदारिक पुरुष पृथक् कहलाता है।

तत्सापेक्षयोरेव तदभ्युपगमात्, तथाप्रतीतेश्च।

नापि सङ्करव्यतिकरौ; स्वरूपेणैवार्थे तयोः प्रतीतेः।

नाप्यनवस्था; 'धर्म्मिणो ह्यनेकरूपत्वं न धर्माणां कथञ्चन' इति, वस्तुनो ह्यभेदो धर्म्येव, भेदस्तु धर्मा एव, तत्कथमनवस्था ?

भावार्थ—एक वस्तु में भेदाभेद मानने में उभय नामा दोष आता है, ऐसा वैशेषिकने कहा था, उभय दोष का स्वरूप इस तरह बतलाया कि वस्तु में भेद और अभेद सर्वथा एकात्मकपने से रहते हैं तो उसमे अनेकत्व का अभाव होगा, तथा वे सर्वथा अनेकात्मपने से रहते हैं तो एकत्व का अभाव होता है, सो यह दोष जैनाभिमत वस्तु में आना असंभव है, क्योकि वस्तु में जो भेदाभेद रहते हैं उनके रहने का तरीका ही अलग है, जैसे एक पुरुष चोर है और एक पुरुष पर स्त्री सेवक है सो इन दो प्रकारके पुरुषों में सदोषता है किन्तु इन दो से न्यारा कोई पुरुष परस्त्री सेवी नही और चोर भी नहीं तो वह पुरुष उपर्युक्त दोनों पुरुषों से न्यारा ही कहलायेगा, क्योंकि उसमें सदोषता नही है, इसी प्रकार भेद और अभेद को या सत्व असत्व इत्यादि धर्मों को एक वस्तु में सर्वथा एकमेकरूप मानते हैं या सर्वथा अभिन्नरूप मानते हैं तो उसमें दोष आते हैं किन्तु इनसे पृथक् कथंचित्रूप से एक वस्तु में रहना माने तो कोई भी दोष नहीं आता है, क्योंकि यह स्याद्वाद अपेक्षा लेकर कथन करता है और वस्तु में भी स्वयं इसी प्रकार की अनेक धर्मात्मक है, वह स्वयं ही अनेक विरोधी धर्मो को अपने में समाये रखती है, इसीलिये स्याद्वाद उसका वैसा ही वर्णन किया करता है।

जैन भेद और अभेद या सत्व और असत्व इनको परस्परकी अपेक्षा से रहित नहीं मानते, अर्थात् ये दोनो धर्म परस्पर निरपेक्ष होकर एकत्व रूप रहते हैं ऐसा नहीं मानते हैं, जिससे कि यह उभय दोष आवे। हम तो सापेक्षभूत सत्वासत्व में ही एकत्व स्वीकार करते हैं। तथा वस्तु में ऐसे सापेक्ष सत्व असत्वादि की प्रतीति भी भली प्रकार से होती है।

भेद अभेद आदि को एकत्र मानने में संकर व्यतिकर नामा दोष देना भी अयुक्त है, क्योंकि वस्तु में स्वरूप से ही उन दोनों की प्रतीति आ रही है।

अनवस्था दोष भी भेदाभेदात्मक वस्तु मे दिखाई नहीं देता, क्योंकि धर्मी पदार्थ के ही अनेक रूपत्व माना है न कि धर्मों के, तथा वस्तु के जो अभेदपना है वह

अभावदोषस्तु दूरोत्सारित एव; अशेषप्राणिनामनेकान्तात्मकार्थस्यानुभवसम्भवात् ।

ननु शरीरेन्द्रियबुद्धिव्यतिरिक्तात्मद्रव्यस्येच्छादिगुणाश्रयस्य नित्यैकरूपत्वात्कथं सर्वस्यानेकान्तात्मकत्वम् ? न च नित्यैकरूपत्वे कर्तृत्वभोक्तृत्वजन्ममरणजीवनहिंसकत्वादिव्यपदेशाभावः; ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नानां समवायो हि कर्तृत्वम्, सुखादिसंवित्समवायस्तु भोक्तृत्वम्, अपूर्वैः शरीरेन्द्रियबुद्ध्यादिभिश्चाभिसम्बन्धो जन्म, प्राणात्तैस्तैस्तु वियोगो मरणम्, जीवनं तु सदेहस्यात्मनो धर्माधर्मापेक्षो मनसा सम्बन्धः, हिंसकत्वं च शरीरचक्षुरादीनां वधान्न पुनरात्मनो विनाशात् । तथा च सूत्रम्–

धर्मी ही है, धर्म तो भेदरूप ही है, इस तरह मानने में किस प्रकार अनवस्था होगी ? अर्थात् नहीं होगी ।

अभाव नामा दोष तो जैनाभिमत तत्व में दूर से ही निराकृत हो जाता है, क्योंकि प्रत्येक प्राणियों को अनेक धर्मात्मक हो वस्तु प्रतीति में आ रही है ।

अब यहां पर वैशेषिक अपना एकान्तपने का पक्ष पुनः उपस्थित कर रहा है—

वैशेषिक—शरीर, इन्द्रियां, बुद्धि इन सबसे आत्म द्रव्य सर्वथा पृथक् होता है, यह द्रव्य इच्छा आदि गुणों का आश्रय हुआ करता है, एवं सदा सर्वथा नित्य एक रूप रहता है, फिर कैसे कह सकते हैं कि सभी द्रव्य या पदार्थ अनेकान्तात्मक ही होते हैं ? जैन का कहना है कि यदि आत्मादि द्रव्य को नित्य एक रूप मानते हैं तो उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व, जन्म, मरण, जीवन, हिंसकत्व इत्यादि नाम किस प्रकार हो पायेंगे । सो ऐसी बात नहीं है, हम आत्मा में इन कर्त्तापना आदि को घटित करके बतलाते हैं— ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न इनका आत्मा में समवाय होना कर्त्तापन है, सुखादि संवेदन का समवाय होना भोक्तृत्व कहलाता है, नवीन शरीर, इन्द्रियां, बुद्धि आदि का आत्मा में सम्बन्ध होना आत्मा का जन्म कहलाता है, और इन्हीं शरीर आदि से आत्मा का वियुक्त होना मरण है, शरीर सहित आत्मा के धर्म-अधर्म की अपेक्षा लेकर मन से सम्बन्ध होना जीवन कहा जाता है, शरीर तथा चक्षु आदि इंद्रियों का वध करना हिंसकपना है, आत्मा का वध तो होता नहीं, अर्थात् शरीरादिका घात होने से ही हिंसकपना होता है न कि आत्मा के विनाश से हिंसकपना होता है (क्योंकि आत्मा अविनाशी है) "कार्याश्रयकर्तृवधाद् हिंसा" ऐसा न्याय सूत्र है अर्थात् कार्यों का

"कार्याश्रयकर्तृ वधाद्धिंसा" [न्यायसू० ३।१।६] इति। कार्याश्रयः शरीरं सुखादेः कार्याश्रयत्वात्। कर्तृ णीन्द्रियाणि विषयोपलब्धेः कर्तृ त्वादिति।

तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; सर्वथाऽपरित्यक्तपूर्वरूपत्वेनास्याकाशकुशेशयवत् ज्ञानादिसमवायस्यैवासम्भवात् कथं तदपेक्षया कर्तृ त्वादिस्वरूपसम्भवः? पूर्वरूपपरित्यागे वा कथं नानेकान्तात्मकत्वम्, व्यावृत्त्यनुगमात्मकस्यात्मनः स्वसंवेदनप्रत्यक्षतः प्रसिद्धेः। व्यावृत्तिः खलु सुखदुःखादिस्वरूपापेक्षया आत्मनः अनुगमश्च चैतन्यद्रव्यत्वसत्त्वादिस्वरूपापेक्षया। तदात्मकत्वं चाध्यक्षत एव प्रसिद्धम्।

ननु चानुवृत्तव्यावृत्तस्वरूपयोः परस्परं विरोधात्कथं तदात्मकत्वमात्मनो युक्तम्? इत्यप्यसत्; *प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुस्वरूपे विरोधानवकाशात्।* न खलु सर्पस्य कुण्डलेतरावस्थापेक्षया अगुल्यादेर्वा

आश्रय शरीर है, क्योंकि इसमें सुखादि के कार्याश्रयपना देखा जाता है, इंद्रियां इन कार्यों की कर्त्ता कहलाती हैं, क्योंकि विषयों की उपलब्धि होने में वही कर्त्तापना का वहन करती हैं। इस तरह कर्तृत्व आदि धर्म आत्मा में निजी नही है आत्मा तो सदा नित्य एक रूप है अतः सभी पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं ऐसा जैन का कहना ठीक नहीं है?

जैन—यह कथन अविचारपूर्ण है। यदि आत्म द्रव्य सर्वथा पूर्व रूपको नहीं छोड़ता है तो वह आकाश पुष्प की तरह असत् कहलायेगा, फिर उसमें ज्ञानादि का समवाय होना असंभव होने से उसकी अपेक्षा से आत्मा के कर्तृत्वादिस्वरूप किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? आत्मा पूर्व रूप का परित्याग करता है ऐसा मानते हैं तो अनेकान्तात्मक कैसे नही सिद्ध हुआ? व्यावृत्ति और अनुगमस्वरूप आत्मा को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रसिद्धि हो रही है। सुख और दुःख इन विभिन्न स्वरूपों की अपेक्षा से तो आत्मा में व्यावृत्तपने का (भिन्न-भिन्न अनेकपने का) प्रतिभास होता है, तथा चैतन्य द्रव्यत्व, सत्वादि स्वरूपों की अपेक्षा से अनुगम प्रतिभास होता है, इन अनेक धर्मों का तदात्मकपना आत्मा में साक्षात् ही सिद्ध है।

वैशेषिक—अनुवृत्त का स्वरूप और व्यावृत्ति का स्वरूप परस्पर में विरुद्ध हैं उनसे तदात्मकपना होना आत्मा में कैसे संभव होगा?

जैन—यह शंका अयुक्त है, जब प्रमाण से वैसा आत्मा का स्वरूप प्रतीत हो रहा है तब उनमें विरोध का कोई भी स्थान नहीं है, इसी का खुलासा करते हैं—

सङ्कोचितेतरस्वभावापेक्षया व्यावृत्त्यनुगमात्मकत्वं प्रत्यक्षप्रतिपन्नं विरोधमध्यास्ते ।

ननु सुखाद्यवस्थानामात्मनोऽत्यन्तभेदात्तद्व्यावृत्तावप्यात्मनः किमायातं येनास्यापि व्यावृत्त्यात्मकत्वं स्यात् ? इत्यप्यपेशलम्; सुखाद्यात्मनोरत्यन्तभेदस्य प्रथमपरिच्छेदे प्रतिविहितत्वात् । ननु चाकारवैलक्षण्येऽप्यात्मसुखादीनामनानात्वे अन्यत्राप्यन्यतोऽन्यस्यान्यत्वं न स्यात; तदप्यविचारितरमणीयम्; तद्वत्तादात्म्येनान्यत्रान्यस्य प्रमाणतोऽप्रतीतेः । प्रतीतौ तु भवत्येवाकारनानात्वेप्यनानात्वम् प्रत्यभिज्ञाज्ञानवत्, सामान्यविशेषवत्, संशयज्ञानवत्, मेचकज्ञानवद्वेति ।

जिस प्रकार सर्प की कुण्डलाकार अवस्था और कुण्डलाकार रहित अवस्था इनमें विरोध नहीं आता, क्योंकि प्रत्यक्ष से ऐसा दिखाई देता है, अथवा अंगुली आदि का फैलाना और संकुचित होना रूप स्वभाव प्रत्यक्ष से उपलब्ध होने से विरोध को अवकाश नहीं है उसी प्रकार आत्मा में व्यावृत्ति और अनुगमात्मकपना प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है । इसमें कोई भी विरुद्ध बात नही है ।

वैशेषिक—सुख, दुःख आदि अवस्थायें आत्मा से अत्यन्त भिन्न हैं अतः यदि वे सुखादिक व्यावृत्ति स्वरूप हो तो भी उससे आत्मा में क्या विशेषता आयेगी जिससे कि आत्मा को भी व्यावृत्ति स्वरूप माना जा रहा है ?

जैन—यह कथन असुन्दर है, सुख, दुःख आदि धर्म आत्मा से अत्यन्त भिन्न नहीं हैं, आप इन्हें सर्वथा भिन्न मानते हैं किन्तु इसका प्रथम अध्याय में ही भली प्रकार से निराकरण कर आये हैं ।

वैशेषिक—आत्मा और सुख दुःखादिक इनमें आकारों [झलक] की विलक्षणता [विसदृशता] होते हुए भी अभिन्नता मानी जाय तो अन्य घट पट आदि पदार्थ भी परस्पर में अभिन्न मानने पड़ेंगे ? क्योंकि आकारों की विलक्षणता होते हुए भी भेद नहीं होता ऐसा आप कह रहे ।

जैन—यह कथन बिना सोचे किया गया है, जिस प्रकार आत्मा और सुख दुःख आदि का परस्पर तादात्म्य अनुभव में आता है, वैसा तादात्म्य घट पटादि पदार्थों में अनुभव में नहीं आता है तथा आकारों की विलक्षणता की जो बात है उस विषय में यह समझना चाहिए कि सर्वत्र आकारों की विलक्षणता या नानापना होने से वस्तुओं में भेद ही हो, नानापना ही होवे सो बात नहीं है, घट पट आदि में तो आकारों

यच्चोक्तम्-'द्रव्यादयः षडेव पदार्थाः प्रमाणप्रमेयाः' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; द्रव्यादिपदार्थषट्कस्य विचारासहत्वात्; तथाहि-यत्तावच्चतुःसंख्यं पृथिव्यादिनित्यानित्यविकल्पाद्द्विभेदमित्युक्तम्; तदयुक्तम्; एकान्तनित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् । तल्लक्षणसत्त्वस्यातो व्यावृत्त्याऽसत्त्वप्रसङ्गात् । यदि हि परमाणवो द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यजननैकस्वभावाः; तर्हि तत्प्रभव-

---

की विलक्षणता से पदार्थों का नानापना सिद्ध होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान, सामान्य-विशेष, संशय ज्ञान, मेचक ज्ञान इत्यादि में आकारों की विलक्षणता होते हुए भी नानापन सिद्ध नहीं होता है ।

विशेषार्थ—आत्मा आदि पदार्थों को अनेक धर्मात्मक सिद्ध करने के लिए जैन ने उदाहरण प्रस्तुत किया कि जिस प्रकार एक ही आत्म द्रव्य में सुख दुःख आदि का व्यावृत्तिरूप प्रतिभास होता है और चैतन्यपना, सत्वपना आदि का अनुगत रूप प्रतिभास भी होता है अतः अनेकत्व सिद्ध है, वैसे ही प्रत्येक द्रव्य या पदार्थ में अनेकत्व-अनेकधर्मात्मकपना है, इस पर वैशेषिक ने कहा कि सुख दुःख आदिक आत्मा से पृथक् हैं, क्योंकि इनमें भिन्न-भिन्न आकार-प्रतिभास हुआ करते है । तब आचार्य ने समझाया कि सर्वत्र आकारों के भेद से पदार्थ भेद नहीं हुआ करता, इस बात की स्पष्टता करने के लिये चार दृष्टांत दिये—प्रत्यभिज्ञान, सामान्यविशेष, संशय ज्ञान, और मेचक ज्ञान । इन चारों दृष्टान्तों का खुलासा इस प्रकार है—प्रत्यभिज्ञान में दो आकार-प्रतिभास होते हैं एक तो वर्त्तमान का ग्रहणरूप और दूसरा भूतकाल का स्मरणरूप, जैसे यह वही देवदत्त है जिसको मैंने कल देखा था । सो ये दो आकार होते हुए भी इस ज्ञानको एक रूप ही माना है । ऐसे ही यह रोझ गाय के समान है, यह भैंस गाय से विलक्षण ही दिखाई देती है, छह पैर वाला भ्रमर होता है, आठ पैर वाला अष्टापद होता है इत्यादि प्रत्यभिज्ञान जोड़रूप होने से दो आकार वाले हैं किन्तु ये एक एक ज्ञान कहलाते हैं । सामान्य धर्म में विविधता देखी जाती है जैसे गोपना गायों में तो सबमें होने से सामान्य है किन्तु वही गोत्व अश्व आदि विभिन्न पशु जातियों की अपेक्षा विशेष बन जाता है अतः सामान्य में सजातीयता की दृष्टि से समानत्व या साधारण सामान्य है और वही विजातीयता को दृष्टि में विशेष आकार को धारण कर लेता है अतः अनेकपना से युक्त है । संशय ज्ञान में चलित प्रतिभास होने से दो कोटियाँ रहती है कि क्या यह ठूंट है अथवा पुरुष है ? यह रजत है या सीप है ? इत्यादि एक

कार्याणां सकृदेवोत्पत्तिप्रसङ्गोऽविकलकारणत्वात् । प्रयोगः–येऽविकलकारणास्ते सकृदेवोत्पद्यन्ते यथा समानसमयोत्पादा बहवोऽङ्कुराः, अविकलकारणाश्चाणुकार्यत्वेनाभिमता भावा इति । तथाभूतानामप्यनुत्पत्तौ सर्वदानुत्पत्तिप्रसक्तिर्विशेषाभावात् ।

।। अर्थस्य सामान्यविशेषात्मकत्ववादः समाप्तः ।।

ही ज्ञान में अनेकाकारपना उपलब्ध होता है । आत्मा आदि पदार्थों में अनेक धर्मत्व सिद्ध करने हेतु चौथा उदाहरण मेचक ज्ञान का है, जैसे मेचक ज्ञान में [चितकबरा ज्ञान] हरा, पीला, लाल आदि रंग स्वरूप आकार प्रतिबिंबित होते हैं, फिर भी वह ज्ञान एक ही है, इस मेचक ज्ञानादि को किसी ने भी अनेक नहीं माना है, ठीक इसी प्रकार आत्मा, आकाश, घट, पट आदि संपूर्ण चराचर जगत के पदार्थ अनेकान्तात्मक-अनेकधर्मात्मक होते हैं, समान गुण धर्मों की क्या बात है किन्तु विषम अर्थात् विरोधी धर्म भी एक वस्तु में अबाधपने से निवास करते हैं, अथवा यों कहिये कि वस्तु स्वयं ही उस रूप है, जैनाचार्य तो जैसी वस्तु ज्ञान में प्रतिभासित हो रही है वैसी बतलाते हैं वे मात्र प्रतिपादन करने वाले हैं, वस्तु जब स्वयं अनेक धर्मों को अपने में धार रही है तो आचार्य या प्रतिपादक क्या करे ? उसका जैसा स्वरूप है वैसा ही कहना होगा । विपरीत प्रतिपादन तो कर नहीं सकते । "यदीदं पदार्थेभ्यः स्वयं रोचते तत्र के वयम्" अन्त में यही निश्चय हुआ कि आत्मा आदि सम्पूर्ण पदार्थ कथंचित् भेदाभेदात्मक, नित्यानित्यात्मक सत्वासत्वात्मक होते हैं ।

।। पदार्थों का सामान्यविशेषात्मकपने का प्रकरण समाप्त ।।

अर्थ के सामान्यविशेषात्मक होने का सारांश

वैशेषिक:—प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेषात्मक मानना ठीक नही, कोई पदार्थ सामान्यात्मक होता है और कोई विशेषात्मक। प्रतिभास के भेद से सामान्य और विशेष में अत्यन्त भेद सिद्ध होता है अर्थात् सामान्य की झलक अलग है और विशेष की अलग है। तथा सामान्य को जानने वाला प्रमाण पृथक् है और विशेष को जानने वाला पृथक् है इसलिए सामान्य और विशेष में विरुद्ध धर्मपना भी है। हम अवयव और अवयवी को भी अत्यन्त भिन्न मानते हैं। तन्तुरूप अवयव तो स्त्री आदि के द्वारा निर्मित हैं, और वस्त्र रूप अवयवी जुलाहा द्वारा बनाया जाता है इस तरह कर्त्ता भिन्न होने से अवयवों से अवयवी भिन्न है ऐसा समझना चाहिए। तथा अवयव पूर्ववर्ती है भिन्न कार्य करते हैं उनकी शक्ति भी भिन्न है, तथा अवयवी उत्तर कालवर्ती है उसकी शक्ति और कार्य भिन्न है, तो उन दोनों को पृथक् क्यों न माना जाय ? जैन तन्तु और वस्त्र में तादात्म्य मानते हैं किन्तु वह सिद्ध नहीं होता। जैन अवयव और अवयवी को भेदभेदात्मक मानते हैं सो उसमे आठ दोष आते हैं, संशय १ विरोध २ वैयधिकरण ३ संकट ४ व्यतिकर ५ अनवस्था ६ अभाव ७ अप्रतिपत्ति ८। अब इन दोषों को बताते है—अवयव और अवयवी भेदाभेदात्मक है या कोई भी वस्तु दोनो रूप मानते हैं तो उसमें सबसे पहले संशय होगा कि वह वस्तु ऐसी है कि वैसी। भेद और अभेद एक दूसरे से विरुद्ध होने से विरोध दोष आता है। भेद का आधार और अभेद का आधार पृथक् होने से वैयधिकरण दोष हुआ। उभयदोष भी वैयधिकरण के समान है।

भेदाभेद एक साथ वस्तु मे आने से संकट दोष है और एक दूसरे के विषय होने से व्यतिकर दोष है, किसी अवस्था से भेद होगा वह कथंचित् ही रहेगा अतः अनवस्था आती है। इससे फिर वस्तु की अप्रतिपत्ति होगी। अतः अवयव, अवयवी, गुण, गुणी, क्रिया, क्रियावान्, भेद, अभेद, सत्व, असत्व इत्यादि सबको पृथक्-पृथक्

मानते हैं। पदार्थ छः हैं द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, इनमें द्रव्य के नो भेद हैं गुण के संयोगादि २४ भेद हैं कर्म के उत्क्षेपणादि ५ भेद हैं, सामान्य के दो भेद हैं, विशेष अनेक हैं, समवाय एक है।

जैन—यह वर्णन वंध्या पुत्र के गुणगान सदृश है, प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्म वाले ही होते हैं न कि एक एक सामान्य या विशेष रूप। यदि वस्तु में एक ही धर्म होता तो वह अनेक अर्थ क्रियाओं को कैसे करता? आपने कहा कि भिन्न प्रमाण से ग्रहण होने के कारण सामान्य और विशेष सर्वथा पृथक् है किन्तु यह बात असिद्ध है। अवयव और अवयवी भिन्न प्रमाण से ही ग्रहण हो सो भी बात नहीं, धागे और वस्त्र एक प्रत्यक्ष से ग्रहण हो रहे हैं, आपने कहा कि भेद और अभेद या अवयवादि में विरुद्धत्व है सो विरुद्धपना होने से एक जगह न रह सके ऐसी बात नही है, अन्यथा धूम हेतु अग्नि का गमक और जल का अगमक ऐसे दो विरुद्ध धर्मों को धारण करता है अत: उसे सदोष मानना होगा? तन्तुओं से वस्त्र पृथक् है सो कौन से तन्तुओं से जो वस्त्र में बुन चुके हैं उनसे वस्त्र कथमपि पृथक् नहीं है और जो धागे वस्त्र रूप नहीं हुए उनसे वस्त्र पृथक् है तो इसको कौन नहीं मानेगा।

तादात्म्य शब्द का विग्रह आप ध्यान देकर सुनो "तौ आत्मानौ द्रव्यपर्यायौ सत्वासत्वादि धर्मौ तदात्मानौ तयोर्भावस्तादात्म्यं।" वस्तु द्रव्यपर्यात्मक, सत्वासत्वात्मक इत्यादि अनेक विरुद्ध धर्मों से भरपूर है। संशयादि दोष अनेकान्त मत में नहीं आते हैं वस्तु में भेद और अभेद प्रतीत होता है तो उसमें संशय काहे का? विरोध तीन प्रकार का है सो उनमें से कोई भी विरोध इन भेदाभेदादि में आता नहीं क्योंकि वे सर्प नेवले की तरह हीनाधिक शक्तिवाले नहीं हैं जिससे वध्यघातक विरोध होवे। परस्परपरिहार लक्षण वाला विरोध इन भेद अभेद आदि में होता है। सहानवस्था विरोध तो तब कहते जबकि वस्तु में भेद और अभेद नहीं दिखता भेदाभेदात्मक वस्तु के प्रतीत होने पर काहे का विरोध? वैयधिकरण भी नहीं है क्योंकि भेद और अभेद एक ही आधार में प्रतीत हो रहे हैं। इसलिये संकर व्यतिकर दोष भी नहीं है। धर्मी अभेदरूप है और धर्म भेदरूप है अत: अनवस्था नहीं है। अभाव भी नहीं, क्योंकि सभी प्राणी को वस्तु भेदाभेदात्मक प्रतीत होती है। इस प्रकार पदार्थों में अनेक विरुद्ध धर्मों का रहना सिद्ध

होता है इससे विपरीत नित्य एक धर्म रूप वस्तु को मानने पर अनेक दोष आते हैं। उदाहरण के लिए देखिये आत्मा यदि एक धर्म वाला ही है तो उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व जीवत्व, हिंसकत्व आदि स्वरूप कैसे प्रतीत होते? अतः प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक ही है न कि एक सामान्य या विशेष रूप। प्रमाण भी ऐसे सामान्यविशेष वाले पदार्थ को जानता है विषय करता है।

"सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः"

॥ सारांश समाप्त ॥

ननु समवाय्यऽसमवायिनिमित्तभेदात्त्रिविधं कारणम्। यत्र हि कार्यं समवैति तत्समवायिकारणम्, यथा द्व्यणुकस्याणुद्वयम्। यच्च कार्यैकार्थसमवेतं कार्यकारणैकार्थसमवेतं वा कार्यमुत्पादयति

वैशेषिक मत में द्रव्य, गुण आदि छह पदार्थ होते हैं वे ही प्रमाण द्वारा जानने योग्य हुआ करते हैं, इत्यादि कहा गया है वह अयुक्त है, क्योंकि इन द्रव्यादि छह पदार्थों के बारे में विचार करे तो वे सिद्ध नहीं पाते हैं, अब इसी का खुलासा करते हैं—पृथिवी, जल, अग्नि और वायु को पृथक् पृथक् चार द्रव्य मानकर इनमें नित्य और अनित्य ऐसे दो दो भेद किये जाते हैं वह अयुक्त है, जो पदार्थ सर्वथा नित्य होता है उसमें क्रमशः या युगपत् अर्थ क्रिया नहीं हो सकती है, जब अर्थ क्रिया नहीं होगी तो उसका सत्व भी नहीं रहेगा, क्योंकि अर्थ क्रिया युक्त होना सत्व का लक्षण है, और सत्वकी व्यावृत्ति होने से असत्व प्रसंग आता है, अर्थात् एकान्त नित्य पदार्थ का असत्व अभाव ही ठहरता है। वैशेषिक पृथिवी आदि के कारणभूत परमाणुओं को सर्वथा

तदसमवायिकारणम्, यथा पटारम्भे तन्तुसंयोगः, पटसमवेतरूपाद्यारम्भे पटोत्पादकतन्तुरूपादि च। शेषं तूत्पादकं निमित्तकारणम्, यथाऽदृष्टाकाशादिकम्। तत्र संयोगस्याऽपेक्षणीयस्याभावादविकल कारणत्वमसिद्धम्; तदप्यसाम्प्रतम्; संयोगादिनाऽनाधेयातिशयत्वेनाऽणूनां तदपेक्षाया अयोगात्।

नित्य द्व्यणुक आदि कार्य द्रव्यों के जनकरूप एक स्वभाव वाले मानते हैं सो उसमें यह आपत्ति आती है कि उनसे होने वाले कार्य एक साथ उत्पन्न हो जायेंगे। क्योंकि अविकलकारण मौजूद है। अनुमान से सिद्ध होता है कि जिनका अविकल-पूर्ण कारण मौजूद रहता है वे कार्य एक साथ ही उत्पन्न होते हैं, जैसे समानकाल में उत्पन्न हुए बहुत से अंकुर रूप कार्य अपने अविकल कारणो के मिलने से एक साथ पैदा होते हैं पृथिवी आदि द्रव्यों को अणुओं के कार्यरूप मानने से वे भी अविकल कारणभूत कहलाते हैं। अर्थात् नित्य परमाणुओं का कार्य होने से पृथिवी आदि पदार्थ अविकल कारणवाले ही सिद्ध होते हैं। इस तरह अविकल कारण सामग्री युक्त होकर भी यदि इन पृथिवी आदि कार्यों की उत्पत्ति नही होती है तो सर्वदा ही उत्पत्ति नहीं होगी। क्योंकि अविकल कारणपना सर्वदा समानरूप से है सर्वथा नित्य में विशेषता नहीं आती जिससे कहा जाय कि पहले कार्य नहीं हो पाया किन्तु अब विशेषता आने से कार्य सम्पन्न हुआ।

वैशेषिक— कार्य के उत्पत्ति की बात ऐसी है कि कार्य के लिये कारण तीन प्रकार के होते हैं—समवायी कारण, असमवायी कारण, निमित्त कारण, जहां पर कार्य समवेत होता है वह समवायीकारण कहलाता है, जैसे द्व्यणुकरूप कार्य का समवायी कारण दो परमाणु हैं। जो एक कार्यभूत पदार्थ में समवेत होकर कार्य को उत्पन्न करे, अथवा कार्य और कारणभूत एकार्थ में समवेत होकर कार्य को पैदा करे वह असमवायी कारण कहलाता है, जैसे वस्त्र के प्रारम्भ में तन्तुओं का संयोग होना असमवायो कारण है, अथवा पट में समवेत जो रूपादि है उनके प्रारम्भ में पटोत्पादक तन्तुओं के रूपादिक है वह भी असमवायी कारण कहलाता है। समवायी और असमवायी कारण को छोड़ शेष कारण निमित्त कारण कहे जाते हैं, जैसे अदृष्ट, आकाशादिक निमित्त कारण हैं। इन तीन कारणों में से संयोग नामा असमवायी कारण नहीं होने से पृथिवी आदि पदार्थ अविकल कारण वाले नही कहलाते, और इसीलिये इन कार्यों की एक साथ उत्पत्ति नहीं होती है।

अथ संयोग एवामीषामतिशयः; स किं नित्यः, अनित्यो वा ? नित्यश्चेत्; सर्वदा कार्योत्पत्तिः स्यात्। अनित्यश्चेत्; तदुत्पत्तौ कोऽतिशयः स्यात्संयोगः, क्रिया वा ? संयोगश्चेत्किं स एव, संयोगान्तरं वा ? न तावत्स एव; अस्याद्याप्यसिद्धेः, स्वोत्पत्तौ स्वस्यैव व्यापारविरोधाच्च। नापि संयोगान्तरम्; तस्यानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा तदुत्पत्तावप्यपरसंयोगातिशयकल्पनायामनवस्था। नापि क्रियातिशयः; तदुत्पत्तावपि पूर्वोक्तदोषानुषङ्गात्।

जैन—यह कहना असत् है, परमाणुओं का परमाणुओं के साथ जो संयोग है वह अनाधेय अतिशय है, परमाणुओं के ऐसे संयोग की अपेक्षा होना असंभव है।

भावार्थ—पृथिवी आदि के परमाणुओं को वैशेषिक सदा सर्वथा कूटस्थ नित्य मानता है, जो कूटस्थ पदार्थ है वह किसी प्रकार के परिवर्त्तन कराने योग्य नहीं होता, उसमें किसी की अपेक्षा भी सम्भव नही, फिर कैसे कह सकते हैं कि पृथिवी आदि कार्य को संयोग नामा असमवायी कारण नहीं मिलने पर वह कार्य नहीं होता, इत्यादि जो सर्वथा नित्य वस्तु होती है उसमें अतिशयपना भी नहीं है अतः नित्य परमाणु यदि पृथिवी आदि कार्यों के आरम्भक है तो एक साथ ही सब कार्यों को कर डालने का प्रसंग आता ही है इस दोष को हटाने के लिये समवायी आदि तीन प्रकार के कारण बतलाकर संयोगरूप असमवायी कारण हमेशा तथा एक साथ नहीं मिलने से सब कार्य एक साथ नहीं होते ऐसा कहना कुछ भी सिद्ध नहीं होता है।

यदि कहा जाय कि संयोग होना ही परमाणुओं का अतिशय कहलाता है ? तो बताइये कि वह संयोग नित्य है या अनित्य है ? नित्य कहो तो सर्वदा कार्य उत्पन्न होते ही रहेंगे। अनित्य कहो तो उस अनित्य संयोग की उत्पत्ति में क्या अतिशय या कारण होगा ? परमाणुओं का संयोग ही संयोग अतिशय है अथवा परमाणुओं की क्रिया संयोग अतिशय है ? संयोग कहो तो वह कौनसा है वही संयोग है याकि संयोगांतर है ? परमाणुओं का संयोग ही उसके उत्पत्ति में कारण है ऐसा कहो तो वही अभी तक असिद्ध है तथा स्वयं संयोग संयोग को उत्पत्ति में व्यापार कर नहीं सकता। परमाणुओं के संयोग की उत्पत्ति में संयोगान्तर कारण है, ऐसा कहो तो और कोई संयोगान्तर आपने माना नहीं है। यदि संयोगान्तर स्वीकार करते हैं तो उसकी उत्पत्ति के लिये भी अन्य संयोग की अतिशयरूप कल्पना करनी पड़ने से अनवस्था आयेगी।

किञ्च, अदृष्टापेक्षादात्माणुसंयोगात्परमाणुषु क्रियोत्पद्यते इत्यभ्युपगमात् आत्मपरमाणुसंयोगोत्पत्तावप्यपरोतिशयो वाच्यस्तत्र च तदेव दूषणम् ।

किंच, असौ संयोगो द्व्यणुकादिनिर्वर्त्तक: किं परमाण्वाद्याश्रित:, तदन्याश्रित:, अनाश्रितो वा ? प्रथमपक्षे तदुत्पत्तावाश्रय उत्पद्यते, न वा ? यद्युत्पद्यते; तदाणूनामपि कार्यतानुषङ्गः । अथ नोत्पद्यते; तर्हि संयोगस्तदाश्रितो न स्यात्, समवायप्रतिषेधात्, तेषां च तं प्रत्यकारकत्वात् । तदकारकत्वं चाऽनतिशयत्वात् । अनतिशयानामपि कार्यजनकत्वे सर्वदा कार्यजनकत्वप्रसङ्गोऽविशेषात् ।

परमाणुओं की क्रिया को संयोग का अतिशय या कारण कहते हैं ऐसा द्वितीय विकल्प कहो तो भी ठीक नही, क्योंकि उसकी उत्पत्ति में भी वही पूर्वोक्त दोष आते हैं ।

किञ्च, यह संयोग परमाणुओं के समान आत्मा और परमाणुओं में भी होता है, अदृष्ट की अपेक्षा से आत्मा और परमाणुओं में संयोग होता है और उससे परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है ऐसा आपने स्वीकार किया है, सो इस आत्मा और परमाणु के संयोग के उत्पत्ति में भी अन्य कोई कारण या अतिशय बतलाना पड़ेगा फिर उसमें वही अनवस्था दोष उपस्थित होता है ।

द्विअणुक आदि कार्यों की निष्पत्ति करानेवाला यह संयोग परमाणु आदि के आश्रित रहता है, या इनसे अन्य के आश्रित रहता है, अथवा किसी के आश्रित रहता ही नहीं ? प्रथम पक्ष कहो तो पुन: प्रश्न होता है कि उस संयोग के उत्पत्ति में आश्रय भी उत्पन्न होता है कि नहीं ? उत्पन्न होता है तो परमाणुओं के भी कार्यपना सिद्ध होता है ? [क्योंकि वे भी उत्पत्तिमान कहलाने लगे, जो उत्पन्न होता है वह कार्यरूप होगा और कार्यरूप है तो उनमें अनित्यत्व सहज सिद्ध हो जाता है] दूसरा विकल्प कहो कि संयोग के उत्पत्ति होने पर भी परमाणुभूत आश्रय उत्पन्न नही होते हैं तो उनके आश्रित संयोग रह नही सकता । समवाय से परमाणुओं में संयोग आश्रित रहना भी अशक्य है, क्योंकि समवाय का प्रतिषेध कर चुके हैं और आगे भी विस्तारपूर्वक प्रतिषेध होने वाला है, कार्यकारण भाव से संयोग उन परमाणुओं के आश्रित रहना भी इसलिए शक्य नहीं कि परमाणु उस संयोग के प्रति अकारक है । परमाणुओं में अकारकपना इसलिए बताया कि वे अतिशय रहित अनतिशय स्वभाव वाले हैं । जो अनतिशयरूप हैं वे भी यदि कार्यों के जनक हो सकते हैं तो अविशेषता होने से

अतिशयान्तरकल्पने च अनवस्था-तदुत्पत्तावप्यपरातिशयान्तरपरिकल्पनात् । ततस्तेषामसंयोगरूपता-परित्यागेन संयोगरूपतया परिणतिरभ्युपगन्तव्या इति सिद्धं तेषां कथञ्चिदनित्यत्वम् । अन्याश्रितत्वेपि पूर्वोक्तदोषप्रसंगः । अनाश्रितत्वे तु निर्हेतुकोत्पत्तिप्रसक्तेः सदा सत्त्वप्रसङ्गतः कार्यस्यापि सर्वदा भावानुषङ्गः । कथं चासौ गुणः स्यादनाश्रितत्वादाकाशादिवत् ?

किञ्च, असौ संयोगः सर्वात्मना, एकदेशेन वा तेषां स्यात् ? सर्वात्मना चेत्; पिण्डोणुमात्रः स्यात् । एकदेशेन चेत्; सांशत्वप्रसंगोऽमीषाम् । तदेवं संयोगस्य विचार्यमाणस्यायोगात्कथमसौ तेषामतिशयः स्यात् ? निरतिशयानां च कार्यजनकत्वे तु सकृन्निखिलकार्याणामुत्पादः स्यात् । न

हमेशा कार्योत्पत्ति होने लगेगी यदि परमाणुओं के संयोग होने रूप अतिशय या कारण के लिये अन्य अतिशय की आवश्यकता है तब तो अनवस्था स्पष्ट दिखायी दे रही, क्योंकि उस अतिशयान्तर के लिए अन्य अतिशय चाहिए, इत्यादि । इस तरह परमाणुओं का संयोग रूप अतिशय या उस संयोग का आश्रय ये सिद्ध नहीं होते हैं अतः असंयोग-रूप जो परमाणुओं की अवस्था थी उसका परित्याग करके संयोगरूप परिणति होती है ऐसा मानना चाहिए, इसप्रकार परमाणु कथंचित् अनित्य है यह सिद्ध हो जाता है । द्वि अणुक आदि का निष्पादक संयोग परमाणु से अन्य किसी वस्तु के आश्रित है ऐसा कहो तो वही पूर्वोक्त दोष [समवाय के आश्रित है इत्यादि] आता है । इस संयोग को अनाश्रित माने तो निर्हेतुक उत्पत्ति होने से संयोग सदा विद्यमान रहेगा, और जब संयोग सतत् है तो कार्य भी सतत् बिना रुकावट के होता रहेगा ! यह बात भी विचारणीय रह जायगी कि संयोग को आपने गुण माना है वह अनाश्रित कैसे रह सकता है जो अनाश्रित है वह गुण नहीं होता, जैसे आकाशादि अनाश्रित होने से गुण नहीं है ।

परमाणुओं का संयोग द्वि अणुक आदि का निष्पादक है ऐसा मान भी लेवे तो पुनः शंका होती है कि यह संयोग सर्वात्मना होता है अथवा एक देश से होता है ? सर्वात्मना [सब देश से] होगा तो दोनों परमाणुओं का पिण्ड भी परमाणु मात्र रह जायगा । तथा एक देश से संयोग होना बताओ तो उन परमाणुओं में सांशत्व सिद्ध होता है । इस प्रकार संयोग के विषय में विचार करे तो वह सिद्ध नहीं होता, फिर किस प्रकार वह परमाणुओं का अतिशय [या कारण] कहलायेगा ? यदि बिना अतिशय हुए परमाणु कार्यों के निष्पादक माने जाते हैं तो एक बार में ही सारे कि

चैवम् । ततोमीषां प्राक्तनाजनकस्वभावपरित्यागेन विशिष्टसंयोगपरिणामपरिणतानां जनकस्वभाव-सम्भवात्सिद्धं कथञ्चिदनित्यत्वम् । प्रयोग:-ये क्रमवत्कार्यहेतवस्तेऽनित्या यथा क्रमवदंकुरादिनिर्वर्तका बीजादयः, तथा च परमाणव इति ।

ततोऽयुक्तमुक्तम्-'नित्या: परमाणव: सदकारणवत्त्वादाकाशवत् । न चेदमसिद्धमावयो: परमाणुसत्त्वेऽविवादात् । अकारणवत्त्वं चातोऽल्पपरिमाणकारणाभावात्तेषां सिद्धम् । कारणं हि कार्या-दल्पपरिमाणोपेतमेव; तथाहि-द्वयणुकाद्यवयविद्रव्य स्वपरिमाणादल्पपरिमाणोपेतकारणारब्ध कार्यत्वात्पटवत्,' इति; अकारणवत्त्वाऽसिद्धि: (द्धे:); परमाणवो हि स्कन्धावयविद्रव्यविनाश-

---

सारे कार्य निष्पन्न हो जायेंगे । किन्तु ऐसा देखा नही जाता, अतः मानना पड़ता है कि इन परमाणुओं में पहले का अजनक स्वभाव का त्याग होता है और विशिष्ट संयोग परिणाम से वे परिणत होते हैं, यह विशिष्ट अवस्था ही जनक स्वभाव की द्योतक है, इस तरह स्वभाव परिवर्तन से परमाणु कथंचित् अनित्य सिद्ध होते हैं, अनुमान प्रयोग भी सुनिये—जो पदार्थ क्रम से कार्य के हेतु बनते हैं वे अनित्य होते हैं, जैसे क्रम से अंकुर आदि का निष्पादन करने वाले बीज आदि पदार्थ अनित्य होते है, परमाणु भी क्रमिक कार्यों के निष्पादक है अत: अनित्य हैं ।

जब परमाणुओं में अनित्यपना सिद्ध हुआ तब आपका अनुमान वाक्य गलत ठहरता है कि "नित्याः परमाणवः सदकारणवत्त्वादाकाशवत्" परमाणु नित्य हैं, क्योंकि सत होकर अकारणभूत हैं, जैसे कि आकाश है, इत्यादि । परमाणु सत्तारूप हैं इस विषय में तो आप वैशेषिक और हम जैन का कोई विवाद है नही, किन्तु दूसरा विषय जो अकारणत्व है वह हमें मान्य नहीं, अब परमाणु के अकारणत्व पर विचार किया जाता है, कार्य से कारण अल्प परिमाण वाला हुआ करता है और परमाणु से अल्प कोई है नहीं अत: परमाणु अकारण हैं ऐसा आपका कहना है, कारण सदा अल्प परिमाण युक्त ही होता है जैसे कि द्वयणुक आदि अवयवी कार्यभूत द्रव्य अपने परिमाण अर्थात् माप से अल्प माप वाले कारण से बना है, क्योंकि इसमें कार्यपना है, जो जो कार्य होगा वह वह अल्प परिमाण वाले कारण से ही निर्मित होगा जैसे अल्प परिमाण वाले तन्तुओ से पट बना है । इस तरह आप वैशेषिकका सिद्धांत है, किन्तु परमाणुओं में अकारणत्व तो असिद्ध है, अनुमान से सिद्ध होता है कि जो परमाणु रूप द्रव्य है वे स्कन्धरूप अवयवी द्रव्य के विनाश के कारण हैं क्योंकि स्कन्ध के विनाश होने पर ही

कारणकाः तद्भावभावित्वाद् घटविनाशपूर्वककपालवत्। न चेदमसिद्धं साधनम्; द्वयणुकाद्यवयविद्रव्यविनाशे सत्येव परमाणुसद्भावप्रतीतेः। सर्वदा स्वतन्त्रपरमाणूनां तद्विनाशमन्तरेणाप्यत्र सम्भवाद् भागासिद्धो हेतुः; इत्यप्यसुन्दरम्; तेषामसिद्धेः। तथाहि-विवादापन्नाः परमाणवः स्कन्धभेदपूर्वका एव तत्त्वाद् द्वयणुकादिभेदपूर्वकपरमाणुवत्।

ननु पटोत्तरकालभावितन्तूनां पटभेदपूर्वकत्वेपि पटपूर्वकालभाविनां तेषामतत्पूर्वकत्ववत् परमाणूनामप्यस्कन्धभेदपूर्वकत्वं केषाञ्चित्स्यात्; इत्यप्यनुपपन्नम्; तेषामपिप्रवेणीभेदपूर्वकत्वेन

होते हुए देखे जाते हैं, जैसे कि घट के विनाशपूर्वक कपाल की उत्पत्ति देखी जाने से कपाल का कारण घट विनाश माना जाता है, यह तद्भाव भावित्व [स्कन्ध के नाश होने पर होना रूप] हेतु असिद्ध नही है, क्योंकि द्वयणुक आदि अवयवी द्रव्य का विनाश होने पर ही परमाणु का सद्भाव देखने में आता है।

वैशेषिक—जो परमाणु सर्वदा स्वतन्त्र हैं अर्थात् अभी तक अवयवी द्रव्यरूप नहीं बने हैं ऐसे परमाणु तो अवयवी द्रव्य का नाश होकर उत्पन्न नहीं हुए ? अतः परमाणु सकारण ही हैं–स्कन्ध का विघटन या नाश होकर ही उत्पन्न होते हैं ऐसा हेतु देना भागासिद्ध होता है। जो हेतु पक्ष के एक देश में रहे वह भागासिद्ध नामा सदोष हेतु कहलाता है, यहां भी कोई परमाणु स्कन्ध विनाशरूप कारण से हुए और कोई बिना कारण के स्वतः सदा से ही परमाणु स्वरूप है अतः स्कन्ध नाश पूर्वक ही परमाणु होते हैं ऐसा कहना गलत ठहरता है ?

जैन—यह कथन असत् है, आप जिस तरह बता रहे वह सिद्ध नहीं होता, इसी का खुलासा करते हैं—विवाद में आये हुए परमाणु नामा पदार्थ सब स्कन्ध का भेद होकर या नाश करके ही हुए हैं, क्योंकि स्कन्ध के भेद होने पर ही उनकी प्रतीति होती है, जैसे द्वयणुक आदि स्कन्ध द्रव्य के भेद पूर्वक होने वाले परमाणु।

वैशेषिक—पट बनने के बाद जो तन्तु पट से निकाले जाते हैं वे तो पट के भेद से उत्पन्न हुए कहलायेंगे, किन्तु पट बनने के पहले जो तन्तु थे वे तो पट के भेद पूर्वक नहीं हुए हैं, बिलकुल इसी प्रकार से कोई कोई परमाणु स्कन्ध के भेद बिना हुआ करते हैं ?

प्रतीतिसिद्धा स्कन्धभेदपूर्वकत्वसिद्धेः । बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गराद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्तेः अवयवविभागात्संयोगविनाशाद्विनाशोऽर्थानाम्' इत्यादि विनाशोत्पादप्रक्रियोद्घोषणं तु प्रागेव कृतोत्तरम् । ततो नित्यैकत्वस्वभावाणूनां जनकत्वासम्भवात्तदारब्धं तु द्वयणुकाद्यवयविद्रव्यमनित्यमित्यप्ययुक्तमुक्तम् ।

।। परमाणुरूपनित्यद्रव्यविचारः समाप्तः ।।

जैन—यह बात भी ठीक नही, तन्तुओं का उदाहरण दिया सो जो तन्तु पट बनने के पहले के हैं वे भी प्रवेणीरूप स्कन्ध का भेद करके उत्पन्न हुए हैं, अतः "स्कन्ध भेद पूर्वकत्वात्" हेतु अबाधित ही हैं, आप वैशेषिक पदार्थ के उत्पाद और विनाश के विषय में कथन करते है कि बलवान पुरुष द्वारा प्रेरित मुद्गर आदि के चोट से अवयवो में क्रिया उत्पन्न होती है, उससे अवयवों का विभाग [विभाजन] होता है, उससे संयोग का नाश होता है और घट रूप अवयवी नष्ट होता है इत्यादि नाशोत्पाद की प्रक्रिया बकवास मात्र है, और इसका खण्डन पहले हो भी चुका है, अतः निश्चित होता है कि नित्य एक स्वभाव वाले परमाणु माने तो कार्यों का जनकपना होना असंभव है, जब परमाणु ही सिद्ध नही होते तो उन परमाणुओं से प्रारब्ध द्वयणुक आदि अवयवी द्रव्य का अनित्यपना भो कैसे सिद्ध हो ? नही हो सकता, इस तरह परमाणुरूप कारणद्रव्य और अवयवीरूप कार्य द्रव्य दोनो के विषय में वैशेषिक का सिद्धांत बाधित हो जाता है । इस प्रकार परमाणु सर्वथा नित्य एक स्वभाववाले हैं, उनकी पृथिवी आदि की जातियां सर्वथा पृथक् पृथक् हैं इत्यादि कहना असत् ठहरता है ।

।। परमाणुरूपनित्यद्रव्यविचार समाप्त ।।

नित्य परमाणु द्रव्य खंडन का सारांश

योग के यहां परमाणुओं को नित्य माना है उनका कहना है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इनके परमाणु नित्य हैं अर्थात् जिनसे ये पृथ्वी आदि स्कन्ध रूप कार्य बना है वे नित्य हैं हां जब पृथ्वी आदि स्कन्ध बिखेरकर वापिस अणु बनते हैं वे तो अनित्य हैं। आचार्य का कहना है कि सर्वथा अणु नित्य है तो उसके द्वारा स्कन्धादि अवयवी की उत्पत्ति हो नहीं सकती नित्य एक में अर्थ क्रिया नहीं बनती, यदि वे परमाणु कार्य को करते हैं तो एक बार में ही सब कार्य कर डालेंगे या तो बिल्कुल करेंगे ही नही, क्योंकि इनमें स्वभाव परिवर्तन तो होता नहीं यदि होता है तो वे परमाणु अनित्य बन जायेंगे जो योग को इष्ट नहीं। आपका कहना है कि कारण तीन तरह के होते हैं समवायी कारण, असमवायी कारण, निमित्त कारण तीनों का संयोग सतत् नहीं मिलता अतः परमाणु सतत् कार्य को नही कर पाते हैं इत्यादि वह भी कथन गलत है।

परमाणु का संयोग यदि अनित्य है तो वह भी किस कारण से होगा ? इत्यादि अनेक प्रश्न होते हैं, यह संयोग गुण है और गुण किसी ना किसी के आश्रय में रहता है अतः वह परमाणु में रहेगा तो परमाणु भी अनित्य बन जायेंगे, तथा परमाणु के साथ जब दूसरे परमाणु मिलते हैं तब एकदेश से मिलते हैं या सर्वदेश से ? सर्व देश से मिलेंगे तो सब मिलकर अणुमात्र हो जायेंगे और एक देश से कहो तो परमाणु को सांश मानना पड़ेगा, इन सब दोषों को दूर करने के लिये परमाणु द्रव्य को अनित्य मानना चाहिए, वे परमाणु स्कन्ध के भेद पूर्वक ही उत्पन्न होते हैं कहा भी है—

"भेदादणुः"

॥ सारांश समाप्त ॥

८

अवयविस्वरूपविचारः

तन्त्वाद्यवयवेभ्यो भिन्नस्य च पटाद्यवयविद्रव्यस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भेनासत्त्वात्। न चास्योपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वमसिद्धम्; "महत्यनेकद्रव्यत्वाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः" [वैशे० सू० ४।१।६] इत्यभ्युपगमात्। न च समानदेशत्वादवयविनोऽवयवेभ्यो भेदेनानुपलब्धिः; वातातपादिभी

वैशेषिक के नित्य परमाणुवाद का निरसन कर अब जैनाचार्य अवयवी द्रव्य के विषय में वैशेषिक के विपरीत मान्यता का खण्डन करते हैं—वैशेषिक तन्तु आदि अवयवों से पट आदि अवयवी को सर्वथा पृथक् मानते हैं किन्तु उनसे भिन्न अवयवी उपलब्ध होने योग्य होकर भी उपलब्ध नहीं होता है अतः ऐसे लक्षण वाले अवयवी का असत्व ही ठहरता है। अवयवी पटादि द्रव्य उपलब्धि होने योग्य नहीं हो सो तो बात है नहीं, "महत्यनेक द्रव्यत्वाद् रूप विशेषात् च रूपोपलब्धिः" अर्थात् जो महान् अनेक द्रव्यरूप हो, तथा जिसमें रूप विशेष हो, उसमें रूप की उपलब्धि होती है। ऐसा आपके यहां कहा है। अवयव और अवयवी के समान देश होते हैं अतः इनमें भेद

रूपरसादिभिश्चानेकान्तात्, तेषां समानदेशत्वेपि भेदेनोपलम्भसम्भवात् ।

किञ्च, अवयवावयविनोः शास्त्रीयदेशापेक्षया समानदेशत्वम्, लौकिकदेशापेक्षया वा ? प्रथमपक्षेऽसिद्धो हेतुः; पटावयविनो ह्यन्ये एवारम्भकास्तन्त्वादयो देशास्तेषां चान्ये भवद्भिरभ्युपगम्यन्ते । द्वितीयपक्षेप्यनेकान्तः; लोके हि समानदेशत्वमेकभाजनवृत्तिलक्षणं भेदेनार्थानामुपलम्भेप्युपलब्धम्, यथा कुण्डे बदरादीनाम् ।

होते हुए भी भेद दिखायी नहीं देता ऐसा वैशेषिक का कहा हुआ हेतु भी वायु और आतप आदि अथवा रूप और रस आदि के साथ व्यभिचरित होता है क्योंकि वायु और आतप आदि पदार्थों के समान देश होते हुए भी इनका भिन्न भिन्न रूप से ग्रहण होता है, इसलिये यह कहना गलत ठहरता है कि एक ही जगह अवयव अवयवी रहते हैं अतः भिन्नता मालूम नहीं पड़ती, इत्यादि ।

अवयव अवयवी में समान देशपना है ऐसा आपका कहना है सो वह समान देशपना कौनसा इष्ट है, शास्त्रीय देश की अपेक्षा से समानता है या लौकिक देश की अपेक्षा से समानता है ? प्रथम पक्ष कहो तो हेतु असिद्ध ठहरेगा कैसे सो बताते हैं—पट रूप अवयवी से अन्य ही उसको उत्पन्न करने वाले तन्तु आदि के देश है, अर्थात् पट अवयवी का देश अलग है और तन्तु आदि अवयवों का देश अलग है ऐसा आप स्वयंने माना है । अतः अवयवी और अवयवों के देश समान होते हैं ऐसा कहना आपके लिए असम्भव है । दूसरा पक्ष—लौकिक देशकी अपेक्षा से अवयवी और अवयवों के देश समान है ऐसा कहो तो अनेकान्तिकता होगी, क्योंकि लोक में एक भाजनमें रहना आदि रूप समान देशता मानी है और ऐसी समानदेशता होते हुए भी उन पदार्थों का भेदरूप से उपलब्धि होना स्वीकार किया गया है, जैसेकि कुण्ड में [वर्त्तन विशेष] बेर हैं सो लोक में कुण्ड और बेरको एक स्थान पर मानते हैं, किन्तु समान देशता होते हुए भी इनका भिन्न भिन्न प्रतिभास होता है अतः यह कहना गलत ठहरता है कि जिनमें समान देशता होती हैं वे पदार्थ भिन्न भिन्न प्रतिभासित नहीं होते हैं ।

विशेषार्थ—अवयवों से अवयवी सर्वथा पृथक् रहता है या अवयवी से अवयव सर्वथा पृथक् रहते हैं ऐसा वैशेषिक का दुराग्रह है तब आचार्य पूछते हैं कि अवयवी से अवयव सर्वथा पृथक् है तो उन दोनों का पृथक् पृथक् प्रतिभास होना चाहिए, तथा

किञ्च, कतिपयावयवप्रतिभासे सत्यऽवयविनः प्रतिभासः, निखिलावयवप्रतिभासे वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; जलनिमग्नमहाकायगजादेरुपरितनकतिपयावयवप्रतिभासेप्यखिलावयवव्यापिनो गजाद्यवयविनोऽप्रतिभासनात्। नापि द्वितीयविकल्पो युक्तः; मध्यपरभागवर्त्तिसकलावयवप्रतिभासासम्भवेनावयविनोऽप्रतिभासप्रसंगात्। भूयोऽवयवग्रहणे सत्यवयविनो ग्रहणमित्यप्ययुक्तम्; यतोऽर्वाग्-

---

इनकी पृथक् पृथक् उपलब्धि होनी चाहिए सो क्यों नहीं होती ? इस पर उन्होंने कह दिया कि समान देशताके कारण दोनों पृथक् पृथक् दिखायी नहीं देते अथवा उपलब्ध नहीं होते। तब उन्हें समझाया कि समानदेशता होने मात्र से पृथक् प्रतिभास न हो सो बात नहीं है, वायु और सूर्य का घाम, रूप और रस इत्यादि पदार्थ समान देश में व्यवस्थित होकर भी पृथक् पृथक् प्रतिभासित होते हैं तथा समान देशता भी दो तरह की है, शास्त्रीय समानदेशता और लौकिक समान-समानदेशता। शास्त्रीय समानदेशता तो यही अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि में हुआ करती है, किन्तु वैशेषिक इनमें समानदेशता बतला नहीं सकता क्योंकि इनके मत में पट आदि अवयवी का देश और तन्तु आदि अवयवों के देश भिन्न भिन्न माने हैं। लौकिक समानदेशता आधार आधेय आदि रूप कुण्ड में बेर हैं इत्यादि रूप हुआ करती है, सो ऐसी समानदेशता होने से कोई अभिन्न प्रतिभास होता नहीं, अर्थात् समानदेश होने से अवयव-अवयवी पृथक् पृथक् प्रतीत नही होते ऐसा कहना साक्षात् ही बाधित है—कुण्ड और बेर समानदेश में होकर भी भिन्न भिन्न प्रतीत हो रहे अतः समान देशता के कारण अवयवी और अवयवों का पृथक् पृथक् प्रतिभास नहीं होता ऐसा परवादी का मतंव्य निराकृत हो जाता है। वास्तविक बात तो यही है कि अवयव और अवयवी परस्पर में कथंचित् भिन्न हैं और कथंचित् अभिन्न हैं।

यह भी एक प्रश्न है कि कुछ कुछ अवयवों के प्रतिभासित होने पर अवयवी प्रतीत होता है या संपूर्ण अवयवों के प्रतीत होने पर प्रतीत होता है ? प्रथम विकल्प अयुक्त है। कैसे सो बताते हैं कुछ ही अवयवों के देखने से अवयवी दिखायी देता तो जल में डूबा हुआ बड़ा हाथी है, उसके ऊपर के कुछ कुछ अवयव प्रतिभासित होते हैं किन्तु संपूर्ण अवयवों में व्याप्त ऐसा हाथी स्वरूप अवयवी तो प्रतीत नहीं होता। दूसरा विकल्प— संपूर्ण अवयवों के प्रतीत हो जाने पर अवयवी का प्रतिभास होता है ऐसा माने तो भी ठीक नहीं, किसी भी अवयवी के संपूर्ण अवयव प्रतीत हो ही नहीं सकते,

भागभाव्यवयवग्राहिणा प्रत्यक्षेण परभागभाव्यवयवाग्रहणान्न तेन तद्व्याप्तिरवयविनो ग्रहीतुं शक्या, व्याप्याग्रहणे तद्व्यापकस्यापि ग्रहीतुमशक्तेः। प्रयोगः—यद्येन रूपेण प्रतिभासते तत्तथैव तद्व्यवहार-विषयः यथा नीलं नीलरूपतया प्रतिभासमानं तद्रूपतयैव तद्व्यवहारविषयः, अर्वाग्भागभाव्यवयव-सम्बन्धितया प्रतिभासते चावयवीति। न च परभागभाविव्यवहितावयवाप्रतिभासनेप्यव्यवहितोऽवयवी प्रतिभातीत्यभिधातव्यम्; तदप्रतिभासने तद्गतत्वेनास्याऽप्रतिभासनात्। तथाहि–यस्मिन्प्रतिभासमाने यद्रूपं न प्रतिभाति तत्ततो भिन्नम् यथा घटे प्रतिभासमानेऽप्रतिभासमानं पटस्वरूपम्, न प्रतिभासते

मध्य के पिछले भाग के बहुत से अवयव प्रतिभासित होते ही नहीं। जब सारे अवयव प्रतीत नहीं होते तो आपकी दृष्टि से अवयवी प्रतीत होगा ही नहीं।

वैशेषिक—बहुत से अवयव ग्रहण हो जाने पर अथवा बार बार अवयवों को ग्रहण करने पर अवयवी प्रतिभासित होता है, ऐसा हम मानते है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, अवयवी के इस तरफ के भाग के अवयव को ग्रहण करने वाला जो प्रत्यक्ष ज्ञान है उसके द्वारा परले तरफ के भाग के अवयव ग्रहण होते नहीं, अतः उन अवयवों से व्याप्त जो अवयवी है, उसका ग्रहण होना अशक्य है, व्याप्य के ग्रहण किये बिना उसके व्यापक का ग्रहण होना असम्भव है। अनुमान से यही सिद्ध होगा कि जो जिस रूप से प्रतीत होता है वह उसी रूप से व्यवहार का विषय हुआ करता है, जैसे नील पदार्थ नीलरूप से प्रतीत होता है तो नीलरूप ही व्यवहार में आता है, अवयवी आदि के बारे में भी यही बात है, इस तरफ के भाग के अवयवों के सम्बन्धरूपसे मात्र अवयवी प्रतीत होता है [परले भाग में स्थित अवयवों के सम्बन्धरूप से तो प्रतीत होता नहीं] अतः उसको उसी रूप से व्यवहार का विषय मानना चाहिए ?

वैशेषिक—परभाग में होने वाले व्यवहित अवयव यद्यपि प्रतीत नहीं होते किन्तु उनसे अव्यवहित ऐसा अवयवी तो प्रतीत होता ही है ?

जैन—ऐसा नहीं कहना, जब परले भाग में स्थित अवयव प्रतीत नहीं हो रहे हैं तब उसमें रहने वाला अवयवी कैसे प्रतीत होगा ? नहीं हो सकता। अनुमान प्रयोग—जिसके प्रतीत होने पर जो रूप प्रतीत नहीं होता वह उससे भिन्न है, जैसे घट के प्रतीत होने पर पटका रूप प्रतीत नहीं होता अतः वह उससे भिन्न माना जाता

चार्वाग्भागभाव्यवयवसम्बन्ध्यवयविस्वरूपे प्रतिभासमाने परभागभाव्यवयवसम्बन्ध्यवयविस्वरूपम्, इति कथं निरंशैकावयविसिद्धिः ? अर्वाग्भागपरभागभाव्यवयवसम्बन्धित्वलक्षणविरुद्धधर्माध्यासेप्यभेदे सर्वत्र भेदोपरतिप्रसङ्गः, अन्यस्य भेदनिबन्धनस्यासम्भवात् । प्रतिभासभेदो भेदनिबन्धनमित्यप्ययुक्तम्; विरुद्धधर्माध्यासं भेदकमन्तरेण प्रतिभासस्यापि भेदकत्वासम्भवात् ।

नापि परभागभाव्यवयवावयविग्राहिणा प्रत्यक्षेणार्वाग्भागभाव्यवयवसम्बन्धित्वं तस्य ग्रहीतुं शक्यम्; उक्तदोषानुषंगात् । नापि स्मरणेनार्वाक्परभागभाव्यवयवसम्बन्ध्यवयविस्वरूपग्रहः; प्रत्यक्षा-

---

है, इस तरफ के भाग के अवयव सम्बन्धी अवयवी का स्वरूप प्रतीत होने पर भी परले भाग के अवयव सम्बन्धी अवयवी का स्वरूप प्रतीत होता नही, अतः वह उससे भिन्न होना चाहिए । इस तरह अवयवी में भी भेद सिद्ध होता है, फिर अवयवी एक निरंश ही है, ऐसा कहना किस प्रकार सिद्ध होगा ? अर्थात् नहीं होगा । परला भाग और इस तरफ का भाग दोनों भागों में होने वाले अवयव सम्बन्धी अवयवी में व्यवहित रहना और व्यवहित नहीं रहना रूप विरुद्ध दो धर्म होते हुए भी अभेद माना जाय तो अन्य घट पट आदि सब पदार्थो में भेद न मानकर अभेद ही मानना पड़ेगा । क्योंकि विरुद्ध धर्मत्व को छोड़कर अन्य कोई ऐसी चीज नही है कि जो पदार्थो में भेद को सिद्ध करे ।

शंका—प्रतिभास के भेद से पदार्थो में भेद सिद्ध होवेगा । अर्थात् जहां प्रतिभास भिन्न है वहां पदार्थ में भेद माना जाय ?

समाधान—ऐसी बात नहीं हो सकती, विरुद्ध धर्मपना वस्तु में हुए बिना प्रतिभास का भेद-भिन्न-भिन्न प्रतिभास का होना भी असिद्ध कोटी में जाता है ।

परभाग में होने वाले अवयव और अवयवी इन दोनों को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष द्वारा उस अवयवो के इस तरफ के भाग के अवयवों का सम्बन्धीपना ग्रहण होना भी अशक्य है, ऐसा मानने मे वही व्याप्य के ग्रहण हुए बिना व्यापक का ग्रहण हो नहीं सकने रूप पूर्वोक्त दोष आता है ।

शंका—इधरके भाग के अवयव और उस तरफ के भाग के अवयव इन दोनों सम्बन्धी जो अवयवी का स्वरूप है वह स्मरण द्वारा ग्रहण हो जायगा ।

नुसारेणास्य प्रवृत्तेः, प्रत्यक्षस्य च तद्ग्राहकत्वप्रतिषेधात् । नाप्यात्मा अर्वाक्परभागावयवव्यापित्व-मवयविनो ग्रहीतुं समर्थः; जडतया तस्य तद्ग्राहकत्वानुपपत्तेः, अन्यथा स्वापमदमूर्च्छाद्यवस्थास्वपि तद्ग्राहित्वानुषंगः । प्रत्यक्षादिसहायस्याप्यात्मनोवयविस्वरूपग्राहित्वायोगः; अवयविनो निखिलावय-वव्याप्तिग्राहित्वेनाध्यक्षादेः प्रतिषेधात् ।

ननु चार्वाग्भागदर्शने सत्युत्तरकालं परभागदर्शनानन्तरस्मरणसहकारीन्द्रियजनितं 'स एवायम्' इति प्रत्यभिज्ञाज्ञानमध्यक्षमवयविनः पूर्वापरावयवव्याप्तिग्राहकम्; तदप्यसाम्प्रतम्; प्रत्यभिज्ञाज्ञानेऽ-

---

समाधान—ऐसा कहना भी शक्य नहीं, प्रत्यक्ष के अनुसार ही स्मरणज्ञान प्रवृत्त हुआ करता है, अर्थात् प्रत्यक्षज्ञानगम्य वस्तु में स्मरण आता है ऐसा नियम है और पर भाग के अवयव एवं तद सम्बन्धी अवयवो का प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण होना निषिद्ध हो चुका है ।

शंका—अर्वाक् भाग और परभाग के अवयवों में अवयवी का व्यापकपना तो आत्मा द्वारा ग्रहण हो जायेगा ?

समाधान—यह भी असंभव है, आप वैशेषिक आत्मा को जड़ मानते हैं सो वह ग्राहक कैसे बने ? [वैशेषिक आदि परवादी आत्मा में स्वयं चैतन्य नहीं मानते चैतन्य के समवाय से चैतन्य मानते हैं, अतः उनके यहां आत्मा जड़ जैसा ही पदार्थ सिद्ध होता है] तथा आत्मा को अवयवी आदि पदार्थ का ग्राहक माना जाय तो, निद्रित अवस्था में, मदोन्मत्त अवस्था में, मूर्च्छादि अवस्था में भी आत्मा उन पदार्थों का ग्राहक बनने लगेगा ?

शंका—आत्मा स्वयं तो पदार्थों का ग्राहक नहीं हो सकता किन्तु प्रत्यक्ष आदि ज्ञानकी सहायता लेकर उस अवयवी आदिको जानता है ।

समाधान—ऐसा होना भी असम्भव है, क्योंकि अवयवी संपूर्ण अवयवों में व्याप्त है, उन सम्पूर्ण अवयवों को ग्रहण करने वाला कोई प्रत्यक्षादि ज्ञान नहीं है, फिर आत्मा भी उनकी सहायता से उन अवयवी आदि को कैसे जान सकता है, नहीं जान सकता ।

वैशेषिक—पहले तो इस तरफ के भाग का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, फिर उत्तरकाल में उधर के भाग का दर्शन–प्रत्यक्ष ज्ञान होता है सो इसमें पूर्वका देखा

यक्षरूपत्वस्यैवासिद्धेः। अक्षाश्रितं विशदस्वभावं हि प्रत्यक्षम्, न चास्यैतल्लक्षणमस्तीति। अक्षाश्रितत्वे चास्याखिलावयवव्याप्यवयविस्वरूपग्राहकत्वासम्भवः; अक्षाणां सकलावयवग्रहणे व्यापारासम्भवात्। न च स्मरणसहायस्याप्यिन्द्रियस्याविषये व्यापारः सम्भवति। यद्यस्याविषयो न तत्तत्र स्मरणसहायमपि प्रवर्त्तते यथा परिमलस्मरणसहायमपि लोचनं गन्धे, अविषयश्च व्यवहितोऽक्षाणां परभागभाव्यवयव-सम्बन्धित्वलक्षणोऽवयविनः स्वभाव इति।

न चानेकावयवव्यापित्वमेकस्वभावस्यावयविनो घटते; तथा हि-यन्निरंशैकस्वभावं द्रव्यं तन्न सकृदनेकद्रव्याश्रितम् यथा परमाणु, निरंशैकस्वभावं चावयविद्रव्यमिति। यद्वा, यदनेकं द्रव्यं तन्न

हुआ भाग स्मरण में रहने से उस स्मरण की सहायता से उत्पन्न हुआ इन्द्रिय ज्ञान प्रत्यभिज्ञान नामा ज्ञानको प्राप्त होता है, जिसमें "वही यह है" ऐसा प्रतिभास होता है, सो इस तरह के प्रत्यक्षज्ञान द्वारा अवयवी के पूर्वापर अवयवों का ग्रहण हो जाया करता है ?

जैन—यह कथन असत् है, प्रत्यभिज्ञानको प्रत्यक्षज्ञान मानना अभी तक सिद्ध नहीं हुआ है, इंद्रियों के आश्रित का जो ज्ञान विशद स्वभाव वाला होता है वह प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है, ऐसा विशदलक्षण प्रत्यभिज्ञान के नही है तथा इस प्रत्यभि-ज्ञानको इन्द्रियाश्रित मानेगे तो संपूर्ण अवयवों में व्यापक जो अवयवीका स्वरूप है उसे वह ग्रहण नहीं कर सकेगा। क्योंकि इन्द्रियां सपूर्ण अवयवों को ग्रहण करने में प्रवृत्त नहीं होती, इसका भी कारण यह है कि संपूर्ण अवयव इन्द्रियों के विषय नही हैं। स्मरण ज्ञानकी सहायता से इन्द्रियां उन अवयवोंरूप अविषय मे प्रवृत्त हो जायगो ऐसा कहना भी अशक्य है, क्योंकि जो जिसका अविषय है उसमें वह ज्ञान स्मरणकी सहायता लेकर भी प्रवृत्त नहीं हो सकता है, जैसे सुगन्ध के स्मरणज्ञान की सहायतायुक्त नेत्र भी गन्ध विषय में प्रवृत्त नहीं होते हैं। परभाग में होने वाले अवयवों सम्बन्धी अवयवी का व्यवहित स्वभाव इन्द्रियों का अविषय ही है [विषय नही है] अतः इन्द्रियां उसको जान नहीं सकती हैं।

आप वैशेषिक के यहां अवयवी का जो स्वरूप बताया है वह घटित नहीं होता है, आप अनेक अवयवों में व्यापक एक स्वभाव वाला अवयवी मानते हैं, अब इसीको बताते हैं—जो निरंश एक स्वभाव वाला द्रव्य होता है वह एक साथ अनेक द्रव्यों के आश्रित नहीं रह सकता, जैसे परमाणु निरंश एक द्रव्य है तो वह एक साथ

सकृन्निरंशैकद्रव्यान्वितम् यथा कुटकुड्यादि, अनेकद्रव्याश्च चावयवा इति ।

अस्तु वानेकत्रावयविनो वृत्तिः; तथाप्यस्यासौ सर्वात्मना, एकदेशेन वा स्यात् ? यदि सर्वात्मना प्रत्येकमवयवेष्ववयवी वर्तेत; तदा यावन्तोऽवयवास्तावन्त एवावयविनः स्युः, तथा चानेककुण्डादिव्यवस्थितबिल्वादिवदनेकावयव्युपलम्भानुषङ्गः ।

अथैकदेशेन; अत्राप्यस्यानेकत्र वृत्तिः किमेकावयवक्रोडीकृतेन स्वभावेन, स्वभावान्तरेण वा स्यात् ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; तस्य तेनैवावयवेन क्रोडीकृतत्वेनान्यत्र वृत्त्ययोगात् । प्रयोगः—यदेकक्रोडीकृतं वस्तुस्वरूपं न तदेवान्यत्र वर्त्तते यथैकभाजनक्रोडीकृतमाम्रादि न तदेव भाजनान्तरमध्यम-

---

अनेक द्रव्यों के आश्रित नहीं होता है, आपने अवयवी नामा द्रव्यको निरंश एक स्वभाव वाला माना है, अतः वह एक बार में अनेक द्रव्यों के आश्रित नही रह सकता । दूसरा अनुमान प्रमाण भी इसीको सिद्ध करता है जो अनेक द्रव्य स्वरूप होता है वह एक साथ निरश एक द्रव्य से युक्त नही हो पाता, जंसे घट, भित्ति आदि अनेक द्रव्य हैं अतः एक बार में एक निरंश द्रव्य से युक्त नही होते हैं, अवयव भी अनेक द्रव्यरूप हैं इसलिए निरंश एक द्रव्य से अन्वित नही हो सकते । दुर्जन संतोष न्याय से मान भी लेवे कि आपका इष्ट एक ही अवयवी अनेक में रह जाता है, किन्तु फिर यह बताना चाहिए कि यह अवयवी अवयवों मे सर्वदेश से रहेगा कि एक देशसे रहेगा ? सर्वदेश से रहना माने तो प्रत्येक अवयव अवयव में अवयवी चाहिए, सो जितने अवयव हैं उतने अवयवी बन जायेंगे । फिर तो जैसे अनेक कुण्डों में रखे हुए बेल, आम, अमरूद, बेर आदि अनेक पदार्थोंकी तरह अनेक अनेक अवयवी दिखायी देने लगेंगे ।

यदि दूसरा पक्ष माना जाय कि अवयवों में अवयवी एक देश से रहता है तो इस पक्ष में अनेक प्रश्न खड़े होते हैं, अवयवों में अवयवी एकदेश से वर्त्त रहा है सो एक अवयव को अपने में लेकर रहना रूप स्वभाव से रहेगा, या अन्य कोई स्वभाव से रहेगा ? प्रथम बात ठीक नहीं क्योंकि अवयवी एक ही अवयव को अपने में समाये रखेगा तो वह अन्य अन्य अवयवों में रह नहीं सकेगा । अनुमान से यही बात सिद्ध होगी—जो वस्तु स्वरूप एक को समाये रखता है वही वस्तु स्वरूप अन्य जगह नहीं रह सकता, जैसे एक बर्त्तन में समाये हुए आम, जामून पदार्थ हैं वे ही अन्य अन्य बर्त्तनों में रह नहीं सकते हैं, इसी तरह का वैशेषिक द्वारा मान्य एक अवयव को समाये रखने वाला अवयवी का स्वरूप है, अतः वह अन्य अवयवों में नहीं रह सकता । यदि रहेगा तो

ध्यास्ते, एकावयवक्रोडीकृतं चावयविस्वरूपमिति । वृत्तौ वान्यत्र प्रत्रावयवे वृत्त्यनुपपत्तिरपरस्वभावा-भावात् । एकावयवसम्बद्धस्वभावस्याऽतद्देशावयवान्तरसम्बन्धाभ्युपगमे च तदवयवानामेकदेशतापत्तिः, एकदेशतायां चैकात्म्यमविभक्तरूपत्वात् । विभक्तरूपावस्थितौ चैकदेशत्वं न स्यात् । अथ स्वभावान्त-रेणासावयवान्तरे वर्त्तते; तदास्य निरंशताव्याघातः, कथञ्चिदनेकत्वप्रसङ्गश्च, स्वभावभेदात्मकत्वा-द्वस्तुभेदस्य । ते च स्वभावा यद्यतोऽर्थान्तरभूताः; तदा तेष्वप्यसौ स्वभावान्तरेण वर्ततेत्यनवस्था । अथानर्थान्तरभूताः; तर्ह्यवयवैः किमपराद्धं येनैते तथा नेष्यन्ते ? तदिष्टौ वावयविनोऽनेकत्वमनित्यत्वं च स्वशिरस्ताडं पूत्कुर्वतोप्यायातम् ।

इस पहले अवयव में नहीं रह सकेगा, क्योंकि अवयवी में एक से अधिक स्वभाव नहीं है तथा केवल एक अवयव में सम्बद्ध हुआ अवयवी अन्य देश में नहीं रह कर ही अवयवांतरों से सम्बन्ध करता है ऐसा मानते हैं तो वे सारे ही अवयव एक देशरूप बन जायेंगे, और एक देशरूप बनने पर अविभाज्य होने से एक स्वरूप एकमेक कहलायेंगे । कोई कहे कि अवयव तो विभाज्य–विभक्त होने योग्य ही हुआ करते है तो फिर उनमें एकदेशपना नहीं हो सकेगा । यदि दूसरा पक्ष कहा जाय कि अवयवी भिन्न भिन्न स्वभाव से अन्य अवयवों में रहता है तो यह अवयवी निरंश नहीं रहा, सांश हो गया । तथा कथंचित् अनेक भी बन गया । क्योंकि जहां स्वभावों में भेद है वहां वस्तुभेद होता है । अब यह देखना है कि वे भिन्न भिन्न स्वभाव अवयवी से अर्थान्तरभूत-पृथक् हैं क्या ? यदि हां तो उन भिन्न स्वभावों में अवयवी स्वभावान्तर से रहेगा सो अनवस्था आती है, तथा वे भिन्न भिन्न स्वभाव अवयवी से अनर्थान्तर-अपृथक् हैं तो अवयवों ने क्या अपराध किया है कि जिससे उन्हें अवयवो से अनर्थान्तरभूत [अपृथक्भूत] रहना नहीं मानते ? अर्थात् जैसे अवयवी स्वभावान्तरों में अपृथक्पनेसे रहता है वैसे अवयव भी उसमें अभिन्न या अपृथक्पने से रहेंगे और इस तरह एक अवयवी में अनेक अवयव अभिन्नपने से रहते हैं तो अवयवी अनेक स्वभाव वाला तथा अनित्य स्वभाव वाला [कथंचित्] सिद्ध होता ही है । अर्थात् वैशेषिक यदि अवयवी को अवयवों में अभिन्नपने से रहना स्वीकार करते हैं तो उनके मत में भी जैन के समान अवयवी के अनेकपना एवं अनित्यपना सिद्ध होता है, फिर चाहे वैशेषिक अपना शिर ताड़ित कर करके रुदन करें, तो भी अवयवी का अनेकत्व और अनित्यपना रुक नहीं सकता, वह तो अनेक स्वभाव वाला और अनित्य स्वभाव वाला सिद्ध होता ही है । वैशेषिक से हम जैन पूछते हैं कि आप अवयवी को सर्वथा अविभागी मानते है सो उस अवयवी के एक देश

यदि चावयवयविभागः स्यात्तदैकदेशस्यावरणे रागे च अखिलस्यावरणं रागश्चानुषज्यते, रक्तारक्तयोरावृतानावृतयोश्चावयविरूपयोरेकत्वेनाभ्युपगमात्। न चैवं प्रतीतिः, प्रत्यक्षविरोधात्। न चान्योन्यं विरुद्धधर्माध्यासेप्येकं युक्तम्, अत एव, अनुमानविरोधाच्च। तथाहि–यद्विरुद्धधर्माध्यासितं तन्नैकम् यथा कुटकुड्याद्युपलभ्यानुपलभ्यस्वभावम्, आवृतानावृतादिस्वरूपेण विरुद्धधर्माध्यासितं चावयविस्वरूपमिति। तथाप्येकत्वे विश्वस्यैकद्रव्यत्वानुषङ्गः।

ननु वस्त्रादे रागः कुंकुमादिद्रव्येण संयोगः; स चाव्याप्यवृत्तिस्तत्कथमेकत्र रागे सर्वत्र राग एकदेशावरणे सर्वस्यावरणम्? तदप्यसारम्; यतो यदि पटादि निरंशमेकं द्रव्यम्, तदा कुंकुमादिना

पर आवरण आया अथवा कोई रंग चढ़ा तो सारे ही अवयवी के आवरण और रंग लग जायगा। क्योंकि आपने रक्त और अरक्त अवस्था, तथा आवृत और अनावृत अवस्था इनमें अवयवी को एक रूप ही मान लिया है किन्तु ऐसी प्रतीति नहीं होती कि रंगा हुआ अवयवी का भाग और नही रंगा हुआ भाग एक हो, ऐसा एकत्व बिना प्रतीति के कैसे माने? प्रत्यक्ष विरोध आता है। तथा परस्पर में विरुद्ध धर्माध्यास युक्त होते हुए भी उस अवयवी में निरंश एकरूपता मानना शक्य नहीं, क्योंकि जिसमें विरुद्ध धर्माध्यास हो वह निरंश एक हो नहीं सकता, तथा ऐसा मानने में अनुमान प्रमाण से बाधा भी आती है आगे इसी को दिखाते हैं—जो वस्तु विरुद्ध धर्माध्यासित होती है वह एक नही होती, जैसे घट और भित्ति आदि में उपलभ्य स्वभाव और अनुपलभ्य स्वभावरूप विरुद्ध धर्माध्यासपना होने से एकत्व नहीं है, ऐसे ही अवयवी का स्वरूप आवृत्त और अनावृत्त स्वभावरूप विरुद्ध धर्माध्यास युक्त है अतः वह भी एकरूप नही है। इस तरह अनुमान से अवयवी मे एकत्व सिद्ध नही होता है अनेकत्व ही सिद्ध होता है, फिर भी यदि उसे एकरूप माना जाय तो सारे विश्व को ही एक द्रव्यरूप मानना होगा।

वैशेषिक—अवयवी के रंगा नहीं रंगा आदि भाग की जो बात कही उसमें हमारा यह कहना है कि वस्त्र आदि अवयवी द्रव्य को जो रक्तिमा है वह तो कुंकुम आदि अन्य द्रव्य के साथ संयोग होना है, संयोग जो होता है वह अव्याप्य वृत्ति वाला हुआ करता है, अतः एकदेश में रंगीन होने पर सर्वदेश में रंगीन होना, या एकदेश में आवरण युक्त होने पर सर्वत्र आवरण युक्त होना किस प्रकार सिद्ध होगा, नहीं हो सकता?

किं तत्राऽव्याप्तं येनाऽव्याप्यवृत्तिः संयोगो भवेत् ? अव्याप्तौ वा भेदप्रसङ्गो व्याप्ताव्याप्तस्वरूपयोर्विरुद्धधर्माध्यासेनैकत्वायोगात् ।

किञ्च, अस्याव्याप्यवृत्तित्वं सर्वद्रव्याव्यापकत्वम्, एकदेशवृत्तित्वं वा ? न तावत्प्रथमः पक्षः; द्रव्यस्यैकस्य सर्वशब्दविषयत्वानभ्युपगमात् । अनेकत्र हि सर्वशब्दप्रवृत्तिरिष्टा । नापि द्वितीयः; तस्यैकदेशासम्भवात्, अन्यथा सावयवत्वप्रसंगात् । ततो नास्त्यवयवी वृत्तिविकल्पाद्यनुपपत्तेरिति ।

ननु चावयविनो निरासे यत्साधनं तत्किं स्वतन्त्रम्, प्रसंगसाधनं वा ? स्वतन्त्रं चेत्; धर्मिसाध्यपदयोर्व्याघातः, यथा–'इदं च नास्ति च' इति । हेतोराश्रयासिद्धत्वञ्च; अवयविनोऽप्रसिद्धेः । न च

जैन—यह कथन असार है, क्योंकि यदि वस्त्र आदि द्रव्य निरंश एक ही है तो उसको कुंकुम आदि द्रव्यके साथ क्या अव्याप्ति रही जिससे अव्याप्यवृत्ति स्वभाव वाला संयोग उसमें होवेगा ? अभिप्राय यह है कि जब अवयवी निरंश एक है तो उसका कौनसा भागांश बचा कि जो रंग संयोग युक्त नही हुआ है ? अर्थात् कोई अंश अवशेष नहीं है। यदि कुंकुमादि से अव्याप्त कोई भाग अवशेष है तो उस अवयवी में भेद मानना ही पड़ेगा। क्योंकि व्याप्तस्वरूप और अव्याप्तस्वरूप इस तरह विरुद्ध दो धर्मों से युक्त होकर अनेक हो कहलायेगा, फिर उसमें एकत्व रह नहीं सकेगा।

यह भी बताना चाहिए कि वस्त्र में कुंकुमादि द्रव्य का अव्याप्यवृत्ति वाला संयोग रहता है ऐसा आपने कहा सो अव्याप्यवृत्ति किसे कहना, सर्व द्रव्य मे अव्यापक रहना, या एकदेश में रहना ? प्रथम पक्ष तो बनता नहीं, एक द्रव्य को सर्व शब्द से कहते ही नहीं, एक द्रव्य सर्वशब्द का विषय होना आपने स्वीकार किया नहीं, सर्व शब्द की प्रवृत्ति अनेक द्रव्य में हुआ करती है ऐसा आपके यहां माना है। दूसरा पक्ष एक देश में रहना अव्याप्यवृत्तिपना कहलाता है, ऐमा कहो तो भी नही बनता, उस निरंश अवयवी के एकदेश होना ही असम्भव है, यदि माने तो उसे सावयव कहना होगा। अंततोगत्वा यही कहना पड़ता है कि वैशेषिकाभिमत अवयवी पदार्थ नही है, क्योंकि वह किस स्वभाव वाला है, अपने अवयवों में कैसे रहता है इत्यादि कुछ भी सिद्ध नहीं हो पाता है।

वैशेषिक—अवयवी का खण्डन करने के लिये आप जैन कौनसा अनुमान प्रमाण उपस्थित करेंगे, स्वतन्त्र अर्थात् पक्ष, हेतु, दृष्टान्त आदि जिसमें हो ऐसा अनुमान या

वृत्त्या सत्त्वं व्याप्तम्; समवायवृत्त्यनभ्युपगमेपि भवता रूपादेः सत्त्वाभ्युपगमात् । एकदेशेन सर्वात्मना वावयविनो वृत्तिप्रतिषेधे विशेषप्रतिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञाविषयत्वात् प्रकारान्तरेण वृत्तिरभ्युपगता स्यात्, अन्यथा 'न वर्तते' इत्येवाभिधातव्यम् । वृत्तिश्च समवायः, तस्य सर्वत्रैकत्वान्निरवयवत्वाच्च कात्स्न्यैकदेशशब्दाविषयत्वम् । अथ प्रसंगसाधनं परस्येष्टयाऽनिष्टापादनात् । ननु परेष्टिः प्रमाणम्, अप्रमाणं वा ? यदि प्रमाणम्; तर्हि तयैव बाध्यमानत्वादनुत्थानं विपरीतानुमानस्य । न चानेनैवास्या

प्रसंगसाधन वाला अनुमान ? स्वतन्त्र साधन वाला अनुमान कहो तो धर्मी और साध्य पद का व्याघात होगा, अर्थात् "अवयवी" यह तो धर्मी है और "नास्ति-नहीं" यह हेतु है, सो ये दोनों पद परस्पर विरुद्ध जैसे मालुम पड़ते हैं जिस प्रकार "इदं च नास्ति च" यह और पुनः नास्ति–नहीं कहना परस्पर विरुद्ध पड़ता है । तथा "अवयवी नहीं है" ऐसे साध्य में बनाया गया हेतु आश्रयासिद्ध भी कहलायेगा, क्योंकि हेतु का आश्रयधर्मी जो अवयवो है वह अप्रसिद्ध है । तथा आप जैन के यहां पर समवाय के साथ सत्वकी व्याप्ति नहीं होने से यह भी नही कह सकते कि समवाय से अययवों में अवयवो रह जायगा और उसकी सत्ता सिद्ध होगी, क्योकि आप समवाय से अवयवों में अवयवी का सत्व नहीं मानकर भी उसमें रूपादि का सत्व स्वीकार किया है, अर्थात् आप समवाय से सत्व होना न मानकर तादात्म्य से सत्व मानते हैं । दूसरी बात यह भी है कि जब जैन ने एकदेश और सर्वदेश दोनों तरह से अवयवी का रहना निषिद्ध किया है, सो इन एकदेश वृत्ति आदि का निषेध होने पर भी शेष वृत्ति सामान्य किसी रूप से रहना तो निषिद्ध नहीं होता, वह स्वीकृत ही कहलाया ? अन्यथा आपको इतना ही कहना था कि अवयवी [अवयवों में] रहता ही नहीं ! हम तो अवयवों में अवयवी समवाय से रहता है ऐसा मानते हैं और यह जो समवाय है वह सर्वत्र एकरूप तथा निरवयव है अतः उसमें एकदेश से रहता है या सर्वदेश से रहता है इत्यादि शब्दों का विषयपना घटित नहीं होता है । दूसरा विकल्प कहो कि अवयवी का खण्डन करने मे प्रयुक्त अनुमान प्रसंग साधनभूत है–पर की इष्टता को लेकर उसी का अनिष्ट सिद्ध कर देना प्रसंग साधन कहलाता है, सो इस विषय में प्रश्न है कि आप जैन को परवादी की परेष्टि इष्ट मान्यता प्रमाण है कि अप्रमाण है ? यदि प्रमाण है तो उस प्रमाणभूत परेष्टि से ही आपका अनुमान बाध्यमान होने से प्रवृत्त नही हो सकेगा । क्योंकि इस अनुमान में "अवयवी नहीं है" इत्यादि रूप विपरीत साध्य है । तुम कहो कि हमारे इस अनुमान से ही पर की इष्टता में बाधा आती है । सो भी गलत है, परवादी का इष्ट

बाधा; तामन्तरेणास्याऽपक्षधर्मत्वात्। अथाप्रमाणम्; तर्हि प्रमाणं विना प्रमेयस्यासिद्धिरित्यभिधातव्यम्, किमनुमानोपन्यासेनास्याऽपक्षधर्मतयाऽप्रमाणत्वात् ?

इत्यप्यपरीक्षिताभिधानम्; यतः प्रसंगसाधनमेवेदम्। तच्च 'साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयकः, व्यापकाभावो वा व्याप्याभावाविनाभावी' इत्येतत्प्रदर्शनफलम्। [व्याप्य] व्यापकभावसिद्धिश्चात्र लोकप्रसिद्धैव। लोको हि कस्यचित्क्वचित्सर्वात्मना वृत्तिमभ्युपगच्छति यथा बिल्वादेः कुण्डादौ, कस्यचित्त्वेकदेशेन यथानेकपीठादिशयितस्य

जो अवयवी है उसे माने बिना हेतु में अपक्षधर्मता कहलायेगी। भावार्थ यह है कि परवादी जो हम वैशेषिक है उसके अवयवी का खण्डन करने में आप जैन जो अनुमान उपस्थित करते है कि–अवयवी नही है, क्योंकि उसका अवयवों में रहना किस तरह का है यह सिद्ध नही हो पाता है, सो इसमें धर्मी जो अवयवी है उसको न माना जाय तो हेतु अपक्ष धर्मरूप ही बन जाता है। पर की इष्टता आप जैन को अप्रमाण है तो इतना ही कहना चाहिए कि प्रमाण के बिना अवयवीरूप प्रमेय की सिद्धि नही होती है अवयवी नही है इत्यादि रूप अनुमान प्रमाण काहे को उपस्थित करना जो कि अपक्ष धर्मवाले हेतु से युक्त होने के कारण अप्रमाणभूत है !

जैन—अब यहां पर वैशेषिक के उपर्युक्त कथन का निराकरण करते है—वैशेषिक ने सबसे पहले पूछा था कि अवयवी का खण्डन करने के लिए जैन जो अनुमान देते हैं वह प्रसंग साधन है क्या ? इत्यादि सो उसका उत्तर यह है कि यह अनुमान प्रसंग साधनरूप ही है, प्रसग उसे कहते हैं कि साध्य और साधन मे व्याप्य व्यापक भाव कहीं सिद्ध हुआ है और कभी किसी ने व्याप्य को स्वीकार किया है तब उसे व्यापक भी स्वीकार करना चाहिए ऐसा नियम बतलाना अथवा व्यापक का जहां अभाव है वहां व्याप्यका अभाव अवश्य है, इत्यादि सिद्ध करके बताना है। इस अवयव और अवयवी के विषय में व्याप्य व्यापक भाव तो लोक प्रसिद्ध ही है। इस जगत में किसी स्थान पर किसी पदार्थ की सर्वदेश से वृत्ति होती है जैसे कि बेल आदि फल की कुण्डा–बर्तनादि में सर्वदेश से वृत्ति हुआ करती है, तथा कोई पदार्थ की वृत्ति तो एकदेश से हुआ करती है, जैसे अनेक पीठ [पलंगादि] आदि में सुप्त हुए चैत्र नामा पुरुष की वृत्ति एकदेश से है। जहां पर ये दोनों प्रकार नहीं हो वहां तो पदार्थ का रहना [वृत्ति] ही असंभव है, इस प्रकार अवयवी का अवयवों में एकदेश से रहना और

चैत्रादेः । यत्र च प्रकारद्वयं व्यावृत्तं तत्र वृत्तेरभाव एव इति कथं न व्याप्तिर्यतोत्र प्रसंगसाधनस्याव-काशो न स्यात् ? निरस्ता चानेकस्मिन्नेकस्य वृत्तिः प्रागेव ।

यच्चोक्तम्- 'परेष्टिः प्रमाणमप्रमाणं वा' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; यतः प्रमाणाप्रमाणचिन्ता संवादविसंवादाधीना । परेष्टिमात्रेण च प्रतिपन्नेवयविनि संवादकप्रमाणाभावादप्रामाण्यं स्वयमेव भविष्यति । ननु च 'इहेदम्' इति प्रत्ययप्रतीतेः प्रत्यक्षेणैवावयविनो वृत्तिसिद्धेः कथं संवादकप्रमाणा-भावो यतोस्याः प्रामाण्यं न स्यात् ? इत्यप्यसंगतम्; तन्त्वाद्यवयवेषु व्यतिरिक्तस्य पटाद्यवयविनः

सर्वदेश से रहना, सिद्ध नहीं होता तो अवयवी की सत्ता का ही अभाव है । अभिप्राय है कि अवयवों में अवयवी की वृत्ति एकदेश या सर्वदेश से होना सिद्ध होवे तो ही अवयवी का सत्त्व सिद्ध होगा, किन्तु यहां दोनों प्रकार से अवयवों में अवयवी की वृत्ति असिद्ध है अतः उस वृत्ति के अभाव में अवयवी का अभाव सहज ही हो जाता है । इस तरह हम जैन प्रसंग साधनरूप अनुमान द्वारा वैशेषिक के अवयवी का निरसन करें तो वह किस प्रकार गलत होगा ? अर्थात् किसी प्रकार भी गलत नहीं होता है । सर्वथा एक निरंश ऐसा आपका अवयवी द्रव्य किसी तरह भी अनेक अवयवों में रहना संभव नहीं है, इस बात को तो पहले ही भली प्रकार कह चुके हैं । आपने पूछा कि परेष्टि- [परका इष्ट] अर्थात् हमारे इष्ट अवयवी को प्रमाण मानते हो कि अप्रमाण इत्यादि, सो यह पूछना गलत है क्योंकि प्रमाण अप्रमाण का विचार तो संवाद और विसंवाद के अधीन है, परके इष्टरूप से ज्ञात हुए अवयवी में संवादक प्रमाण का अभाव होने से उसका अप्रामाण्य स्वतः होगा । अर्थात् जब हम परके इष्ट अवयवी के विषय में कोई तत्व होगा ऐसा मानकर विचार करते हैं तो उस विचार ज्ञानका संवादक कोई प्रमाण दिखाई नही देता है, इस तरह आपके अवयवी द्रव्य का अप्रामाण्य स्वयमेव सिद्ध होगा ।

वैशेषिक—अवयवी के लिए संवादक प्रमाण का अभाव होने से अप्रामाण्य सिद्ध होगा ऐसा जो जैन ने कहा वह ठीक नहीं है, अवयवी का संवादक प्रमाण मौजूद है, इह इदं प्रत्यय से अवयवी की अवयवों में रहने की प्रतीति होती है अर्थात् "इन अवयवों में अवयवी है" इस तरह का "इहेदं" प्रत्यय है इस प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अवयवी की वृत्ति सिद्ध होती है अतः संवादक प्रमाण का अभाव कैसे हुआ ? जिससे कि जैन इस वृत्ति को अप्रमाण कहते हैं ।

समवायवृत्तेः स्वप्नेप्यप्रतीतेः। न च भेदेनाप्रतिभासमानस्य 'इहेदं वर्त्तते' इति प्रतीतिर्युक्ता। न हि भेदेनाप्रतिभासमाने कुण्डे 'इह कुण्डे बदराणि' इति प्रत्ययो दृष्टः।

यच्च (द) प्युक्तम्-वृत्तिश्च समवायस्तस्य सर्वत्रैकत्वान्निरवयवत्वाच्च कार्त्स्न्यैकदेशशब्दाविषयत्वमिति; तदपि स्वमनोरथमात्रम्; समवायस्याग्रे प्रबन्धेन प्रतिषेधात्। ननु तथाप्येकस्मिन्नवयविनि कार्त्स्न्यैकदेशशब्दाप्रवृत्तेरयुक्तोयं प्रश्नः-'किमेकदेशेनप्रवर्त्तते कार्त्स्न्येन वा' इति। कृत्स्नमिति ह्येकस्याशेषाभिधानम्, 'एकदेशः' इति चानेकत्वे सति कस्यचिदभिधानम्। ताविमौ कार्त्स्न्यैकदेशशब्दावेकस्मिन्नवयविन्यनुपपन्नौ; इत्यप्यसमीचीनम्; एकत्रैकत्वेनावयविनोऽप्रतिभासमानात् प्रकारा-

---

जैन—यह कथन असंगत है-तन्तु आदि अवयवों में सर्वथा भिन्न ऐसा पट आदि अवयवी समवाय से रहता हो, ऐसा स्वप्न मे भी प्रतीत नही होता है [प्रत्यक्ष की बात दूर रही] जो भेदपने से प्रतिभासित नही होता उसकी "इहेदं वर्त्तते" "यहां पर यह रहता है" ऐसी प्रतीति होना अशक्य है जो भेदरूप से प्रतीत नहीं होता ऐसे ऊकले कुण्डा आदि पात्र विशेष मे "इह कुण्डे बदराणि" इस कुण्ड में बेर हैं, ऐसा प्रतिभास नहीं होता है।

वैशेषिक ने कहा कि—समवाय से अवयवी की वृत्ति है, समवाय तो सर्वत्र एक तथा निरंश है अतः समवाय से संबद्ध होने वाले अवयवी के विषय मे यह प्रश्न नहीं उठा सकते कि एकदेश से रहता है या सर्वदेश से। इत्यादि सो यह कथन मनोरथ मात्र है, आपके इस समवाय नामा पदार्थ का आगे विस्तार से खण्डन होने वाला है।

वैशेषिक—ठीक है, किन्तु अवयवी को जब हम एक मानते है तब उसमें एकदेश और सर्वदेश यह शब्द ही प्रयुक्त नहीं हो सकते अतः एकदेश से रहता है कि सर्वदेश से रहता है। इत्यादि प्रश्न करना व्यर्थ है. इसी बात का खुलासा करते हैं "कृत्सन-सर्व" यह जो शब्द है वह एक के अशेष को कहता है, तथा "एकदेश" यह शब्द अनेकपना होने पर [अनेक देशत्व होने पर] उनमें से कोई एकदेश को कहता है। इस तरह के ये जो एकदेश और सर्वदेश शब्द हैं, इन शब्दों का प्रयोग निरंश एक अवयवी में बन ही नहो सकता है?

जैन—यह बात असत् है, एक जगह अर्थात् अवयवों में आपका इष्ट एक अवयवी प्रतिभासित ही नही हो रहा है, तथा अवयवी और किसी प्रकार से रहता हो

न्तरेण च वृत्तेरसम्भवात्। न खलु कुण्डादौ बदरादेः स्तम्भादौ वा वंशादेः कार्त्स्न्यैकदेशं परित्यज्य प्रकारान्तरेण वृत्तिः प्रतीयते। ततोऽवयवेभ्यो भिन्नस्यावयविनो विचार्यमाणस्यायोगात्रासौ तथाभूतोऽभ्युपगन्तव्यः। किं तर्हि ? तन्त्वाद्यवयवानामेवावस्थाविशेषः स्वात्मभूतः शीतापनोदाद्यर्थक्रियाकारी प्रमाणतः प्रतीयमानः पटाद्यवयवीति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्।

ननु रूपादिव्यतिरेकेणापरस्यावस्थातुः शीताद्यपनोदसमर्थस्याप्रतीतितोऽसत्त्वात् कस्यावयवित्वं भवतापि प्रसाध्यते ? चक्षुःप्रभवप्रत्यये हि रूपमेवावभासते नापरस्तद्वान्, एवं रसनादिप्रत्ययेपि

ऐसा सोचे तो कोई प्रकार दिखायी नहीं देता है। कुंड आदि में बेर आदि का अथवा स्तंभादि में बांसादिका एकदेश और सर्वदेशपने को छोड़कर तीसरा कोई रहने का प्रकार दिखायी नहीं देता है, अतः अंत में यही सिद्ध होता है कि अवयवों से पृथक् अवयवी प्रतीत नहीं होता उसका विचार करें तो विचार मे आता नही, अतः ऐसे अवयवो को स्वीकार हो नहीं करना चाहिए। इस पर परवादी प्रश्न करे कि फिर आप जैन किस तरह के अवयवी को मानते हैं ? तो हम बताते हैं "तन्त्वाद्यवयवानामेवावस्थाविशेषः स्वात्मभूतः शीतापनोदाद्यर्थक्रियाकारी प्रमाणतः प्रतीयमानः पटाद्यवयवी इति" तंतु आदि अवयवों का अवस्थाविशेष होना–आतान वितानभूत परिणमन विशेष होना ही पटादि अवयवी द्रव्य है जो कि उन अवयवों से स्वात्मभूत है–कथंचित् अभिन्न एवं भिन्न है, वही शीतबाधा दूर करना इत्यादि अर्थ क्रिया करने में समर्थ होता हुआ प्रमाण से प्रतीत हो रहा है "इस प्रकार के पट आदि अवयवी हुआ करते हैं ऐसा प्रेक्षावानों को स्वीकार करना चाहिए।

शंका—रूप आदि को छोड़कर अन्य कोई स्थायी शीत आदि बाधा को दूर करने में समर्थ ऐसा पदार्थ प्रतीति में नहीं आता है, अतः अवयवीपना किस द्रव्य को सिद्ध किया जाय ? अर्थात् आप जैन किसको अवयवी मानते हैं ? रूप, रसादि से पृथक् कोई चीज दिखायी ही नहीं देती, हम नेत्र ज्ञान द्वारा देखते हैं तो रूप मात्र तो प्रतीत होता है किन्तु इससे अन्य रूपादियुक्त–रूपादिमान पदार्थ दिखायी नहीं देता, ऐसे ही रसत्व तो प्रतीत होता है किन्तु कहीं पर रसयुक्त अपर पदार्थ प्रतीत नहीं होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि रूपादि अवयव मात्र हैं इनसे अतिरिक्त अवयवी नामकी कोई वस्तु नहीं है, जब अवयवी कोई सत्य पदार्थ ही नहीं है तो आप जैन तथा वैशेषिक व्यर्थ ही उसके विषय में विवाद क्यों करते हैं ?

वाच्यम्; इत्यविचारितरमणीयम्; यतः किमेकस्य रूपादिमतोऽसम्भवो विरुद्धधर्माध्यासेनैकत्रैकत्वानेकत्वयोस्तादात्म्यविरोधात्, तद्ग्रहणोपायासम्भवाद्वा ? प्रथमपक्षे तत्र तयोः कथञ्चित्तादात्म्यं विरुद्धयते, सर्वथा वा ? सर्वथा चेत्; सिद्धसाध्यता। कथञ्चिदेकत्वं तु रूपादिभिर्विरुद्धधर्माध्यासेप्येकस्याऽविरुद्धम् चित्रज्ञानस्येव नीलाद्याकारैर्विकल्पज्ञानस्येव वा विकल्पेतराकारैरिति । यथा च

समाधान—यह सुगत पक्षीय कथन अविचारपूर्ण है, बताइये कि एक वस्तु में एकत्वरूप अवयवी और अनेक रूप अवयव या रूपरसादि का विरुद्ध धर्माध्यास के कारण तादात्म्य होना असंभव है, अथवा ऐसे एकत्व अनेकत्व रूप अवयवी आदि रूपादिमान को ग्रहण करने वाला प्रमाण नहीं होने से इस तरह का अवयवी द्रव्य असम्भव है। प्रथम पक्ष कहो तो उन एकत्व अनेकत्व का तादात्म्य होना कथंचित् विरुद्ध है या सर्वथा विरुद्ध है ? तादात्म्य होने में सर्वथा विरोध है ऐसा कहो तो सिद्ध साध्यता है। कथंचित् तादात्म्य होने में विरोध है ऐसा कहना तो गलत होगा, रूपादिका परस्पर विरुद्ध धर्माध्यास होते हुए भी वे एक के होते है, जैसे एक चित्र ज्ञान के नील, पीत आदि आकार है वे आकार परस्पर विरुद्ध धर्म वाले होकर भी चित्र ज्ञान में तो कथंचित् एक रूप माने गये हैं। अथवा एक विकल्प ज्ञान में विकल्प और निर्विकल्प आकार विरुद्ध होकर भी अविरुद्ध रहते है ऐसा आपने माना है ठीक इसी तरह रूप रस आदि परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों का एक ही रूपादिमान पदार्थ में एकत्वरूप रहना अविरुद्ध है।

विशेषार्थ—वैशेषिक के अवयवी द्रव्य का जैन खण्डन कर रहे थे और पट, घट, गृह आदि अवयवी द्रव्य का निर्दोष लक्षण बतला रहे थे कि इतने में बौद्ध ने कहा कि आप लोग अवयवी के विषय में क्यों विवाद कर रहे अवयवी ही संसार में नहीं है, रूप, रस आदि रूप परमाणु या अवयव मात्र द्रव्य हैं। तब आचार्य ने कहा कि अवयवी द्रव्य को क्यों नहीं माना जाय, अवयव या रूप आदि अनेक विरुद्ध धर्मों का एक में रहना असम्भव होने से, नही माना जाय। ऐसा कहना अशक्य है; स्वयं बौद्ध एक चित्र में अनेक नील पीत आदि विरुद्ध धर्मो का तादात्म्य मानते हैं। तथा पूर्व के सविकल्प ज्ञानरूप उपादान से जिसमें कि निर्विकल्पज्ञान सहकारी है उससे जब सविकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह उभय–सविकल्प तथा निर्विकल्प दोनों ज्ञानों के आकार को धारण करता है ऐसा सौगत ने माना है सो जैसी बात इन ज्ञानों की है

रूपादिरहितं प्रत्यक्षे न प्रतिभासते तथा तद्रहिता रूपादयोपि । न खलु मातुलिङ्गद्रव्यरहितास्तद्रूपादय: स्वप्नेप्युपलभ्यन्ते । वस्तुनश्चेदमेवाध्यक्षत्वं यदनात्मस्वरूपपरिहारेण बुद्धौ स्वरूपसमर्पणं नाम । इमे तु रूपादयो द्रव्यरहितास्तत्र स्वरूपं न समर्पयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्त्तु मिच्छन्तीत्यमूल्यदानक्रयिण: ।

किञ्च, इदं स्तम्भादिव्यपदेशार्हं रूपम्-किमेकं प्रत्येकम्, अनेकानशपरमाणुसञ्चयमात्रं वा ? प्रथमपक्षे अधोमध्योद्र्ध्वात्मिकैकरूपवत् रसाद्यात्मकैकस्तम्भद्रव्यप्रसङ्ग: । द्वितीयपक्षे तु किमेकमनेक-

---

वैसे ही रूपादिमान पदार्थ या घट पट आदि अवयवी पदार्थ की हैं, इनमें भी अनेक धर्म या अवयव एकत्वरूप से रहते हैं, कोई बाधा नहीं है, साक्षात् प्रतीति में आने वाले पदार्थों में बाधा या शका का स्थान नहीं रहता है ।

जिस प्रकार रूप आदि से रहित कोई वस्तु प्रत्यक्ष में प्रतिभासित नहीं होते हैं उसी प्रकार वस्तु बिना रूप आदिक भी तो प्रतिभासित नहीं होते हैं । मातुलिंग [बिजौरा] आदि द्रव्य से रहित उसके रूप, रस आदि गुण स्वप्न में भी प्रतिभासित नही होते हैं । वस्तु का प्रत्यक्षपना यही कहलाता है कि जो अनात्म-परका स्वरूप है उसका परिहार करके ज्ञान में स्वस्वरूप अर्पित करना–झलकाना, जब ये रूप, रस आदि धर्म द्रव्य रहित होकर बुद्धि में स्वस्वरूप अर्पित ही नहीं कर रहे हैं तो वे प्रत्यक्ष कैसे हो सकते हैं ? यह तो इन रूपादिका "अमूल्य दान क्रयीपना है" अर्थात् कोई पुरुष बिना मूल्य दिये चीज खरीदना चाहता हो वैसे यह कार्य हुआ ? यहां पर भी रूप, रस आदि धर्म द्रव्यरहित होकर [बिना द्रव्य के] बुद्धि में अपना स्वरूप तो समर्पण करते नहीं और प्रत्यक्ष प्रतीत होना चाहते हैं, सो ऐसा सिद्ध होना नितरां असंभव है ।

किञ्च, जगत् में जिसे स्तंभ, कुंभ आदि नाम के योग्य मानते हैं ऐसा यह पदार्थ केवल रूप धर्म या अवयव ही है ऐसा बौद्ध ने कहा सो एक एक रूप प्रत्येक को स्तंभ, कुंभ आदि नाम देते है अथवा अनेक अनेक अनंश परमाणुओं के संचय होने मात्र को स्तंभादि द्रव्य कहेंगे ? प्रथम पक्ष कहो तो ऊपर, नीचे, मध्य में जैसे एक एक प्रत्येक रूप स्तंभादि द्रव्य कहलाया वैसे एक एक प्रत्येक रस, गंध आदि भी स्तंभ द्रव्य कहलाने लगेंगे । अर्थात् एक स्तंभ द्रव्य में भी अनेक रूप स्तंभ, अनेक रस स्तंभ आदि द्रव्य मानने पड़ेंगे । जो किसी को भी इष्ट नहीं है । द्वितीय पक्ष–अनेक अनंश परमाणुओं के संचय को स्तंभादि द्रव्य कहते हैं ऐसा कहे तो पुन: दो प्रश्न होते हैं कि अनेक परमाणुओं के आकारों से परिणत हुआ एक ज्ञान उस लक्षण वाले स्तंभादि द्रव्य

परमाण्वाकारं ज्ञानं तद्ग्राहकम्, एकैकपरमाण्वाकारमनेकं वा ? प्रथमविकल्पे चित्रैकज्ञानवद्रूपाद्यात्मकैकद्रव्यप्रसिद्धिरनिषेध्या स्यात्। द्वितीयविकल्पे तु परस्परविविक्तज्ञानपरमाणुप्रतिभासस्यासंवेदनात्सकलशून्यतानुषगः।

अथ तद्ग्रहणोपायासम्भवाद्रूपादिमतो द्रव्यस्याभावः; तन्न; 'यमहमद्राक्षं तमेतर्हि स्पृशामि' इत्यनुसन्धानप्रत्ययस्य तद्ग्राहिणः सद्भावात्। न च द्वाभ्यामिन्द्रियाभ्यां रूपस्पर्शाधारैकार्थग्रहणं विना प्रतिसन्धानं न्याय्यम्। रूपस्पर्शयोश्च प्रतिनियतेन्द्रियग्राह्यत्वादेतन्न सम्भवति। चेतनत्वाच्चात्मनः स्मरणादिपर्यायसहायस्य अर्वाक्परभागावयवव्यापित्वग्रहणमप्यवयविद्रव्यस्योपपन्नम्। प्रसाधितं

को जानता है, अथवा एक एक परमाणु के आकार परिणत हुए अनेकों ज्ञान उन अनेक अनंश परमाणुओं के संचयभूत द्रव्य को जानते हैं ? प्रथम विकल्प की बात कहो तो आपके चित्र ज्ञान के सदृश रूप, रस, गंध आदि अनेक धर्म या अवयव स्वरूप एक द्रव्य सिद्ध होगा, उसका निषेध नहीं कर सकते हैं। द्वितीय विकल्प की कहो तो भी गलत है, लोक में ऐसा देखा नही जाता कि एक ही वस्तु में परस्पर में सर्वथा विविक्त [पृथक्] ऐसा ज्ञान परमाणुओं को प्रतिभासित करता हो। जब ऐसे विविक्त परमाणुओं के ग्राहक ज्ञान सिद्ध नहीं होंगे तो वे ज्ञेय पदार्थ भी सिद्ध नहीं होगे और अंत में सकल शून्यता छा जायगी !

शंका— दूसरा पक्ष जो शुरू में कहा था कि रूपादिमान पदार्थ या अवयवी पदार्थ को ग्रहण करने का उपाय असंभव है अतः रूपादिमान पदार्थ नही है सो यही पक्ष माना जाय ?

समाधान—यह बात भी गलत है, जिसको मैंने देखा था उसीका अब मैं स्पर्श कर रहा हूं। इस तरह का अनुसंधान करने वाला प्रत्यभिज्ञान उस रूपादिमान द्रव्य का ग्राहक मौजूद ही है। कोई कहे कि चक्षु तथा स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा ही प्रतिसंधान करने वाला प्रत्यभिज्ञान हो जायगा रूप और स्पर्श के आधारभूत एक द्रव्य की क्या आवश्यकता है ? सो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि रूप और स्पर्श प्रतिनियत इन्द्रिय के विषय है, अर्थात् रूप को विषय करने वाली चक्षु स्पर्श को विषय नहीं करती और स्पर्श को विषय करने वाली स्पर्शन इन्द्रिय रूप को विषय नहीं करती फिर परस्पर संधान–जोड़ कौन करेगा ? हां यह तो हो सकता है कि आत्मा स्वयं चेतन है उसको यदि स्मरण आदि ज्ञानरूप पर्याय की सहायता है तो इधर का और उधर के भागों में

चानुसन्धानस्य सविषयत्वमित्यलमतिप्रसंगेन । तन्न परेषां चतु:संख्यं द्रव्यं यथोपवर्णितस्वरूपं घटते, सर्वथा नित्यस्वभावाणूनामनर्थक्रियाकारित्वेनासम्भवत: तदारब्धद्व्यणुकाद्यवयविद्रव्यस्याप्यसंभवात् । न हि कारणाभावे कार्यं प्रभवत्यतिप्रसंगात् । स्वावयवेभ्योर्थान्तरस्यावयविनो ग्राहकप्रमाणाभावाच्चा-सत्त्वम् ।

व्याप्त होने वाले अवयवों को ग्रहण कर सकते हैं [अथवा रूप और स्पर्श में अनुसंधान कर सकते हैं] किन्तु इतनी बात जरूर है कि अवयवी नामा द्रव्य को स्वीकार करना होगा ? अन्यथा यह बात बन नहीं सकती ।

विशेषार्थ—बौद्ध को प्रश्न किया गया था कि आप रूपादिमान एक अवयवी द्रव्य क्यों नहीं मानते ? तो उसने उत्तर दिया कि ऐसे द्रव्य का ग्राहक कोई ज्ञान नहीं है, अतः रूप रस आदि धर्म को ही हम लोक मानते हैं रूपादियुक्त द्रव्य को नहीं, तब आचार्य ने कहा कि ऐसी बात तो नहीं है, "जिसको मैंने देखा था उसी को इस वक्त स्पर्श कर रहा हूं" इत्यादि प्रत्यभिज्ञान रूप स्पर्श आदि से युक्त अवयवी द्रव्य को ग्रहण कर रहा है । इस पर बौद्ध ने कहा कि इस ज्ञान को चक्षु तथा स्पर्शनेन्द्रिय ही कर लेगी । तब जैन ने समझाया है कि यह कार्य असम्भव है, इन्द्रियां परस्पर विषयों का अनुसंधान नहीं कर सकतीं, जोड़रूप ज्ञान किसी भी इन्द्रिय द्वारा हो नहीं सकता, हां यह बात अवश्य है, आत्मा के वश का यह कार्य हो सकता है, किन्तु वैशेषिक आत्मा को जड़ मान बैठे हैं और आप बौद्ध निरन्वय विनाश शील मान बैठे हैं । ऐसा आत्मा जोड़रूप ज्ञानधारी बन नहीं सकता, अनुसंधान करने के लिए तो आत्मा को स्वयं चेतन कथंचित् नित्य-नाश रहित स्वीकार करना होगा । तथा इस अनुसंधान के लिए स्पर्शादिमान द्रव्य को पूर्वापर भावों में व्यापक एक अवयवी स्वरूप मानना होगा, अन्यथा यह प्रतीति सिद्ध प्रतिसंधान ज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता । इस तरह ज्ञायक-जानने वाला ज्ञानधारी आत्मा और ज्ञेय-जानने योग्य पदार्थ को अनेक धर्म स्वरूप नित्य (कथंचित्) और अवयवों में व्यापक द्रव्य स्वरूप स्वीकार करना पड़ता है ।

प्रत्यभिज्ञान का विषय, उसकी सत्यता आदि की सिद्धि पहले ही [दूसरे भाग में परोक्ष प्रमाणों का वर्णन करते समय] कर चुके हैं, अब अतिप्रसंग से बस हो !

इस प्रकार शुरु में कहा हुआ वैशेषिकों का जो पृथिवी आदि चार द्रव्यों का वर्णन है वह घटित नहीं होता है, परमाणुओं को सर्वथा नित्य मानना, उन परमाणुओं

जातिभेदेन पृथिव्यादिद्रव्याणां भेदोपवर्णनं चानुपपन्नम्; स्वरूपासिद्धौ शशशृङ्गवद्भेदोपवर्णनासम्भवात् । जातिभेदेनात्यन्तं तेषां भेदे चान्योन्यमुपादानोपादेयभावो न स्यात् । येषां हि जातिभेदेनात्यन्तिको भेदो न तेषां तद्भावः यथात्मपृथिव्यादीनाम्, तथा तद्भेदश्च पृथिव्यादिद्रव्याणामिति । तन्तुपटाद्युपादानोपादेयभावेन व्यभिचारपरिहारार्थम् आत्यन्तिकविशेषणम् । न हि तत्रात्यन्तिकस्तद्भेदः, पृथिवीत्वादिसामान्यस्याभिन्नस्यापीष्टेः । नन्वेवं द्रव्यत्वादिना पृथिव्यादीनामप्यभेदात्तद्वा-

---

से बने हुए पृथिवी आदि अवयवी द्रव्यों को अवयवों से सर्वथा पृथक् मानना इत्यादि बातें सब असत् हैं, क्योंकि सर्वथा नित्य स्वभाव वाले परमाणुओं में अर्थ क्रिया असंभव है, और परमाणुओं के कार्यस्वरूप पृथिवी आदि अवयवी द्रव्य अपने अंश–अवयवों से पृथक् होने के कारण असंभवनीय ही हैं। जब परमाणुरूप कारणों का ही अभाव है तो कार्य का होना नितरां असम्भव है, अन्यथा अतिप्रसंग होगा। तथा अपने अवयवों से सर्वथा पृथक् माने गये अवयवी को ग्रहण करने वाला प्रमाण नहीं होने से भी उसका असत्व सिद्ध होता है। आप वैशेषिक का यह भी हटाग्रह है कि पृथिवी, जल आदि द्रव्यो की जाति सर्वथा पृथक् पृथक् ही है सो बात सिद्ध नहीं होती, जब इन पृथिवी आदि द्रव्यों का स्वरूप ही सिद्ध नही कर पाये तो उनके भेद आदि का वर्णन करना तो शश शृंगवत् [खरगोश के सीग के समान] व्यर्थ है, असंभव है। पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन चारों में यदि सर्वथा जातिभेद मानेंगे तो उनमें परस्पर में उपादान उपादेय भाव बनना शक्य नहीं रहेगा। क्योंकि जिन द्रव्यों में जातिभेद से अत्यंत भेद होता है उनमें उपादान उपादेय भाव नहीं हुआ करता, जैसे कि आत्मा और पृथिवी आदि में जातिभेद होने से उपादान-उपादेय भाव नहीं होता है, आप लोग पृथिवी आदि में जातिभेद मानते हैं अतः उनमें उपादान उपादेयपना होना असंभव ठहरता है। तंतु और वस्त्र इत्यादि पदार्थों में उपादान उपादेय भाव जाति भेद होते हुए भी बनता है ऐसा कोई जैन के हेतु को व्यभिचरित करना चाहे तो इस व्यभिचार का परिहार करने के लिये ही "जिनमें अत्यंत भेद हो" ऐसा विशेषण दिया है मतलब तन्तु और पट आदि में अत्यंत भेद नहीं होता है इसीलिये उनमें उपादान-उपादेय भाव बनता है। किन्तु पृथिवी, जल आदि में तो ऐसा घटित नहीं कर सकते हैं क्योंकि इन चारों द्रव्यों को आप सर्वथा जाति भिन्न–अत्यन्त भिन्न मानते हैं। तन्तु और वस्त्र में ऐसा अत्यन्त भेद नहीं है, उनमें तो पृथिवीत्व आदि सामान्य की अपेक्षा अभिन्नपना भी माना गया है।

वोस्तु; तन्न; आत्मपृथिव्यादीनामप्येवं तद्भेदाभावादुपादानोपादेयभावः स्यात्, तथा चात्माद्वैतप्रसंगात्कुतः पृथिव्यादिभेदः स्यात्? तन्नात्यन्तिकभेदे पृथिव्यादीनां तद्भावो घटते। अस्ति चासौ-चन्द्रकान्ताज्जलस्य, जलान्मुक्ताफलादेः काष्ठादनलस्य, व्यजनादेश्चानिलस्योत्पत्तिप्रतीतेः। चन्द्रकान्ताद्यन्तर्भूताज्जलादेरेव द्रव्याज्जलाद्युत्पत्तिः; इत्यप्यनुपपन्नम्; तत्र तत्सद्भावावेदकप्रमाणाभावात्। तथापि चन्द्रकान्तादौ जलाद्यभ्युपगमे मृत्पिण्डादौ घटाद्यभ्युपगमोपि कर्तव्य इति सांख्यदर्शनमेव स्यात्।

वैशेषिक—इस तरह तंतु और वस्त्र आदि में पृथिवीत्व आदि सामान्य की अपेक्षा अभेद होने से उपादान उपादेय बनता है तो पृथिवी जल आदि में भी द्रव्यत्व आदि सामान्य की अपेक्षा अभेद होने से उपादान-उपादेय भाव मानना चाहिए।

जैन—ऐसा कहना गलत है इस तरह माने तो आत्मा और पृथिवी आदि में द्रव्यत्व की अपेक्षा अत्यंत भेद का अभाव होने से उपादान उपादेय भाव सिद्ध होगा। और इनमें उपादेय उपादान भाव स्वीकार करने पर आत्माद्वैतवाद का प्रसंग आता है, फिर पृथिवी जल आदि का भेद भी किससे सिद्ध करेंगे? अतः पृथिवी आदि में अत्यंत भेद मानने पर उपादान-उपादेय भाव घटित नहीं होता। किन्तु इनमें उपादान-उपादेय भाव साक्षात् दिखायी देता है। अब इसी को बताते हैं—चन्द्रकान्तमणि पृथिवी कायिक होता है किन्तु उससे जल उत्पन्न होता है, तथा जल से पृथिवी स्वरूप मोती उत्पन्न होते हैं, काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होती है, पंखे से वायु उत्पन्न होती है। इतने उदाहरणों से स्पष्ट हुआ कि पृथिवी जल आदि में परस्पर उपादान-उपादेय भाव हैं ये एक दूसरे से उत्पन होते रहते हैं।

वैशेषिक—चन्द्रकांत मणि से जल बनता है इत्यादि बातें आपने कही सो उसमें यह रहस्य है कि चन्द्रकांत आदि में जलादिक छिपे रहते हैं उस जल से ही जल उत्पन्न होता है न कि पृथिवी रूप चन्द्रकान्त से?

जैन—यह कथन गलत है, चन्द्रकान्त आदि में जल आदिक छिपे रहते हैं ऐसा सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, बिना प्रमाण के उनमें जलादिका सद्भाव मानेंगे तो मिट्टी आदि में घट आदि पदार्थ मौजूद रहते हैं, उनका सद्भाव भी हमेशा रहता है, ऐसा स्वीकार करना होगा? और इस तरह सांख्य मत में प्रवेश होवेगा। वे ही हर वस्तु में हर पर्याय मौजूद रहती है, कारण में कार्य सदा विद्यमान है इत्यादि

ततो मृत्पिण्डादौ घटादिवच्चन्द्रकान्तादौ जलादेरप्यप्रतीतितोऽभावात्, आत्यन्तिकभेदे चोपादानोपादेयभावासम्भवात्, 'पर्यायभेदेनान्योन्यं पृथिव्यादीनां भेदो रूपरसगन्धस्पर्शात्मकपुद्गलद्रव्यरूपतया चाभेदः' इत्यनवद्यम्। रूपादिसमन्वयश्च गुणपदार्थ परीक्षायां चतुर्णामपि समर्थयिष्यते। तन्न नित्यादिस्वभावमात्यन्तिकभेदभिन्नं च पृथिव्यादिद्रव्यं घटते।

।। अवयविस्वरूपविचारः समाप्तः ।।

मान्यता स्वीकार करते हैं। इस दोष को दूर करने के लिए जैसे मिट्टी के पिण्ड आदि में घट आदिक प्रतीत नहीं होने से उनका वहां अभाव ही माना जाता है वैसे ही चन्द्र कान्त आदि में जलादिक प्रतीत नहीं होने से उनका वहां अभाव ही मानना चाहिए, साथ में यह भी निश्चय करना कि इन पृथिवी आदि मे आत्यंतिक भेद नही है, अन्यथा इनका उपादान-उपादेय भाव नहीं बनता, अतः यहां स्याद्वाद की ही शरण लेनी होगी कि पृथिवी, जल आदि द्रव्य परस्पर मे पर्यायदृष्टि से तो भिन्न है अर्थात् जब वस्तु पृथिवी पर्याय रूप है तब उसमें अन्य जल आदि पर्याय नही है, तथा इन्ही पृथिवी आदि में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श स्वरूप पुद्गल द्रव्य दृष्टि से देखते है तो अभेद सिद्ध होता है, इस तरह ये कथंचित् भेदाभेद को लिये हुए हैं। वैशेषिक पृथिवी में रूपादि चारों गुण, जल में तीन गुण इत्यादि रूप से मानते हैं किन्तु इन चारो ही द्रव्यों में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण रहते हैं, चारों का समन्वय सबमे है, इस विषय में गुण नामा वैशेषिक के पदार्थ की परीक्षा करते समय आगे कहने वाले हैं। इस सब कथन का सार यही हुआ कि वैशेषिक द्वारा मान्य सर्वथा नित्य आदि स्वभाव वाला तथा अत्यन्त भेद स्वभाव वाला पृथिवी आदि द्रव्य सिद्ध नहीं होता है।

।। अवयविस्वरूपविचार समाप्त ।।

वैशेषिक के अवयविस्वरूप के खंडन का सारांश

वैशेषिक तन्तु आदि अवयवों से वस्त्र आदि अवयवी को सर्वथा पृथक् मानते हैं, किन्तु यह मान्यता प्रतीति विरुद्ध है। तन्तु और वस्त्र सर्वथा पृथक् दिखायी नहीं देते। अवयव और अवयवी में समान देशता है अतः वे पृथक् नहीं दिखते ऐसा कहना भी गलत है। समान देशता दो प्रकार की है शास्त्रीय और लौकिक। शास्त्रीय समान देशता तो इनमें नही है, क्योंकि आपने तन्तु आदि अवयव और वस्त्र आदि अवयवी इन दोनो का देश पृथक् माना है, तन्तु का कपास प्रवेणीरूप देश है और वस्त्र का तन्तुरूप देश है। लौकिक समान देशता तो कुंडे मे बेर सदृश हुआ करती है।

तथा कुछ अवयव दिखने पर अवयवी प्रतीत होता या सम्पूर्ण अवयव दिखने पर अवयवी प्रतीत होता है? प्रथम पक्ष कहो तो कुछ अवयव प्रतीत होते ही अवयवी दिखायी देना चाहिए, किन्तु दिखायी नहीं देता। सभी अवयवों के दिखायी देने पर अवयवी की प्रतीति होती है ऐसा कहना अशक्य है क्योंकि संपूर्ण अवयवों का ग्रहण हम जैसे असर्वज्ञ को सम्भव नहीं है।

तथा वैशेषिकाभिमत अवयवी द्रव्य सर्वथा निरंश एवं एक है वह अनेक अवयवों में किस प्रकार रह सकता है? आपका अवयवी निरंश है तो एक ही वस्त्रादि रूप अवयवी मे रक्त [रग युक्तता] और अरक्त [रंग रहितता] पना दिखाई देता है वह कैसे ? यह रक्तारक्तत्व तो अवयवी में विभाग सिद्ध कर रहा है। आपका कहना है कि वस्त्र में रक्तत्व [लालिमा] कुंकुमादि द्रव्य के संयोग से आता है, संयोग अव्यापी गुण है अतः उसके निमित्त से रक्तारक्तपना प्रतीत होता है, सो यह कथन असत्य है, जब वस्त्रादि अवयवी निरंश है तो वह कहीं कुंकुमादि से व्याप्त और कहीं अव्याप्त कैसे हो सकेगा।

आपका कहना है कि अवयवों में अवयवी एकदेश या सर्वदेश से रहने का प्रश्न ही नहीं करना चाहिए, क्योंकि अवयवी एक निरंशभूत समवाय सम्बन्ध से

अवयवों में रहता है। सो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम तो समवाय की सिद्धि नहीं है, दूसरी बात अवयवी के रहने का एक देश और सर्व देश को छोड़कर तीसरा प्रकार नहीं है, अतः जहां दोनों प्रकारों का निषेध किया वहां अवयवी का सर्वथा अभाव ही सिद्ध होगा। फिर तो बौद्धमत का प्रसंग प्राप्त होगा। अतः अवयवी अवयवों से कथंचित् भिन्न एवं कथंचित् अभिन्न है ऐसा स्वीकार करना चाहिए। वैशेषिक के पृथ्वी आदि द्रव्यों की चार संख्या भी सिद्ध नहीं होती, क्योंकि इनमें सर्वथा भेद नहीं है। चन्द्रकांतमणि से जल उत्पन्न होता है, जल से मोतीरूप पृथिवी उत्पन्न होती है, पृथ्वीरूप सूर्यकांतमणि से अग्नि प्रादुर्भूत होती दिखायी देती है, अतः इन पृथ्वी आदि में अत्यन्त भेद सिद्ध नहीं हो सकता। इन पृथ्वी आदि सभी में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये चारों हो गुण रहा करते हैं अतः इनमें से पृथ्वी में चारों गुण हैं, जल में तीन ही हैं इत्यादि कथन असत् है।

इस प्रकार अवयवों से सर्वथा पृथक् अवयवी की सिद्धि नहीं होती है, और पृथ्वी जल आदि में सर्वथा भेद सिद्ध नहीं होता है।

॥ सारांश समाप्त ॥

१

आकाशद्रव्यविचारः

नाप्याकाशादि; सर्वथा नित्यनिरंशत्वादिधर्मोपेतस्यास्याप्यप्रतीतेः। ननु चाकाशस्य तद्धर्मोपेतत्वं शब्दादेव लिङ्गात्प्रतीयते; तथाहि-ये विनाशित्वोत्पत्तिमत्त्वादिधर्माध्यासितास्ते क्वचिदाश्रिता

वैशेषिक दर्शन में आकाशादि द्रव्य की सिद्धि भी नहीं होती है, आकाश को वे लोक नित्य, एक निरंश आदि धर्म युक्त मानते हैं सो यह प्रतीत नहीं होता है।

वैशेषिक—आकाश नित्य निरंशादि धर्म युक्त है इस बात को शब्द रूप हेतु से सिद्ध करते हैं—जो पदार्थ नष्ट होना, उत्पन्न होना इत्यादि धर्मात्मक होते हैं वे कहीं पर आश्रित रहा करते हैं, जैसे घट आदि पदार्थ अपने अवयवों में आश्रित रहा करते हैं, शब्द भी उत्पन्न होना तथा नष्ट होना आदि धर्म वाले हैं, अतः वे कहीं पर आश्रित रहते हैं। तथा शब्द गुण स्वरूप होने से भी कहीं पर आश्रित रहते हैं, जैसे रूप रस आदि गुण रूप होने से आश्रय में रहते हुए देखे जाते हैं। शब्दों को गुण स्वरूप मानना असिद्ध भी नहीं है, अनुमान से ऐसा ही प्रतीत होता है, शब्द नामा

यथा घटादयः, तथा च शब्दा इति । गुणत्वाच्च ते क्वचिदाश्रिता यथा रूपादयः । न च गुणत्वमसिद्धम्; तथाहि–शब्दो गुणः प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मभावत्वे सति सत्तासम्बन्धित्वाद्रूपादिवत् । न चेदं साधनमसिद्धम्; तथाहि–शब्दो द्रव्यं न भवत्येकद्रव्यत्वाद्रूपादिवत् । न चेदमप्यसिद्धम्; तथाहि-एकद्रव्यः । शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्तद्वदेव । 'सामान्यविशेषवत्त्वात्'

पदार्थ गुण हैं [पक्ष साध्य] क्योंकि उसमें द्रव्य तथा कर्मपने का निषेध होकर सत्ता समवाय से सत्व है, [हेतु] जैसे रूप रस आदि में द्रव्यपना और कर्मपने का निषेध होकर सत्ता समवाय से सत्व है, अतः वे गुण रूप हो सिद्ध होते हैं । हमारा हेतु असिद्ध भी नहीं है, कैसे सो ही बताते हैं—शब्द द्रव्य नहीं है, क्योंकि वह एक द्रव्यत्वरूप है जैसे रूप रसादिक एक द्रव्यत्वरूप हैं इस अनुमान का एक द्रव्यत्वात् हेतु असिद्ध नहीं है, सो ही कहते हैं—एक द्रव्य जो आकाश है उसी के आश्रय में रहने का है स्वभाव जिसका ऐसा यह शब्द है [साध्य] क्योंकि वह सामान्य विशेषवान होकर बाह्य एक इन्द्रिय [कर्ण] द्वारा प्रत्यक्ष होता है [हेतु] रूपादि के समान [दृष्टांत] इस अनुमान में सामान्य विशेषवान होकर "इतना ही हेतु देते तो परमाणुओं के साथ व्यभिचार आता, इसलिए इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है" ऐसा कहा है । "सामान्यविशेषवत्वे सति इन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्" इतना हेतु भी घटादि के साथ अनैकान्तिक होता है अतः एक इंद्रिय-प्रत्यक्षत्वात् ऐसा "एक" पद बढ़ाया है । तथा एक इन्द्रिय प्रत्यक्षत्वात् कहने से भी हेतु की सदोषता हट नही पाती आत्मा के साथ व्यभिचार आता है अतः "बाह्य" विशेषण जोड़ दिया है, इसी प्रकार रूपत्व आदि से होने वाली अनैकान्तिकता को हटाने के लिए "सामान्यविशेषवत्वे सति" विशेषण प्रयुक्त हुआ है, इस तरह हमारा यह अनुमान शब्द को आकाश द्रव्य का गुण रूप सिद्ध करा देता है ।

विशेषार्थ—हम वैशेषिक जैन के समान शब्द को द्रव्य की पर्यायरूप नहीं मानते किन्तु आकाश का गुण मानते हैं, और यह मान्यता अनुमान प्रमाण से भली प्रकार से सिद्ध भी होती है, जैसा कि "एकद्रव्यः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यकेन्द्रिय प्रत्यक्षत्वात्" यह अनुमान कह रहा है, इस अनुमान में सामान्यविशेषवत्व, बाह्य, एक, ऐसे तीन विशेषणों से युक्त इन्द्रिय प्रत्यक्षत्व हेतु प्रस्तुत किया गया है, सो इन विशेषणों की सार्थकता बताते हैं-सामान्य विशेषवान होने से शब्द एक [आकाश] द्रव्य रूप है ऐसा कहने से परमाणुओं से व्यभिचार आता है क्योंकि परमाणु सामान्य-

इत्युच्यमाने हि परमाणुभिर्व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थम् 'इन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इत्युक्तम् । तथापि घटादिना व्यभिचारः, तन्निरासार्थमेकविशेषणम् । 'एकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इत्युच्यमाने आत्मना व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थं बाह्यविशेषणम् । रूपत्वादिना व्यभिचारपरिहारार्थं च 'सामान्यविशेषवत्त्वे सति' इति विशेषणम् ।

तथा, कर्मापि न भवत्यसौ संयोगविभागाकारणत्वाद्रूपादिवदेवेति । तस्मात्सिद्धं प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मभावत्वं शब्दस्य । 'सत्तासम्बन्धित्वात्' इत्युच्यमाने च द्रव्यकर्मभ्यामनेकान्तः, तन्निवृत्त्यर्थं

विशेषवानतया एक द्रव्यरूप है किन्तु गुणरूप तो नहीं है सो इस व्यभिचार को दूर करने के लिये इन्द्रिय प्रत्यक्षत्वात्–जो इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो–इन्द्रिय द्वारा ग्रहण होता हो वह शब्द है ऐसा कहा है । सामान्य विशेषवान होकर इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो वह एक द्रव्य है ऐसा कहने से भी दोष आता है, क्योंकि घट पट आदि पदार्थ सामान्य विशेषवान तथा इन्द्रिय प्रत्यक्ष है किन्तु एक द्रव्यरूप तो नहीं है अतः जो एक ही इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष हो सके घटादि के समान अनेक इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष न हो सके वह शब्द है ऐसा खुलासा करने के लिए "एक इन्द्रिय प्रत्यक्षत्वात्" ऐसा हेतु में एक पद का कलेवर बढाया गया है । जो एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष है वह शब्द है ऐसा कहना भी ठीक नहीं होता, क्योंकि आत्मा भी एक ही इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष है, अतः इस दोष को दूर करने के लिए "बाह्य" विशेषण दिया है अर्थात् आत्मा एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष तो है किन्तु बाह्य इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता, अन्तरंग मनरूप इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है । इसप्रकार परमाणु, आत्मा आदि के साथ व्यभिचार नहीं होवे इस कारण से हेतु के विशेषण बढ़ाये गये हैं और इस तरह यह सामान्य विशेषवत्वे सति बाह्य एक इन्द्रिय-प्रत्यक्षत्वात् हेतु अपने साध्य को [शब्द आकाश द्रव्य का गुण है इस बात को] सिद्ध करा देता है ।

शब्द को छहों पदार्थों में से कर्म पदार्थरूप भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि यह संयोग और विभाग का कारण नहीं है, जैसे कि रूपादिक नहीं है, अर्थात् जैसे रूपादिक गुणरूप होने से सयोग आदि के कारण नहीं होते वैसे शब्द गुणरूप है अतः संयोगादि क्रिया के हेतु नही हैं । इसतरह से निश्चित होता है कि शब्द में द्रव्यपना तथा कर्मपना प्रतिषिध्य है "शब्दो गुणः प्रतिषिध्यमानद्रव्य-कर्मभावत्वे सति सत्ता-सम्बन्धित्वात्" ऐसा पहले अनुमान दिया था, इस अनुमान में "सत्तासम्बन्धित्वात्" इतना ही हेतु देते तो द्रव्य और कर्म के साथ व्यभिचार होता अर्थात् सत्ता का सम्बन्ध

'प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मभावत्वे सति' इति विशेषणम् । 'प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मभावत्वात्' इत्युच्यमानेपि सामान्यादिना व्यभिचारः, तन्निवृत्त्यर्थं 'सत्तासम्बन्धित्वात्' इत्यभिधानम् । तत्सिद्धं गुणत्वेन क्वचिदाश्रितत्वं शब्दानाम् ।

यश्चैषामाश्रयस्तत्पारिशेष्यादाकाशम्; तथाहि–न तावत्स्पर्शवतां परमाणूनां विशेषगुणः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्कार्यद्रव्यरूपादिवत् । नापि कार्यद्रव्याणां पृथिव्यादीनां विशेषगुणोसौ; कार्यद्रव्यान्तराप्रादुर्भावेप्युपजायमानत्वात्सुखादिवत्, अकारणगुणपूर्वकत्वादिच्छादिवत्, अयावद्द्रव्य-

---

जिसमें हो वह गुण है ऐसा कहना बाधित है, क्योंकि द्रव्य तथा कर्मनामा पदार्थ सत्ता सम्बन्धी होकर भी गुणरूप नही है, अतः इस दोष को दूर करने के लिए "प्रतिषिध्यमान द्रव्यकर्मभावत्वे सति" इतना वाक्य बढाया है अर्थात् जो द्रव्य तथा कर्म नही होकर फिर सत्ता सम्बन्धी पदार्थ है तो वह गुण ही है । प्रतिषिध्यमान द्रव्यकर्मभावत्वात्– द्रव्य और कर्मपने का जिसमें प्रतिषेध हो वह गुण है ऐसा कहने मात्र से भी सामान्य आदि पदार्थों के साथ व्यभिचार आता था अतः "सत्तासम्बन्धित्वात्" इतना पद बढ़ाया गया, अर्थात् जो द्रव्य एवं कर्मरूप भी न हो और सत्तासयुक्त तो अवश्य हो ऐसा पदार्थ तो गुण ही होता है । इसतरह शब्द गुणरूप ही सिद्ध होते हैं अन्य किसी पदार्थ रूप नहीं, और जब वे गुणरूप ही हैं तो कही पर उनका आश्रित रहना अपने आप सिद्ध होता है ।

इन शब्दों का जो भी आश्रयभूत है वह तो पारिशेष्य न्याय से आकाश ही है, अब इसी पारिशेष्य का खुलासा करते हैं—शब्द नामा वस्तु गुण है इतनी बात तो निश्चित हो चुकी है, अब यह देखना है कि वह गुण नौ प्रकार के द्रव्यो में से कौन से द्रव्य मे रहता है । पृथिवी, जल, अग्नि तथा वायु इन चार द्रव्यों के जो कारण हैं ऐसे कारण द्रव्य स्वरूप स्पर्शादिमान परमाणुओं का शब्द विशेष गुण है ऐसा कह नहीं सकते, क्योंकि शब्द हम जैसे सामान्य जन के प्रत्यक्ष होता है जैसे कि कार्य द्रव्य के रूपादि गुण प्रत्यक्ष होते हैं, शब्द यदि परमाणुओं का गुण होता तो परमाणु की तरह वह भी हमारे प्रत्यक्ष गम्य नहीं होता । पृथिवी आदि कार्य द्रव्यों का विशेष गुण शब्द हो सो भी बात नही है, क्योकि कार्य द्रव्यांतर के उत्पन्न नहीं होने पर भी यह उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है, जैसा कि सुखदुःखादिक कार्य द्रव्यांतर की उत्पत्ति के बिना भी उत्पन्न हुआ ही करते है । तथा शब्द में इच्छा आदि के समान अकारण गुण-

भावित्वात्, अस्मदादिपुरुषान्तरप्रत्यक्षत्वे सति पुरुषान्तराप्रत्यक्षत्वाच्च तद्वत्, आश्रयाद्भेर्यादेरन्यत्रो-पलब्धेश्च। स्पर्शवतां हि पृथिव्यादीनां यथोक्तविपरीता गुणाः प्रतीयन्ते। नाप्यात्मविशेषगुणः; अहङ्कारेण विभक्तग्रहणात्, बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्, आत्मान्तरग्राह्यत्वाच्च। बुद्ध्यादीनां चात्म-गुणानां तद्वैपरीत्योपलब्धेः। नापि मनोगुणः; अस्मदादिप्रत्यक्षत्वाद्रूपादिवत्। नापि दिक्काल-विशेषगुणः, तयोः पूर्वापरादिप्रत्ययहेतुत्वात्। अतः पारिशेष्याद्गुणो भूत्वाकाशस्यैव लिङ्गम्।

पूर्वकपना है अर्थात् पृथिवी आदि का विशेष गुण तो परमाणु के गुणरूप कारण गुण पूर्वक होता है किन्तु शब्द ऐसा नहीं है वह तो इच्छादि गुणों के समान है, जैसे इच्छादि गुण परमाणु के कारण गुण पूर्वक नहीं होते अपितु अकारण गुणपूर्वक ही [आत्मा से] हुआ करते हैं वैसा ही शब्द नामा गुण है, तथा जैसे इच्छादि गुण अयावत्द्रव्य भावी हुआ करते हैं अर्थात् द्रव्य में सर्वत्र नहीं रहते वैसे ही शब्दनामा गुण आकाशद्रव्य में सर्वत्र नहीं रहता है। हम जैसे निकटवर्ती अनेक पुरुषों द्वारा प्रत्यक्ष होने पर भी दूरवर्ती पुरुषांतरों द्वारा शब्द प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है, जैसे इच्छादि गुण दूरवर्ती पुरुषों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होते हैं। शब्द की उपलब्धि भेरी आदि आश्रयभूत पदार्थ में जैसी होती है वैसे अन्य स्थान पर भी होती है अतः सिद्ध होता है कि शब्द आकाश का ही गुण है। स्पर्शगुणवाले पृथिवी आदि द्रव्यों में इन उपर्युक्त विशेषों से विपरीत ही गुण प्रतीत होते है अतः शब्द इनका गुण नहीं हो सकता। शब्द आत्मा का विशेष गुण भी नहीं है, क्योंकि शब्द का ग्रहण अहंकाररूप से नहीं होता अर्थात् जैसे मैं सुखी हूँ इत्यादि में "अहं मैं" ऐसा प्रतिभास होता है वैसा "मैं शब्द वाला हूँ" ऐसा प्रतिभास नहीं देखा जाता, इससे मालूम होता है कि शब्द आत्मद्रव्य का गुण नहीं है। तथा शब्द बाह्य में स्थित जो कर्णेन्द्रिय है उसके द्वारा प्रत्यक्ष होता है इसलिए अतीन्द्रिय आत्मा का विशेष गुण शब्द है ऐसा कहना असत् है। शब्द अन्य आत्माओं द्वारा भी ग्राह्य होता है इसलिए भी आत्मद्रव्य का विशेष गुण नहीं कहला सकता, बुद्धि आदिक जो आत्मा के विशेष गुण होते हैं वे ऐसे नहीं हुआ करते किन्तु इनसे विपरीत ही रहते हैं, अर्थात् शब्द के समान बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होना इत्यादि रूप नहीं रहते हैं। शब्द मन नामा द्रव्य का गुण है ऐसा भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि शब्द तो हम जैसे सामान्य व्यक्तियों के प्रत्यक्ष होता है, जिस तरह कि रूपरसादिक होते हैं किन्तु मनोद्रव्य का गुण ऐसा नहीं होता वह तो अप्रत्यक्ष रहता है।

तच्च शब्दलिङ्गाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्चैकम् । विभु च सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वात्, नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वाच्चात्मादिवत् । नित्यं शब्दाधिकरणं द्रव्यं सामान्य-विशेषवत्त्वे सत्यनाश्रितत्वादात्मादिवत् । अनाश्रितं शब्दाधिकरणं द्रव्य गुणवत्त्वे सत्यस्पर्शवत्त्वात्तद्वत् । असमवायवत्त्वे सत्यऽनाश्रितत्वाच्चास्य द्रव्यत्वमिति ।

शब्द दिशाद्रव्य, एवं कालद्रव्य का गुण है ऐसा कहना भी अशक्य है क्योंकि दिशादिद्रव्य तो पूर्व अपर आदि प्रत्ययों का [प्रतीतिका] निमित्त हुआ करते हैं । इसतरह पृथिवी आदि आठो ही द्रव्यों में शब्द गुण की उपलब्धि नहीं देखी जाती अतः परिशेष द्रव्य जो आकाश है उसी का यह गुण है ऐसा निश्चय होता है । इस तरह शब्द यदि गुण है तो वह अन्य द्रव्यों का न होकर पारिशेष्य न्याय से आकाश द्रव्य का गुण है और उसी का ज्ञापक लिंग है यह सिद्ध हुआ । शब्दरूप लिंग की विशेषता [एकता] के कारण तथा अन्य विशेष लिंग का अभाव होने के कारण वह आकाश द्रव्य एक द्रव्यरूप ही सिद्ध होता है, अर्थात् आकाश द्रव्य एक ही है, परमाणु आदि के समान अनेक नहीं है । उस आकाश का गुण [शब्द] सर्वत्र उपलब्ध होता है अतः यह व्यापक कहलाता है । आकाश सदा नित्य रहता है, क्योंकि हम जैसे व्यक्ति के द्वारा उसका गुण उपलब्ध होता है, ऐसे गुण का ही वह आधार है. जिस तरह आत्मादि द्रव्य नित्य तथा व्यापक माने जाते हैं वैसा ही आकाश द्रव्य है । आकाश द्रव्य नित्य कैसे है, ऐसी आशंका भी नहीं करना । अब इसी को बतलाते हैं–शब्दगुण का अधिकरण भूत जो द्रव्य है वह नित्य है । [प्रतिज्ञा] क्योंकि सामान्य विशेषवान होकर अनाश्रित रहता है, जैसे कि आत्मा आदि द्रव्य सामान्यादि युक्त होकर अनाश्रित रहते हैं । शब्द गुण का आधारभूत द्रव्य अनाश्रित कैसे है इस बात का भी निर्णय करते हैं—शब्द का अधिकरण भूत द्रव्य अनाश्रित होना चाहिए, क्योंकि यह द्रव्य गुण वाला होकर स्पर्श-वान नहीं है, जैसे कि आत्म द्रव्य स्पर्शवान नहीं है अतः अनाश्रित है । तथा आकाश समवायवान नहीं होकर भी अनाश्रित रहता है इसलिए भी इसका अनाश्रितपना सिद्ध होता है, अर्थात् आकाश को अनाश्रित कहने से उसे कोई समवायरूप माने तो वैसी बात नहीं है आकाश समवायवान नहीं होकर भी अनाश्रित है ।

इसतरह आकाश द्रव्य नित्य तथा व्यापक सिद्ध होता है, उसका अस्तित्व शब्द द्वारा निश्चित किया जाता है ऐसा हम वैशेषिक का आकाश द्रव्य के विषय में सिद्धान्त है ।

अत्र प्रतिविधीयते । शब्दानां सामान्येनाश्रितत्वं किमतः साध्यते, नित्यैकामूर्त्तविभुद्रव्याश्रितत्वं वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता; तेषां पुद्गलकार्यतया तदाश्रितत्वाभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षे तु सन्दिग्ध-विपक्षव्यावृत्तिकत्वेनानैकान्तिको हेतुः; तथाभूतसाध्यान्वितत्वेनास्य क्वचिद्दृष्टान्तेऽप्रसिद्धेः । प्रतिषिध्यमानकर्मभावत्वे सत्यपि च प्रतिषिध्यमानद्रव्यभावत्वमसिद्धम्; द्रव्यत्वाच्छब्दस्य । तथा हि-द्रव्यं शब्दः, स्पर्शाल्पत्वमहत्त्वपरिमाणसंख्यासंयोगगुणाश्रयत्वात्, यद्यदेवंविधं तत्तद्द्रव्यम् यथा बदरामलकबिल्वादि, तथा चायं शब्दः, तस्माद्द्रव्यम् ।

जैन—आकाश द्रव्य का जो भी आपने वर्णन किया है वह सर्व गलत है, आप जो शब्दों का आश्रय हो वह आकाश द्रव्य है ऐसा कहते है, सो शब्द को गुण बतलाकर उस गुणरूप हेतु द्वारा सामान्य रूप से शब्दो का कोई आश्रय होना चाहिए ऐसा सामान्य से आश्रितपना सिद्ध करना है अथवा नित्य, व्यापक, एक, अमूर्त्त ऐसे द्रव्य के आश्रित ही शब्द रहता है इस तरह का आश्रितपना सिद्ध करना है ? प्रथम पक्ष की बात कहो तो ठीक ही है, क्योंकि शब्द पुद्गल द्रव्य का कार्य होने से उसके आश्रित रहते हैं ऐसा हम जैन मानते हैं । दूसरा पक्ष—गुणत्व हेतु द्वारा शब्द का नित्य, एक, व्यापक द्रव्य का आश्रितपना सिद्ध किया जाता है, ऐसा माने तो यह गुणत्वहेतु सदिग्ध विपक्ष व्यावृत्ति वाला होने से अनैकान्तिक बन जाता है, अर्थात् आपका जो अनुमान वाक्य था कि "शब्द: कवचित् आश्रितः गुणत्वात् रूपादिवत्" शब्द कहीं पर आश्रित रहता है, क्योंकि वह गुण है, जैसे कि रूप रसादि गुण होने से आश्रित रहते हैं, सो इस गुणत्व हेतु द्वारा शब्द का आश्रयपना तो सिद्ध होवे किन्तु वह आश्रय नित्य, व्यापी, एक अमूर्त्त ऐसा द्रव्य ही होवे ऐसा तो कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि जो भी गुण हो वह सब ही नित्य, व्यापक, एक द्रव्य के आश्रित हो सो बात नही है तथा इस तरह के साध्य के साथ उस हेतु का अविनाभाव भी दृष्टांत में कही देखा नहीं जाता, अर्थात् रूप रस आदि गुण होने से कहीं आश्रित है ऐसा कहना तो ठीक है किन्तु ये रूप आदिक गुण नित्य, व्यापी, एक, अमूर्त्त द्रव्य में आश्रित नहीं रहते, अतः गुणत्व हेतु द्वारा शब्द में नित्य, अमूर्त्त व्यापक द्रव्य का आश्रयपना सिद्ध करना अशक्य है । आपने कहा कि शब्द में द्रव्यपने तथा कर्मपने का प्रतिषेध है, इस पर हम जैन का सिद्धांत है कि शब्द मे कर्मपने का भले ही निषेध हो जाय किन्तु द्रव्यपने का निषेध करना असिद्ध है, शब्द तो द्रव्य स्वरूप ही है, अनुमान से शब्द को द्रव्यरूप सिद्ध करके

तत्र न तावत्स्पर्शाश्रयत्वमस्यासिद्धम्; तथाहि-स्पर्शवाञ्छब्दः स्वसम्बद्धार्थान्तराभिघातहेतुत्वात् मुद्गरादिवत् । सुप्रतीतो हि कंसपात्र्यादिध्वानाभिसम्बन्धेन श्रोत्राद्यभिघातस्तत्कार्यस्य बाधिर्यादेः प्रतीतेः। स चास्याऽस्पर्शवत्त्वे न स्यात् । न ह्यस्पर्शवता कालादिनाभिसम्बन्धेऽसौ दृष्टः । न च शब्दसहचरितेन वायुना तदभिघातः इत्यभिधातव्यम्; शब्दाभिसम्बन्धान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्तस्य, तथाभूतेपि तदभिघातेऽन्यस्यैव हेतुकल्पने तत्रापि कः समाश्वासः ? शक्यं हि वक्तुम्-न

बताते हैं—द्रव्यं शब्दः, स्पर्शाल्पमहत्व परिमाण संख्या संयोग गुणाश्रयत्वात्" शब्द द्रव्य नामा पदार्थ स्वरूप ही है, क्योंकि उसमें स्पर्श गुण का आश्रयपना देखा जाता है, तथा अल्प एवं महान परिमाण का आश्रयपना पाया जाता है, संख्या गुण का और संयोग गुण का आश्रयपना भी उसमें उपलब्ध होता है, जो जो वस्तु इस प्रकार की हो वह वह द्रव्य ही है, जैसे बेर, आंवला, बेल आदि फल स्पर्श अल्प, महान आदि गुण के आश्रय होने से द्रव्यरूप हैं, शब्द भी इन बेर आदि वस्तु के समान है अतः द्रव्य ही कहलाता है ।

शब्द को जो स्पर्शगुणका आश्रयभूत माना है वह असिद्ध भी नहीं है, आगे इसी को कहते हैं—शब्द नामा पदार्थ स्पर्शवाला है, क्योंकि वह अपने से सम्बद्ध अन्य पदार्थ के अभिघात का कारण है, जैसे लाठी आदि पदार्थ अपने से सम्बद्ध हुए घट आदि पदार्थ का घात करने वाले देखे जाते हैं । सुप्रसिद्ध बात है कि कांसे के बर्त्तन आदि के ध्वनि-शब्द से सम्बन्धित होने के कारण कर्ण का अभिघात होता है तथा उससे बहिरापना आ जाता है । यदि शब्द स्पर्शवान् नही होता तो कर्ण का अभिघात होना आदि कार्य नहीं हो सकता था । जो पदार्थ स्पर्शवान् नही है उसका किसी से सम्बन्ध नहीं देखा गया है, जैसे कि काल द्रव्य स्पर्श रहित है तो उसके साथ किसी का अभिसम्बन्ध नही होता है ।

शंका—शब्द किसी से सम्बन्धित नहीं होता और न वह किसी का घात ही करता है, किन्तु शब्द के सहचारी वायु द्वारा कर्ण का अभिघात होना आदि कार्य होता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, कर्ण का अभिघात तो शब्द के साथ अन्वय व्यतिरेक रखता है, अर्थात् जब शब्द का सम्बन्ध कर्ण से होता है तभी उसका अभिघात होता है और वह सम्बन्ध नहीं होता है तो अभिघात भी नहीं होता है अतः कर्ण के

वाय्वाद्यभिसम्बन्धात्तदभिघात: किन्त्वन्येन, इत्यनवस्थानं हेतूनाम । गुणत्वेनास्य निर्गुणत्वात्स्पर्शाभावात्तदभिघाताहेतुत्वे चक्रकप्रसंगः—गुणत्वं ह्यद्रव्यत्वे, तदप्यस्पर्शवत्त्वे, तदपि गुणत्वे इति । स्पर्शवतार्थेनाभिहन्यमानत्वाच्च स्पर्शवानसौ । न चानेनाभिहन्यमानत्वमस्यासिद्धम्; प्रतिवातभित्त्यादिभि: शब्दस्याभिहन्यमानतया सकलजनसाक्षिकत्वात् मूर्तेन चामूर्तस्याविरोधेनाऽप्रतिघाताद्गगनभित्त्यादिवत् । तन्नास्य स्पर्शाश्रयत्वमसिद्धम् ।

घात का निमित्त शब्द सम्बन्ध ही है, इस प्रकार से कर्णाभिघात का कारण शब्द सम्बन्ध सिद्ध होते हुए भी उसे कारण न मानकर अन्य कोई कारण की कल्पना करेंगे तो उस कारण में शंका होवेगी कि शब्द सहचारी वायु से कर्ण का घात हुआ है या अन्य कारण से हुआ है ? कोई कह सकता है कि वायु के अभिसम्बन्ध होने से कान का अभिघात नही हुआ है किन्तु अन्य ही किसी कारण से हुआ है, फिर उस कारण के विषय में विश्वास नही होकर पुन: अन्य कारण की कल्पना होवेगी, इस तरह तो कारणों की अनवस्था सी बन जायगी ।

शंका—शब्द स्वयं एक गुण है अत: उसमें स्पर्शनामा गुण नही रह सकता, क्योंकि गुण में अन्य गुण नही रहते वह निर्गुण होता है, अत: शब्द में स्पर्शनामा गुण है उसके अभिसम्बन्ध से कर्ण का घात होता है ऐसा कहना ठीक नही ?

समाधान—यह बात गलत है, इस तरह चक्रक दोष होवेगा, प्रथम तो शब्द को अद्रव्यरूप सिद्ध करना, वह अद्रव्यपना भी अस्पर्शवत्व हेतु से सिद्ध होगा, पुनश्च अस्पर्शवत्व गुणत्व हेतु से सिद्ध होगा और गुणत्व से अद्रव्यपना सिद्ध होगा इस तरह चक्रक दोष आता है ।

स्पर्श वाले पदार्थ द्वारा अभिहत होने से भी शब्द में स्पर्श गुण का सद्भाव सिद्ध होता है । स्पर्शमान पदार्थ शब्द को अभिहत न करे सो भी बात नहीं है, स्पर्श वाले प्रतिकूल वायु द्वारा दीवाल आदि से शब्द अभिहत होते हुए अनुभव में आते हैं, यह सभी को प्रतीति में आता है । यदि शब्द स्पर्श रहित अमूर्त्त होता तो मूर्तिक दीवाल आदि से उसका अभिघात नहीं होता, क्योंकि मूर्तिक से अमूर्त्तका अविरोध होने से उनका परस्पर में अप्रतिघात है, जैसे आकाश और दीवाल का परस्पर में अविरोध होने से अप्रतिघात है अर्थात् मूर्तिक दीवाल और अमूर्त्त आकाश इनका अविरोध होने से दीवाल द्वारा आकाश अभिहत नहीं होता, वैसे ही शब्द को अमूर्त्त

नाप्यल्पमहत्त्वपरिमाणाश्रयत्वम्; अल्पमहत्त्वप्रतीतिविषयत्वाद्बदरादिवत्। ननु च 'अल्पः शब्दो मन्दः' इत्यादिप्रतीत्या मन्दत्वमेव धर्मो गृह्यते, 'महान् पटुस्तीव्रः' इत्यादिप्रतीत्या च तीव्रत्वम्, न पुनः परिमाणमियत्तानवधारणात्। नहि 'अयं महाञ्छब्दः' इति व्यवस्यन् 'इयान्' इत्यवधारयति, यथा द्रव्याणि बदरामलकबिल्वादीनि। मन्दतीव्रता चावान्तरो जातिविशेषो गुणवृत्तित्वाच्छब्दत्ववत्; तदप्यपेशलम्; यतः कथं शब्दस्य गुणत्वं सिद्धं यतस्तद्वृत्तित्वान्मन्दत्वादेर्जातिविशेषत्वं सिद्धयेत्? अद्रव्यत्वाच्चेत्; तदपि कथम्? अल्पमहत्त्वपरिमाणानधिकरणत्वाच्चेत्; तदपि कुतः? गुणत्वात्; चक्रकप्रसङ्गः।

माना जाय, स्पर्श रहित माना जाय तो उसका स्पर्शवान भित्ति आदि से प्रतिघात होना असिद्ध होता है, अतः शब्द का स्पर्शगुण का आश्रयपना असिद्ध नहीं है।

शब्द को द्रव्यरूप सिद्ध करने के लिए दूसरा कारण यह भी बताया था कि शब्द में अल्प तथा महान परिमाण रहता है अतः शब्द द्रव्य ही है, गुण नही है, सो यह अल्प महत्व परिमाणाश्रयत्व हेतु भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि बेर, आंवला आदि फलों के समान शब्द में भी अल्प तथा महान-छोटे बड़ेपन रूप मापकी प्रतीति आती है।

वैशेषिक—शब्द में अल्प तथा महानपने की जो प्रतीति होती है उसमें ऐसी बात है कि यह शब्द अल्प है मंद है इत्यादि प्रतीति से मंदपना रूप धर्म ही ग्रहण होता है, तथा यह शब्द महान है, पटु है, तीव्र है इत्यादि प्रतीति से तीव्ररूप धर्म ही ग्रहण होता है किन्तु इससे परिमाण–[माप] ग्रहण नही होता क्योंकि इयत्तारूप से निश्चय नहीं होता, किसी भी व्यक्ति को यह शब्द महान है, बड़ा भारी है इत्यादि रूप से निश्चय होते हुए भी उसकी इयत्ता इतनापना तो निश्चित नहीं होता, जैसे बेर आंवला बिल्व आदि मे अल्प तथा महानपना अर्थात् छोटे बड़े का इयत्ता–इतनापना बिलकुल निश्चित हो जाता है। तथा शब्द में जो मंद या तीव्रता प्रतीत होती है वह एक अवांतर जाति विशेष है, क्योंकि वह गुणवृत्ति वाली है जैसे शब्द मे शब्दत्व रहता है।

जैन—यह कथन असत् है, शब्द का गुणपना सिद्ध किये बिना यह नहीं कह सकते हैं कि तीव्र मंदता गुणवृत्ति वाली होने से जाति विशेष है। आप शब्द में गुणपना किसप्रकार सिद्ध करते हैं। शब्द गुणरूप है क्योंकि वह अद्रव्य है, इस तरह अद्रव्यत्व हेतु से गुणत्व सिद्ध करे तो वह अद्रव्यत्व भी किस हेतु से सिद्ध होवेगा? शब्द अद्रव्य है, क्योंकि वह अल्प तथा महान परिमाण का अधिकरण नहीं है, इस

द्रव्यान्तरवदियत्तानवधारणाच्चेत्; न; वायुनानैकान्तात्। न खलु बिल्वबदरादेरिव वायोरियत्तावधार्यते। वायोरप्रत्यक्षत्वादियत्ता सत्यपि नावधार्यते, न शब्दस्य विपर्ययात्; इत्यप्ययुक्तम्; गुणगुणिनो: कथञ्चिदेकत्वे गुणप्रतिभासे गुणिनोपि प्रतिभाससम्भवात्। वायुगतस्पर्शविशेषस्यैवाध्यक्षत्वाभ्युपगमे च 'स्पर्शोत्र शीत: खरो वा' इति प्रतीति: स्यान्न वायुरिति। न खलु रूपावभासिनि प्रत्यये सोवभासते। स्पर्शविशेषपरिणामस्यैव च वायुत्वात्कथं नास्य प्रत्यक्षत्वम्?

तरह के हेतु से शब्द में अद्रव्यपना सिद्ध करे तो पुन: प्रश्न होता है कि अल्प तथा महत्व परिमाण का अधिकरण नहीं होना भी किस हेतु से सिद्ध होगा? गुणत्व हेतु द्वारा कहो तो चक्रक दोष का प्रसंग आता है।

शंका—चक्रक दोष नहीं आयेगा, क्योंकि शब्द अल्प तथा महत्वधर्म का अधिकरण नहीं है इस बात की सिद्धि गुणत्व हेतु द्वारा न करके "द्रव्यांतरवत् इयत्ताअनवधारणात्–अन्य द्रव्य के समान शब्द के परिमाण की इयत्ता (इतना पना) निश्चित नहीं होता इस हेतु द्वारा सिद्धि करते हैं?

समाधान—यह कथन ठीक नहीं होगा, यह हेतु भी वायु के साथ अनेकान्तिक होता है, इसी को बताते हैं—बेल, बेर आदि फलों का परिमाण का जिसतरह "यह इतना छोटा परिमाण वाला है" इत्यादिरूप से निश्चय हो जाया करता है, उसतरह वायु का "यह इतने परिमाण में है" ऐसा अवधारण नहीं हो पाता है, अत: यह नहीं कह सकते कि इतनापनका अवधारण नहीं होने के कारण शब्द गुणरूप पदार्थ है।

वैशेषिक—वायु नामा पदार्थ अप्रत्यक्ष है अत: उसमें परिमाण की इयत्ता होते हुए भी प्रतीत नहीं हो पाती, किन्तु शब्द के विषय में ऐसी बात नहीं है, शब्द तो प्रत्यक्ष होता है, अत: उसमें यदि परिमाण की इयत्ता होती तो अवश्य ही प्रतीत हो जाती?

जैन—यह कथन अयुक्त है, आपने यह कहा कि वायु अप्रत्यक्ष है सो बात ठीक नहीं, गुण और गुणी में कथंचित् एकत्व हुआ करता है, अत: जहां गुण प्रतीत हुआ वहां गुणी भी प्रतीत होता है, वायु एक गुणी पदार्थ है और उसमें स्पर्श आदि गुण रहते हैं, वायुके स्पर्शका प्रतिभास होता ही है अत: उससे कथंचित् अभिन्न ऐसा वायु गुणी भी प्रतीत हुआ माना जायगा। यदि केवल वायुगत स्पर्श को ही प्रत्यक्ष

इयत्ता चेयं यदि परिमाणादन्या; कथमन्यस्यानवधारणेऽन्यस्याभाव: ? न खलु घटानवधारणे पटाभावो युक्त:। परिमाणं चेत्; तर्हि 'इयत्तानवधारणात्परिमाणं नास्ति' इत्यत्र 'परिमाणं नास्ति परिमाणानवधारणात्' इत्येतावदेवोक्तं स्यात्। अल्पत्वमहत्त्वप्रत्ययतस्तत्परिमाणावधारणे च कथं तदनवधारणं नामामलकादावपि तत्प्रसंगात् ? मन्दतीव्रताभिसम्बन्धात्तत्प्रत्ययसम्भवे च मन्दवाहिनि

होना स्वीकार करो तो "यहां पर शीत स्पर्श है, यहां उष्ण स्पर्श है" ऐसा प्रतिभास होना चाहिए, न कि शीत वायु है उष्ण वायु है, ऐसा प्रतिभास होना चाहिए ? वायु का प्रतिभास रूप की प्रतीति कराने वाले ज्ञान में नही होता, अपितु स्पर्श की प्रतीति वाले ज्ञान में होता है। शीत आदि स्पर्श विशेष जो परिणाम है वही वायु नामा पदार्थ है, और वह स्पर्श विशेष इन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है, अत: वायु को किस प्रकार प्रत्यक्ष नहीं माना जाय ? अर्थात् उसे प्रत्यक्ष ही स्वीकार करना होगा।

वैशेषिक का कहना है कि शब्द के मापका यह अवधारण नहीं होता कि यह शब्द इतने परिमाण वाला है, अत: उसमे अल्प और महान परिमाण स्वरूप गुण नहीं है इत्यादि, सो यह इयत्ता (इतनापना) परिमाण से यदि अन्य है तो इयत्ता का अवधारण अर्थात् निश्चय नही होने से परिमाण का अवधारण भी नही होता ऐसा किस प्रकार कह सकते हैं ? क्योंकि दोनों पृथक्-पृथक् हैं, ऐसे पृथक् दो वस्तु में से एक का अवधारण न हो तो दूसरे का अभाव है ऐसा नहीं कह सकते, घट का अवधारण नहीं होने पर पट का अभाव करना तो युक्त नहीं। यदि कहा जाय कि इयत्ता और परिमाण अन्य अन्य नहीं है एक ही है तो "इयत्ता का निश्चय नहीं होने से परिमाण नहीं है" ऐसा जो पहले कहा था उसका अर्थ यही निकला कि परिमाण [माप] नही क्योंकि परिमाण का अवधारण नहीं होता है किन्तु ऐसा कहना बनता नहीं, क्योंकि यह शब्द अल्प है, यह महान है इत्यादि प्रतिभास से शब्द के परिमाण का [मापका] अवधारण हो रहा है तब कैसे कह सकते हैं कि शब्द का परिमाण अवधारित नहीं होता, शब्द के अल्प-महत्व का निश्चय होते हुए भी यदि उसका शब्द में अस्तित्व न माना जाय तथा उसका अवधारण न माना जाय तो आंवला, बेल आदि फलों के परिमाण का [अल्प-महत्वरूप छोटे बड़े का] अवधारण नहीं मानने का प्रसंग आयेगा।

शंका—शब्द में मंद और तीव्रता का अभिसम्बन्ध होता है अत: यह शब्द अल्प है यह महान है, ऐसा प्रतिभास हो जाया करता है ?

नर्मदानीरे 'अल्पमेतत्' तीव्रवाहिनि च कुल्याजले 'महदेतत्' इति प्रत्ययः स्यात्। न चैवम्। तस्मान्न मन्दतीव्रतानिबन्धनोयं प्रत्ययः, अपि त्वल्पमहत्त्वपरिमाणनिबन्धनः, अन्यथा बदरामलकादावपि तन्निबन्धनोसौ न स्यात्। बदरादीनां द्रव्यत्वेन तत्परिमाणसम्भवात्तस्य तन्निबन्धनत्वे शब्देप्यत एवासौ तन्निबन्धनोस्तु विशेषाभावात्। कारणगतस्य चाल्पमहत्त्वपरिमाणस्य शब्दे उपचारात्तथा प्रत्यये बदरादावप्यसौ तथानुषज्येत। तन्नाल्पमहत्त्वपरिमाणाश्रयत्वमप्यस्यासिद्धम्।

समाधान—यदि ऐसा कहेंगे तो मंद मंद बहने वाले नर्मदा नदी के जल में "यह जल अल्प है" ऐसा ज्ञान होना चाहिए तथा तीव्रता से बहने वाले नहर या छोटी नदी के जल में "यह जल महान है" ऐसा ज्ञान होना था। किन्तु ऐसा ज्ञान नहीं होता इसलिये मानना होगा कि शब्द में अल्प और महानपने का जो प्रतिभास होता है उसका कारण मंदता और तीव्रता नहीं है किन्तु अल्प और महान परिमाण ही है और उसीके कारण वैसा प्रतिभास हुआ करता है। यदि शब्द में इसतरह की व्यवस्था नहीं मानी जाय तो बेर और आंवला आदि वस्तु मे भी अल्प और महानपने के परिमाण के कारण वैसी प्रतीति नही आकर मंद और तीव्रता के कारण आती है ऐसा स्वीकार करना होगा।

वैशेषिक—बेर, आंवले आदि फल द्रव्यरूप हैं अतः उनमें अल्प और महान परिमाणरूप गुण रहता है और उसके निमित्त से वैसा प्रतिभास भी हो जाता है।

जैन—तो फिर शब्द में भी ऐसी बात मान लेना चाहिए, उसमें भी अल्प और महान परिमाणरूप गुण रहते हैं और उसके निमित्त से वैसा प्रतिभास होता है ऐसा मानना होगा, कोई विशेषता नहीं है।

वैशेषिक—शब्द का कारण जो आकाश है उस आकाश द्रव्य के कारण उसके गुण स्वरूप शब्द में भी अल्प तथा महान परिमाण का उपचार होता है और उसके कारण ही अल्प आदि परिमाण की प्रतीति शब्द में भी होती है।

जैन—ऐसा कहो तो बेर, आंवला आदि पदार्थों में भी अल्प एवं महानपने की प्रतीति उपचार से आरोपित अल्प आदि गुण से होती है ऐसा मानना पड़ेगा। किंतु इस तरह की बात किसी को भी इष्ट नहीं है इसलिये कहना होगा कि बेर, आंवले आदि के समान शब्द में भी अल्प तथा महान परिमाणरूप गुण रहते हैं। इसप्रकार शब्द अल्प महत्व परिमाण के आश्रयभूत है ऐसा जो हेतु दिया था वह असिद्ध नहीं है

नापि सङ्ख्याश्रयत्वम्; 'एक: शब्दो द्वौ शब्दौ बहव: शब्दा:' इति संख्यावत्त्वप्रतीतेर्घटादिवत्। अथोपचाराच्छब्दे संख्यावत्त्वप्रतीति:; ननु किं कारणगता, विषयगता वा शब्दे संख्योपचर्येत? कारणगता चेत्; किं समवायिकारणगता, कारणमात्रगता वा? आद्यपक्षे 'एक: शब्द:' इति सर्वदा व्यपदेशप्रसङ्गस्तस्यैकत्वात्। द्वितीयपक्षे तु 'बहव: शब्दा:' इति व्यपदेश: स्यात्तस्य बहुत्वात्। विषयसंख्योपचारे तु गगनाकाशव्योमादिशब्दा बहुव्यपदेशभाजो न स्युर्गगनलक्षणविषयस्यैकत्वात्। पश्वादीनां च बहुत्वात् 'एको गोशब्द:' इति स्वप्नेपि दुर्लभम्। यथाऽविरोध संख्योपचार:; इत्यप्ययुक्तम्;

शब्द में संख्या का आश्रयपना भी असिद्ध नहीं है, शब्द में भी घट पट आदि पदार्थों के समान यह एक शब्द है, ये दो शब्द हैं, ये बहुत से शब्द हैं, इत्यादि संख्यावान की प्रतीति होती ही है।

वैशेषिक—शब्द में एक दो आदि संख्या की जो प्रतीति होती है वह औपचारिक है?

जैन—अच्छा तो शब्द में संख्या का जो उपचार होता है वह किस संख्या का होता है, कारण में होने वाली संख्या का अथवा विषय में होने वाली संख्या का? शब्द का जो कारण है उसकी संख्या का शब्द में उपचार होता है ऐसा कहो तो उसमें पुन: प्रश्न होता है कि समवायी कारण की संख्या का उपचार होगा या कारण मात्र की संख्या का उपचार होगा? प्रथम पक्ष कहो तो "एक:शब्द:" एक शब्द है, ऐसा हमेशा शब्द का नाम रहेगा, क्योंकि शब्द का समवायी कारण जो आकाश माना है वह एक ही है अत: उसकी संख्या का आरोप शब्द में होगा तो शब्द भी सदा एक संख्यारूप रहेगा। दूसरा पक्ष–शब्द के जो जो कारण है उन सभी की संख्या का शब्द में उपचार किया जाता है ऐसा कहे तो "बहव: शब्दा:" बहुत शब्द हैं ऐसा नाम रहेगा, क्योंकि शब्द के कारण तो तालु आदि बहुत प्रकार के हैं। शब्द का जो विषय है अर्थात् शब्द द्वारा जो पदार्थ कहे जाते हैं उनकी संख्या का शब्द में उपचार करते हैं ऐसा द्वितीय विकल्प कहा जाय तो गगन, आकाश, व्योम इत्यादि शब्द बहु वचन वाले नहीं हो सकेंगे, क्योंकि इन गगन आदि शब्दों का विषय जो आकाश द्रव्य है वह एक ही है। तथा विषय की संख्या शब्द में उपचरित होती है तो पशु, वाणी, चन्द्र, किरण, राजा आदि बहुत से अर्थों में एक गो शब्दका प्रयोग स्वप्न में भी दुर्लभ होगा। क्योंकि पशु आदि विषय तो बहुत हैं और गो शब्द एक है।

स्वयं संख्यावत्त्वमन्तरेणाविरोधासम्भवात् ।

किञ्च, विपरीतोपलम्भस्य बाधकस्य सद्भावे सत्युपचारकल्पना स्यात्, न चाग्नित्वरहित-पुरुषस्येवैकत्वादिसंख्यारहितस्य शब्दस्योपलम्भोस्तीति कथमुपचारकल्पना ? तथापि तत्कल्पने अनुप-चरितमेव न किञ्चित्स्यात् । तन्न संख्याश्रयत्वमप्यसिद्धम् ।

नापि संयोगाश्रयत्वम्; वाय्वादिनाभिहन्यमानत्वात् पांश्वादिवत् । संयुक्ता एव हि पांश्वादयो वायुनान्येन वाऽभिहन्यमाना दृष्टाः । तेन तदभिघातश्च देवदत्तं प्रत्यागच्छतः प्रतिवातेन प्रतिनिवर्त्त-

---

शंका—एक दो आदि पदार्थों के अनुसार अविरोधपने से उन विषयों की संख्या का शब्द में उपचार हो जायगा ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है, स्वयं शब्द संख्यावान नहीं है अतः परकी संख्या से उसमें संख्या की अविरोधपनेरूप प्रवृत्ति होना असम्भव हो है ।

किञ्च, शब्द में संख्यावानपने से विपरीत जो असंख्यावानपना है उसका सद्भाव यदि होता तो कह सकते थे कि शब्द में जो एक दो आदि संख्या की प्रतीति आ रही है वह उपचरित है, किन्तु एकत्व आदि संख्या से रहित शब्द कभी उपलब्ध नहीं होते, फिर कैसे कहे कि शब्द में संख्या का उपचार होता है, जैसे कोई पुरुष है वह अग्नि रहित प्रतीत होता है फिर उसमें कदाचित् क्रोधावेश देखकर अग्नि का उपचार कर लेते हैं कि यह पुरुष तो अग्नि है । इसतरह शब्द में संख्या का उपचार होना अशक्य है, शब्द तो स्वयं ही संख्यायुक्त है । शब्द में स्वयं संख्या प्रतिभासित हो रही है तो भी उसे उपचरित बताया जाय तो अनुपचरित कोई वस्तु नहीं रहेगी सभी को उपचरित ही मानना पड़ेगा। अतः कहना होगा कि शब्द में स्वयं संख्या रहती है । इस तरह शब्द संख्या का आश्रय है ऐसा हमारा कहा हुआ हेतु असिद्ध नहीं है ।

शब्द संयोग का आश्रय है यह बात भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि शब्द वायु आदि से अभिहत होते हुए देखे जाते हैं जैसे कि धूल, कागज आदि पदार्थ वायु आदि से अभिहत होने से उसका धूलादि के साथ संयोग स्वीकार किया जाता है, जब धूल, पत्ते आदि पदार्थ वायु या हस्तादि से संयुक्त होते हैं तभी अभिहत—ताड़ित होते हुए देखे जाते हैं । शब्द का अभिघात भी होता है, कोई शब्द देवदत्त के पास आता हुआ बीच में ही प्रतिकूल हवा के चलने से रुक जाता है जैसे मिट्टी धूलि आदि प्रतिकूल

नात्पांश्वादिवद्देवावसीयते, तदप्यन्यदिगवस्थितेन श्रवणात् । ननु गन्धादयो देवदत्तं प्रत्यागच्छन्तस्तेन निवर्त्यन्ते, न च तेषां तेन संयोगो निर्गुणत्वाद्गुणानाम्; तन्न; तद्वतो द्रव्यस्यैवानेन प्रतिनिवर्त्तनात्, केवलानां तेषां निष्क्रियत्वेनागमननिवर्त्तनायोगात् । ततः सिद्धं गुणवत्त्वाद्द्रव्यत्वं शब्दस्य ।

क्रियावत्त्वाच्च बाणादिवत् । निष्क्रियत्वे तस्य श्रोत्रेणाऽग्रहणमनभिसम्बन्धात् । तथापि ग्रहणे श्रोत्रस्याप्राप्यकारित्वं स्यात् । तथा च, 'प्राप्यकारि चक्षुर्बाह्येन्द्रियत्वात्त्वगिन्द्रियवत्' इत्यस्याने-

---

वायु से उड़ते हुए बीच में ही रुक जाते हैं, उल्टी दिशा में उड़ने लग जाते हैं उससे मालूम होता है कि इन पदार्थों का वायु आदि से संयोग होने के कारण अभिघात हुआ है, तथा शब्द भी वायु के कारण अन्य दिशा में स्थित पुरुष द्वारा सुनाई देते हैं अतः उनका वायु से संयोग हुआ है ऐसा सिद्ध होता है ।

शंका—गन्ध आदि गुण भी देवदत्त के प्रति आते हुए वायु से रुक जाते हैं अथवा लौट जाते हैं किन्तु उन गंधादि का वायु के साथ संयोग तो नहीं माना जाता, क्योंकि गन्ध आदिक स्वयं ही गुण है, गुण में अन्य गुण नहीं होते, वे तो निर्गुण हुआ करते हैं ।

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करना, गन्धादिका जो निवर्त्तन होता है वह गन्धादिमान द्रव्य का ही निवर्त्तन है, वायु द्वारा गन्ध आदि गुणवाला द्रव्य ही निवृत्त होता है, द्रव्य रहित केवल गुण तो निष्क्रिय हुआ करते हैं वे न आते हैं और न निवृत्त होते हैं, गमन लौटना आदि क्रिया का उनमें अयोग है । इसप्रकार शब्द में संख्यावान पना, संयोग पना आदि गुण पाये जाने से वह द्रव्य रूप सिद्ध होता है, गुण रूप नहीं, अतः शब्द गुण नहीं अपितु गुणवाला या गुणवान द्रव्य यह निश्चित हुआ ।

शब्द में बाण आदि की तरह क्रियावानपना भी है, यदि शब्द क्रियावान नहीं होता, निष्क्रिय होता तो कर्ण से उसका सम्बन्ध नहीं हो सकने से कर्ण द्वारा शब्द का ग्रहण नहीं होता । शब्द का सम्बन्ध हुए बिना ही कर्ण उसे ग्रहण करता है ऐसा कहो तो कर्ण को अप्राप्यकारी मानना होगा, फिर "प्राप्यकारि-चक्षु, बाह्येन्द्रियत्वात् त्वग् इन्द्रियवत्" चक्षु प्राप्यकारी है, क्योंकि वह बाह्य इन्द्रिय है, जैसे कि स्पर्शनेन्द्रिय है ऐसा कथन अनैकान्तिक होता है । अर्थात् स्पर्शन आदि पांचों ही इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं क्योंकि वे बाह्येन्द्रियां हैं ऐसा आप वैशेषिक मानते हैं किन्तु यहां कर्ण शब्द को बिना

कान्तिकत्वम् । सम्बन्धकल्पने श्रोत्रं वा शब्दोत्पत्तिप्रदेशं गत्वा शब्देनाभिसम्बध्येत, शब्दो वा स्वोत्पत्तिदेशादागत्य श्रोत्रेणाभिसम्बध्येत ? न तावद्धर्माधर्माभ्यां संस्कृतकर्णशष्कुल्यवरुद्धनभोदेशलक्षणश्रोत्रस्य शब्दोत्पत्तिदेशे गतिः, तथा प्रतीत्यभावात्, निष्क्रियत्वाच्च । गतौ वा विवक्षितशब्दान्तरालवर्त्तिनामल्पशब्दानामपि ग्रहणप्रसङ्गः; सम्बन्धाविशेषात् । अनुकूलप्रतिकूलतिर्यग्वातेषु प्रतिपत्त्यप्रतिपत्तीषत्प्रतिपत्तिभेदाभावश्च, श्रोत्रस्य गच्छतस्तत्कृतोपकाराद्ययोगात् । नापि शब्दस्य श्रोत्रप्रदेशागमनम्; निष्क्रियत्वोपगमात् । आगमने वा सक्रियत्वम् ।

सम्बद्ध किये–प्राप्त किये ग्रहण करता है ऐसा कहा अतः उक्त कथन व्यभिचरित होता है। तथा शब्द को अभिसम्बन्धित माना जाय तो सम्बन्ध करने के लिए गमनादि क्रिया कौन करेगा। कर्ण शब्द के उत्पत्ति स्थान पर जाकर शब्द से सम्बन्ध करेंगे, अथवा शब्द अपने उत्पत्ति स्थान [तालु, ओठ आदि] से आकर कर्ण के साथ सम्बन्ध स्थापित करेंगे ? शब्दोत्पत्ति स्थान पर कर्ण तो जा नहीं सकता, क्योंकि धर्म और अधर्मनामा आत्मा का जो अदृष्ट गुण है उसके द्वारा संस्कारित किया गया जो कर्ण पुट है उससे अवरुद्ध जो आकाश प्रदेश हैं उन्हें आप कर्ण संज्ञा देते हैं। उस कर्ण का शब्दोत्पत्ति स्थान के पास जाना प्रतीत नहीं होता है, तथा उक्त कर्ण निष्क्रिय होने से गमन भी नहीं कर सकता है। यदि कर्ण गमन करता है तो उस विवक्षित शब्द के अंतरालवर्त्ती अन्य अन्य जो शब्द रहेंगे उनका भी ग्रहण करने का प्रसंग आता है, क्योंकि उनके साथ भी सम्बन्ध हो गया है। यदि कर्ण शब्द स्थान पर आता है तो अनुकूल वायु के कारण भली प्रकार सुनाई देना–प्रतीति होना, प्रतिकूल हवा के चलने से शब्दों का सुनाई नहीं देना–प्रतीति नहीं होना, तिरछी हवा के कारण कुछ कुछ सुनाई देना इत्यादि रूप से शब्द के ग्रहण होने में जो भेद होता है वह किस प्रकार सम्भव होगा। क्योंकि कर्ण स्वयं ही शब्दके पास आया है। कर्ण ही शब्दोत्पत्ति प्रदेश पर जा रहा है तो वायु द्वारा उसका उपकार आदि होने का भी अयोग होगा।

दूसरा पक्ष कहे कि शब्द के पास कर्ण नहीं आता किन्तु शब्द ही कर्ण के पास आते हैं सो भी बात नहीं बनती, क्योंकि आप वैशेषिक ने शब्द को भी निष्क्रिय माना है। यदि शब्द कर्ण के पास आते हैं तो इसका मतलब क्रियावान है और क्रियावान है तो शब्द द्रव्यरूप ही सिद्ध हुआ। फिर उसे गुणरूप सिद्ध करने का प्रयास व्यर्थ है।

ननु नाद्य एवाकाशतच्छङ्खमुखसंयोगेश्वरादेः समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणाज्जातः शब्दः श्रोत्रेणागत्य सम्बध्यते येनायं दोषः, अपि तु वीचीतरङ्गन्यायेनापरापर एवाकाशशब्दादिलक्षणात् समवाय्यसमवायिनिमित्तकारणाज्जातः तेनाभिसम्बध्यते; तदप्यसमीचीनम्; सर्वत्र क्रियोच्छेदानुषङ्गात्। 'बाणादयोपि हि पूर्वपूर्वसमानजातीयलक्षणप्रभवा लक्ष्यप्रदेशव्यापिनो न पुनस्ते एव' इति कल्पयितुं शक्यत्वात्। तत्र प्रत्यभिज्ञानान्नित्यत्वसिद्धेर्नैवं कल्पना चेत्; नन्विदं प्रत्यभिज्ञानं शब्देपि समानम् 'उपाध्यायोक्तं शृणोमि शिष्योक्तं वा शृणोमि' इति प्रतीतेः।

वैशेषिक—उक्त प्रयास व्यर्थ नहीं होगा, शब्द के विषय में ऐसी मान्यता है कि आकाश, तथा शंख्य और मुखका संयोग एवं ईश्वर आदि समवायी असमवायी कारणों से पहला शब्द उत्पन्न होता है वह शब्द आकर कर्ण से सम्बद्ध नहीं होता किन्तु वीची तरंग न्याय के समान जिसके आकाश, शब्द, ईश्वर आदि समवायी तथा असमवायी कारण होते हैं ऐसे अपर अपर ही शब्द कर्ण से सम्बद्ध होता है, अर्थात् जैसे समुद्र में लहरे उठती हैं वे एक न होकर अनेक हुआ करती है, प्रथम एक लहर उठती है, फिर उससे आगे आगे दूर तक दूसरी दूसरी लहरे बनती जाती है, वैसे शब्द पहले तो आकाश आदि कारणों से उत्पन्न होता है पुनः उससे आगे आगे कर्ण प्रदेश तक अन्य अन्य शब्द आकाश आदि से उत्पन्न होते हैं, अंतिम कर्ण प्रदेश के पास जो शब्द उत्पन्न होता है उससे कर्ण का सम्बन्ध होता है।

जैन—यह कथन असत्य है, इस तरह मानेंगे तो सब जगह सब वस्तु में क्रियाशीलता का अभाव हो जायगा, कोई कह सकता है कि बाण आदि पदार्थ भी वैशेषिक के शब्द के समान वीची तरंग न्याय से लक्ष्य स्थान पर पहुंचते हैं अर्थात् जो बाण धनुष से छूटा है वह लक्ष्य स्थान पर नहीं पहुंचता अपितु बीच में अन्य अन्य ही बाण पूर्व पूर्व बाण से उत्पन्न होते हैं अन्त में लक्ष्य स्थान के निकट जो बाण उत्पन्न होगा वही लक्ष्य को वेधेगा।

वैशेषिक—बाण आदि पदार्थ के विषय में वीची तरंग की कल्पना नहीं होवेगी क्योंकि प्रत्यभिज्ञान द्वारा [यह वही बाण है जो धनुष से निकला था] बाण की नित्यता मालूम होती है।

जैन—यही प्रत्यभिज्ञान शब्द में भी सम्भव है, इसमें भी उपाध्याय के कहे हुए शब्द को मैं सुन रहा हूँ, शिष्य के कहे शब्द को सुन रहा हूँ इत्यादि प्रत्यभिज्ञान से

ननु प्रत्यभिज्ञानस्य भवद्दर्शने दर्शनस्मरणकारणकत्वादत्र च तदभावात्कथं तदुत्पत्तिः ? न खलूपाध्यायोक्ते शब्दे दर्शनवत्स्मरणं भवति; अस्य पूर्वदर्शनाद्याहितसंस्कारप्रबोधनिबन्धनत्वात् । न च कारणाभावे कार्यं भवत्यतिप्रसंगात्; इत्यप्यनुपपन्नम्; सम्बन्धिताप्रतिपत्तिद्वारेणात्रैकत्वस्य प्रतीतेः । सम्बन्धितायां च दर्शनस्मरणयोः सद्भावसम्भवात्प्रत्यभिज्ञानस्योत्पत्तिरविरुद्धा । तथाहि– प्रत्यक्षानुपलम्भतोऽनुमानतो वा तत्कार्यतया तत्संबन्धिनं शब्दं प्रतिपद्येदानीं तत्स्मृत्युपलम्भोद्भूतं

शब्द की नित्यता सिद्ध होती है ।

वैशेषिक—आपके जैनमत में दर्शन और स्मरण द्वारा प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति मानी है वह दर्शनादिरूप कारण शब्द में होना सम्भव नहीं, फिर किस प्रकार वह ज्ञान उत्पन्न होवे ? उपाध्याय के कहे हुए शब्द में जैसे दर्शन अर्थात् श्रवणेन्द्रियज प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वैसे स्मरण ज्ञान नही होता क्योंकि स्मरण ज्ञान पूर्व में देखे हुए वस्तु के सस्कार के जाग्रत होने पर होता है । कारण के अभाव में कार्य नहीं होता है, यदि माना जाय तो अतिप्रसंग आयेगा ।

जैन—यह कथन गलत है, शब्द का सम्बन्धीपना जानने से उसमें एकत्व की प्रतीति हो जाया करती है, अर्थात् मेरे द्वारा यह जो शब्द सुना जा रहा है वह उपाध्याय का कहा हुआ है, इस तरह शब्द में एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता है । जब संबंधिता दर्शन और स्मरण के सद्भाव में ही सम्भव है तब यहां शब्द के विषय में प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति होना अविरुद्ध ही होगा । अब इसी को कहते हैं—प्रत्यक्ष और अनुपलंभ प्रमाण से अर्थात् अन्वय व्यतिरेक से या अनुमान प्रमाण से यह उपाध्याय का कार्य स्वरूप शब्द है–उपाध्याय का कहा हुआ है इस तरह उपाध्याय सम्बन्धी शब्द को जानकर वर्त्तमान में उस शब्द की स्मृति होने से उत्पन्न हुआ जो प्रत्यभिज्ञान है वह उपाध्याय तथा शब्द के सम्बन्धीपने को जानता हुआ शब्द के एकत्व विशिष्ट को ही जानता है यदि ऐसी बात नहीं होती तो उपाध्याय का कहा हुआ शब्द सुन रहा हूं इसतरह का प्रतिभास नहीं होता अपितु उपाध्याय के कहे हुए शब्द से उत्पन्न हुआ उसके समान अन्य कोई शब्दान्तर को सुन रहा हूं ऐसा प्रतिभास होना चाहिए था ? किन्तु होता नहीं । आपने शब्द का वीचीतरंग न्याय से उत्पन्न होना बताया सो उसका आगे इसी ग्रन्थ में निषेध करनेवाले हैं ।

प्रत्यभिज्ञानं तत्सम्बन्धितया तं प्रतिपद्यमानमेकत्वविशिष्टमेव प्रतिपद्यते, अन्यथा 'उपाध्यायोक्तं शृणोमि' इति प्रतीतिर्न स्यात्, किन्तु 'तदुक्तोद्भूतं तत्सदृशं शब्दान्तरं शृणोमि' इति प्रतीतिः स्यात्। वीचीतरंगन्यायेन तदुत्पत्तिश्चात्रैव निषेत्स्यते।

यदि पुनर्लू नपुनर्जातनखकेशादिवत्सदृशापरापरोत्पत्तिनिबन्धनमेतत्प्रत्यभिज्ञानं न कालान्तरस्थायित्वनिबन्धनम्; तद्बाणादावपि समानम्। न समानमत्र बाधकसद्भावात् तथा कल्पना, नान्यत्र

वैशेषिक—जिस प्रकार नख और केश पुनः पुनः काटकर पुनः पुनः तत्सदृश अन्य अन्य उत्पन्न होते हैं और उनमें सदृश निमित्तक प्रत्यभिज्ञान होता है, उसीप्रकार शब्द कर्ण प्रदेश तक अन्य अन्य तत्सदृश उत्पन्न होता है और उसमें सदृश निमित्तक प्रत्यभिज्ञान होता है, किन्तु कालान्तर स्थायी शब्द निमित्तक अर्थात् एकत्व निमित्त प्रत्यभिज्ञान नहीं होता, अभिप्राय यह है कि शब्द में जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह सदृशमूलक है एकत्वमूलक नहीं है।

जैन—यही कथन बाणादि में भी घटित कर सकते हैं, अर्थात् धनुष से निर्गत बाण लक्ष्य तक नहीं जाता अपितु तत्सदृश उत्पन्न हुआ अन्य बाण ही जाता है तथा उसमें जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह सदृशमूलक है एकत्वमूलक नहीं ऐसा कहना होगा। [जो सर्वथा विरुद्ध होगा]

वैशेषिक—बाण के समान शब्द की बात नहीं है, शब्द को कालांतर स्थायी मानने में एवं उसमें एकत्वमूलक प्रत्यभिज्ञान मानने में बाधा आती है, अतः शब्द को क्षणिक मानते हैं। बाणादि पदार्थों को कालान्तर स्थायी मानने में बाधक प्रमाण नहीं है अतः उनको उस रूप माना जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि शब्द में प्रत्यभिज्ञान होने से कालान्तर स्थायित्व एवं एकत्व है ऐसा जैन का कहना सिद्ध नहीं होता।

जैन—अच्छा तो बताइये कि शब्द को अक्षणिक बतलानेवाले प्रत्यभिज्ञान में अर्थात् यह वही उपाध्याय का कहा हुआ शब्द है इत्यादिरूप जो ज्ञान होता है उसमें बाधा आती है ऐसा जो कहा सो इस प्रत्यभिज्ञान को बाधा देनेवाला कौनसा प्रमाण होगा, प्रत्यक्ष या अनुमान, प्रत्यक्ष कहो तो वह भी कौनसा एकत्व विषयवाला या क्षणिकत्व विषयवाला, एकत्व विषयवाला प्रत्यक्ष प्रमाण एकत्व विषयवाले ही प्रत्यभि-

विपर्ययात् । नन्वत्र प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा बाधकं कल्प्येत ? प्रत्यक्षं चेत्; किमेकत्वविषयम्, क्षणिकत्वविषयं वा ? न तावदेकत्वविषयम्; समविषयत्वेन तदनुकूलत्वात् । नापि क्षणिकत्वविषयम्; शब्देऽन्यत्र वा तस्य विवादगोचरापन्नत्वात् । नाप्यनुमानम्; प्रत्यभिज्ञानं हि मानसप्रत्यक्षं भवन्मते तस्य कथमनुमानं बाधकम् ? प्रत्यक्षमेव हि बाधकम् आमताग्राह्येकशाखाप्रभवत्वानुमानस्य, न पुनस्तदनुमानं प्रत्यक्षस्य । अथाध्यक्षाभासत्वादस्यानुमानं बाधकम्, यथा स्थिरचन्द्रार्कादिविज्ञानस्य

ज्ञान में बाधक बन नही सकता, क्योंकि समान विषयवाला होने से वह तो उसके अनुकूल ही रहेगा । क्षणिकत्व विषयवाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञान का बाधक नहीं है, क्योंकि शब्द हो चाहे अन्य कोई पदार्थ हो उसकी क्षणिकता अभी तक विवाद की कोटि में ही है अर्थात् किसी भी वस्तु का सर्वथा क्षणिकपना आज तक भी सिद्ध नहीं हुआ है ।

अनुमान प्रमाण भी शब्द के कालान्तर स्थायित्व के ग्राहक प्रत्यभिज्ञान का बाधक होना अशक्य है, क्योंकि आप वैशेषिक ने प्रत्यभिज्ञान को मानस प्रत्यक्षरूप माना है सो ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानको अनुमान प्रमाण कैसे बाधित कर सकता है ? बाधक तो प्रत्यक्ष ही बनता है, जैसेकि ये सब फल पके हैं, क्योकि एक ही शाखा में लगे हैं, ऐसा किसी ने अनुमान प्रमाण उपस्थित किया सो इस अनुमान में प्रत्यक्ष से बाधा आयेगी अर्थात् प्रत्यक्ष से उन फलो में से बहुत से फल कच्चे दिखायी देते हैं, सो पूर्वोक्त अनुमान को यह प्रत्यक्ष ज्ञान बाधित करेगा, अतः निश्चित होता है कि प्रत्यक्ष अनुमान का बाधक होता है, अनुमान प्रत्यक्ष को बाधित नहीं कर सकता ।

वैशेषिक—ठीक है, किन्तु शब्द को कालांतर स्थायी बतलानेवाला प्रत्यभिज्ञान स्वरूप प्रत्यक्षज्ञान तो प्रत्यक्षाभास है, अतः ऐसे प्रत्यक्षाभास को अनुमान बाधित कर देता है, जैसे चन्द्र, सूर्य आदि अस्थिर पदार्थों को स्थिर रूप से प्रतिभासित करने वाले ज्ञानको देश से देशांतर गमनरूप हेतु वाला अनुमान प्रमाण बाधित कर देता है । अर्थात् किसी को सूर्य और चन्द्रादिक स्थिर हैं ऐसा साक्षात् ज्ञान होता है, क्योंकि सामान्य व्यक्ति को जल्दी से यह नहीं मालूम पड़ता है कि सूर्यादि पदार्थ अस्थिर हैं सो उस व्यक्ति के प्रत्यक्ष ज्ञानको जो वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं है, अनुमान बाधित कर देता है कि सूर्यादि ज्योतिषी स्थिर नहीं हैं ये तो पूर्व से पश्चिम दिशा तक गमन कर रहे हैं इत्यादि ।

देशान्तरप्राप्तिलिङ्गजनितं गत्यनुमानम्; कथं पुनरस्याध्यक्षाभासत्वम् ? अनुमानेन बाधनाच्चेत्; अनेनानुमानस्य बाधनादनुमानाभासता किन्न स्यात् ? अथानुमानबाधितविषयत्वान्नेदमनुमानस्य बाधकम्; अनुमानमप्येतद्बाधितविषयत्वान्नास्य बाधकं स्यात् । न च तदनुमानमस्ति ।

नन्विदमस्ति–क्षणिकः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात् सुखादिवत् । सत्यमस्ति, किन्त्वेकशाखाप्रभवत्ववदेतत्साधनं प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वान्न

अतः जैन ने जो कहा कि प्रत्यक्ष को अनुमान बाधित नहीं करता । सो बात नहीं । प्रत्यक्षाभास को तो अनुमान बाधित करता ही है ।

जैन—अच्छा यह तो ठीक कहा किन्तु शब्द के एकत्व का ग्राहक प्रत्यभिज्ञान स्वरूप मानस प्रत्यक्षज्ञान प्रत्यक्षाभास क्यों कर कहलायेगा ? यदि कहो कि अनुमान द्वारा बाधित होने से प्रत्यक्षाभास कहलाता है तो इससे विपरीत हम कहते हैं कि एकत्व ग्राही मानस प्रत्यक्ष द्वारा क्षणिकत्वग्राही अनुमान में बाधा आने से अनुमान ही अनुमानाभास है, ऐसा क्यों न माना जाय ?

वैशेषिक—यह जो शब्द के एकत्व का प्रतिपादक ज्ञान है उसका विषय अनुमान द्वारा बाधित होता है, जैसा कि चन्द्रादि को स्थिररूप बतलानेवाला प्रत्यक्ष-प्रमाण अनुमान से बाधित होता है अतः वह प्रत्यक्ष अनुमान का बाधक नहीं बनता है ।

जैन—शब्द को क्षणिक बतलानेवाला अनुमान भी बाधित विषयवाला है अतः वह भी प्रत्यभिज्ञान का बाधक नहीं बन सकता । तथा आपके पास ऐसा कोई सत्य अनुमान भी नहीं है जो कि शब्द की क्षणिकता को ठीक से सिद्ध कर देवे ।

वैशेषिक—शब्द की क्षणिकता को सिद्ध करनेवाला अनुमान मौजूद है, हम आपको बतलाते हैं–"क्षणिकः शब्दः अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात् सुखादिवत्" शब्द क्षणिक होता है, क्योंकि हमारे प्रत्यक्ष होकर व्यापक द्रव्यका विशेष गुण है, जैसे सुखादिगुण आत्मा के विशेष गुण हैं ।

जैन—यह अनुमान आपने दिया तो सही किन्तु एक शाखा प्रभव हेतु की तरह यह भी प्रत्यभिज्ञान तथा प्रत्यक्ष द्वारा बाधित प्रतिज्ञा वाला होने से अपने साध्य को सिद्ध करने वाला नहीं है, अर्थात् इस वृक्ष के इस शाखा के सारे फल पके हैं,

साध्यसिद्धिनिबन्धनम् । विभुद्रव्यविशेषगुणत्वं चासिद्धम्; शब्दस्य द्रव्यत्वप्रसाधनात् । धर्मादिना व्यभिचारश्च; अस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वेपि क्षणिकत्वाभावात् । तस्यापि पक्षीकरणादव्यभिचारे न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी, सर्वत्र व्यभिचारविषयस्य पक्षीकरणात् । 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति च

क्योंकि ये सभी एक ही शाखा से पैदा हुए हैं, ऐसा किसी ने अनुमान वाक्य कहा सो यह अनुमान प्रत्यक्ष से बाधित होता है–जब हम उस शाखा के एक एक फलको देखते हैं तो कुछ फल कच्चे दिखायी देते हैं, अतः इस अनुमान का एक शाखा प्रभवत्वात् हेतु प्रत्यक्ष बाधित कहलाता है, इसीप्रकार शब्द विभुद्रव्य का विशेष गुण होने से क्षणिक है ऐसा शब्द की क्षणिकता को सिद्ध करनेवाला अनुमान प्रत्यभिज्ञानरूप मानस प्रत्यक्ष से बाधित होता है, और इसीलिये स्वसाध्य को सिद्ध करनेवाला नहीं हो सकता। आपने शब्दको विभुद्रव्य का विशेष गुण बतलाया किन्तु वह असिद्ध है, शब्द को तो द्रव्यरूप सिद्ध कर चुके हैं। तथा विभुद्रव्य का विशेष गुण होने से शब्द क्षणिक है ऐसा कहना धर्म अधर्म के साथ व्यभिचरित होता है, क्योंकि आपके यहां धर्म अधर्म को विभुद्रव्य [आत्मा] के विशेष गुण माने हैं, किन्तु उनमे क्षणिकपना नहीं स्वीकारा अतः क्षणिकत्व साध्य नहीं है। तुम कहो कि धर्माधर्म को पक्षकी कोटि मे लिया है अर्थात् उन्हें भी क्षणिक मानने से व्यभिचार नही आता। सो यह बात युक्त नहीं है, इसतरह से तो कोई भी हेतु व्यभिचारी–अनैकान्तिक नही रहेगा, जहां भी व्यभिचार आता देखेंगे वहां सर्वत्र ही उसको पक्षकी कोटि मे ले जाया करेंगे। तथा "अस्मदादि-प्रत्यक्षत्वे सति" इस तरह का हेतुमें विशेषण दिया है वह व्यर्थ ठहरता है, क्योंकि व्यवच्छेद्य का अभाव है अर्थात् विशेषण अन्य का व्यवच्छेदक होता है, यहां व्यवच्छेदही नहीं है अतः विशेषण की आवश्यकता नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द क्षणिक है, क्योंकि वह हमारे जैसे व्यक्ति के प्रत्यक्ष हुआ करता है एवं विभु-व्यापक द्रव्य का विशेष गुण है, "विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात्" ऐसा जो हेतु है उसका विशेषण "हमारे जैसे पुरुषों के प्रत्यक्ष होकर" है सो यह विशेषण हमारे अप्रत्यक्ष रहनेवाले धर्म अधर्म नामा अदृष्ट का व्यवच्छेद करता है, क्योंकि धर्मादिक विभुद्रव्य का गुण तो है किन्तु हमारे प्रत्यक्ष होना रूप स्वभाव उसमें नही है, यदि विभुद्रव्य का विशेष गुण होने से शब्द क्षणिक है ऐसा इतना हेतुवाला वाक्य कहते तो यह हेतु व्यभिचरित होता था। किन्तु अब यहां पर धर्मादिको भी पक्ष में लिया अतः उक्त विशेषण [अस्मदादि-

विशेषणमनर्थकम्; व्यवच्छेद्याभावात्। धर्मादेश्च क्षणिकत्वे स्वोत्पत्तिसमयानन्तरमेव विनष्टत्वात्ततो जन्मान्तरे फलं न स्यात्।

शब्दाच्छब्दोत्पत्तिवद्धर्मादेर्धर्माद्युत्पत्ति:; इत्यप्ययुक्तम्; तथाभ्युपगमाभावात्, तद्वदपरापर-तत्कार्योत्पत्तिप्रसङ्गाच्च। 'परस्यानुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनितोभिलाष: अभिलषितुरर्थाभिमुखक्रिया-कारणमात्मविशेषगुणमारभ्नोति अनुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनिताभिलाषत्वात् 'आत्मनोनुकूलेष्वनु-कूलाभिमानजनिताभिलाषवत्' इत्यस्य च विरोध:, यस्माद्योऽसौ परस्यानुकूलेष्वनुकूलाभिमानजनिता-

---

प्रत्यक्षत्वे सति] व्यर्थ होता है। तथा यह भी बात है कि आप वैशेषिक धर्म अधर्म को भी क्षणिक मानेंगे तो, वे क्षणिक स्वभावी धर्म अधर्म [पुण्य-पाप] अपने उत्पत्ति के समय के अनन्तर ही नष्ट होने से अन्य जन्म में उन धर्मादि से फल मिलता है वह नहीं रहेगा।

वैशेषिक—अन्य जन्म में फल मिलने की बात बन जायगी, इस जन्म में जो धर्मादिक संचित हुए हैं वे क्षणिकत्व के कारण नष्ट हो जाने पर भी अन्य अन्य धर्मादिक उत्पन्न होते रहते है जैसेकि शब्द से अन्य अन्य शब्द उत्पन्न होता जाता है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है आपके सिद्धांत में ऐसा धर्म से धर्म उत्पन्न होना माना नहीं है। दूसरी बात यह है कि यदि धर्मसे दूसरे दूसरे धर्म की उत्पत्ति होती रहती है ऐसा मानेंगे तो उस धर्मादिका कार्य या फल जो स्त्री चंदन आदि वस्तु की प्राप्ति होना रूप है वह भी अन्य अन्य उत्पन्न होता है ऐसा मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसा नहीं है। अनुष्ठायक किसी पुरुष के अनुकूल वस्तुओं मे यह अनुकूल है इसतरह के अभिमान [प्रतीति] के कारण अभिलाष होता है और उस अभिलाषी पुरुष के इच्छित पदार्थ के अभिमुख करने का जो निमित्त है वह आत्मा के विशेष गुण को उत्पन्न करता है [सिद्ध करता है] क्योंकि यह अनुकूल में अनुकूलता के अभिमान से जन्य अभिलाष है, जैसे स्वयं को इष्ट या अनुकूल पदार्थों में अनुकूलपने का अभिमान होकर उससे अभि-लाषा हुआ करती है। इसप्रकार वैशेषिक धर्मादि के विषय में अनुमान उपस्थित करते हैं वह अनुमान गलत ठहरेगा, क्योंकि यह जो पर के अनुकूल वस्तु में अनुकूलता के अभिमान से जनित अभिलाषा और उससे जन्य आत्मविशेषगुण है, वह अभिलाषी

भिलाषजनित आत्मविशेषगुणो नासावभिलषितुरर्थाभिमुखक्रियाकारणम्, तत्समानस्य तत्कारणत्वात्, यश्च तत्क्रियाकारणं नासौ यथोक्ताभिलाषजनित इति ।

'इच्छाद्वेषनिमित्तौ प्रवर्त्तकनिवर्त्तकौ धर्माधर्मौ, अव्यवधानेन हिताहितविषयप्राप्तिपरिहार-हेतोः कर्मणः कारणत्वे सत्यात्मविशेषगुणत्वात्, प्रवर्त्तकनिवर्त्तकप्रयत्नवत्' इत्यत्र हेतोर्व्यभिचारश्च-जन्मान्तरफलोदययोर्धर्माधर्मयोः अव्यवधानेन हिताहितविषयप्राप्तिपरिहारहेतोः कर्मणः कारणत्वे

पुरुष को पदार्थ के अभिमुख कराने में कारणरूप सिद्ध न होकर उसके समान दूसरा ही धर्मादिरूप गुण कारणरूप सिद्ध होता है । तथा जो धर्म से धर्म इत्यादि परम्परा से उत्पन्न हुआ अन्तिम धर्म अर्थाभिमुख कराता है वह पूर्वोक्त अभिलाषा से तो उत्पन्न नही हुआ है ।

धर्मादिक के विषय में वैशेषिक दूसरा और भी एक अनुमान प्रयुक्त करते है कि "इच्छा और द्वेष है निमित्त जिनका ऐसे ये धर्म तथा अधर्म नामा गुण हुआ करते हैं ये क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति को कराने वाले होते हैं, क्योंकि अव्यवधानपने से ये हित की प्राप्ति और अहित का परिहार के हेतु हैं अर्थात् धर्म तो हित प्राप्ति और अहित परिहार का कारण है तथा अधर्म अहित की प्राप्ति और हित को हटानेवाला है, एवं कर्मका कारण होकर आत्माका विशेषगुण है, जैसे प्रवर्त्तक निवर्त्तक प्रयत्न है" इस अनुमान में धर्मादिको क्षणिक मानने से व्यभिचार [अनैकान्तिकता] आता है, कैसे सो ही बताते हैं—जो हिताहित प्राप्ति परिहार में निमित्त है वह इच्छा द्वेष से जन्य है ऐसा इस अनुमान का जो कहना है वह असिद्ध ठहरता है क्योंकि जन्मांतर में फलोदय वाले जो धर्म तथा अधर्म हैं उनमें अव्यवधानपने से हिताहित की प्राप्ति परिहार का कारणपना एवं कर्मका कारणपना होकर आत्मा का विशेष गुणत्व तो मौजूद है किन्तु ये धर्म अधर्म इच्छा और द्वेष से जनित नहीं है [अपितु पूर्व पूर्व के धर्मादि से जनित है] अतः निश्चित होता है कि शब्द से शब्दकी उत्पत्ति होना सिद्ध नहीं होता तथा उसी के समान धर्म से धर्मकी उत्पत्ति होना भी सिद्ध नहीं होता है । धर्म अधर्म को क्षणिक मानेंगे तो अन्य जन्म में इनसे फलकी प्राप्ति होना असम्भव हो जाता है इसलिये भी आप वैशेषिक को धर्माधर्मरूप अदृष्ट को अक्षणिक स्वीकार करना होगा, और जब आप इन्हें उपर्युक्त सदोषता के कारण अक्षणिक स्वीकार करेंगे

सत्यात्मविशेषगुणत्वेपीच्छाद्वेषजनितत्वाभावात् । ततः शब्दाच्छब्दोत्पत्तिवद्धर्मादेर्धर्माद्युत्पत्त्यभावात् । क्षणिकत्वे चातो जन्मान्तरे फलासम्भवादक्षणिकत्वं तस्याभ्युपगन्तव्यमित्यनेनानैकान्तिको हेतुः ।

तो पूर्वोक्त विभुद्रव्य विशेष गुणत्वात् हेतु अनैकान्तिक ठहरता है । क्योंकि जो विभुद्रव्य का विशेषगुण हो वह क्षणिक हो ऐसा अविनाभाव सिद्ध नहीं हुआ है ।

विशेषार्थ—शब्द आकाशद्रव्यका गुण है ऐसा वैशेषिक का कहना है, ये परवादी शब्द को द्रव्यरूप न मानकर गुणरूप मानते है और आकाश का गुण होना बतलाते हैं । आचार्य ने समझाया है कि शब्द गुणरूप तो है ही नहीं और आकाश गुण होना तो बिलकुल मूर्खता भरा कहना है, आकाश अमूर्त्त अखंड एक पदार्थ है उसका कर्णद्वारा ग्रहण मे आनेवाला यह शब्द गुण कैसे हो सकता है नहीं हो सकता शब्द तो पुद्गल–जड़ द्रव्य मूर्त्तिक द्रव्य है, द्रव्य में गुण रहा करते हैं, शब्द रूप द्रव्य में स्पर्श,अल्प महत्व परिमाण, संख्या आदि गुण रहते हैं अतः यह द्रव्य रूप ही सिद्ध होता है गुणरूप नहीं, क्योकि गुणरूप होता उसमें ये स्पर्शादि गुण नही पाये जाते, गुण में पुनः अन्य गुण नहीं रहते वे तो निर्गुण हुआ करते हैं । शब्द में स्पर्श गुण का सद्भाव इसलिए सिद्ध होता है कि अधिक जोरदार शब्द हो तो उससे कर्ण का घात होता है। शब्द मे क्रियाशीलता देखी जाती है इसलिए भी वह द्रव्यरूप सिद्ध होता है, शब्द वक्ता के मुख से निकलकर श्रोता के कर्ण प्रदेश तक गमन कर जाता है इसीसे उसकी क्रियाशीलता सिद्ध होती है । इस क्रियाशीलता पर वैशेषिक ने कहा कि शब्द क्रियाशील नही, जो शब्द तालु आदि से उत्पन्न हुआ है वह कर्ण तक नही जाता किन्तु जलकी लहरों के समान अन्य अन्य शब्द कर्ण प्रदेश तक उत्पन्न होते जाते हैं, तब जैन ने इस वीचीतरग–जल लहरी के समान शब्द से शब्द की उत्पत्ति होना असम्भव बतलाते हुए कहा है कि इसतरह शब्द को उत्पत्ति मानेंगे तो वह क्षणिक ठहरेगा, किन्तु शब्द क्षणिक हो नहीं सकता जो गुरुजन कह रहे हैं उसीको मैं सुन रहा हूं इत्यादि प्रत्यभिज्ञान से शब्द मे अक्षणिकता सिद्ध होती है । यह भी एक बात है कि वैशेषिक शब्दको व्यापकद्रव्य जो आकाश है उसका विशेषगुण मानते हैं सो उसे क्षणिक मानेंगे तो धर्म अधर्म नामा आत्मा के विशेषगुण के साथ व्यभिचार होवेगा । क्योंकि धर्मादिक व्यापक आत्मा के विशेषगुण होकर क्षणिक नही है । इस पर जैन का खंडन करने के लिए वैशेषिक कहते हैं कि हम धर्मादिको भी क्षणिक मान लेगे । सो ऐसा

अथास्मदादिप्रत्यक्षत्वविशेषणविशिष्टस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वस्यात्रासम्भवान्न व्यभिचारः। ननु मा भूद्व्यभिचारः; तथापि साकल्येन हेतोर्विपक्षाद्व्यावृत्त्यसिद्धिः। विपक्षविरुद्धं हि विशषणं ततो हेतुं निवर्त्तयति। यथा सहेतुकत्वमहेतुकत्वविरुद्धं ततः कादाचित्कत्वम्। न चास्मदादिप्रत्यक्षत्वमक्षणिकत्वविरुद्धम्; अक्षणिकेष्वपि सामान्यादिषु भावात्। ततो यथास्मदादिप्रत्यक्षा अपि

मानना उन्हीं के सिद्धान्त से गलत होता है, यदि धर्म अधर्म [पुण्य-पाप] क्षणिक हैं तो उनसे अन्य जन्म में फल की प्राप्ति हो नहीं सकती। इसतरह शब्दसे शब्दकी उत्पत्ति होना, उसमें क्षणिकता होना आदि बातें सिद्ध नहीं होती है।

वैशेषिक—शब्दः क्षणिकः अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्य विशेष गुणत्वात् ऐसा अनुमान दिया था सो इसतरह का अस्मदादि प्रत्यक्ष होकर विभुद्रव्य का विशेष गुण होना रूप हेतु धर्म अधर्म में नही पाया जाता, अतः व्यभिचार नही आता है। अभिप्राय यह है कि जो हम जैसे सामान्य व्यक्ति के प्रत्यक्ष हो ऐसा विभुद्रव्य का विशेष गुण हो वह क्षणिक होता है, शब्द हमारे प्रत्यक्ष होकर विभुद्रव्य का विशेष गुण है अतः क्षणिक है किन्तु धर्मादिक हमारे प्रत्यक्ष नहीं है अतः उनसे हेतु व्यभिचरित नहीं होता। शब्द गुण की बात पृथक् और धर्मादिगुण की बात पृथक् है।

जैन—ठीक है, धर्मादि के साथ व्यभिचार मत होवे, किन्तु अस्मदादि प्रत्यक्षत्व विशेषण वाला यह विभुद्रव्य का विशेष गुणरूप हेतु अपना साध्य जो क्षणिकत्व है उसका विपक्ष जो अक्षणिकत्व है उससे पूर्णरूप से व्यावृत्त होता ही नहीं, विशेषण तो इसलिये दिया जाता है कि विपक्ष से हेतु को व्यावृत्त करे, विपक्ष से विरुद्ध होने से ही वह उससे हेतु को हटाता है, जैसे सहेतुक विशेषण अहेतुक विपक्ष से हेतु को हटाता है अतः उसके द्वारा कादाचित्करूप हेतु स्वसाध्य को [अनित्यत्व को] सिद्ध कर सकता है, किन्तु ऐसा विशेषण वाला आपका हेतु नहीं है।

भावार्थ—हेतु का प्रयोग यदि कोई विशेषण को लिये हुए है तो उसका काम यही है कि वह अपने विशेष्य जो हेतु है उसे विपक्ष से व्यावृत्त करे, जैसे किसी ने कहा कि अनित्यः शब्दः, सहेतुकत्वे सति कादाचित्कत्वात्, घटवत्॥ शब्द अनित्य है, क्योंकि वह सहेतुक है तालु आदि कारणों से बना है तथा कादाचित्क है–कभी कभी होता है, जिसतरह घट है, इस अनुमान वाक्य में हेतु कादाचित्कत्व है उसमें यदि "सहेतुकत्वे

केचित्प्रदीपादयो भावा: क्षणिका: सामान्यादयस्त्वक्षणिकास्तथास्मदादिप्रत्यक्षा अपि विभुद्रव्यविशेषगुणा: 'केचित्क्षणिका: केचिदक्षणिका भविष्यन्ति' इति सन्दिग्धो व्यतिरेक: । अथाक्षणिके क्वचिदस्मदादिप्रत्यक्षत्वविशेषणविशिष्टस्य विभुद्रव्यविशेषगुणत्वस्यादर्शनात्ततो व्यावृत्तिसिद्धि:; न; भवदीयादर्शनस्य साकल्येन भावाभावाप्रसाधकत्वात्, अन्यथा परलोकादेरप्यभावानुषङ्ग: । सर्वस्या-

---

सति" यह विशेषण नहीं हो तो खनन–खोदने आदि क्रिया से आकाश भी कादाचित्क रूप प्रतीत होता है अत: जो कादाचित्करूप प्रतीत हो वह अनित्य है ऐसा कहना व्यभिचरित होता था उस व्यभिचार को सहेतुकत्वे सति विशेषण व्यावृत्त [हटाता] करता है, इसतरह का विशेषण विशिष्ट हेतु होवे तो ठीक बात है वरना तो विशेषण देना व्यर्थ ही है । यहां वैशेषिक ने शब्द को क्षणिकरूप सिद्ध करने के लिये "शब्द: क्षणिक: अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्य विशेषगुणत्वात्" ऐसा विशेषण सहित हेतु वाला अनुमान प्रस्तुत किया है इस "विभुद्रव्य विशेषगुणत्वात्" हेतु का विशेषण "अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति" है किन्तु यह विशेषण हेतु का विपक्ष जो अक्षणिकत्व है उससे हेतु को पूर्णरूप से व्यावृत्त नही कर पाता है अत: यह विशेषण व्यर्थ ठहरता है। अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति यह विशेषण किसप्रकार व्यर्थ है सो ही बताते हैं— जो अस्मदादि के प्रत्यक्ष हो वह अक्षणिकत्व के विरुद्ध हो ऐसा नही है । हम देखते हैं कि सामान्य आदि पदार्थ अक्षणिक हैं किन्तु वे अस्मदादि के प्रत्यक्ष होते हैं । अत: जिस तरह प्रदीपादि कोई पदार्थ क्षणिक होकर हमारे प्रत्यक्ष हैं और कोई सामान्यादि पदार्थ अक्षणिक होकर भी हमारे प्रत्यक्ष हैं, इसीतरह विभुद्रव्य के कोई विशेषगुण क्षणिक और कोई अक्षणिक होंगे, इसप्रकार विभुद्रव्य विशेषगुणत्वात् हेतु सन्दिग्धव्यतिरेकी होता है ।

वैशेषिक—कहीं [धर्मादि में] अक्षणिक वस्तु में अस्मदादिप्रत्यक्षत्वरूप विशेषण युक्त जो विभुद्रव्य का विशेष गुणरूप हेतु है वह देखा नहीं जाता अत: उस हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति सिद्ध होवेगी । अर्थात् विभुद्रव्य का जो विशेष गुण हमारे जैसे व्यक्ति के प्रत्यक्ष होता है वह अक्षणिक नही रहता बल्कि क्षणिक ही हुआ करता है ऐसा विभुद्रव्य का विशेष गुण नहीं देखा कि जो हमारे प्रत्यक्ष होकर अक्षणिक हो !

जैन—ऐसी बात नहीं है आपके नहीं देखने मात्र से पूर्णरूपेन वस्तु का अभाव सिद्ध करना शक्य नहीं है, यदि एक व्यक्ति के नहीं देखने से उसरूप वस्तु

दर्शनं चासिद्धम्; सतोऽपि निश्चेतुमशक्यत्वात्।

विपक्षेऽदर्शनमात्राद्व्यावृत्तिसिद्धौ—

"यद्वेदाध्ययनं किञ्चित्तदध्ययनपूर्वकम्।
वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा॥"

[मी० श्लो० पृ० ६४६]

इत्यस्यापि गमकत्वप्रसंगः। न खलु वेदाध्ययनमतदध्ययनपूर्वकं दृष्टम्। तथा चास्यानादित्वसिद्धेरीश्वरपूर्वकत्वेन प्रामाण्यं न स्यात्। न च कृतकत्वादावप्ययं दोषः समानः; तत्र विपक्षे हेतोः सद्भावबाधकप्रमाणसम्भवात्।

व्यवस्था करेंगे तो पर लोक आदि वस्तु का अभाव होकर चार्वाक मत आवेगा क्योंकि परलोकादि बहुत से पदार्थों का आप जैसे को अदर्शन रहता है। सभी व्यक्तियों को जिसका दर्शन न हो ऐसा तो सिद्ध होगा नहीं, सभी प्राणियों को भले ही किसी का अदर्शन हो किन्तु उसका निश्चय करना अशक्य रहता है। सभी को अमुक वस्तु उपलब्ध नहीं होती ऐसा निर्णय कोई नहीं दे सकता।

तथा विपक्ष में हेतु के दिखायी नहीं देने मात्र से उसकी उस विपक्ष से व्यावृत्ति होना सिद्ध करेंगे तो अतिप्रसंग होगा। आगे इसीका खुलासा करते हैं—

जो कुछ वेद का अध्ययन होता है वह वेदाध्ययन पूर्वक ही हो सकता है, क्योंकि वह वेद का अध्ययन कहलाता है, जैसे कि वर्त्तमान का अध्ययन होता है। १॥ इसप्रकार मीमांसक वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने के लिये अनुमान देते हैं किंतु यह अनुमान सत्य नहीं कहलाता, क्योंकि इस अनुमान का "वेदाध्ययन वाच्यत्वात्" हेतु भलीप्रकार से विपक्षव्यावृत्ति वाला नहीं है, सो यदि विपक्ष में हेतु के नहीं देखने मात्र से उसकी विपक्षव्यावृत्ति सही मानो जायगो तो वेदाध्ययनवाच्यत्व जैसे सदोष हेतु भी स्वसाध्य के गमक माने जायेंगे। वेद का अध्ययन तो बिना उसके अध्ययन के कराया जाना देखा नहीं गया है। इसप्रकार आप वैशेषिक इस मीमांसक के वेदाध्ययनवाच्यत्व नामा हेतु को सत्य मानते हैं तब तो वेद का अनादिपना सिद्ध होवेगा। फिर आप जो उसे ईश्वर कृत मानते हैं, वेद को ईश्वर ने बनाया है अतः वह प्रामाण्य है ऐसा कहते हैं वह असत् कहलायेगा।

धर्मादेश्चास्मदाद्यप्रत्यक्षत्वे 'देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः पश्वादयो देवदत्तगुणाकृष्टाः तं प्रत्युपसर्पण-वत्त्वाद्वस्त्रादिवत्' इत्यनुमानं न स्यात्; व्याप्तेरग्रहणात्। मानसप्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहणे सिद्धं धर्मादेरस्मदादिप्रत्यक्षत्वम्। अथ 'बाह्येन्द्रियेणास्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति हेतुर्विशेष्यते तदा साधनवैकल्यं दृष्टान्तस्य, सुखादेस्तथा प्रत्यक्षत्वाभावात्।

यदि च वीचीतरङ्गन्यायेन शब्दोत्पत्तिरिष्यते तदा प्रथमतो वक्तृव्यापारादेकः शब्दः प्रादुर्भवति, अनेको वा? यद्येकः; कथं नानादिक्कानेकशब्दोत्पत्तिः सकृदिति चिन्त्यम्। सर्वदिक्कताल्वादिव्यापार-

---

वैशेषिक—इसतरह हमारे "अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्य विशेष गुणत्वात्" हेतु को विपक्ष व्यावृत्ति वाला निश्चित नहीं होने के कारण सदोष कहेंगे तो अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् इत्यादि अनुमान का कृतकत्वात् हेतु भी गलत ठहरेगा।

जैन—ऐसी बात नहीं है, कृतकत्व हेतु विपक्ष से भली प्रकार व्यावृत्त होता है उसका विपक्ष में रहना प्रमाण से बाधित है, अर्थात् कृतकत्व हेतु का नित्यरूप विपक्ष में रहना किसी प्रमाण से भी सिद्ध नहीं है।

यदि आप धर्म अधर्म को [पुण्य-पाप को] अस्मदादि के अप्रत्यक्ष मानते हैं तो उन्हींका निम्नलिखित अनुमान गलत ठहरता है कि देवदत्त के पास आते हुए पशु आदि जीव देवदत्त के गुणों से [धर्मादि से] आकृष्ट होकर आया करते हैं क्योंकि वे पशु उसी के प्रति उत्सर्पणशील हैं, जैसे वस्त्र आदि पदार्थ। यह अनुमान इसलिये गलत ठहरता है कि इसमें व्याप्ति ग्रहण नहीं है अर्थात् जो जो देवदत्त के प्रति उत्सर्पणशील हैं वह वह देवदत्त के गुण से आकृष्ट हैं ऐसा निश्चय नहीं होगा क्योंकि देवदत्तके गुण स्वरूप धर्मादि को आपने अप्रत्यक्ष माना है। यदि मानस प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होना स्वीकार करेंगे तो धर्मादिक अस्मदादि प्रत्यक्ष है ऐसा सिद्ध होता है।

वैशेषिक—क्षणिकः शब्दः अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्य विशेषगुणत्वात् सुखादिवत् ऐसा जो पहले अनुमान दिया था उसमें स्थित हेतु अगमक है ऐसा आप जैन का कहना है सो उस हेतु में "बाह्येन्द्रियेण" इतना विशेषण और बढ़ा देते हैं अर्थात् बाह्येन्द्रियेण अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्य विशेषगुणत्वात् जो बाह्य इन्द्रियों से हमारे द्वारा प्रत्यक्ष हो सके एवं विभु [व्यापक] द्रव्य का विशेष गुण होवे वह क्षणिक होता है, इसप्रकार का हेतु देने से धर्मादि के साथ व्यभिचार नहीं होगा?

जनितवाय्वाकाशसंयोगानामसमवायिकारणानां समवायिकारणस्य चाकाशस्य सर्वगतस्य भावात् सकृत्सर्वदिक्कनानाशब्दोत्पत्त्यविरोधे शब्दस्यारम्भकत्वायोगः। यथैवाद्यः शब्दो न शब्देनारब्धस्ताल्वाद्याकाशसंयोगादेवासमवायिकारणादुत्पत्तेः, तथा सर्वदिक्कशब्दान्तराण्यपि ताल्वादिव्यापारजनितवाय्वाकाशसंयोगेभ्य एवासमवायिकारणेभ्यस्तदुत्पत्तिसम्भवात्। तथा च "संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दोत्पत्तिः" [वैशे० सू० २।२।३१] इति सिद्धान्तव्याघातः।

जैन— यह विशेषण भी कार्यकारी नहीं है, क्योंकि इस विशेषण के बढ़ा देने से आपके अनुमान में स्थित जो दृष्टांत "सुखादिवत्" है वह साधन विकल [हेतु से रहित] हो जायगा। क्योंकि इस दृष्टांत में बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होना रूप हेतु का अंश नहीं है अर्थात् सुखादिक बाह्य इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने योग्य नहीं होने से यह साधन विकल दृष्टांत कहलायेगा।

किञ्च, यदि वीचीतरंग न्याय से; शब्द से शब्द की उत्पत्ति होना आप लोग मानते हैं सो सबसे पहले वक्ता के व्यापार से जो शब्द उत्पन्न होता है वह एक उत्पन्न होता है अथवा अनेकरूप उत्पन्न होता है ? यदि एक उत्पन्न होता है तो नाना दिशाओं में एक साथ अनेक शब्दों की उत्पत्ति किसप्रकार होवेगी यह एक विचारणीय प्रश्न रह जाता है।

वैशेषिक—संपूर्ण दिशा सम्बन्धी अर्थात् सर्वगत तालु आदि व्यापार से उत्पन्न हुए वायु और आकाश के संयोगस्वरूप असमवायी कारण तथा सर्वगत आकाशस्वरूप समवायीकारण सर्वत्र सर्वगत हैं, अतः एक साथ सब दिशाओं में अनेक शब्द उत्पन्न होने में अविरोध है।

जैन—यह ठीक नहीं, यदि इसतरह असमवायी आदि कारणों से शब्दों की उत्पत्ति होना स्वीकार करो तो वीचीतरंग न्याय से शब्द ही शब्दांतर का आरंभक [उत्पन्न करने वाला] है ऐसा नहीं कह सकेंगे ? जिसप्रकार पहला [प्रथम नम्बर का] शब्द; शब्द से उत्पन्न न होकर तालु, आदि के कारण से जन्य आकाश संयोगरूप असमवायी कारण से उत्पन्न हुआ है, इसीप्रकार सर्व दिशासम्बन्धी शब्दांतर भी तालु आदि के व्यापार से उत्पन्न हुए जो वायु और आकाश के संयोग है उन असमवायी कारणों से उत्पन्न हो सकेंगे। और इसतरह स्वीकार करने से "संयोगाद् विभागात्

अथ शब्दान्तराणां प्रथमः शब्दोऽसमवायिकारणं तत्सदृशत्वात्, अन्यथा तद्विसदृशशब्दान्तरोत्पत्तिप्रसङ्गो नियामकाभावात्, नन्वेवं प्रथमस्यापि शब्दस्य शब्दान्तरसदृशस्यान्यशब्दादसमवायिकारणादुत्पत्तिः स्यात् तस्याप्यपरपूर्वशब्दादित्यनादित्वापत्तिः शब्दसन्तानस्य स्यात्। यदि पुनः प्रथमः शब्दः प्रतिनियतः प्रतिनियताद्वक्तृव्यापारादेवोत्पन्नः स्वसदृशानि शब्दान्तराण्यारभेत; तर्हि किमाद्येन शब्देनासमवायिकारणेन ? प्रतिनियतवक्तृव्यापारात्तज्जनितप्रतिनियतवाय्वाकाशसंयोगेभ्यश्च सदृशापरापरशब्दोत्पत्तिसम्भवात्। तन्नैकः शब्दः शब्दान्तरारम्भकः।

शब्दात् च शब्दोत्पत्तिः" संयोग से, विभाग से एवं शब्द से भी शब्द की उत्पत्ति होती है ऐसा आपके सिद्धांत का कथन खण्डित हो जाता है।

वैशेषिक—पहला शब्द अन्य शब्दों का असमवायी कारण होता है, क्योंकि उसके समान है, यदि प्रथम शब्द को शब्दान्तरों का कारण न माना जाय तो उस प्रथम शब्द से विसदृश अन्य अन्य आगे के शब्द उत्पन्न होने लग जायेंगे, कोई नियम नहीं रहेगा।

जैन—इसतरह कहो तो पहला शब्द भी सदृश अन्य शब्द रूप असमवायी कारण से उत्पन्न होना चाहिए तथा वह सदृश शब्दांतर भी अन्य पहले के शब्द से उत्पन्न होना चाहिए, इसप्रकार शब्दों की संतान परम्परा अनादि की बन जायगी। यदि पहला शब्द प्रतिनियत है, प्रतिनियत वक्ता के व्यापार से ही उत्पन्न होता है और स्वसदृश अन्य शब्दों को उत्पन्न करता है तो प्रथम शब्द को असमवायी कारण रूप मानने से क्या प्रयोजन रहा ? प्रतिनियत वक्ता के व्यापार से हुआ जो वायु और आकाश के संयोग उन संयोगों से ही सदृश अपर अपर शब्दों की उत्पत्ति हो जायगी। अतः एकरूप शब्द शब्दांतर का आरम्भक होता है ऐसा जो प्रथम विकल्प कहा था वह असिद्ध है। सबसे पहले वक्ता के व्यापार से अनेक रूप शब्द उत्पन्न होता है, ऐसा दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं, तालु आदि से वायु और आकाश का संयोग होना रूप अकेले वक्ता के व्यापार से अनेक रूप शब्द उत्पन्न होना तो असम्भव है। तथा एक वक्ता के एक साथ अनेक तालु आदि से आकाश का संयोग होना अशक्य है, क्योंकि प्रयत्न एक रूप है। अर्थात् प्रयत्न एक साथ एक ही होता है। बिना प्रयत्न के तालु आदि के क्रिया से होनेवाला जो आकाश आदि का संयोग है वह हो नहीं सकता, जिससे कि अनेक शब्द बन जाय ! सारांश यह है कि प्रथम तो वक्ता के बोलने के लिए

नाप्यनेकः; तस्यैकस्मात्ताल्वाद्याकाशसंयोगादुत्पत्त्यसम्भवात् । न चानेकस्ताल्वाद्याकाशसंयोगः सकृदेकस्य वक्तुः सम्भवति, प्रयत्नस्यैकत्वात् । न च प्रयत्नमन्तरेण ताल्वादिक्रियापूर्वकोऽन्यतरकर्मजस्ताल्वाद्याकाशसंयोगः प्रसूते यतोऽनेकशब्दः स्यात् ।

अस्तु वा कुतश्चिदाद्यः शब्दोऽनेकः; तथाप्यसौ स्वदेशे शब्दान्तराण्यारभते, देशान्तरे वा ? न तावत्स्वदेशे; देशान्तरे शब्दोपलम्भाभावप्रसङ्गात् । अथ देशान्तरे; तत्रापि किं तद्देशे गत्वा, स्वदेशस्थ एव वा देशान्तरे तान्यसौ जनयेत् ? यदि स्वदेशस्थ एव; तर्हि लोकान्तेपि तज्जनकत्वप्रसङ्गः । अदृष्टमपि च शरीरदेशस्थमेव देशान्तरवर्त्तिमणिमुक्ताफलाद्याकर्षणं कुर्यात् । तथा च 'धर्माधर्मौ

प्रयत्न हुआ करता है जो कि एक समय में एक ही हो सकता है, तथा प्रयत्न के अनंतर तालु ओठ आदि वक्ताके मुखके भागों का संयोग होता है, फिर वायु तथा आकाश के साथ संयोग होता है यह प्रक्रिया क्रमिक एक एक हुआ करती है अतः अनेक शब्द एक साथ उत्पन्न हो नहीं सकते ।

दुर्जन संतोष न्याय से मान भी लेवे कि किसी कारण से प्रथम शब्द अनेकरूप उत्पन्न होता है तथापि अपने उत्पत्ति के स्थान जो तालु आदि प्रदेश हैं वहां पर वह प्रथम शब्द शब्दांतरों को उत्पन्न करता है, अथवा स्वस्थान से अन्यत्र कहीं उत्पन्न करता है ? स्वोत्पत्ति प्रदेश में करता है ऐसा कहना शक्य नहीं, क्योंकि वहीं शब्दान्तरों की उत्पत्ति होगी तो अयन्त्र शब्दों की उपलब्धि होती है वह न हो सकेगी । दूसरा पक्ष— प्रथम शब्दद्वारा जो शब्दान्तर उत्पन्न कराये जाते है वे स्वोत्पत्ति प्रदेश से अन्य प्रदेश मे कराये जाते हैं ऐसा कहे तो इस पक्ष में पुनः दो विकल्प उठते हैं—प्रथम शब्द देशांतर में जाकर शब्दांतरों को पैदा करता है अथवा अपने देश में स्थित होकर ही देशांतर में शब्दांतरों को पैदा करता है ? यदि स्वप्रदेश मे स्थित होकर ही पैदा करता है तो लोक के अन्तभाग में भी उन शब्दांतरों को पैदा कर सकेगा । तथा यदि शब्द अपने जगह रहकर ही अन्य जगह शब्दों को पैदा कर सकता है तो अदृष्ट नामा आत्मा का गुण जिसे धर्माधर्म कहते है वह भी शरीर प्रदेश में स्थित होकर ही देश देशांतरों में होनेवाले मणि, मोती आदि पदार्थों को आकर्षित कर सकते हैं । और इसतरह स्वीकार करेंगे तो "धर्म अधर्म अपने आश्रय में संयुक्त है इनका अपना आश्रय जो आत्मा है वह सर्वगत है अतः आश्रयांतर में आकर्षण आदि क्रिया को करते हैं" ऐसा कहना विरोध को प्राप्त होता है [क्योंकि इस वाक्य में तो धर्म अधर्म नामा पदार्थ

स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्मारभेते" [ ] इत्यादिविरोधः। न च वीचीतरङ्गादावप्य प्राप्तकार्यदेशत्वे सत्यारम्भकत्वं दृष्टं येनात्रापि तथा तत्कल्प्येताध्यक्षविरोधात्। अथ तद्देशे गत्वा; तर्हि सिद्धं शब्दस्य क्रियावत्त्वं द्रव्यत्वप्रसाधकम्।

किञ्च, आकाशगुणत्वे शब्दस्यास्मदादिप्रत्यक्षता न स्यादाकाशस्यात्यन्तपरोक्षत्वात्; तथाहि-येऽत्यन्तपरोक्षगुणिगुणा न तेऽस्मदादिप्रत्यक्षाः यथा परमाणुरूपादयः, तथा च परेणाभ्युपगतः शब्द इति। न च वायुस्पर्शेन व्यभिचारः; तस्य प्रत्यक्षत्वप्रसाधनात्।

आश्रयांतर में क्रिया करते हैं ऐसा कहा है और पहले कहा कि वे शरीर प्रदेश में स्थित होकर क्रिया को करते हैं] शब्द से शब्द की उत्पत्ति होने के लिये आपने वीची तरंगों का दृष्टान्त दिया है, किन्तु वे भी कार्यों के प्रदेशों को [आगे आगे के लहरों के प्रदेशों को] प्राप्त हुए बिना उन कार्यों को नहीं करते हैं, जिससे कि वीची तरंगों का दृष्टांत देकर यहां शब्द में भी वैसी कल्पना की जा सके। यदि वैसी कल्पना करेंगे तो प्रत्यक्ष से विरोध आता है। दूसरा विकल्प जो शब्दांतरों को उत्पन्न करता है वह उन शब्दों के स्थान पर जाकर करता है, ऐसा माने तो शब्द का क्रियावानपना सिद्ध हुआ। और क्रियावानपना सिद्ध होने पर शब्द को द्रव्यरूप मानना होगा, क्योंकि क्रियावान द्रव्य ही होता है। अर्थात् गुण क्रियाशील नही होते किन्तु द्रव्य होता है ऐसा आपका भी कहना है।

किञ्च, शब्द को यदि आकाश का गुण माना जाय तो वह हमारे प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि आकाश अत्यन्त परोक्ष है, अनुमान सिद्ध बात है कि जो अत्यंत परोक्ष गुणी के [द्रव्य के] गुण होते हैं वे हम जैसे के प्रत्यक्ष नहीं होते हैं, जिसतरह परमाणु गुणी के परोक्ष होने से उसके रूपादिगुण भी परोक्ष है, परवादी वैशेषिक आदि शब्द को अत्यन्त परोक्ष आकाश का गुण मानते है अतः वह शब्द हमारे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इस अनुमानस्थित हेतु को वायुस्पर्श के साथ व्यभिचरित भी नहीं कर सकते, अर्थात् गुणी परोक्ष है तो गुण भी परोक्ष होने चाहिए ऐसा जैन ने कहा है किंतु वह गलत है क्योंकि वायुरूप गुणी परोक्ष है और उसका स्पर्शगुण परोक्ष नहीं है ऐसा कोई जैन के हेतु को सदोष करना चाहे तो ठीक नहीं हम जैन ने वायु को भी कथंचित् प्रत्यक्ष होना माना है।

किञ्च, आकाशगुणत्वेऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे चास्यात्यन्तपरोक्षाकाशविशेषगुणत्वायोग: । प्रयोग:-यदस्मदादिप्रत्यक्षं तन्नात्यन्तपरोक्षगुणिगुण: यथा घटरूपादय:, तथा च शब्द इति ।

यच्चोक्तम्-'सत्तासम्बन्धित्वात्' इति; तत्र किं स्वरूपभूतया सत्तया सम्बन्धित्वं विवक्षितम्, अर्थान्तरभूतया वा ? प्रथमपक्षे सामान्यादिभिर्व्यभिचार:; तेषा प्रतिषिध्यमानद्रव्यकर्मभावत्वे सति तथाभूतया सत्तया सम्बन्धित्वेपि गुणत्वासिद्धे: । द्वितीयपक्षस्त्वयुक्त:; न हि शब्दादय: स्वयमसन्त एवार्थान्तरभूतया सत्तया सम्बध्यमाना: सन्तो नामाश्वविषाणादेरपि तथाभावानुषगात् । प्रतिषेत्स्यते चार्थान्तरभूतसत्तासम्बन्धेनार्थाना सत्त्वमित्यलमतिप्रसंगेन ।

दूसरी बात यह है कि शब्द मे आकाश का गुणपना माने और फिर हम जैसे सामान्य पुरुषों के प्रत्यक्ष होना भी माने तो गलत ठहरता है, इस तरह शब्द के अत्यंत परोक्ष आकाश का विशेष गुण होना असम्भव है, यही बात अनुमान से सिद्ध होती है जो वस्तु हमारे प्रत्यक्ष होती है वह अत्यन्त परोक्ष द्रव्य या गुणी का गुण नही होता है, जैसे घट गुणी अत्यन्त परोक्ष नही है तो उसके रूपादिगुण भी अत्यन्त परोक्ष नहीं है अथवा घटरूप गुणी हमारे प्रत्यक्ष है तो उसके गुण जो रूप, रस आदिक हैं वे भी प्रत्यक्ष हैं, शब्द भी हमारे प्रत्यक्ष होता है अत: वह अत्यन्त परोक्ष आकाश का गुण नहीं हो सकता है ।

सत्ता सम्बन्धी होने से शब्द आकाश का गुण है ऐसा पहले कहा था सो इस विषय में हम जैन प्रश्न करते है कि शब्द में सत्ता सम्बन्धीपना है वह सामान्य आदि पदार्थों के समान स्वत: ही स्वरूप सत्ता से सम्बद्ध है या द्रव्य गुणादि पदार्थों के समान अर्थान्तरभूत सत्ता से सम्बद्ध है ? प्रथम पक्ष मानो तो सामान्यादि के साथ व्यभिचार होगा, क्योंकि सामान्यादिक पदार्थ द्रव्य और कर्मरूप नहीं मानकर फिर उसमें उस प्रकार की सत्ता का [स्वरूप सत्ता का] सम्बन्ध कहा गया है किन्तु सामान्यादि को गुण रूप नही माना है । गुण रूप होवे और सामान्य के सदृश स्वरूप सत्ता वाला भी होवे ऐसा आपने नहीं माना । दूसरा पक्ष—शब्द में अर्थान्तरभूत सत्ता से सम्बन्धीपना है ऐसा कहो तो अयुक्त है, क्योंकि शब्दादि पदार्थ यदि स्वयं असत् होकर अर्थान्तरभूत [पृथक्भूत] सत्ता से सम्बद्ध होते हैं तो अश्वविषाण, वन्ध्या का पुत्र इत्यादि पदार्थ भी सत्ता से संबद्ध हो सकते हैं, क्योंकि वे भी शब्द के समान स्वयं असत् हैं । अर्थान्तर-भूत सत्ता से संबद्ध होने का आगे हम खण्डन करने वाले हैं अर्थात् पदार्थों का सत्व

यच्चोक्तम्–शब्दो द्रव्यं न भवत्येकद्रव्यत्वात्; तत्रैकद्रव्यत्वं साधनमसिद्धम्; यतो गुणत्वे, गगने एवैकद्रव्ये समवायेन वर्तने च सिद्धे, तत्सिद्धये त, तच्चोक्तया रीत्याऽपास्तमिति कथं तत्सिद्धिः ?

यदप्येकद्रव्यत्वे साधनमुक्तम्–'एकद्रव्यः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इति; तदपि प्रत्यनुमानबाधितम्; तथाहि–अनेकद्रव्यः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सत्यपि स्पर्शवत्त्वाद् घटादिवत्। वायुनानेकान्तश्च; स हि बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षोपि नैकद्रव्यः, चक्षुषैकेनाऽ-

---

या सत्तापना पृथक् रहता है और समवाय से सम्बन्धित होता है ऐसा कहना सर्वथा गलत है इस विषय में पहले भी कथन कर आये हैं और आगे समवाय विचार प्रकरण में पूर्ण रूप से खण्डन करने वाले हैं, अतः यहां अधिक नही कहते हैं ।

शब्द द्रव्य नही है, क्योंकि उसमे एक द्रव्यपना है ऐसा वैशेषिक ने कहा था सो एकद्रव्यत्वात् हेतु असिद्ध है, पहले शब्द में गुणपना सिद्ध होवे और वह शब्द रूप गुण मात्र आकाश में ही समवाय से रहता है ऐसा सिद्ध होवे तब यह सिद्ध हो सकता है कि शब्द एक द्रव्यपने से युक्त होने के कारण द्रव्य नही कहलाता । किन्तु शब्द में गुणपना कथमपि सिद्ध नहीं हो रहा है फिर किस प्रकार एक द्रव्यत्व सिद्ध होवे ? अर्थात् नहीं हो सकता है ।

एक द्रव्यः शब्दः सामान्य विशेषवत्वे सति बाह्य-एक-इन्द्रिय प्रत्यक्षत्वात्, एक द्रव्य में रहने वाला शब्द है, क्योंकि वह सामान्य विशेषवान होकर बाह्य के एक मात्र इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है ऐसा कहा था वह अनुमान प्रतिपक्षी अनुमान से बाधित है, अब इसीको बताते हैं — अनेक द्रव्यः शब्दः, अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सत्यपि स्पर्शवत्वात् घटादिवत्, शब्द अनेक द्रव्य स्वरूप है, क्योंकि हमारे प्रत्यक्ष होकर भी स्पर्श गुणवाला है, जैसे घटादि पदार्थ स्पर्शादिमान होकर हमारे प्रत्यक्ष हुआ करते हैं । इस तरह वैशेषिक का शब्द को एक द्रव्यत्व सिद्ध करने वाला अनुमान इस अनुमान से बाधित होता है, क्योंकि इसने शब्द का एक द्रव्यत्व खण्डित किया है । तथा जो बाह्य एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष हो वह एक द्रव्य रूप ही हो ऐसा कहना वायु से व्यभिचरित होता है, वायु बाह्य एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष तो है किन्तु एक द्रव्य रूप नही है । चन्द्र, सूर्य आदि के साथ भी बाह्यैकेन्द्रिय प्रत्यक्षत्वात् हेतु अनैकान्तिक होता है, वे चन्द्रादिक बाह्य एक चक्षु इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होकर भी एक द्रव्य रूप नही है । फिर एक द्रव्यपना और बाह्यैकेन्द्रिय प्रत्यक्षपना इन दोनों का अविनाभाव कैसे कर सकते हैं ? अर्थात् नहीं

स्मदादिभिः प्रतीयमानैश्चन्द्रार्कादिभिश्च । अस्मदादिविलक्षणैर्बाह्येन्द्रियान्तरेण तत्प्रतीतौ शब्देपि तथा प्रतीतिः किन्न स्यात् ? अत्र तथानुपलम्भोऽन्यत्रापि समानः ।

एतेनेदमपि प्रत्युक्तम्–'गुणः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वाद्रूपादिवत्' इति; वाय्वादिभिर्व्यभिचारात्, ते हि सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षा न च गुणाः, अन्यथा द्रव्यसंख्याव्याघातः स्यात् । ततः शब्दानां गुणत्वासिद्धरयुक्तमुक्तम्–'यश्चैषामाश्रयस्तत्पारिशेष्यादाकाशम्' इति ।

यच्चोक्तम्–'न तावत्स्पर्शवतां परमाणूनाम्' इत्यादि; तत्सिद्धसाधनम्; तद्गुणत्वस्य तत्रानभ्युपगमात् । यथा चास्मदादिप्रत्यक्षत्वे शब्दस्य परमाणुविशेषगुणत्वस्य विरोधस्तथाकाशविशेष-

---

कर सकते हैं । यदि कोई कहे कि चन्द्र सूर्य आदि केवल चक्षु इन्द्रिय से ही प्रत्यक्ष हो सो बात नहीं है योगीजन इन चन्द्रादि को चक्षु के समान अन्य स्पर्शनादि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष कर लेते हैं ? सो यह बात शब्द मे भी है, योगीजन शब्द को चक्षु आदि इंद्रिय द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं । शब्द के विषय में वैसा प्रत्यक्ष होना स्वीकार न करो तो चन्द्र आदि के विषय में भी वैसा प्रत्यक्ष होना नही मान सकते, दोनों जगह समान बात है ।

शब्द का एक द्रव्यपना जैसे खण्डित होता है वैसे गुणः शब्दः सामान्य विशेषवत्वे सति बाह्यैकेन्द्रिय प्रत्यक्षत्वात् रूपादिवत् इत्यादि अनुमान से माना गया गुणपना भी खण्डित होता है, क्योंकि इस अनुमान के हेतु का भी वायु, आदि के साथ व्यभिचार होता है । वायु आदि पदार्थ सामान्य विशेषवान होकर बाह्य एक इन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं किन्तु गुण नहीं हैं, यदि इन वायु आदि को गुण मानेंगे तो आपकी द्रव्यों की संख्या का व्याघात होवेगा । आप वैशेषिक के यहां पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, दिशा, आकाश, मन, काल और आत्मा इसप्रकार नौ द्रव्य माने हैं सो जो बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष हो वह गुण है ऐसा कहने से वायु आदि चारों द्रव्य गुण रूप बन जायेंगे । इसलिये शब्दों को गुण रूप मानना असिद्ध हो जाता है, इसप्रकार "जो शब्दों का आश्रय है वह पारिशेष्य से आकाश है" इत्यादि कथन अयुक्त होता है ।

वैशेषिक ने कहा था कि शब्द स्पर्शमान परमाणुओं का गुण नहीं है इत्यादि, सो यह कहना हम जैन के लिए सिद्ध है, क्योंकि हम जैन भी शब्दको परमाणुओं का गुण नहीं मानते हैं । शब्द हमारे प्रत्यक्ष होते हैं अतः परमाणुओं का विशेष गुण नहीं

गुणत्वस्यापि । तथा हि-शब्दोऽत्यन्तपरोक्षाकाशविशेषगुणो न भवत्यस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्कार्यद्रव्य-रूपादिवत् । न ह्यस्मदादिप्रत्यक्षत्व परमाणुविशेषगुणत्वमेव निराकरोति शब्दस्य नाकाशविशेषगुण-त्वम् उभयत्राविशेषात् । यथैव हि परमाणुगुणो रूपादिरस्मदाद्यप्रत्यक्षस्तथाकाशगुणो महत्त्वादिरपि ।

यच्चाप्युक्तम्–'नापि कार्यद्रव्याणाम्' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; शब्दस्याकाशगुणत्वनिषेधे कार्यद्रव्यान्तराप्रादुर्भावेप्युत्पत्त्यस्युपगमे शब्दो निराधारो गुणः स्यात् । तथा च 'बुद्धयादयः क्वचिद्व-र्तन्ते गुणत्वात्' इत्यस्य व्यभिचारः । ततः कार्यद्रव्यान्तरोत्पत्तिस्तत्राभ्युपगन्तव्येत्यसिद्धो हेतुः ।

है, यदि शब्द को परमाणु का गुण मानेंगे तो प्रत्यक्ष विरोध होगा । ऐसा आप वैशेषिक ने स्वीकार किया है ठीक इसीप्रकार शब्द को आकाश का गुण मानने में प्रत्यक्ष विरोध होता है अतः शब्द को आकाश का गुण रूप भी नहीं मानना चाहिए । अनुमान से सिद्ध करते हैं— शब्द अत्यन्त परोक्ष ऐसे आकाश का विशेष गुण नही है, क्योंकि वह हमारे प्रत्यक्ष होता है, जैसे कार्य द्रव्यस्वरूप पृथिवी आदि हैं उनके गुण हमारे प्रत्यक्ष होते हैं । जो वस्तु हम जैसे सामान्य मनुष्यों के प्रत्यक्ष हुआ करती है वह परमाणु का विशेष गुण रूप मात्र ही नही होती हो सो बात नहीं है, वह वस्तु तो आकाश द्रव्य का विशेष गुण भी नही हो सकती है, क्योंकि परमाणु का गुण हो चाहे आकाश का गुण हो दोनों में भी अस्मदादि प्रत्यक्ष होने का निषेध है, न परमाणु का गुण हमारे ज्ञान के प्रत्यक्ष हो सकता है, और न आकाश का विशेष गुण ही हमारे ज्ञान के प्रत्यक्ष हो सकता है, उभयत्र समानता है । जैसे परमाणु के रूपादि गुणों को हम प्रत्यक्ष नही कर सकते वैसे ही आकाश के महत्वादि गुण प्रत्यक्ष से दिखायी नही देते है । पृथिवी आदि कार्य द्रव्यों का गुण भी शब्द नही है इत्यादि जो पहले कहा था वह अयुक्त है शब्द में आकाश द्रव्य के गुणत्व का निषेध हो चुका है, और कार्य द्रव्यांतर में उस शब्द का प्रादुर्भाव न मानकर उसकी उत्पत्ति होना भी स्वीकार करे तो यह आपका शब्द नामा गुण निराधार बन जायगा । और इसतरह शब्द रूप गुण को निराधार मानोगे तो "बुद्धि आदिक गुण किसी आधार पर रहते हैं, क्योंकि वे गुण स्वरूप है" इस कथन में बाधा आती है, अतः शब्द को उत्पत्ति कार्य द्रव्यांतर से होती है ऐसा स्वीकार करना होगा और यह बात स्वीकार करने पर शब्द को गुण रूप सिद्ध करने वाला "कार्य द्रव्यांतर अप्रादुर्भावे अपि उपजायमानत्वात्" हेतु असिद्ध ही ठहरता है ।

अकारणगुणपूर्वकत्वं चासिद्धम्; तथा हि–नाकारणगुणपूर्वकः शब्दोऽस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वे सति गुणत्वात्पटरूपादिवत् । न चाणुरूपादिना सुखादिना वा हेतोर्व्यभिचारः; 'बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वे सति' इति विशेषणात् । नापि योगिबाह्येन्द्रियग्राह्येणाणुरूपादिना; अस्मदादिग्रहणात् । नापि सामान्यादिना; गुणग्रहणात् ।

अकारण गुण पूर्वकत्व नामा हेतु भी असिद्ध है, अर्थात्–पहले आपने कहा था कि शब्द में अकारण गुण पूर्वक होना रूप स्वभाव है अतः पृथिवी आदि का विशेष गुण नहीं है इत्यादि सो बात गलत है, हम अनुमान से शब्द का अकारण पूर्वक होने का निषेध करते हैं—शब्द अकारण गुण पूर्वक नहीं होता है [पक्ष] क्योंकि हमारे बाह्येन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होकर गुण रूप है, [हेतु] जैसे पट के रूपादि गुण अकारण गुण पूर्वक नहीं है [दृष्टात] यद्यपि हम जैन शब्द को गुण स्वरूप नही मानते हैं किंतु पहले उसमें आकाश के गुणत्व का निषेध करने के लिये यह प्रसंग साधन उपस्थित किया है । इस अनुमान से शब्द में पहले आकाश गुणत्व का निषेध करके फिर गुणत्व मात्र का निषेध कर द्रव्यपना स्थापित करेंगे । अस्मदादि बाह्येन्द्रिय ग्राह्यत्वे सति गुणत्वात् हेतु का अणु के रूपादि के साथ या सुखादि के साथ व्यभिचार भी नही आता है, क्योंकि "बाह्येन्द्रिय ग्राह्यत्वे सति" यह जो विशेषण है वह इस दोष को हटाता है अणु के रूपादि गुण बाह्येन्द्रिय ग्राह्य नहीं होते हैं और शब्द बाह्येन्द्रियग्राह्य देखे जाते हैं अतः अणु के गुण तो अकारण गुण पूर्वक हो सकते हैं किन्तु शब्द रूप गुण [यहां प्रसंग वश शब्द को गुण रूप कहा जा रहा है] अकारण गुण पूर्वक नहीं हो सकता है । योगी जनके बाह्येन्द्रिय द्वारा ग्राह्य जो अणु के गुण हैं उसके साथ भी व्यभिचार नही होगा क्योंकि "अस्मदादि" विशेषण दिया है अर्थात् हम जैसे सामान्य व्यक्ति के बाह्येन्द्रिय द्वारा जो ग्राह्य है वह अकारण गुणपूर्वक नहीं होता ऐसा सिद्ध करना है । गुणत्व पद का ग्रहण होने से सामान्यादि पदार्थ के साथ भी व्यभिचार नहीं होता है अर्थात् सामान्यादि बाह्येन्द्रिय ग्राह्य तो है किन्तु गुण स्वरूप नहीं है । इसप्रकार "अस्मदादि बाह्येन्द्रिय ग्राह्यत्वे सति गुणत्वात्" यह हेतु निर्दोष सिद्ध हुआ और उसने शब्द को अकारण गुणपूर्वक होने का निषेध किया ।

अयावद्द्रव्यभावित्वं च विरुद्धम्; साध्यविपरीतार्थप्रसाधनत्वात्। तथाहि-स्पर्शवद्द्रव्यगुणः शब्दोऽस्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वे सत्ययावद्द्रव्यभावित्वात्पटरूपादिवत्। 'अस्मदादिपुरुषान्तरप्रत्यक्षत्वे सति पुरुषान्तराप्रत्यक्षत्वात्' इति चास्वाद्यमानेन रसादिनानैकान्तिकः। आश्रयाद्भेर्यादेरन्यत्रोपलब्धेः' इति चासङ्गतम्; भेर्यादे. शब्दाश्रयत्वासिद्धेस्तस्य तन्निमित्तकारणत्वात्। आत्मादिगुणत्वा (त्व) प्रतिषेधस्तु सिद्धसाधनान्न समाधानमर्हति।

शब्द पृथिवी आदि का विशेष गुण नही है ऐसा प्रतिपादन करते हुए वैशेषिक ने "अयावत् द्रव्य भावित्वं" हेतु दिया था वह भी विरुद्ध है, अर्थात् आप शब्द को अयावत् द्रव्यभावित्व हेतु से आकाश का गुण सिद्ध करना चाहते हैं किन्तु इससे विपरीत यह हेतु तो शब्द को स्पर्शवाले द्रव्य का गुण सिद्ध करा देता है। इसी को दिखाते हैं—शब्द स्पर्श वाले द्रव्य का गुण है [यहां पर भी जैनाचार्य प्रसंग वश ही शब्द को गुणरूप कह रहे है] क्योंकि वह हमारे बाह्येन्द्रिय [स्पर्शनादि पांचों इन्द्रियां बाह्येन्द्रिय कहलाती है] प्रत्यक्ष होकर अयावत् द्रव्य भावी है, जैसे पट के रूपादि गुण हैं। तथा शब्द अस्मदादि पुरुषांतर के प्रत्यक्ष होकर अन्य पुरुष के प्रत्यक्ष नही अर्थात् दूरवर्ती पुरुष के प्रत्यक्ष नही होता ऐसा शब्द में पृथिवी आदि के विशेष गुणत्व का निषेध करने के लिये वैशेषिक ने हेतु दिया था वह हेतु भी आस्वाद्यमान हुए रस आदि गुण के साथ अनैकान्तिक हो जाता है, क्योकि जो अन्य पुरुष के अप्रत्यक्ष है वह पृथिवी आदि का विशेष गुण नही होता ऐसा आपको साध्य सिद्ध करना है, किन्तु वह सिद्ध नहीं हो सकता है, स्वाद में लिया हुआ रस पुरुषांतर के अप्रत्यक्ष तो है किन्तु उसमें पृथिवी आदि के विशेष गुणत्व का अभाव नही है अपितु वह पृथिवी आदि का विशेष गुण ही है सो यह साध्य के अभाव मे हेतु के रहने से अनैकान्तिक दोष हुआ। शब्द अपने आश्रयभूत भेरी पटह आदि मे अन्य स्थान पर उपलब्ध होता है अतः वह आकाश का गुण है ऐसा वैशेषिक ने कहा था, वह भी असंगत है, भेरी पटह आदि पदार्थ शब्द के आश्रय नही हैं। शब्द के निमित्त कारण हैं। शब्द को आकाश का गुण सिद्ध करने के लिये अंतिम हेतु दिया था यह शब्द आत्मा का विशेष गुण नही है अतः आकाश का होना चाहिए, सो हेतु भी व्यर्थ है, कोई भी वादी प्रतिवादी शब्द को आत्मा का गुण नहीं मानते हैं। यह प्रसिद्ध बात है अतः इस विषय में अधिक नहीं कहते है।

यच्च 'शब्दलिङ्गाविशेषात्' इत्याद्युक्तम्; तद्वन्ध्यासुतसौभाग्यव्यावर्णनप्रख्यम्; कार्यद्रव्यस्य व्यापित्वादिधर्मासम्भवात् ।

एतेनेदमपि निरस्तम्-'दिवि भुव्यन्तरिक्षे च शब्दाः श्रूयमाणैकार्थसमवायिनः शब्दत्वात् श्रूयमाणाद्यशब्दवत् । श्रूयमाणः शब्दः समानजातीयासमवायिकारणः सामान्यविशेषवत्त्वे सति नियमेनास्मदादिबाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् कार्यद्रव्यरूपादिवत्' इति; प्रतिशब्दं पुद्गलद्रव्यस्य

"शब्द रूप हेतु विशेष के कारण आकाश एक है" इत्यादि आकाश सिद्धि के लिये जो कहा था वह भी वन्ध्या पुत्र के सौभाग्य का वर्णन करने के समान व्यर्थ का है, क्योंकि कार्य द्रव्य में व्यापित्व आदि धर्म असंभव है ।

इसप्रकार शब्द आकाश का गुण है ऐसा कहना खण्डित होता है इसके खंडन से ही आगे कहा जाने वाला पक्ष भी खण्डित हुआ समझना चाहिये । अब उसी को बताते हैं—स्वर्ग में, पृथिवी पर, आकाश में अधर जो भी शब्द होते हैं वे सुनने में आये हुए शब्द के साथ एकार्थ समवायी हुआ करते हैं, अर्थात्—आकाशरूप एक पदार्थ ही उनका समवायी कारण होता है, क्योकि वे सभी शब्दरूप हैं, जैसे सुनने में आ-रहा पहला शब्द उसी समवायी कारण से हुआ है । तथा दूसरा अनुमान भी कहा जाता है कि—यह सुनने में आने वाला जो शब्द है वह समान जातीय असमवायी कारण वाला है, क्योंकि सामान्य विशेषवान होकर नियम से हमारे बाह्य-एक-इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है, जैसे कार्य द्रव्य जो पृथिवी या वस्त्रादिक है उसके रूपादि गुण समान जातीय असमवायी कारण वाले होते हैं । इन उपर्युक्त दो अनुमानों द्वारा शब्द को आकाश का गुण रूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, इसमें यह बताया है कि शब्द का समवायी कारण एक है और वह आकाश ही है, किन्तु यह प्रतिपादन गलत है, शब्द एक कारण से न बनकर पृथक्-पृथक् पुद्गल द्रव्यरूप उपादान कारण से बनता है अर्थात् प्रत्येक शब्द का पुद्गलरूप उपादान या समवायी कारण भिन्न है । तथा अभी बताये हुए अनुमानों में शब्द का असमवायी कारण समानजातीय शब्द है ऐसा कहा है वह भी गलत है । शब्द से शब्द बनता है, प्रथम शब्द आकाशादि कारण से बनकर आगे के शब्द को उत्पन्न कर नष्ट होता है फिर शब्द से शब्द बनते जाते है, इत्यादि कथन शब्द का क्षणिकत्व खण्डित होने से असिद्ध है । अभिप्राय यह है कि

तत्समवायिकारणस्य भेदात् । शब्दस्य क्षणिकत्वनिषेधाच्च कथं समानजातीयासमवायिकारणत्वम् ?

यदि चाकाशमनवयवं शब्दस्य समवायिकारणं स्यात्; तर्हि शब्दस्य नित्यत्वं सर्वगतत्वं च स्यादाकाशगुणत्वात्तन्महत्त्ववत् । क्षणिकैकदेशवृत्तिविशेषगुणत्वस्य शब्दे प्रमाणतः प्रतिषेधाच्च । तत्त्वे वा कथं न शब्दाधारस्याकाशस्य सावयवत्वम् ? न हि निरवयवत्वे 'तस्यैकदेशे एव शब्दो वर्त्तते न सर्वत्र' इति विभागो घटते ।

किञ्च, सावयवमाकाशं हिमवद्विन्ध्यावरुद्धविभिन्नदेशत्वाद्भूमिवत् । अन्यथा तयो रूपरसयोरिवैकदेशाकाशावस्थितिप्रसक्तिः । न चैतद् दृष्टमिष्टं वा ।

वैशेषिक शब्द को क्षणिक मानते है उनका कहना है कि वक्ता के मुख से प्रथम शब्द वायु तथा आकाश आदि के संयोग से उत्पन्न होता है किन्तु आगे के शब्द जल में लहरों के समान उत्पन्न होकर नष्ट होते जाते हैं श्रोता के कान तक पहुंचने वाला अन्तिम शब्द सुनायी देता है बीच के शब्द तो आगे आगे के शब्द को उत्पन्न कर नष्ट होते हैं । किन्तु यह बात असिद्ध है क्योंकि शब्द सर्वथा क्षणिक नहीं है इसप्रकार शब्द का समवायी कारण आकाश है और असमवायी कारण तालु आदि का संयोग एवं शब्दादि है इत्यादि कहना असिद्ध हुआ ।

आप वैशेषिक आकाश को अवयव रहित मानते हैं सो ऐसा अनवयव स्वरूप आकाश शब्द का समवायी कारण बताया जाय तो शब्द को नित्य तथा सर्वगत भी मानना होगा क्योंकि वह आकाश का गुण है, जैसे आकाश का महत्वगुण आकाश के समान नित्य तथा सर्वगत है । शब्द को आकाश गुण बतलाकर पुनः उसे क्षणिक तथा एक देश में रहने वाला एवं विशेष गुण रूप मानना प्रमाण से बाधित है । आकाश तो नित्य सर्वगत हो और उसका विशेष गुण क्षणिक असर्वगत हो ऐसा हो नहीं सकता है । यदि शब्द को एक देश में रहने वाला इत्यादि स्वरूप माना जाय तो उसके आधारभूत आकाश के सावयवपना किस प्रकार नहीं आवेगा ? अवश्य आवेगा । सहज सिद्ध बात है कि शब्द यदि आकाश के एक देश में रहता है तो उसके मायने आकाश के देश–अवयव हैं क्योंकि आकाश यदि निरवयव–अवयव रहित है तो उसके एक देश में शब्द रहता है, सब जगह नही रहता, ऐसा विभाग नहीं हो सकता ।

आकाश को अवयव रहित मानना अनुमान बाधित भी होता है, आकाश सावयवी है, [साध्य] क्योंकि हिमाचल और विंध्याचल द्वारा रोके गये उसके प्रदेश

कथं वा तदाधेयस्य शब्दस्य विनाशः? स हि न तावदाश्रयविनाशाद्घटते; तस्य नित्यत्वाभ्युपगमात्। नापि विरोधिगुणसद्भावात्; तन्महत्त्वादेरेकार्थसमवेतत्वेन रूपरसयोरिव विरोधित्वासिद्धेः। सिद्धौ वा श्रवणसमयेपि तदभावप्रसङ्गः; तदा तन्महत्त्वस्य भावात्। नापि संयोगादिर्विरोधिगुणः; तस्य तत्कारणत्वात्। नापि संस्कारः; तस्याकाशेऽसम्भवात्। सम्भवे वा तस्याभावे आकाशस्याप्यभावानुषङ्गस्तस्य तदव्यतिरेकात्। व्यतिरेके वा 'तस्य' इति सम्बन्धो न स्यात्। नापि शब्दोपलब्धि-

---

भिन्न भिन्न हैं, जैसे उसी हिमाचल तथा विंध्याचल की पृथिवी विभिन्न है। यदि ऐसा नहीं है तो रूप और रस के समान विंध्याचल और हिमाचल आकाश के एक देश में स्थित हो जाना चाहिए। अर्थात् दोनों पर्वत रूप और रस के भांति सहचारी एकत्र रहने वाले बन जायेंगे। किन्तु ऐसा किसी ने देखा नहीं है, और न किसी ने ऐसा माना ही है।

तथा शब्द का आश्रय जब आकाश है तो शब्दरूप आश्रेय का विनाश किस प्रकार हो सकेगा? आश्रय का विनाश होने से शब्द नष्ट होता है ऐसा तो कह नहीं सकते, क्योंकि शब्द के आश्रय को आपने नित्य माना है। विरोधी गुण के निमित्त से शब्द रूप आधेय का नाश होता है ऐसा कहना अशक्य है। शब्द के विरोधी गुण कौन हैं? महत्व आदि गुण विरोधक नहीं हो सकते, क्योंकि महत्व आदि गुण तथा शब्दरूप गुण इन सबका आकाश रूप एक आधार में समवेतपना होना आपने स्वीकार किया है, जो एकार्थ समवेतपने से रहते हैं उनमें परस्पर विरोध नहीं होता है, जैसे रूप और रस एकार्थ समवेत हैं तो उनमें विरोध नहीं है। यदि इनमें विरोध माना जाय तो शब्द सुनने के समय में भी शब्द के अभाव का प्रसंग आता है, क्योंकि उस समय शब्द का विरोधी माना गया महत्व गुण मौजूद है। संयोग आदि गुण भी शब्द के विरोधी नहीं बन सकते क्योंकि संयोग आदि को तो आपने शब्द का कारण माना है। संस्कार नामा गुण भी विरोधक नहीं है, क्योंकि चौबीस गुणों में से संस्कार नामा जो गुण है उसे आपने आकाश द्रव्य में नहीं माना है। यदि संस्कार नामा गुण आकाश द्रव्य में मानोगे तो जब संस्कार का नाश होगा तो उसके साथ उससे अभिन्न आकाश भी नष्ट होगा, क्योंकि गुण गुणी अव्यतिरेकी [अपृथक्] होते हैं। यदि आकाश और संस्कार में व्यतिरेक [भिन्नपना] मानेंगे तो "उस आकाश का यह संस्कार है" ऐसा सम्बन्ध जोड़ नहीं सकते। शब्द की उपलब्धि को प्राप्त कराने वाला जो अदृष्ट [भाग्य] है उसका

प्रापकादृष्टाभावासदभावः; तुच्छाभावस्यासामर्थ्यतो विनाशाहेतुत्वात् खरविषाणवत् । तन्न शब्दस्याकाशप्रभवत्वमभ्युपगन्तव्यम् ।

ननु चाऽस्य पौद्‌गलिकत्वेऽस्मदाद्यनुपलभ्यमानरूपाद्याश्रयत्वं न स्यात्पटादिवत्; तन्न; द्व्यणुकादिना हेतोर्व्यभिचारात् । नायनरश्मिषु जलसंयुक्तानले चानुद्‌भूतरूपस्पर्शवत् शब्दाश्रयद्रव्येऽस्मदाद्यनुपलभ्यमानानामप्यनुद्‌भूततया रूपादीनां वृत्त्यविरोधः । यथा च घ्राणेन्द्रियेणोपलभ्यमाने गन्धद्रव्येऽनुद्‌भूतानां रूपादीना वृत्तिस्तथात्रापि । यथा च तैजसत्वात्पार्थिवत्वाच्चात्रानुपलम्भेपि रूपादीनामनुद्‌भूततयास्तित्वसम्भावना तथा शब्देपि पौद्‌गलिकत्वात् । न च पौद्‌गलिकत्वमसिद्धम्;

जब अभाव होता है तब शब्द का भी अभाव हो जाता है ऐसा कोई वैशेषिक के पक्ष में कहे तो वह भी गलत है, क्योंकि परवादी अभाव को तुच्छाभावरूप स्वीकार करते हैं, अतः तुच्छाभावरूप अदृष्टाभाव सामर्थ्य विहीन होने से शब्द के नाश का हेतु बन नहीं सकता, जैसे खरविषाण [गधे का सींग] तुच्छाभाव रूप है तो वह किसी को नष्ट करने की सामर्थ्य नहीं रखता है । इस तरह शब्द आकाश से उत्पन्न होता है ऐसा वैशेषिक आदि का कहना कथमपि सिद्ध नहीं होता है ।

शंका—आप जैन शब्द को पौद्‌गलिक मानते हैं, किन्तु यह भी सिद्ध नहीं होता है, यदि शब्द पौद्‌गलिक होता तो हमारे द्वारा उसमें रहने वाले रूपादिक अनुपलभ्यमान नही होते, जैसे वस्त्रादि के रूपादि अनुपलभ्य नहीं होते अर्थात् शब्द पुद्‌गल से बना है तो वस्त्र आदि के समान उसके रूप आदि गुण उपलब्ध होने चाहिये ?

समाधान—यह कथन गलत है, जो रूपादि का आश्रयभूत हो अर्थात् जिसमें रूप आदि रहते हैं वह हमारे द्वारा नियम से उपलब्ध होवे ऐसा नहीं है, यदि ऐसा नियामक हेतु मानेंगे तो वह द्वयणुक आदि के साथ व्यभिचरित होगा । क्योंकि द्व्यणुक आदि में रूपादि का आश्रयपना है किन्तु वे हमारे उपलब्ध नही होते है । अतः जिसमें रूपादि हो वह हमारे उपलब्ध हो ऐसा नियम नही बनता है । तथा जिसप्रकार वैशेषिक लोग नेत्र की किरणों में एवं जलसंयुक्त अग्नि में [गरम जल में] क्रमशः रूप तथा स्पर्श को अनुद्‌भूत [अप्रगट] मानते हैं उसी प्रकार जैन शब्द के आश्रयभूत द्रव्य में रूपादि को अनुद्‌भूत मानते हैं जिस कारण कि वे हमारे द्वारा उपलब्ध नहीं हो पाते

तथाहि–पौद्गलिकः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वेऽचेतनत्वे च सति क्रियावत्त्वाद्बाणादिवत् । न च मनसा व्यभिचारः; 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति' इति विशेषणत्वात् । नाप्यात्मना; 'अचेतनत्वे सति' इति विशेषणात् । नापि सामान्येन; अस्य क्रियावत्त्वाभावात् । ये च 'अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति स्पर्शवत्त्वात्' इत्यादयो हेतवः प्रागुपन्यस्तास्ते सर्वे पौद्गलिकत्वप्रसाधका द्रष्टव्याः । ततः शब्दस्याकाशगुणत्वासिद्धेर्नासौ तल्लिङ्गम् ।

हैं । तात्पर्य यह है कि शब्द पुद्गल द्रव्य की पर्याय है उसमें रूपादिगुण रहते हैं किन्तु वे हम जैसे व्यक्ति द्वारा उपलब्ध नहीं होते । शब्द में रूपादिक किस प्रकार अप्रगट रहते हैं इस बात को स्पष्ट करने के लिये और भी उदाहरण है, जैसे कि आपके यहां घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किये जाने वाले गन्ध द्रव्य में रूप रसादि को अनुद्भूत–अप्रगट रूप माना गया है । तथा जैसे नयन रश्मि में एवं जल संयुक्त अग्नि में तैजसपना होने से रूपादिका अस्तित्व अनुपलब्ध होने पर भी मानते है, गन्ध द्रव्य में पार्थिवपना होने से रूपादि का अस्तित्व मानते हैं, उनमें अनुद्भूत स्वभाव वाले रूपादिक संभावित करते हैं, उसी प्रकार शब्द में पौद्गलिकपना होने से रूपादिका अस्तित्व संभावित किया जाता है ।

शब्द का पुद्गलपना असिद्ध भी नहीं है, अनुमान द्वारा सिद्ध करके बतलाते हैं—पौद्गलिकः शब्दः, अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे अचेतनत्वे च सति क्रियावत्वात्, बाणादिवत् ? शब्द पौद्गलिक है—पुद्गल नामा मूर्त्तिक द्रव्य से बना हुआ है, [साध्य] क्योंकि हमारे प्रत्यक्ष एवं अचेतन होकर क्रियाशील है [हेतु] जैसे बाण आदि पदार्थ अचेतन क्रियावान् होने से पौद्गलिक है । इस हमारे हेतु का मनके साथ व्यभिचार भी नहीं आता है, क्योंकि हेतु में जो "अस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति" यह विशेषण दिया है वह इस व्यभिचार दोष को हटाता है । अर्थात् जो क्रियावान है वह पौद्गलिक है ऐसा कहने से मन के साथ अनैकान्तिकपना आता है भाव मन क्रियावान तो है किन्तु वह पौद्गलिक नहीं है इस तरह कोई व्यभिचार दोष देवे तो वह ठीक नहीं, इस दोष को हटाने वाला "अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति" यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है । मन क्रियावान तो है किन्तु अस्मदादि प्रत्यक्ष नहीं है । आत्मा के साथ भी उपर्युक्त हेतु व्यभिचरित नहीं होगा, क्योंकि हेतु में "अचेतनत्वे सति" विशेषण जोड़ा है, आत्मा क्रियावान है किन्तु अचेतन नहीं है, अतः जो अचेतन होकर क्रियावान है वह पौद्गलिक ही है, ऐसा कहना सिद्ध होता है । सामान्य के साथ हेतु को व्यभिचरित करना भी अशक्य है

कुतस्तर्हि तत्सिद्धिरिति चेद् ? 'युगपन्निखिलद्रव्यावगाहकार्यात्' इति ब्रूमः; तथाहि–युगपन्निखिलद्रव्यावगाहः साधारणकारणापेक्षः तथावगाहत्वान्यथाऽनुपपत्तेः। ननु सर्पिषो मधुन्यवगाहो भस्मनि जलस्य जलेऽश्वादेर्यथा तथैवालोकतमसोरशेषार्थावगाहघटनान्नाकाशप्रसिद्धिः; तन्न; अनयोरप्याकाशाभावेऽवगाहानुपपत्तेः।

क्योंकि सामान्य क्रियावान नहीं है इस तरह सब प्रकार के दोषों से रहित उक्त हेतु स्वसाध्य का साधक होता है। शब्द के विषय मे पहले हमने "अस्मदादि प्रत्यक्षत्वे सति स्पर्शवत्वात्" हमारे प्रत्यक्ष होकर स्पर्शवाला होने से शब्द अमूर्त्त नहीं है, इत्यादि रूप से हेतु कहे थे वे सभी हेतु शब्द को पौद्गलिक सिद्ध करने वाले हैं। इन सब हेतुओं से जब शब्द का पुद्गल द्रव्यपना सिद्ध होता है तो उसका आकाश द्रव्य का गुण होना अपने आप असिद्ध हो जाता है अतः शब्द आकाश का लिंग [आकाश को सिद्ध करने वाला हेतु] नहीं है, ऐसा निश्चित होता है।

शंका—फिर आकाश द्रव्य को सिद्ध करने वाला कौनसा लिंग [हेतु] हो सकता है ?

समाधान—आकाश को सिद्ध करने वाला तो अवगाह गुण है, जो एक साथ संपूर्ण द्रव्यों को अवकाश देवे वह आकाश द्रव्य है, अवगाह रूप कार्य देखकर अमूर्त्त आकाश की सिद्धि होती है। इसी का खुलासा करते हैं–संपूर्ण द्रव्यों का एक साथ जो अवगाह [अवस्थान] देखा जाता है वह कोई साधारण कारण की अपेक्षा लेकर होना चाहिए, क्योंकि साधारण कारण के बिना इस तरह की अवगाहना होना असंभव है।

शंका—जिस प्रकार मधु [शहद] में घी का अवगाह होता है अर्थात् मधु में घी समा जाता है जितनी जगह मे मधु हो उतने ही पात्र में डाला हुआ घी समाता है, तथा राख में जल समाता है, जलाशय में अश्वादि समाते हैं, इसी प्रकार प्रकाश और अन्धकार में सम्पूर्ण पदार्थो का अवगाह हो जाता है, अतः अवगाह हेतु से आकाशद्रव्य की सिद्धि नहीं होती। अर्थात् अवगाह कार्य को प्रकाशादि ही कर लेते हैं उसके लिये आकाश को मानने की आवश्यकता नहीं है ?

समाधान—यह शंका असत् है, प्रकाश तथा अन्धकार का अवगाह भी आकाश के बिना नहीं हो सकता है, अर्थात् आकाश न होवे तो प्रकाश आदि का

ननु निखिलार्थानां यथाकाशेवगाहः तथाकाशस्याप्यन्यस्मिन्नधिकरणेऽवगाहेन भवितव्यमित्यनवस्था, तस्य स्वरूपेवगाहे सर्वार्थानां स्वात्मन्येवावगाहप्रसङ्गात्कथमाकाशस्यात: प्रसिद्धिः ? इत्यप्यपेशलम्; आकाशस्य व्यापित्वेन स्वावगाहित्वोपपत्तितोऽनवस्थाऽसम्भवात्, अन्येषामव्यापित्वेन स्वावगाहित्वायोगाच्च। न हि किञ्चिदल्पपरिमाणं वस्तु स्वाधिकरणं दृष्टम्; अश्वादेर्जलाद्यधिकरणोपलब्धेः। कथमेवं दिक्कालात्मनामाकाशेवगाहो व्यापित्वात्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; हेतोरसिद्धेः। तदसिद्धिश्च दिग्द्रव्यस्यासत्त्वात्, कालात्मनोश्चासर्वगतद्रव्यत्वेनाग्रे समर्थनात्प्रसिद्धेति। ननु तथाप्य-

---

अवगाह नही हो सकता और न ये किसी को अवगाह दे सकते हैं, अतः अखिल द्रव्यों को अवगाह देना आकाश का ही कार्य सिद्ध होता है।

शंका—सम्पूर्ण द्रव्यों का अवगाह आकाश में होता है किन्तु आकाश का अवगाह किस मे होगा उसके लिए अन्य कोई आधार चाहिए। अन्य तीसरा भी किसी अ᳴य के अधिकरण में रहेगा, इस तरह तो अनवस्था होती है और यदि आकाश स्वयं में अवगाहित है तो सभी पदार्थ भी स्वस्वरूप में अवगाहित रह सकते हैं, अतः अवगाह रूप हेतु द्वारा आकाश को सिद्धि करना किस प्रकार शक्य है?

समाधान—यह बात अयुक्त है, आकाश स्वयं का आधार [अवगाह] देने वाला इसलिये सिद्ध होता है कि वह सर्व व्यापी है, इसी कारण से अनवस्था दोष भी नहीं आता है। प्रकाश आदि अन्य पदार्थ इस तरह सर्व व्यापक नहीं हैं अतः वे स्वयं को अवगाह नहीं दे सकते। ऐसा नही देखा गया है कि अल्प परिमाण वाली वस्तु स्वयं का आधार होती हो, अश्वादि पदार्थ अल्प परिमाण वाले होते हैं तो वे अपने से बृहत् परिमाण वाले जलाशय आदि के अधिकरण में रहते हैं।

शंका—अल्प परिमाण वाले अन्य के आधार में रहते हैं ऐसा कहेंगे तो दिशा काल, आत्मा, इन पदार्थों का आकाश में अवगाह होना किस प्रकार सिद्ध होगा? क्योंकि ये पदार्थ स्वयं व्यापक हैं।

समाधान—यह बात समीचीन नही है, हेतु असिद्ध है, अर्थात् दिशा आदि व्यापक होने से आकाश मे नहीं रह सकते, ऐसा कहना असिद्ध है, दिशा आदि की व्यापकता इसलिये असिद्ध है कि दिशा नामका कोई द्रव्य नहीं है, तथा काल और आत्मा सर्वगत नहीं है, ये द्रव्य असर्वगत हैं, इस विषय का आगे समर्थन करने वाले है।

मूर्त्तत्वेन कालात्मनोः पाताभावात्कथं तदाधेयता ? इत्यप्ययुक्तम्; अमूर्त्तस्यापि ज्ञानसुखादेरात्मन्याधेयत्वप्रसिद्धेः।

एतेनामूर्त्तत्वान्नाकाशं कस्यचिदधिकरणमित्यपि प्रत्युक्तम्; अमूर्त्तस्याप्यात्मनो ज्ञानाद्यधिकरणत्वप्रतीतेः। समानसमयवर्त्तित्वान्निखिलार्थानां नाधाराधेयभावः, अन्यथाकाशादुत्तरकालं भावस्तेषां स्यात्; इत्यप्यसमीचीनम्; समसमयवर्तिनामप्यात्मामूर्त्तत्वादीनां तद्भावप्रतीतेः। न खलु

शंका—ठीक है, आप जैन आत्मादि को व्यापक नहीं मानते हैं, किन्तु आत्मा एवं काल द्रव्य अमूर्त्त है अतः उनका पात होना [गिरना] अशक्य है, फिर इनको आधेयरूप कैसे मान सकते है ?

समाधान—यह शंका भी अयुक्त है, अमूर्त्त पदार्थ को भी आधार की आवश्यकता रहती है, ज्ञान, सुख इत्यादि अमूर्त्त हैं किन्तु वे आत्मा के आधार में रहते हैं अर्थात् सुख आदिक अमूर्त्त होकर भी आधेयपने को प्राप्त हैं और आत्मा रूपो अधिकरण मे रहते हैं ऐसे ही आत्मा तथा काल द्रव्य ये अमूर्त्त हैं किन्तु इनका आधार अवश्य है और वह आकाश ही है, अन्य कोई पदार्थ नहीं है।

इस तरह अमूर्त्त को भी आधार की जरूरत पड़ती है यह सिद्ध हुआ इसके सिद्ध होने से ही "आकाश अमर्त्त होने से किसी को आधार नही दे सकता" ऐसी शंका का निर्मूलन हुआ समझना चाहिए, अमूर्त्त पदार्थ जैसे किसी के आधार पर रहता है वैसे किसी के लिये अधिकरण भी होता है। ऐसा सिद्ध होता है, जिस प्रकार आत्मा अमूर्त्त है फिर भी वह ज्ञान आदि का अधिकरण होता है।

शंका—संपूर्ण जीवादि पदार्थ समान समयवर्त्ती हैं अतः उनमें आधार आधेयभाव नहीं बनता, अर्थात् आकाश और अन्य सभी पदार्थ एक साथ के हैं ऐसे समान कालीन पदार्थों में से कोई आधार और कोई आधेय होवे ऐसा होना अशक्य है, यदि इन आकाश आदि में आधार आधेयभाव मानना है तो आकाश के उत्तर काल में आत्मादि पदार्थों का सद्भाव होता है ऐसा मानना पड़ेगा ?

समाधान—यह कथन गलत है, समान कालीन पदार्थों में भी आधार-आधेय भाव देखा जाता है, आत्मा और उसका अमूर्त्तपना आदि धर्म ये समान समय वाले होते हैं किन्तु इनमें आधार-आधेय मानते हैं। आप वैशेषिक ने भी आत्मा तथा

परेणाप्यत्र पौर्वापरीभावोऽभीष्टो नित्यत्वविरोधानुषङ्गात् । क्षणविशरारुतया निखिलार्थानां नाधाराधेयभावः; इत्यपि मनोरथमात्रम्; क्षणविशरारुत्वस्यार्थानां प्रागेव प्रतिषेधात् । 'खे पतत्री' इत्याद्यऽबाधितप्रत्ययाच्च तद्भावप्रसिद्धेः । ततः परेषां निरवद्यलिङ्गाऽभावान्नाकाशद्रव्यस्य प्रसिद्धिः ।

।। आकाशद्रव्यविचारः समाप्तः ।।

आकाशादि में पूर्व उत्तरपना नहीं माना । यदि इनमें पूर्वापरी भाव मानेंगे तो वे नित्य नहीं रहेंगे ।

बौद्ध—सम्पूर्ण पदार्थ क्षणभंगुर हैं, क्षण क्षण में नष्ट होने वाले हैं, अतः उनमें आधार आधेयभाव नहीं हो सकता ।

जैन—यह कथन मनोरथ मात्र है, आपके क्षणभंग वाद का पहले भली प्रकार से खण्डन कर आये हैं, पदार्थों का क्षणिकपना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता है । "आकाश में पक्षी है" इत्यादि निर्बाध ज्ञान के द्वारा भी आकाश आदि द्रव्य के आधार-आधेयभाव की सिद्धि होती है । तथा कुण्ड में बेर है, तिलों में तैल है, हाथ मे कंकण है इत्यादि अनगिनती आधार-आधेयपना दिखायी दे रहा है, अतः बौद्ध इस अखंड आधार-आधेयभाव का खंडन नहीं कर सकते । वैशेषिक को अंत में यही कहना है कि आपके यहां पर आकाश द्रव्य की सिद्धि नहीं हो पाती है, क्योंकि आप शब्द रूप हेतु द्वारा आकाश को सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु शब्द आकाश का गुण नहीं है वह स्पर्श आदि गुण वाला मूर्त्तिक पदार्थ सिद्ध होता है । जब शब्द गुण रूप नहीं है तो उसके द्वारा आकाश की सिद्धि करना नितरां असम्भव है, यह निश्चित हुआ । अब हम इस प्रकरण को संकोचते हैं ।

।। आकाशद्रव्यविचार समाप्त ।।

आकाशद्रव्यविचार का सारांश

वैशेषिक—शब्द के द्वारा आकाश द्रव्य जाना जाता है, शब्द गुणरूप पदार्थ है, और गुण कहीं आश्रित रहता है, शब्द रूप गुण का आश्रय आकाश द्रव्य है। शब्द में कर्मपना एवं द्रव्यपना न होकर भी सत्ता का सम्बन्ध है अतः वह गुण है। शब्द सामान्य पदार्थ रूप भी नहीं है, क्योंकि सामान्य में सत्ता का समवाय नहीं होता। संयोग और विभाव का कारण नहीं होने से शब्द को कर्मपदार्थ रूप भी नहीं कह सकते। इस तरह शब्द द्रव्यादि स्वरूप सिद्ध नहीं होता अतः अंततोगत्वा वह आकाश का गुण है ऐसा निर्णय हो जाता है। आकाश सर्वगत होने से उसके गुणस्वरूप शब्द भी यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं। इस शब्दलिंग द्वारा ही आकाश द्रव्य की सिद्धि होती है।

जैन—यह कथन गलत है, शब्द द्वारा आकाश की सिद्धि होना सर्वथा अशक्य है। आगे इसी को बताते हैं—शब्द का आश्रय सामान्य से कोई एक पदार्थ है ऐसा मानना इष्ट है अथवा नित्य सर्वगतरूप ही आश्रय मानना इष्ट है? प्रथम पक्ष में सिद्ध साध्यता है, क्योंकि सामान्य से कोई एक पदार्थ को शब्द का आश्रय हमने भी माना है अर्थात् पुद्गल द्रव्य शब्द का आश्रय है ऐसा हम मानते हैं। दूसरे पक्ष में रूपादि के साथ अनैकान्तिकता होगी, क्योंकि जो आश्रयभूत हो वह नित्य सर्वगत ही हो ऐसा नियम असम्भव है रूपादिगुण आश्रित तो है किन्तु नित्य सर्वगत के आश्रित नहीं है।

आप शब्द को गुण रूप सिद्ध करना चाहते हैं किन्तु उसमें अल्पत्व महत्व, संयोग, संख्या आदि गुण पाये जाते हैं अतः वह द्रव्य रूप ही सिद्ध होता है, यदि गुण रूप होता तो उसमें उक्त गुण नहीं होते क्योंकि गुण स्वयं निर्गुण हुआ करते है। तीव्र और मंद रूप सुनाई देने से शब्द में महत्व और अल्पत्व सिद्ध होता है। एक शब्द है, अनेक शब्द हैं इत्यादि रूप से शब्द में संख्या की प्रतीति भी होती है।

आपका कहना है कि शब्द में स्वयं संख्या नहीं है, संख्यादिका उसमें उपचार मात्र किया जाता है। किन्तु यह कहना असत् है शब्द में संख्या का उपचार किया जाता है तो किसकी संख्या का उपचार करे ? पदार्थ की संख्या का उपचार होना अशक्य है, क्योंकि पदार्थ की संख्या अनेक हैं और उनका वाचक शब्द एक है ऐसा देखा जाता है, जैसे गो, राजा, किरण, पृथ्वी आदि पदार्थ अनेक हैं और उनका वाचक एक ही गौ शब्द है। दूसरी बात यह है कि शब्द को आकाश का गुण माना जाय तो वह हमारे कर्ण गोचर नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश अतीन्द्रिय होने से उसका गुण भी अतीन्द्रिय होवेगा।

तथा शब्द को आकाश का गुणरूप माने तो उसका नाश नहीं हो सकेगा, किन्तु प्रतिकूल वायु आदि से शब्द नष्ट होते हुए देखे जाते हैं। इसप्रकार शब्द आकाश का गुण नहीं है यह निश्चित होता है। शब्द तो पुद्गल द्रव्य स्वरूप है। इसप्रकार शब्द लिंग द्वारा आकाशद्रव्य की सिद्धि करना खंडित होता है। आकाशद्रव्य की सिद्धि तो उसके अवगाह गुण द्वारा होती है, एक साथ संपूर्ण पदार्थों को अवगाह (आश्रय) देनारूप कार्य द्वारा आकाशद्रव्य सिद्ध होता है, अर्थात् अखिल पदार्थों का सर्व साधारण आधारभूत कोई एक पदार्थ अवश्य है अवगाह की अन्यथानुपपत्ति होने से, इसप्रकार अवगाह गुण द्वारा आकाशद्रव्य सिद्ध होता है। आकाश में शब्दरूप विशेष गुण नही है अपितु अवगाहरूप विशेषगुण है ऐसा निर्बाध सिद्ध होता है।

॥ आकाशद्रव्यविचार का सारांश समाप्त ॥

१०

कालद्रव्यवादः

नापि कालद्रव्यस्य । यच्चोच्यते—कालद्रव्यं च परापरादिप्रत्ययादेव लिङ्गात्प्रसिद्धम् । कालद्रव्यस्य च इतरस्माद्भेदे 'कालः' इति व्यवहारे वा साध्ये स एव लिङ्गम् । तथा हि–काल इतरस्माद्भिद्यते 'काल' इति वा व्यतहर्त्तव्यः, परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिंगत्वात्, यस्तु

आकाशद्रव्य के समान वैशेषिक दर्शन में कालद्रव्य की सिद्धि भी नहीं होती है । कालद्रव्य की सिद्धि के लिए पर अपर प्रत्ययरूप हेतु दिया जाता है, अर्थात्–काल एक पृथक् पदार्थ है, क्योंकि यह छोटा है, यह बड़ा है इत्यादि ज्ञान हो रहा है । इस विषय में वैशेषिक अपना पक्ष उपस्थित करते हैं—

वैशेषिक—कालद्रव्य की सिद्धि हम लोग परापरप्रत्यय से करते हैं, काल द्रव्य का इतर द्रव्य से भेद बतलाने के लिए अथवा "काल" यह जो नाम व्यवहार लोक में देखा जाता है वह परापरप्रत्यय से ही हुआ करता है, अब इसी को अनुमान से सिद्ध करते हैं—काल अन्य द्रव्य से भिन्न है अथवा काल यह नाम व्यवहार जगत में सत्य मूलक है, क्योंकि पर–अपर [छोटा–बड़ा] का ज्ञान, युगपत होना–क्रम से होना, जल्दी होना, देरी से होना इत्यादि प्रतीति होती है, इस प्रतीति के कारण ही काल द्रव्य की सत्ता सिद्ध है, जो इतर से भेद को प्राप्त नहीं होता, अथवा काल इस नाम से

नेतरस्माद्भिद्यते 'काल' इति वा न व्यवह्रियते नासावुक्तलिंगः यथा क्षित्यादिः, तथा च कालः, तस्मात्तथेति । विशिष्टकार्यतया चैते प्रत्ययाः काले एव प्रतिबद्धाः । यद्विशिष्टकार्यं तद्विशिष्टकारणादुत्पद्यते यथा घट इति प्रत्ययाः, विशिष्टकार्यं च परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्यया इति । परापरयोः खलु दिग्देशकृतयोः व्यतिकरो विपर्ययः–यत्रैव हि दिग्विभागे पितर्युत्पन्नं परत्वं तत्रैव स्थिते पुत्रेऽपरत्वम्, यत्र चापरत्वं तत्रैव स्थिते पितरि परत्वमुत्पद्यमानं दृष्टमिति दिग्देशाभ्यामन्यन्निमित्तान्तरं सिद्धम्; निमित्तान्तरमन्तरेण व्यतिकरासम्भवात् । न च परापरादिप्रत्ययस्य आदित्यादि-

---

व्यवहार में नहीं आता वह परापरादिज्ञान का हेतु नहीं होता, जैसे पृथ्वी आदि द्रव्य परापरादि ज्ञान के हेतु नहीं होने से "काल" इस नाम से व्यवहृत नहीं होते हैं, काल द्रव्य परापर प्रत्ययवाला है, अतः इतर से भेद को प्राप्त होता है, इसप्रकार पंचावयव रूप अनुमान द्वारा कालद्रव्य की सिद्धि होती है । ये जो परापर प्रत्यय होते हैं वे विशिष्ट कार्यरूप हैं और इन कार्यों का सम्बन्ध काल से ही है, अर्थात् ये सब काल द्रव्य के ही कार्य हैं, जो विशिष्ट कार्य होता है वह विशिष्ट कारण से ही होता है, जैसे "घट है" ऐसा ज्ञान होता है वह घट होने पर ही होता है, पर अपर, युगपत् अयुगपत्, चिर–क्षिप्र का जो ज्ञान है यह भी एक विशिष्ट कार्य है अतः वह विशिष्ट कारणरूप काल का होना चाहिये । परापर प्रत्यय को दिशा या देश का कार्य माना जाय तो गलत होगा, देशादि के निमित्त से होने वाले परापर प्रत्यय इस परापर प्रत्यय से विलक्षण होते हैं, अब इसी का खुलासा करते हैं—एक पिता है उसमें जहां ही परत्व उत्पन्न हुआ वहीं पर निकट में स्थित पुत्र में अपरत्व है, अर्थात् एक ही देश तथा दिशाविभाग में स्थित पिता में तो परत्व पाया जाता है [कालकी अपेक्षा दूरपना] वहीं पर स्थित पुत्र में अपरत्व पाया जाता है [कालकी अपेक्षा निकटपना] तथा जहां अपरत्व है वहीं पर स्थित पिता में परत्व उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है, सो यह कार्य दिशा एवं देशरूप निमित्त से पृथक्भूत जो निमित्त है उसकी सिद्धि करता है, निमित्तांतर बिना ऐसा व्यतिकर [भेद] नहीं हो सकता है । वह जो निमित्तांतर है वही कालद्रव्य है । सूर्य आदि का गमन, अथवा किसी पुरुषादि में वलि पलितादिक शरीर में सिकुड़न पड़ना, केश सफेद होना इत्यादि कारणों से परापर प्रत्यय होता है । ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इन सूर्यगमन आदि क्रिया से होने वाले परापर प्रत्यय से यह प्रत्यय विलक्षण है, जैसे वस्त्रादिके निमित्त से होने वाला परापर प्रत्यय

क्रिया द्रव्यं वलिपलितादिकं वा निमित्तम्; तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्पटादिप्रत्ययवत्। तथा च सूत्रम् "अपरस्मिन्परं युगपदयुगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिंगानि" [वैशे० सू० २।२।६] आकाशवच्चास्यापि विभुत्वनित्यैकत्वादयो धर्माः प्रतिपत्तव्या इति।

अत्रोच्यते—परापरादिप्रत्ययलिंगानुमेयः कालः किमेकद्रव्यम्, अनेकद्रव्यं वा ? न तावदेकद्रव्यम्; मुख्येतरकालभेदेनास्य द्वैविध्यात्। न हि समयावलिकादिर्व्यवहारकालो मुख्यकालद्रव्यमन्तरेणोपपद्यते यथा मुख्यसत्त्वमन्तरेण क्वचिदुपचरितं सत्त्वम्। स च मुख्यः कालोऽनेकद्रव्यम्, प्रत्याकाशप्रदेशं व्यवहारकालभेदान्यथानुपपत्तेः। प्रत्याकाशप्रदेशं विभिन्नो हि व्यवहारकालः कुरुक्षेत्रलङ्काकाशदेशयोर्दिवसादिभेदान्यथानुपपत्तेः। ततः प्रतिलोकाकाशप्रदेशं कालस्याणुरूपतया भेदसिद्धिः।

विलक्षण हुआ करता है। इसी विषय पर हमारे यहां वैशेषिक सिद्धांत का सूत्र है—"अपरस्मिन् परं युगपद युगपत् चिर क्षिप्रं इति काल लिंगानि" अपर वस्तु में भी [दिशादेश के अपेक्षा निकट] परत्वप्रत्यय होता है, युगपत् तथा अयुगपत् की प्रतीति होती है, एवं चिरकालपना और क्षिप्र–शीघ्रपना प्रतीत होता है, यही कालद्रव्य के लिंग हैं—कालद्रव्य को सिद्ध करने वाले हेतु हैं। इस कालद्रव्य को हम आकाश के समान ही व्यापक, नित्य, एक इत्यादिरूप मानते हैं, इसप्रकार कालद्रव्य का वर्णन समझना चाहिये।

जैन—यह कथन अयुक्त है, इस कालद्रव्य के विषय में सबसे पहले हमारा यह प्रश्न है कि जो परापर प्रत्ययरूप लिंग द्वारा अनुमेय होता है वह कालद्रव्य एक द्रव्यरूप है अथवा अनेक द्रव्यरूप है ? एक द्रव्यरूप नहीं कह सकते क्योंकि मुख्य काल और व्यवहारकाल इसप्रकार काल दो प्रकार का होता है, इस जगत में समय, आवली, घड़ी, मुहूर्त्त, प्रहर आदि स्वरूप जो व्यवहारकाल देखा जाता है वह मुख्य काल द्रव्य के बिना नहीं हो सकता है, जैसे कहीं पर मुख्य अस्तित्व हुए बिना उपचरित अस्तित्व नहीं होता, अथवा मुख्य अग्नि के हुए बिना बालकमें उसका उपचरितपना संभव नहीं होता है।

यह मुख्य काल अनेक द्रव्य रूप है, कालद्रव्य अनेक हुए बिना प्रत्येक आकाश प्रदेशों मे व्यवहारकाल का भेद बन नहीं सकता है, अनुमान द्वारा यही बात सिद्ध होती है—प्रत्येक आकाश के प्रदेश में होने वाला व्यवहार काल भिन्न भिन्न कालद्रव्य के निमित्त से होता है [प्रतिज्ञा या पक्ष] क्योंकि अन्यथा कुरुक्षेत्र और लंका के देश

तदुक्तम्—

"लोयायासपएसे एक्केक्के जे ट्ठिया हु एक्केक्का ।
रयणाणं रासीविव ते कालाणू मुणेयव्वा ॥१॥"

[द्रव्यस० गा० २२ (?)]

यौगपद्यादिप्रत्ययाविशेषात्तस्यैकत्वम्; इत्यप्यसत्; तत्प्रत्ययाविशेषासिद्धेः । तेषां परस्परं विशिष्टत्वात्कालस्याप्यतो विशिष्टत्वसिद्धिः । सहकारिणामेव विशिष्टत्वं न कालस्य; इत्यप्यनुत्तरम्; स्वरूपमभेदयतां सहकारित्वप्रतिक्षेपात् ।

में होने वाला दिन आदि का भेद नहीं हो सकता है । इस अनुमान प्रमाण से लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक काल द्रव्य अणुरूप से सिद्ध होता है । कहा भी है—लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक कालाणु अवस्थित है, जैसे रत्नों की राशि में रत्न पृथक्-पृथक् हैं वैसे कालाणु या कालद्रव्य एक एक पृथक् पृथक् हैं ।

शंका—युगपत् होना क्रमशः होना इत्यादि प्रत्यय तो सर्वत्र समान है अतः काल द्रव्य एक है ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है युगपत् होना इत्यादि प्रत्यय समान नही है, इन प्रत्यय या ज्ञानों में विशिष्टता पायी जाती है, और यह विशिष्टता ही कालद्रव्य की विशिष्टता को–[विभिन्नता को] सिद्ध करती है ।

शंका—सहकारी कारणों के अनेक होने के निमित्त से यौगपद्य आदि प्रत्ययों में विशिष्टता आती है, काल द्रव्य के निमित्त से नहीं ?

समाधान—यह कथन भी गलत है, मुख्य द्रव्य के स्वरूप में भेद हुए बिना सहकारी कारण भेद नहीं कर सकता, अथवा कूटस्थ नित्य ऐसे आपके कालद्रव्य का सहकारी हो नहीं सकता । इस विषय में पहले खण्डन कर आये हैं कि सहकारी कारण सर्वथा नित्य पदार्थ के सहायक नहीं हो सकते हैं ।

यदि चास्य निरवयवैकद्रव्यरूपताभ्युपगम्यते कथं तर्ह्यतीतादिकालव्यवहार: ? स हि किमतीताद्यर्थक्रियासम्बन्धात्, स्वतो वा स्यात् ? अतीताद्यर्थक्रियासम्बन्धाच्चेत्; कुतस्तासामतीतादित्वम् ? अपरातीताद्यर्थक्रियासम्बन्धाच्चेत्; अनवस्था। अतीतादिकालसम्बन्धाच्चेत्; अन्योन्याश्रय:। स्वतस्तस्यातीतादिरूपता चायुक्ता, निरंशत्वभेदरूपत्वयोर्विरोधात्।

यौगपद्यादिप्रत्ययाभावश्चैववादिन: स्यात्; तथाहि-यत्कार्यजातमेकस्मिन्काले कृतं तद्युगपत्कृतमित्युच्यते। कालैकत्वे चाखिलकार्याणामेककालोत्पाद्यत्वेनैकदैवोत्पत्तिप्रसङ्गान्न किञ्चिदयुगपत्कृतं स्यात्।

वैशेषिक कालद्रव्य को अवयव रहित सर्वथा एक रूप मानते हैं सो ऐसे एकत्वरूप कालद्रव्य में यह अतीतकाल है, यह वर्त्तमानकाल है, इत्यादि व्यवहार किस प्रकार हो सकेगा ? अतीत आदि अर्थक्रिया के सम्बन्ध से अतीतकाल इत्यादि व्यवहार होता है अथवा स्वतः ही यह व्यवहार हो जाता है ? अतीतादि अर्थक्रिया के सम्बन्ध से अतीतादि व्यवहार होता है, ऐसा प्रथम पक्ष लेवे तो अतीत आदि अर्थ क्रियाओं में अतीत, अनागत इत्यादि संज्ञा किस निमित्त से आयी, अपर अतीतादि अर्थक्रिया सम्बन्ध से आयी ऐसा कहो तो अनवस्था दोष आता है।

शंका—अतीतादिकाल के सम्बन्ध से अतीतादि अर्थक्रिया का व्यवहार हो जायेगा ?

समाधान—तो फिर अन्योन्याश्रय नामा दोष उपस्थित होगा, कैसे सो ही बताते है—क्रियाओं का अतीतादिपना सिद्ध होने पर तो उनके सम्बन्ध से काल का अतीतादिपना सिद्ध होवेगा, और उसके सिद्ध होने पर क्रियाओं का अतीतत्व सिद्ध होगा, इसतरह दोनों असिद्ध की कोटि में आ जायेंगे। कालद्रव्य में अतीतकाल, अनागतकाल इत्यादि भेद स्वतः ही होता है ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो ठीक नहीं है, निरंश–अवयव रहित ऐसे कालद्रव्य में अतीतपना, वर्त्तमानपना इत्यादि भेद मूलक धर्म होना असंभव है। निरंशत्व और भेदरूपत्व इनमें विरोध है।

कालद्रव्य को निरंश मानने से यौगपद्य आदि प्रत्यय होना भी सिद्ध नहीं होगा, इसी को आगे स्पष्ट करते हैं—जो कार्यसमूह होता है वह यदि एक ही काल में किया हुआ होता है तो उसको "एक साथ किया" ऐसा कहते हैं, अथवा एक ही काल

चिरक्षिप्रव्यवहाराभावश्चैवंवादिनः। यत्खलु बहुना कालेन कृतं तच्चिरेण कृतम्। यच्च स्वल्पेन कृतं तत्क्षिप्रं कृतमित्युच्यते। तच्चैतदुभयं कालैकत्वे दुर्घटम्।

ननु चैकत्वेपि कालस्योपाधिभेदाद्भेदोपपत्तेर्न यौगपद्यादिप्रत्ययाभावः। तदुक्तम्—"मणिवत्पाचकवद्वोपाधिभेदात्कालभेदः" [ ] इति; तदप्ययुक्तम्; यतोऽत्रोपाधिभेदः कार्यभेद एव। स च 'युगपत्कृतम्' इत्यत्राप्यस्त्येवेति किमित्ययुगपत्प्रत्ययो न स्यात्? अथ क्रमभावी कार्यभेदः

में किया ऐसा कहते हैं। जब काल सर्वथा एक रूप है तब निखिलकार्य एक समय में उत्पन्न करने योग्य हो जाने से एक काल में ही उत्पन्न हो जायेंगे अतः कोई भी कार्य क्रम से करने योग्य नहीं रहेगा।

जो कालद्रव्य को निरंश नित्य मानते हैं उन वैशेषिक के यहां चिरक्षिप्र काल का व्यवहार भी सिद्ध नही हो पाता है, क्योंकि जो बहुत समय द्वारा कार्य होता है उसको चिर काल में हुआ ऐसा कहते हैं, और जो अल्प समय द्वारा किया जाता है उस कार्य को क्षिप्र किया ऐसा कहते हैं। ये दोनों तरह के कार्य काल को एक रूप मानने पर सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

वैशेषिक—कालद्रव्य यद्यपि सर्वथा एक रूप है तो भी उपाधियों में भेद होने के कारण उसमें भेद हो जाता है, अतः यौगपद्यादि प्रत्ययों का अभाव नहीं होगा। कहा भी है—"मणिवत् पावकवत् वा उपाधिभेदात् काल भेदः" जिसप्रकार स्फटिकमणि एक रहता है किन्तु जपाकुसुम की उपाधि से लाल, तमाल पुष्प की उपाधि से कृष्ण इत्यादि अनेक रूप बन जाता है। अथवा अग्नि एक है किन्तु नाना प्रकार के काष्ठ के संयोग से अनेकरूप कहलाने लगती है कि यह खदिरकी अग्नि है, यह तृण की अग्नि है इत्यादि, इसीप्रकार कालद्रव्य एक है किन्तु पदार्थ के उपाधि से उसमें भेद हो जाता है?

जैन—यह कथन भी अयुक्त है, स्फटिक मणि आदि का उदाहरण दिया है उसमें जो उपाधिभेद कहा वह कार्य का भेद कहलाता है, ऐसा कार्य भेद तो "युगपत् कृतं" एक साथ किया ऐसे कथन में भी होता है, फिर अयुगपत् प्रत्यय क्यों नहीं होता है?

वैशेषिक—कार्यों का जो भेद होता है वह क्रमभावी होता है अतः उससे अतीतकाल इत्यादि काल भेद का व्यवहार बन जाता है?

कालभेदव्यवहारहेतुः । ननु कोऽस्य क्रमभावः ? युगपदनुत्पादश्चेत्; 'युगपदनुत्पादः' इत्यस्य भाषितस्य कोर्थः ? एकस्मिन्कालेऽनुत्पादः; सोयमितरेतराश्रयः-यावद्धि कालस्य भेदो न सिद्धयति न तावत्कार्याणां भिन्नकालोत्पादलक्षणः क्रमः सिध्यति, यावच्च कार्याणां क्रमभावो न सिध्यति न तावत्कालस्योपाधिभेदाद्भेदः सिध्यतीति । ततः प्रतिक्षणं क्षणपर्यायः कालो भिन्नस्तत्समुदायात्मको लवनिमेषादिकालश्च । तथा चैककालमिदं चिरोत्पन्नमनन्तरोत्पन्नमित्येवमादिव्यवहारः स्यादुपपन्नो नान्यथा ।

एतेन परापरव्यतिकरः कालैकत्वे प्रत्युक्तः; तथाहि-भूम्यवयवैरालोकावयवैर्वा बहुभिरन्तरितं वस्तु विप्रकृष्टं परमिति चोच्यते स्वल्पैस्त्वन्तरितं सन्निकृष्टमपरमिति च । तथा बहुभिः क्षणैरहो-

---

जैन—क्रमभाव किसे कहते हैं ? एक साथ उत्पन्न नहीं होने को क्रमभाव कहते हैं ऐसा कहो तो पुनः प्रश्न होता है कि "युगपत् अनुत्पादः" एक साथ उत्पन्न नहीं होना इस वाक्य का अर्थ क्या होगा ? एक काल में उत्पन्न नहीं होना अनुत्पाद रहना इस तरह अर्थ करो तो अन्योन्याश्रय दोष होगा, जब तक काल का भेद सिद्ध नहीं होता, तब तक कार्यों का भिन्न काल में उत्पन्न होना रूप क्रम सिद्ध नहीं होगा, और जब तक कार्यों का क्रमभाव सिद्ध नहीं होता है, तब तक कालका उपाधि के भेद से होने वाला भेद सिद्ध नहीं होगा । इसतरह तो दोनों असिद्ध रहेंगे । इस तरह के दोष को दूर करने के लिए कालद्रव्य को अनेक रूप ही मानना चाहिए । प्रत्येक क्षण मे जिसमें क्षणिक पर्याय होती है वह कालाणुरूप कालद्रव्य है, यह एक भिन्न काल है और उस क्षण क्षण की पर्यायों का समूह स्वरूप लव, निमेष, मुहूर्त्त आदि काल एक भिन्न काल है ऐसा निश्चय होता है, जब इसतरह मुख्य काल और व्यवहार काल ऐसे काल के भेद स्वीकार करेंगे तभी एक काल में सब कार्य हो गये, यह कार्य अधिक समय में सम्पन्न हुआ । यह पढ़ना रूप कार्य भोजन के अनन्तर हुआ इत्यादि व्यवहार प्रवृत्त हो सकता है अन्यथा नही हो सकता ।

काल द्रव्य को एक रूप मानने से जैसे यौगपद्य आदि प्रत्यय नहीं हो पाते वैसे परापर-व्यतिकर भी नहीं हो सकता है, अर्थात् यह पर-अधिक समय का है, यह अपर-अल्प समय का है इत्यादि ज्ञान सर्वथा एक कालद्रव्य द्वारा होना असम्भव है । आगे इसी विषय का उदाहरण देते हैं—पृथिवी के बहुत से अवयवों से अंतरित कोई पदार्थ रखा है, अथवा प्रकाश के बहुत से अवयवों से अंतरित पदार्थ रखा है, उस वस्तु को विप्रकृष्ट या पर कहते हैं । तथा पृथिवी के स्वल्प अवयवादि से अंतरित पदार्थ को

रात्रादिभिर्वान्तरितं विप्रकृष्टं परमिति चोच्यते स्वल्पैस्त्वन्तरितं सन्निकृष्टमपरमिति च। बह्वल्पभावश्च गुरुत्वपरिमाणादिवदपेक्षानिबन्धनः कालैकत्वे दुर्घट इति।

यौगपद्यादिप्रत्ययाविशेषात् कालस्यैकत्वे च गुरुत्वपरिमाणादेरप्येकत्वप्रसंगस्तुल्याक्षेपसमाधानत्वात्। ततो गुरुत्वपरिमाणादेरनेकगुणरूपतावत्कालस्यानेकद्रव्यरूपताभ्युपगन्तव्या।

सन्निकृष्ट अथवा अपर कहते हैं, इसी प्रकार बहुत से क्षणों द्वारा, अथवा बहुत से दिन रातों द्वारा अंतरित हुए पदार्थ को विप्रकृष्ट या पर कहते हैं, और स्वल्प क्षणादि से अंतरित पदार्थ को सन्निकृष्ट या अपर कहते हैं, भावार्थ यह हुआ कि जिस वस्तु को उत्पन्न हुए अधिक समय व्यतीत हुआ है उसे अधिक समयवाली, पुरानी इत्यादि रूप से कहते हैं और जिसको हुए अल्प समय व्यतीत हुआ है उसे नवीन ऐसा कहते हैं। यह जो अल्प बहुत्वका भाव है वह गुरुत्व लघुत्व आदि के समान अपेक्षणीय होता है, अर्थात्—यह वस्त्र उस चौकी से लघु-हलका है, यह पेन्सिल उस पेन से गुरुतर है इत्यादि व्यवहार वस्तु को एक रूप मानने पर बन नही सकता, ऐसे ही बहुत समय का अल्प समय का इत्यादि व्यवहार काल द्रव्य को सर्वथा एक रूप मानने पर नहीं वनता है।

यदि कोई शंका करे कि युगपत्–एक समय में होना, अयुगपत् होना इत्यादि प्रतीति में अविशेषता है अतः काल द्रव्य को एक मानने में बाधा नहीं है? तो फिर गुरुत्व और लघुत्व आदि परिमाण में अविशेषता है अतः इनमें एकत्व या अभेद मानना चाहिए। आक्षेप और समाधान दोनों जगह समान रहेंगे। कहने का अभिप्राय यही है कि यदि आप वैशेषिक गुरुत्वादि परिमाण में प्रत्येक पदार्थ की अपेक्षा भेद होना मानते हैं तो काल द्रव्य में भी अतीतादि पदार्थ की अपेक्षा तथा यौगपद्यादि प्रतोति की अपेक्षा भेद होना मानना ही पड़ेगा, अन्यथा गुरुत्व आदि परिमाण में भी भेद को नहीं मान सकते। निरंश, नित्य एक ऐसे काल द्रव्य में भूत, भविष्यत वर्त्तमानादि भेद होना असंभव है और जहां काल में अतीतादि भेद नहीं हैं वहां उसके निमित्त से होने वाला अतीत कालीन पदार्थ, वर्त्तमान कालीन पदार्थ इत्यादि भेद भी सर्वथा असंभव है। अतः जिस तरह गुरुत्व [भारी] आदि परिमाण को अनेक गुणरूप स्वीकार करते हैं उसी तरह काल द्रव्य को भी अनेक द्रव्य रूप स्वीकार करना चाहिए।

ये तु वास्तवं कालद्रव्यं नाभ्युपगच्छन्ति तेषां परापरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययानामभावः स्यात्। न खलु ते निर्निमित्ताः; कादाचित्कत्वाद्घटादिवत्। नाप्यविशिष्टनिमित्ताः; विशिष्टप्रत्ययत्वात्। न च दिग्गुणजातिनिमित्तास्ते; तज्जातप्रत्ययवैलक्षण्येनोपपत्तेः। तथा हि–अपरदिग्व्यवस्थितेऽप्रशस्तेऽधमजातीये स्थविरपिण्डे 'परोयम्' इति प्रत्ययो दृश्यते। परदिग्व्यवस्थिते चोत्तमजातीये प्रशस्ते यूनि पिण्डे 'अपरोयम्' इति प्रत्ययो दृश्यते।

अथादित्यादिक्रिया तन्निमित्तम्; जन्मतो हि प्रभृत्येकस्य प्राणिन आदित्यवर्तनानि भूयांसीति

मीमांसक आदि परवादी तो वास्तविक काल द्रव्य नहीं मानते है, सो उनके मत में पर–अपर, यौगपद्य–अयौगपद्य, चिर–क्षिप्र ये प्रत्यय अर्थात् ज्ञान होना असंभव है। ये जो प्रतीतियां हुआ करती हैं वे कारण के बिना नहीं हो सकती क्योंकि ये ज्ञान कभी कभी हुआ करते हैं, जो कभी कभी होता है उसका निमित्त अवश्य होता है, जैसे घटादि पदार्थ कभी कभी होते हैं अतः मिट्टी कुम्हारादि के निमित्त से होते हैं। ये परापर प्रत्यय अविशिष्ट–साधारण कारणों से भी नहीं हो सकते क्योंकि ये विशिष्ट प्रत्यय हैं। इन प्रत्ययों का निमित्त दिशा, गुण अथवा जाति भी नहीं हो सकता, क्योंकि दिशा आदि के निमित्त से होने वाले प्रत्ययों से ये परापरादि प्रत्यय विलक्षण हुआ करते है। उसी को उदाहरण देकर समझाते है—निकटवर्त्ती दिशा में कोई पुरुष बैठा है वह निकृष्ट गुणवाला है और अधम जाति वाला चांडाल है किन्तु वृद्ध है तो उस पुरुष में "परोऽयं" यह अधिक आयु वाला–बड़ा है ऐसा ज्ञान हुआ करता है, और कोई पुरुष दूर दिशा में बैठा है उत्कृष्ट गुणवान है तथा उत्तम जाति का है ऐसे युवक में "अपरोऽयं" यह अल्पायु वाला छोटा है ऐसा ज्ञान होता है, सो यह प्रतीति यदि दिशा के निमित्त से होती तो निकट वाले पुरुष में "पर है" ऐसा ज्ञान नहीं होना था, तथा गुण के निमित्त से होती तो उक्त पुरुष में "परोऽयं" बड़ा है ऐसा ज्ञान नहीं होना चाहिए था, एवं जाति निमित्तक यह प्रत्यय होता तो चाडालादि में "परोयं" ऐसा ज्ञान नहीं होता किन्तु उस दिन निकटवर्त्ती पुरुष में परोऽयं–बड़ा है ऐसा ज्ञान होता है अतः इस ज्ञान का निमित्त दिशादि न होकर असाधारण निमित्त स्वरूप काल द्रव्य ही है।

शंका—जो परापर प्रत्यय चांडालादि पुरुष में होता है उसमें काल द्रव्य निमित्त न होकर सूर्यगमन आदि निमित्त है, जिस किसी एक प्राणी के जन्म से लेकर

परत्वमन्यस्य चाल्पीयांसीत्यपरत्वम् । नन्वेवं कथं यौगपद्यादिप्रत्ययप्रादुर्भावः एकस्मिन्नेवादित्यपरिवर्त्तने सर्वेषामुत्पादात् ? तथाव्यपदेशाभावाच्च; 'युगपत्कालः' इति हि व्यपदेशो न पुनः 'युगपदादित्यपरिवर्त्तनम्' इति ।

आज तक सूर्य के गमनागमन रूप परिवर्त्तन बहुत हुए हों उस पुरुष में "परोऽयं" यह बड़ा है ऐसा प्रत्यय होता है, और जिस पुरुष के वे सूर्य परावर्त्तन अल्प हुए हैं उस पुरुष में "अपरोऽयं" यह छोटा है ऐसा प्रत्यय होता है ?

समाधान—यदि ऐसी बात है तो एक ही सूर्य परावर्त्तन में सभी का उत्पाद होने से अयुगपत् आदि प्रत्यय किस प्रकार हो सकेंगे ? तथा उसप्रकार का संज्ञा व्यवहार भी नहीं होता, युगपत् कालः ऐसी संज्ञा होती न कि युगपत् आदित्य परिवर्त्तनं ऐसी संज्ञा होती है...?

विशेषार्थ—परापर प्रत्यय, युगपत् अयुगपत् होना इत्यादि प्रत्यय काल-द्रव्य को नही मानने पर सिद्ध नहीं होते हैं। वैशेषिक काल द्रव्य को मानकर भी उसको एक रूप, नित्य मानता है उस पक्ष का खण्डन करने के अनन्तर जो मीमांसकादि परवादी काल द्रव्य का अस्तित्व ही नहीं मानते हैं उनका निराकरण करते हुए जैनाचार्य कहते है कि यह पर है इत्यादि प्रतिभास दिशा, गुण या जाति विषयक नहीं होता है किन्तु काल विषयक होता है, कोई पुरुष निकट में बैठा है वह चांडाल है, किंतु वृद्ध है–उसमें "परः अयं" ऐसा व्यवहार होता है वह दिशा विषयक होता तो निकट में बैठे पुरुष में "परोयं" ऐसा व्यवहार नहीं होता, अपितु "अपरोयं" ऐसा व्यवहार होता। तथा जाति विषयक होता तो हीन जातीय होने से "अपर है" ऐसा कहते, एवं गुण विषयक होता तो वह चांडाल गुण हीन होने के कारण "अपर है" ऐसा व्यवहार होता। इससे निश्चय होता है कि निकट बैठे हुए गुण हीन वृद्ध चांडाल में "परोयं-बड़ा है" इस तरह का प्रतिभास होने का कारण काल द्रव्य ही है। इस पर मीमांसक ने शंका उठाई कि–परापर प्रत्यय [छोटा बड़ा मनुष्य या दीर्घायु अल्पायु मनुष्य] सूर्य के गमन द्वारा हो जाया करता है, जिस किसी मनुष्यादि के जन्म से लेकर अभी तक बहुत से सूर्य गमन निमित्तक दिन रात हो चुके हैं उस मनुष्य को परोयं–यह बड़ा है ऐसा कह देते हैं अथवा उसमें वैसा प्रतिभास या ज्ञान होता है, तथा जिस मनुष्य के जन्म

न च क्रियैव कालः; अस्याः क्रियारूपतयाऽविशेषतो युगपदादिप्रत्ययाभावानुषङ्गात्। तस्य चोक्तकार्यनिर्वर्त्तकस्य कालस्य 'क्रिया' इति नामान्तरकरणे नाममात्रं भिद्येत।

न च कर्तृकर्मणी एव यौगपद्यादिप्रत्ययस्य निमित्तम्; यतो यौगपद्यं बहूनां कर्तृणां कार्ये व्यापारो 'युगपदेते कुर्वन्ति' इति प्रत्ययसमधिगम्यः। बहूना च कार्याणामात्मलाभो 'युगपदेतानि कृतानि' इति प्रत्ययसमधिगम्यः। न चात्र कर्तृमात्र कार्यमात्रं वालम्बनमतिप्रसङ्गात्। यत्र हि क्रमेण

से लेकर अभी तक बहुत से सूर्य के गमनागमन नहीं हुए है उसको "अपरोयं यह छोटा है" इस तरह का ज्ञान होता है। तब जैन ने समाधान दिया कि परापर प्रत्यय के लिए तो आपने मार्ग निकाल लिया किंतु यौगपद्य-अयौगपद्य इत्यादि प्रत्यय किस प्रकार सिद्ध हो सकेंगे। सूर्य के गमनागमन एक साथ बहुत से नही हो सकते हैं, फिर यौगपद्यादि प्रत्यय किस प्रकार हो सकेंगे। उसके लिए तो काल द्रव्य ही निमित्त हो सकता है। इस प्रकार काल द्रव्य की सिद्धि हो जाती है।

क्रिया ही काल है ऐसा कहना भी शक्य नहीं, क्रिया तो क्रिया रूप से अविशेष रहती है उससे यौगपद्य आदि प्रत्यय कैसे हो सकते है? अर्थात्—नहीं हो सकते हैं। यदि कोई यौगपद्यादि प्रत्यय को करने वाले काल को क्रिया ऐसी संज्ञा रखे तो यह केवल नाम का भेद हुआ।

कर्त्ता और कर्म [कार्य] ही यौगपद्य आदि प्रतीति का निमित्त है ऐसा कहना भी युक्त नही, क्योंकि बहुत से कर्त्ताओं का कार्य में व्यापार होना—ये पुरुष युगपत्—एक साथ कर रहे है इस प्रकार की प्रतीति द्वारा यौगपद्य गम्य होता है, एवं बहुत से कार्यों का युगपत् होना—ये कार्य युगपत्-एक साथ किये इस प्रकार की प्रतीति द्वारा यौगपद्य गम्य होता है, इस यौगपद्य प्रतिभास का विषय केवल कर्त्ता या कर्म [कार्य] नहीं है यदि ऐसा माने तो अतिप्रसंग होगा। क्योंकि जहां पर क्रम से कार्य होता है वहां पर भी कर्त्ता कर्म का सद्भाव होने से यह प्रतिभास होना चाहिए किन्तु वहां ऐसा [युगपत् किया ऐसा यौगपद्य] प्रतिभास नही होता है। तथा ये कर्त्तापुरुष अयुगपत्-क्रम क्रम से कार्य करते हैं, अयुगपत्-क्रम से इस कार्य को किया इत्यादि अयुगपत् क्रमिक प्रतिभास भी केवल कर्त्ता और कर्म विषयक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने में वही पूर्वोक्त अतिप्रसंग

कार्यं तत्रापि कर्तृकर्मणोः सद्भावात्स्यादेतद्विज्ञानम्, न चैवम् । यथाऽ(तथाऽ)यौगपद्यप्रत्ययोऽप्ययुगपद्देशे कुर्वन्तीति, अयुगपद्देशस्कृतमिति नाविशिष्टं कर्तृकर्ममात्रमालम्बतेऽतिप्रसङ्गादेव । अतस्तद्विशेषणं कालोऽभ्युपगन्तव्यः । कथमन्यथा चिरक्षिप्रव्यवहारोपि स्यात् ? एक एव हि कर्त्ता किञ्चित्कार्यं चिरेण करोति व्यासङ्गादनर्थित्वाद्वा, किञ्चित्तु क्षिप्रमर्थितया । तत्र 'चिरेण कृतं क्षिप्रं कृतम्' इति प्रत्ययो विशिष्टत्वाद्विशिष्टं निमित्तमाक्षिपत इति कालसिद्धिः ।

लोकव्यवहाराच्च; प्रतीयन्ते हि प्रतिनियत एव काले प्रतिनियता वनस्पतयः पुष्यन्तीत्यादि

आता है । अतः युगपत् करते हैं, युगपत् किया इत्यादि प्रतिभासों का विषय काल है ऐसा स्वीकार करना चाहिए । दूसरी बात यह है कि केवल कर्त्ता और कर्म के निमित्त से यौगपद्य का प्रतिभास होता है तो चिर तथा क्षिप्र का व्यवहार किस प्रकार संभव होगा ? क्योंकि व्यासंगवश या अनिच्छा के कारण एक ही कर्त्तापुरुष किसी कार्य को चिरकाल से [अधिक समय लगाकर] करता है और इच्छा होने से किसी कार्य को शीघ्र करता है । उक्त कार्यों में, अधिक समय में किया एवं शीघ्र किया ऐसे दो विशिष्ट प्रतिभास होते हैं अतः ये प्रतिभास विशिष्ट निमित्त को ही सिद्ध कर रहे हैं वह विशिष्ट काल ही है इस प्रकार काल द्रव्य की निर्बाध सिद्धि होती है ।

भावार्थ—कोई परवादी यौगपद्य आदि प्रतिभास कालद्रव्य द्वारा न मानकर कर्त्ता कर्म द्वारा मानते हैं । यह मान्यता सर्वथा असिद्ध है यदि कर्त्ता और कर्म निमित्तक यौगपद्य प्रतिभास होता तो जहां पर क्रम से कार्य हो रहा है वहां पर यौगपद्य प्रतिभास होना चाहिए, क्योंकि उसका निमित्त कर्त्ता कर्म वहां पर है । तथा जहां पर अयौगपद्य प्रतिभास होता है वहां पर भी कर्त्ता एवं कर्म अवस्थित हैं जो जब उभयत्र समान रूप से कर्त्ता कर्म मौजूद है तो किस कारण से कहीं यौगपद्य प्रतिभास और कहीं अयौगपद्य प्रतिभास होता है ? अतः ज्ञात होता है कि यौगपद्य आदि प्रतिभास केवल कर्त्ता कर्म के निमित्त से नहीं होते, इन प्रतिभासों का कोई विशिष्ट कारण अवश्य है, जो विशिष्ट कारण है वही काल द्रव्य है ।

काल द्रव्य की सिद्धि लोक व्यवहार से भी भली प्रकार से हो जाती है, अब इसीको कहते हैं—प्रतिनियत समय में प्रतिनियत वनस्पतियां फल शाली हो जाया करती हैं, वसंत ऋतु में आम्र पर बौर आता है, इत्यादि व्यवहार को व्यवहारी जन

व्यवहारं कुर्वन्तो व्यवहारिण: । यथा वसन्तसमये एव पाटलादिकुसुमानामुद्भवो न कालान्तरे । इत्येवं कार्यान्तरेष्वप्यभ्यूह्यम् 'प्रसवनकालमपेक्षते' इति व्यवहारात् । समयमुहूर्त्तयामाहोरात्रार्द्धमासर्त्वयन-

---

किया ही करते हैं, वसन्त में ही पाटल आदि वृक्ष के पुष्प उत्पन्न हुआ करते हैं, अन्य समय में नहीं आते हैं, इसी तरह अन्य अन्य ऐसे बहुत से कार्य हैं जो अपने निश्चित काल में ही सम्पन्न हुआ करते हैं, इनका उदाहरण यथा संभव समझ लेना चाहिए । लोक में भी कहते हैं कि यह काम उत्पत्ति समय की अपेक्षा कर रहा है, जब समय आवेगा तब हो जावेगा इत्यादि ।

विशेषार्थ—काल द्रव्य की सिद्धि मीमांसक को करके दिखाना है, उसके लिये आचार्य अनेक तरह से समझा रहे हैं, लोक व्यवहार में काल, समय इत्यादि काल वाचक शब्दों का प्रयोग बहुत ही अधिक रूप से पाया जाता है, वह सहज ही काल द्रव्य का अस्तित्व बता देता है । बहुत सी वनस्पतियां अपने अपने ऋतु में ही फलती फूलती हैं । आम वसंत में मंजरी युक्त होता है, निंब में बौर चैत्र में आता है । शरद ऋतु में ही सप्तपर्ण नाम के वृक्ष पुष्पित हो जाते हैं । यहां तक देखने में आता है कि प्रतिदिन पुष्प का विकसित होना भी अपने निश्चित समय पर ही होता है, दुपहरिया नाम का फूल ठीक दुपहर में खिलता है, कृष्ण कमल नामक नीला सफेद पुष्प ठीक दिन के दस बजे ही खिलता है इसके पहले खिल नही सकता । निशिगंध का पुष्प ठीक श्याम की संध्या खिली कि खिल उठता है । रात रानी तो प्रसिद्ध है यह रात में ही महकती है । बहुत सी वनस्पतियों का कहां से कब तक पुष्प देना या फल देना है यह भी निश्चित रहता है, इन सब का कहां तक उदाहरण देवें ! हजारों वनस्पति ऐसी हैं जिनका पुष्प फल आने का समय नियत है अत: ये काल द्रव्य की अनुमापक हैं—काल द्रव्य की सिद्धि करने वाली हैं । वनस्पति के समान और भी जगत के अधिकतर कार्य कालानुसार ही हुआ करते हैं । अतिबाला, अतिवृद्धा स्त्री पुत्र को उत्पन्न नहीं कर सकती, पुत्रोत्पत्ति का समय भी निर्धारित है । जगत में बात बात में कहते रहते हैं कि समय नहीं है, जब समय आयेगा तब कार्य होगा, इस कार्य का समय निकल चुका इत्यादि, सो इन सब उदाहरणों से काल द्रव्य की सिद्धि हो जाती है । जगत में काल के भेद भी बहुत से पाये जाते हैं—समय, मुहूर्त्त, प्रहर, अहोरात्र, पक्ष, महिना, ऋतु, अयन, वर्ष इत्यादि काल व्यवहार साक्षात् दिखायी देता है इससे भी काल द्रव्य सिद्ध

संवत्सरादिव्यवहाराच्च तत्सिद्धि.। तन्न परपरिकल्पितं कालद्रव्यमपि घटते।

होता है, अतः मीमांसकादि परवादी काल द्रव्य का निषेध नहीं कर सकते। वैशेषिक *काल द्रव्य को मानता अवश्य है किंतु निरंश, नित्य, व्यापक एक रूप मानता है* अतः उस काल द्रव्य की सिद्धि होना अशक्य है। काल द्रव्य तो अनेकरूप—असंख्यात कालाणुरूप हैं, संपूर्ण लोकाकाशों में एक एक प्रदेश पर एक एक अवस्थित है, अमूर्त्त है, वही निश्चय या मुख्यकाल द्रव्य है, घड़ी, मुहूर्त्त, दिवस, वर्ष, सागर, पल्य इत्यादि उस मुख्य काल की पर्यायों का समूह है, इसे व्यवहार काल कहते हैं, यह काल सूर्य, चन्द्र आदि के गमनागमन से प्रगट होता है, सूर्य आदि ज्योतिषी देवों के विमानों का भ्रमण केवल ढाई द्वीप में है अतः यहां पर तो व्यवहार काल अनुभव में आता है, किंतु अन्यत्र द्वीप समुद्र, या ऊर्ध्वादि लोक में ज्योतिषी का भ्रमण नहीं होने से प्रतीत नहीं होता. किंतु काल द्रव्य सर्वत्र लोक में होने से परापर प्रत्यय या वर्त्तना आदि होते ही रहते हैं। इस प्रकार वैशेषिक के अभिमत काल द्रव्य का निराकरण करके वास्तविक कालद्रव्य की सिद्धि की गयी है।

।। कालद्रव्यवाद समाप्त ।।

यौग के काल द्रव्य के खंडन का सारांश

यौग—यह पर-बहुत काल का पुराना है, यह अपर-नया है इत्यादि चिह्नों से काल द्रव्य की सिद्धि होती है। देश और दिशा निमित्तक परत्व अपरत्व भिन्न जातीय है, अर्थात् देश आदि के निमित्त से होने वाला पर अपर का प्रतिभास पृथक् है और काल के निमित्त से होने वाला पर अपर का प्रतिभास पृथक् है। जैसे एक स्थान में पिता पुत्र दोनों स्थित है तो भी उनमें पिता मे तो पर-बड़ा है ऐसा प्रतिभास होता है एव पुत्र में अपर छोटा है ऐसा प्रतिभास होता है, यदि देश दिशा के निमित्त से होने वाला परत्व अपरत्व और काल के निमित्त से होने वाला परत्व-अपरत्व एक ही होता तो उक्त पिता पुत्र में एकरूप प्रतिभास होता। हम इस काल द्रव्य को सर्वथा नित्य, एकरूप एवं व्यापक मानते हैं।

जैन—इस प्रकार का कालद्रव्य सिद्ध नहीं हो सकता। परत्व अपरत्व आदि चिह्नों से काल द्रव्य सिद्ध होगा किन्तु वह एक रूप न होकर अनेक रूप सिद्ध होगा। क्योंकि काल को एकरूप मानने से अतीतकाल, अनागतकाल इत्यादि भेद व्यवहार नहीं होगा। केवल सूर्यगमन मे अतीतादि काल भेद हो जाना भी शक्य नहीं। मीमांसक आदि तो कालाणुरूप मुख्य काल को नहीं मानते केवल मुहूर्तादिरूप व्यवहार काल मानते हैं किंतु मुख्य काल के बिना गौणरूप यह काल भी सिद्ध नही होगा। कोई क्रिया को ही काल मानते हैं, एक साथ किया, क्रम से किया इत्यादि क्रियामूलक ही युगपत् आदि काल व्यवहार होता है ऐसी किसी की जो मान्यता है वह सर्वथा असत्य है। इस प्रकार अमूर्त्त अणुस्वरूप काल द्रव्य के विषय में विविध मान्यता है जो प्रमाण से सिद्ध नहीं होती। आगम आदि प्रमाणों द्वारा तो काल द्रव्य असंख्यात संख्या वाला एक एक आकाश प्रदेश में स्थित अणुरूप है, अमूर्त्त है। घड़ी मुहूर्त्त दिन आदि व्यवहार काल मुख्य काल का द्योतक है।

॥ कालद्रव्यवाद का सारांश समाप्त ॥

११

दिग्द्रव्यवादः

नापि दिग्द्रव्यम्; तत्सद्भावे प्रमाणाभावात्। यच्च दिशः सद्भावे प्रमाणमुक्तम्–"मूर्तेष्वेव द्रव्येषु मूर्त्तद्रव्यमवधिं कृत्वेदमतः पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेनोत्तरेण पूर्वदक्षिणेन दक्षिणापरेणाऽपरोत्तरेणोत्तरपूर्वेणाधस्तादुपरिष्टादित्यमी दश प्रत्यया यतो भवन्ति सा दिग्" [प्रश० भा० पृ० ६६] इति। तथा च सूत्रम्–"अत इदमिति यतस्तद्दिशो लिङ्गम्" [वैशे० सू० २।२।१०] तथा च दिग्द्रव्य-

---

वैशेषिक द्वारा परिकल्पित दिशा नामा द्रव्य भी सिद्ध नहीं होता है। दिशा वास्तविक पदार्थ है इस बात को बतलाने वाला प्रमाण नहीं है। वैशेषिक दिशाद्रव्य का अस्तित्व बतलाने के लिए निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित कर अपना पूर्व पक्ष रखते हैं।

वैशेषिक—दिशाद्रव्य की सिद्धि हमारे ग्रन्थ से हो जाती है "मूर्त्तेष्वेव द्रव्येषु मूर्त्तद्रव्यमवधिं कृत्वेदमतः पूर्वेण दक्षिणेन पश्चिमेनोत्तरेण, पूर्व दक्षिणेन, दक्षिणापरेण, अपरोत्तरेण, उत्तरपूर्वेण, अधस्तात्, उपरिष्टात्, इति अमी दश प्रत्यया यतो भवंति सा दिग्" [प्रशस्त भाष्य पृ. ६६] तथा च सूत्रं–"अतः इदं इति यतः तद दिशो लिंगं" केवल मूर्त्तिक द्रव्यों में मूर्त्तद्रव्य की अवधि करके "यह इसके पूर्व में है" ऐसा ज्ञान

मितरेभ्यो भिद्यते दिगिति व्यवहर्त्तव्यम्, पूर्वादिप्रत्ययलिङ्गत्वात्, यत्तु न तथा न तत्पूर्वादिप्रत्ययलिंगम् यथा क्षित्यादि, तथा चेदम्, तस्मात्तथेति। न चैते प्रत्यया निर्निमित्ताः; कादाचित्कत्वात्। नाप्य-विशिष्टनिमित्ताः; विशिष्टप्रत्ययत्वाद्दण्डीतिप्रत्ययवत्। न चान्योन्यापेक्षमूर्तद्रव्यनिमित्ताः; परस्परा-श्रयत्वेनोभयप्रत्ययाभावानुषङ्गात्। ततोऽन्यनिमित्तोत्पाद्यत्वासम्भवादेते दिश एवानुमापकाः। प्रयोगः–

जिससे हो अथवा यह इससे दक्षिण मे है, पश्चिम में है, उत्तर में है, या पूर्व तथा दक्षिण की बीच की दिशा आग्नेय में है, वायव्य में है, नैऋत्य मे है, ईशान में है, अथवा यह ऊपर है, यह नीचे है, इस प्रकार दस प्रकार के प्रतिभास जिसके द्वारा हुआ करते हैं वह दिशाद्रव्य है। तथा वैशेषिक सूत्र में भी कहा है कि "यहां से यह है" इस प्रकार का ज्ञान जिस हेतु से होता है वही दिशा की सिद्धि करने वाला हेतु है। इसतरह आगम से प्रसिद्ध होने पर वह दिशाद्रव्य अनुमान से भी सिद्ध हो जाता है, अब हम वही अनुमान प्रमाण उपस्थित करते हैं—दिशा नामा द्रव्य अन्य द्रव्यों से भिन्न है [पक्ष] क्योंकि "दिशा इस नाम से व्यवहार में आने योग्य होकर पूर्व, पश्चिम इत्यादि प्रतिभासों का कारण है [हेतु] जो इसतरह के व्यवहार का कारण नही होता वह पूर्वादि प्रतिभास का कारण नही होता, जैसे पृथ्वी आदि द्रव्य दिशा नाम से व्यवहृत नहीं होते अतः पूर्वादि प्रतिभास का कारण नहीं है, [दृष्टांत] दिशा इस नाम से व्यवहार में यह द्रव्य आता है इसलिये पूर्वादिप्रत्यय का कारण है। यह पूर्वादिका प्रतिभास बिना निमित्त के हो नही सकता है, यदि बिना निमित्त के होता तो हमेशा होता किंतु यह तो कभी कदाचित् होता है। इन पूर्वादि प्रत्ययों का साधारण कारण आकाशादि हो सो भी बात नहीं है, क्योंकि ये प्रत्यय विशिष्ट हैं, जैसे कि दण्डी "यह दण्डावाला है" इत्यादि प्रत्यय विशिष्ट कारण से होते है। पूर्वादि प्रत्ययों का कारण आपस में एक दूसरे की अपेक्षा से मूर्त्तिक द्रव्य ही हुआ करते हैं, ऐसा कोई कहे तो वह भी ठीक नहीं, इसतरह से परस्पराश्रय दोष आयेगा और उभयप्रत्ययों का ही अभाव होगा, अर्थात् किसी एक वस्तु के पूर्वत्व सिद्ध होने पर उसकी अपेक्षा से दूसरी वस्तु का पश्चिमत्व सिद्ध होगा, और जब वह पश्चिम की सिद्धि होगी तब पहली वस्तु पूर्व को सिद्ध हो सकेगी, ऐसे दोनों के प्रत्ययों का अभाव होवेगा। इसप्रकार इन पूर्वादि प्रत्ययों का अन्य कारण दिखायी नही देता अतः वे प्रत्यय दिशा के अनुमापक बनते हैं, दिशाद्रव्य को ही सिद्ध कर देते हैं। वही अनुमान प्रस्तुत करते हैं—यह जो

यदेतत्पूर्वापरादिज्ञानं तन्मूर्तद्रव्यव्यतिरिक्तपदार्थनिबन्धनं तत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्सुखादिप्रत्ययवत् । विभुत्वैकत्वनित्यत्वादयश्चास्या धर्माः कालवदवगन्तव्याः । तस्याश्चैकत्वेपि प्राच्यादिभेदव्यवहारो भगवतः सवितुर्मेरुं प्रदक्षिणमावर्त्तमानस्य लोकपालगृहीतदिक्प्रदेशैः संयोगाद्घटते ।

तदप्यसमीचीनम्; प्रोक्तप्रत्ययानामाकाशहेतुकत्वेनाकाशाद्दिशोऽर्थान्तरत्वासिद्धेः । तत्प्रदेशश्रेणिष्वेव ह्यादित्योदयादिवशात्प्राच्यादिदिग्व्यवहारोपपत्तेर्न तेषां निर्हेतुकत्वं नाप्यविशिष्टपदार्थहेतुकत्वम् । तथाभूतप्राच्यादिदिक्संबन्धाच्च मूर्त्तद्रव्येषु पूर्वापरादिप्रत्ययविशेषस्योत्पत्तेर्न परस्परापेक्षया मूर्त्तद्रव्याण्येव तद्धेतवो येनैकतरस्य पूर्वत्वासिद्धावन्यतरस्यापरत्वासिद्धि, तदसिद्धौ चैकतरस्य पूर्वत्वायोगादितरेतराश्रयत्वेनोभयाभावः स्यात् ।

पूर्व आदि का ज्ञान होता है वह मूर्त्त द्रव्य के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ के कारण से होता है, क्योंकि मूर्त्त पदार्थ के प्रत्यय से यह प्रत्यय विलक्षण है, जैसे सुख दुःखादि के प्रत्यय मूर्त्तद्रव्य के प्रत्यय से विलक्षण है। यह दिशाद्रव्य भी कालद्रव्य के समान विभु–व्यापक है, तथा नित्य एकत्व आदि धर्मयुक्त है। इस एक ही दिशाद्रव्य के पूर्व दिशा, पश्चिम दिशा इत्यादि जो भेद होते हैं वे तो भगवान् सूर्य के मेरु की प्रदक्षिणा रूप से घूमने से लोकपाल द्वारा ग्रहण किये गये दिशा प्रदेशों के सयोग से हुआ करते हैं। इसतरह दिशा द्रव्य की सिद्धि होती है।

जैन—यह कथन असत् है, पूर्व, पश्चिम आदि जो प्रतिभास होते हैं वे आकाश के कारण हुआ करते हैं, अतः आकाश से दिशा की भिन्न रूप से सिद्धि नहीं होती है। आकाश के प्रदेशों की श्रेणियों में सूर्य के उदयादि के निमित्त से पूर्व दिशा पश्चिम दिशा इत्यादि व्यवहार हो जाया करता है, इसी कारण से पूर्व आदि प्रत्यय को निर्हेतुकपना या अविशिष्ट पदार्थ कारणपना होने का प्रसंग नहीं आता है। आकाश प्रदेश है लक्षण जिसका ऐसी पूर्वादि दिशा के संबंध से ही मूर्त्त पदार्थों में "यह पूर्व दिशा का पदार्थ है, और यह पश्चिम दिशा का पदार्थ है" इत्यादि प्रत्यय विशेष हो जाया करते हैं। मूर्तिक पदार्थ ही परस्पर में इस प्रत्यय के कारण नहीं होते, अतः वैशेषिक ने जो दोष दिया था कि मूर्तिक पदार्थ परस्पर में एक दूसरे पूर्वादि प्रतीति कारण होवेगे तो अन्योन्याश्रय दोष आता है। सो गलत ठहरता है, अर्थात् मूर्तिक पदार्थों में से एक के पूर्वपने के सिद्धि नहीं है, उसके असिद्ध होने से दूसरे मूर्तिक पदार्थ के पश्चिमपने की भी असिद्धि रहेगी, और उसके असिद्ध रहने से उस एक का पूर्वपना

नन्वेवमाकाशप्रदेशश्रेणिष्वपि कुतस्तत्सिद्धिः ? स्वरूपत एव तत्सिद्धौ तस्य परावृत्त्यभावप्रसंगः, अन्योन्यापेक्षया तत्सिद्धौ अन्योन्याश्रयणादुभयाभावः; तदेतद्दिक्प्रदेशेष्वपि पूर्वापरादिप्रत्ययोत्पत्तौ समानम् । यथैव हि मूर्त्तद्रव्यमवधिं कृत्वा मूर्त्तेष्वेव 'इदमतः पूर्वेण' इत्यादिप्रत्यया दिग्द्रव्यहेतुकास्तथा दिग्भेदमवधिं कृत्वा दिग्भेदेष्वेव 'इयमतः पूर्वा' इत्यादिप्रत्यया द्रव्यान्तरहेतुकाः सन्तु विशिष्टप्रत्ययत्वाविशेषात्, तथा चानवस्था । परस्परापेक्षया तत्सिद्धावितरेतराश्रयणादुभयाभावः ।

भी असिद्ध ही कहलायेगा, और इसतरह उभय प्रत्ययों का [पूर्वत्व-पश्चिमत्व प्रतिभासों का] अभाव होगा ऐसा वैशेषिक ने कहा था वह असत्य है । क्योंकि इन पूर्वादि प्रत्ययों का कारण आकाश प्रदेश है ऐसा सिद्ध किया है ।

वैशेषिक—आप जैन दिशाद्रव्य को पृथक् न मानकर आकाशद्रव्य के प्रदेशों की पंक्ति में ही पूर्वादि दिशाओं की कल्पना करते हैं, सो उन प्रदेशों में भी "यह पूर्व है" इत्यादि प्रत्यय किस कारण से होता है ? यदि स्वरूप से ही इन प्रदेश श्रेणियों में पूर्वादि प्रत्यय होते हैं तो उन पूर्वादि दिशाओं में जो परिवर्त्तन होता है, अर्थात्—पूर्व दिशा भी किसी देश की अपेक्षा पश्चिम कहलाने लगती है और पश्चिम दिशा कभी किसी देश की अपेक्षा पूर्व कहलाती है, सो ऐसा परिवर्त्तन होता है वह नहीं हो सकेगा, और यदि अन्योन्यापेक्षा मात्र से [पूर्व की अपेक्षा पश्चिम, और पश्चिम की अपेक्षा पूर्व] आकाश प्रदेशों में पूर्वादि प्रत्यय होना स्वीकार करेंगे, अन्योन्याश्रय दोष आकर दोनों का अभाव हो जावेगा ?

जैन—यह दूषण तो आपके दिशा प्रदेशों में भी आवेगा उसमें भी पूर्व, पश्चिम इत्यादि प्रतिभास उत्पन्न नहीं हो सकते । इसी को आगे कहते हैं जिसप्रकार मूर्त्तद्रव्य की अवधि [मर्यादा-सीमा] करके मूर्त्तपदार्थों में ही "इद मतःपूर्वेण" यह यहां से पूर्व दिशा में है, इत्यादि ज्ञान होते हैं वे दिशाद्रव्य के कारण होते हैं ऐसा आप मानते हैं, उसीप्रकार दिशाओं में भेद की अवधि करके दिशा भेदों में ही "यह दिशा इस दिशा से पूर्व है" इत्यादि प्रत्यय किसी अन्य द्रव्य के कारण होते हैं, ऐसा मानना चाहिए । क्योंकि ये भी विशिष्ट प्रत्यय हैं । इसतरह इन प्रत्ययों का अन्य कारण स्वीकार करने पर उसका भी अन्य कारण होगा इसतरह अनवस्था आती है । यदि मूर्त्तिक पदार्थों में पूर्वादिप्रत्यय दिशाद्रव्य से और दिशाद्रव्य में मूर्त्तिकद्रव्य से होते हैं

स्वरूपतस्तत्प्रत्ययप्रसिद्धौ तेनैवानेकान्तात् कुतो दिग्द्रव्यसिद्धिस्तत्प्रत्ययपरावृत्त्यभावश्चानुषज्य:।

सवितुर्मेरुं प्रदक्षिणमावर्त्तमानस्येत्यादिन्यायेन दिग्द्रव्ये प्राच्यादिव्यवहारोपपत्तौ तत्प्रदेशपंक्तिष्वप्यत एव तद्व्यवहारोपपत्तेरलं दिग्द्रव्यकल्पनया, देशद्रव्यस्यापि कल्पनाप्रसंगात्–'अयमत: पूर्वोदेश:' इत्यादिप्रत्ययस्य देशद्रव्यमन्तरेणानुपपत्ते:। पृथिव्यादिरेव देशद्रव्यम्; इत्यसत्; तत्र पृथिव्यादिप्रत्ययोत्पत्ते:। पूर्वादिदिक्कृत: पृथिव्यादिषु पूर्वदेशादिप्रत्ययश्चेत्; तर्हि पूर्वाद्याकाशकृतस्तत्रैव पूर्वादिदिक्प्रत्ययोस्त्वऽल दिक्कल्पनाप्रयासेन।

इसतरह माना जाय तो अन्योन्याश्रय होने से दोनों का ही अभाव होने का प्रसंग आता है। वैशेषिक कहे कि अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा, दिशा भेदों में पूर्वादिप्रत्यय तो स्वरूप से स्वत: ही होते है, तो यह कथन भी ठोक नहीं है, क्योंकि इसतरह पूर्वोक्त "तत्प्रत्यय विशिष्टत्वात्" हेतु अनैकान्तिक होता है। इसतरह तत् प्रत्यय विशिष्टत्वात् हेतु जब स्वयं असिद्ध है तब किससे दिग्द्रव्य की सिद्धि होवेगी? अर्थात् नहीं होती है। तथा दिशाओं में पूर्वादिप्रत्यय स्वरूप से ही होते हैं ऐसा माने तो उनमें जो परावृत्ति होती है वह नहीं होगी अर्थात् पूर्व दिशा ही किसी देश की अपेक्षा पश्चिम कहलाने लगती है पश्चिम दिशा भी अपेक्षा से पूर्व कही जाती है इत्यादि दिशापरावृत्ति का होना असंभव होगा।

आपने कहा कि—सूर्य का मेरु की प्रदक्षिणा रूप से जब भ्रमण होता है तब दिशा नामा द्रव्य में "यह पूर्व है" इत्यादि व्यवहार बन जाता है। सो इस पर हम जैन का कहना है कि आकाश प्रदेश पंक्तियों में इसी ही कारण से पूर्वादिका व्यवहार होता है इसलिए दिशाद्रव्य की कल्पना करना व्यर्थ है। तथा दिशाद्रव्य को पृथक् माने तो देश नामा द्रव्य भी मानना होगा क्योंकि "यह यहां से पूर्व देश है" इत्यादि प्रत्यय देशद्रव्य को माने बिना बनता नहीं है। पृथिवी आदि को ही देशद्रव्य कहते हैं ऐसा कहना भी अशक्य है, क्योंकि पृथिवी आदि में तो "पृथिवी है" ऐसा प्रत्यय होता है, यह देश है, यह पूर्व देश है, इसतरह का प्रत्यय नहीं होता।

शंका—पृथिवी आदि में पूर्व देश आदि का प्रत्यय पूर्वादि दिशा के निमित्त से होता है?

नन्वेवमादित्योदयादिवशादेवाकाशप्रदेशपंक्तिष्विव पृथिव्यादिष्वपि पूर्वापरादिप्रत्ययसिद्धेराकाशप्रदेशश्रेणिकल्पनाप्यनर्थिका भवत्विति चेत्; न; 'पूर्वस्यां दिशि पृथिव्यादय:' इत्याद्याधाराधेयव्यवहारोपलम्भात् पृथिव्याद्यधिकरणभूतायास्तत्प्रदेशपङ्क्तेः परिकल्पनस्य सार्थकत्वात्। आकाशस्य च प्रमाणान्तरतः प्रसाधितत्वात्। तन्न परपरिकल्पितं दिग्द्रव्यमप्युपपद्यते।

समाधान—तो फिर पूर्व दिशा है इत्यादि प्रत्यय भी पूर्वादि आकाश प्रदेशों के निमित्त से होता है यह सहज सिद्ध होगा, दिशाद्रव्य को मानने का प्रयास करना व्यर्थ है।

शंका—इसतरह दिशाद्रव्य का अभाव करते हैं तो आकाश प्रदेशों की श्रेणियों की कल्पना करना भी व्यर्थ है। जिसप्रकार आप आकाश प्रदेशों की पंक्तियों में सूर्योदयादि के निमित्त से ही पूर्व पश्चिम आदि की प्रतीति होना स्वीकार करते हैं, उसप्रकार पृथिवी आदि में उसी सूर्योदय आदि के निमित्त से पूर्वादिकी प्रतीति होना संभव है ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करना, "पूर्व दिशा में पृथिवी है, पश्चिम दिशा में पृथिवी आदि है" इत्यादि प्रत्ययों में आधार-आधेय व्यवहार देखा जाता है, अतः पृथिवी आदि आधेयभूत पदार्थों का आधार जो आकाश प्रदेश पंक्ति है उनकी सिद्धि करना सार्थक है। आकाश द्रव्य की सिद्धि तो प्रमाणान्तर से कर चुके हैं, अर्थात् संपूर्ण द्रव्यों के अवगाहन का जो असाधारण निमित्त है वही आकाशद्रव्य है, आकाशद्रव्य का सद्भाव अवगाहना के निमित्त से होता है इत्यादि अनुमान प्रमाण द्वारा अमूर्त्त, अनेक प्रदेशों का अखंड पिंड स्वरूप आकाश सिद्ध होता है इस जगत प्रसिद्ध आकाशद्रव्य से ही दिशाओं का व्यवहार होता है, अतः परवादी कल्पित दिशा नामा द्रव्य पृथक् पदार्थ सिद्ध नहीं होता है, उसको सिद्ध करने वाला कोई भी प्रमाण नहीं है, ऐसा सुनिश्चित हुआ।

॥ दिशाद्रव्यवाद समाप्त ॥

१२

आत्मद्रव्यवाद:

नाप्यात्मद्रव्यम् । तद्धि सर्वगतत्वादिधर्मोपेतं परैरभ्युपेयते । न चास्य तदुपेतत्वमुपपद्यते; प्रत्यक्षविरोधात् । प्रत्यक्षेण ह्यात्मा 'सुख्यहं दुःख्यहं घटादिकमहं वेद्मि' इत्यहमहमिकया 'स्वदेह एव सुखादिस्वभावतया प्रतीयते, न देहान्तरे परसम्बन्धिनि, नाप्यन्तराले । इतरथा सर्वस्य सर्वत्र तथा प्रतीतिरिति सर्वदर्शित्वं भोजनादिव्यवहारसङ्करश्च स्यात् ।

दिशाद्रव्य तथा आकाशादि द्रव्य जैसे विपरीत मान्यता के कारण सिद्ध नहीं होते वैसे आत्मा द्रव्य भी विपरीतता के कारण सिद्ध नहीं होता है आगे इसी विषय में कथन प्रारम्भ होता है । वैशेषिक आत्मा को सर्वव्यापी, नित्य इत्यादि स्वरूप मानते हैं किन्तु यह मान्यता प्रत्यक्ष से विरुद्ध है प्रत्यक्ष स आत्मा मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, मैं घटादि पदार्थ को जानता हूँ, इत्यादि प्रत्ययों द्वारा अहं अहं रूप से अपने शरीर मात्र में प्रतीति में आता है, दूसरे के शरीर में या कही अंतराल में आत्मा प्रतीति में नहीं आता है यदि अन्य के शरीर में अंतराल में आत्मा होता तो सभी को सब जगह सुख दुःखादि की प्रतीति होती, सभी आत्माओं का सर्वदर्शित्व प्रसंग भी आता है क्योंकि आत्मा सर्वव्यापक होने से जगत् के यावन्मात्र पदार्थ उसके विषय होते । भोजनादि व्यवहार का संकट भी होता, इसतरह आत्मा को सर्वव्यापक मानने में दोष आते हैं ।

अनुमानविरोधाच्चास्य तद्धर्मोपेतत्वायोगः; तथाहि–नात्मा परममहापरिमाणाधिकरणो द्रव्यान्तराऽसाधारणसामान्यवत्त्वे सत्यनेकत्वाद् घटादिवत् । 'अनेकत्वात्' इत्युच्यमाने हि सामान्येनानेकान्तः, तत्परिहारार्थं 'सामान्यवत्त्वे सति' इति विशेषणम् । तथाकाशादिना व्यभिचार, तत्परिहारार्थं

विशेषार्थ—आत्मा सर्वगत है ऐसा मानेंगे तो सभी आत्माओं के शरीरों के साथ हमारा सम्बन्ध रहेगा, और जब सभी के शरीरों में हमारे आत्मा का अस्तित्व है तो सभी के सुख दुःख हमें भी उसीतरह से अनुभव में आने चाहिए जिसतरह से अपने स्वयं के अनुभव में आया करते हैं, किसी एक व्यक्ति के भोजन करने से हमें तृप्ति हो जानी चाहिये, देवदत्त ने जल पिया है तो उसी से यज्ञदत्त की प्यास बुझनी चाहिए, जिनदत्त ने पाठ कंठस्थ किया है अतः गुरुदत्त को वही पाठ बिना याद किये कंठस्थ हो जाना चाहिए ? क्योंकि इन यज्ञदत्तादि के शरीरों में भी देवदत्तादि आत्मा मौजूद है । किन्तु ऐसा कुछ भी होता नही, केवल अपने शरीर मात्र में ही सुख दुःखादि का अनुभव आता है अतः निश्चित होता है कि आत्मा सर्वत्र व्यापक नहीं है । आत्मा को सर्वगत मानने से सभी को सर्वज्ञपने का भी प्रसंग आता है, जब हमारी आत्मा सर्वत्र है तो सब जगह के पदार्थों का ज्ञान या अनुभव होवेगा ही ? अतः आत्मा को सर्वगत मानना गलत है ।

आत्मा को सर्वगत मानने में अनुमान प्रमाण से भी विरोध आता है अतः उसको सर्वगत एवं सर्वथा नित्य एक रूप मानना अशक्य है ।

अनुमान प्रमाण द्वारा इसी बात को बतलाते हैं—आत्मा परम महा परिमाण का अधिकरण नहीं है, क्योंकि वह द्रव्यांतर से असाधारण सामान्य वाला है एवं अनेक है, जैसे घट पट आदि पदार्थ हैं । इसमें केवल अनेकत्वात् हेतु देते तो सामान्य के [गोत्वादि के] साथ व्यभिचार होता अतः उसका परिहार करने के लिये "सामान्यवान्" विशेषण दिया है अर्थात् आत्मा सामान्य नहीं है किन्तु सामान्यवान होकर अनेक है अतः व्यापक नहीं है । "सामान्यवत्त्वे सति अनेकत्वात्" इतना ही विशेषणवाला हेतु देते तो आकाशादि के साथ व्यभिचार आता, अर्थात् जो सामान्यवान होकर अनेक है वह महा परिमाण नहीं है, ऐसा कहेंगे तो आकाशादि द्रव्य से व्यभिचार आता, आकाश सामान्यवान होकर भी महा परिमाण स्वरूप है, अतः इस दोष को दूर करने के लिये

'द्रव्यान्तरासाधारणसामान्यवत्त्वे सति' इत्युच्यते । एकस्माद्धि द्रव्यादन्यद्द्रव्यं द्रव्यान्तरम्, तदसाधारण-सामान्यवत्त्वे सत्यनेकत्वमाकाशादौ नास्तीति । अत एव परममहापरिमाणलक्षणगुणेनापि नानेकांतः ।

तथा, नात्मा तत्परिमाणाधिकरणो दिक्कालाकाशान्यत्वे सति द्रव्यत्वाद्घटादिवत् । न सामान्येन परममहापरिमाणेन वानेकान्तः, तयोरद्रव्यत्वात् । नापि दिगादिना, 'तदन्यत्वे सति' इति विशेषणात् ।

तथा, नात्मा तत्परिमाणाधिकरणः क्रियावत्त्वाद्बाणादिवत् । न चेदमसिद्धम्; 'योजनमहमागतः क्रोशं वा' इत्यादिप्रतीतितस्तत्सिद्धेः । न च मनः शरीरं वागतमित्यभिधातव्यम्; तस्याहं-

---

"द्रव्यांतरासाधारण सामान्यवत्वे सति" ऐसा कहा है । एक द्रव्य से जो अन्य द्रव्य हो उसे द्रव्यांतर कहते हैं, ऐसा आकाशादि द्रव्यों मे नहीं पाया जाने वाला असाधारण [विशिष्ट] सामान्यवानपना है एवं अनेकत्व है वह आकाशादि में नहीं है, इसलिये हम जैन के हेतु में अनैकान्तिकता नहीं आती है । जिस तरह यह हेतु आकाशादि से व्यभिचरित नहीं होता उसी तरह परम महापरिमाण लक्षण वाले गुण के साथ भी व्यभिचरित नहीं होता है, क्योंकि उक्त गुण में अनेकपना नहीं है ।

आत्मा के व्यापकत्व का खण्डन करनेवाला दूसरा अनुमान इसप्रकार है—आत्मा महापरिमाण का अधिकरण नही है [पक्ष] क्योंकि वह दिशाकाल और आकाश से अन्य होकर द्रव्य कहलाता है [हेतु] जैसे घट पट आदि महापरिमाण के अधिकरण नही हैं एवं दिशा आकाशादि से भिन्न होकर द्रव्य हैं । [दृष्टांत] इस अनुमान के हेतु का सामान्य के साथ तथा परम महापरिमाण के साथ व्यभिचार भी नहीं होता, क्योंकि सामान्यादिक द्रव्य नहीं हैं । तथा दिशा आदि के साथ भी व्यभिचार नहीं होगा, इस व्यभिचार को दूर करने के लिये हेतु में तदन्यत्वे सति दिशा आकाशादि से अन्य द्रव्य होकर ऐसा विशेषण प्रयुक्त हुआ है । आत्मा को अव्यापक बतलाने वाला तीसरा अनुमान—आत्मा परम महापरिमाण वाला नहीं है, क्योंकि यह क्रियाशील द्रव्य है, जैसे बाणादि पदार्थ क्रियाशील होने से महापरिमाण के अधिकरण नहीं हुआ करते हैं । यह क्रियावत्व हेतु भी असिद्ध नहीं है, आत्मा में क्रियापना देखा ही जाता है "मैं एक योजन चलकर आया हूं, मैं एक कोस चलकर गया" इत्यादि प्रतीति से आत्मा के सक्रियत्व की सिद्धि होती है । यह जो एक योजन आदि गमन है वह मन: या शरीर

प्रत्ययाऽवेद्यत्वात्, अन्यथा चार्वाकमतप्रसङ्गः स्यात्। प्रसाधयिष्यते चाग्रे विस्तरतोस्य क्रियावत्त्वमित्यलमतिप्रसंगेन।

तथा, आत्माऽणुपरममहत्त्वपरिमाणानधिकरणः, चेतनत्वात्, ये तु तत्परिमाणाधिकरणा न ते चेतनाः यथाकाशपरमाण्वादयः, चेतनश्चात्मा, तस्मान्न तत्परिमाणाधिकरण इति।

ननु चात्मा परममहापरिमाणाधिकरणो न भवतीति प्रतिज्ञाऽनुमानबाधिता। तच्चानुमानम्–आत्मा व्यापकोऽणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वादाकाशवत्। अणुपरिमाणानधिकरणोसौ अस्मदादिप्रत्यक्षविशेषगुणाधिकरणत्वाद्घटादिवत्। तथा नित्यद्रव्यमात्माऽस्पर्शवद्द्रव्यत्वादाकाशवदेवेति।

का है ऐसा भी नहीं कहना, क्योंकि मन या शरीर अहं (मैं) प्रत्यय से अनुभव में नहीं आता, अन्यथा चार्वाक मतका प्रसंग आयेगा ! अर्थात् मन या शरीर को अहं ऐसा कहते हैं तो आत्म द्रव्य को पृथक् मानने की आवश्यकता नही रहती और आत्मद्रव्य नहीं मानने पर चार्वाक मत आता है अतः एक कोस चलकर आया हूं इत्यादि प्रतीति द्वारा आत्मा ही सिद्ध होता है। इसी आत्मद्रव्यवाद प्रकरण मे आत्मा के क्रियावानपने की विस्तारपूर्वक सिद्धि करने वाले हैं, अतः यहां अधिक नही कहते हैं।

आत्मा के सर्वगतत्वका प्रतिषेधक चौथा अनुमान आत्मा अणु और परम महापरिमाण का अधिकरण नहीं है, क्योंकि वह चेतन है, जो अणु या महान परिमाण के अधिकरण हुआ करते हैं वे चेतन नही होते है, जैसे परमाणु अणु परिमाण का अधिकरण है और आकाश महान परिमाण का अधिकरण होने से चेतन नही है, आत्मा चैतन्य है अतः वह अणु या महान परिमाण वाला नही हो सकता है।

वैशेषिक—आप जैन ने इस अनुमान मे जो प्रतिज्ञा वाक्य कहा कि आत्मा परम महापरिमाण का अधिकरण नही होता है, सो यह प्रतिज्ञा या पक्ष अनुमान बाधित है, उसी बाधक अनुमान को दिखलाते है—आत्मा व्यापक है, क्योंकि अणुपरिमाण का अनधिकरण [आधार नहीं होकर] एवं नित्य द्रव्यस्वरूप है, जैसे आकाश व्यापक है। आत्मा अणु परिमाण अनधिकरण इसलिये है कि वह हम जैसे पुरुषों द्वारा प्रत्यक्ष होने योग्य गुणों का आधार है, जैसे घटादिक है। तथा आत्मा नित्य द्रव्यरूप है, क्योंकि वह अस्पर्शवान द्रव्य है, जैसे आकाश है, इन सब अनुमानों से आत्मा की व्यापकता एवं नित्यता सिद्ध होगी ?

अत्रोच्यते-अणुपरिमाणप्रतिषेधोऽत्र पर्युदासः, प्रसज्यो वाभिप्रेतः ? यदि पर्युदासः; तदासौ भावान्तरस्वीकारेण प्रवर्त्तते । भावान्तरं च किं परममहापरिमाणम्, अवान्तरपरिमाणं वा स्यात् ? प्रथमपक्षे साध्याविशिष्टत्वं हेतुविशेषणस्य । यथा 'अनित्यः शब्दोऽनित्यत्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इति । द्वितीयपक्षे तु विरुद्धत्वम् यथा 'नित्यः शब्दोऽनित्यत्वे सति बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्' इति ।

जैन—यह कथन ठीक नही है, आपने प्रथम अनुमान में अणुपरिमाणानधिकरणत्वे सति "अणु परिमाण का अधिकरण नहीं होकर" ऐसा जो हेतु का विशेषण दिया है उसमें अणु परिमाण का निषेध है, वह निषेध पर्युदास है कि प्रसज्य है ? [पर्युदासः सदृक् ग्राही प्रसज्यस्तु निषेध कृत्-जो अभाव एक का निषेध करके अन्य समान का ग्राहक होता है उसे पर्युदास प्रतिषेध या निषेध कहते हैं, और जो मात्र निषेध ही करता है वह प्रसज्य प्रतिषेध कहलाता है] पर्युदास निषेध करना है तो वह भावांतर के स्वीकार करने रूप हुआ करता है, भावांतर यहां क्या है परममहापरिमाण अथवा अवांतर परिमाण ? अर्थात् अणु परिमाणस्य अधिकरणं न इति अणु परिमाणानधिकरणं ऐसा निषेध वाचक अणु परिमाणानधिकरण शब्द में परम महापरिमाण का निषेध किया अथवा अवांतर परिमाण का निषेध किया ? प्रथम पक्ष कहो तो हेतु का विशेषण साध्यसमान हुआ, साध्य व्यापक है और हेतु में विशेषण "अणु प्रमाण नहीं" अर्थात् महापरिमाण है, सो महापरिमाण और व्यापक इन दोनों का अर्थ वही एक सर्वगतपना होता है, अतः साध्य और हेतु समान होने से यह साध्यसम हेतु गमक नहीं बन सकता जैसे कोई अनुमान बनावे कि "शब्द अनित्य है, क्योंकि अनित्य होकर बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है" यहां साध्य अनित्य है और हेतु का विशेषण भी अनित्य है, सो इस तरह के हेतु स्वसाध्य के गमक या प्रसाधक नही हुआ करते हैं ऐसा आप स्वयं ने स्वीकार किया है । दूसरा पक्ष—अणु परिमाण का निषेध है अर्थात् आत्मा में अणु परिमाण का निषेध है ऐसा कहे तो अवांतर परिमाण का निषेध नही होने से उक्त हेतु स्वसाध्य में विरुद्ध पड़ेगा । जैसे किसी ने अनुमान वाक्य कहा कि शब्द नित्य है, क्योंकि वह अनित्य होकर बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष है, यहां साध्य बनाया नित्यत्व को और हेतु अनित्यत्व दिया अतः साध्य से विरुद्ध पड़ा, ऐसे आपने भी साध्य तो बनाया आत्मा व्यापक है [सर्वगत] और हेतु दिया अणु प्रमाण के निषेध रूप अवांतर [किसी एक परिमाण वाला] परिमाण है, सो ऐसा साध्य से विरुद्ध हेतु विपक्ष को [अव्यापकत्व] ही सिद्ध करा देता है ।

प्रसज्यपक्षेप्यसिद्धत्वम्; तुच्छस्वभावाभावस्य प्रमाणाविषयत्वेन प्रतिपादनात्। सिद्धो वा किमसौ साध्यस्य स्वभावः, कार्यं वा ? यदि स्वभावः; तर्हि साध्यस्यापि तद्वत्तुच्छरूपतानुषङ्गः। अथ कार्यम्; तन्न; तुच्छस्वभावाभावस्य कार्यत्वायोगात्। कार्यत्वं हि किं स्वकारणसत्तासमवायः, कृतमिति बुद्धिविषयत्वं वा ? न तावदाद्यः पक्षः; अभावस्य स्वकारणसत्तासमवायानभ्युपगमात्, अन्यथा भावरूपतैवास्य स्यात्। नापि द्वितीयः; तुच्छस्वभावाभावस्य तद्विषयत्वासम्भवात्। तस्य हि प्रमाणागोचरत्वे कथं कृतबुद्धिविषयत्व सम्भवेत् ? अनैकान्तिकं चैतत्; खननोत्सेचनानन्तरमकार्येप्याकाशे कृतबुद्धिविषयत्वसम्भवात्।

"अणु परिमाण का अधिकरण नही है" इस वाक्य के नकार का अर्थ सर्वथा निषेध रूप प्रसज्य प्रतिषेध करते हैं तो वह विशेषण असिद्ध कहलायेगा, क्योंकि सर्वथा प्रतिषेध रूप तुच्छाभाव प्रमाण का विषय नहीं हो सकता है ऐसा पहले ही प्रतिपादन कर चुके हैं। कदाचित् तुच्छ अभाव को मान भी लेवे तो यह तुच्छ अभाव व्यापकत्व विशिष्ट आत्मा रूप साध्य का स्वभाव है या कार्य है। यदि स्वभाव है तो साध्य भी स्वभाव के समान तुच्छाभाव रूप बन जायगा। भावार्थ यह हुआ कि आत्मा व्यापक है क्योंकि वह अणु परिमाण का आधार नहीं है ऐसा अनुमान का प्रयोग कर इस अणु परिमाण नही का अर्थ सर्वथा किसी भी परिमाण वाला नही है ऐसा तुच्छ अभाव करते हैं और वह तुच्छाभाव आत्मा का स्वभाव मानते हैं तब आत्मा भी अभाव रूप सिद्ध होता है, अतः तुच्छाभाव आत्मा का स्वभाव है ऐसा कहना ठीक नहीं रहता है। यदि उस तुच्छ अभाव को आत्मा का कार्य माना जाय तो वह भी बनता नही, क्योंकि तुच्छ अभाव किसी का कार्य नही होना कार्यत्व किसे कहना स्वकारण सत्ता समवाय–अपने कारण को सत्ता का समवाय होना कार्यत्व है अथवा "किया है" ऐसी बुद्धि का विषय होना कार्यत्व है ? प्रथम विकल्प ठीक नहीं है, क्योंकि आप वैशेषिक ने अभाव में स्व कारण सत्ता समवाय नही माना है, यदि मानेंगे तो उस अभाव को सद्भाव स्वरूप स्वीकार करना पड़ेगा। द्वितीय विकल्प–कियेपनकी बुद्धि का विषय होना कार्यत्व है ऐसा कहना भी गलत है, क्योंकि तुच्छाभाव बुद्धि का विषय नही होता। जब तुच्छाभाव प्रमाण का विषय ही नहीं है तब वह कृत बुद्धि–कियेपनकी बुद्धि का विषय कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता। एक बात यह है कि जिसमें कियेपनकी बुद्धि होवे वह कार्य है ऐसा कहना अनैकान्तिक है, कैसे सो ही बताते हैं—खोदकर मिट्टी आदि को निकालकर गड्ढा बनाते हैं उस गड्ढे को पोलरूप आकाश में "किया है" ऐसी किये

नित्यद्रव्यत्वं च किं कथञ्चित्, सर्वथा वा विवक्षितम् ? कथञ्चिच्चेत्; घटादिनानेकान्त:, तस्याणुपरिमाणानधिकरणत्वे कथञ्चिन्नित्यद्रव्यत्वे च सत्यपि व्यापित्वाभावात् । सर्वथा चेत्; असिद्धत्वम्, सर्वथा नित्यस्य वस्तुनोऽर्थक्रियाकारित्वेनाऽश्वविषाणप्रख्यत्वप्रतिपादनात् । अस्मदादिप्रत्यक्षविशेषगुणाधिकरणत्वाच्चाणुपरिमाणप्रतिषेधमात्रमेव स्याद् घटादिवत्, तस्य चेष्टत्वात्सिद्धसाध्यता । अस्पर्शवद्द्रव्यत्वाच्चात्मनो यदि कथञ्चिन्नित्यत्वं साध्यते; तदा सिद्धसाध्यता । अथ सर्वथा; तर्हि हेतोरनन्वयत्वमाकाशादीनामपि सर्वथा नित्यत्वस्य प्रतिषिद्धत्वात् ।

पनकी बुद्धि हुआ करती है किन्तु वह आकाश कार्य नहीं है । अत: जिसमें क्रियेपनेकी बुद्धि हो वह कार्य है ऐसा कहना गलत ठहरता है । अनैकान्तिक होता है ।

"अणु परिमाणानधिकरणत्वे सति नित्यद्रव्यत्वात्" ऐसा हेतु दिया था उसमें अणु परिमाण अनधिकरत्व रूप जो विशेषण है उसका खण्डन हो गया, अब नित्य द्रव्यत्वरूप विशेष्य का विचार करते हैं—नित्य द्रव्य होने से आत्मा व्यापक है ऐसा वैशेषिक का कहना है सो नित्य द्रव्यत्व कथञ्चित है या सर्वथा ? कथंचित् कहो तो घटादि पदार्थों के साथ हेतु अनैकान्तिक होवेगा, क्योंकि घटादि पदार्थ अणु परिमाण का अनधिकरण एवं कथंचित् नित्य होकर भी व्यापक नहीं है । अतः जो कथंचित् नित्य हो वह व्यापक है ऐसा अविनाभाव नहीं होने से हेतु सदोष–अनैकान्तिक ठहरता है । जो सर्वथा नित्य है वह व्यापक होता है ऐसा माने तो वह हेतु असिद्ध दोष का भागी बनेगा, हम जैन इस बात को अच्छी तरह से सिद्ध कर चुके हैं कि सर्वथा नित्य वस्तु अर्थ क्रिया को कर नही सकती, वह तो अश्वविषाण के समान शून्य है । आत्मा व्यापक है इस बात को सिद्ध करने के लिये वैशेषिक ने दूसरा अनुमान दिया कि अणु परिमाण का अधिकरण आत्मा नही है, क्योंकि वह हमारे द्वारा प्रत्यक्ष होने योग्य विशेष गुणों का आधार है, सो यह हेतु आत्मा में केवल अणु परिमाण का निषेध करता है, जैसे घटादि में अणु प्रमाण का निषेध है, किन्तु इसके निषिद्ध होने मात्र से आत्मा मे महा-परिमाण की–व्यापकत्व की सिद्धि नहीं होती । आत्मा में अणु परिमाण का निषेध तो हम जैन को इष्ट ही है, हम जैन भी आत्मा को अणु परिमाण नहीं मानते । अस्पर्शवाला द्रव्य होने से आत्मा नित्य है ऐसा वैशेषिक ने कहा सो यदि कथंचित् नित्यत्व सिद्ध करना है तब तो सिद्ध साध्यता है–कथंचित् नित्य होने में कोई विवाद नहीं है । यदि सर्वथा नित्यत्व सिद्ध करना है तो वह अस्पर्शवत्व हेतु दृष्टांत के अन्वय से रहित

ननु 'देहान्तरे परसम्बन्धिन्यन्तराले चात्मा न प्रतीयते' इत्ययुक्तमुक्तम्; अनुमानात्तत्रास्य सद्भावप्रतीतेः; तथाहि–देवदत्ताङ्गनाद्यंगं देवदत्तगुणपूर्वकं कार्यत्वे तदुपकारकत्वाद्ग्रासादिवत् । कार्यदेशे च सन्निहितं कारणं तज्जन्मनि व्याप्रियते नान्यथा, अतस्तदगादिकार्यप्रादुर्भावदेशे तत्कारणवत्तद्गुणसिद्धिः । यत्र च गुणाः प्रतीयन्ते तत्र तद्गुण्यप्यनुमीयते एव, तमन्तरेण तेषामसम्भवात्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतो देवदत्तांगनाद्यंगादिकार्यस्य कारणत्वेनाभिप्रेता ज्ञानदर्शनादयो देवदत्तात्मगुणाः, धर्माधर्मौ वा ? न तावज्ज्ञानदर्शनसुखादयः स्वसंवेदनस्वभावास्तज्जन्मनि व्याप्रियमाणाः

होवेगा, क्योंकि आकाश जैसे अस्पर्शवान होने से नित्य है वैसे आत्मा नित्य है इस तरह आपने दृष्टांत दिया किंतु आकाशादि पदार्थ भी सर्वथा नित्य नहीं है इनके सर्वथा नित्यत्व का पहले ही निराकरण कर आये हैं। अतः आकाश को दृष्टांत बनाकर उससे आत्मा में नित्यत्व सिद्ध करना असम्भव है।

वैशेषिक—जैन ने कहा था कि—अपने शरीर को छोड़कर अन्य के शरीर में तथा अंतराल में आत्मा की प्रतीति नही होती है, सो यह कथन अयुक्त है, अंतराल में तथा शरीरांतर में आत्मा का रहना अनुमान से सिद्ध होता है, अब इसी अनुमान को उपस्थित करते है— देवदत्त के स्त्री पुत्रादि का शरीर देवदत्त के गुण द्वारा निर्मित है, अथवा देवदत्त के गुण के कारण है, क्योंकि वह शरीर कार्य स्वरूप है एवं उसी देवदत्त का उपकार करता है, जैसे भोजन के ग्रासादिक हैं वे देवदत्त के उपकारक कार्य होने से उसी के गुण पूर्वक होते हैं। कारण जब कार्य के निकट देश मे रहता है तब कार्य को करने मे प्रवृत्त होता है अन्यथा नही ऐसा नियम है, इसलिये देवदत्त द्वारा भोग्य जो उसकी स्त्री है उसके शरीरोत्पत्ति प्रदेश में जैसे उस शरीर के अन्य कारण रहा करते हैं वैसे देवदत्त का गुण रूप कारण भी रहा करता है, और जब देवदत्त का गुण [अदृष्ट–भाग्य] उस प्रदेश में है तो गुणी–देवदत्त की आत्मा भी वहां अवश्य है जहां पर गुण प्रतीत होते है वहां गुणी का अनुमान अवश्य लगा लेना चाहिए, क्योंकि गुणी के बिना गुण रहते नही इसतरह अंतराल में भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

जैन—यह कथन असमीचीन है, देवदत्त की स्त्री आदि के शरीरादि कार्य है उसका कारण आप देवदत्त के गुण मानते हैं सो वे गुण कौन से हैं, ज्ञानदर्शन इत्यादि देवदत्त के आत्मा के गुण हैं, अथवा धर्म-अधर्म-पुण्य-पापरूप गुण हैं ? ज्ञानदर्शन सुखादि गुण स्त्री शरीर आदि के कारण नहीं हो सकते, वे तो स्वसंवेदन स्वभाव वाले हैं, स्त्री

प्रतीयन्ते । वीर्यं तु शक्तिः, सापि तद्देह एवानुमीयते, तत्रैव तल्लिङ्गभूतक्रियायाः प्रतीतेः । तज्ज्ञाना-देस्तद्देह एव तत्कार्यकारणविमुखस्याध्यक्षादिना प्रतीतेः तद्बाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टः 'कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्' इति हेतुः ।

अथ धर्माधर्मौ; तदंगादिकार्यं तन्निमित्तमस्माभिरपीष्यते एव । तदात्मगुणत्वं तु तयोरसिद्धम्; तथाहि–न धर्माधर्मौ आत्मगुणौ अचेतनत्वाच्छब्दादिवत् । न सुखादिना व्यभिचारः; अत्र हेतोरवर्त्तनात्, तद्विरुद्धेन स्वसंवेदनलक्षणचैतन्येनास्याऽव्याप्तत्वासाधनात् । नाप्यसिद्धता; अचेतनौ तौ स्वग्रहण-

---

आदि के शरीरोत्पत्ति में वे गुण व्यापार करते हुए प्रतीत नही होते हैं । वीर्य तो शक्ति को कहते हैं और यह शक्ति भी केवल देवदत्त के शरीर में अनुमानित होती है, क्योंकि शक्ति की अनुमापिका क्रिया है [कार्य क्षमता, बोझा ढोना इत्यादि] और वह मात्र देवदत्त के शरीर में हो उपलब्ध होती है । देवदत्त के आत्मा के ज्ञानादि गुण भी देवदत्त के शरीराधार पर प्रतीत होते हैं, किंतु देवदत्त की स्त्री के शरीरादि कार्य को करते हुए प्रतीत नहीं होते प्रत्यक्षादि द्वारा उक्त कार्य से परांमुख ही प्रतीत होते हैं, अतः प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित पक्ष निर्देश के अनन्तर प्रयुक्त होने से कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात् हेतु कालात्ययापदिष्ट दोष वाला है । अर्थात्—"देवदत्त के स्त्री आदि के शरीर का कारण देवदत्त के आत्मा का गुण है" ऐसा जो पक्ष कहा था वह पक्ष प्रत्यक्षादि से बाधित हुआ है इसलिये "कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्" हेतु कालात्यया-पदिष्ट दोष युक्त होता है ।

देवदत्त के आत्मा के धर्म-अधर्म नामा गुण देवदत्त के स्त्री के शरीर का कारण है ऐसी दूसरी बात कहो तो हम जैन को मान्य होगा, किन्तु उन धर्मादिको आत्मा का गुण मानना असिद्ध है । आगे इसी को स्पष्ट करते है—धर्म-अधर्म आत्मा के गुण नहीं हैं, क्योंकि वे अचेतन हैं, जैसे शब्दादिक अचेतन होने से आत्मा के गुण नहीं हैं । यह अचेतनत्व हेतु सुखादि के साथ व्यभिचरित भी नहीं होता है, क्योंकि सुखादि में अचेतनपना है नहीं, सुखादिक तो अचेतन के विरुद्ध चैतन्य से व्याप्त है, वे स्वसंवेदन रूप अनुभव में आते हैं अतः चेतनत्व के साथ इनकी अव्याप्ति बतलाना असिद्ध है । धर्म-अधर्म का अचेतनपना असिद्ध भी नही है, अब इसी को बताते हैं—धर्म-अधर्म दोनों ही अचेतन हैं, क्योंकि वे स्वयं का ग्रहण [जानना] नहीं कर पाते, जैसे वस्त्रादि पदार्थ स्वयं के ग्राहक नहीं होते हैं । स्वग्रहणविधुरत्व हेतु बुद्धि के साथ

विधुरत्वात्पटादिवत् । न च बुद्ध्यास्य व्यभिचारः; अस्याः स्वग्रहणात्मकत्वप्रसाधनात् । प्रसाधितं च पौद्गलिकत्वं कर्मणां सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे तदलमतिप्रसंगेन । तदेवं धर्माधर्मयोस्तदात्मगुणत्वनिषेधात् तन्निषेधानुमानबाधितमेतत्–'देवदत्तागनाद्यंग देवदत्तगुणपूर्वकम्' इति ।

अस्तु वा तयोर्गुणत्वम्; तथापि न तदङ्गनाङ्गादिप्रादुर्भावदेशे तत्सद्भावसिद्धिः । न खलु सर्वं कारणं कार्यदेशे सदेव तज्जन्मनि व्याप्रियते, अञ्जनतिलकमन्त्राऽयस्कान्तादेराकृष्यमाणाङ्गनादि-

---

व्यभिचरित भी नही होता क्योंकि बुद्धि भी स्व को ग्राहक होती है ऐसा हम सिद्ध कर चुके है । धर्म-अधर्म जिसे पुण्य पाप भी कहते है ये कर्म रूप हैं और कर्म पौद्गलिक–अचेतन हुआ करता है इस बात को सर्वज्ञ सिद्धि प्रकरण में [दूसरे भाग में] कह आये हैं, अब यहां पर अधिक नही कहते है । इसप्रकार धर्म-अधर्म को आत्मा का गुण मानना असिद्ध होता है, जब धर्मादि में आत्म गुणत्व का निषेध हुआ तो वह पूर्वोक्त कथन अनुमान बाधित होता है कि—देवदत्त के स्त्री आदि का शरीर देवदत्त के गुणपूर्वक होता है इत्यादि ।

वैशेषिक के आग्रह से मान लेवें कि धर्म-अधर्म गुण है किन्तु गुण होने मात्र से उनका उस देवदत्तादि के स्त्री के शरीरोत्पत्ति स्थान पर सद्भाव सिद्ध नही होता है, यह नियम नही है कि सभी कारण कार्य के स्थान पर रहकर हो उसके उत्पत्ति में प्रवृत्त होते हैं । देखा जाता है कि—अंजन, तिलक, मन्त्र अयस्कान्त [चुम्बक] आदि पदार्थ स्त्री लोहा आदि के स्थान पर मौजूद नहीं रहने फिर भी उन स्त्री लोहा आदि को आकर्षित करना इत्यादि कार्यों को करते है ।

भावार्थ—वैशेषिक आत्मा को सर्वगत मानते हैं, उनका कहना है कि देवदत्त आदि मनुष्यों के भोग्य सामग्री आदि का जो भी देवदत्त को लाभ हुआ है वह स्त्री, मुक्ता आदि सामग्री देवदत्त के आत्मा के अदृष्ट-धर्मादि द्वारा मिली है, वे धर्मादिक स्त्री आदि के उत्पत्ति स्थान रहकर देवदत्तादि के भोग्य सामग्री को बनाया करते हैं, इस पर आचार्य समझा रहे हैं कि धर्म-अधर्म नामा गुण आत्मा के नहीं हैं वे तो पौद्गलिक जड़ हैं तथा यह नियमित नहीं है कि जहां कार्य होना है वहीं कारण मौजूद रहे, कारण अन्यत्र हो और कार्य अन्यत्र बन जाय ऐसा भी होता है । एक विशेष अंजन होता है उसको कोई पुरुष आंखों में डालता है तो स्त्री उसके तरफ आकर्षित हो जाती

देशेऽसतोप्याकर्षणादिकार्यकर्तृत्वोपलम्भात् । 'कार्यत्वे सति' इति च विशेषणमनर्थकम्; यदि हि तद्गुणपूर्वकत्वाभावेपि तदुपकारकत्वं दृष्टं स्यात् तदा 'कार्यत्वे सति' इति विशेषणं युज्येत, 'सति सम्भवे व्यभिचारे च विशेषणमुपादीयमानमर्थवद्भवति' इति न्यायात् । कालेश्वरादौ दृष्टमिति चेत्; तर्हि कालेश्वरादिकमतद्गुणपूर्वकमति यदि तदुपकारकम् कार्यमपि किञ्चिदन्यपूर्वकमपि तदुपकारकं

है । ऐसा ही कोई ललाट पर तिलक [विशिष्ट जाति का] लगाकर अनेक प्रकार से वस्तुओं को आकर्षित करता है, मन्त्रवादी मन्त्र कहीं दूर देश में कर रहे हैं और यहां पर विष दूर होना, या कहीं अग्नि लग जाना या बुझ जाना, घर बैठे किसी दूसरे घर के भोज्य या अन्य अन्य आभूषण आदि को अपने घर पर आकर्षित करना इत्यादि कार्य सम्पन्न होते हुए देखे जाते हैं । चुंबक पाषाण द्वारा दूर रहकर ही लोहा खींचा जाता है, इन सब दृष्टान्तों से निश्चित होता है कि सभी कारण कार्य के स्थान पर ही रहते हों सो बात नहीं है । इसी तरह आत्मा के व्यापकत्व सिद्ध करनेके लिये देवदत्त के स्त्री आदि का शरीर देवदत्त के गुण पूर्वक होना है इत्यादि अनुमान गलत ठहरता है, इससे देवदत्तादि के आत्मा के सर्वत्र रहने की सिद्धि नहीं हो पाती है ।

देवदत्तादि के आत्मा को सर्वगत बतलाने के लिये "कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्" हेतु दिया था सो इसमें "कार्यत्वे सति" इतना जो विशेषण है वह भी व्यर्थ है, यदि देवदत्त के गुणपूर्वक हुए बिना भी उसका उपकारक ऐसा कोई कार्य दिखायी देता अर्थात् जो उसका कार्य न होकर भी उपकारक होता तब तो यह कार्यत्वे सति विशेषण उपयुक्त होता । "सति संभवे व्यभिचारे च विशेषणमुपादीयमानमर्थवद्भवति" जब हेतुभूत विशेष्य में व्यभिचार आना सम्भव रहता है तब विशेषण जोड़ना सार्थक होता है, ऐसा न्याय है ।

शंका—जो उसका कार्य न हो और उसका उपकार करता हो ऐसा देखा जाता है, अर्थात् देवदत्त के गुण का कार्य नहीं हो और देवदत्त का उपकार करे ऐसा हो सकता है, कालद्रव्य ईश्वर इत्यादि पदार्थ देवदत्त के गुण का कार्य नहीं हैं तो भी वे देवदत्त का उपकार करते हैं [परत्वापरत्व प्रत्यय कराना स्वर्गादिका सुख देना इत्यादि] ?

समाधान—यह कथन गलत है यदि आप कालद्रव्य, ईश्वर इत्यादि को देवदत्त के गुणपूर्वक नहीं होते हुए भी देवदत्त का उपकार करने वाला मानते हैं तो

भविष्यतीति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिको हेतुः, क्वचित्सर्वज्ञत्वाभावे साध्ये वागादिवत् । न च नित्यैकस्वभावात्कालेश्वरादेः कस्यचिदुपकारः सम्भवतीत्युक्तम् ।

कोई कार्य भी ऐसा मान लेवें जो अन्य किसी पूर्वक होकर भी उसका उपकारक होवे अभिप्राय यह है कि ऐसे भी पदार्थ हैं जो किसी का कार्य नहीं हैं फिर भी अन्य का उपकार करते हैं अर्थात् स्वयं तो अकार्य हैं किन्तु अन्य कार्य को करते हैं इसीतरह ऐसे भी पदार्थ हैं। जो कार्य तो किसी वस्तु के हैं और अन्य किसी के उपकारक बनते हैं, जब दोनों प्रकार के पदार्थ मौजूद हैं तो यह नियम नहीं बनता कि अमुक वस्तु इसी के द्वारा की गयी होगी तभी उसका उपकार करती है। जब देवदत्त के गुण द्वारा ही की गयी हो तभी उसके भोग्य पदार्थ को एकत्रित करती। इस तरह का नियम असंभव है अतः "कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्" हेतु संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्ति वाला होने से अनैकान्तिक हो जाता है—विपक्ष मे जाने की शंका रहती है जैसे कि सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करने के लिये वक्तृत्वादि हेतु देते हैं वे संदिग्ध रहते हैं भावार्थ यह हुआ कि किसी ने कहा कि सर्वज्ञ नही हैं क्योंकि वह बोलता है, सो यहां बोलना सर्वज्ञ में है या नहीं ऐसा निश्चय नहीं होने से शंकित वृत्ति वाला हेतु कहलाता है, इसीप्रकार देवदत्त के स्त्री आदि भोग्य पदार्थ देवदत्त के गुण से किये गये होने से उसके उपकारक हैं ऐसा निश्चय नहीं कर सकते क्योंकि ईश्वरादि देवदत्त के गुण से किये गये नहीं हैं तो भी उसका उपकार करते हैं, अतः उसका कार्य होने से उसके उपकारक हैं ऐसा हेतु शंकित विपक्ष व्यावृत्ति वाला है। तथा नित्य एक स्वभाव वाले होने से काल ईश्वर आदि से किसो का उपकार होना सम्भव नहीं है, इस विषय को पहले ईश्वरवाद आदि प्रकरण में कह आये है। यहां पर अभिप्राय यह समझना कि "कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात्" इस हेतु में "कार्यत्वे सति" विशेषण अनर्थक है ऐसा जैन ने कहा इस पर वैशेषिक ने कहा था कि काल ईश्वरादिक स्वयं किसो के कार्य नहीं होकर भी उपकारक होते हैं, अतः हेतु में कार्यत्वेसति विशेषण दिया है। सो यह कथन असिद्ध है, क्योंकि प्रथम तो यह बात है कि जो कार्य है वह उसी अपने कारण का ही उपकार करे ऐसा नियम नहीं बनता तथा दूसरी बात यह है कि ईश्वर आदि पदार्थ को वैशेषिक ने सर्वथा नित्य एक स्वभाववाला माना है अतः उससे किसी का [देवदत्तादि का] उपकार होना शक्य नहीं है।

न च (ननु च) नकुलशरीरप्रध्वंसाभावोऽहेरुपकारकोस्ति तस्मिन्सति सुखावासभ्रमणादिभावात्तः सोपि तद्गुणपूर्वकः स्यात् तथा च कार्यत्वासम्भवेन सविशेषणस्य हेतोरवर्त्तमानाद्भागासिद्धो हेतुः। प्रत्युक्तं चाभावस्यानन्तरमेव कार्यत्वम् । अथाऽतद्गुणपूर्वक.; अन्यदप्यतद्गुणपूर्वकमपि तदुपकारकं किन्न स्यात् ?

साध्यविकलं चेदं निदर्शनं ग्रासादिवदिति । तत्र ह्यात्मनः को गुणो धर्मादि:, प्रयत्नो वा स्यात् ? धर्मादिश्चेत्; साध्यवत्प्रसंग: । प्रयत्नश्चेत्; कोयं प्रयत्नो नाम ? आत्मन: तदवयवानां वा

जो जिसका उपकारक होता है वह उसके गुण द्वारा किया होता है ऐसा मानेंगे तो और भी बाधायें आती हैं, नकुल [नेवला] के शरीर का प्रध्वंसाभाव होने से [नेवले के मर जाने से] सर्प का उपकार होता है क्योंकि उसके अभाव होने पर सर्प अपने स्थान पर सुख से रहता है, यत्र तत्र भ्रमण कर लेता है, सो यह जो नेवले के शरीर का अभाव हुआ है वह सर्प के गुण द्वारा हुआ है या उसके गुण द्वारा नहीं हुआ है ? दोनों पक्षों में दोष है, क्योंकि यदि नेवले के शरीर का अभाव सर्प के गुण द्वारा हुआ मानते हैं और उस अभाव से सर्प का उपकार होना बतलाते हैं तो हेतु का विशेषण "कार्यत्वे सति" भागासिद्ध होता है [पक्ष के एक देश में नहीं रहना] क्योंकि अभाव से कोई कार्य संपन्न नहीं होता है । आपके यहां अभाव को तुच्छाभावरूप माना है अतः उससे कार्य नहीं हो सकता ऐसा अभी सिद्ध कर दिया है । यदि उस नेवले के प्रध्वंसाभाव को सर्प के गुण द्वारा हुआ नहीं मानते हैं और फिर भी उस प्रध्वंसाभाव से सर्प का उपकार होना स्वीकार करते हैं तो इसी तरह अन्य जो देवदत्त आदि के स्त्री पुत्रादि के शरीर देवदत्त के प्रति उपकारक हैं वे उसके आत्मा के गुण द्वारा नहीं होकर भी उसके उपकारक क्यों नहीं हो सकते ?

आत्मा को सर्वत्र व्यापक सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त हुए अनुमान में "ग्रासादिवत् जैसे ग्रासादिक देवदत्त के गुण का कार्य होने से देवदत्त के उपकारक होते है" ऐसा दृष्टांत दिया था यह दृष्टांत साध्य विकल [साध्य से रहित] है, इसी को आगे स्पष्ट करते हैं, देवदत्त के उपकारक ग्रासादिक [भोजन के ग्रास जिसको कवल, कौल, गासा इत्यादि देशभाषा में पुकारते हैं] है उसमें देवदत्त का कौनसा गुण कारण है । देवदत्त के आत्मा का धर्मादिगुण कारण है या प्रयत्न नामा गुण कारण है ? धर्मादिगुण कारण है ऐसा कहें तो साध्य सम दृष्टांत हुआ । अर्थात् स्त्री आदि के शरीर

हस्ताद्यवयवप्रविष्टानां परिस्पन्दः; स तर्हि चलनलक्षणा क्रिया, कथं गुणः? अन्यथा गमनादेरपि गुणत्वानुषंगात्क्रियावार्त्तोच्छेदः। तथा चायुक्तम्-क्रियावत्त्वं द्रव्यलक्षणम्।

यदप्युक्तम्—'अदृष्टं स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्मारभते एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात्प्रयत्नवत्। न चास्य क्रियाहेतुत्वमसिद्धम्; तथाहि-अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनमणुमनसोश्चाद्यं कर्म देवदत्तविशेषगुणकारितं कार्यत्वे सति तदुपकारकत्वात् पाण्यादिपरिस्पन्दवत्। नाप्येक-

---

देवदत्त के आत्मा के गुणपूर्वक कैसे होते हैं इस बात को स्पष्ट करने के लिये ग्रासादिका दृष्टांत दिया और वही असिद्ध रहा क्योंकि देवदत्त का आत्मा देवदत्त के शरीर के बाहर रहना असिद्ध है उसके स्त्री आदि के स्थान पर जैसे देवदत्त के आत्मा का अस्तित्व असिद्ध है वैसे ही ग्रासादि के स्थान पर उक्त आत्मा का अस्तित्व असिद्ध है। यदि ग्रासादिक आत्मा के धर्मादिगुण का कार्य न होकर प्रयत्न नामा गुण का कार्य है तो पुनः प्रश्न होता है कि प्रयत्न किसे कहना? आत्मा का परिस्पद होना या हाथ पैर आदि शरीर के अवयवों में प्रविष्ट हुए आत्मा के अवयवों का परिस्पंद होना? उभयरूप भी प्रयत्न हलन चलन रूप क्रिया है, इसको गुण किस प्रकार कह सकते हैं? यदि क्रिया भी गुण है तो गमनादि क्रिया को भी गुण कहना होगा और इसतरह क्रिया का नाम ही समाप्त हो जायगा। और क्रिया का अस्तित्व समाप्त होने से जो क्रियावान हो वह द्रव्य है ऐसा आपके यहां द्रव्य का लक्षण माना है वह अयुक्त सिद्ध होगा।

वैशेषिक—हमारे ग्रन्थ मे अनुमान प्रमाण है कि "अदृष्टं स्वाश्रयसंयुक्ते आश्रयान्तरे कर्मारभते एक द्रव्यत्वे सति क्रिया हेतु गुणत्वात्, प्रयत्नवत्" अदृष्ट-धर्म-अधर्म अपने आश्रयभूत आत्मा मे सयुक्त रहकर आश्रयान्तर में क्रिया को प्रारम्भ करता है, क्योंकि एक द्रव्यत्व रूप होकर क्रिया का हेतु रूपगुण है जैसे प्रयत्न नामा गुण है। अदृष्ट का क्रिया हेतुपना असिद्ध भी नहीं है, अब इसी को सिद्ध करते हैं—अग्निकी ऊपर होकर जलते रहना रूप जो क्रिया है तथा वायु का तिर्यक् बहना तथा अणु और मन की प्रथम क्रिया ये सब देवदत्त के विशेष गुणद्वारा ही कराये गये हैं, क्योंकि कार्य होकर उसी के उपकारक देखे जाते हैं, जैसे हस्त आदि की परिस्पंद रूप क्रिया उसके गुणद्वारा होकर उसी के उपकारक होती है। "एक द्रव्यत्वे सति" यह हेतु का विशेषण असिद्ध भी नहीं है, अब इसको सिद्ध करते हैं—अदृष्ट एक-आत्म द्रव्यरूप है क्योंकि

द्रव्यत्वम्; तथाहि-एकद्रव्यमदृष्टं विशेषगुणत्वाच्छब्दवत्। 'एकद्रव्यगुणत्वात्' इत्युच्यमाने रूपादिभिर्व्यभिचारः, तन्निवृत्यर्थं 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इति विशेषणम्। 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्युच्यमाने हस्तमुसलसंयोगेन स्वाश्रयासंयुक्तस्तम्भादिक्रियाहेतुनानेकांतः, तन्निवृत्यर्थम् 'एकद्रव्यत्वे सति' इति। 'एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुत्वात्' इत्युच्यमाने स्वाश्रयासंयुक्तलोहादिक्रियाहेतुनाऽयस्कान्तेनानेकान्तः तत्परिहारार्थं 'गुणत्वात्' इत्युक्तम्।'

तदेतदप्यविचारितरमणीयम्; अदृष्टस्य गुणत्वप्रतिषेधात्, अतो विशेष्यासिद्धो हेतुः। विशेषणासिद्धश्च; एकद्रव्यत्वाप्रसिद्धेः। तद्धि किमेकस्मिन्द्रव्ये संयुक्तत्वात्, समवायेन वर्त्तमानात्

विशेषगुण स्वरूप है, जैसे शब्द विशेषगुण होने से एक आकाश में ही रहता है। "एक द्रव्यगुणत्वात्" इतना ही हेतु बनाते तो रूप आदि गुणों के साथ व्यभिचार होता, क्योंकि रूपादिक भी एकद्रव्यरूप हैं इसलिये "क्रिया हेतु गुणत्वात्" विशेषण जोड़ा है। क्रिया हेतु गुणत्वात् इतना हेतु प्रयुक्त होता तो हाथ और मूसल के संयोग द्वारा अपने आश्रय में जो संयुक्त नहीं है ऐसी स्तम्भादि पदार्थको तोड़नेवाली क्रिया होती है उसके साथ अनेकांत आता उस दोष को दूर करने के लिये "एक द्रव्यत्वे सति" ऐसा विशेषण दिया है, अर्थात् हाथ और मूसल ये दो द्रव्य हैं, एक नहीं है, अतः इनसे जो असंयुक्त है उस स्तम्भादि में भी क्रिया हो जाती है अर्थात् मूसल से धान्य कूटते समय दूरस्थ स्तम्भादिका पतन हो सकता है, किन्तु एक द्रव्य में ऐसा नहीं होता वहां तो अपने आश्रय में संयुक्त होवे तभी क्रिया होती है। 'एक द्रव्यत्वे सति क्रिया हेतुत्वात्" ऐसा हेतु वचन होता तो अपने आश्रय से असंयुक्त-दूर रहनेवाला जो लोह आदि पदार्थ उस पदार्थ में क्रिया का हेतु बननेवाले चुम्बक पाषाण के साथ अनेकांत आता है, उसका परिहार करने के लिये "गुणत्वात्" यह वचन जोड़ा है, इसतरह "एक द्रव्यत्वे सति क्रिया हेतु गुणत्वात्" यह निर्दोष हेतु आश्रयान्तर में क्रिया करना रूप साध्य को सिद्ध करता है। और उसके सिद्ध होने पर आत्मा का सर्वव्यापकत्व सिद्ध होता है।

जैन—यह कथन बिना सोचे किया गया है, हम जैन ने पहले ही असिद्ध कर दिया है कि अदृष्ट गुण नहीं हो सकता, अतः यह हेतु विशेष्यासिद्ध है। इस हेतु का विशेषण भी असिद्ध है, एक द्रव्यत्वे सति-एक द्रव्य रूप होना अदृष्ट में दिखायी नहीं देता, आप अदृष्ट को एक द्रव्यरूप क्यों मानते हैं? एक द्रव्य में संयुक्त होने से अदृष्ट को एक द्रव्यरूप माना है, अथवा समवाय से एक द्रव्य में रहने के कारण, या अन्य

अन्यतो वा स्यात् ? न तावत्संयुक्तत्वात्; संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रयत्वात्, अदृष्टस्य चाद्रव्यत्वात् । अन्यथा गुणवत्त्वेनास्य द्रव्यत्वानुषंगात् 'क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्येतद्विघटते । समवायेन वर्त्तनं च समवाये सिद्धे सिद्धयेत्, स चासिद्ध:, अग्रे निषेधात् । तृतीयपक्षस्त्वनभ्युपगमादेव न युक्तः ।

क्रियाहेतुत्वं चास्याऽनुपपन्नम् । तथा हि-देवदत्तशरीरसयुक्तात्मप्रदेशे वर्त्तमानमदृष्टं द्वीपांतरवर्तिषु मणिमुक्ताफलप्रवालादिषु देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवत्सु क्रियाहेतुः, उत द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्यसंयुक्तात्मप्रदेशे, किं वा सर्वत्र ? तत्राद्यपक्षस्यानभ्युपगम एव श्रेयान्, अतिव्यवहितत्वेन द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्यैस्तस्यानभिसम्बन्धेन तत्र क्रियाहेतुत्वायोगात् । ननु स्वाश्रयसंयोगसम्बन्धसम्भवात्तैषामनभिसंबंधोऽसिद्धः,

---

किसी कारण से ? प्रथम विकल्प-एक द्रव्य मे संयुक्त होने के कारण अदृष्ट को एक द्रव्यरूप मानते हैं ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि संयोग गुणरूप होने से द्रव्य के आश्रय में रहता है और आपका अदृष्ट तो अद्रव्य है । यदि इसे द्रव्यरूप मानेंगे तो गुणवान कहलायेगा जब वह गुणवाला द्रव्य है तब उसे "क्रियाहेतुगुणत्वात्" क्रिया का हेतु रूप गुण है ऐसा नहीं कह सकते । समवाय से एक द्रव्य में रहना एक द्रव्यत्व है ऐसा द्वितीय पक्ष भी गलत है, यह पक्ष तो समवाय नामा पदार्थ के सिद्ध होने पर सिद्ध होगा, किंतु समवाय असिद्ध है, आगे उसका खण्डन होनेवाला है । तीसरा पक्ष-संयोग और समवाय से भिन्न अन्य किसी कारण से अदृष्ट में एक द्रव्यपना है ऐसा कहना भी शक्य नहीं, क्योंकि संयोग और समवाय का छोड़कर तीसरा सम्बन्ध आपने माना नहीं ।

आपने अदृष्ट में क्रियाहेतुत्व सिद्ध करने का प्रयास किया है किन्तु वह असिद्ध है अदृष्ट क्रिया को करता है या क्रिया का कारण है ऐसा आप मानते हैं सो देवदत्त के शरीर में स्थित जो आत्मप्रदेश हैं उनमें रहने वाला अदृष्ट द्वीपांतर में होने वाले मणि, मोती, रत्न, प्रवालों को देवदत्त के प्रति उत्कर्षित [खीचकर लाने में] करने में हेतु होता है, अथवा जो अदृष्ट उसी अन्य द्वीपांतरवर्त्ती द्रव्य में रहनेवाले आत्म प्रदेशों में स्थित है वह देवदत्त के प्रति उन मणि आदि को उत्कर्षित करने में हेतु होता है ? या कि सर्वत्र रहनेवाले आत्म प्रदेशों का अदृष्ट उस क्रिया का हेतु होता है ? प्रथम पक्ष तो स्वीकार नहीं करना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि द्वीपांतर में होनेवाले द्रव्य अति दूर होने के कारण अदृष्ट से सम्बन्धित नहीं है अतः वहां क्रिया का हेतु नहीं हो सकता ।

वैशेषिक—अपने आश्रयभूत आत्मा के साथ उन मणि आदि का संयोग संबंध

अमुमेव ह्यात्मानमाश्रित्यादृष्टं वर्त्तते, तेन संयुक्तानि सर्वाण्यप्याकृष्यमाणद्रव्याणि; इत्यप्ययुक्तम्; तस्य सर्वत्राविशेषेण सर्वस्याकर्षणानुषंगात् । अथ यददृष्टेन यज्जन्यते तददृष्टेन तदेवाकृष्यते न सर्वम्; तर्हि देवदत्तशरीरारम्भकाणां परमाणूनां नित्यत्वेन तददृष्टाजन्यत्वात् कथं तददृष्टेनाकर्षणम् ? तथाप्याकर्षणेऽतिप्रसंगः । तन्नाद्यः पक्षो युक्तः ।

नापि द्वितीयः; तथाहि–यथा वायुः स्वयं देवदत्तं प्रत्युपसर्पणवानन्येषां तृणादीनां तं प्रत्युपसर्पणहेतुस्तथाऽदृष्टमपि तं प्रत्युपसर्पत्स्वयमन्येषां तं प्रत्युपसर्पतां हेतुः, द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्यसंयुक्तात्म-

---

रहता है, अतः वे मणि आदिक अतिदूर हैं अदृष्ट से संबंधित नहीं हैं ऐसा कहना असिद्ध है, बात यह है कि–इसी एक आत्मा का आश्रय लेकर अदृष्ट रहता है और उस व्यापक आत्मा में स्थित अदृष्ट द्वारा आकृष्यमाण सब द्रव्य [मणि मुक्तादि] संयुक्त हैं अतः उक्त क्रिया संभव है ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, जब आत्मा सर्वत्र समान रूप से मौजूद है तब अदृष्ट अमुक रत्नमणि आदि को ही आकर्षित करता है ऐसा सिद्ध नहीं होता है, वह तो सभी मणि आदि को आकर्षित कर सकता है ।

वैशेषिक—जिस अदृष्ट से जो मणि आदि पैदा होते है वह अदृष्ट उन्हीं मणि आदि को आकर्षित करता है सबको नहीं ?

जैन—तो फिर देवदत्त के शरीर को बनाने वाले परमाणु नित्य होने से अदृष्ट द्वारा अजन्य हैं अतः वे अदृष्ट द्वारा किस प्रकार आकर्षित हो सकते हैं ? यदि अदृष्ट जन्य नहीं होकर भी आकर्षित होते हैं तो जैसे परमाणु आकर्षित हुए वैसे मणि आदिक भी आकर्षित होने का अतिप्रसंग आता है, अतः प्रथम पक्ष—देवदत्त के शरीर के आत्मप्रदेशों में स्थित अदृष्ट द्वीपांतर के मणि आदि को आकर्षित करता है ऐसा कहना सिद्ध नहीं हुआ ।

दूसरा पक्ष—जो आत्मप्रदेश देवदत्त के शरीर में संयुक्त नहीं है द्वीपांतर के द्रव्य में संयुक्त हैं, उन आत्मप्रदेशों के अदृष्ट द्वारा द्वीपांतर के मणि मुक्ता देवदत्त के प्रति आकर्षित होते हैं, ऐसा कहना भी सिद्ध नहीं होता, अब उसी का विचार करते हैं—जैसे वायु स्वयं देवदत्त के प्रति बहकर आती हुई अन्य तृण आदि पदार्थों को उसके प्रति आकर्षित करने में हेतु है, वैसे देवदत्त का द्वीपांतर जो अदृष्ट है वह स्वयं

प्रदेशस्थमेव वा ? प्रथमपक्षे स्वयमेवादृष्टं तं प्रत्युपसर्पति, अदृष्टान्तराद्वा ? स्वयमेवास्य तं प्रत्युपसर्पणे द्वीपान्तरवर्तिद्रव्याणामपि तथैव तत् इत्यदृष्टपरिकल्पनमनर्थकम् । 'यद्देवदत्तं प्रत्युपसर्पति तद्देवदत्त-गुणाकृष्टं तं प्रत्युपसर्पणात्' इति हेतुश्चानैकान्तिकः स्यात् । वायुवच्चादृष्टस्य सक्रियत्वम् गुणत्वं बाधेत । शब्दवच्चापरापरस्योत्पत्तौ अपरमदृष्टं निमित्तकारणं वाच्यम्, तत्राप्यपरमित्यनवस्था । अन्यथा शब्देऽप्यदृष्टस्य निमित्तत्वकल्पना न स्यात् । अदृष्टान्तरात्तस्य तं प्रत्युपसर्पणे तदप्यदृष्टान्तरं तं प्रत्युपसर्पत्यदृष्टान्तरात्तदपि तदन्तरादिति तदवस्थमनवस्थानम् ।

देवदत्त के प्रति आता हुआ मणि मुक्ता आदि को उसके प्रति आकर्षित करने में कारण बनता है, याकि द्वीपांतर में स्थित जो देवदत्त के आत्मप्रदेश हैं उनमें स्वयं तो स्थित रहता है और केवल मणि आदि को देवदत्त के पास पहुंचाने में कारण बनता है ? प्रथम पक्ष कहो तो उक्त अदृष्ट देवदत्त के प्रति–स्वयं आता है अथवा अन्य किसी अदृष्ट के निमित्त से आता है ? यदि स्वयमेव आ जाता है तो द्वीपांतर के मणि मुक्ता आदि भी स्वयं ही देवदत्त के पास आ जायेंगे । फिर तो अदृष्ट की कल्पना करना व्यर्थ है और अदृष्ट की कल्पना व्यर्थ होने से जो देवदत्त के पास आता है वह देवदत्त के गुण से आकृष्ट है क्योंकि उसके प्रति गमन कर आता है, ऐसा हेतु अनेकान्तिक होता है । तथा वायु नामा पदार्थ द्रव्य है अतः वह क्रियाशील हो सकता है, किन्तु आपके मतानुसार अदृष्ट द्रव्य नहीं, गुण है अतः उसको सक्रिय कहना बाधित होता है । वैशेषिक यदि शब्द के समान अदृष्ट को मानेगे अर्थात् जिस तरह शब्द से अपर अपर शब्द की उत्पत्ति होती जाती है और अंतिम शब्द श्रोता के कर्ण तक पहुंच जाता है, उसी तरह द्वीपांतर का जो अदृष्ट है उससे अपर अपर अदृष्ट की उत्पत्ति होती जाती है और अंतिम अदृष्ट देवदत्त तक पहुंच जाता है ऐसा माने तो अदृष्ट से अदृष्ट की उत्पत्ति होने में निमित्त कारण बताना होगा । यदि इसतरह की उत्पत्ति मे अन्य अदृष्ट निमित्त होता है तो अनवस्था आती है । अदृष्ट से अदृष्ट उत्पन्न होने में अन्य अदृष्टादि निमित्त की आवश्यकता नही होने से अनवस्था नहीं आयेगी ऐसा कहो तो शब्द से शब्द उत्पन्न होने में अदृष्ट रूप निमित्त की आवश्यकता भी नही माननी होगी । [किंतु वैशेषिक ने वहां उक्त निमित्त की कल्पना की है] अदृष्टान्तर से उक्त अदृष्ट देवदत्त के प्रति उत्सर्पित होता है ऐसा माने तो अदृष्टांतर भी किसी अन्य अदृष्ट को प्रेरित करेगा और वह तीसरा भी किसी अन्य को इसतरह अनवस्था दूषण तदवस्थ रहता है ।

अथ द्वीपान्तरवर्त्तिद्रव्यसंयुक्तात्मप्रदेशस्थमेव तत्तेषां तं प्रत्युपसर्पणहेतुः; न; अन्यत्र प्रयत्नादावात्मगुणे तथानभ्युपगमात् । न खलु प्रयत्नो ग्रासादिसंयुक्तात्मप्रदेशस्थ एव हस्तादिसञ्चलनहेतुर्ग्रासादिकं देवदत्तमुखं प्रापयति, अन्तरालप्रयत्नवैफल्यप्रसंगात् ।

ननु प्रयत्नस्य विचित्रतोपलभ्यते, कश्चिद्धि प्रयत्नः स्वयमपरापरदेशवानन्यत्र क्रियाहेतुर्यथानन्तरोदितः। अन्यश्चान्यथा यथा शरासनाध्यासपदसंयुक्तात्मप्रदेशस्थ एव शरीरा(शरा) दीनां लक्ष्यप्रदेशप्राप्तिक्रियाहेतुरिति । सेयं चित्रता एकद्रव्याणां क्रियाहेतुगुणानां स्वाश्रयसयुक्तासंयुक्तद्रव्यक्रियाहेतुत्वेन किन्नेष्यते विचित्रशक्तित्वाद्भावानाम् ? दृश्यते हि भ्रामकाख्यस्यायस्कान्तस्य स्पर्शो गुण

द्वीपांतर में होने वाले मणि आदि पदार्थों से संयुक्त आत्मप्रदेशस्थ अदृष्ट देवदत्त के पास उन मणि रत्नादिको भेजने में निमित्त होता है ऐसा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि आपने प्रयत्न आदि गुणों को छोड़कर अन्य किसी आत्मा के गुणों में इस तरह की क्रिया करने में निमित्त होना माना नहीं है । तथा प्रयत्न नामका गुण ग्रासादि से संयुक्त आत्मप्रदेश में स्थित हुआ ही हस्तादि के संचलन का हेतु है और वही देवदत्त के मुख में ग्रासादि को प्राप्त कराता है ऐसा नही कह सकते अन्यथा अंतरालवर्ती प्रयत्न व्यर्थ होने का प्रसंग आता है ।

वैशेषिक—प्रयत्न विचित्र प्रकार के हुआ करते हैं, कोई प्रयत्न तो स्वयं अन्य अन्य प्रदेशवान होकर अन्यत्र क्रिया का निमित्त पड़ता है जैसे कि अभी ग्रासादिमें प्रयत्न होना बतलाया है, तथा कोई प्रयत्न अन्य प्रकार का होता है, जैसे धनुष पर स्थित जो हाथ है उसमें जो आत्मप्रदेश हैं उनमें होनेवाला जो प्रयत्न है वह वहीं रहकर बाणादि को लक्ष्य प्रदेश तक प्राप्त कराने में निमित्त पड़ता है ।

जैन—ठीक है ऐसी ही विचित्रता एक द्रव्यभूत क्रिया के हेतुरूप गुण जो अदृष्ट हैं उनमें क्यों न मानी जाती । अर्थात् उक्त अदृष्ट स्वआश्रय में संयुक्त द्रव्य के और असंयुक्त द्रव्य के दोनों के क्रिया का हेतु क्यों नहीं माने, पदार्थों के शक्तियों के वैचित्र्य देखा ही जाता है । क्योंकि देखा जाता है कि भ्रामक नामके चुंबक पाषाण का स्पर्श गुण एक द्रव्य रूप होकर अपने आश्रय में संयुक्त लोह द्रव्य के क्रिया का हेतु होता है [लोह को पकड़ता है] और एक आकर्षक नामका चुम्बक पाषाण होता है वह अपने आश्रय में संयुक्त नहीं हुए लोह द्रव्य के क्रिया का हेतु होता है । भावार्थ यह

एकद्रव्यः स्वाश्रयसंयुक्तलोहद्रव्यक्रियाहेतुः, आकर्षकाख्यस्य तु स्वाश्रयासंयुक्तलोहद्रव्यक्रियाहेतुरिति ।

अथात्र द्रव्यं क्रियाहेतुर्न स्पर्शादिगुणः; कुत एतत् ? द्रव्यरहितस्यास्य तद्धेतुत्वादर्शनाच्चेत्; तर्हि वेगस्य क्रियाहेतुत्वं क्रियायाश्च संयोगहेतुत्वं संयोगस्य च द्रव्यहेतुत्वं न स्यात्, किन्तु द्रव्यमेवात्रापि तत्कारणम् । ननु द्रव्यस्य तत्कारणत्वे वेगादिरहितस्यापि तत्स्यात्; तर्हि स्पर्शस्य तदकारणत्वे

है कि शक्ति की विचित्रता से चुंबक के दो भेद हो जाते हैं एक भ्रामक चुम्बक और एक आकर्षक चुम्बक । भ्रामक चुंबक अपने में स्पर्शित हुए लोह में क्रिया कराता है [अपने मे चिपकाकर घुमाता है] और आकर्षक चुंबक अपने को नहीं छुये हुए लोह को दूर से आकर्षित करता है, जैसे चुंबक दो शक्ति द्वारा दो तरह की क्रिया का हेतु बनता है वैसे प्रयत्न या अदृष्ट नामा गुण भी दो प्रकार की क्रिया—संयुक्त द्रव्य को आकर्षित करना और असयुक्त–दूरवर्ती द्रव्य को आकर्षित करना ऐसी दो क्रिया के हेतु होते है इस तरह मानना होगा ।

वैशेषिक—चुम्बक की वात कही सो उसमें चुम्बक द्रव्य ही उस क्रिया का निमित्त है, न कि उसके स्पर्शादि गुण निमित्त हैं ?

जैन—द्रव्य क्रिया का निमित्त होता है गुण नहीं यह किससे ज्ञात हुआ ? द्रव्य रहित स्पर्शादिगुण क्रिया के निमित्त होते हुए देखे नहीं जाते इसलिये द्रव्य को क्रिया का निमित्त माना है ऐसा कहो तो वेग नामका गुण क्रिया का निमित्त है क्रिया संयोग का निमित्त एवं संयोग द्रव्य का निमित्त है ऐसा सिद्ध नहीं होगा । अपितु क्रिया, संयोग तथा द्रव्य में केवल द्रव्य ही निमित्त है ऐसा सिद्ध होगा । अभिप्राय यह है कि वैशेषिक ने कहा कि स्पर्शादिगुण को क्रिया का हेतु न मानकर द्रव्य को क्रिया का हेतु मानना चाहिए, किंतु यह बात आपके ही सिद्धांत से विरुद्ध पड़ेगी क्योंकि आपके यहां केवल द्रव्य को क्रिया का निमित्त नहीं माना अपितु वेग आदि गुण को भी क्रिया का निमित्त माना है ।

वैशेषिक—यदि केवल द्रव्यको क्रियाका कारण माने तो वेग गुण रहित द्रव्य के भी क्रिया हो जाती ?

तद्रहितस्यैवायस्कान्तादेस्तद्धेतुत्वं किन्न स्यात् ? तथाविधस्यास्यादर्शनान्नेति चेत्; तर्हि लोहद्रव्य-क्रियोत्पत्तावुभयं दृश्यते उभयं कारणमस्तु विशेषाभावात् । तथा च 'एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात्' इत्यस्यानेकान्तः ।

सर्वत्र चादृष्टस्य वृत्तौ सर्वद्रव्यक्रियाहेतुत्वं स्यात् । 'यददृष्टं यद्द्रव्यमुत्पादयति तददृष्टं तत्रैव क्रियां करोति' इत्यत्रापि शरीरारम्भकाणुषु क्रिया न स्यादित्युक्तम् । अदृष्टस्य चाश्रय आत्मा, स च

जैन— तो फिर चुंबक के विषय में भी स्पर्शगुण को आकर्षण क्रिया का निमित्त न मानकर केवल चुम्बक द्रव्य को माना जाय तो स्पर्शगुण रहित चुम्बकादिक क्रिया के निमित्त है ऐसा मानना होगा ।

वैशेषिक—स्पर्श रहित चुंबक आकर्षण क्रिया को करते हुए नहीं देखे जाते अतः ऐसा नहीं माना है ।

जैन—तो फिर लोह द्रव्य की क्रिया होने में स्पर्शगुण और चुम्बक द्रव्य दोनों कारण दिखाई देते हैं अतः दोनों को कारण मानना चाहिए कोई विशेषता नहीं है । इस तरह दोनो को कारण स्वीकार करने पर तो "एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुगुणत्वात्" हेतु अनैकान्तिक ठहरता है । क्योंकि उस हेतु वाले अनुमान में क्रिया का हेतु गुण को बतलाया है और यहा द्रव्य तथा गुण दोनों को क्रिया का हेतु मान लिया है ।

देवदत्त का अदृष्ट द्वीपांतर के मणि आदि को आकर्षित करता है ऐसा सिद्ध करने के लिये वैशेषिक ने अनुमान दिया था उसमें कौनसा अदृष्ट मणि आदि को आकर्षित करता है यह प्रश्न होकर तीन पक्षों से विचार करना प्रारम्भ किया था उनमें से दो पक्ष देवदत्त के शरीर के आत्मप्रदेशस्थ अदृष्ट आकर्षण करता है, और द्वीपांतर स्थित आत्मप्रदेश का अदृष्ट आकर्षण करता है ये तो खण्डित हो चुके, अब तीसरा पक्ष सर्वत्र रहने वाले आत्मप्रदेशों का अदृष्ट द्वीपांतरस्थ मणि आदि का आकर्षण करता है ऐसा मानना भी गलत है, क्योंकि इस तरह की मान्यता से सब जगह के मणि आदि पदार्थों को आकर्षित करने का प्रसंग आता है ।

शंका—जो अदृष्ट जिस द्रव्य का निर्माण करता है वह अदृष्ट उसी द्रव्य में क्रिया को करता है ?

हर्षविषादाद्यनेकविवर्तात्मको द्वीपान्तरवर्तिद्रव्यैर्वियुक्तमेवात्मानं स्वसंवेदनप्रत्यक्षतः प्रतिपद्यते इति प्रत्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टो हेतुः। तद्वियुक्तत्वेनाऽऽत्मनस्तत्प्रतीतावप्यात्मनस्तद्द्रव्यैः संयोगाभ्युपगमे पटादीनां मेर्वादिभिस्तेषां वा पटादिभिः संयोगः किन्नेष्यते यतः साङ्ख्यदर्शनं न स्यात् ? प्रमाणबाधनमुभयत्र समानम्।

किञ्च, धर्माधर्मयोर्द्रव्यान्तरसंयोगस्य चात्मैक आश्रयः, स च भवन्मते निरंशः। तथा च धर्माधर्माभ्यां सर्वात्मनास्यालिङ्गिततनुत्वान्न तत्संयोगस्य तत्रावकाशस्तेन वा न तयोरिति। अथ

समाधान—इस विषय में भी कह चुके हैं, अर्थात्—जो जिसको निर्माण करता है वही उसी में हो क्रिया का हेतु होता है ऐसा कहना शरीर के आरम्भक परमाणुओं से व्यभिचरित–बाधित होता है, क्योंकि शरीर के आरम्भक परमाणु अदृष्ट से निर्मित नहीं हैं फिर भी अदृष्ट द्वारा आकर्षित होते हैं। तथा दूसरी बात यह है कि अदृष्ट का आश्रय आत्मा है और वह आत्मा हर्ष-विषाद आदि पर्याय युक्त है, ऐसा आत्मा द्वीप द्वीपांतरवर्त्ती पदार्थों से पृथक् रूप अपने आपको स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा अनुभव में आता है, अतः आत्मा को सर्वत्र व्यापक मानना प्रत्यक्ष बाधित है ऐसे प्रत्यक्ष बाधित पक्ष को जो सिद्ध करता है वह हेतु कालात्ययापदिष्ट कहलाता है। द्वीपांतरवर्त्ती पदार्थों से आत्मा पृथक् रूप से प्रतीत होता है तो भी उसका उन द्रव्यों के साथ संयोग है ऐसा माने तो वस्त्र, गृह, चटाई आदि पदार्थों का मेरु आदि के साथ संयोग होना या मेरु कुलाचल, नदी आदि के साथ उन वस्त्रादिका संयोग होना भी क्यों न माना जाय ? क्योंकि पृथक् पदार्थों का भी संयोग मान लिया। और इसतरह सब जगह सब पदार्थ हैं, सब जगह आत्मा है इत्यादि माने तो सांख्य मत कैसे नहीं आवेगा ? प्रमाण बाधा उभयत्र समान है अर्थात् जैसे पट आदि पदार्थों का मेरु आदि के साथ संयोग मानने में प्रमाण से बाधा आती है वैसे द्वीपांतरवर्त्ती पदार्थों के साथ आत्मा का संयोग मानने में प्रमाण से बाधा आती है।

किञ्च, धर्म और अधर्म का एवं द्वीपांतरस्थ द्रव्य संयोग का आश्रय एक आत्मा है और आत्मा आपके मतमे निरंश है, सो निरंश आत्मा में धर्मादिका और द्रव्य संयोग का आश्रितपना कैसे बन सकता है, यदि धर्म अधर्म द्वारा सब तरफ से आत्मा व्याप्त होगा तो उसमें द्रव्य संयोग का अवकाश नहीं हो सकेगा और यदि द्रव्य

धर्माधर्मालिङ्गिततत्स्वरूपपरिहारेण तत्संयोगस्तत्स्वरूपान्तरे वर्त्तते; तर्हि घटादिवदात्मन: सावयवत्वं स्वारम्भकावयवारभ्यत्वमनित्यत्वं च स्यात् ।

एतेनैतन्निरस्तम्–'देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्त: पश्वादयो देवदत्तगुणाकृष्टास्तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वाद्ग्रासादिवत्' इति । यथैव हि तद्विशेषगुणेन प्रयत्नाख्येन समाकृष्टास्तं प्रत्युपसर्पन्त: समुपलभ्यन्ते ग्रासादय:, तथा नयनाञ्जनादिना द्रव्यविशेषेणाप्याकृष्टा: स्त्र्यादयस्तं प्रत्युपसर्पन्त. समुपलभ्यन्ते एव अत: 'किं

संयोग द्वारा आत्मा व्याप्त होगा तो धर्म अधर्म का अवकाश नहीं होगा । [क्योंकि आत्मा में अंश नहीं है]

वैशेषिक—धर्म अधर्म से व्याप्त जो आत्मा का स्वरूप है उसका परिहार करके द्रव्य संयोग उस आत्मा के स्वरूपांतर में रहता है अत: कोई दोष नही आता ?

जैन—तो फिर घट पट आदि के समान आत्मा भी अंश वाला–अवयव वाला सिद्ध होगा और यदि अवयव युक्त है तो अपने अवयवों के आरंभक परमाणुओं से रचा होने से अनित्य भी सिद्ध होगा । अर्थात् आत्मा को सावयव एवं अनित्य मानना होगा जो कि वैशेषिक को अनिष्ट है ।

जिसतरह देवदत्त के प्रति द्वीपांतरवर्त्ती पदार्थों को आकर्षित करने का अनुमान खडित होता है उसी तरह पशु आदि को देवदत्त के प्रति आकर्षित करने का अनुमान प्रमाण खंडित होता है, अब उसी अनुमान के विषय में विचार करते हैं— देवदत्त के पास आते हुए पशु आदि देवदत्त के गुणों से आकृष्ट हैं क्योंकि वे उसके प्रति उत्सर्पणशील हैं, जैसे ग्रास आदिक आते हैं । इस अनुमान में यह सिद्ध करना है कि देवदत्त के पास गाय भैंसादि पशु आते हैं वे देवदत्त के अदृष्ट नामा गुण के कारण आते हैं, किंतु यह सिद्ध नही होता । क्योंकि जिसप्रकार देवदत्त के प्रयत्न नामा विशेष गुण से आकृष्ट होकर ग्रासादिक देवदत्त के निकट आते हुए देखे जाते हैं उसीप्रकार नेत्र के अंजन आदि द्रव्य द्वारा भो स्त्री आदि आकृष्ट होकर देवदत्त के पास आते हुए देखे जाते हैं, अर्थात् गुण द्वारा देवदत्त के पास पदार्थ आते हैं और द्रव्य जो अंजनादिक है उसके द्वारा भी पदार्थ का देवदत्त के प्रति आकृष्ट होना सिद्ध होता है, अत: सदेह हो जाता है कि प्रयत्न के समान किसी गुण द्वारा आकृष्ट होकर ये पशु आदिक देवदत्त

प्रयत्नसधर्मणा केनचिदाकृष्टाः पश्वादयः किं वाञ्जनादिसधर्मणा' इति सन्देहः। शक्यं हि परेणाप्येवं वक्तुम्–विवादापन्नाः पश्वादयोऽञ्जनादिसधर्मणा समाकृष्टास्तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात् स्त्र्यादिवत्। अथ तदभावेपि प्रयत्नादपि तद्दृष्टेरनेकान्तः; तर्हि प्रयत्नसधर्मणो गुणस्याभावेप्यंजनादेरपि तद्दृष्टेर्भवदीयहेतोरप्यनैकान्तिकत्वं स्यात्। अत्रानुमीयमानस्य प्रयत्नसधर्मणो हेतुत्वादव्यभिचारे अन्यत्राप्यंजनादिसधर्मणोनुमीयमानस्य हेतुत्वादव्यभिचारः स्यात्। तत्र प्रयत्नस्यैव सामर्थ्यादस्य वैफल्ये अत्राप्यञ्जनादेरेव सामर्थ्यात्तद्वैफल्यं किं न स्यात्? अथांजनादेरेव तद्धेतुत्वे सर्वस्य तद्वतः स्त्र्याद्याकर्षणं स्यात्,

---

के पास आये हैं अथवा अंजन समान किसी द्रव्य विशेष के द्वारा आये हैं? इसतरह संदेह का स्थान होने से पर जो हम जैन हैं वे आप वैशेषिक के प्रति अनुमान उपस्थित कर सकते हैं कि—विवाद में स्थित ये पशु आदि पदार्थ अंजन सदृश किसी वस्तु द्वारा समाकृष्ट होते हैं, क्योंकि उस देवदत्त के प्रति उत्सर्पणशील है, जैसे स्त्री आदि।

वैशेषिक—अंजनादि के सदृश द्रव्य विशेष का अभाव होने पर भी प्रयत्न गुण से भी ग्रासादि पदार्थ देवदत्त के पास आकृष्ट हुए देखे जाते हैं, अतः अंजन सदृश द्रव्य द्वारा पशु आदिक आकृष्ट होते है ऐसा कहना अनैकान्तिक होता है?

जैन–तो फिर प्रयत्न सदृश गुण के अभाव होने पर भी अंजन आदि द्रव्य द्वारा भी स्त्री आदि पदार्थ का आकृष्ट होना देखा जाता है, अतः आपका हेतु भी अनैकान्तिक होता है।

वैशेषिक—पशु या ग्रास आदि के आकृष्ट होने मे अनुमीयमान प्रयत्न सदृश को हेतु बनाया है अतः व्यभिचार दोष नहीं होगा।

जैन—तो फिर स्त्री आदि के आकृष्ट होने मे अनुमीयमान अंजन आदि द्रव्य सदृश को हेतु बनाया है अतः व्यभिचार नहीं आता ऐसा मानना चाहिए।

वैशेषिक—ग्रास आदि के आकर्षित करने में प्रयत्न गुण की हो सामर्थ्य देखी जाती है अतः अन्य अंजनादि द्रव्य की कल्पना करना व्यर्थ है?

जैन—इसीतरह स्त्री आदि के आकर्षित करने में अंजनादि द्रव्य की ही सामर्थ्य है अतः उसमें अदृष्टादि गुण को कारण मानना व्यर्थ है ऐसा क्यों न कहा जाय?

न चांजनादौ सत्यप्यविशिष्टे तद्वतः सर्वान्प्रति स्त्र्याद्याकर्षणम्, ततोऽवसीयते तदविशेषेपि यद्वैकल्यात्तन्न स्यात्तदपि तत्कारणं नांजनादिमात्रम्; इत्यप्यपेशलम्; प्रयत्नकारणेपि समानत्वात्। न खलु सर्वं प्रयत्नवन्तं प्रति ग्रासादयः समुपसर्पन्ति तदपहारादिदर्शनात्। ततोऽत्राप्यन्यत्कारणमनुमीयताम्, अन्यथा न प्रकृतेप्यविशेषात्।

अञ्जनादेश्च स्त्र्याद्याकर्षणं प्रत्यकारणत्वे घटादिवत्तदर्थिनां तदुपादानं न स्यात्। उपादाने वा सिकतासमूहात्तैलवन्न कदाचित्ततस्तत्स्यात्। न च दृष्टसामर्थ्यस्यांजनादेः कारणत्वपरिहारेणा-

---

वैशेषिक—स्त्री आदि को आकृष्ट करने के लिये मात्र अंजनादि को कारण माना जाय तो अंजनादि युक्त सभी पुरुषों के स्त्री आदि का आकर्षण होता। किन्तु ऐसा नहीं है, अजनादि कारण समान रूप से होते हुए भी अंजनधारी सभी पुरुषों के प्रति स्त्री आदि का आकर्षण नही देखा जाता, अतः निश्चय होता है कि अन्जनादि साधारण कारण समान रूप से मौजूद होते हुए भी जिसके नहीं रहने से स्त्री आदि का आकर्षण नही हुआ वह भी आकर्षण का कारण [अदृष्ट] है, मात्र अन्जनादि नही ?

जैन—यह कथन असुन्दर है, प्रयत्न रूप कारण के विषय में भी इस तरह कह सकते हैं, सभी प्रयत्नशील व्यक्ति के प्रति ग्रासादिक निकट नहीं आते, बीच में भी उनका अपहरण देखा जाता है, अतः ग्रासादि के आकर्षण का कारण प्रयत्न मात्र न होकर अन्य भी है ऐसा अनुमान करना होगा यदि ऐसी बात इष्ट नहीं है तो अंजनादि द्रव्य रूप कारण में दूसरे अदृष्ट आदि कारण का अनुमान नहीं करना चाहिये उभयत्र कोई विशेषता नहीं है।

दूसरी बात यह है कि स्त्री आदि को अपने प्रति आकर्षित करने के लिये अंजनादिद्रव्य कारण नहीं होते तो स्त्री आदि के इच्छुक पुरुष अंजनादि का ग्रहण नहीं करते, घटादि के समान अर्थात् जैसे घटादि के इच्छुक पुरुष घटादि की प्राप्ति के लिये अंजनादिका प्रयोग नहीं करता है, वैसे स्त्री को आकर्षित करने के लिये भी उसका उपयोग नहीं करते अथवा यदि अंजनादिको ग्रहण करने पर भी उससे स्त्री का आकर्षण कभी भी नहीं होना चाहिए जैसे–बालु की राशि से कभी भी तेल नहीं निकलता है। साक्षात् जिस अंजनादिकी सामर्थ्य स्त्री आकर्षण में देखी जाती है उसको कारण नहीं

न्यकारणत्वकल्पने भवतोऽनवस्थातो मुक्तिः स्यात् । अथांजनादिकमदृष्टसहकारि तत्कारणं न केवलम्; हन्तैवं सिद्धमदृष्टवदञ्जनादेरपि तत्कारणत्वम् । ततः सन्देह एव-'किं ग्रासादिवत्प्रयत्नसधर्मणाकृष्टाः पश्वादयः किं वा स्त्र्यादिवदञ्जनादिसधर्मणा तत्संयुक्तेन द्रव्येण' इति । परिस्पन्दमानात्मप्रदेशव्यतिरेकेण ग्रासाद्याकर्षणहेतोः प्रयत्नस्यापि तद्विशेषगुणस्य परं प्रत्यसिद्धेः साध्यविकलता दृष्टान्तस्य ।

यच्चोक्तम्-'देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः' इति; तत्र देवदत्तशब्दवाच्यः कोऽर्थः-शरीरम्, आत्मा, तत्संयोगो वा, आत्मसंयोगविशिष्टं शरीर वा, शरीरसंयोगविशिष्ट आत्मा वा, शरीरसंयुक्त आत्मप्रदेशो

माने और अन्य किसी कारण की कल्पना करे तो आप वैशेषिक के अनवस्था दोष से छुटकारा नहीं होवेगा । अर्थात् अंजन साक्षात् कारण दिखाई देता है तो भी दूसरे कारण की कल्पना करते हैं तो उसके आगे अन्य कारण की कल्पना भी संभव है और इस तरह पूर्व पूर्व कारण का परिहार करके अन्य अन्य कारण की कल्पना बढ़ती ही जायगी ।

वैशेषिक—स्त्री आकर्षण में जो अंजनादि कारण देखा जाता है वह अदृष्ट का सहकारी कारण है केवल अंजनमात्र कारण नहीं है ।

जैन—आपने तो अदृष्ट के समान अंजनादिको भी आकर्षित होने का कारण मान लिया ? और इसतरह जब उभय कारण माने तब संदेह होगा कि देवदत्त के प्रति पशु आदिक जो आकृष्ट हुए वे ग्रासादि के समान प्रयत्न सदृश गुण द्वारा आकृष्ट हुए हैं या कि स्त्री आदि के समान नेत्रांजन सदृश द्रव्य से संयुक्त हुए द्रव्य द्वारा आकृष्ट हुए हैं । आप वैशेषिक आत्मा मे प्रयत्न नामा विशेष गुण को मानते हैं किन्तु हम जैन के प्रति यह असिद्ध है, क्योंकि हलन चलन रूप आत्म प्रदेशों की क्रिया को छोड़कर अन्य कोई प्रयत्न नामा गुण नहीं है जो ग्रासादि के आकर्षण का हेतु हो । अतः ग्रासादि का दृष्टांत साध्यविकल है ।

"देवदत्त के पास पशु आदि आते हैं" इस वाक्य में देवदत्त शब्द से कौनसा पदार्थ लेना शरीर या आत्मा, अथवा उसका सयोग, आत्मसंयोग से विशिष्ट शरीर, शरीरसंयोग से विशिष्ट आत्मा अथवा शरीर से संयुक्त आत्मा के प्रदेश । इन छहों

वा ? यदि शरीरम्; तर्हि शरीरं प्रत्युपसर्पणाच्छरीरगुणाकृष्टाः पश्वादय इत्यात्मविशेषगुणाकृष्टत्वे साध्ये शरीरगुणाकृष्टत्वसाधनाद्विरुद्धो हेतुः।

अथात्मा; तस्य समाकृष्यमाणार्थदेशकालाभ्यां सदाभिसम्बन्धान्न तं प्रति किञ्चिदुपसर्पेत्। न ह्यत्यन्ताश्लिष्टकण्ठकामिनी कामुकमुपसर्पति। अन्यदेशो ह्यर्थोऽन्यदेशं प्रत्युपसर्पति, यथा लक्ष्यदेशार्थं प्रति बाणादिः। अन्यकालं वा प्रत्यन्यकालः, यथाकुरं प्रत्यपरापरशक्तिपरिणामलाभेन बीजादिः। न चैतदुभयं नित्यव्यापित्वाभ्यामात्मनि सर्वत्र सर्वदा सन्निहिते सम्भवति, अतो 'देवदत्तं प्रत्युपसर्पन्तः' इति धर्मिविशेषणं 'देवदत्तगुणाकृष्टाः' इति साध्यधर्मः 'तं प्रत्युपसर्पणवत्त्वात्' इति साधनधर्मः परस्य स्वरुचिविरचित एव स्यात्।

विकल्पों में से कौनसा विकल्प इष्ट है ? यदि शरीर देवदत्त शब्द का अर्थ है तो शरीर के प्रति उत्सर्पण होने से पशु आदि शरीर के गुण से आकर्षित हुए हैं। अतः आत्मा के गुण से आकर्षित होनेरूप साध्य में शरीर के गुण से आकर्षित होनेरूप हेतु साध्य से विपरीत होने के कारण विरुद्ध हेत्वाभास होता है।

दूसरा विकल्प—देवदत्त शब्द का वाच्य आत्मा है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं, आत्मा के निकट आकृष्ट होने योग्य कोई पदार्थ अवशेष नहीं है, संपूर्ण देश तथा काल के साथ उसका सदा सम्बन्ध रहने से उसके निकट कोई वस्तु आकर्षित नहीं होगी। जिसके अत्यंत गाढरूप से कामिनी आलिंगन कर रही है उसका कामुक के प्रति आकृष्ट होना क्या अवशेष है ? वह तो आकृष्ट हो है। जो अन्य स्थान पर पदार्थ है वह अन्य स्थान के प्रति जाता है, जैसे बाण पहले धनुष पर था और फिर लक्ष्य के स्थान पर जाता है। अथवा अन्यकाल का पदार्थ अन्यकाल के प्रति पहुंचता है, जैसे अपर अपर शक्ति परिणमन द्वारा बीज अंकुर के प्रति प्राप्त होता है। इसतरह की देश और काल के निमित्त से होनेवाली आकर्षण रूप क्रिया आत्मा के प्रति होना अशक्य है, क्योंकि आत्मा नित्य एवं सर्वगत होने के कारण सब जगह सतत सन्निहित [निकट] ही रहता है। इसलिये "देवदत्त के पास आकृष्ट होते हैं" ऐसा पक्ष का विशेषण और "देवदत्त के गुण के कारण ही आकृष्ट होते हैं" यह साध्य धर्म, एवं "उसके प्रति आकृष्ट होने वाले होने से" यह साधनधर्म ये सबके सब वैशेषिक के स्वकपोल कल्पित मात्र सिद्ध होते हैं।

अथ शरीरात्मसंयोगो देवदत्तशब्दवाच्यः; न; अस्य तच्छब्दवाच्यत्वे त प्रति पश्वाद्युपसर्पणे 'तद्गुणाकृष्टास्ते' इत्यायातम् । न च गुणेषु गुणा सन्ति, निर्गुणत्वात्तेषाम् ।

'आत्मसयोगविशिष्टं शरीरं तच्छब्दवाच्यम्' इत्यत्रापि पूर्ववद्विरुद्धत्व द्रष्टव्यम् ।

'शरीरसंयोगविशिष्ट आत्मा तच्छब्दवाच्यः' इत्यत्रापि प्राक्तन एव दोषः नित्यव्यापित्वेनास्य सर्वत्र सर्वदा सन्निधानानिवारणात् । न खलु घटसयुक्तमाकाश मेर्वादौ न सन्निहितम् ।

अथ शरीरसंयुक्त आत्मप्रदेशस्तच्छब्देनोच्यते; स काल्पनिकः, पारमार्थिको वा ? काल्पनिकत्वे काल्पनिकात्मप्रदेशगुणाकृष्टाः पश्वादयस्तथाभूतात्मप्रदेश प्रत्युपसर्पणवत्त्वादिति तद्गुणानामपि

शरीर और आत्माका सयोग देवदत्त शब्द का वाच्यार्थ है ऐसा तीसरा विकल्प भी ठीक नही है क्योकि वैशेषिक ने संयोग को गुणरूप माना है अतः संयोग को देवदत्त शब्द का वाच्यार्थ मानकर उस संयोग के प्रति पशु आदि का उत्सर्पण स्वीकार करने का अर्थ यह हुआ कि उक्त शरीरात्म संयोगरूप गुण में पशु आदि को आकृष्ट करने का गुण है, किन्तु यह अशक्य है, क्योंकि गुणों मे गुण नहीं होते वे स्वयं निर्गुण रहते है ।

आत्मा के सयोग से विशिष्ट जो शरीर है वह देवदत्त शब्दका अर्थ है ऐसा चौथा विकल्प भी पहले के समान विरुद्ध है ।

शरीर के संयोग से विशिष्ट जो आत्मा है वह देवदत्त शब्दका वाच्य है ऐसा पांचवां विकल्प भी नही बनता इसमे भी वही पूर्वोक्त दोष आता है कि आत्मा नित्य सर्वगत है वह सदा सर्वत्र रहता है, अतः उसके प्रति आकृष्ट होना असंभव है वह तो सर्वदा सभी पदार्थो के सन्निधान में ही है । इसीका उदाहरण देकर खुलासा करते हैं कि घट से संयुक्त आकाश है वह मेरु आदि दूरवर्त्ती पदार्थो के निकट नही हो सो बात नहीं, क्योंकि आकाश सर्वगत है, इसीप्रकार आत्मा सर्वगत है वह जैसे शरीर में है वैसे दूरवर्त्ती पशु आदि के सन्निधान में भी है, अतः उसके प्रति पशु आदि के आकृष्ट होने की बात कहना असत् है ।

शरीर में संयुक्त हुए जो आत्मा के प्रदेश हैं वे देवदत्त शब्द का वाच्यार्थ हैं, ऐसा छठा विकल्प माने तो वह आत्मा का प्रदेश काल्पनिक है या पारमार्थिक है ? काल्पनिक माने तो काल्पनिक आत्मप्रदेशका गुण भी काल्पनिक कहलायेगा । फिर उस

काल्पनिकत्वं साधयेत् । तथा च सौगतस्येव तद्गुणाकृतः प्रेत्यभावोपि न पारमार्थिकः स्यात् । न हि कल्पितस्य पावकस्य रूपादयस्तत्कार्यं वा दाहादिकं पारमार्थिकं दृष्टम् ।

पारमार्थिकाश्चेदात्मप्रदेशाः ते ततोऽभिन्नाः, भिन्ना वा ? यद्यभिन्नाः; तदात्मैव ते इति नोक्तदोषपरिहारः । भिन्नाश्चेत्; तद्विशेषगुणाकृष्टाः पश्वादय इत्येतत्तेषामेवात्मत्वं प्रसाधयतीत्यन्यात्म-कल्पनानर्थक्यम् । कल्पने वा सावयवत्वेन कार्यत्वमनित्यत्वं चास्य स्यादित्युक्तम् ।

गुणसे आकृष्ट हुए पशु आदि उसके पास आते हैं इत्यादि हेतु आत्मगुणों को काल्पनिक ही सिद्ध करेगा, आत्मा के प्रदेश काल्पनिक सिद्ध होते हैं तो अदृष्ट नामा आत्मा का गुण भी काल्पनिक और उस गुण निमित्तक होनेवाला परलोक भी काल्पनिक होगा जैसे सौगत परलोक को काल्पनिक मानते हैं ।

विशेषार्थ—वैशेषिक आत्मा को निरंश मानते हैं अतः आचार्य ने पूछा कि शरीर से संयुक्त आत्माके प्रदेशको देवदत्त शब्द का वाच्यार्थ मानते हैं तो वे वास्तविक हैं या काल्पनिक ? काल्पनिक हैं तो उसमें होने वाले अदृष्टादि गुण भी काल्पनिक होंगे, किंतु अदृष्टादिको असत् गुणरूप मानना खुद वैशेषिक को इष्ट नहीं होगा क्योंकि अदृष्ट जो धर्म–अधर्म है उसी के द्वारा परलोक होना, वहां सुखादिका भोगना आदि कार्य होता है वह कार्य परमार्थभूत नहीं रहेगा, काल्पनिक ही होवेगा जैसे बौद्ध आत्मा को क्षणिक मानकर उसमें संवृति से परलोक गमन आदि कल्पना किया करते हैं वैसे ही वैशेषिक के यहां कल्पना मात्र का परलोक सिद्ध होगा । क्योंकि परलोक का हेतु जो अदृष्ट गुण है उसे काल्पनिक मान लिया । जो पदार्थ स्वय काल्पनिक है उससे वास्तविक कार्य सिद्ध नहीं होता बालक में कल्पना से अग्नि का आरोप करने पर उससे दाह आदि वास्तविक कार्य होता देखा नहीं जाता ।

शरीर से संयुक्त जो आत्मप्रदेश हैं उन्हें काल्पनिक न मानकर पारमार्थिक माना जाय तो पुनः प्रश्न होता है कि वे प्रदेश आत्मा से भिन्न हैं कि अभिन्न हैं ? यदि अभिन्न हैं तो आत्मा ही प्रदेश कहलाया फिर वही पहले का दोष आयेगा अर्थात् आत्मा सर्वगत है उसकी तरफ किसी पदार्थ का आकृष्ट होना शक्य नहीं रहेगा । यदि पार-मार्थिक प्रदेश आत्मा से भिन्न मानते हैं तो "उसके विशेषगुण से आकृष्ट हुए पशु आदि आते हैं" इत्यादि अनुमान उन आत्मप्रदेशों को ही आत्मत्व सिद्ध कर देता है इसतरह

यच्चान्यदुक्तम्-'सर्वगत आत्मा सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वादाकाशवत्' इति; तत्र किं स्वशरीर एव सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वं हेतुः, उत स्वशरीरवत्परशरीरेऽन्यत्र च ? तत्र प्रथमपक्षे विरुद्धो हेतुः, तत्रैव ततस्तस्य सर्वगतत्वसिद्धेः। द्वितीयपक्षे त्वसिद्धः, तथोपलम्भाभावात्। न खलु बुद्धयादयस्तद्गुणाः सर्वत्रोपलभ्यन्ते, अन्यथा प्रतिप्राणि सर्वज्ञत्वादिप्रसङ्गः।

अन्य कोई आत्माको मानने की कल्पना व्यर्थ होती है, यदि आत्माको माने तो अवयव सहित मानना होगा, और सावयवी पदार्थ कार्यरूप एवं अनित्य होता है ऐसा आपका ही सिद्धांत होने से आत्माको अनित्य स्वीकार करना होगा।

वैशेषिक का कहना है कि आत्मा के गुण सर्वत्र उपलब्ध होते हैं अतः हम उसको आकाश की तरह सर्वगत मानते हैं, इसपर प्रश्न होता है कि सर्वत्र गुण उपलब्ध होने का क्या अर्थ है अपने शरीर मात्र में सर्वत्र उपलब्ध होना, या अपने शरीर के समान पराये शरीर मे एव अन्यत्र-अंतराल में भी गुणों का उपलब्ध होना ? प्रथम पक्ष कहो तो विरुद्ध पड़ेगा, क्योंकि स्वशरीर मात्र मे गुणो का उपलब्ध होना स्वीकार किया इससे गुणों का शरीर में ही सर्वगतत्व सिद्ध होगा न कि सर्व जगत में होने वाला सर्वगतत्व सिद्ध होगा, दूसरा पक्ष कहे तो हेतु असिद्ध होता है, क्योंकि अपने शरीर के समान पराये शरीर एव अन्यत्र आत्मा के गुणों की उपलब्धि होना असिद्ध है, बुद्धि आदि आत्मा के गुण सर्वत्र उपलब्ध नही होते हैं, यदि पराये शरीरादि में भी अपने आत्मा के गुण उपलब्ध होते तो प्रत्येक प्राणी सर्वज्ञ बन जाता, एव पराये दुःख सुख, हर्ष शोक आदि से स्वयं दुःखी आदि बन जाता।

भावार्थ—आत्मा को सर्वगत मानते हैं तो जैसे हमारे शरीर में हमारी आत्मा है वैसे पराये शरीर में भी है तथा अन्यत्र सब जगह है, और सब जगह आत्मा है तो जैसे अपने शरीर का अनुभव होता है वैसे पराये शरीर तथा सब संसार के संपूर्ण पदार्थो का अनुभव होवेगा, फिर तो प्रत्येक प्राणी सर्वज्ञ कहलायेगा, क्योंकि उसका आत्मा सब जगह होने से सबको जान रहा है। तथा अपने शरीर के समान पराये शरीर में हमारी आत्मा है तो पराये दुःख सुख से हमें भी दुःखी, सुखी बनना पड़ेगा, किंतु ऐसा नहीं देखा जाता है। अतः आत्मा सर्वगत नहीं है।

अथ मन्याखेटवत्खेटान्तरे मनुष्यजन्मवज्जन्मान्तरे चोपलभ्यमानगुणत्वं विवक्षितम्; तत्कि युगपत्, क्रमेण वा ? युगपच्चेत्; असिद्धो हेतुः । क्रमेण चेत्; सर्वे सर्वगताः स्युः, घटादीनामपि तथा सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वसम्भवात् । तेषां देशान्तरगमनात्तत्सम्भवे आत्मनोपि ततस्तत्सम्भवोस्तु तद्वत्तस्यापि सक्रियत्वात् । प्रत्यक्षेण हि सर्वो देशाद्देशान्तरमायातमात्मानं प्रतिपद्यते, तथा च वदत्यहमद्य योजनमेकमागतः । मनः शरीरं वागतमिति चेत्; किं पुनस्तदहम्प्रत्ययवेद्यम् ? तथा चेत्; चार्वाकमतानुषङ्गः ।

शंका— जिसप्रकार कोई व्यक्ति है वह मान्यखेट नगर में जैसे उपलब्ध होता है वैसे अन्य नगर में भी उपलब्ध होता है, तथा मनुष्य पर्याय में जैसे उपलब्ध होता है वैसे अन्य जन्म में भी उपलब्ध होता है, सो इसतरह का उपलब्ध होनारूप जो गुण है उसे उपलभ्यमानगुणत्व कहते हैं, ऐसे गुणत्व की यहां पर विवक्षा है ?

समाधान—अच्छा तो इसतरह का उपलभ्यमानगुणत्व एकसाथ सर्वत्र होता है या क्रम से होता है ? एक साथ सर्वत्र उपलब्ध होना असिद्ध है, क्योंकि ऐसी प्रतीति नही होती । क्रम से सर्वत्र उपलब्ध होने को उपलभ्यमान गुणत्व कहते हैं ऐसा कहो तो सम्पूर्ण पदार्थ सर्वगत बन जायेंगे, क्योंकि घटादि भी क्रम से उसतरह के [एक देश, नगर आदि से अन्य देशादि में उपलब्ध होने को सर्वत्र उपलभ्यमान गुणत्व कहते हैं उसतरह के] उपलभ्यमान गुणत्ववाले हुआ करते हैं ?

शंका—घटादि पदार्थ देश से देशांतर चले जाते हैं अतः सर्वत्र उपलब्ध होते हैं ?

समाधान—तो फिर आत्मा भी देशांतर में चला जाता है अतः वह सर्वत्र उपलभ्यमान गुणवाला कहलाता है, ऐसा मानना चाहिए, क्योंकि घटादि पदार्थों के समान आत्मा भी सक्रिय-क्रियाशील पदार्थ है सभी प्राणी प्रत्यक्ष से अनुभव करते हैं कि देश से देशांतर में आया हूं तथा कहते भी हैं कि आज मैं एक योजन चलकर आया हूं इत्यादि ।

वैशेषिक—योजन आदि चलने की बात तो ऐसी है कि मन या शरीर चलकर आया करता है ?

ननु चास्य सक्रियत्वे लोष्टादिवन्मूर्त्तिभिः सम्बन्धः स्यात्। तत्र केयं मूर्तिर्नाम–असर्वगतद्रव्यपरिमाणम्, रूपादिमत्त्वं वा स्यात्? तत्राद्यपक्षो न दोषावहः; अभीष्टत्वात्। न हीष्टमेव दोषाय जायते। रूपादिमती मूर्त्तिः स्यादिति चेत्; न; व्याप्त्यभावात्। रूपादिमन्मूर्त्तिमानात्मा सक्रियत्वाद्-बाणादिवत्; इत्यप्यसुन्दरम्; मनसाऽनैकान्तिकत्वात्। न चास्य पक्षीकरणम्; 'रूपादिविशेषगुणान-धिकरणं सन्मनोर्थं प्रकाशयति शरीरादर्थान्तरत्वे सति सर्वत्र ज्ञानकारणत्वादात्मवत्' इत्यनुमान-विरोधानुषङ्गात्।

जैन—तो क्या मन या शरीर अहं प्रत्यय द्वारा वेद्य होता है ? अर्थात् "अहं" ऐसा मैं पना का ज्ञान मनको या शरीर को होता है ऐसा माने तो चार्वाक मत में प्रवेश होवेगा।

वैशेषिक—आत्मा को क्रियावान मानेंगे तो लोष्ट–मिट्टी का ढेला आदि के समान मूर्त्तिक पदार्थों के साथ इसका सम्बन्ध मानना होगा।

जैन—मूर्त्ति किसे कहते हैं असर्वगत द्रव्य [शरीर] के परिमाण को या रूपादिमानपने को ? प्रथम बात कहो तो कोई दोष नहीं आता, क्योंकि असर्वगत द्रव्य परिमाण को मूर्त्ति कहना हमें भी इष्ट है। जो इष्ट होता है वह दोष के लिये नहीं हुआ करता। रूपादिमानपने को मूर्त्ति कहते हैं तो ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी व्याप्ति नहीं है कि जो जो सक्रिय हो वह वह रूपादियुक्त मूर्त्तिक ही हो।

शंका—ऐसी व्याप्ति अनुमान द्वारा सिद्ध होती है, आत्मा रूपादियुक्त मूर्त्ति-मान है, क्योंकि वह क्रियाशील है, जैसे बाणादिक क्रियाशील होने से मूर्तिमान हैं ?

समाधान—यह अनुमान गलत है, इसमें "सक्रियत्वात्" हेतु मनके साथ अनैकान्तिक होता है अर्थात् मन सक्रिय तो है किन्तु रूपादियुक्त मूर्त्तिमान नहीं है। यदि कहा जाय कि मनको भी हम पक्ष में लेते हैं यानी मूर्त्तिमान मानते हैं तो यह बात भी ठीक नहीं, इसमें अनुमान प्रमाण से विरोध आता है–मन रूपादि विशेष गुणों का अनधिकरण होकर पदार्थ को प्रकाशित करता है [साध्य] क्योंकि यह शरीर से अर्थान्तर-भिन्न है एवं सर्वत्र ज्ञानका कारण है, जैसे आत्मा सर्वत्र ज्ञानका कारण है।

ननु सक्रियत्वे सत्यात्मनोऽनित्यत्वं स्याद्घटादिवत्; इत्यपि वार्त्तम्; परमाणुभिर्मनसा चानेकान्तात्।

किंच, अस्यातः कथञ्चिदनित्यत्वं साध्येत, सर्वथा वा ? कथञ्चिच्चेत्; सिद्धसाधनम्। सर्वथा चानित्यत्वस्य घटादावप्यसिद्धत्वात्साध्यविकलता दृष्टान्तस्य।

किंच, आत्मनो निष्क्रियत्वे संसाराभावो भवेत्। संसारो हि शरीरस्य, मनसः, आत्मनो वा स्यात् ? न तावच्छरीरस्य; मनुष्यलोके भस्मीभूतस्यामरपुराऽगमनात्।

नापि मनसः; निष्क्रियस्यास्यापि तद्विरहात्। सक्रियत्वेपि तत्क्रियायास्ततोऽभेदे तद्वत्तदनित्यत्वप्रसङ्गान्नास्य क्वचित्क्षणमात्रमवस्थानं स्यात्। भेदे सम्बन्धासिद्धिः, समवायनिषेधात्।

शंका—आत्मा को सक्रिय मानेंगे तो अनित्य भी मानना होगा, जैसे घट आदि पदार्थ सक्रिय होने से अनित्य दिखायी देते हैं ?

समाधान—यह शंका भी व्यर्थ है, क्योंकि सक्रियत्व और अनित्यत्व का अविनाभाव स्वीकार करेंगे तो परमाणु तथा मनके साथ व्यभिचार आयेगा, अर्थात्–मन तथा परमाणु सक्रिय हैं किन्तु अनित्य नहीं हैं।

तथा सक्रिय होने से आत्मा घटादि की तरह अनित्य है, ऐसा कहा सो 'सक्रियत्वात्' हेतु से आत्मा को कथंचित् अनित्य सिद्ध करना है या सर्वथा अनित्य सिद्ध करना है ? कथंचित् कहो तो सिद्ध साधन है, क्योंकि आत्मा को कथंचित् अनित्य तो हम जैन मानते ही हैं। सर्वथा अनित्य सिद्ध करना अशक्य है, सर्वथा अनित्यपना घट आदि पदार्थों में भी नहीं होता अतः घटादि के समान आत्मा अनित्य है ऐसा दृष्टांत देना साध्य विकल ठहरता है।

दूसरी बात यह है कि आप वैशेषिक आत्माको निष्क्रिय मानते हैं किन्तु इससे संसार का अभाव होने का प्रसंग आता है, संसार किसके होता है, शरीर के, मनके या आत्माके ? शरीर के हो नहीं सकता, क्योकि शरीर तो यही मनुष्य लोक में भस्मीभूत हो जाता है वह देवलोक में नही जाता। [फिर संसार काहे का ? संसार तो चतुर्गतियों में भ्रमण करने का नाम है ?]

मनके संसार होता है ऐसा कहना भी गलत है, मन भी निष्क्रिय है अतः उसके संसार होना शक्य नहीं। मनको सक्रिय माने तो मनकी क्रिया मनसे भिन्न है कि

अचेतनं च तदनिष्टनरकादिपरिहारेणेष्टे स्वर्गादौ कथं प्रवर्त्ततस्वभावत:, ईश्वरात्, तदात्मन:, अदृष्टाद्वा ? प्रथमपक्षे दत्त: सर्वत्र ज्ञानाय जलांजलि: । अथेश्वरप्रेरणात्; न; तन्निषेधात् । को वाऽमीश्वरस्याग्रहो यतस्तत्प्रेरयति, न तदात्मानम् ? अस्य प्रेरणे चेदमनुगृहीतं भवति—

"अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन: सुखदु:खयो: ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ।।"

[महाभा० वनपर्व० ३०।२८] इति ।

अभिन्न है, यदि क्रिया मनसे अभिन्न है तो जैसे क्रिया अनित्य है वैसे मन भी अनित्य होवेगा, फिर इस मनका कहीं पर क्षणमात्र का अवस्थान सिद्ध नहीं होगा । मनकी क्रिया मन से भिन्न है ऐसा माने तो उनका सम्बन्ध सिद्ध नहीं होगा । समवाय से संबंध होना भी अशक्य है, समवाय का निषेध कर आये है और आगे भी निषेध करने वाले हैं ।

तथा मनके संसार होता है ऐसा माने तो वह अचेतन है, अचेतन मन अनिष्ट ऐसे नरक आदि का परिहार करके इष्टभूत स्वर्ग आदि में जाने के लिये किसप्रकार प्रवृत्ति करेगा ? स्वभाव से ही स्वर्ग आदि मे जायेगा या ईश्वर के निमित्त से अथवा मन जिसमें सम्बद्ध है उस आत्मा के निमित्त से, अथवा अदृष्ट के निमित्त से ? स्वभाव से जाने की बात कहो तो ज्ञान के लिये जलांजलि देनी होगी, क्योकि ज्ञान के बिना अचेतन मन ही इष्टानिष्ट की प्रवृत्ति निवृत्तिरूप कार्य करता है, तो ज्ञानको मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती । ईश्वर की प्रेरणा से [निमित्त से] मन अनिष्ट का परिहार कर इष्ट स्वर्गादिमें गमन करता है ऐसा कहो तो भी ठीक नहीं हम जैन ने ईश्वर का निराकरण पहले ही कर दिया है, [द्वितीय भाग में] तथा ईश्वर का यह कौनसा आग्रह है कि वह मनको ही प्रेरित करता है उसके आत्माको नही ? यदि ईश्वर इस मनको प्रेरित करता है ऐसा माने तो आपके शास्त्र का कथन अनुगृहीत कैसे होगा, आपके यहां लिखा है कि—यह संसारी आत्मा अज्ञ है अपने सुख दु:ख की प्राप्ति परिहार में असमर्थ है जब उस आत्मा को ईश्वर की प्रेरणा होती है तब स्वर्ग या नरक चला जाता है ।।१।। इस श्लोक में ईश्वर आत्मा को प्रेरित करता है मनको नही, ऐसा सिद्ध होता है ।

'तदात्मप्रेरणात्' इत्यत्रापि ज्ञातम्, अज्ञातं वा तत्तेन प्रेर्येत ? न तावदाद्यो विकल्पः; जन्तुमात्रस्य तत्परिज्ञानाभावात् । नापि द्वितीयः; अज्ञातस्य बाणादिवत्प्रेरणासम्भवात् । ननु स्वप्ने स्वहस्तादयोऽज्ञाता एव प्रेर्यन्ते; न; अहितपरिहारेण हिते प्रेरणा(ऽ)सम्भवात्, ज्वलज्ज्वलनज्वाला-जालेपि तत्प्रेरणोपलम्भात् ।

अदृष्टप्रेरणात्; इत्यप्यसारम्; अचेतनस्यापि (स्यास्यापि) तत्प्रेरकत्वायोगात् । तत्प्रेरित-स्यात्मन एव वरं प्रवृत्तिरस्तु चेतनत्वात्तस्य । दृश्यते हि वशीकरणौषधसयुक्तस्य चेतनस्यानिष्ट-गृहगमनपरिहारेण विशिष्टगृहगमनम् । तन्न मनसोपि संसारः ।

मन सम्बन्धी आत्मा की प्रेरणा से (निमित्त से) मन स्वर्गादि गमन में प्रवृत्ति करता है ऐसा कहे तो प्रश्न होगा कि ज्ञात हुए मनको आत्मा प्रेरित करता है या अज्ञात हुए मनको प्रेरित करता है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि जीव मात्र को आपके उस [अणुरूप, अचेतन अतीन्द्रिय ऐसे] मनका परिज्ञान होना अशक्य है । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि जो आत्माके अज्ञात है उस मनको आत्मा प्रेरित नहीं कर सकता, जैसे जो पुरुष बाण विद्याको नहीं जानता वह बाणको प्रेरित नहीं करता ।

शंका—अज्ञातको भी प्रेरित कर सकते हैं, स्वप्न में अपने हाथ पैरादिको अज्ञात होकर प्रेरित किया जाता है ?

समाधान—यह कथन ठीक नहीं, स्वप्न में अहितका परिहार करके हित में प्रवृत्ति कराना रूप प्रेरणा नहीं हो सकती है । स्वप्न अवस्था में जलती हुई अग्नि की ज्वाला में भी हाथ आदि को प्रेरित किया जाना देखा जाता है । अतः आत्मा द्वारा अज्ञात मन प्रेरित किया जाता है ऐसा तीसरा पक्ष मानना भी गलत ठहरता है ।

अदृष्ट की प्रेरणा पाकर मन अहितका परिहार करके स्वर्गादिगमनरूप संसार करता है ऐसा चौथा पक्ष स्वीकार करना भी उचित नहीं होगा, क्योंकि मनके समान अदृष्ट भी अचेतन होने से उसमें प्रेरकपने का अयोग है । इससे अच्छा तो यह है कि आत्मा ही उस अदृष्ट द्वारा प्रेरित होकर अहितका परिहार कर स्वर्गादि गमनरूप प्रवृत्ति करता है, क्योंकि आत्मा चेतन है अतः वह प्रेरणानुसार कार्य की क्षमता रखता है । देखा भी जाता है कि वशीकरण औषधि संयुक्त पुरुष अनिष्ट गृहके गमनका परिहार करते हुए अपने को इष्ट ऐसे विशिष्ट गृह में प्रवेश कर जाता है । अतः मनके संसार होता है, मन संसार परिभ्रमण को करता है ऐसा कहना असिद्ध होता है ।

आत्मनस्तु स्यात् यद्येकदेहपरित्यागेन देहान्तरमसौ व्रजेत्, तथा च घटादिवत्तस्य सर्वत्रो-पलभ्यमानगुणत्वमित्युभयोः सर्वगतत्वं न वा कस्यचिदविशेषात् ।

यच्चाकाशवदित्युक्तम्; तत्राकाशस्य को गुणः सर्वत्रोपलभ्यते-शब्दः, महत्त्वं वा ? न ताव-च्छब्दः; अस्याकाशगुणत्वनिषेधात् । नापि महत्त्वम्; अस्यातीन्द्रियत्वेनोपलम्भासम्भवात् ।

एतेन 'बुद्धयधिकरणं द्रव्यं विभु नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वादाकाशवत्' इत्यपि प्रत्युक्तम्; साधनविकलत्वाद्दृष्टान्तस्य । हेतोश्चानैकान्तिकत्वम्, परमाणूनां नित्यत्वे सत्य-

---

यदि वैशेषिक आत्माके संसार होना मानते है तब तो ठीक है किन्तु फिर वह एक शरीरका त्याग कर दूसरे शरीर मे गमन करेगा अतः सर्वत्र उपलभ्यमान गुणत्व उसमें कैसे सम्भव होगा ? अर्थात् नही होगा । इसलिये घट और आत्मा में अविशेषता होने से किसी के भी सर्वत्र उपलभ्यमान गुणत्व और सर्वगतत्व सिद्ध नही होता अर्थात् जैसे घट के गुण सर्वत्र उपलभ्यमान नहीं है और न घट सर्वगत है, वैसे आत्मा के गुण सर्वत्र उपलब्ध नहीं होते और न वह सर्वगत ही है ।

आकाश के समान आत्माके गुण सर्वत्र उपलब्ध होते है ऐसा वैशेषिक ने कहा था सो आकाश का कौनसा गुण सर्वत्र उपलब्ध होता है शब्दनामा गुण या महत्व-नामा गुण ? शब्द तो हो नही सकता, शब्द आकाश का गुण नही है ऐसा हम प्रतिपादन कर चुके हैं । महत्वनामा गुण भी सर्वत्र उपलब्ध होना अशक्य है, क्योंकि वह गुण अतीन्द्रिय है ।

जैसे सर्वत्र उपलभ्यमानगुणत्वनामा हेतु असिद्ध है वैसे ही अग्रिम कहा जाने वाला हेतु तथा पूरा अनुमान ही असिद्ध है, अब उसीको बताते हैं—जो द्रव्य बुद्धिका अधिकरण होता है वह व्यापक [सर्वगत] होता है, क्योंकि नित्य होकर हमारे द्वारा उपलब्ध होने योग्य गुणका अधिष्ठान है, जैसे आकाश हमारे द्वारा उपलभ्यमान गुणका अधिष्ठान होने से व्यापक है । इस अनुमान में आकाश का दृष्टांत दिया है वह साधन विकल है [हेतु से रहित है क्योंकि शब्द आकाश का गुण नहीं है तथा महत्वनामा गुण अतीन्द्रिय होने से उपलब्ध नहीं होता है इसलिये आकाश के समान आत्माका गुण सर्वत्र उपलभ्यमान है ऐसा कहना साधन विकल ठहरता है] तथा हेतु अनैकान्तिक दोष युक्त

स्मदाद्युपलभ्यमानपाकजगुणाधिष्ठानत्वेपि विभुत्वाभावात् । तत्पाकजगुणानामस्मदाद्यप्रत्यक्षत्वे हि 'विवादाध्यासितं क्षित्यादिकमुपलब्धिमत्कारणं कार्यत्वाद्घटादिवत्' इत्यत्र प्रयोगे व्याप्तिर्न स्यात् । अथ 'नित्यत्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियोपलभ्यमानगुणत्वात्' इत्युच्यते; तर्हि बाह्येन्द्रियोपलभ्यमानत्वस्य बुद्धावसिद्धेर्विशेषणासिद्धो हेतुः ।

है आगे इसीको कहते हैं—जो नित्य होकर हमारे उपलब्ध होने योग्य गुणवाला है वह व्यापक है ऐसा हेतु और साध्यका अविनाभाव नहीं बनता, ऐसा अविनाभाव करने से परमाणु के साथ व्यभिचार होगा । परमाणु नित्य होकर हमारे उपलब्ध होने योग्य पाकज गुणका अधिष्ठान तो है किन्तु व्यापक नहीं है । यदि कहो कि परमाणु के पाकज गुण हमारे उपलब्ध होने योग्य नहीं हैं, तो आप वैशेषिक के ऊपर ही आपत्ति आयेगी, इसीका खुलासा करते हैं—विवाद में आये हुए पृथिवी, पर्वतादि पदार्थ उपलब्धि होने योग्य कारण वाले है, क्योंकि वे कार्य हैं, जैसे घटादिक कार्य हैं ऐसा आपके यहां अनुमान प्रयोग है, इसमें साध्य–साधन की व्याप्ति सिद्ध नहीं हो सकेगी, क्योंकि परमाणुओं के पाकज गुणोंको जो कि एक कार्यरूप हैं, हमारे अप्रत्यक्ष मान लिया, अतः जो कार्य होता है वह उपलब्धि कारणवाला होता है, [प्रत्यक्ष होता है] ऐसा घटित नहीं कर सकते ।

वैशेषिक—जो द्रव्य बुद्धिका अधिकरण होता है वह व्यापक होता है, इत्यादि अनुमानको थोड़ासा सुधारा जाय, नित्यत्वे सति अस्मदादि उपलभ्यमान गुणाधिष्ठानात् इस हेतु में "बाह्येन्द्रिय" इतना शब्द जोड़कर कहा जाय अर्थात् बुद्धिका अधिकरणभूत द्रव्य व्यापक होता है [साध्य] क्योंकि नित्य होकर हमारे बाह्यइन्द्रिय द्वारा उपलब्ध होने योग्य गुणोंका अधिष्ठान है, ऐसा हेतु देने से साध्य–साधनकी [पृथिवी आदि को उपलब्धि कारणवाला सिद्ध करने वाले अनुमान के साध्य–साधन की] व्याप्ति घटित हो जायगी ।

जैन—ऐसा "बाह्येन्द्रिय" शब्द हेतु में बढ़ाने पर दूसरे दोषका प्रसंग आयेगा, बुद्धि बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष तो नहीं है किन्तु व्यापक द्रव्य के अधिकरण में रहती है अतः यह हेतु असिद्ध विशेषण वाला कहा जायगा ।

नित्यत्वं च सर्वथा, कथञ्चिद्वा विवक्षितम्? सर्वथा चेत्; पुनरपि विशेषणासिद्धत्वम्। कथञ्चिच्चेत्; घटादिनानेकान्तः, तस्य कथञ्चिन्नित्यत्वे सत्यस्मदाद्युपलभ्यमानगुणाधिष्ठानत्वेपि विभुत्वाभावात्।

यदप्युक्तम्-सर्वगत आत्मा द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वादाकाशवत्। 'द्रव्यात्' (द्रव्यत्वात्) इत्युच्यमाने हि घटादिना व्यभिचारः, तत्परिहारार्थम् 'अमूर्त्तत्वात्' इत्युक्तम्। 'अमूर्त्तत्वात्' इत्युच्यमाने च रूपादिगुणेन गमनादिकर्मणा वानेकान्तः, तन्निवृत्त्यर्थं 'द्रव्यत्वे सति' इत्युक्तम्।

तदप्यसमीचीनम्; यतोऽमूर्त्तत्व मूर्त्तत्वाभावः, तत्र किमिदं मूर्त्तत्वं नाम यत्प्रतिषेधोऽमूर्त्तत्वं स्यात्? रूपादिमत्त्वम्, असर्वगतद्रव्यपरिमाणं वा? प्रथमपक्षे मनसानेकान्तः; तस्य द्रव्यत्वे सत्य-

---

बुद्धिका अधिकरणभूत जो द्रव्य है उसे आप नित्य कह रहे हैं सो नित्यपना कौनसा विवक्षित है सर्वथा नित्यत्व या कथंचित् नित्यत्व? सर्वथा कहो तो वही विशेषण असिद्ध होने का दोष आयेगा, क्योंकि सर्वथा नित्यपना सिद्ध नहीं है। कथंचित् नित्यत्व विवक्षित है ऐसा कहो तो घटादि के साथ व्यभिचार आयेगा, क्योंकि घटादि पदार्थ कथचित् नित्य होकर हमारे द्वारा उपलब्ध होने योग्य गुणका अधिष्ठान हैं किंतु उनमें साध्य जो व्यापकत्व है वह है नहीं, अतः साध्य के अभाव में हेतु के रह जाने से हेतु अनैकान्तिक होगा।

वैशेषिक—आत्माको व्यापक सिद्ध करनेवाला और भी अनुमान है, 'सर्वगतः आत्मा द्रव्यत्वे सति अमूर्त्तत्वात्' आकाशवत्, आत्मा सर्वगत है, क्योकि वह द्रव्य होकर अमूर्त्त है, जैसे आकाश सर्वगत है। "द्रव्यत्वात्" इतना मात्र हेतु देते तो घटादि के साथ व्यभिचार होता अतः उसके परिहार के लिये "अमूर्त्तत्वात्" ऐसा कहा है। तथा "अमूर्त्तत्वात्" इतना हेतु का कलेवर रखते तो रूपादिगुण एव गमनादि कर्म के साथ व्यभिचार होता [क्योंकि हम वैशेषिक रूपादिगुण आदि को अमूर्त्त मानते हैं] अतः उसके परिहार के लिये "द्रव्यत्वे सति" ऐसा विशेषण प्रयुक्त किया है, इस तरह निर्दोष अनुमान से आत्मा सर्वगत सिद्ध होता है?

जैन—यह कथन असमीचीन है, मूर्त्तत्व के अभाव को अमूर्त्तत्व कहते हैं उसमें मूर्त्तत्व किसे कहना जिसके कि प्रतिषेधरूप अमूर्त्तत्व होता है। रूपादिमानपना मूर्त्तत्व है अथवा असर्वगत द्रव्य का परिमाण मूर्त्तत्व है? प्रथम पक्ष में मनके साथ

मूर्त्तत्वेपि सर्वगतत्वाभावात् । द्वितीयपक्षे तु किमसर्वगतद्रव्यं भवतां प्रसिद्धं यत्परिमाणं मूर्त्तिर्वर्ण्यते ? घटादिकमिति चेत्; कुतस्तत्तथा ? तथोपलम्भाच्चेत्; किं पुनरसौ भवतः प्रमाणम् ? तथा चेत्; तद्वदात्मनोपि स एवासर्वगतत्वं प्रसाधयतीति मूर्त्तत्वम्, अतः 'अमूर्त्तत्वात्' इत्यसिद्धो हेतुः । तदसाधने न प्रमाणम्-''लक्षणयुक्ते बाधासम्भवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यात्" [प्रमाणवार्तिकालं०] इति न्यायात् । तथा चातो घटादावप्यसर्वगतत्वमतिदुर्लभम् । शक्य हि वक्तुम्-'घटादयः सर्वगता द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वादाकाशवत्' इति । पक्षस्य प्रत्यक्षबाधनं हेतोश्चासिद्धिः उभयत्र समाना ।

अनैकान्तिकता होगी, क्योंकि मन द्रव्य एवं रूपादिमान रहित अमूर्त्त होकर भी सर्वगत नहीं है, अतः अमूर्त्त द्रव्य होने से आत्मा सर्वगत है ऐसा अनुमान गलत होता है । द्वितीय पक्ष कहो तो आपके सिद्धांत में असर्वगत द्रव्य कौनसा है जिसके कि परिमाण रूप मूर्ति कही जाती है ? घटादि को असर्वगत द्रव्य कहते हैं ऐसा कहो तो पुनः प्रश्न होता है कि घटादि असर्वगत क्यों है ? आप कहो कि असर्वगतपने से ही इनकी उपलब्धि हुआ करती है अतः वैसा मानते हैं, इस पर हम जैन पूछते है कि आप वैशेषिक को वैसी उपलब्धि होना क्या प्रमाणभूत है ? यदि प्रमाणभूत है तो जैसे घटादि की असर्वगतत्व की उपलब्धि घटादिको असर्वगत सिद्ध कर देती है, वैसे आत्मा भी असर्वगतरूप उपलब्ध होता है अतः उसे प्रमाणभूत मानकर उस हेतु से आत्माको असर्वगत स्वीकार करना चाहिए, और आत्मा असर्वगत है तो मूर्त्त भी कहलायेगा इसतरह "अमूर्त्तत्वात्" हेतु असिद्ध होता है । यदि कहा जाय कि आत्मा में जो असर्वगतपने की उपलब्धि हो रही है वह आत्मा को असर्वगतरूप सिद्ध नही करती, तो उस उपलब्धि को प्रमाणभूत नहीं मान सकेंगे क्योंकि "लक्षणयुक्ते बाधासंभवे तत् लक्षण मेव दूषितं स्यात्" प्रमाण का लक्षण जिसमें मौजूद है ऐसे प्रमाण में यदि बाधा आती है तो समझ लेना चाहिए कि वह लक्षण ही सदोष है, ऐसा न्याय है । तथा यदि आत्मा में उपलब्धि के अनुसार असर्वगतपना स्वीकार नहीं किया तो घट आदि पदार्थों का असर्वगतपना भी सिद्ध नहीं होवेगा, कोई कह सकता है कि घटादि पदार्थ सर्वगत-व्यापक हैं, क्योंकि द्रव्य होकर अमूर्त्त हैं, जैसे आकाश अमूर्त्त है । पक्ष में प्रत्यक्ष बाधा आना एवं हेतु असिद्ध होना इत्यादि दूषण तो दोनों जगह घटादि और आत्मा में समान ही आयेंगे । भावार्थ यह है कि जैसे घट आदि पदार्थों में असर्वगतत्व की प्रतीति होती है वैसे आत्मा में भी होती है, फिर घटादिको तो असर्वगत मानना और आत्माको

ननु चात्मनः सर्वगतत्वात्तत्रास्त्यमूर्त्तत्वमसर्वगतद्रव्यपरिमाणसम्बन्धाभावलक्षणं न घटादौ विपर्ययात्। ननु चास्य कुतः सर्वगतत्व सिद्धम्-साधनान्तरात्, अत एव वा ? साधनान्तराच्चेत्; तदेव (तत एव) समीहितसिद्धे: 'द्रव्यत्वे सत्यमूर्त्तत्वात्' इत्यस्य वैयर्थ्यम्। अत एव चेदन्योन्याश्रय:- सिद्धे हि तस्य सर्वगतत्वेऽसर्वगतद्रव्या (व्य) परिमाणसम्बन्धरूपमूर्त्तत्वाभावोऽमूर्त्तत्वं सिध्यति, अतश्च तत्सर्वगतत्वमिति।

किञ्च 'अमूर्त्तत्वात्' इति किमयं प्रसज्यप्रतिषेधो मूर्त्तत्वाभावमात्रममूर्त्तत्वम्, पर्युदासो वा मूर्त्तत्वादन्यद्भावान्तरमिति ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्त:; तुच्छाभावस्य प्राक्प्रबन्धेन प्रतिषेधात्। सतोपि

असर्वगत नहीं मानना यह असंभव है। कोई कहे कि घट पट आदि को सर्वगत कैसे माने ? वे तो साक्षात् असर्वगत दिखाई देते हैं, तो आत्मा के पक्ष में यही बात है, आत्मा भी साक्षात् असर्वगत प्रतीत हो रहा है उसको किसप्रकार सर्वगत माना जाय ? अर्थात् नहीं माना जा सकता।

वैशेषिक—आत्मा के सर्वगतपना है अत: उसमें असर्वगत द्रव्य परिमाण सम्बन्ध का अभाव होना रूप अमूर्त्तत्व सिद्ध होता है किंतु घट आदि में ऐसा अमूर्त्तत्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि घटादि असर्वगत है ?

जैन—आत्मा के सर्वगतपना किस हेतु से सिद्ध होगा, अन्य हेतु से या इसी (अमूर्त्तत्व) हेतु से ? अन्य हेतु से आत्मा का सर्वगतत्व सिद्ध होता है ऐसा कहो तो उसीसे हमारा समीहित सिद्ध होगा, अर्थात् हम पहले ही कह रहे हैं कि "द्रव्यत्वे सति अमूर्त्तत्वात्" हेतु व्यर्थ है, उससे आत्मा का सर्वगतपना सिद्ध नहीं होता। इसी अमूर्त्तत्व हेतु से आत्मा का सर्वगतपना सिद्ध करते हैं, ऐसा कहो तो अन्योन्याश्रय दोष होगा—जब आत्मा के सर्वगतपना सिद्ध होवे तब उसके असर्वगत द्रव्य परिमाणरूप मूर्त्त का अभाव अमूर्त्तपना सिद्ध होवेगा, और जब वह सिद्ध होगा तब उसके द्वारा आत्मा का सर्वगतपना सिद्ध होगा इसतरह दोनों ही असिद्ध कहलायेंगे।

तथा "अमूर्त्तत्वात्" इस हेतु पद में नकारात्मक नञ समास में अभाव अर्थ है वह अभाव कौनसा है, मूर्त्तत्व का अभाव मात्र अमूर्त्तत्व है ऐसा प्रसज्यप्रतिषेध है, या कि मूर्त्त का भावांतर अमूर्त्त है ऐसा पर्युदास प्रतिषेध है ? प्रथम अभाव अयुक्त है, तुच्छ अभाव का निराकरण पहले हो कर आये हैं [दूसरे भाग में] यदि इस अभाव

चास्य ग्रहणोपायाभावादज्ञातासिद्धो हेतुः। न हि प्रत्यक्षस्तद्ग्रहणोपायः; तस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात्, तुच्छाभावेन सह मनसोऽन्यस्य चेन्द्रियस्य सन्निकर्षाभावात्।

ननु मन आत्मना सम्बद्धमात्मविशेषणं च तदभावः; ततः सम्बद्धविशेषणीभावस्तेन मनस इति। युक्तमिदं यद्यसावात्मनो विशेषणं भवेत्। न चास्यैतदुपपन्नम्। विशेष्ये हि विशिष्टप्रत्यय-हेतुर्विशेषणं यथा दण्डः पुरुषे। न च तुच्छाभावस्तत्प्रत्ययहेतुर्घटते; सकलशक्तिविरहलक्षणत्वादस्य, अन्यथा भाव एव स्यादर्थक्रियाकारित्वलक्षणत्वात् परमार्थसतो लक्षणान्तराभावात्। सत्तासम्बन्धस्य तल्लक्षणस्य कृतोत्तरत्वात्।

को माने तो इसको ग्रहण करने का [जानने का] कोई नहीं दिखता, अतः "अमूर्त्तत्वात्" हेतु अज्ञात नामा असिद्ध हेत्वाभास है इस तुच्छाभावरूप अमूर्त्तत्वको प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है ऐसा आपने माना है, और तुच्छाभाव के साथ मन या इन्द्रियों का सन्निकर्ष हो नहीं सकता।

वैशेषिक—सन्निकर्ष होने की बात ऐसी है कि मन आत्मा के साथ सम्बद्ध है और मूर्त्तत्व का अभावरूप जो अमूर्त्तत्व है वह आत्मा का विशेषण होने से आत्मा में सम्बद्ध है, इसतरह सम्बद्ध विशेषणीभाव युक्त आत्मा द्वारा मन सम्बन्धित होने से अमूर्त्तत्व को प्रत्यक्ष ग्रहण कर सकता है।

जैन—यह कथन तब युक्त हो सकता है जब मूर्त्तत्व का अभावरूप अमूर्त्तत्व विशेषण आत्मा के सिद्ध होवे, किन्तु यह विशेषण सिद्ध नहीं होता। विशेष्य में विशिष्ट ज्ञान कराना विशेषण कहलाता है, जैसे पुरुष रूप विशेष्य मे दण्डा रूप विशेषण "यह दण्डावाला है" ऐसा ज्ञान कराता है, किन्तु ऐसा विशिष्ट ज्ञान कराना तुच्छ भाव के वश का नहीं है, क्योंकि तुच्छाभाव संपूर्ण शक्तियों से रहित होता है, यदि शक्ति रहित नहीं है या विशिष्ट ज्ञान कराता है तो इसे भाव स्वभाववाला मानना होगा क्योंकि परमार्थभूत सत्ता स्वभाववाले पदार्थ का लक्षण यही है कि अर्थक्रिया में समर्थ होना भावरूप पदार्थ का अन्य लक्षण नहीं है, सत्ताका सम्बन्ध जिसमें हो वह भावरूप पदार्थ है ऐसा लक्षण गलत है, इस सत्ता सम्बन्ध के विषय में पहले बहुत कह आये हैं [घटादि पदार्थ का अस्तित्व या सत् सत्ता समवाय से होता है पहले ये घटादि पदार्थ

किञ्च, गृहीतं विशेषणं भवति, "नाऽगृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" [ ] इत्यभिधानात् । ग्रहणे चेतरेतराश्रयः । तथाहि-आत्मसम्बद्धेनेन्द्रियेणासौ गृहीतः सिद्धः सन्नात्मनो विशेषणं सिध्यति, तत आत्मसम्बद्धेनेन्द्रियेण ग्रहणमिति । यदि चात्मा स्वयमसर्वगतद्रव्यपरिमाणसम्बन्धविकलः सिद्धस्तर्हि तावतैव समीहितार्थसिद्धेः किमपरेण तदभावेनेति कथं विशेषणम् ? अथ विपरीतः; कथं तदभावो यतो विशेषणम् ?

किञ्च, आत्मतदभावाभ्यां सह विशेषणीभावः सम्बद्धः असम्बद्धो वा ? सम्बद्धश्चेत्; तर्हि यथात्मनि विशिष्टविज्ञानविधानादात्मनस्तदभावो विशेषणम्, तथा विशेषणीभावोपि 'आत्मा विशेष्य-

---

असत् रहते हैं फिर इनमें समवाय से सत्ता आती है इत्यादि वैशेषिक की मान्यता पहले यथा प्रसंग निराकृत हो चुकी है ।]

पदार्थ का विशेषण वही होता है जो ज्ञात-जाना हुआ हो "ना गृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" विशेषण को जाने बिना विशेष्य का ज्ञान नही होता, ऐसा नियम है । अब यह देखना कि आत्मारूप विशेष्य का अमूर्त्तत्वरूप विशेषण ग्रहण-ज्ञात होता है या नहीं, ग्रहण होना माने तो अन्योन्याश्रय होवेगा, कैसे सो बताते हैं-आत्मा से सम्बद्ध जो मनरूप इंद्रिय है उसके द्वारा मूर्त्तत्व का अभावरूप अमूर्त्तत्व गृहीत सिद्ध होगा तो वह आत्मा का विशेषण होना सिद्ध होगा, और जब यह विशेषण सिद्ध होगा तब उससे आत्मा में सम्बद्ध मन इन्द्रिय द्वारा मूर्त्तत्वाभावरूप अमूर्त्तत्व गृहीत होगा । उपर्युक्त दोषों से बचने के लिये आप वैशेषिक आत्मा स्वयं ही असर्वगत द्रव्य परिमाण के सबंध से रहित है ऐसा मानते हैं तो उतने मात्र से ही इष्ट तत्व सिद्ध हो जायगा, फिर मूर्त्तत्वाभाव नामा अभाव से क्या प्रयोजन रहता है ? अर्थात् कुछ भी नहीं, अतः वह आत्मा का विशेषण भी नही बनता है । अभिप्राय यह है कि जब आत्मा स्वयं ही असर्वगत द्रव्य के सम्बन्ध से रहित है तो उसको अमूर्त्तत्व विशेषण देकर सिद्ध करने की आवश्यकता नही रहती है । यदि आप आत्मा को स्वयं उस असर्वगत द्रव्य संबंध से रहित नहीं मानते हैं तो उस द्रव्य संबंध का अभाव कैसे कर सकते हैं जिससे कि असर्वगत द्रव्य परिमाणरूप मूर्त्त का अभाव जो अमूर्त्तत्व है वह आत्मा का विशेषण बन सके ।

आत्मा और मूर्त्तत्वका अभाव [वैशेषिकके अभिप्राय के अनुसार असर्वगत द्रव्य परिमाण मूर्त्तत्व है और उसका अभाव ही मूर्त्तत्व का अभाव है] इन दोनों के साथ

स्तदभावो विशेषणम्' इति विशिष्टप्रत्ययजननात् विशेषणं समवायवत्प्रसक्तम्, तथा च तत्राप्यपरेण तत्सम्बन्धेन भवितव्यमित्यनवस्था। अथासम्बद्धः; कथं विशेषणविशेष्याभिमतयोः स भवेत् यतस्तत्र विशिष्टप्रत्ययप्रादुर्भावः सम्बन्धो वा? विशिष्टप्रत्ययहेतुत्वाच्चेत्; ईश्वरादौ प्रसङ्गः। तथापि स 'तयोः' इति कल्पने भावस्याभावः समवायिनोऽस (नोः स) मवायस्तथैव स्यादित्यलं तत्र विशेषणीभावसम्बन्धकल्पनया। तन्न प्रत्यक्षं तद्ग्रहणोपायः।

नाप्यनुमानम्; परस्य प्रत्यक्षाभावे तदभावात्, तन्मूलत्वात्तस्य। नन्विदमस्ति–आत्माऽमूर्त्त इति बुद्धिर्भिन्नाभावनिमित्ता, अभावविशेषणभावविषयबुद्धित्वात्, अघटं भूतलमित्यादिबुद्धिवत्;

विशेषणीभाव है वह उन दोनों से सम्बद्ध है कि असम्बद्ध है, सम्बद्ध है तो जैसे आत्मा में विशिष्ट ज्ञान कराने से [आत्मा अमूर्त्त है ऐसा ज्ञान कराने से] वह मूर्त्तत्वका अभाव आत्मा का विशेषण बना वैसे विशेषणीभाव भी होगा अर्थात् आत्मा विशेष्य है और मूर्त्तत्वाभाव विशेषण है इसप्रकार के विशिष्ट ज्ञान का हेतु विशेषणीभाव भी बन सकता है अतः वह समवाय के समान विशेषणरूप होगा और जब विशेषणीभाव विशेषण बनेगा तो उसके लिये दूसरा कोई सम्बन्ध चाहिए, इसतरह अनवस्था आती है। आत्मा और मूर्त्तत्वाभाव इनमें जो विशेषणीभाव है वह असम्बद्ध है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो विशेषण-विशेष्यरूप माने गये इन आत्मादि में वह विशेषणीभाव किस प्रकार होवेगा जिससे कि उनमे विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हो सके या सम्बन्ध हो सके? यदि कहा जाय कि इन आत्मादि में विशिष्ट ज्ञानको कराने में हेतु होने से विशेषणीभाव मानते हैं तो ऐसा विशेषणीभाव ईश्वर, काल आदि पदार्थों में भी मानना होगा, क्योंकि ये भी विशिष्टज्ञान को कराने में हेतु होते हैं। इसप्रकार आत्मा और मूर्त्तत्वाभाव में सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है फिर भी उसे माने तो भावका अभाव, दो समवायी द्रव्यों का समवाय ये भी बिना किसी सम्बन्ध के सम्बद्ध हो जायेंगे। फिर इनमें विशेषणी भाव सम्बन्ध की कल्पना करना व्यर्थ होगा। इसप्रकार तुच्छाभावरूप अमूर्त्तत्व ग्रहण करने का उपाय प्रत्यक्ष प्रमाण नही हो सकता है यह निश्चत हो गया।

अनुमान प्रमाण उस अभावरूप अमूर्त्तत्व को ग्रहण करता है ऐसा कहना भी असत् है, क्योंकि आपके यहां प्रत्यक्ष के अभाव में अनुमान प्रवृत्त नहीं हो सकता, अनुमान का मूल कारण प्रत्यक्ष है।

इत्यप्यसारम्; तथाविधाभावस्य विशेषणत्वासिद्धिप्रतिपादनात्। अभावविचारे चानयोर्हेतूदाहरणयोः प्रतिहतत्वान्न साध्यसाधकत्वम्।

पर्युदासपक्षेप्यसर्वगतद्रव्यपरिमाणसम्बन्धभावान्मूर्त्तत्वादन्यदमूर्त्तत्वं सर्वगतद्रव्यपरिमाणेन परममहत्त्वेन सम्बन्धा(न्ध)भावः, स च न कुतश्चित्प्रमाणात्प्रसिद्ध इति हेतोरसिद्धिः।

यच्चान्यदुक्तम्-आत्मा व्यापको मनोऽन्यत्वे सत्यस्पर्शवद्द्रव्यत्वादाकाशवदिति; तदप्येतेनैव प्रत्युक्तम्; स्पर्शवद्द्रव्यप्रतिषेधेऽत्रापि प्रागुक्ताशेषदोषानुषङ्गात्। सन्दिग्धानैकान्तिकश्चायं हेतुः;

शंका—अनुमान प्रमाण का अभाव नहीं है, हम आत्मा के अमूर्त्तत्व को ग्रहण करने वाले अनुमान को उपस्थित करते हैं—आत्मा अमूर्त्त है इसप्रकार की जो बुद्धि है वह भिन्न जाति के अभाव के निमित्त से होती है [साध्य] क्योंकि अभाव विशेषण रूप भावको विषय करने वाली यह बुद्धि है [हेतु] जैसे "अघटं भूतलं" यह भूतल अघटरूप है इत्यादि बुद्धि अभाव विशेषणरूप भावको विषय करती है।

समाधान—यह कथन असार है, यह अभावरूप विशेषण तुच्छाभावरूप होने से विशेषण बन ही नहीं सकता ऐसा पहले ही सिद्ध कर दिया है। जब हम जैन ने अभाव प्रमाण का विचार किया था तब उसी प्रकरण में [दूसरे भाग में] आपके इस अनुमान के हेतु तथा उदाहरण का खण्डन कर दिया था, अतः इसके द्वारा आत्माका अमूर्त्त विशेषण आदि सिद्ध होना अशक्य है। तुच्छाभावरूप अभाव में साध्य–साधकपना बनता नही।

न मूर्त्तत्वं अमूर्त्तत्वं इसप्रकार के नञसमास का पर्युदास प्रतिषेध अर्थ करते हैं तो भी ठीक नही है, मूर्त्तत्व का अर्थ असर्वगत द्रव्य परिमाण का सम्बन्ध होना है उसका निषेध यानी मूर्त्त से अन्य अमूर्त्त है, यह अमूर्त्तत्व सर्वगत द्रव्य परिमाणरूप परममहत्व के साथ सम्बद्ध है ऐसा आपके यहां माना है किंतु ऐसा किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है अर्थात् अमूर्त्तत्व सर्वगत द्रव्य परिमाण से ही सम्बद्ध है ऐसा अविनाभाव नहीं है। अतः अमूर्त्त होने से आत्मा सर्वगत है ऐसा हेतु वाक्य असिद्ध कोटि में जाता है।

अमूर्त्तत्व हेतु के समान ही "अस्पर्शवत् द्रव्यत्वात्" हेतु असिद्ध है अर्थात् आत्मा व्यापक है, क्योंकि मन से पृथक् होकर अस्पर्शवान द्रव्य है, जैसे आकाश है, इस

तथाहि–अस्पर्शवद्द्रव्यत्वमाकाशादौ व्यापित्वे सत्युपलब्धं मनसि चाऽव्यापित्वे, तदिदानीमात्मन्युपलभ्यमानं किं 'व्यापित्वं प्रसाधयत्यव्यापित्वं वा' इति सन्देहः। ननु मनोद्रव्यत्व (मनोऽन्यत्व) विशिष्टस्यास्पर्शवद्द्रव्यत्वस्य मनस्यनुपलम्भात्कथं सन्देहोऽत्रेतिचेत् ? अत एव। यदि हि तद्विशिष्टं तत्त्रोपलभ्येत तदा निश्चितानैकान्तिकत्वमेवास्य स्यान्न तु सन्दिग्धानैकान्तिकत्वमिति। तन्नात्मनः कुतश्चित्प्रमाणात्सर्वगतत्वसिद्धिरित्यसर्वगत एवासौ यथाप्रतीत्यभ्युपगन्तव्यः।

ननु चात्मनोऽसर्वगतत्वे दिग्देशान्तरवर्त्तिभिः परमाणुभिर्युगपत्संयोगाभावोऽतश्चाद्यकर्माभावः, तदभावादन्त्यसंयोगस्य तन्निमित्तशरीरस्य तेन तत्सम्बन्धस्य चाभावादनुपायसिद्धः सर्वदात्मनो मोक्षः

अनुमान का हेतु भी सदोष है, इसमें न स्पर्शवत् इति अस्पर्शवत् ऐसा नञ समास है, स्पर्शवान का अभाव अस्पर्शवान् है इसमें प्रसज्य प्रतिषेधरूप अर्थ है कि पर्युदास प्रतिषेध है इत्यादि पहले के प्रश्न होते हैं और वही पहले के दोष आते हैं। तथा यह हेतु संदिग्ध अनैकान्तिक दोष युक्त भी है आगे इसी को स्पष्ट करते हैं—आत्मा व्यापक है, क्योंकि मन से अन्य होकर अस्पर्शमान द्रव्य है, यह अनुमान है, इसमें अस्पर्शवान द्रव्यत्व हेतु है, अस्पर्शमान द्रव्यपना आकाश में रहता है वह तो व्यापक के साथ रहता है किंतु मन में अस्पर्शमान द्रव्यपना अव्यापक के साथ रहता है, अतः संदेह हो जाता है कि आत्मा में जो अस्पर्शवानपना है वह व्यापकत्व सिद्ध कर रहा है या अव्यापकत्व को सिद्ध कर रहा है।

वैशेषिक—हमने "अस्पर्शवत् द्रव्यत्व हेतु का विशेषण दिया है कि मन से अन्य होकर अस्पर्शवत् द्रव्य है, ऐसा विशिष्ट अस्पर्शवत् द्रव्यत्व मन में अनुपलब्ध है अतः हेतु का उसमें जाने का संदेह किसप्रकार होगा ?

जैन—मन में उस विशिष्ट अस्पर्शवत् द्रव्यकी अनुपलब्धि होने से ही संदेह हो रहा है, यदि वैसा विशिष्ट अस्पर्शवत् द्रव्यत्व मन में उपलब्ध होता तो यह हेतु संदिग्ध अनैकान्तिक न होकर निश्चित अनैकान्तिक ही बन जाता। इसतरह आत्मा का सर्वगतपना किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है अतः इसको असर्वगत मानना चाहिए, प्रतीति भी असर्वगतरूप आ रही है।

वैशेषिक—आत्माको असर्वगत मानते हैं तो दिशा तथा देश में रहने वाले परमाणुओं के साथ एक साथ संयोग नहीं बनेगा और उनके संयोग के अभाव में आद्य

स्यात्; स्यादेवं यदि 'यद्येन संयुक्तं तं प्रति तदेवोपसर्पति' इत्ययं नियमः स्यात्। न चास्ति-अयस्कांतं प्रत्ययसस्तेनाऽसंयुक्तस्याप्युपसर्पणोपलम्भात्।

यस्य चात्मा सर्वगतः तस्यारब्धकार्यैरन्यैश्च परमाणुभिर्युगपत्संयोगात्तथैव तच्छरीरारम्भं प्रत्येकमभिमुखीभूतानां तेषामुपसर्पणमिति न जाने कियत्परिमाणं तच्छरीरं स्यात्।

कर्म जो शरीरारंभक परमाणुओं का शरीर के उत्पत्ति स्थान पर गमन करना है वह भी नहीं होवेगा, उसके अभाव होने से अन्त्य संयोग का अर्थात् शरीर निष्पत्ति का समाप्तिकाल और उसके बाद बना जो शरीर है उस शरीर का आत्माके साथ सम्बन्ध होना यह सब कार्य नहीं हो सकेगा और जब शरीर का सम्बन्ध ही आत्मा में नही रहेगा तो वह आत्मा अनुपाय सिद्ध—बिना उपाय के सिद्ध हुआ, फिर तो सर्वदा आत्मा मुक्त रहेगा।

जैन—आत्माके सर्वदा मोक्ष स्वरूप रहने का प्रसंग तब आता जब ऐसा नियम बनाते कि जो जिससे संयुक्त है उसके प्रति वही आकृष्ट होता है या निकट आता है अर्थात् जिसके साथ सम्बन्ध होना है वह निकटवर्त्ती सयुक्त हो ऐसा नियम नहीं है अतः सर्वगत नही होकर भी आत्मा के साथ शरीर योग्य परमाणु आदि सम्बद्ध होते हैं। आत्माके साथ परमाणु संयुक्त नही होकर भी सबंध को कैसे प्राप्त होते हैं उसके लिये चुम्बक का उदाहरण है कि चुम्बक लोहे से असंयुक्त है, तो भी लोहा उसके प्रति आकृष्ट होता है।

जिस वैशेषिक मतमें आत्माको सर्वगत माना है उसके यहां शरीर का संबंध होना आदि कुछ भी सिद्ध नही होगा, जिन परमाणुओं से शरीर निर्माण होना है वे तथा अन्य बहुत से परमाणु इन सबका एक साथ आत्माके साथ संयोग रहेगा, तथा उस आत्माके शरीर को बनाने के संमुख हुए जो परमाणु हैं वे भी पहले जिन्होंने शरीर निर्माण का प्रारंभ किया है उनके निकट पहुंच जायेंगे और इसतरह न जाने कितना परिमाणवाला वह शरीर बनेगा। अभिप्राय यह है कि आत्मा सर्वत्र है तो उसके साथ सब तरह के परमाणुको संयुक्तपना होने से उस आत्माका जो शरीर बनेगा उसके परिमाणका कोई अवस्थान नहीं रहेगा।

ननु ये तत्संयोगास्तदऽदृष्टापेक्षास्त एव स्वसंयोगिनां परमाणूनामाद्यं कर्म रचयन्तीति चेत्; अथ केयं तददृष्टापेक्षा नामएकार्थसमवायः, उपकारो वा, सहाद्यकर्मजननं वा ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; सर्वपरमाणुसंयोगानां तददृष्टैकार्थसमवायसद्भावात् । उपकारः, इत्यप्ययुक्तम्; अपेक्ष्यादपेक्षकस्यासम्बन्धानवस्थानुषंगेणोपकारस्यैवासम्भवात् । सहाद्यकर्मजननम्; इत्यप्यसत्; तयोरन्यतरस्यापि केवलस्य तज्जननसामर्थ्ये परापेक्षायोगात् । यदि पुनः स्वहेतोरेवादृष्टसंयोगयोः सहितयोरेव कार्य-

---

वैशेषिक—आत्माके अदृष्ट की अपेक्षा लेकर शरीर बनता है अतः परमाणुओं का संयोग भी अदृष्ट की अपेक्षा से होता है अपने अपने अदृष्ट संबंधी जो परमाणु हैं वे ही शरीरकी उत्पत्ति जहां होती है वहां पर आते हैं, इसलिये महत् शरीर बन जाने का प्रसंग नहीं आता है ?

जैन—अदृष्ट की अपेक्षा किसे कहते हैं, एकार्थ समवाय-एक आत्मामें अदृष्ट का समवाय होना, उपकार होना या साथ में आद्यकर्म उत्पन्न होना ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि आत्मा व्यापक है अतः आत्मामें एकार्थ समवाय से संबद्ध हुआ जो अदृष्ट है उसके साथ सम्पूर्ण परमाणुओं का संयोग रहेगा फिर वही पहले का दोष होगा कि शरीर के माप का कोई अवस्थान नहीं रहता । उपकार को अदृष्टकी अपेक्षा कहते हैं ऐसा पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि यहां जिसकी अपेक्षा है वह और अपेक्षा करने वाला इन दोनों में संबंध नहीं होने से अनवस्था दोष आता है अतः उपकार होना असंभव है । इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है-जिसकी अपेक्षा होती है ऐसा अदृष्ट तो अपेक्ष्य है और अपेक्षाको जो करता है वह अपेक्षक यहां पर परमाणुओंका संयोग है, अदृष्टरूप अपेक्ष्य द्वारा अपेक्षक परमाणु संयोगका जो उपकार किया जायगा वह उससे भिन्न है कि अभिन्न है, अभिन्न है तो उपकार भी अदृष्ट जन्य मानना होगा । तथा वह उपकार भिन्न है तो संबंध नहीं रहता, उसके संबंध के लिये अन्य की अपेक्षा होगी, इसतरह अनवस्था आ जायगी । अतः उपकार होनेको अदृष्टापेक्षा कहते हैं ऐसा पक्ष असत् ठहरता है ।

सह आद्यकर्म जनन—अदृष्ट और परमाणुसंयोग दोनों साथ ही आद्यकर्म को पैदा करने को अदृष्ट की अपेक्षा कहते हैं ऐसा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि इन दोनों में से किसी एक में आद्यकर्म को उत्पन्न करने की सामर्थ्य स्वीकार करने पर दूसरे की अपेक्षा होना अशक्य है ।

ग्रमनसामर्थ्यमिष्यते; तर्हि तत एवाहृष्टस्यैव तत्संयोगनिरपेक्षस्य तत्सामर्थ्यमस्तु। दृश्यते हि हस्ताश्रयेणायस्कान्तादिना स्वाश्रयासंयुक्तस्य भूभागस्थितस्य लोहादेराकर्षणमित्यलमतिप्रसंगेन।

यदप्युक्तम्–सावयवं शरीरं प्रत्यवयवमनुप्रविशंस्तदात्मा सावयवः स्यात्, तथा च घटादिवत्समानजातीयावयवारभ्यत्वम्, समानजातीयत्वं चावयवानामात्मत्वाभिसम्बन्धादित्येकत्रात्मन्यनंतात्मसिद्धिः, यथा चावयवक्रियातो विभागात्संयोगविनाशाद्घटविनाश। तथात्मविनाशोपि स्यात्; इत्यप्य-

---

वैशेषिक—अपने अपने हेतु से बने हुए जो अदृष्ट तथा परमाणु संयोग हैं इन दोनों में ऐसी ही सामर्थ्य है कि वे दोनों साथ रहकर ही कार्य को पैदा करते है ?

जैन—तो फिर उसी कारण से परमाणुसंयोग की अपेक्षा के बिना अदृष्ट ही आद्यकर्म को उत्पन्न करने की सामर्थ्य युक्त है ऐमा मानना चाहिए। ऐसा उदाहरण भी देखा जाता है कि–हाथ के आश्रय युक्त अयस्कांत [चुम्बक] अपने आश्रय में जो संयुक्त नहीं है [अलग है] ऐसे भूमि पर स्थित लोह का आकर्षण कर लेता है। इन हेतु तथा उदाहरणों से सिद्ध होता है कि अपने में संयुक्त नहीं हुए पदार्थ का आकर्षण भी हो सकता है अतः आत्माको सर्वगत नहीं मानेंगे तो द्वीप द्वीपांतरवर्त्ती पदार्थों को आत्मा कैसे प्राप्त कर सकेगा। इत्यादि शंकाओंका समाधान उपर्युक्त रीत्या हो जाता है, इससे विपरीत आत्माको सर्वगत मानने से उक्त कार्य की व्यवस्था सिद्ध नहीं होती अतः आत्माको सर्वगत मानने का पक्ष छोड़ देना चाहिए।

वैशेषिक–जैन आत्माको अव्यापक बतलाते हैं, आत्मा शरीर में प्रवेश करता है तथा निकल भी जाता है सो यह कथन सदोष है कैसे सो बताते हैं—शरीर अवयव सहित होता है जब आत्मा शरीर में प्रवेश करेगा तो उसके एक एक प्रदेश में प्रवेश करेगा अतः स्वयं भी सावयव बन जायगा, फिर उस आत्माके अवयवों का निर्माण होने के लिये घटादिके समान अपने सजातीय अवयव चाहिए, अवयवोंमें सजातीयपना भी आत्मत्वके अभिसंबंध से ही हो सकेगा, इसतरह तो एक ही आत्मामें अनंत आत्मा की सिद्धि हो जायगी ? तथा दूसरी बात यह होगी कि जैसे घटके अवयवोंमें क्रिया होने से विभाग, विभाग से संयोगका विनाश और संयोगके विनाशसे घटका नाश हो जाता है वैसे आत्मामें भी यह सब संयोग विभाग, विनाश को प्रक्रिया होवेगी और आत्माका भी नाश हो जायगा।

परीक्षिताभिधानम्; सावयवत्वेन भिन्नावयवारब्धत्वस्य घटादावप्यसद्धेः। न खलु घटादिः सावयवोपि प्राक्प्रसिद्धसमानजातीयकपालसंयोगपूर्वको दृष्टः, मृत्पिण्डात् प्रथममेव स्वावयवरूपाद्यात्मनोस्य प्रादुर्भावप्रतीतेः। न चैकत्र पटादौ स्वावयवतन्तुसंयोगपूर्वकत्वोपलम्भात्सर्वत्र तद्भावो युक्तः, अन्यथा काष्ठे लोहलेख्यत्वोपलम्भाद्वज्रे पि तथाभावः स्यात्। प्रमाणबाधनमुभयत्र समानम्।

किञ्च, अस्य तथाभूतावयवारब्धत्वम्–आदौ, मध्यावस्थायां वा साध्येत? न तावदादौ; स्तनादौ प्रवृत्त्यभावानुषङ्गात्, तद्धेत्वभिलाषप्रत्यभिज्ञानस्मरणदर्शनादेरभावात्। तदारम्भकावयवानां

जैन—यह कथन बिना सोचे किया है, सावयवपना भिन्न अवयवों से ही प्रारम्भ होता है ऐसा घट आदि में भी सिद्ध नहीं है, घटादि पदार्थ सावयव होने पर भी पहले ही प्रसिद्ध ऐसे समान जातीय कपाल के संयोग से सावयव नहीं कहलाते। किन्तु अपने उपादान कारणभूत मिट्टी के पिंड से उत्पन्न होते हुए स्वावयव स्वरूप ही उत्पन्न होते हैं। यदि कही वस्त्र आदि पदार्थ में ऐसा देखा जाता है कि अपने अवयव स्वरूप तन्तुओं का संयोग होकर वस्त्र बनता है, अतः वहां पर तो कह सकते हैं कि स्वावयव के संयोगपूर्वक अवयवी पदार्थ की उत्पत्ति हुई, किन्तु ऐसा सर्वत्र घट आत्मा आदि में घटित नही कर सकते, अन्यथा काष्ट में लोह लेख्य–कुल्हाड़ी से टूटना देखकर वज्र में भी यह घटित करना होगा अर्थात् काठ लोहे से टूट जाता है तो वज्र को टूट जाना चाहिए ऐसा मानना होगा? तुम कहो कि ऐसा मानने में प्रत्यक्ष से बाधा आती है, तो आत्मा में भी संयोगपूर्वक अवयवीपना मानने में बाधा आती है अतः उसमें ऐसा सावयवपना नहीं मानना चाहिए।

तथा दूसरी बात यह है कि वैशेषिक ने कहा कि आत्मा सावयवी शरीर में प्रवेश करेगा तो स्वयं ही सावयवी बन जायगा और सावयवी होगा तो उसके अवयवों की किसी अन्य सजातीय अवयवों से उत्पत्ति होगी इत्यादि। इस पर जैन वैशेषिक से प्रश्न करते हैं कि समान जातीय भिन्न अवयवों से आत्माके अवयव बनने का प्रसंग आयेगा इत्यादि आपने कहा सो उक्त अवयव शुरु अवस्था में बनते हैं, या मध्य अवस्था में, यदि शुरु अवस्था में [गर्भावस्था में] आत्मा सावयव बनता है ऐसा कहो तो इसका अर्थ पहले उसका अस्तित्व नहीं था, किंतु ऐसा मानने से जन्मे हुए बालक की स्तनपान आदि में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि स्तनपानका कारण इच्छा प्रत्यभिज्ञान स्मृति दर्शन आदि है और ये इच्छा आदिक पूर्व में आत्मा का अस्तित्व हुए बिना संभव नहीं।

प्राक् सतां विषयदर्शनादिसम्भवे तेषामेवाहर्जातवेलायां सत्त्वान्तराणामिव प्रवृत्तिः स्यात्। मध्यावस्थायां तु तत्साधने प्रत्यक्षविरोधः। अन्त्यावस्थायां चास्यात्यन्तविनाशे स्मरणाद्यभावात्स्तनादौ प्रवृत्त्यभाव एव स्यात्। न चेयं विनाशोत्पादप्रक्रिया क्वचिद् दृश्यते। न खलु कटकस्य केयूरीभावे कुतश्चिद्भागेषु क्रिया विभागः संयोगविनाशो द्रव्यविनाशः पुनस्तदवयवाः केवलास्तदनन्तरं तेषु कर्मसंयोगक्रमेण केयूरीभाव इति, केवलं सुवर्णकारका(कारकरा)दिव्यापारे कटकस्य केयूरीभावं पश्यामः। अन्यथा कल्पने च प्रत्यक्षविरोधः।

यदि कहा जाय कि आत्मा के आरंभक अवयव पहले सत् स्वरूप थे उनके विषयदर्शन, अभिलाषा आदि संभव हो जायगी तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से अन्य जीवों के समान वे आरंभक अवयव ही जन्म वेला में प्रवृत्ति कर सकेंगे।

मध्य अवस्था में आत्मा सावयव बनता है ऐसा सिद्ध करना तो प्रत्यक्षविरुद्ध है अर्थात् जन्म के कुछ समय के अनंतर आत्मा के अवयव बनते हुए प्रतीत नहीं होते यदि ऐसा होता तो साक्षात् सावयव शरीर में उसकी प्रतीति कैसे होती। अंत्य अवस्था में आत्मा के अवयव बनते हैं ऐसा माने तो उसका अत्यन्त नाश भी मानना होगा और ऐसा मानने पर आगामीभव में स्मृति आना स्तनपानादि में प्रवृत्ति होना आदि कुछ भी कार्य नहीं हो सकेंगे। हम जैन आत्माको सावयव मानते हैं किंतु पहले अवयवरहित पीछे सजातीय अवयवों से सावयवी ऐसा नहीं मानते अपितु अनादिकाल से सावयव बहुप्रदेशी मानते हैं। स्वभाव से ही उसमें अवयव [प्रदेश] हैं ऐसा हम स्याद्वादी मानते हैं ऐसा सावयवत्व मानने से उपर्युक्त दोष नहीं आते हैं।

वैशेषिक की नाश और उत्पाद की प्रक्रिया भी विचित्र है। ऐसी प्रक्रिया कही पर भी दिखायी नहीं देती है। सुवर्णमय कटक [कड़ा] जब केयूररूप होता है अर्थात् जब सुनार कड़ानामा आभूषण को तोड़कर केयूर–बाजुबंद नामा आभूषण बनाता है तब किसी कारण द्वारा उक्त कड़े के भागों में क्रिया होना, पुनः विभाग होना, संयोगका नाश, द्रव्यका नाश, फिर उस द्रव्यके केवल अवयव रहना तदनन्तर उन अवयवों में क्रिया होना, क्रिया से संयोग, और संयोग से केयूर बनना ऐसी इतनी प्रक्रिया होती हुई दिखायी नहीं देती। केवल सुवर्ण जो कड़े के आकार में था वह सुनार के हाथ आदि के व्यापार से केयूर के आकार में परिवर्तित हो जाता है इस कार्य को अन्यथा कल्पित करना प्रत्यक्ष विरुद्ध है।

न च सावयवशरीरव्यापित्वे सत्यात्मनस्तच्छेदे छेदप्रसङ्गो दोषाय; कथञ्चित्तच्छेदस्येष्टत्वात्। शरीरसम्बद्धात्मप्रदेशेभ्यो हि तत्प्रदेशानां छिन्नशरीरप्रदेशेऽवस्थानमात्मनश्छेदः, स चात्रास्त्येव, अन्यथा शरीरात्पृथग्भूतावयवस्य कंपोपलब्धिर्न स्यात्। न च छिन्नावयवप्रविष्टस्यात्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्वानुषंगः; तत्रैवानुप्रवेशात्। कथमन्यथा छिन्ने हस्तादौ कम्पादितल्लिङ्गोपलम्भाभावः स्यात्?

ननु कथं छिन्नाच्छिन्नयोः संघटनं पश्चात्? न; एकान्तेन छेदानभ्युपगमात्, पद्मनालतन्तुवद्-

---

वैशेषिक का कहना है कि—सावयव शरीर में यदि आत्मा व्याप्त होकर रहेगा तो शरीर के छेद होने पर या उसके अवयव के छेद होने पर आत्मा का भी छेद हो जायगा? सो यह बात सदोष नहीं है, अर्थात् अवयवों की अपेक्षा कथंचित् आत्मा में छेद होना जैन को इष्ट है किन्तु वह छेद भिन्न जातीय है, अब उसीको बताते हैं—आत्मप्रदेशों का शरीर में संबद्ध आत्मप्रदेशों द्वारा छिन्न शरीर प्रदेश में रहना आत्मा का छेद कहलाता है, ऐसा छेद तो आत्मा मे होता ही है अर्थात् आत्मा स्वशरीर में सर्वांग व्याप्त होकर रहता है जब कदाचित् उसके शरीर का अवयव—हस्तादि शस्त्रादि द्वारा कटकर भिन्न होता है तब शरीर से पृथक् हुए उस अवयव में आत्मप्रदेश कुछ काल तक रहते हैं, यदि उसमें आत्मप्रदेश नही होते तो शरीर से पृथक्भूत अवयव कंपित नहीं हो सकता था। तथा यह बात भी है कि शरीर के कटे हुए अवयव में जो आत्मप्रदेश हैं वे उस अवयव के समान आत्मा से पृथक् नहीं होते हैं अतः पृथक् पृथक् आत्माये बनने का प्रसंग नहीं आता। कटे हुए शरीरके भागके आत्मप्रदेश उसी शरीर मे स्थित आत्मा में प्रविष्ट हो जाते हैं। यदि वे प्रदेश शरीरस्थ आत्मा में अनुप्रविष्ट नहीं होते तो कटे हुए हस्तादि अवयव में कंपन होना आदि रूप आत्मा के चिह्न का अभाव किसप्रकार होता।

शंका—छिन्न हुए प्रदेश और नही छिन्न हुए प्रदेश इन दोनों का पीछे संघटन किसप्रकार हो सकेगा?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करना, हम जैन आत्मप्रदेशों का एकांत से छिन्न होना नहीं मानते हैं किन्तु कमल की नाल जिसप्रकार टूट जाने पर भी कमल से संबंधित रहती है अर्थात् कमल और नाल के अंतराल में तंतु लगा रहता है उसीप्रकार आत्मप्रदेश शरीर के अवयव के टूट जाने पर टूटे अवयव में तथा इधर शरीर मे दोनों

विच्छेदस्याप्यभ्युपगमात् । तथाभूतादृष्टवशाच्च तदविरुद्धमेव । ततो यद्यथा निर्बाधबोधे प्रतिभाति तत्तथैव सद्व्यवहारमवतरति यथा स्वारम्भकतन्तुषु प्रतिनियतदेशकालाकारतया प्रतिभासमानः पटः, शरीरे एव प्रतिनियतदेशकालाकारतया निर्बाधबोधे प्रतिभासते चात्मेति । न चायमसिद्धो हेतुः;

जगह रहते हैं और अंतराल में भी प्रदेशों का तांता लगा रहता है, यह कार्य उस तरह के अदृष्ट के कारण हो जाता है इसमें कोई विरोध वाली बात नहीं है ।

विशेषार्थ—आत्मा को अवयव या प्रदेश रहित निरंश मानने वाले परवादी वैशेषिक ने पूछा था कि जैन आत्मा के बहुत से प्रदेश मानते हैं एवं उन प्रदेशों का विघटन–छिन्न होना भी बतलाते हैं सो वे विघटित हुए आत्मप्रदेश वापिस आत्मा में किसप्रकार आ सकेंगे ? इस प्रश्न का समाधान जैनाचार्य ने बहुत ही सुन्दर ढंग से दिया है, अथवा इस विषयक वास्तविक सिद्धांत बतलाया है कि शरीर में आत्मा रहता है और कदाचित् शरीर का अवयव कट जाता है तो कटा अवयव और शरीर इन दोनों में स्थित आत्मप्रदेश आपस में बराबर संबंधित रहते हैं, जैसे कमल का डंठल छिन्न होने पर भी कमल से संबंधित रहता है । साक्षात् दिखायी देता है कि शरीर का कोई भाग शस्त्रादि से कट जाता है और उस कटे भाग मे कंपन होता रहता है युद्ध में सैनिक का मस्तक कट जाने पर धड़ नाचता रहता है, छिपकली की पूंछ कट जाने पर वह पूंछ हिलती रहती है, इत्यादि उदाहरणों से दो जैन सिद्धांत सिद्ध होते हैं कि आत्मा के अवयव या प्रदेश बहुत हैं आत्मा निरंश निरवयवी नही है, क्योंकि आत्मा के अवयव या प्रदेश नही होते तो शरीर में और शरीर के तत्काल कटे हुए भाग में चैतन्य के चिह्न–कंपनादि नहीं दिखायी देते । तथा वे आत्मप्रदेश सर्वथा विघटित नहीं होते है, संकोच और विस्तार को प्राप्त होते हैं । शरीर के कटे अवयव में स्थित आत्मप्रदेश और शरीर स्थित आत्मप्रदेश इनका वापिस संघटन किस कारण से होता है इसका उत्तर प्रभाचन्द्राचार्य देते हैं कि उसप्रकार के अदृष्ट के वश से पुनः संघटन होता है, टिप्पणीकार अदृष्ट का अर्थ संघटनकारी कर्म करते हैं । इन कारणों से तथा आत्मा स्वयं ही संकोच विस्तार प्रदेश स्वभाववाला होने से छिन्न अवयव के प्रदेश वापिस शरीर स्थित आत्मप्रदेशो में शामिल हो जाते हैं, इसी सिद्धांत पर समुद्घात क्रिया अवलंबित है, विक्रिया, कषाय, तैजस, वेदना, आदि समुद्घात में आत्मा के प्रदेश फैलते हैं और मूल शरीर का सम्बन्ध बिना छोड़े वापिस

शरीराद्बहिस्तत्प्रतिभासाभावस्य प्रतिपादितत्वात्। उक्तप्रकारेण चानवद्यस्य बाधकप्रमाणस्य कस्यचिदसम्भवान्न विशेषणासिद्धत्वमिति। तन्न परेषां यथाभ्युपगतस्वभावमात्मद्रव्यमपि घटते।

नापि मनोद्रव्यम्; तस्य प्रागेव स्वसंवेदनसिद्धिप्रस्तावे निराकृतत्वात्। ततः पृथिव्यादेर्द्रव्यस्य यथोपवर्णितस्वरूपस्य प्रमाणतोऽप्रसिद्धेः 'पृथिव्यादीनि द्रव्याणीतरेभ्यो भिद्यन्ते द्रव्यत्वाभिसम्बन्धात्'

लौटते हैं। स्वर्ग में देव देवियां तथा भोग भूमियां, चक्रवर्त्ती आदि हजारों शरीरों को एक साथ निर्माण करते हैं उनमें एक ही आत्मा के प्रदेश फैले रहते हैं इत्यादि, यह विषय तो आश्चर्य एवं रुचिकर है, इसका विस्तृत विवेचन सिद्धांत ग्रन्थों में [राजवार्त्तिक, धवला आदि] पाया जाता है। यहां पर इतना ही कहना कि आत्मा निरवयव नहीं है और न सर्वगत ही है, अवयव सहित होकर भी उसके अवयवों का निर्माण होना और अवयवों का निर्माण होने से आत्मा उत्पत्ति नाशवाला बनना इत्यादि कुछ भी दूषण नहीं आते हैं, इन दूषणों का निराकरण मूल में कर दिया ही है, अतः निश्चित हुआ कि आत्मा सावयव असर्वगत है।

इसप्रकार वैशेषिक की आत्मा सम्बन्धी मान्यता बाधित होती है इसलिए ऐसा मानना होगा कि जो जिसप्रकार निर्बाध ज्ञानमें प्रतिभासित होता है वह उसप्रकार व्यवहार में अवतरित होता है, जैसे स्व आरंभक तन्तुओं में प्रतिनियत देश, काल आकार से वस्त्र प्रतिभासित होता है अतः उसी रूप व्यवहार में अवतरित होता है, आत्मा भी शरीर में ही प्रतिनियत देश-काल, आकार से निर्बाध ज्ञान में प्रतिभासित होता है अतः उसको शरीर में ही स्वीकार करना चाहिए न कि सर्वत्र। शरीर में ही प्रतिनियत देशादि से प्रतीत होना रूप हेतु असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि शरीर के बाहर आत्मा का प्रतिभास नहीं होता ऐसा हम सिद्ध कर चुके हैं। आत्मा को शरीर के बाहर सर्वत्र सिद्ध करनेवाला कोई भी निर्दोष प्रमाण नहीं है, वैशेषिक के सभी अनुमान पूर्वोक्त प्रकार से खंडित हो चुके हैं। इसप्रकार आत्मा परममहापरिमाण का अधिकरण नहीं है ऐसा प्रारंभ में जैन ने कहा था वह परममहापरिमाण अधिकरण नहीं होना रूप विशेषण असिद्ध नहीं है ऐसा निश्चित हुआ। इसतरह वैशेषिक के यहां सर्वगत आदि स्वभाववाला आत्मद्रव्य भी अन्य द्रव्यों के सदृश सिद्ध नहीं होता है।

वैशेषिक के सिद्धांत का मनोद्रव्य भी सिद्ध नहीं होता, स्वसंवेदनज्ञानवाद के प्रकरण [पहले भाग में] इस मनोद्रव्य का खण्डन हो चुका है, इसप्रकार पृथिवी, जल,

इत्यादिहेतूपन्यासोऽविचारितरमणीयः, तत्स्वरूपासिद्धौ हेतोराश्रयासिद्धत्वात् । स्वरूपासिद्धत्वाच्च; द्रव्यत्वाभिसम्बन्धो हि समवायलक्षणो भवताभ्युपगम्यते, न चासौ प्रमाणतः प्रसिद्ध इति । विशेषणासिद्धत्वं च; *द्रव्यत्वसामान्यस्य यथाभ्युपगतस्वभावस्यासम्भवात्* । तन्न परपरिकल्पितो द्रव्यपदार्थो घटते ।

वायु, अग्नि, दिशा, काल, आकाश, आत्मा और मन इन नौ द्रव्यों का वैशेषिक ने जैसा वर्णन किया है वैसा प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता है, जब ये द्रव्य प्रमाण बाधित है इनका स्वरूप तथा संख्या प्रतीत नहीं होती है तो पृथ्वी आदि द्रव्य इतर पदार्थों से भेद को प्राप्त होते हैं, क्योंकि इनमें द्रव्यत्व का समवाय है, इत्यादि हेतु उपस्थित करना अयुक्त है, इन द्रव्यों का स्वरूप ही सिद्ध नहीं है तो इनके सिद्धि के लिये प्रदत्त हेतु आश्रय रहित होने से आश्रयासिद्ध कहलायेगा, तथा स्वरूपासिद्ध भी होगा, अर्थात् द्रव्यत्व हेतु द्वारा पृथ्वी आदि को इतर गुणादि पदार्थों से पृथक् करते हैं किंतु इन द्रव्यों में द्रव्यत्व का सम्बन्ध करनेवाला समवाय नामा पदार्थ आपने माना है वह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, अतः द्रव्यत्व हेतु स्वरूपासिद्ध होता है। इसका विशेषण भी असिद्ध है, क्योंकि जिसप्रकार का निरंश एक नित्य द्रव्यत्व सामान्य का स्वरूप कहा है वह असंभव है। इसतरह 'द्रव्यत्वात्' हेतु आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और विशेषणासिद्ध दोष युक्त है। इसप्रकार आप वैशेषिक का द्रव्यनामा पदार्थ सिद्ध नहीं होता है।

॥ आत्मद्रव्यवाद विचार समाप्त ॥

आत्मद्रव्यवादविचार का सारांश

वैशेषिक आत्मा को सर्वगत, एक एवं नित्य मानते हैं। उनका कहना है कि आत्मा व्यापक नहीं होवे तो उसके उपभोग्य पदार्थ शरीर आरंभक परमाणु आदि का देशांतर से आकर्षण नहीं हो सकता। अतः आत्मा व्यापक है एवं आकाश सदृश परम महापरिमाण गुणका अधिकरण है। वैशेषिक ने उक्त आत्मा के स्वरूप को सिद्ध करने के लिये अनेक अनुमान उपस्थित किये हैं, जैन ने उनका क्रमशः सयुक्तिक निरसन किया है और आत्मा को अव्यापक कथचित् नित्यनित्यात्मक सिद्ध किया है। यह शरीरधारी प्रत्येक आत्मा स्व स्व शरीर में ही प्रतिभासित होता है, आकाशवत् महापरिमाण वाला प्रतिभासित नहीं होता। आकाश एक द्रव्यरूप है किन्तु आत्मा अनेक द्रव्य है। आत्मा व्यापक होता तो हलन चलनरूप क्रियाशील नहीं होता। वैशेषिक का मंतव्य है कि आत्मा अणु प्रमाण नही है अतः सर्वव्यापक है किन्तु यह नियम नहीं है, कि जो अणु प्रमाण नहीं वह अवश्य सर्वव्यापक होवे।

नित्यत्व और सर्वगतत्व के साथ अविनाभाव स्थापन करना भी असंभव है, क्योंकि परमाणु द्रव्य नित्य होकर भी सर्वगत नहीं है। देवदत्त आदि पुरुषों के निकट द्वीपांतरो से मणि मुक्ता आदि पदार्थ आ जाते हैं अतः देवदत्तादिका आत्मा व्यापक है ऐसा वैशेषिक कथन भी अयुक्त है द्वीपांतर के मणि मुक्ता आदि को देवदत्त के प्रति आकृष्ट करनेवाला कौनसा गुण है यह एक प्रश्न है यदि देवदत्त के ज्ञानादिगुण उक्त पदार्थों को आकृष्ट करते हैं तो सर्वथा प्रतीतिविरुद्ध है। अदृष्ट पुण्य पापरूप गुण आकृष्ट करते हैं ऐसा मानना भी अशक्य है, क्योंकि अदृष्ट [धर्म–अधर्म–पुण्य पाप] अचेतन है तथा आत्मा को सर्वगत माने तो संसार का अभाव होगा, सर्वव्यापक होने से गति से दूसरी गति में गमनरूप क्रिया अशक्य होगी। आत्मा को संसार न होकर मन को होता है ऐसा कथन भी असत् है मन पृथक् द्रव्य नहीं है।

वैशेषिक के यहां कहा है कि यह अज्ञजीव अपने सुख दुःख में असमर्थ है ईश्वर द्वारा प्रेरित होकर स्वर्ग या नरक में गमन करता है, इससे सिद्ध होता है कि

आत्मा क्रियावान् है और क्रियावान् है तो अव्यापक स्वतः सिद्ध हुआ। आत्मा का निरंश या अवयव रहित मानना भी असिद्ध है। जैन भिन्न भिन्न अवयव से बनना रूप अवयव आत्मा में नहीं मानते किन्तु प्रदेशरूप अवयव मानते हैं। आत्मा के अवयव स्वीकार करेंगे तो उसके छेद का प्रसंग आता है ऐसी आशंका भी नहीं करना। छेद दो प्रकार का है सर्वथा पृथक् होना रूप छेद और कमल नालवत् छेद। प्रथम छेद तो आत्मा में असंभव है, उसमें तो कमलनाल के टूट जाने पर जैसे परस्पर में तन्तु संबंध रहता है वैसा छेद आत्मा में सम्भव है शरीर के हस्त आदि अवयव कट जाने पर कटे अवयव में कंपन होता है वह कम्पन आत्मप्रदेशों का द्योतक है, इतना अवश्य है कि वे आत्मप्रदेश तत्काल उसी शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं।

इसप्रकार वैशेषिक का सर्वथा नित्य, सर्वगत, निरंश, क्रियारहित आत्मा सिद्ध नहीं होता किन्तु कथंचित् नित्य-अनित्य स्वशरीर प्रमाण, असंख्य प्रदेशी सक्रिय आत्मा सिद्ध होता है।

॥ आत्मद्रव्यवादविचार का सारांश समाप्त ॥

१३

गुणपदार्थवादः

नापि गुणपदार्थः। स हि चतुर्विंशतिप्रकारः परैरिष्टः। तथाहि–"रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च तु गुणाः" [वैशे० सू० १।१।६] इति सूत्रसंगृहीताः सप्तदश, चशब्दसमुच्चिताः गुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारधर्माधर्मशब्दाश्च सप्तेति। तत्र रूपं चक्षुर्ग्राह्यं पृथिव्युदकज्वलनवृत्ति। रसो रसनेन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकवृत्तिः। गन्धो घ्राणग्राह्यः पृथिवीवृत्तिः। स्पर्शस्त्वगिन्द्रियग्राह्यः पृथिव्युदकज्वलनपवनवृत्तिः।

वैशेषिक के द्रव्यनामा पदार्थ का खण्डन करने के अनंतर अब प्रभाचंद्राचार्य उनके गुणनामा पदार्थ का खण्डन करते हैं। सर्व प्रथम प्रतिवादी अपना पक्ष रखते हैं।

वैशेषिक—गुणनामा पदार्थ के चौबीस भेद हैं–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये सतरह गुण तो मूल सूत्र में ग्रहण किये गये हैं शेष सात गुण च शब्द से ग्रहण में आ जाते हैं, वे इसप्रकार हैं–गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द। अब इनका विशेष विवरण देते हैं–रूपनामा गुण चक्षु द्वारा जाना जाता है और पृथिवी, जल, अग्नि इन तीन द्रव्यों में रहता है। रस गुण रसनेन्द्रियद्वारा ग्राह्य है और पृथिवी तथा जल में रहता है। गंध घ्राणेन्द्रियग्राह्य है एवं केवल पृथिवी द्रव्य में रहता है। स्पर्शगुण स्पर्शनेन्द्रियग्राह्य है यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारों द्रव्यों में रहता है।

संख्या त्वेकादिव्यवहारहेतुरेकत्वादिलक्षणा, एकद्रव्या चानेकद्रव्या च । तत्रैकसंख्या एकद्रव्या । अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिसंख्या । सा च प्रत्यक्षत एव सिद्धा, विशेषबुद्धेश्च निमित्तान्तरापेक्षत्वादनुमानतोपि ।

परिमाणव्यवहारकारणं परिमाणम्, महदणु दीर्घं ह्रस्वमिति चतुर्विधम् । तत्र महद्द्विविधं नित्यमनित्यं च । नित्यमाकाशकालदिगात्मसु परममहत्त्वम् । अनित्यं द्व्यणुकादिद्रव्येषु । अण्वपि नित्यानित्यभेदाद्द्विविधम् । परमाणुमनस्सु पारिमाण्डल्यलक्षणं नित्यम् । अनित्यं द्व्यणुके एव । बदरामलकबिल्वादिषु तु महत्स्वपि तत्प्रकर्षाभावमपेक्ष्य भाक्तोऽणुव्यवहारः ।

संख्या नामा गुण एक, दो इत्यादि सख्या–गिनती का कारण होता है और इसका लक्षण एकत्व आदि है । संख्या के दो भेद हैं, एक द्रव्यसंख्या और अनेक द्रव्य संख्या, एकद्रव्य में रहनेवाली एक संख्या है और दो तीन आदि संख्या अनेक द्रव्य में होती है । यह संख्या गुण प्रत्यक्ष से ही सिद्ध होती है । विशेष या भेद की बुद्धि का कारण यह संख्या ही है यह संख्या द्रव्यादि निमित्त की अपेक्षा रखती है अतः अनुमान द्वारा भी इसकी सिद्धि होती है ।

विशेषार्थ—संख्यानामा गुणका सद्भाव अनुमान से होता है–एक, दो इत्यादि रूप जो ज्ञान होता है वह विशेषण की अपेक्षा लेकर होता है, क्योंकि यह विशिष्ट ज्ञान है, जैसे "यह दण्डावाला है" ऐसा ज्ञान होता है वह विशेषण–दण्डे की अपेक्षा लेकर होता है, एक है, दो है, अथवा एक आम है, दस अनार हैं इत्यादि द्रव्यो में जो एक दस आदि विशेषण जुड़ते हैं और उससे हमे जो एक दस आदि का ज्ञान होता है वह सख्यागुण के कारण होता है इसतरह अनुमान से सख्या की सिद्धि होती है । सख्या गुण होने से अकेली प्रतीत न होकर किसी निमित्तकी–वस्तुकी अपेक्षा लेकर प्रतीत होती है ।

परिमाण–माप का व्यवहार जिसके द्वारा होता है वह परिमाण नामा गुण है उसके चार भेद हैं, महत्, अणु, दीर्घ और ह्रस्व, महद् के दो प्रभेद हैं नित्य और अनित्य । आकाश, काल, आत्मा और दिशा में नित्य परम महत् रहता है और अनित्य महत् द्व्यणुक आदि द्रव्यों में रहता है । अणु नामा परिमाण भी नित्य अनित्य ऐसे दो प्रकार का है, परमाणु और मन इन दो द्रव्यों में रहनेवाला अणु परिमाण नित्य है जो परिमडलाकार [गोल] है । अनित्य अणु परिमाण वास्तविक तो द्व्यणुक में ही रहता है,

ननु महद्दीर्घत्वयोस्त्र्यणुकादिषु प्रवर्त्तमानयोर्द्व्यणुके चाणुत्वह्रस्वत्वयोः को विशेषः ? 'महत्सु दीर्घमानीयतां दीर्घेषु महदानीयताम्' इति व्यवहारभेदप्रतीतेरस्त्यनयोः परस्परतो भेदः। अणुत्व-ह्रस्वत्वयोस्तु विशेषो योगिनां तद्दर्शिनां प्रत्यक्ष एव। महदादि च परिमाणं रूपादिभ्योऽर्थान्तरं तत्प्रत्ययविलक्षणबुद्धिग्राह्यत्वात्सुखादिवत्।

संयुक्तमपि द्रव्यं यद्वशात् 'अत्रेदं पृथक्' इत्यपोद्ध्रियते तदपोद्धारव्यवहारकारणं पृथक्त्वं घटादिभ्योऽर्थान्तरं तत्प्रत्ययविलक्षणज्ञानग्राह्यत्वात्सुखादिवत्।

और बेर आंवला, बिल्व इत्यादि महत् परिमाण वाले पदार्थों में जो अणु परिमाण की प्रतीति होती है वह उपचरित है, उसमें प्रकर्षभाव की अपेक्षा अर्थात् आपस में छोटे बड़े की कल्पना लेकर अणुपने का व्यवहार किया जाता है।

शंका—त्र्यणुक आदि में प्रवर्त्तमान महत् और दीर्घत्व तथा द्वयणुक में प्रवर्तमान अणुत्व और ह्रस्वत्व इनमें क्या विशेष भेद है ?

समाधान—महत् और दीर्घ मे यह विशेषता है कि महान पदार्थों में से दीर्घ को लाना, दीर्घ पदार्थों मे से महान को लाना [अर्थात् बड़े में से जो लम्बा हो उसको लाना या लंबाई वाले में जो बड़ा हो उसे लाना] इसप्रकार का भेद व्यवहार देखा जाता है अतः इनमें परस्पर में भेद है। अणु परिमाण और ह्रस्व परिमाण इनकी परस्पर की विशेषता तो उन परिमाणों को देखने वाले योगियों के प्रत्यक्ष ही है। यह महत्, दीर्घ, आदि परिमाण नामा गुण रूप रस आदि गुणों से पृथक् है, क्योंकि उन गुणो से विलक्षण ही प्रतिभास कराने वाला है [अर्थात् विलक्षण बुद्धि द्वारा ग्राह्य होता है] जैसे सुख, दुःखादि का प्रतिभास विलक्षण होने से रूपादि गुण से सुखादि गुण पृथक् माने जाते हैं। पृथक्त्व गुण का लक्षण–संयुक्त हुआ द्रव्य भी जिसके निमित्त से "यहां पर यह पृथक् है" इसप्रकार पृथक् किया जाता है वह पृथक्पने के व्यवहार का कारणभूत पृथक्त्वनामा गुण कहलाता है, यह गुण घट आदि पदार्थों से अर्थांतरभूत है क्योंकि घट के प्रत्यय से विलक्षण प्रत्यय द्वारा ग्राह्य होता है जैसे सुखादि गुणों का प्रतिभास विलक्षण है।

अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोग । प्राप्तिपूर्विका चाप्राप्तिर्विभागः । तौ च द्रव्येषु यथाक्रमं संयुक्तविभक्तप्रत्ययहेतू ।

'इदं परमिदमपरम्' इति यतोऽभिधानप्रत्ययौ भवतस्तद्यथाक्रमं परत्वमपरत्वं च । बुद्ध्यादयः प्रयत्नान्ताश्च गुणाः सुप्रसिद्धा एव ।

गुरुत्वं च पृथिव्युदकवृत्ति पतनक्रियानिबन्धनम् । द्रवत्वं तु पृथिव्युदकज्वलनवृत्तिः स्प(स्य) न्दनहेतुः । पृथिव्यनलयोर्नैमित्तिकम् । अपां सांसिद्धिकम् । स्नेहस्त्वऽम्भस्येव स्निग्धप्रत्ययहेतुः ।

सस्कारस्तु त्रिविधो वेगो भावना स्थितस्थापकश्चेति । तत्र वेगाख्यः पृथिव्यप्तेजोवायुमनस्सु मूर्त्तद्रव्येषु प्रयत्नाभिघातविशेषापेक्षात्कर्मणः समुत्पद्यते । नियतदिक्क्रियाप्रतिब(प्रब)न्धहेतुः स्पर्श-

---

अप्राप्तिपूर्वक होनेवाली प्राप्ति को सयोग कहते है । प्राप्त होकर अप्राप्त हो जाने को विभाग कहते है, ये दोनो सयोग-विभाग गुण द्रव्यो में क्रम से सयुक्त और विभक्त ज्ञान के कारण है ।

यह पर है, यह अपर है ऐसा अभिधान तथा ज्ञान जिससे हो वह क्रमशः परत्व और अपरत्व गुण कहलाता है । बुद्धि से लेकर प्रयत्न तक के छह गुण सुप्रसिद्ध ही हैं ।

गुरुत्वनामा गुण पृथिवी और जल में रहता है, यह गुण पतन [गिरना] क्रिया का कारण है । द्रवत्वनामा गुण पृथिवी, जल और अग्नि में रहता है, और स्यन्दन-[झरना] का कारण है । पृथिवी और अग्नि में जो द्रवत्व देखने में आता है वह किसी निमित्त से होता है अतः अनित्य है और जल में जो द्रवत्व है वह सांसिद्धिक है [स्वतः ही है] अतः नित्य है । स्नेह गुण केवल जल में है और यह स्निग्धता का ज्ञान कराता है ।

संस्कारनामा गुण तीन प्रकार का है, वेग, भावना, स्थित स्थापक । वेग नामका गुण पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन जो कि मूर्त्त अर्थात् असर्वगत द्रव्य हैं उनमें प्रयत्न की अभिघात विशेष की अपेक्षा से होने वाली जो क्रिया या कर्म है उससे उत्पन्न होता है । यह वेग नियत दिशा में क्रिया का प्रबंध कराता है तथा स्पर्शवान्

वद्द्रव्यसंयोगविरोधी च । भावनाख्यः पुनरात्मगुणो ज्ञानजो ज्ञानहेतुश्च, दृष्टानुभूतश्रुतेष्वप्यर्थेषु स्मृतिप्रत्यभिज्ञाकार्योन्नीयमानसद्भाव:। मूर्त्तिमद्द्रव्यगुण: स्थितस्थापक:, घनावयवसन्निवेशविशिष्टं स्वमाश्रयं कालान्तरस्थायिनमन्यथाव्यवस्थितमपि प्रयत्नतः पूर्ववद्यथावस्थितं स्थापयतीति कृत्वा, दृश्यते च तालपत्रादेः प्रभूततरकालसंवेष्टितस्य प्रसार्यमुक्तस्य पुनस्तथैवावस्थान संस्कारवशात्। एवं धनु:शाखाशृङ्गदन्तादिषु भग्नापवर्तितेषु वस्त्रादौ चास्य कार्यं परिस्फुटमुपलभ्यत एव। धर्मादयस्तु सुप्रसिद्धा एवेति।

तदेतत्स्वगृहमान्यं परेषाम्; रूपादिगुणानां यथोपवर्णितस्वरूपेणावस्थानासम्भवात्। न खलु रूपं पृथिव्युदकज्वलनवृत्त्येव, वायोरपि तद्वत्तासम्भवात्। तथाहि-रूपादिमान्वायुः पौद्गलिकत्वात्

द्रव्य के संयोग का विरोधी है, अर्थात् वृक्ष आदि द्रव्य के साथ बाणादि का संयोग होने पर बाण का वेग नामा संस्कार स्वयं नष्ट हो जाता है। भावना नामका गुण तो आत्मा का है यह ज्ञान से उत्पन्न होता है और ज्ञानका कारण भी है। यह भावना दृष्ट, श्रुत और अनुभूत पदार्थों मे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान को कराने मे कारण है, इन स्मृति आदि कार्यों को देखकर भावना गुण का सद्भाव जाना जाता है, स्थित स्थापक नामा सस्कार मूर्त्तमान द्रव्य का गुण है, यह घने अवयवो से रचे हुए विशिष्ट ऐसे अपने आश्रय को जो कि कालांतर स्थायी है, उसको अन्यथा रूप से व्यवस्थित होने पर पुन: प्रयत्न करके पहले के समान स्थापित कर देता है, इसका उदाहरण देते हैं— बहुत काल से वेष्ठित रखे हुये ताड़ पत्र आदि पदार्थ हैं उनको फैलाकर छोड़ दो तो पुन: वैसे ही बन जाते है, क्योंकि संस्कार वैसा ही पड़ा है, इसीप्रकार खींचकर छोड़ा हुआ धनुष पुन: वैसे ही मुड़ जाता है, वृक्ष की डाली, सींग, दांत आदि खींचकर छोड़ देने पर पूर्ववत् रहते है, वस्त्रादि पदार्थ भी बहुत दिन तक जैसे रखे हों वैसे अवस्थित रहते हैं ऐसा स्पष्ट दिखायी देता है, यह स्थित स्थापकनामा संस्कार का कार्य है। धर्म, अधर्म और शब्द ये गुण तो जगत प्रसिद्ध हैं, इनका अधिक विवरण आवश्यक नहीं है, अर्थात् धर्म अधर्म ये गुण आत्मा में ही रहते हैं, ये अनित्य हैं, तथा शब्द आकाश का गुण है यह भी अनित्य है। इसप्रकार चौबीस गुणों का हमारे यहां वर्णन पाया जाता है।

जैन—यह वर्णन परवादियों के अपने घर का मात्र है, प्रमाणभूत नहीं है, क्योंकि जैसा इनका स्वरूप बताया वैसा सिद्ध नहीं होता है, रूपगुण पृथिवी, जल, अग्नि

स्पर्शवत्त्वाद्वा पृथिव्यादिवत् । एवं जलानलयोरपि गन्धरसादिमत्ता प्रतिपत्तव्या । रूपरसगन्धस्पर्शवंतो हि पुद्गलास्तत्कथं तद्विकाराणां प्रतिनियमः ? रूपाद्याविर्भावतिरोभावमात्रं तु तत्राविरुद्धम्, जलकनकादिसंप्रयुक्तानले भासुररूपोष्णस्पर्शयोस्तिरोभावाविर्भाववत् ।

संख्यापि संख्येयार्थव्यतिरेकेणोपलब्धिलक्षणप्राप्ता नोपलभ्यते इत्यसती खरविषाणवत् । न च विशेषणमसिद्धम्; तस्या दृश्यत्वेनेष्टेः । तथा च सूत्रम्–"संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणि" [वैशे० सू० ४।१।११] इति ।

इन तीन द्रव्यों मे ही रहता है ऐसा आपने कहा किन्तु ऐसा नही है रूपगुण वायु में भी रहता है, अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है कि वायु रूपादियुक्त है, क्योंकि पौद्गलिक है, स्पर्शादिमान होने से भी वायु में रूप की सिद्धि होती है, जैसे पृथिवी आदि में स्पर्शादिमानपना होने से रूप का अस्तित्व सिद्ध होता है । इसीप्रकार जल और अग्नि में गन्ध तथा रसादि गुण की सिद्धि होती है क्योंकि पुद्गल द्रव्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इन चारों ही गुणो से युक्त हुआ करते है अतः पुद्गलो के विकार से बने हुए जल आदि में गुणों का नियम कैसे कर सकते हैं कि पृथिवी में गन्ध है इत्यादि अर्थात् पृथिवी आदि चारों पदार्थों में एक एक मे चारों चारों गुण नियम से पाये जाते हैं कोई भेद नही है । किन्तु किसी मे रूपादिका आविर्भाव होता है, और किसी में तिरोभाव होता है, ऐसा आविर्भाव तिरोभाव आप भी तो मानते हैं, जल सुवर्ण आदि में जब अग्नि संयुक्त होती है तब उसमें भासुरता–चमकीलापन रूप का तिराभाव होता है और उष्ण का आविर्भाव होता है, जैसे यहां पर जल में अग्नि के संयुक्त होने पर उस अग्नि का भासुरत्व तिरोधान हो जाता है वैसे ही वायु मे रूपादिगुण रहते अवश्य हैं किन्तु स्पर्श आविर्भावरूप और शेष तीन तिरोभूत रहते हैं । इसीतरह गन्ध केवल पृथिवी में नहीं रहता किन्तु पृथिवी आदि चारों में रहता है इसलिये रूपादि गुणों का स्वरूप तथा आश्रय ये दोनों ही वैशेषिक के सिद्ध नही होते हैं ।

संख्यानामा गुण भी सिद्ध नही होता, अब इसको बताते हैं—संख्या संख्येयभूत पदार्थों से पृथक् नही है यदि पृथक् होती तो उपलब्ध होने योग्य होने से पदार्थों से पृथक् दिखायी देती किन्तु वह उपलब्ध नहीं होती अतः निश्चित होता है कि गधे के सींग की तरह असत् है । हमने जो विशेषण दिया वह असिद्ध भी नहीं है, अर्थात्

'एकादिप्रत्यया विशेष(ण)ग्रहणापेक्षा विशिष्टप्रत्ययत्वाद्दण्डीत्यादिप्रत्ययवत्' इत्यनुमानतोपि न संख्यासिद्धिः; यतो यथा 'एको गुणोपि(णः) बहवो गुणाः' इत्यादौ संख्यामन्तरेणाप्येकादिबुद्धिस्तथा घटादिष्वप्यसहायादिस्वभावेष्वेकादिबुद्धिर्भविष्यतीत्यलमर्थान्तरभूतयैकादिसंख्यया। न च गुणेषु संख्या सम्भवति; अद्रव्यत्वात्तेषां तस्याश्च गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात्। न च गुणेषूपचरितमेकत्वादि-

---

उपलब्ध होने योग्य है। ऐसा संख्या का विशेषण असिद्ध नही है, क्योंकि संख्या को दृश्य उपलब्ध होने योग्य मानते हैं। आपका सिद्धांत सूत्र है कि संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपि समवायाच्चाक्षुषाणि अर्थात् संख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, और कर्म ये सब रूपिका समवाय होने से चाक्षुष हैं–नेत्र द्वारा दृश्य हैं। इससे सिद्ध हुआ कि संख्या दृश्य है, फिर संख्येय के अतिरिक्त क्यों नही उपलब्ध होती। अतः उपलब्ध नहीं होने से संख्या नामका गुण सिद्ध नही होता है।

संख्यानामा गुण को सिद्ध करने के लिए अनुमान दिया कि–एक है, दो है इत्यादि जो ज्ञान होता है वह विशेषण के ग्रहण की अपेक्षा लेकर होता है, क्योंकि यह विशिष्ट ज्ञान है, जैसे दण्डावाला है इत्यादि ज्ञान विशेषण की अपेक्षा लेकर होते हैं। किन्तु इस अनुमान से संख्या की सिद्धि नही होती है, कारण यह है कि–"एक गुण है, बहुत से गुण है" इत्यादि ज्ञान बिना संख्या के होते हैं इनमे जैसे संख्या गुण की अपेक्षा किये बिना संख्या का ज्ञान होना मानते है वैसे घट पट आदि पदार्थों में भी एक घट है इत्यादि संख्या का ज्ञान बिना संख्या गुण के हो सकता है, अर्थात् गुणों की संख्या करने का जहां प्रसंग हो वहां बिना संख्या के गुणों की संख्या हो जाती है क्योंकि गुण में गुण नहीं रह सकता जैसे गुणों में संख्या का बोध बिना संख्या गुण के होता है वैसा घटादि पदार्थों में हो जायगा, अतः उसके लिये संख्या गुण की कल्पना करना व्यर्थ है। गुणों में संख्या संभव नहीं, क्योंकि गुण अद्रव्य हैं और संख्या गुणरूप होने से द्रव्य के आश्रित रहती है।

वैशेषिक—गुणों में जो संख्या का ज्ञान होता है वह उपचरित है वास्तविक नहीं ?

ज्ञानम्, अस्खलद्वृत्तित्वात् । यदि चाश्रयगता संख्यैकार्थसमवायाद्गुणेषूपचर्येत; तर्हि 'एकस्मिन्द्रव्ये रूपादयो बहवो गुणाः' इति प्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात्, तदाश्रयद्रव्ये बहुत्वसंख्याया अभावात् । 'षट् पदार्थाः' इत्यादिव्यपदेशे च किं निमित्तमित्यभिधातव्यम् ? न ह्यत्रैकार्थसमवायिनी संख्या सम्भवति; तया सह षट्पदार्थानां क्वचित्समवायाभावात् । अस्तु वा संख्या, तथाप्यस्याः कथं गुणत्वसिद्धिः सत्त्वादिवत् षट्स्वपि पदार्थेषु प्रवृत्तेः ?

जैन—यह कथन असत् है, गुणों में होने वाला संख्या का बोध बाधा रहित है, जैसे द्रव्य की संख्या करने मे संख्या की प्रतीति अस्खलितरूप से होती है वैसे गुण की संख्या करने में संख्या की प्रतीति होती है, कोई अन्तर नही है ।

वैशेषिक—गुणों की संख्या की बात ऐसी है कि—गुण स्व आश्रयभूत द्रव्य में एकार्थ समवाय से रहते है, संख्या भी द्रव्य में एकार्थ समवाय से रहती है उसके कारण गुणों मे उपचार करके संख्या का ज्ञान प्रवृत्त होता है ?

जैन—तो फिर एक द्रव्य मे रूपादि बहुत से गुण हैं ऐसी प्रतीति उत्पन्न नही हो सकेगी क्योंकि उसके आश्रयभूत द्रव्य में बहुत्व संख्या का अभाव है ऐसा आप स्वीकार करते है । इसीप्रकार छह पदार्थ हैं इत्यादि नाम व्यवहार में क्या निमित्त है यह भी वैशेषिक को बतलाना होगा, अर्थात् ये छह पदार्थ हैं ऐसा नाम तथा ज्ञान का व्यवहार करते हैं इसमें छः संख्या है वह कौनसी संख्या है ? केवल एक द्रव्य नामा पदार्थ में समवायिनो संख्या तो हो नही सकती, क्योंकि उसके साथ छहों पदार्थों के समवाय का अभाव है अभिप्राय यह है कि संख्या को गुण माना, गुण केवल द्रव्य में रहता है, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इनमें नहीं रहता फिर इन गुण, कर्म आदि की संख्या या ये द्रव्यादि छह पदार्थ हैं ऐसा कहना, इनमें छह संख्या का प्रतिभास होना कैसे सम्भव है ? अर्थात् नही है । वैशेषिक के विशेष आग्रह से मान लेवे कि संख्या नामा पदार्थ है किन्तु उसे गुण कैसे कह सकते हैं ? क्योकि इसकी सत्वादि के समान छहों पदार्थों में प्रवृत्ति होती है । अर्थात् संख्या को गुणरूप नहीं मानो तब तो सत्वादि की तरह छहो पदार्थों मे उसकी प्रवृत्ति होवेगी अन्यथा नही हो सकती ।

ननु यदि संख्या गुणो न स्यात्तर्ह्यनित्यत्वमसमवायिकारणत्वं चास्या न स्यात्। अस्ति च तदुभयम्। तथा चोक्तम्–"एकादिव्यवहारहेतुः संख्या:। सा पुनरेकद्रव्या चानेकद्रव्या च। तत्रैक-द्रव्यायाः सलिलादिपरमाणुरूपादीनामिव नित्यानित्यत्वनिष्पत्तयः। सलिलादयश्चादिपरमाणवश्चेति विग्रहः। अनेकद्रव्या तु द्वित्वादिका परार्द्धान्ता। तस्याः खल्वेकत्वेभ्योऽनेकविषयबुद्धिसहितेभ्यो निष्पत्तिः अपेक्षाबुद्धिनाशाच्च विनाशः क्वचिदाश्रयविनाशादुभयविनाशाच्चेति चार्थः। असमवायि-कारणत्वं च द्वित्वबहुत्वसंख्यायाः द्वयणुकादिपरिमाणं प्रति" [प्रश० भा० पृ० १११–११३] इति; एतदपि मनोरथमात्रम्; भेदवदस्याः कारणत्वाभावात्। यथैव हि कार्यभिन्नताया कारणभिन्नताया

वैशेषिक—संख्या को यदि गुण नहीं माना जाय तो वह अनित्य और असमवायीकारणरूप नहीं हो सकती, किंतु संख्या में अनित्यपना और असमवायी कारणपना दोनों ही दिखायी देते हैं, कहा भी है "एक है, दो है" इत्यादि व्यवहार का हेतु संख्या ही हुआ करती है, वह सख्या एक द्रव्यरूप तथा अनेक द्रव्यरूप भी होती है। उनमें जो एक द्रव्यरूप सख्या है उससे नित्य और अनित्यत्व की निष्पत्ति होती है, जैसे जल आदि के रूपादि गुण और परमाणुओं के रूपादि गुणो की नित्य अनित्यरूप निष्पत्ति होती है अर्थात जल आदि के रूपादिगुण अनित्य और परमाणु के रूपादिगुण नित्य होते हैं, जैसे रूपादिगुण एक रूप होकर भी उसके नित्यपना तथा अनित्यपना हुआ वैसे ही सख्यागुण एक द्रव्यरूप होकर भी उसके नित्यपना तथा अनित्यपना होता है। "सलिलादिपरमाणुरूपादीनां" इस पद का विग्रह सलिलादयश्च आदि परमाणवश्च ऐसा है। अनेक द्रव्यरूप जो संख्या है वह दो से लेकर परार्द्ध संख्या तक है, इस अनेक द्रव्यरूप द्वित्वादि संख्या की निष्पत्ति अनेक विषय सम्बन्धी बुद्धि से युक्त ऐसे एकत्वों से हुआ करती है, अर्थात् द्वित्वादि संख्या आपेक्षिक हुआ करती है, जहां दो संख्या का प्रतिभास हो वहां द्वित्व और जहां अन्य तीन आदि संख्या का प्रतिभास हो वहां वही तीन आदि संख्या निष्पन्न हो जाती है और अपेक्षाबुद्धि के विनाश होते ही वह संख्या भी नष्ट हो जाती है, कभी कही पर आश्रयभूत संख्येय के विनाश होने से वह संख्या नष्ट हो जाती है, अर्थात् संख्या और संख्येय इन दोनों का भी नाश होता है, इसतरह यह अनेक द्रव्यरूप द्वित्वादि संख्या अनित्य है। संख्यागुण असमवायीकारणरूप भी होता है, कैसे सो बताते हैं—"द्वयणुक आदि के परिमाण के प्रति द्वित्व बहुत्व आदि संख्या असमवायी कारण हुआ करती है," ऐसा हमारे यहां कहा गया है, इसका अर्थ यह है कि दो अणु का स्कन्ध द्वयणुक है, यह त्र्यणुक है इत्यादि पदार्थों के माप का

असमवायिकारणत्वं भवता नेष्यते तथैकत्वस्यापि तन्नेष्टव्यं तस्याऽभेदपर्यायत्वात्। अभेदभेदौ च स्वात्मपरात्मापेक्षौ रूपादिष्वपि भवतः। यथा चैकमभिन्नमिति पर्यायस्तथानेकं भिन्नमित्यपि। तथा च द्वित्वादिरप्यनेकत्वपर्यायः, तस्योत्पत्त्यादिकल्पना न कार्या।

कारण संख्या है, इस संख्या को नहीं माना जाय तो पदार्थों का परिमाण किस प्रकार होगा एवं उन पदार्थों का परिमाण बदलता रहता है वह भी किस प्रकार सिद्ध होगा?

जैन—यह कथन मनोरथ मात्र है, द्वित्वादि संख्या की बात ऐसी है कि जिस प्रकार भेद होने में कारण नहीं होता वैसे संख्या होने में कारण नहीं है। जैसे आप वैशेषिक कार्यों के भिन्नता मे कारण की भिन्नता का असमवायीकारण नहीं मानते हैं अर्थात् भिन्न भिन्न कार्यो का एक ही असमवायीकारण मानते हैं वैसे ही द्वित्वादि संख्या के प्रति एकत्व संख्या को असमवायीकारणरूप नहीं मानना चाहिये क्योंकि यह एकत्व अभेद पर्याय स्वरूप है।

एकत्व संख्या अभेद पर्यायरूप होकर भी अन्य संख्या के लिये असमवायी बन जायगी ऐसा भी नही कहना क्योंकि भेद अभेद स्वमे और परमें अपेक्षा लेकर हुआ करते हैं जैसे रूप रस आदि मे स्व और पर की अपेक्षा भेद और अभेद होता है अर्थात् रूप का अपने स्वयं के स्वरूप की अपेक्षा अभेद है और परकी अपेक्षा भेद है, रस का स्वरूप की अपेक्षा अभेद और परकी अपेक्षा भेद है। एकत्व यह एक अभिन्नरूप पर्याय है, ऐसे ही अनेकत्व भिन्नरूप पर्याय है, द्वित्वादि संख्या भी अनेकत्वरूप पर्याय ही है, अतः द्वित्वादि सख्या अनेक विषय वाली बुद्धि की अपेक्षा लेकर एकत्वरूप असमवायीकारण से निष्पन्न होती है इत्यादि कहना असत् है, द्वित्वादि तो पर्यायस्वरूप पदार्थ है और पदार्थ या पर्याय अपने कारण कलाप से स्वयं उत्पन्न हुआ है उसके लिये एकत्वरूप कारण की आवश्यकता नही है। अभिप्राय यह हुआ कि कोई वस्तु एक संख्या स्वरूप है कोई अनेक संख्यास्वरूप है यह तो वस्तु का निजी स्वरूप है पर्याय अथवा अवस्था है, यह अवस्था स्वतः परिवर्तित होती रहती है उसमें सख्यानामा कोई पदार्थ हो वह उसको एक अनेकरूप करता हो या एक अनेक, दो चार इत्यादि विशेषण जोड़ता हो याकि एक, दो आदि वस्तुओं में यह एक है, ये दो हैं इत्यादि प्रतिभास करानेवाला हो सो बात नहीं है ये कार्य वस्तु के निजी शक्ति से या स्वभाव से हुआ करते हैं, वस्तु की जैसी अवस्था या पर्याय भेद अथवा अभेद होता है उसमें वह स्वयं समर्थ है। आप

नन्वेवं सर्वत्र 'द्वे त्रीणि' इत्यादिप्रतिभासप्रसङ्गात् प्रतिभासप्रविभागो न स्यादऽनेकत्वस्याविशिष्टत्वात्; तन्न; अपेक्षाबुद्धिविशेषवत्तत्सिद्धेरप्रतिबन्धात्। यथैव ह्यनेकविषयत्वाविशेषेपि काचिदपेक्षाबुद्धि: द्वित्वस्योत्पादिका काचित्त्रित्वस्य। न ह्यपेक्षाबुद्धे: पूर्वं द्वित्वादिगुणोस्ति; अनवस्थाप्रसंगात् अपेक्षाबुद्धिजनितस्य वा द्वित्वादेरानर्थक्यानुषङ्गात्। तथा द्वित्वादिप्रत्ययविभागोपि भविष्यति। 'यत एव चाभिन्नभिन्नत्वलक्षणाद्विशेषादपेक्षाबुद्धिविशेषस्तत एवैकत्वादिव्यवहारभेदोपि भविष्यति इत्यलमन्तर्गडुनैकत्वादिगुणेन।

वैशेषिक स्वयं मात्र द्रव्य की गणना के लिये संख्या गुण को कारणरूप स्वीकार करते हैं गुणों की गणना करने के लिये कोई कारण नहीं मानते जैसे गुणों की गणना या संख्या स्वय हो जाती है अथवा गुणो में एकत्व द्वित्वादिका ज्ञान बिना सख्या गुण के स्वयं होता है वैसे द्रव्यों मे स्वयं होता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

वैशेषिक—इसतरह स्वयं ही द्वित्वादि की निष्पत्ति होना मानेंगे या एकत्व, द्वित्वादि संख्या को पर्यायरूप मानेगे तो दो हैं, तीन हैं इत्यादि प्रतिभास सर्वत्र समान होगा क्योंकि दो हो तो भी अनेक हैं और चार पांच आदि भी अनेक हैं फिर प्रतिभास का विभाजन नही हो सकेगा?

जैन—यह कथन ठीक नहीं, सर्वत्र समान प्रतिभास नही होगा, एक द्वित्व आदि संख्या का भिन्न भिन्न प्रतिभास जो होता है वह अपेक्षा बुद्धि विशेष के समान सिद्ध होता है, अर्थात् सर्वत्र अनेकत्व समानरूप से होते हुए भी कोई अपेक्षा बुद्धि द्वित्व की उत्पादक होती है, कोई अपेक्षा बुद्धि त्रित्व—तीनपने की उत्पादक होती है। इस अपेक्षा बुद्धि के पहले द्वित्वादि गुण होता है ऐसा भी नहीं कह सकते, यदि ऐसा मानेंगे तो अनवस्था आती है। अथवा अपेक्षा बुद्धि से जनित होने से द्वित्वादिक मानना व्यर्थ सिद्ध होता है। तथा द्वित्व आदि के प्रतिभास का विभाग भी सम्भव है। अर्थात् जिस कारण अभिन्नत्व और भिन्नत्वरूप विशेष से अपेक्षा बुद्धि का विशेष सम्भव है उसी कारण से एकत्व आदि रूप व्यवहार भेद भी होवेगा, अंतर्गडुसदृश [भीतरी फोड़े के समान] एकत्वादि संख्या गुण की कल्पना से बस हो।

यदि संख्या गुण को न मानकर केवल वस्तुओं के भिन्नत्व अभिन्नत्वरूप विशेष से द्वित्वादिका प्रतिभास स्वीकार करते हैं तो गुणों में भी एकत्वादिका व्यवहार सुगम

एवं च गुणेष्वप्येकत्वादिव्यवहारोऽकष्टकल्पनः स्यात् । गणितव्यवहारश्च 'षट्पञ्चविंशतिभिः सार्धं शतम्' इत्यादिः सुगमः । तस्मादभिन्नं तावदेकमित्युच्यते, तदपरेणाभिन्नेन सह द्वे इति, ते त्वपरेणाभिन्नेन सह त्रीणीत्येवमादिः समयो लोके प्रसिद्धो गणितप्रसिद्धश्चैकत्वादिव्यवहारहेतुर्द्रष्टव्य इति ।

अथ द्वित्वबहुत्वसंख्याया द्व्यणुकादिपरिमाणं प्रत्यसमवायिकारणत्वोपपत्तेः सद्भावसिद्धिः; तन्न; अस्यास्तदसमवायिकारणत्वे प्रमाणाभावात् । परिशेषोऽस्तीति चेत्; न; कारणपरिमाणस्यैवासमवायिकारणत्वसम्भवाद्रूपादिवत् ।

हो जायगा । तथा गणित व्यवहार भी सुगम होगा कि पच्चीस को छह से गुणा करने पर डेढ़ सौ होता है इत्यादि ।

अतः अभिन्न संख्येय [वस्तु] को 'एक' इसप्रकार कहते हैं वही अभिन्न एक अपर अभिन्न संख्येय के साथ जुड़कर 'दो' इस पर व्यवहृत होता है वे ही दो अपर संख्येय वस्तु के साथ जुड़कर तीन कहे जाते हैं इस तरह लोक में यह संकेत प्रसिद्ध है । तथा गणित प्रसिद्ध एकत्व आदि के व्यवहार का हेतु भी यही है ।

शंका—द्व्यणुक आदि के परिमाण के प्रति द्वित्व, बहुत्व संख्या असमवायी कारण है, अतः संख्या गुण का सद्भाव सिद्ध होता है ?

समाधान—यह कथन असत् है, संख्या द्व्यणुक आदि के परिमाण के प्रति असमवायी कारण है ऐसा सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है ।

वैशेषिक—द्व्यणुकादि परिमाण असमवायी कारणपूर्वक होते हैं क्योंकि ये सत्रूप कार्य हैं, जैसे घटादि कार्य है इनका असमवायीकारण तो संख्या ही हो सकती है । इस परिशेष अनुमान प्रमाण से संख्या का असमवायी कारणपना सिद्ध होता है ।

जैन—यह अयुक्त है, कारण का परिमाण ही असमवायीकारण हुआ करता है अन्य नहीं जैसे कारण के रूपादिक कार्य के रूपादि के प्रति असमवायीकारणत्व है ।

वैशेषिक—यदि द्व्यणुक आदि के परिमाण का असमवायीकारणपना कारण का परिमाण ही है तो इसका अर्थ यह हुआ कि द्व्यणुक का परिमाण परमाणु के परिमाण से उत्पन्न होता है, फिर द्व्यणुक तो परमाणु जितना रह जायगा ।

ननु परमाणुपरिमाणजन्यत्वे द्व्यणुकेपि परमाणुत्वप्रसङ्गः स्यात्; तन्न; कार्यकारणयोस्तुल्य-परिमाणत्वे दृष्टान्ताभावात्। सर्वत्र हि कारणपरिमाणादधिकमेव कार्यपरिमाणं दृश्यते। परिमाणवच्च कर्मण्यप्यसमवायिकारणत्वमस्याः स्यात्। दृश्यते हि द्वाभ्यां बहुभिर्वा पाषाणाद्युत्थापनम्। न चात्र सख्यायाः कारणत्वं भवद्भिरिष्टम्। अथास्यास्तत्रापि निमित्तत्वमिष्यते; को वै निमित्तत्वे विप्रतिपद्यते? सामान्यादीनामपि तदभ्युपगमात्। असमवायिकारणत्वं तु तस्याः परिमाणवदुत्थापनादि-कर्मण्यभ्युपगन्तव्यम्, न चान्यत्रापीत्यलमतिप्रसंगेन।

जैन—यह गलत है, कार्य और कारण सर्वथा समान परिमाण वाले होवे ऐसा कहीं पर देखा नहीं गया है, सब जगह कारण के परिमाण से अधिक परिमाण वाला कार्य देखा जाता है। एक बात और भी है कि परिमाण का असमवायीकारण यदि द्वित्वादि संख्या है तो उसे कर्म का [क्रिया का] असमवायीकारण भी मानना चाहिये? देखा भी जाता है कि दो पुरुष अथवा बहुत से पुरुषों द्वारा पाषाण आदि को उठाया जाता है, किन्तु इस कर्म में आपने संख्या को कारण नहीं माना है।

वैशेषिक—हम लोग उस क्रिया में भी संख्या को निमित्त मानते हैं?

जैन—निमित्त मानने में कौन विवाद करता है? उक्त क्रिया में तो सामान्यादिको भी निमित्त कारण माना है किन्तु आप उक्त संख्या को असमवायी कारण मानते हैं वह सिद्ध नहीं होता क्योंकि यदि संख्या परिमाण के प्रति असमवायीकारण हैं तो उत्थापन [उठाना] आदि क्रिया में भी उसे असमवायीकारण मानना होगा केवल परिमाण के प्रति नहीं। अब इस विषय में अधिक नहीं कहते।

विशेषार्थ—घट आदि पदार्थ रूप कार्यों को तीन कारण होते हैं ऐसा वैशेषिक का कहना है, समवायीकारण, असमवायीकारण और निमित्त कारण। घट का समवायीकारण मिट्टी है, असमवायीकारण पानी, चाक आदि है और निमित्त कारण कुम्हार है, ये कारण उपादान, सहकारी और निमित्त के समान हैं। यहां पर चर्चा है संख्या की, वैशेषिक संख्या को गुणरूप मानता है, इसे द्व्यणुक आदि द्रव्य के परिमाण का असमवायीकारण बतलाया इस पर जैन ने कहा कि यदि संख्या द्व्यणुकादि के परिमाण के असमवायीकारण होती है तो उसे कर्म अर्थात् क्रिया के प्रति भी असमवायी कारण होना चाहिये। किन्तु वैशेषिक ऐसा मानते नहीं, संख्या को गुणरूप मानना

यदप्युक्तम्-महदादिपरिमाणं रूपादिभ्योऽर्थान्तरं तत्प्रत्ययविलक्षणबुद्धिग्राह्यत्वात्सुखादिवत्; तदप्ययुक्तम्; हेतोरसिद्धेः, घटाद्यर्थव्यतिरेकेण महदादिपरिमाणस्याध्यक्षप्रत्ययग्राह्यत्वेनासंवेदनात्।

असत्यपि महदादौ प्रासादमालादिषु महदादिप्रत्ययप्रादुर्भावप्रतीतेरनैकान्तिकश्चायम्। न च यत्रैव प्रासादादौ समवेतो मालाख्यो गुणस्तत्रैव महत्त्वादिकमपि इत्येकार्थसमवायवशात् 'महती प्रासादमाला' इतिप्रत्ययोत्पत्तेर्नानैकान्तिकत्वम्; स्वसमयविरोधात्। न खलु प्रासादो भवद्भिरवयवि-

---

उसके एकत्वादि भेद करना इत्यादि विषय का मूल में भली प्रकार खण्डन कर दिया है।

जो पहले कहा था कि–महत् आदि परिमाण, रूप आदि गुण तथा गुणी से अर्थान्तरभूत है, क्योंकि इसकी प्रतीति विलक्षण बुद्धि द्वारा ग्राह्य होती है, अथवा इसका प्रतिभास रूपादि से विलक्षण हुआ करता है, जैसा सुखादिका हुआ करता है इत्यादि, सो यह कथन भी अयुक्त है, इसका हेतु असिद्ध है, क्योंकि रूपादिस्वरूप घटादि पदार्थों से अतिरिक्त कोई भी महत् आदि परिमाण [माप] नामावस्तु [गुण] प्रतीति में नहीं आता है, महदादि परिमाण प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा ग्राह्य होता हुआ दिखायी नहीं देता है।

तथा जहां पर महदादि परिमाण स्वीकार नहीं किया है वहां प्रासादों की माला–पंक्तियों में भी "ये महलों की पंक्तियां महान् विशाल हैं इत्यादि रूप महदादि परिमाण का ज्ञान उत्पन्न होता है अतः हेतु अनैकान्तिक होता है अर्थात् जो महदादि परिमाण की प्रतीति करता है वह महदादि परिमाण नामा गुण है ऐसा कहना व्यभिचरित होता है।

शंका—जहां प्रासाद आदि में माला नामका गुण समवेत हुआ वही पर महदादि परिमाण गुण भी समवेत है अतः एकार्थ समवेत [एक ही अर्थ में मिलने से] होने के कारण "यह महलों की पंक्ति महान है" ऐसा प्रतिभास होता है, इसलिये हेतु व्यभिचरित नहीं होता।

समाधान—ऐसा नहीं कहना अन्यथा स्वयं वैशेषिक के सिद्धांत से विरुद्ध पड़ेगा इसीको आगे बता रहे हैं कि–आपने प्रासाद को अवयवी द्रव्य नहीं माना है

द्रव्यमभ्युपगम्यते विजातीयानां द्रव्यानारम्भकत्वात् । किं तर्हि ? संयोगात्मको गुणः । न च गुणः परिमाणवान्, "निर्गुणा गुणाः" [ ] इत्यभिधानात् । ततो मालाख्यस्य गुणस्य प्रासादादिष्वभावात् 'प्रासादमाला' इत्ययमेव प्रत्ययस्तावदयुक्तः, दूरत एव सा 'महती ह्रस्वा वा' इति प्रत्ययः, मालायाः संख्यात्वेन प्रासादानां संयोगत्वेन महदादेश्च परिमाणत्वेन परैरभ्युपगमात् ।

अथ माला द्रव्यस्वभावेष्यते; तथापि द्रव्यस्य द्रव्याश्रयत्वान्नास्याः संयोगस्वरूपप्रासादाश्रयत्वं युक्तम् । अथासौ जातिस्वभावेष्यते; तर्हि प्रत्याश्रय जातेः समवेतत्वादेकस्मिन्नपि प्रासादे 'माला' इति प्रत्ययोत्पत्तिः स्यात् । 'एका प्रासादमाला महती दीर्घा ह्रस्वा वा' इत्यादिप्रत्ययानुपपत्तिश्च तदवस्थैव; मालायां तदाश्रये च प्रासादादावेकत्वादेर्गुणस्याऽसम्भवात् । बह्वीषु च प्रासादमालासु

क्योंकि प्रासाद विजातीय काष्ठ आदि अनेक द्रव्यों से निर्मित है, अतः यह अवयवी द्रव्य नहीं होकर संयोगात्मक गुण है, गुण परिमाणवान् हो नहीं सकता, क्योंकि "निर्गुणा गुणाः" ऐसा वचन है । इससे सिद्ध हुआ कि प्रासाद आदि में माला नामका गुण नहीं है । "प्रासाद माला" यही प्रतिभास अयुक्त है केवल दूर से ही यह प्रासादों की पंक्ति बड़ी है अथवा छोटी है ऐसा प्रतिभास होता है । आप माला को संख्यारूप स्वीकार करते हैं, प्रासादों को संयोग गुणरूप, एवं महदादि को परिमाण नामा गुणस्वरूप स्वीकार करते हैं । इसलिये संयोग गुणरूप प्रासाद पंक्ति में माला गुण है ऐसा नहीं कह सकते ।

वैशेषिक—माला [पंक्ति] को द्रव्य का स्वभाव माना जाय ?

जैन—तो भी ठीक नहीं रहेगा क्योंकि द्रव्य स्वभाव द्रव्य के आश्रय में ही रहता है संयोग स्वरूप प्रासादों के आश्रय मे नहीं ।

वैशेषिक—माला जाति स्वभाव है ?

जैन—जाति तो प्रत्येक आश्रय में समवेत होती है, अतः एक एक आश्रयभूत प्रासाद में रहनेवाली उस जाति के निमित्त से एक प्रासाद में भी "माला-पंक्ति है" ऐसा ज्ञान होने लगेगा । फिर एक प्रासाद माला बड़ी है, यह लम्बी है, यह छोटी है इत्यादि प्रतिभास पूर्ववत् असम्भव ही रहेगा । क्योंकि माला और माला के आश्रयभूत प्रासादादि में एकत्वादिगुण का असम्भव है [इसका भी कारण यह कि उक्त माला आदि

'माला माला' इत्यनुगतप्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात्, जातावऽपरापरजातेरनुपपत्तेः। न चौपचारिकोयं प्रत्ययोऽस्खलद्वृत्तित्वात्। न हि मुख्यप्रत्ययाविशिष्टस्योपचारिकत्वं युक्तमतिप्रसङ्गात्। अत एव मालादिषु महत्त्वादिप्रत्ययोपि नौपचारिकः। ततो यथा स्वकारणकलापात्प्रासादादयो महदादिरूपतयोत्पन्नास्तत्प्रत्ययगोचरास्तथा घटादयोपीत्यलमर्थान्तरभूतपरिमाणपरिकल्पनया।

यदप्युक्तम्-'बदरामलकादिषु भाक्तोऽणुव्यवहारः' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; मुख्यगौणप्रविभागस्यात्राप्रमाणत्वात्। न खलु यथा सिंहमाणवकादिषु मुख्यगौणविवेकप्रतिपत्तिः सर्वेषामविगाने-

---

स्वयं गुणरूप है] तथा बहुतसी प्रासाद माला जहां खड़ी हो वहां "माला है यह भी माला है" [महलों की अनेक पंक्तियां] ऐसा अनुगत प्रत्यय नहीं हो सकेगा ? क्योंकि माला को जाति स्वभाव रूप माना, अब उस जाति में दूसरी जाति तो हो नहीं सकती ? यदि कहा जाय कि बहुतसी प्रासाद मालाओं में जो अनुगतप्रत्यय होता है वह औपचारिक है, तो भी ठीक नहीं क्योंकि यह प्रत्यय भी सत्यप्रत्यय के समान अस्खलतरूप से होता है [बाधारहित होता है] जो अनुमत प्रत्यय मुख्य के समान ही हो रहा है उपको औपचारिक कहना अयुक्त है, अन्यथा अतिप्रसंग आयेगा [मुख्य अनुगत प्रत्यय– गौ है यह भी गौ है, इत्यादि को भी औपचारिक मानना होगा] इसलिये माला आदि में होने वाला महान् दीर्घ आदि प्रत्यय [ज्ञान] औपचारिक नहीं कहला सकता। अतः जिसप्रकार प्रासादादि वस्तु अपने कारण सामग्री से उत्पन्न होती हुई महान् दीर्घ इत्यादि रूप ही उत्पन्न होती है वही दीर्घता या महत्व का ज्ञान कराती है, ऐसा मानते हैं, उसीप्रकार घट पट इत्यादि पदार्थ स्वकारण से उत्पन्न होते हुए महत्, दीर्घ, ह्रस्व इत्यादि परिमाण वाले स्वयं उत्पन्न होते हैं उनमें महत् आदि का प्रत्यय स्वनिमित्तक ही है ऐसा सिद्ध होता है, इस प्रत्यय के लिये परिमाण गुण की कोई आवश्यकता नहीं है।

परिमाण गुण का कथन करते हुए वैशेषिक ने कहा था कि आकाश, परमाणु आदि में जो महान्, अणु आदि का प्रतिभास होता है वह तो मुख्य है और बेर आंवला आदि में जो अणु महत् का प्रतिभास है वह तो औपचारिक है इत्यादि, सो यह सब अयुक्त है, क्योंकि आपका यह मुख्य और गौण का विभाग प्रामाणिक नहीं है। जिस प्रकार सिंह और माणवक आदि में मुख्य सिंह और गौण सिंह का विभाग बिना विवाद

नास्ति तथा 'द्वयणुके एवाणुत्वह्रस्वत्वे मुख्येऽन्यत्र भाक्ते' इति कस्यचित्प्रतिपत्तिः । प्रक्रियामात्रस्य च सर्वशास्त्रेषु सुलभत्वान्नातो विवादनिवृत्तिः ।

आपेक्षिकत्वाच्च परिमाणस्यागुणत्वम् । न हि रूपादेः सुखादेर्वा गुणस्यापेक्षिको सिद्धिः । योपि नीलनीलतरादे. सुखसुखतरादेर्वाऽऽपेक्षिको व्यवहारः सोऽपि तत्प्रकर्षापकर्षनिबन्धनो न पुनर्गुण-स्वरूपनिबन्धनः । ततो ह्रस्वदीर्घत्वादेः संस्थानविशेषाद्व्यतिरेकाभावात्कथं गुणरूपता ? तद्विशेष-स्यापि कथञ्चिद्भेदाभिधाने त्र्यस्रचतुरस्रादेरपि भेदेनाभिधानानुषङ्गात्कथ तच्चतुर्विधत्वोपवर्णनं सशोभेतेति ?

यच्चोक्तम्-पृथक्त्वं घटादिभ्योर्थान्तरं तत्प्रत्ययविलक्षणज्ञानग्राह्यत्वात्सुखादिवत्; तदप्युक्ति-

---

के सभी को हो रहा है, उसप्रकार द्वयणुक में ही अणुत्व ह्रस्वत्व मुख्य है, बेर आदि में गौण है ऐसी मुख्य गौण की प्रतीति किसी को भी नहीं आ रही है । अपनी प्रक्रिया मात्र बताना तो वह सभी के शास्त्रों में सुलभ है किन्तु उससे विवाद समाप्त नहीं होता है ।

परिमाण अपेक्षा से हुआ करता है अर्थात् यह छोटा है यह बड़ा है इत्यादि प्रतीति एक दूसरे पदार्थों की अपेक्षा लेकर होती है, यह अपेक्षा जनित है अतः अगुण है गुण नहीं । रूप रस इत्यादि गुण या सुखादि गुण इस तरह अपेक्षा जनित नहीं हुआ करते हैं, रूपादि गुणों में यह नील है यह इससे अधिक नीलतर है इत्यादि अपेक्षा लेकर व्यवहार होता है एवं यह भोजन का सुखानुभव विशेष है इससे अधिक मिष्ठान्न भोजन का सुखानुभव है इत्यादि अथवा विषयजन्य सुखानुभव से वैराग्यजन्य सुखानुभव अधिक है इत्यादि आपेक्षिक व्यवहार होता है वह तो प्रकर्षता और अपकर्षता के कारण होता है, गुण के स्वरूप के कारण नही होता है । अतः यह निश्चय होता है कि ह्रस्व दीर्घत्वादि संस्थान विशेष मात्र है इससे अतिरिक्त कुछ नही है, फिर इसको गुणपना किसप्रकार सिद्ध हो सकता है ? यदि इस संस्थान विशेष को ही किसी प्रकार से भेद करके पृथक् नामा धरा जाय तो त्रिकोण, चौकोण इत्यादि संस्थान विशेषों को भी भिन्न भिन्न गुणरूप मानना होगा फिर परिमाणके चार भेद बताना किसतरह सिद्ध होगा ?

पृथक्त्व नामा गुण घट पट आदि से अतिरिक्त है, क्योंकि घटादि के ज्ञान से विलक्षण ज्ञान द्वारा ग्राह्य है, जैसे सुखादि विलक्षण ज्ञान द्वारा ग्राह्य है । ऐसा वैशेषिक

मात्रम्; हेतोरसिद्धत्वात् । न खलु स्वहेतोरुत्पन्नाऽन्योन्यव्यावृत्तार्थव्यतिरेकेणार्थान्तरभूतस्य पृथक्त्व-स्याध्यक्षे प्रतिभासोस्ति, अत एवोपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यास्यानुपलम्भादसत्त्वम् ।

रूपादिगुणेषु च 'पृथक्' इतिप्रत्ययप्रतीतेरनेकांतः । न हि तत्र पृथक्त्वमस्ति गुणेषु गुणा-सम्भवात् । न च गुणेषु 'पृथक्' इति प्रत्ययो भाक्तः; मुख्यप्रत्ययाविशिष्टत्वात् । न च स्वरूपेणा (ण) व्यावृत्तानामर्थानां पृथक्त्वादिवशात्पृथग्रूपता घटते; भिन्नाभिन्नपृथग्रूपताकरणेऽकिञ्चित्करत्वात् । भेदपक्षे हि सम्बन्धासिद्धिः । अभेदपक्षे तु पृथग्रूपस्यार्थस्यैवोत्पत्तेरर्थान्तरभूतपृथक्त्वगुणकल्पना-वैयर्थ्यम् । प्रयोगः-ये परस्परव्यावृत्तात्मानस्ते स्वव्यतिरिक्तपृथक्त्वानाधाराः यथा रूपादयः, परस्पर-व्यावृत्तात्मानश्च घटादयोर्था इति ।

का अनुमान वाक्य भी अयुक्त है, इस अनुमान का हेतु असिद्ध दोष युक्त है, इसी का खुलासा करते हैं-"पृथक्त्व गुण घट आदि के ज्ञान से ग्राह्य न होकर दूसरे विलक्षण ज्ञान से ग्राह्य होता है" ऐसा जो हेतु दिया है वह गलत है, घट पट आदि पदार्थ अपने अपने कारण कलाप से उत्पन्न होकर स्वयं ही परस्पर से व्यावृत्त हो जाया करते हैं, यही इनका पृथक्त्वपना है इससे अतिरिक्त पृथक्त्व प्रत्यक्ष ज्ञान मे प्रतिभासित नही होता, अतः उपलब्ध होने योग्य होकर भी अनुपलब्ध होने से इसका अभाव ही है । रूप रस आदि गुणों में भी "यह पृथक् है" [यह रूप इससे पृथक् है] इसतरह प्रतीति होने से उपर्युक्त हेतु अनैकान्तिक भी है । इस ज्ञान में पृथक्त्व कारण नहीं है क्योकि गुणों में गुण नहीं रहते हैं । गुणों में होने वाला पृथक्पने का प्रतिभास गौण है ऐसा भी नहीं कहना, क्योकि यह प्रतिभास भी मुख्य के समान अस्खलित है ।

वैशेषिक—घट, पट आदि पदार्थ यद्यपि अपने स्वरूप से व्यावृत्त हैं फिर भी पृथक्त्व गुण के कारण इनमें पृथकपने का व्यवहार एव ज्ञान होता है ?

जैन—इसतरह नही कहना, इसमें फिर प्रश्न होता है कि घट पट आदि को पृथक्त्व गुण पृथक् करता है वह भिन्न रहकर या अभिन्न रहकर करता है ? भिन्न रहकर करना अशक्य है क्योकि उसका घटादि से सम्बन्ध ही नहीं है । अभिन्न रहकर करता है तो इसका अर्थ यह निकला कि पदार्थ स्वयं ही पृथक्रूप उत्पन्न हुआ है, उसमें फिर से पृथक्त्व गुण की कल्पना करना व्यर्थ है । अनुमान प्रयोग जो परस्पर में व्यावृत्त स्वरूप वाले होते हैं वे पदार्थ अपने से अतिरिक्त किसी पृथक्त्व गुण के आधारभूत नहीं होते हैं, जैसे रूपादि गुण पृथक्त्व के आधार नहीं हैं, घट, पट, गृह, वृक्षादि पदार्थ

ततो विभिन्नस्वभावतयोत्पन्नार्थस्यैव 'पृथक्' इतिप्रत्ययविषयत्वप्रसिद्धेरलं पृथक्त्वगुण-कल्पनया। पृथक्प्रत्ययस्याप्यसाधारणधर्मादेवोपपत्तेः यदा ह्येकं वस्त्वितरेभ्यो भिन्नं पश्यति प्रतिपत्ता तदा 'एकं पृथक्' इति प्रतिपद्यते। यदा तु द्वे वस्तुनीतरेभ्यो विलक्षणैकधर्मयोगाद्विभिन्ने पश्यति तदा 'द्वे पृथक्' इति मन्यते। यदा त्वेकदेशत्वादिना धर्मेणेतरेभ्यो बहूनि भिन्नानि पश्यति तदा 'एतान्येतेभ्यः पृथक्' इति प्रतिपद्यते, यथा रूपादयो द्रव्यात्पृथगिति।

संयोगस्तु समवायनिराकरणप्रघट्टके प्रतिषेत्स्यते। तदभावात् 'प्राप्तिपूर्विका अप्राप्तिर्विभागः' इत्यपि निरस्तम्। न हि प्राग्भाविसान्तररूपतापरित्यागेन निरन्तररूपतयोत्पन्नवस्तुव्यतिरेकेणान्यः

भी परस्पर व्यावृत्त स्वरूप वाले हैं अतः इनमें पृथक्त्व गुण का आधारपना नहीं है।

घटादि पदार्थों में पृथक्त्व का आधारपना सिद्ध नहीं होने से ऐसा मानना चाहिए कि–भिन्न भिन्न स्वभावपने से उत्पन्न होने के कारण ही "पृथक् है" ऐसा प्रतिभास होता है अतः पृथक्त्व गुण की कल्पना व्यर्थ है। वस्तुओं में जो असाधारण धर्म होता है उसीसे पृथक्त्वपने की प्रतीति हुआ करती है, जब कोई पुरुष एक वस्तु को इतर वस्तुओं से भिन्नरूप देखता है तब "एक पृथक् है" ऐसा जानता है, तथा जब दो वस्तुओं को इतर वस्तुओं से विलक्षण एक धर्म के योग से विभिन्न देखता है तब दो वस्तु पृथक् हैं" ऐसा जानता है। इसीप्रकार जब एक देश में रहना इत्यादि धर्म द्वारा इतर वस्तुओं से बहुतसी वस्तुओं को भिन्नता देखता है तब ये वस्तु इन वस्तुओं से पृथक् हैं ऐसा जानता है जिसप्रकार रूप, रस इत्यादि को द्रव्य से पृथक्‌रूप जानता है" अर्थात् जैसे रूपादि वस्तु से अलग नहीं है तो भी यह घट का रूप है इत्यादि पृथक् व्यपदेश या प्रतीति होती है, वैसे ही घट पट आदि पदार्थ का स्वरूप स्वयं ही असाधारण या पृथक् है अतः उसीसे पृथक्‌पने का प्रतिभास होता है, उसके लिए पृथक्त्व गुण की कोई आवश्यकता नहीं है।

वैशेषिक द्वारा प्रतिपादित संयोग नामा गुण का खण्डन तो आगे समवाय निराकरण के प्रकरण में होने वाला है। संयोग गुण के निषेध से "प्राप्त होकर अप्राप्त होना विभाग है" ऐसा विभाग का लक्षण भी खण्डित हुआ समझना चाहिए। वस्तु की पहले की जो सांतररूपता [भिन्नरूपता] थी उसका त्याग होकर निरंतररूपता से [अभिन्नरूपता से] उत्पन्न होना यही संयोग है, इससे अन्य संयोग संयुक्त प्रतीति का

संयोगः संयुक्तप्रत्ययविषयोनुभूयते । अविच्छिन्नोत्पत्तिकमेव हि वस्तु निरन्तरप्रत्ययविषयः निरन्तरोपरचितदेवदत्तयज्ञदत्तगृहवत् । न खलु गृहयोः परेणापि सयोगगुणाश्रयत्वमिष्टम्, निर्गुणत्वाद्गुणानाम्, तयोश्च संयोगात्मकत्वेन गुणत्वात् । नापि विच्छिन्नोत्पन्नवस्तुव्यतिरेकेणान्यो विभागो विभक्तप्रत्ययविषयो हिमवद्विन्ध्यवत् । न हि तयोर्विभागाश्रयत्वं प्राप्तिपूर्विकाया अप्राप्तेर्विभागलक्षणायास्तयोरभावात् ।

प्रयोगः—या संयुक्ताकारा बुद्धिः सा भवत्परिकल्पितसंयोगानास्पदवस्तुविशेषमात्रप्रभवा यथा 'संयुक्तौ प्रासादौ' इति बुद्धिः, सयुक्ताकारा च 'चैत्रः कुण्डली' इत्यादिबुद्धिरिति । यद्वा, याऽनेकवस्तुसन्निपाते सति समुत्पद्यते सा भवत्परिकल्पितसंयोगविकलानेकवस्तुविशेषमात्रभाविनी यथाऽविरलाऽवस्थिताऽनेकतन्तुविषया बुद्धिः, तथा च विमत्यधिकरणभावापन्ना सयुक्तबुद्धिरिति ।

विषय अनुभव में नहीं आता है । अविच्छिन्नरूप से उत्पन्न हुई वस्तु निरंतर ज्ञान का विषय हुआ करती है, जैसे निरंतर—अन्तराल रहित बनाये गये देवदत्त और यज्ञदत्त के गृह निरन्तर ज्ञान के विषय होते हैं, इन निरतररूप दो गृहो में संयोग नामा गुण का आश्रय मानना वैशेषिक को भी इष्ट नही है क्योंकि गुण निर्गुण होते हैं, और उक्त गृह संयोगात्मक होने से गुणरूप है । विच्छिन्नरूप से उत्पन्न हुई वस्तु ही विभागस्वरूप है, इससे अन्य विभाग नही है, विभक्त ज्ञानका विषय भी यही है, जैसे विन्ध्याचल और हिमाचल विच्छिन्नरूप से स्थित एव विभक्त ज्ञानका विषय है । उक्त पर्वतो में विभाग गुणका आश्रय संभव नही है क्योंकि इनमें प्राप्ति होकर अप्राप्त होना रूप विभाग गुणका लक्षण नहीं पाया जाता है । जिसप्रकार विन्ध्याचल और हिमाचल में विभाग गुण नहीं होकर भी विभक्त का ज्ञान होता है वैसे घट पटादि में भी होता है ।

संयोग गुणका निरसन करने वाला अनुमान संयुक्ताकार जो बुद्धि होती है वह आप वैशेषिक द्वारा कल्पित संयोग के कारण न होकर वस्तु विशेष मात्र से ही होती है, जैसे "ये दो महल मिले हुए है संयुक्त हैं इसप्रकार की बुद्धि उन महलों के विशिष्ट स्थित होने के कारण ही होती है, "चैत्र कुण्डली कुण्डल से युक्त है" इत्यादि बुद्धि भी संयुक्ताकार स्वरूप है अतः संयोग गुण निमित्तक न होकर वस्तु विशेष से ही होती है, दूसरा अनुमान—जो बुद्धि अनेक वस्तुओं के सन्निपात के होने पर उत्पन्न होती है वह आप वैशेषिक द्वारा परिकल्पित संयोग गुण से न होकर अनेक वस्तु विशेष मात्र से होती है, जैसे अविरलरूप से अवस्थित अनेक तन्तुओं को विषय करने वाली बुद्धि अनेक

तथा मेषादिषु विभक्तबुद्धिर्विभागरहितपदार्थमात्रनिबन्धना विभक्तत्वादनेकपदार्थसन्निधानायत्तोदयत्वाद्वा देवदत्तयज्ञदत्तगृहविभागबुद्धिवद् हिमवद्विन्ध्यविभागबुद्धिवद्वा ।

सत्यपि वा संयोगे विभागस्य तदभावलक्षणत्वान्न गुणरूपता । कथमन्यथा पुत्रादौ चिरनिवृत्तेपि संयोगे विभक्तप्रत्ययः स्यात् ? न खलु तत्र विभागः संभवति, अस्य कियत्कालस्थायिगुणत्वेनाभ्युपगमात् । कथं वा हिमवद्विन्ध्यादौ संयोगेऽनुत्पन्नेपि विभक्तप्रत्ययः स्यात् संयोगाभावात् ? व्यतिरिक्तविभागस्वरूपस्य क्वचिदप्यनुपलम्भान्नोपचारकल्पनापि साध्वी ।

वस्तुओं के सन्निधान से होती है, विवादग्रस्त अनेक वस्तुओं के सन्निपात में होने वाली संयुक्त बुद्धि भी परकल्पित संयोग गुण के बिना ही होती है ।

विभाग गुणका निषेधक अनुमान—मेष आदि पशुओं में "यह मेष इस मेष से विभिन्न है" इत्यादि विभक्तपने की जो बुद्धि होती है वह विभाग गुण रहित मात्र उस पदार्थ के निमित्त से ही होती है, क्योंकि यह विभक्त स्वभाव वाली है, अथवा अनेक पदार्थों के सन्निधान के अधीनता से उदित हुई है [अनेक पदार्थों के साथ इंद्रियों का सन्निकर्ष होना और उस सन्निकर्ष के निमित्त से उत्पन्न होना] जैसे देवदत्त के घर और यज्ञदत्त के घर में विभागरूप बुद्धि होती है, अर्थात् यह घर उस घर से विभक्त है–विभिन्न है ऐसा ज्ञान होता है, अथवा हिमाचल और विन्ध्याचल में विभाग रूप बुद्धि होती है ।

संयोग को कदाचित् स्वीकार करने पर भी विभाग का गुणपनातो असम्भव है क्योंकि संयोग का अभाव होना ही विभाग है [विभाग गुणरूप नहीं अपितु संयोगाभाव ही है] यदि ऐसी बात नहीं होती तो चिरकाल से जिसका संयोग निवृत्त [हटा] हुआ है ऐसे पुत्रादि में विभक्तपने का ज्ञान कैसे होता ? संयोग के अभाव के कारण ही तो होता है । उस विभक्तपने के ज्ञानका कारण विभाग है ऐसा भी नहीं कहना, क्योंकि आपने विभाग को कुछ काल तक का स्थायी गुण माना है [चिरकाल स्थायी नहीं] हिमाचल तथा विन्ध्याचल आदि में संयोग के उत्पन्न नही होने पर भी विभक्तपने का ज्ञान किसप्रकार होगा, क्योंकि संयोग का अभाव है ? आप प्राप्तिपूर्वक अप्राप्ति होने को अर्थात् पहले संयोग पश्चात् विभाग होने को विभाग गुण मानते हैं ऐसा विभाग विन्ध्याचल हिमाचल में नहीं है । वस्तु के भिन्न स्वरूप के अतिरिक्त विभाग कहीं भी

विभागाभावे कुतः संयोगनिवृत्तिरिति चेत् ? 'कर्मण एव' इति ब्रूमः । 'कर्ममात्रादपि तन्निवृत्तिः स्यात्' इत्यप्यदोषः; संयोगमात्रनिवृत्तेरिष्टत्वात् । संयोगविशेषनिवृत्तिस्तु कर्मविशेषात्, त्वन्मते ततो विभागविशेषोत्पत्तिवत् । कर्मणः संयोगोत्पादकत्वात्कथं तन्निवर्तकत्वमिति चेत् ? तर्हि हस्तबाणादिसंयोगस्य कर्मोत्पादकत्वोपलम्भात् कथं वृक्षादौ बाणादिसंयोगस्य तन्निवर्तकत्वं स्यात् ? अन्यस्य तन्निवर्तकत्वमन्यत्रापि समानम् । न खलु येनैव कर्मणा यः संयोगो जनितः स तेनैव निवर्त्यते इति ।

उपलब्ध नहीं होता है अतः उपचार की कल्पना भी अयुक्त है अर्थात् हिमाचल विन्ध्याचल में होने वाला विभाग एवं उसका ज्ञान औपचारिक है और मेष आदि में होने वाला विभाग एवं उसका ज्ञान सत्य है ऐसा कहना असत् है ।

वैशेषिक—विभाग गुण को नही मानेगे तो संयोग की निवृत्ति–हटना कैसे होगी ?

जैन—क्रिया से होगी ऐसा हम बतलाते हैं ।

वैशेषिक—कर्म से सयोग की निवृत्ति होती है तो किसी भी कर्म से क्रिया मात्र से संयोग निवृत्ति संभव होगी ?

जैन—यह कोई दोप की बात नहीं है, क्रिया मात्र से संयोग मात्र की निवृत्ति होना माना ही है, किन्तु सयोग विशेष की निवृत्ति तो क्रिया विशेष से होगी, जैसे कि आपके मत में संयोग विशेष की निवृत्ति से अर्थात् संयोग के हटने से विभाग विशेष की उत्पत्ति होना बताया है ।

वैशेषिक—क्रिया संयोग को उत्पन्न करती है, वह संयोग की निवर्त्तक किस प्रकार हो सकती है ?

जैन—तो फिर हाथ और बाणादि के संयोग का उत्पादक कर्म [क्रिया] है फिर वह वृक्षादि मे बाणादि के सयोग का निवर्त्तक [अर्थात् वृक्षादि में संयुक्त हुए बाणादि आगे नही जाते उक्त संयोग वहीं समाप्त होता है] वह किसप्रकार है ? यदि कहा जाय कि हाथ और बाण के संयोग को उत्पन्न करने वाली क्रिया अन्य है और वृक्षादि में बाण के संयोग को समाप्त करने वाली क्रिया अर्थात् आगे बाण का नहीं

एतेन विभागजविभागोपि चिन्तितः। तस्यापि संयोगाभावरूपस्य क्रियात एवोत्पत्तिप्रसिद्धेः। ननु यदि विभागजविभागो न स्यात्तर्हि हस्तकुड्यसंयोगविनाशेपि शरीरकुड्यसंयोगविनाशो न प्राप्नोति; तन्न; हस्तकुड्यसंयोगव्यतिरेकेण शरीरकुड्यसंयोगस्यैवासंभवात्। हस्तकुड्यसंयोगादेवासौ कल्प्यते इति चेत्; तर्हि हस्तकर्मदर्शनाच्छरीरेपि कर्म कस्मान्न कल्प्यते तुल्याक्षेपसमाधानत्वात्?

यच्चोच्यते तत्प्रसिद्धयेऽनुमानम्—विवक्षितावयवक्रियाऽऽकाशादिदेशेभ्यो विभागं न करोति, द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पादकत्वात्, या पुनराकाशादिदेशविभागकर्त्री सा संयोगविशेष-

---

जाना रूप क्रिया अन्य है तो यही बात अन्यत्र भी घटित करनी चाहिए, क्योंकि हमने ऐसा तो नहीं कहा है कि जिस क्रिया से संयोग उत्पन्न हुआ है उसी क्रिया द्वारा संयोग हटाया जाता है।

विभाग के विषय में जैसे विचार किया वैसे ही विभाग से होने वाले विभाग का विचार है अर्थात् विभाग के खण्डन से विभागज विभाग भी खण्डित होता है, क्योंकि यह विभाग भी संयोग के अभावरूप है और क्रिया से ही उत्पन्न होता है।

वैशेषिक—यदि विभागज विभाग न माना जाय तो हाथ और भित्ति के संयोग का विनाश होने पर भी शरीर और भित्ति के संयोग का विनाश नहीं हो सकेगा?

जैन—ऐसा नहीं कहना, हाथ और भित्ति का संयोग ही शरीर और भित्ति का संयोग कहलाता है, इसके अतिरिक्त शरीर और भित्ति का सयोग ही असम्भव है।

वैशेषिक—भित्ति और शरीर के संयोग की कल्पना तो हस्त और भित्ति के संयोग से की जाती है?

जैन—तो फिर हस्त में होने वाली क्रिया को देखकर शरीर में क्रिया की कल्पना क्यों न की जाय शंका और समाधान तो बराबर ही है। अब वैशेषिक विभागज विभाग की सिद्धि के लिये अनुमान प्रस्तुत करते हैं—

वैशेषिक—जैन ने विभागज विभाग का खण्डन किया किन्तु यह विभागज विभाग अनुमान से सिद्ध होता है-विवक्षित किसी अवयव की जो क्रिया होती है वह

निवर्त्तकविभागजनिकापि न भवति यथांगुलिक्रियेति । यदि भिद्यमानवंशाद्यवयविद्रव्यस्यावयवक्रिया आकाशादिदेशेभ्यो विभागं कुर्यात् तर्हि वंशादिद्रव्यारम्भकसंयोगविरोधिविभागोत्पादकमेवास्या न स्यादंगुल्याद्यवयविद्रव्यक्रियावत् । ततोऽवयविद्रव्यस्याकाशादिदेशविभागोत्पादको विभागोऽभ्युपगन्तव्यः; इत्यप्यसाम्प्रतम्; अवश्यं विभागोत्पादकत्वस्यासिद्धत्वात् । क्रियात एव संयोगनिवृत्तेरुक्तत्वात् । अथ 'अवयविनस्तत्क्रियाऽऽकाशादिदेशसंयोगं न निवर्त्तयति द्रव्यारम्भकसंयोगनिवर्त्तकत्वात्' इतीदमत्र विवक्षितम्; तथाप्यसाधारणो हेतुः; सपक्षेप्याकाशादिदेशसंयोगानिवर्त्तके रूपादौ वृत्तेर-

---

आकाशादि के देशों से विभाग को नहीं करती है, क्योंकि यह क्रिया बांस आदि द्रव्य के आरंभक जो परमाणु हैं उनके संयोगक विरोधी जो विभाग है उसको उत्पन्न करती है किन्तु जो क्रिया आकाशादि देश के विभाग को करने वाली है वह संयोग विशेष का निवर्त्तक विभाग की भी जनिका नहीं होती जैसे अंगुली की क्रिया विभाग को नहीं करती है । यदि भेद को प्राप्त हो रहे बांस आदि अवयवी द्रव्य के अवयवों की क्रिया आकाशादि के प्रदेशों से विभाग को करे तो वह बांस के आरंभक परमाणुओं के संयोग के विरोधी विभाग की उत्पादिका नहीं होती, जैसे अंगुली आदि अवयवी द्रव्य की क्रिया विभाग की उत्पादिका नही है । इसलिये जैन को अवयवी द्रव्य का आकाशादि देश के विभाग को उत्पन्न करने वाला विभाग अवश्य स्वीकार करना चाहिये ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, विभाग के उत्पादकपना असिद्ध है, क्रिया से ही संयोग की निवृत्तिरूप विभाग होता है ऐसा हमने सिद्ध कर दिया है ।

वैशेषिक—अवयवी के अवयव की क्रिया आकाशादि के देश के संयोग की निवर्त्तक नहीं है, क्योंकि वह द्रव्य के आरभक [परमाणुओं] के संयोग की निवर्त्तक है ऐसी उपर्युक्त कथन में विवक्षा थी ?

जैन—ऐसा कहने पर भी हेतु असाधारण अनैकान्तिक होता है, जो हेतु सपक्ष विपक्ष दोनों से व्यावृत्त हो वह असाधारण अनैकान्तिक कहलाता है, यहां आपके अनुमान में विवक्षित अवयव को क्रिया तो पक्ष है, आकाशादि के देश [अवयव] सपक्ष है, तथा अवयवी विपक्ष है सो "द्रव्यारंभक संयोग विरोधिविभागोत्पादकत्वात्" हेतु इन सपक्ष विपक्षों से व्यावृत्त है, अर्थात् सपक्षभूत आकाश के देश संयोग अनिवर्त्तक रूपादि में इस हेतु का अभाव है । अवयव के संयोग से अवयवी का संयोग अन्य है

भावात् । न चावयवसंयोगादवयविनः संयोगोन्यः; तद्भेदैकान्तस्य प्रागेव प्रतिक्षेपात्, विनाशोत्पादप्रक्रियायाश्च कृतोत्तरत्वात् । तन्न विभागो घटते ।

नापि परत्वापरत्वे; परापरप्रत्ययाभिधानयोस्तदन्तरेणापि रूपादौ सम्भवात् । तथाहि—क्रमोत्पन्ननीलादिगुणेषु 'परं नीलमपरं च' इति प्रत्ययोत्पत्तिः असत्यपि परत्वापरत्वलक्षणे गुणे दृष्टा गुणानां निर्गुणतयोपगमात्, तथा घटादिष्वपि स्यात् । अथात्र दिक्कालकृतः परापरप्रत्ययः; ननु घटादिष्वप्यसौ तत्कृतोस्तु विशेषाभावात् । तथा च प्रयोगः—योयं परापरादिप्रत्ययः स परपरिकल्पितगुणरहितार्थमात्रकृतक्रमोत्पादव्यवस्थानिबन्धनः, परापरप्रत्ययत्वात्, रूपादिषु परापरप्रत्ययवत् ।

ऐसा कहना भी गलत है, क्योंकि अवयव और अवयवी में सर्वथा भेद मानने का पहले ही निराकरण कर चुके हैं । तथा वैशेषिक के विनाश उत्पत्ति की प्रक्रिया का पहले ही खडन कर दिया है, इसप्रकार विभागनामा गुण सिद्ध नहीं होता है ।

परत्व और अपरत्व गुण भी घटित नहीं होते हैं, "यह पर है, यह अपर है" ऐसा ज्ञान तथा नाम होता है वह परत्व अपरत्व गुण के बिना भी रूप आदि वस्तु में देखा जाता है । अब इसीको बताते हैं—क्रम से उत्पन्न हुए नील पीत आदि गुणों में यह पर नील है [पुराना है] और यह अपर नील है [पीछे उत्पन्न हुआ है अर्थात् नया है] इत्यादि प्रतीति होती है [ज्ञान तथा नाम होता है] वह परत्व-अपरत्व गुण के बिना ही होता है, क्योंकि इन नीलादि गुणों में गुण निर्गुण होने के कारण परत्वादि गुण रह नहीं सकते । जैसे नील आदि गुणों में बिना परत्व-अपरत्व गुण के पर-अपर का ज्ञान होना स्वीकार किया है, वैसे घट, पट आदि पदार्थों में भी बिना परत्व-अपरत्व गुण के पर-अपर का ज्ञान होता है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ।

वैशेषिक—रूप आदि गुणों में पर-अपर ज्ञान दिशा तथा काल द्रव्य के निमित्त से होता है ?

जैन-तो घट पट आदि पदार्थों में भी दिशा और काल के निमित्त से पर-अपर का ज्ञान होवे ? कोई भेद नहीं । अनुमान प्रयोग परापर का जो ज्ञान होता है वह पर [वैशेषिक] कल्पित परत्वादि गुणों से रहित केवल दिशा और कालकृत क्रमिक उत्पाद के कारण ही होता है क्योंकि ये परत्व-अपरत्व प्रतिभासरूप है, जैसे रूपादि गुणों में पर-अपर ज्ञान परत्वापरत्व गुण से रहित होता है । तथा पर और विप्रकृष्ट

'विप्रकृष्टं परं संनिकृष्टमपरम्' इति चानयोरेकार्थत्वान्न भेदं पश्यामः। ततश्चायुक्तमुक्तम्–'विप्रकृष्टसन्निकृष्टबुद्धिभ्यां परत्वापरत्वयोरुत्पत्तिः' इति। न हि घटबुद्धिमपेक्ष्य कुम्भ उत्पद्यते इति युक्तम्। नापि पर्यायशब्दभेदादर्थो भिद्यते इति।

किञ्च, सामान्येषु महापरिमाणाल्पपरिमाणगुणेषु च महदल्पाधारत्वबुद्ध्यपेक्षयोः परत्वापरत्वयोरुत्पत्तिः कल्प्यतामविशेषात्।

किञ्च, परत्वापरत्वयोर्गुणत्वमभ्युपगच्छता मध्यत्वं च गुणोऽभ्युपगन्तव्यः; कालदिक्कृतमध्यव्यवहारस्याप्यत्र समानत्वात्।

में तथा अपर और सन्निकृष्ट में एक अर्थ होने से कुछ भी अंतर नहीं है। अतः आप के यहां अयुक्त कहा है कि–विप्रकृष्ट बुद्धि द्वारा परत्व की उत्पत्ति होती है और सन्निकृष्ट बुद्धि द्वारा अपरत्व की उत्पत्ति होती है। बुद्धि द्वारा भी पदार्थ उत्पन्न होता है क्या ? घट बुद्धि की अपेक्षा लेकर कुंभ उत्पन्न होता है ऐसा कहना तो सर्वथा अयुक्त है। तथा यह भी बात है कि पर्यायवाची नाम पृथक् होने से अर्थ में भेद नहीं होता है। कहने का अभिप्राय यही है कि विप्रकृष्ट और पर ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं अर्थ दोनों का एक ही है अतः विप्रकृष्ट बुद्धि से परत्व उत्पन्न होता है ऐसा कहना कपोल कल्पित ही ठहरता है।

दूसरी बात यह है कि गोत्व, द्रव्यत्व सत्व आदि सामान्यों में एवं महापरिमाण, अल्प परिमाण गुणों में महान और अल्पपने का आधार स्वरूप बुद्धि की अपेक्षा वाले परत्व–अपरत्व की उत्पत्ति होती है ऐसा वैशेषिक को मानना चाहिये। अर्थात् सामान्यादि में भी परत्व अपरत्व को स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि सामान्यादि में भी अपेक्षा बुद्धि [परत्वापरत्वकी] हुआ ही करती है, परसामान्य, अपरसामान्य ऐसा सामान्य में व्यवहार होता ही है तथा महानपरिमाण में "यह पर–बड़ा है" एवं अल्प परिमाण में "यह अपर [छोटा] है" ऐसा व्यवहार होता है अतः इनमें भी परत्वापरत्व गुणों को मानने का प्रसंग आता है, किंतु वैशेषिक ने इनमें परत्वादिका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया है।

तथा जब आपने परत्व और अपरत्व को गुण माना तो मध्यत्व नामका गुण भी मानना चाहिये। क्योंकि काल और दिशा के निमित्त से मध्यपने का व्यवहार भी

सुखदुःखेच्छादीनां चाबुद्धिरूपत्वे रूपादिवन्नात्मगुणता युक्ता, बुद्धिरूपत्वे चातो भेदेनाभिधानमयुक्तम्। कंचिद्विशेषमादाय बुद्ध्यात्मकानामप्यतो भेदेनाभिधाने अभिधाना(घादी)दीनामपि भेदेनाभिधानं कार्यम्। इत्यलमतिप्रसगेन।

गुरुत्वादीनां तु पुद्गलगुणत्वं युक्तमेव। 'अतीन्द्रियं गुरुत्वं पातोपलम्भेनानुमेयत्वात्' इत्येतदयुक्तम्; करतलाद्युपरिस्थिते द्रव्यविशेषे पातानुपलम्भेपि गुरुत्वस्य प्रतिभासनात्। रजःप्रभृतीनामपि

होता है। अर्थात् यह पर–बड़ा सौ वर्षीय पुरुष है, यह अपर–दस वर्षीय है और यह पुरुष मध्यम वय वाला–पचास वर्षीय इसतरह कालकृत परत्व, अपरत्व और मध्यत्व देखा जाता है, दिशा के निमित्त से परत्वापरत्व–जैसे यह पुरुष पर है–दूर दिशा में स्थित है, यह पुरुष अपर है–निकट दिशा में स्थित है, एवं यह पुरुष मध्य में है इसप्रकार परत्वापरत्व के साथ मध्यपने का व्यवहार देखा जाता है, इसलिये परत्व अपरत्व गुण के समान मध्यत्व नामा गुण भी आपको स्वीकार करना होगा किन्तु यह स्वीकृत नहीं अतः निश्चय होता है कि परत्व–अपरत्व नामके गुण असिद्ध हैं।

सुख, दुःख, इच्छा इत्यादि गुणों को यदि अबुद्धि स्वरूप मानें तो वे आत्मा के गुण नहीं सिद्ध होते, जैसे रूप रस आदि अबुद्धि स्वरूप होने से आत्मा के गुण नहीं हैं। यदि इन सुखादिको बुद्धिस्वरूप मानते हैं तो इनका बुद्धि से भिन्न कथन अयुक्त है। यदि कुछ विशेषता को लेकर इन सुख आदि में भेद करेंगे तो नाम आदि का भी भेद रूप कथन करना होगा। इसतरह वैशेषिक के अभिमत सुखादि गुण भी सदोष लक्षण के कारण सिद्ध नहीं होते हैं, अब इस विषय में अधिक नहीं कहते हैं।

गुरुत्व आदि गुण माने हैं वे पुद्गल द्रव्य के गुण हो तो ठीक है, किन्तु गुरुत्व गुण अतीन्द्रिय है पातसे [गिरने से] अनुमेय है–पातको देखकर उसका अनुमान हो जाता है कि इस वस्तु में गुरुत्व होगा, क्योंकि यह गिर पड़ी इत्यादि कथन अयुक्त है, केवल गिरने से गुरुत्व की प्रतीति नहीं होती। हाथ, मस्तकादि के ऊपर रखी हुई वस्तु नहीं गिरने पर भी उसका गुरुत्व प्रतिभासित होता है।

शंका—धूली आदि का गुरुत्व क्यों नहीं प्रतीत होता?

गुरुत्वं कस्मान्न गृह्यते इति चेत् ? ग्रहणायोग्यत्वात् । तावतैवातीन्द्रियत्वे गन्धरसादीनामप्यतीन्द्रियत्वं स्यात् । क्वचिद्दूरेतदाश्रयस्याम्रफलादे: प्रत्यक्षत्वेपि तेषां ग्रहणाभावादिति ।

पृथिव्यनलयोरप्यस्ति द्रवत्वम्; इत्यनुपपन्नम्; सुवर्णादीनाम् "अग्नेरपत्यं प्रथमं सुवर्णम्" [ ] इत्यागमत: प्रसिद्धतैजसत्वानां जतुप्रभृतिपार्थिवद्रव्याणां चाप्यस्यैव द्रवत्वस्य संयुक्तसमवायवशात्प्रतीतिसम्भवात् ।

अथ 'सर्वं पार्थिवं तैजसं च द्रव्यं द्रवत्वसंयुक्तं रूपित्वात्तोयवत्' इत्यनुमानात्तस्य द्रवत्वसिद्धि:; तन्न; प्रत्यक्षेण स्प (स्य) न्दनकर्मानुपलम्भेन च बाधितविषयत्वात् । अथेत्यन्धर्मकं तत्र द्रवत्वं जातं

समाधान—उसका गुरुत्व ग्रहण के अयोग्य है । यदि ग्रहण के अयोग्य होने मात्र से गुरुत्व को अतीन्द्रिय स्वीकार किया जाय तो गन्ध, रसादि को भी अतीन्द्रिय स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि कहीं दूर में रूप रसादि के आश्रयभूत आम्र फलादि के प्रत्यक्ष होने पर भी उनके रस, गन्धादिका ग्रहण नही होता अत: जो ग्रहण योग्य नहीं है वह अतीन्द्रिय है ऐसा कहना अयुक्त है ।

पृथ्वी और अग्नि में भी द्रवत्व गुण है ऐसा वैशेषिक ने कहा था वह असिद्ध है । आगे इसी को स्पष्ट करते है–'अग्नेरपत्यं प्रथमसुवर्ण' अग्नि का प्रथम अपत्य सुवर्ण है इत्यादि परवादी के आगम से प्रसिद्ध तैजसरूप सुर्वणादि द्रव्य और लाख आदि पृथ्वीरूप द्रव्यों में जल का ही द्रवत्व सयुक्त समवाय के वश से प्रतीत होता है, अर्थात् पृथ्वी आदि में स्वयं द्रवत्व गुण नहीं है अपितु जल का ही द्रवत्व है सयुक्त समवाय के कारण पृथ्वी आदि में उसकी प्रतोति होती है ।

वैशेषिक—सभी पार्थिव और तैजस द्रव्य द्रवत्व से संयुक्त हैं क्योंकि रूपी हैं, जैसे जलरूपी होने से द्रवत्व से संयुक्त हैं । इस अनुमान द्वारा पृथ्वी आदि में द्रवत्व की सिद्धि होती है ।

जैन—यह कथन असत् है, पृथ्वी आदि में स्यन्दन क्रिया होती हुई प्रत्यक्ष से उपलब्ध नहीं होती है अत: आपका अनुमान प्रत्यक्ष बाधित है ।

वैशेषिक—इन पार्थिव तथा तैजस पदार्थों में इस तरह का स्वभाव वाला द्रवत्व है कि जो प्रत्यक्ष नहीं होता है और स्यंदन [बहना] क्रिया को नहीं करता है

यत्प्रत्यक्षं न भवति स्प (स्य) न्दनक्रियां च न करोतीत्युच्यते; तर्हि गुरुत्वरसावप्येवंधर्मकौ रूपित्वा-देव किन्न तेजसोभ्युपगम्येते तुल्याक्षेपसमाधानत्वात् ? तथा चाऽस्योर्द्ध्वगतिस्वभावता न स्यात्, 'रसः पृथिव्युदकवृत्तिः' इत्यस्य च विरोध इति ।

'स्नेहोऽम्भस्येव' इत्यप्ययुक्तम्, घृतादेरपि लोके वैद्यकादिशास्त्रे च स्निग्धत्वेन प्रसिद्धत्वात् । घृताद्यावन्यनिमित्तत्वेनौपचारिकः स्निग्धप्रत्ययः; इत्यप्यसाम्प्रतम्; विपर्ययस्यापि कल्पयितुं शक्य-त्वात् । तथा हि—तोयसम्पर्केप्योदनादौ च स्निग्धप्रत्ययो नास्ति घृतादिसम्पर्के तु स्निग्धप्रत्ययः

जैन—यदि ऐसा है तो तैजस में रूपीपना होने से [अग्नि में] गुरुत्व और रसत्व गुण का सद्भाव क्यों नहीं मानते हैं, उसमें भी इस तरह का स्वभाव वाला गुरुत्व और रसत्व है कि जो पतन क्रिया तथा स्वाद क्रिया को नहीं करता है । इस प्रकार सुवर्णादि पार्थिव द्रव्य में द्रवत्व मानना और अग्नि में गुरुत्व एवं रसत्व मानना इन दोनों पक्षों में आक्षेप, समाधान समान है । इसतरह तेजो द्रव्य में जब गुरुत्व और रसत्व गुण की सिद्धि होती है तब उसमें [तेजो द्रव्य में] ऊर्ध्वगति स्वभाव सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि उसमें पतनक्रिया लक्षण वाला गुरुत्व गुण है । तथा रस गुण पृथिवी और जल में ही रहता है ऐसा आपका सिद्धांत भी बाधित होगा, क्योकि तेजो द्रव्य में भी रसत्वगुण को स्वीकार किया है ।

स्नेह गुण जल में ही होता है ऐसा कहना भी अयुक्त है, घृत, तेल आदि पदार्थ भी स्नेह गुण युक्त देखे जाते हैं, वैद्यक ग्रन्थ में भी घृतादिका स्नेहपना प्रसिद्ध है ।

वैशेषिक—घृत आदि में जो स्नेहपना दिखायी देता है वह अन्य निमित्त से आया है अतः औपचारिक है ?

जैन—यह कथन असत् है, इससे विपरीत भी कल्पना कर सकते हैं । आगे इसीको स्पष्ट करते हैं–ओदन आदि में जल के संपर्क होने पर भी स्निग्ध प्रतिभास नहीं होता, किन्तु उसमें घृतादि का संपर्क होने पर सभी को स्निग्धता का प्रतिभास होता है ।

वैशेषिक—गेहूं का आटा आदि में जल के निमित्त से बंध होता [आटे को ओसन कर एकट्ठा करना] हुआ देखा जाता है, अतः जल में ही विशेष स्नेह गुण माना जाता है ?

सर्वेषामस्त्येवेति। कणिकादौ तोयस्य बन्धहेतुत्वोपलम्भात्तस्यैव स्नेहो विशेषगुणः; इत्यप्यसारम्; भवता स्नेहरहितत्वेनाभ्युपगतस्यापि क्षीरजतुप्रभृतेर्बन्धहेतुत्वेन प्रतीतेः।

स्नेहस्य गुणत्वाभ्युपगमे च काठिन्यमार्दवादेरपि गुणत्वाभ्युपगमः कर्त्तव्यः, तथा च तत्संख्याव्याघातः स्यात्। ननु काठिन्यादेः संयोगविशेषरूपत्वात्कथं गुणसंख्याव्याघातहेतुत्वम्? तथा चोक्तम्–"अवयवानां प्रशिथिलसंयोगो मृदुत्वम्" [ ] इत्यादि; तदप्यसङ्गतम्; चक्षुषा संयोगेषु प्रतीयमानेष्वपि मार्दवादेरप्रतिभासनात्। यो हि यद्विशेषः स तस्मिन्प्रतीयमाने प्रतीयत एव यथा रूपे प्रतीयमाने तद्विशेषो नीलादिः; न प्रतीयते च संयोगेषु प्रतीयमानेष्वपि काठिन्यादिः, तस्मान्नासौ तद्विशेष इति। कटाद्यवयवानां प्रशिथिलसंयोगेपि मृदुत्वाप्रतीतेश्च, विशिष्टचर्माद्यवयवानामप्यप्रशिथिलसंयोगित्वेपि मृदुत्वोपलब्धेश्चेति।

जैन—यह कथन असार है, बंध हेतु होने से जल में स्नेहगुण है ऐसा कहेंगे तो क्षीर, लाख, रस आदि बहुत से ऐसे पदार्थ हैं जिनसे आटे आदि का बंध [गूंदना ओसनना] होता है, अतः उनमें भी स्नेह गुण सिद्ध होगा। किन्तु आपने इन क्षीरादिको स्नेह गुण रहित माना है।

तथा यह भी बात है कि यदि वैशेषिक स्नेह नामागुण स्वीकार करते हैं तो कठोर, मृदु इत्यादि गुण भी स्वीकार करने चाहिये, और इनको माने तो गुणों की संख्या का व्याघात हो जाता है।

वैशेषिक—कठोरता आदि संयोग विशेषरूप हुआ करती है उससे हमारी गुणों की संख्या किसप्रकार बाधित हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती। कहा भी है–"अवयवानां प्रशिथिल संयोगः मृदुत्वम्" अवयवों का शिथिल संयोग होना मृदुत्व कहलाता है, इसीतरह घनिष्ट संयोग को काठिन्य कहते हैं, अतः कठोरतादि गुण नहीं है और उनसे गुणों की संख्या का व्याघात भी नहीं होता है?

जैन—यह कथन असंगत है, नेत्र द्वारा संयोग के प्रतीत होने पर भी मृदुता आदि की प्रतीति नहीं होती है, जो जिसका विशेष होता है वह उसके प्रतीत होने पर अवश्य प्रतीत होता है, जैसे रूप के प्रतीत होने पर उसका विशेष नील भी प्रतीत होता है, संयोग के प्रतीत होने पर भी काठिन्य आदि स्वभाव प्रतीत नहीं होते अतः

ननु काठिन्यादेः संयोगविशेषरूपत्वाभावे कथं कठिनमेव कणिकादिद्रव्यं मर्दनादिना मृदुत्वमापाद्यते ? इत्यप्यसुन्दरम्; न हि तदेव द्रव्यं मृदु भवति। किं तर्हि ? पूर्वकठिनपर्यायनिवृत्तौ मृदुपर्यायोपेतं द्रव्यान्तरमुत्पद्यते। संयोगविशेषमृदुत्ववादिनापि पूर्वद्रव्यनिवृत्तिरत्राभ्युपगतैव। ततः स्पर्शविशेषो मृदुत्वादिरभ्युपगन्तव्यः 'कठिनः स्पर्शो मृदुः स्पर्शः' इति प्रतीतिदर्शनात्। तथा च पाकजत्वमपि स्पर्शस्योपपन्नं घटादिषु रूपादिवत् विलक्षणस्पर्शोपलम्भात् नान्यथा। न च काठिन्यादिव्यतिरेकेण स्पर्शस्यान्यद्वैलक्षण्यं व्यवस्थापयितुं शक्यमिति।

काठिन्यादिक संयोग विशेष नहीं है। तथा चटाई आदि के अवयव प्रशिथिल संयोगरूप होते हैं किन्तु उनमें मृदुत्व प्रतीत होता नहीं और विशिष्ट चर्म आदि के अशिथिल संयोग होने पर भी मृदुत्व प्रतीत होता है, अतः सिद्ध होता है कि संयोग विशेष मात्र मृदुत्वादि नहीं हैं अपितु पृथक् ही गुण हैं।

वैशेषिक— यदि काठिन्य, मृदुत्वादि संयोग विशेषरूप नही होते तो कठिन स्वरूप आटा आदि पदार्थ मर्दन–कूटनादि क्रिया द्वारा किसप्रकार मृदुभाव को प्राप्त होते ?

जैन—यह कथन असुन्दर है, मर्दन द्वारा वही द्रव्य मृदु नहीं होता किन्तु पूर्व की कठिन पर्याय निवृत्त होकर मृदुता पर्यायरूप द्रव्यांतर उत्पन्न होता है। आप स्वयं ही संयोग विशेष को मृदुत्व मान रहे हैं सो पूर्व द्रव्य की निवृत्ति होना आपको भी इष्ट है ऐसा सिद्ध होता है, अतः स्पर्शगुण का भेद विशेष मृदुत्व, काठिन्यादि है ऐसा मानना चाहिये, यह कठोर स्पर्श है, यह मृदु है इत्यादि प्रतीति होने से भी मृदुत्वादि गुणों की सिद्धि होती है। मृदुत्वादिको स्पर्श विशेषरूप मानने पर इस स्पर्श का पाकजपना भी घटित होता है, जैसे घट आदि पदार्थों में रूपादिका पाकजपना देखा जाता है। यदि, मृदुत्वादिको स्पर्श विशेषरूप नहीं मानें तो स्पर्शगुण का पाकजपना सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि फिर उसमें विलक्षण स्पर्शत्व उपलब्ध नही हो सकेगा, स्पर्श की विलक्षणता तो कठोरता, मृदुता ही है, अन्य कोई विलक्षणता व्यवस्थापित नहीं होती है।

वेगाख्यस्तु संस्कारो न केवलं पृथिव्यादावेवास्ति आत्मन्यप्यस्य सम्भवात्, तस्यापि सक्रियत्वेन प्रसाधितत्वात्। न च क्रियातोऽर्थान्तरं वेगः; अस्याः शीघ्रोत्पादमात्रे वेगव्यवहारप्रसिद्धेः। 'वेगेन गच्छति' इति प्रतीतेः क्रियातोर्थान्तरं वेगः; इत्यप्ययुक्तम्; 'वेगेन गच्छति, शीघ्रं गच्छति' इत्यनयोरेकत्वात्। न च कर्मणः कर्मारम्भकत्वेऽनुपरमप्रसङ्गः; शब्दवत्तदुपरमोपपत्तेः। यथैव हि शब्दस्य-शब्दान्तरारम्भकत्वेप्युपरमस्तथात्रापि। "कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते" [वैशे० सू० १।१।११] इत्यपि वचनमात्रत्वादविरोधकम्।

संस्कार नामा गुण को पृथक् मानकर उसके तीन भेद बताये थे, उनमें वेग नामा संस्कार को केवल पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन में माना किन्तु यह ठीक नहीं, आत्मा में भी वेग नामा संस्कार का अस्तित्व है, यदि कोई शंका करे कि–आत्मा निष्क्रिय होने से उसमें वेग कैसे सिद्ध होगा ? सो ऐसी शंका असत् है, आत्मा सक्रिय है इस बात को हम सिद्ध कर आये हैं। तथा क्रिया से न्यारा वेग नामा गुण सिद्ध भी नहीं होता है, जो क्रिया शीघ्रता से हो उसे ही वेग कहते हैं।

वैशेषिक—वेग से जा रहा है ऐसा प्रतीत होने से वेग को क्रिया से पृथक् मानना चाहिये ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, वेगेन गच्छति कहो चाहे शीघ्रं गच्छति कहो दोनों का अर्थ एक ही है।

वैशेषिक—वेग को गुणरूप न मानकर क्रियारूप माने तो क्रिया से वेगरूप क्रिया उत्पन्न होती है ऐसा अर्थ हुआ। और क्रिया से क्रिया उत्पन्न होगी तो वह कभी रुकेगी नहीं ?

जैन—ऐसी बात नहीं है, शब्द के समान उसका भी रुकना हो सकता है, जिसप्रकार शब्द की उत्पत्ति शब्दांतर से होती है तो भी उसका उत्पन्न होना रुक जाता है उसीप्रकार क्रिया से क्रिया उत्पन्न होने पर वह रुक जाती है, आपके यहां "कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते" क्रिया क्रियाद्वारा साध्य नहीं होती ऐसा कहा है वह तो प्रलापमात्र है, उससे प्रतीति सिद्ध वस्तु व्यवस्था में बाधा नहीं आती है।

न च विभिन्नः संस्कारो बाणादीनामपातहेतुः प्रतीयते, अन्यथा कदाचिदपि तेषां पातो न स्यात्, तत्प्रतिबन्धकस्य वेगस्य सर्वदावस्थानात् । न च मूर्तिमद्वाय्वादिसंयोगोपहतशक्तित्वाद्वेगस्य तेषां पतनम्; प्रथममेव पातप्रसक्तेः, तत्संयोगस्य तद्विरोधिनस्तदापि सम्भवात् । न च प्राग्वेगस्य बलीयस्त्वाद्विरोधिनमपि मूर्तद्रव्यसंयोगमपास्य शरं देशान्तरं प्रापयति; इत्यभिधातव्यम्; पश्चादप्यस्य बलीयस्त्वानयैव तत्प्रापकत्वप्रसक्तेः । न खलु वेगस्य पश्चादन्यथात्वम्; तथोत्पत्तिकारणाभावात्, तत्समवायिकारणत्वस्येष्वादेः सर्वदाऽविशिष्टत्वात् । न च कर्माख्यं कारणं पश्चाद्विशिष्यते; तस्यापि तुल्यपर्यनुयोगत्वात् । न च प्रभूताकाशप्रदेशसंयोगोत्पादनात् संस्कारप्रक्षयादिषोः पातः; संस्कारस्यै-

---

वैशेषिक का कहना है कि बाणादि पदार्थों को लक्ष्य स्थान में पहुंचने तक नहीं गिरने देना संस्कार गुण का कार्य है । किन्तु ऐसा सिद्ध नहीं होता । यदि ऐसा माना जाय तो उन बाणादिका कभी भी पात नहीं हो सकेगा क्योंकि पात का प्रतिबंधक वेग नामा संस्कार सदा मौजूद रहता है ।

वैशेषिक—मूर्तिमान वायु आदि के संयोग हो जाने से वेग की शक्ति समाप्त होती है अतः बाणादिका पात [गिरना] हो जाता है ?

जैन—ऐसा कहो तो लक्ष्य स्थान के पहले ही बाणादि को गिर जाने का प्रसंग होगा, क्योंकि वेगका विरोधी जो वायु आदिका संयोग है वह उस समय भी सम्भव है ।

वैशेषिक—बात यह है कि बाणादिका वेग पहले बलवान रहता है अतः विरोधी मूर्त्तद्रव्य के संयोग को हटाकर वह वेग बाण को देशांतर में पहुंचा देता है ?

जैन—यह कथन असत् है, बाणका वेग जैसे पहले बलवान रहता है वैसे पीछे भी बलवान रहता है अत. उसे बाणादिको देशांतर में आगे आगे पहुंचा देने का प्रसंग आता है ऐसा भी नहीं कि पीछे अन्य प्रकार का वेग होता है । क्योंकि वैसे वेग को उत्पन्न करने का कारण नहीं दिखायी देता है । वेगका समवायी कारण बाणादि में हमेशा समानरूप से मौजूद रहता है, अतः ऐसा नहीं कहना कि उसका विशिष्ट कारण नहीं होने से पीछे वेग अन्यथारूप हो जाता है । कर्म [क्रिया] नामा कारण पीछे मिल जाने से वेग में अन्यथापन आता है ऐसा कहो तो वही पहले के प्रश्नोत्तर

कस्वभावत्वेनावस्थितस्य प्रागिव पश्चादपि प्रक्षयानुपपत्तेः । न चाकाशस्य प्रदेशाः परैरिष्यन्ते, येन तत्संयोगानां भूयस्त्वं संस्कारप्रक्षयहेतुत्वं वा युक्तियुक्तं भवेत् । *कल्पनाशिल्पिकल्पितानां संयोगभेद*-करत्वं तदायत्तभेदानां च संयोगानां संस्कारप्रक्षयहेतुत्वं दूरोत्सारितमेव ।

भावनाख्यस्तु संस्कारो धारणापरनामा नानिष्टः; पूर्वपूर्वानुभवाहितसामर्थ्यलक्षणस्यात्मनोऽनर्थान्तरभूतस्य स्मृत्यादिहेतुत्वेनास्यास्माभिरपीष्टत्वात् ।

स्थितस्थापकरूपस्तु संस्कारोऽसम्भाव्य एव । स हि किं स्वयमस्थिरस्वभावं भावं स्थापयति, स्थिरस्वभावं वा ? न तावदस्थिरस्वभावम्, तत्स्वभावानतिक्रमात् । तथाविधस्यापि स्थापनेऽति-

---

आयेगे, अर्थात्–कर्म नामा कारण भी पहले मौजूद था उसमें पीछे अन्यथापन क्यों आया इत्यादि प्रश्न का सही समाधान नहीं मिलता है । बहुत से आकाश प्रदेशों के संयोगों का उत्पाद होता है और उससे संस्कार का क्षय होकर बाण गिर जाता है, ऐसा कहना भी अशक्य है, क्योंकि संस्कार हमेशा एक स्वभावरूप से अवस्थित है [संस्कार एक गुण है और गुण जो होते हैं वे नित्य होते हैं] पहले के समान पीछे भी उसका क्षय हो नहीं सकता । आपने बहुत से आकाश प्रदेश की बात कही किन्तु आपके यहां पर आकाश के प्रदेश नहीं माने, अतः आकाश प्रदेशों के संयोगों की बहुलता होना या संस्कार के क्षय होने में कारण होना युक्ति युक्त नहीं है । आकाश द्रव्य में काल्पनिक प्रदेश मानकर उनसे संयोग में नानापना स्वीकार करे तथा प्रदेश भेदों के निमित्त से हुए संयोगों को संस्कार के [वेग का] नाश का कारण माने तो वह भी असत्य है, क्योंकि काल्पनिक वस्तु अर्थ क्रियाकारी नहीं होती अतः इस तरह का कथन दूरसे खण्डित हुआ समझना चाहिये ।

संस्कार का भावना नामा भेद तो हमारे धारणा नामा ज्ञान सदृश होने से अनिष्ट नहीं है, भावना अर्थात् धारणा तो पूर्व पूर्व के अनुभव के निमित्त से उत्पन्न हुई सामर्थ्य से युक्त आत्मा से अभिन्न है ऐसा संस्कार हम जैन ने भी माना है जो कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानों का हेतु हुआ करता है ।

संस्कार का तीसरा भेद स्थित स्थापक है वह तो असम्भव है, इस संस्कार के विषय मे विचार करे कि–स्थित स्थापक संस्कार स्वयं अस्थिर स्वभाव वाले पदार्थ को स्थापित करता है या स्थिर स्वभाव वाले पदार्थ को स्थापित करता है ? अस्थिर

प्रसङ्गः । क्षणादूर्ध्वं चार्थस्य स्वयमेवाभावात्कस्यासौ स्थापकः स्यात् ? भावे वाऽस्थिरस्वभावताविरोधः । अथ द्वितीयः पक्षः; तदा स्थिरस्वभावेऽवस्थितानामर्थानां स्वयमेवावस्थानात्किमकिंचित्करस्थापकप्रकल्पनया ? ततः स्वहेतुवशात्तथा तथा परिणतिरेवार्थानां स्थितस्थापकः संस्कारो नान्यः ।

धर्माधर्मशब्दानां तु गुणत्वं प्रागेव प्रतिविहितमित्यलमतिप्रसङ्गेन । ततः "कर्तुः फलदाय्यात्मगुण आत्ममनः संयोगजः स्वकार्यविरोधी धर्माधर्मरूपतया भेदवानदृष्टाख्यो गुणः" [ ] इत्ययुक्तमुक्तम् । इदं तु युक्तम् "कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुर्धर्मः, अधर्मस्त्वप्रियप्रत्ययहेतुः" [प्रश० भा० पृ० २७२–२८०] इति । तन्न गुणपदार्थोपि श्रेयान् ।

स्वभाव वाले को स्थापित करना तो अशक्य है, क्योंकि वह अस्थिर स्वभावी पदार्थ अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं कर सकता । यदि अस्थिर स्वभावी वस्तु को भी स्थित स्थापक संस्कार स्थापित करता है तो अतिप्रसंग प्राप्त होगा, फिर तो विद्युत आदि चचल पदार्थ को भी वह स्थापित कर देगा । तथा अस्थिर स्वभावी पदार्थ एक क्षण के आगे स्वयमेव नष्ट हो जाता है अतः यह संस्कार किसका स्थापक होगा ? यदि एक क्षण के बाद वह स्वय नष्ट नही होता है तब उसे अस्थिर स्वभाव वाला नहीं कह सकते हैं । दूसरा पक्ष–स्थिर स्वभावी पदार्थ को स्थित स्थापक संस्कार स्थापित कर देता है ऐसा कहो तो यह व्यर्थ है, जब पदार्थ स्वयं स्थिर स्वभाव में अवस्थित हैं तब अकिंचित्कर स्थित स्थापक संस्कार की कल्पना से क्या प्रयोजन है । अतः पदार्थ अपने कारण द्वारा स्वयं उस उसप्रकार से परिणत हैं, यही स्थित स्थापक नामा संस्कार है अन्य कुछ भी नहीं है ऐसा सिद्ध होता है ।

धर्म, अधर्म और शब्द इन तीनों को गुणरूप मानना पहले ही निराकृत हो चुका है, अब यहां अधिक कथन से बस हो । वैशेषिक के यहां कहा है कि–जो कर्त्ता को फल देता है, आत्मा का गुण है, आत्मा और मनके संयोग से उत्पन्न होता है, स्वकार्य का विरोधी है, धर्म–अधर्मरूप भेदवाला है ऐसे विशेषणों वाला अदृष्ट नामा गुण है, सो यह धर्मादि के गुणत्व का निषेध करने से ही खण्डित हुआ माना जायगा । हां अदृष्ट या धर्माधर्म के विषय में प्रशस्तपाद भाष्य में कुछ ठीक कहा है कि–जो कर्त्ता को प्रिय, हितकर हो एवं मोक्ष का कारण हो वह धर्म है, और जो अप्रिय हो अहितकारी है, वह अधर्म है, इत्यादि । इसप्रकार वैशेषिक द्वारा मान्य चौबीस प्रकार के गुण सिद्ध नहीं होते हैं । अतः गुण पदार्थ को पृथक्रूप मानना श्रेयस्कर नहीं है ।

।। गुणपदार्थविचार समाप्त ।।

वैशेषिक अभिमत गुणपदार्थ के खंडन का सारांश

जिसप्रकार वैशेषिक के द्रव्यपदार्थ की सिद्धि नही होती उस प्रकार गुण पदार्थ की भी सिद्धि नहीं होती है। उनके दर्शन में गुणो के चौवीस भेद माने जाते हैं–रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द। पृथ्वी जल और अग्नि में रूपगुण रहता है। और वह चक्षु द्वारा ग्राह्य है। पृथ्वी और जल में रस गुण होता है और वह रसना द्वारा ग्राह्य है। गंध गुण केवल पृथ्वी में है और वह नासिका द्वारा ग्राह्य है। स्पर्श पृथ्वी आदि चारों द्रव्यों मे है और वह स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है। संख्या गुण एक तथा अनेक द्रव्य में रहता है, परिमाण गुण नित्य अनित्य दोनों प्रकार का है और अणु एवं स्कंधों में रहता है। पृथक्त्व गुण एक द्रव्य को अन्य द्रव्य से भिन्न करता है। अप्राप्त का प्राप्त होना संयोग है। प्राप्त का अप्राप्त भिन्न होना विभाग गुण है परत्व आदि अन्य गुणों के लक्षण सुप्रसिद्ध ही है।

इसप्रकार का वैशेषिक के गुणों का वर्णन तर्क संगत नहीं है। रूप रस आदि गुणों को पृथ्वी आदि में से किसी में चारों किसी में तीन इत्यादि मानना भी असंभव है, पहले भी सिद्ध कर आये हैं कि पृथ्वी आदि सबमें रूपादि चारों गुण विद्यमान रहते हैं। तथा इन गुणो को पृथ्वी आदि द्रव्य से भिन्न मानकर समवाय से संबद्ध करना भी शक्य नहीं है। द्रव्यों में गुण स्वयं स्वभाव से रहते हैं। संख्या, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, धर्म, अधर्म, परिमाण, शब्द ये गुण नहीं हैं अपितु द्रव्य का परिणमन मात्र है। प्रयत्न और संस्कार ये साक्षात् ही क्रिया स्वरूप है। शब्द द्रव्य की पर्याय है। धर्म अधर्म पुण्य पापरूप पुद्‌गल द्रव्य की पर्याय है। द्रवत्व, गुरुत्व स्नेह ये पुद्‌गल द्रव्य के गुण हैं किन्तु इनका लक्षण एवं आश्रय का वर्णन असत्य है। इच्छा द्वेष दुःख इत्यादि जीव के वैभाविक स्वभाव हैं। इसप्रकार गुण को पृथग्भूत पदार्थ मानना इत्यादि सिद्ध नही होता।

परिमाण भी वस्तु का स्वतः सिद्ध धर्म है अर्थात् लम्बा, चौड़ा, छोटा, बड़ा इत्यादि माप वस्तु में स्वयं है गुण के कारण नहीं है। स्नेह गुण केवल जल में मानना हास्यास्पद है घृतादि में स्पष्टरूप से स्नेहत्व का अस्तित्व देखा जाता है। संस्कार के तीन भेद का व्यावर्णन भी अज्ञानता द्योतक है क्योंकि यह तो प्रत्यक्ष ही क्रियारूप सिद्ध है। इसप्रकार परवादी का गुण पदार्थ सिद्ध नहीं है।

।। गुणपदार्थवाद का सारांश समाप्त ।।

१४

कर्मपदार्थवादः

नापि कर्मपदार्थः । स हि पञ्चप्रकारः परैः प्रतिपाद्यते-"उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि" [वैशे० सू० १।१।७] इत्यभिधानात् । तत्रोत्क्षेपणं यदूर्ध्वाधः प्रदेशाभ्यां संयोग-विभागकारणं कर्मोत्पद्यते, यथा शरीरावयवे तत्सम्बद्धे वा मूर्तिमद्द्रव्ये ऊर्ध्वदिग्भाविभिराकाशदेशाद्यैः संयोगकारणमधोदिग्भागावच्छिन्नैश्च तैर्विभागकारणम् । तद्विपरीतसंयोगकारणं च कर्मावक्षेपणम् ।

वैशेषिक का कर्म पदार्थ भी सिद्ध नहीं होता है, कर्मपदार्थ के पांच भेद माने है, अब उसी पर विचार किया जाता है—

वैशेषिक—"उत्क्षेपणमवक्षेपण माकुंचनं प्रसारणं गमन मिति कर्माणि" कर्म के पांच भेद हैं उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, और गमन, ऊपर के प्रदेश और नीचे के प्रदेश द्वारा संयोग तथा विभाग को करने वाली क्रिया उत्क्षेपण कहलाती है, जैसे शरीर के अवयव में अथवा शरीर में सम्बद्ध मूर्तिमान द्रव्य में ऊर्ध्व दिशा सम्बन्धी आकाश प्रदेशों के साथ संयोग का कारण होना तथा अधोदिशा सम्बन्धी आकाश प्रदेशों से विभाग का कारण होना [अर्थात् शरीर का अवयव हाथ को ऊपर की ओर उठाया तो ऊपर के आकाश प्रदेशों से तो संयोग हुआ और नीचे के प्रदेशों से वियोग हुआ इत्यादि सर्वत्र समझना] उत्क्षेपण कर्म से विपरीत क्रिया होने को अवक्षेपण कहते हैं, अर्थात्—उत्क्षेपण में ऊपर की ओर शरीरादि अवयवों का आकाश प्रदेशों के साथ संयोग के कारणभूत क्रिया हुई थी और अवक्षेपण में नीचे की ओर शरीर के अवयव का आकाश

ऋजुद्रव्यस्य कुटिलत्वकारणं च कर्माकुञ्चनम्, यथा ऋजुनोंगुल्यादिद्रव्यस्य येऽग्रावयवास्तेषामाकाशादिभि: स्वयंयोगिभिर्विभागे सति मूलप्रदेशैश्च संयोगे सति येन कर्मणांगुल्यादिरवयवी कुटिलः संपद्यते तदाकुञ्चनम्। तद्विपर्ययेण संयोगविभागोत्पत्तौ येनावयवी ऋजु: सम्पद्यते तत्कर्म प्रसारणम्। अनियतदिग्देशैर्यत्संयोगविभागकारणं तद्गमनम्। उत्क्षेपणादिकं तु चतु:प्रकारमपि कर्म नियतदिग्देशसंयोगविभागकारणमिति।

तदेतत्पञ्चप्रकारतोपवर्णनं कर्मपदार्थस्याविचारितरमणीयम्; देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतु: परिस्पन्दात्मको हि परिणामोऽर्थस्य कर्मोच्यते। उत्क्षेपणादीनां चात्रैवान्तर्भाव:। अत्रान्तर्भूतानामपि कश्चिद्विशेषमादाय भेदेनाभिधाने भ्रमणस्प(स्य)न्दनादीनामप्यतो भेदेनाभिधानानुषङ्गात्कथं पञ्चप्रकारतैवास्य ?

प्रदेश से संयोग के कारणभूत क्रिया होती है [ऊपर की तरफ कोई चीज फेंकना तथा नीचे की तरफ कोई चीज गिराना, गिर जाना भी क्रमशः उत्क्षेपण और अवक्षेपण कहलाता है] सरल अवस्था में स्थित द्रव्य को कुटिल करने वाली क्रिया आकुंचन कहलाती है, जैसे अंगुली आदि सीधी है उसके ऊपर के अवयवों का आकाश प्रदेशों के साथ स्वयं संयोग है उन प्रदेशों से विभाग होने पर और मूल प्रदेशों से संयोग होने पर जिस क्रिया से अंगुली आदि अवयवी कुटिल [टेढ़ा] हो जाता है वह आकुंचन कर्म है। आकुंचन से विपरीत संयोग विभाग उत्पन्न होने पर जिस क्रिया से अवयवी सरल हो जाता है वह प्रसारण नामा कर्म है, [अर्थात् अंगुली आदिका टेढा होना या सिकुड़ जाना किसी वस्तु का संकोचना आकुंचन है और फैलना प्रसारण है] अनियत दिशा तथा देश द्वारा जो संयोग एवं विभाग का कारण वह गमन नामा कर्म है, उत्क्षेपण आदि चार प्रकार का कर्म तो नियत दिशा तथा आकाश प्रदेश के संयोग विभाग का कारण है और गमन कर्म अनियत दिशा तथा देश के सयोग विभाग का कारण है। इसतरह पांच प्रकार का कर्म है।

जैन—यह पांच प्रकार का कर्मों का वर्णन अविचार पूर्ण है, देश से देशांतर प्राप्ति रूप पदार्थ का जो परिस्पंदात्मक [चलनात्मक] परिणाम है वह कर्म या क्रिया कहलाती है और इसी मे उत्क्षेपण आदि कर्म का अन्तर्भाव हो जाता है, जब परिस्पंदात्मक परिणाम में सर्व क्रिया अन्तर्भूत है तब उसमें कुछ भेद विशेष को करके पृथक् नाम धर देना ठीक नहीं, अन्यथा भ्रमण, स्यंदन आदि को पृथक् कर्म मानना पड़ेगा। फिर कर्म के पांच ही भेद हैं यह कथन गलत ठहरेगा।

न चैकरूपस्यार्थस्य क्रियासमावेशो युक्तः; सर्वदाऽविशिष्टत्वात् । यत्सर्वदाऽविशिष्टं न तस्य क्रियासम्भवो यथाकाशस्य, अविशिष्टं चैकरूपं वस्त्विति । न चैकरूपत्वेप्यर्थानां गन्तृस्वभावता युक्ता; निश्चलत्वाभावप्रसङ्गात्, सर्वदा गन्तृत्वैकरूपत्वात् । अथाऽगन्तृत्वरूपताप्येषामङ्गीक्रियते; तथा सत्याकाशवदगन्तृतैव स्यात् । एवं च गत्यवस्थायामप्यचलत्वमेषां प्रसक्तं तदपरित्यक्ताऽगतिरूपत्वान्निश्चलावस्थावत् । न चोभयरूपत्वादेषामयमदोषः; गन्तृत्वागन्तृत्वविरुद्धधर्माध्यासेनैकत्वव्याघातानुषङ्गादचलाऽनिलवत् ।

यथा चाक्षणिकैकरूपस्यार्थस्य क्रिया नोपपद्यते तथा क्षणिकैकरूपस्यापि; उत्पत्तिप्रदेश एवास्य प्रध्वंसेन प्रदेशान्तरप्राप्त्यसम्भवात् । या ह्युत्पत्तिप्रदेश एव ध्वंसमुपगच्छति न सोन्यदेशमाक्रामति यथा

तथा आपके यहां जीवादि पदार्थ एक रूप में ही अवस्थित है उसमें क्रिया का समावेश करना युक्त नहीं, जो सर्वदा समानरूप से स्थित है उसमें क्रिया नहीं होती, जैसे आकाश में नहीं होती, वस्तु सदा एकरूप मे अविशिष्ट है अतः उसमें क्रिया नहीं होती, इसप्रकार अनुमान द्वारा आपके मान्य पदार्थ में क्रिया का निषेध होता है । एक रूप में अवस्थित पदार्थों में भी गमन स्वभावरूप क्रिया है ऐसा मानना युक्त नही होगा, अन्यथा उन पदार्थों का निश्चलपना समाप्त होवेगा, क्योकि वह एकरूप पदार्थ सर्वदा गमन क्रिया में जुट जायगा । इन पदार्थो में अगमनरूपता भी मानी जाती है, ऐसा कहना भी गलत है, यदि अगमन स्वभाव मानते हैं तो सर्वदा अगमनरूपता ही रहेगी, जैसे आकाश में अगमनरूपता सर्वदा रहती है । और इसतरह इन पदार्थों में फिर गमन अवस्थामें भी अचलपना मानना होगा, क्योंकि इन्होंने अगतिरूपता को छोड़ा नहीं है । जैसे निश्चलावस्था में नहीं छोड़ता ऐसा भी नहीं कह सकते कि–गमन और अगमन दोनों रूप पदार्थ है अतः कोई दोष नही आता, क्योंकि गमन और अगमन इनमें विरुद्धपना है, दोनों को एकत्र मानने से उन पदार्थो में एकरूपता का व्याघात होता है, जैसे पर्वत और वायु में विरुद्ध धर्म होने से एकरूपता नहीं है ।

जिसप्रकार सर्वथा अक्षणिक [नित्य] एकरूप पदार्थ में क्रिया उत्पन्न नहीं होती है, उसीप्रकार सर्वथा क्षणिक एकरूप पदार्थ में भी क्रिया होना असम्भव है, क्योंकि क्षणिक पदार्थ जहां पर उत्पन्न हुआ वहीं पर नष्ट हो जाता है, अतः देशांतर में गमनरूप क्रिया नहीं कर सकता, अनुमान सिद्ध बात है कि–जो पदार्थ उत्पत्ति के स्थान पर ही नष्ट होता है वह अन्य स्थान पर नहीं जाता है, जैसे बौद्धमतानुसार

प्रदीप:; उत्पत्तिप्रदेश(शे)ध्वंसमुपगच्छति च क्षणिको भाव इति। न चार्थस्य क्षणिकत्वाद्देशाद्देशान्तरप्राप्तिर्भ्रान्तिः; क्षणिकवादस्य प्रतिषिद्धत्वात्। ततः परिणामिन्येवार्थे यथोक्तं कर्मोपपद्यते।

न चेदमर्थादर्थान्तरम्; तथाभूतस्यास्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भेनासत्त्वात्। प्रयोग:- यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते तन्नास्ति यथा क्वचित्प्रदेशे घट:; नोपलभ्यते च विशिष्टार्थस्वरूपव्यतिरेकेण कर्मेति। न चोपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वमस्याऽसिद्धम्; "सख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिसमवायाच्चाक्षुषाणि" [वैशे० सू० ४।१।११] इत्यभिधानात्। तन्न कर्मपदार्थोपि परेषां घटते।

उत्पत्ति प्रदेश में दीपक नष्ट होता है अतः अन्य स्थान पर नही जाता। क्षणिक पदार्थ भी उत्पत्ति स्थान पर नष्ट होता है अतः देशांतर मे गमन नहीं कर सकता है।

बौद्ध—पदार्थ तो क्षणिक ही है और वह देशांतर मे जाता भी नही किन्तु भ्रान्तिवश ऐसा मालूम पड़ता है कि देशांतर में गमन कर गया?

जैन—आपके क्षणिक पदार्थ का पहले ही [क्षण भंगवाद प्रकरण में] खण्डन हो चुका है। इसप्रकार क्षणिक और अक्षणिक दोनों प्रकार के पदार्थों में क्रिया उत्पन्न होना सिद्ध नही होता अतः परिणमनशील-कथंचित् क्षणिक अक्षणिक पदार्थ में ही यह पूर्वोक्त उत्क्षेपण आदि क्रिया या कर्म उत्पन्न होता है ऐसा नियम सिद्ध होता है।

किन्तु यह उत्क्षेपणादि कर्म पदार्थ से पृथक् नही है, क्योंकि पदार्थ से पृथक् भूत कर्म की उपलब्ध होने योग्य होते हुए भी उपलब्धि नहीं होती अतः उसका अभाव ही है, अनुमान प्रमाण सिद्ध बात है कि-जो वस्तु उपलब्ध होने योग्य होकर भी उपलब्ध नही होती वह वस्तु नही है, जैसे किसी प्रदेश में घट उपलब्ध नही होता तो उसका वहां अभाव ही है। कर्मरूप से परिणत वस्तु को छोड़कर अन्य कर्म प्रतीत नहीं होता, अतः वह नहीं है। कर्म की उपलब्ध होने की योग्यता असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि आप स्वय मानते है कि संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, और कर्म ये सब रूपी द्रव्य मे समवाय को प्राप्त होने से चाक्षुष हैं-चक्षु द्वारा उपलब्ध होने योग्य हैं। अतः कर्म [क्रिया] उपलब्ध होने योग्य नही है ऐसा कहना अशक्य है। इसतरह वैशेषिक का कर्मनामा पदार्थ सिद्ध नहीं होता है।

नापि सामान्यपदार्थः; तस्य पराभ्युपगतस्वभावस्य प्रागेव प्रतिषिद्धत्वादिति ।

सामान्य नामा पदार्थ भी असिद्ध है, वैशेषिक जिस तरह का सामान्य का स्वभावादि मानते हैं उस सामान्य का अभी सामान्यस्वरूपविचार नामा प्रकरण निराकरण कर आये हैं अतः इसके विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है ।

॥ कर्मपदार्थविचार समाप्त ॥

कर्मपदार्थविचार का सारांश

वैशेपिक के यहां कर्म–क्रिया के पांच भेद बताये है, उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, गमन, इनमें से पहले के चार कर्म नियत स्थान में क्रिया हेतुक है और गमन अनियत स्थान में क्रियाशील है। नीचे से ऊपर जाना या फेकना उत्क्षेपण है, अर्थात् मूर्तिमान वस्तु का नीचे के प्रदेशों से विभाग होकर ऊपर के प्रदेशों में संयोग होना उत्क्षेपण कर्म है। ऊपर से नीचे वस्तु का आना अवक्षेपण कर्म है। सरल सीधी स्थित वस्तु को वक्र टेढी करने वाली क्रिया आकुंचन क्रिया है जैसे सीधी अंगुली को ढेढी करना। टेढी अंगुली आदि द्रव्य को सरल करने वाली क्रिया प्रसारण कर्म है, और गमन तो प्रसिद्ध ही है। इसप्रकार कमेपदार्थ का वर्णन है। किन्तु यह बिलकुल हास्यास्पद है। कर्म तो क्रिया–परिस्पंद हलन है और वह द्रव्य ही है पृथक् पदार्थ नही है, जब गमनशील पदार्थ देश से देशान्तर, संक्रमण करता है तब उसी को कर्म या क्रिया कहते हैं। यदि वस्तु की क्रिया आदि में भेद देखकर उनको पृथक् पदार्थ माना जायेगा तो भ्रमणादि क्रिया को भी कर्मपदार्थ मानना होगा फिर उसके पांच ही भेद नहीं रहेगे। अतः कर्म पृथक् पदार्थ नही है किन्तु क्रिया परिणत द्रव्य ही है ऐसा मानना चाहिये सामान्य नाम का पदार्थ भी पृथक् नहीं है, क्योंकि सामान्य द्रव्य ही है इस बात को सामान्यवाद में सिद्ध कर आये हैं।

।। कर्मपदार्थवाद का सारांश समाप्त ।।

१५

विशेषपदार्थविचारः

विशेषपदार्थोऽप्यनुपपन्नः । विशेषा हि नित्यद्रव्यवृत्तय: परमाण्वाकाशकालदिगात्ममनस्सु वृत्तेरत्यन्तव्यावृत्तिबुद्धिहेतवः । ते च जगद्विनाशारम्भकोटिभूतेषु परमाणुषु मुक्तात्मसु मुक्तमनस्सु चान्त्येषु भवा 'अन्त्याः' इत्युच्यन्ते, तेषु स्फुटतरमालक्ष्यमाणत्वात् । वृत्तिस्तेषां सर्वस्मिन्नेव परमाण्वादौ नित्ये द्रव्ये विद्यते एव । अत एव 'नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्याः' इत्युभयपदोपादानम् ।

वैशेषिक का विशेष पदार्थ भी असिद्ध है, अब इसी का विवेचन करते हैं—

वैशेषिक—जो नित्य द्रव्यों में रहते हैं अर्थात् परमाणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मनमें रहते हैं, तथा अत्यन्त व्यावृत्ति बुद्धि को–यह इससे सर्वथा भिन्न है इस तरह की बुद्धि को उत्पन्न करते हैं वे विशेष कहलाते हैं । इन विशेषों को अन्त्य भी कहते हैं, क्योंकि जगत विनाश के कारणभूत अंतिम परमाणुओं में, मुक्तात्माओं में, मुक्त मन में अन्त में होते हैं, इन परमाणु आदि में स्पष्टरूप से वे विशेष परिलक्षित होते हैं, सभी परमाणु आदि नित्य द्रव्य में इन अन्त्य विशेषों की वृत्ति हुआ ही करती है इसीलिये नित्यद्रव्यवृत्तय: और अन्त्याः ये दो विशेषणों को ग्रहण किया है ।

व्यावृत्तिबुद्धिविषयत्वं च विशेषाणां सद्भावसाधकं प्रमाणम् । यथा ह्यस्मदादीनां गवादिषु आकृतिगुणक्रियावयवसंयोगनिमित्तोऽश्वादिभ्यो व्यावृत्तः प्रत्ययो दृष्टः, तद्यथा-'गौः, शुक्लः, शीघ्रगतिः, पीनककुदः, महाघण्टः' इति यथाक्रमम् । तथास्मद्विशिष्टानां योगिनां नित्येषु तुल्याकृतिगुणक्रियेषु परमाणुषु मुक्तात्ममनस्सु चान्यनिमित्ताभावे प्रत्याधार यद्बलात् 'विलक्षणोयं विलक्षणोयम्' इति प्रत्ययप्रवृत्तिस्ते योगिनां विशेषप्रत्ययोन्नीतसत्त्वा अन्त्या विशेषाः सिद्धाः ।

इत्यपि स्वाभिप्रायप्रकाशनमात्रम्; तेषां लक्षणासम्भवतोऽसत्त्वात् । तथाहि-यदेतेषां नित्यद्रव्यवृत्तित्वादिकं लक्षणमभिहितं तदसम्भवदोषदुष्टत्वादलक्षणमेव; यतो न किञ्चित्सर्वथा नित्यं द्रव्यमस्ति, तस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात् । तदभावे च तद्वृत्तित्वं लक्षणमेषां दूरोत्सारितमेव ।

विशेषों के अस्तित्व को सिद्ध करने वाला प्रमाण व्यावृत्ति बुद्धि का विषय होना रूप है, अर्थात् पदार्थो में व्यावृत्तपने का जो ज्ञान होता है उसी से विशेष पदार्थ की सिद्धि होती है । इसी का खुलासा करते हैं-जिसप्रकार हम लोगो को गो आदि पदार्थो में आकृति-जाति के निमित्त से [गोत्व जाति से] गुण-श्वेतादि से, क्रिया से, ककुदादि अवयव से, घंटादि के संयोग से व्यावृत्तपने की बुद्धि होती है अर्थात् अश्व आदि अन्य पशुओ से यह गो पृथक् है, क्योंकि इसकी जाति गुण, अवयव आदिक भिन्न है इत्यादिरूप भिन्नपने का जो ज्ञान होता है वह विशेष पदार्थ के कारण ही होता है, आकृति, गुण, क्रिया, अवयव और संयोग इन पांच विशेषों के निमित्त से गो आदि पदार्थ में व्यावृत्त बुद्धि उत्पन्न होती है, जैसे-यह गौ शुक्ल वर्णयुक्त, शीघ्रगामी, स्थूलककुद एवं महाघंटा युक्त है ये क्रम से पांच विशेष गो को अश्वादि से व्यावृत्त करते हैं । जैसे गो की अश्वादि से जाति आदि द्वारा व्यावृत्ति होती है वैसे ही हमारे से विशिष्ट जो योगीजन हैं वे समान आकृति, गुण, क्रिया वाले परमाणुओं में तथा मुक्तात्मा एवं मन में अन्य निमित्त के बिना जिसके बल से प्रत्येक में यह विलक्षण है, यह विलक्षण है इत्यादि ज्ञान द्वारा उन परमाणु आदि के विशेषों को जानते है, उन योगीजनों के ज्ञान द्वारा जिनका सत्व जाना हुआ है ऐसे ये अन्त्य विशेष होते हैं, अर्थात् योगी ज्ञान द्वारा परमाणु आदि के अन्त्य विशेषों की सिद्धि होती है ।

जैन—यह कथन अपने मनका है, क्योंकि उन विशेषों का लक्षण असम्भव है । विशेषों का लक्षण किया है कि जो नित्य द्रव्यों में रहे व्यावृत्तबुद्धि का हेतु हो

यच्चायो(च्च-यो)गिप्रभवविशेषप्रत्ययबलादेषा सत्त्वं साध्यते; तदप्ययुक्तम्; यतोऽण्वादीनां स्वस्वभावव्यवस्थितं स्वरूपं परस्परासङ्कीर्णरूपं वा भवेत्, सङ्कीर्णस्वभाव वा? प्रथमे विकल्पे स्वत एवासङ्कीर्णाण्वादिरूपोपलम्भाद्योगिनां तेषु वैलक्षण्यप्रतिपत्तिर्भविष्यतीति व्यर्थमपरविशेषपदार्थपरिकल्पनम्। द्वितीये विशेषाख्यपदार्थान्तरसन्निधानेपि परस्परातिमिश्रितेषु परमाण्वादिषु तद्बलाद्व्यावृत्तप्रत्ययो योगिना प्रवर्त्तमान: कथमभ्रान्त:? स्वरूपतोऽव्यावृत्तरूपेष्वण्वादिषु व्यावृत्ताकारतया प्रवर्त्तमानस्यास्याऽतस्मिंस्तद्ग्रहणरूपतया भ्रान्तत्वानतिक्रमात्? तथा चैतत्प्रत्यययोगिनस्तेऽयोगिन एव स्यु:।

वह विशेष है, यह लक्षण असम्भव दोष युक्त होने से अलक्षण ही कहलाता है क्योंकि सर्वथा नित्य कोई द्रव्य नहीं है सर्वथा नित्य वस्तु का निराकरण पहले ही कर चुके हैं, नित्य द्रव्य के अभाव में उसमें वृत्तिवाला विशेष का लक्षण भी दूर से निराकृत हुआ समझना चाहिये।

आपने उन विशेषों की सत्ता योगीजन से उत्पन्न हुए विशेष ज्ञान के बल से सिद्ध की वह भी अयुक्त है। इन परमाणु आदि मे रहने वाले विशेषों के विषय में हमारा प्रश्न है कि परमाणु आदि पदार्थो का स्वस्वभाव में व्यवस्थित जो स्वरूप है वह परस्पर में असंकीर्णरूप है अथवा संकीर्णरूप है? प्रथम पक्ष कहो तो जब वे परमाणु स्वयं ही अपने स्वभाव मे व्यवस्थित एव परस्पर मे असंकीर्ण हैं तब योगीजनों को उनमे विलक्षणता ज्ञान अपने आप हो जायगा, अन्य विशेष पदार्थ की कल्पना करना व्यर्थ है। दूसरा पक्ष–परस्पर में संकीर्ण स्वभाव वाले परमाणु आदि हैं और उनमें व्यावृत्ति कराने वाले विशेष रहते हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं होगा जब वे परमाणु आदि परस्पर में संकीर्ण--अत्यन्त मिले हुए हैं तब उनमें विशेष नामा पदार्थों के सन्निधान होने पर भी व्यावृत्ति नहीं हो सकती जब वे परमाणु आदि स्वयं व्यावृत्त नही हैं तब विशेषों की सामर्थ्य से उनमें होने वाला योगीजनों का व्यावृत्त ज्ञान भी अभ्रान्त–सत्य कैसे कहला सकता है? स्वरूप से अव्यावृत्त स्वभाव वाले परमाणु आदि में व्यावृत्तिरूप से प्रतिभास कराने वाला यह योगी का ज्ञान जो उस रूप नहीं है उसको उस रूप अर्थात् संकीर्ण को असंकीर्णरूप ग्रहण करने से भ्रान्त है और यदि यह व्यावृत्ताकार ज्ञान भ्रान्त है तो इस ज्ञान के धारक योगीजन भी अयोगी ही कहलायेंगे क्योंकि भ्रान्तज्ञानी अयोगी ही होते हैं।

यदि च विशेषाख्यपदार्थान्तरव्यतिरेकेण विलक्षणप्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात्; कथं तर्हि विशेषेषु तस्योत्पत्तिस्तत्रापरविशेषाभावात् ? भावे वा अनवस्था, 'नित्यद्रव्यवृत्तयः' इत्यभ्युपगमक्षतिश्च स्यात् । अथ स्वत एवात्रान्योन्यवैलक्षण्यप्रतिपत्ति ; तर्हि परमाण्वादीनामप्यत एव तत्प्रत्ययप्रवृत्तिर्भविष्यतीति कृतं विशेषाख्यपदार्थपरिकल्पनया ।

अथ विशेषेष्वपरविशेषयोगाद्व्यावृत्तबुद्धिपरिकल्पनायामनवस्थादिबाधकोपपत्तेरुपचारात्तेषु तद्बुद्धिः । ननु कोयं तद्बुद्धेरुपचारो नाम ? असतो वस्तुस्वभावस्य विषयत्वेनाक्षेपश्चेत्; कथं नास्या मिथ्यात्वं तद्योगिनां चायोगित्वम् ?

दूसरी बात यह है कि–यदि विशेषनामा पदार्थ के बिना विलक्षण प्रतिभास की उत्पत्ति नहीं होगी तो स्वयं विशेषों में विलक्षण प्रतिभास की उत्पत्ति किसप्रकार होवेगी । विशेषों में अन्य विशेष का तो अभाव है ? यदि विशेषों में अन्य विशेष स्वीकार करेंगे तो अनवस्था आयेगी, तथा नित्य द्रव्यों में विशेष रहते हैं, ऐसा आपका स्वीकृत पक्ष भी नष्ट होगा। [क्योंकि विशेषों में भी विशेष रहते हैं ऐसा कहा]

वैशेषिक—विशेषों में स्वतः ही अन्योन्य वैलक्षण्य की प्रतीति होती है ?

जैन—तो फिर परमाणु आदि द्रव्यों में भी स्वयं ही विलक्षण प्रतिभास हो जायेगा इस विशेष पदार्थ की कल्पना से कुछ प्रयोजन नहीं रहता है । अभिप्राय यह है कि द्रव्य स्वयं ही अपनी विशेषता के कारण विलक्षण प्रतीति का कारण हो रहा है, जिस किसी भी वस्तु का स्वयं का गुण या स्वभाव ही उक्त प्रतीति में कारण है ।

वैशेषिक—विशेषों में अपर विशेषों के योग से व्यावृत्त बुद्धि होती है ऐसा मानने पर अनवस्थादि बाधायें उपस्थित होती हैं अतः विशेषों में जो व्यावृत्ति की बुद्धि होती है वह उपचार से होती है, ऐसा हम मानते हैं ।

जैन—उस बुद्धि का उपचार क्या है ? असत् वस्तु स्वभाव का विषयपने से आक्षेप करना, ऐसा कहो तो असत् वस्तु स्वभाव को विषय करने वाली वह बुद्धि मिथ्या कैसे नहीं और उस बुद्धि के धारक योगी लोग भी अयोगी कैसे नहीं हुए ? अर्थात् हुए ही ।

किञ्च, असौ वस्तुस्वभावो विषयत्वेनाक्षिप्यमाणः संशयत्वेनाक्षिप्यते, विपर्यस्तत्वेन वा ? तत्राद्ये पक्षे व्यावृत्तरूपतया चलितप्रतिपत्तिविषयाणां विशेषाणां यथावत्प्रतिपत्त्यसम्भवात्तद्योगिनोऽयोगित्वमेव । द्वितीयेप्येतदेव दूषणम्, विशेषरूपविकलानपि तान् विशेषरूपतया प्रतिपद्यमानस्याऽयोगित्वप्रसङ्गाविशेषात् ।

यदि च बाधकोपपत्तेर्विशेषेषु व्यावृत्तबुद्धिर्नापरविशेषनिबन्धना; तर्हि परमाण्वादिष्वसौ तन्निबन्धना नाभ्युपगन्तव्या तदविशेषात् । परमाण्वादौ हि विशेषेभ्योऽन्योन्यं व्यावृत्तबुद्ध्युत्पत्तौ सकलविशेषेभ्यः परमाणूना व्यावृत्तबुद्धिविशेषान्तरात्स्यादित्यनवस्था । स्वतस्तेषा ततो व्यावृत्तबुद्धिहेतुत्वेऽन्योन्यमपि तद्धेतुत्व स्वत एव स्यादिति व्यर्थमर्थान्तरविशेषपरिकल्पनम् ।

ननु यथाऽमेध्यादीनां स्वत एवाशुचित्वमन्येषां तु भावानां तद्योगात्तत्तथेहापि तत्स्वभावत्वाद्विशेषेषु, स्वत एव व्यावृत्तप्रत्ययहेतुत्व परमाण्वादिषु तु तद्योगात् ।

दूसरी बात यह है कि–असत् वस्तु स्वभाव विषयपने से आक्षिप्यमाण है वह संशयपने से आक्षिप्यमाण है अथवा विपर्ययपने से आक्षिप्यमाण है ? प्रथम पक्ष कहो तो चलितप्रतिपत्ति का विषय होने वाले उन विशेषो का व्यावृत्तरूप से जो ज्ञान हुआ है वह यथावत् ज्ञान नही है अतः उस ज्ञान के धारक योगीजन तो अयोगी कहलायेंगे । दूसरे विपर्ययपक्ष में भी यही दोष है, क्योंकि विशेषरूप रहित को भी विशेषरूप से जानने वाले के अयोगीपना आता ही है ।

यदि बाधा आने से विशेषों में व्यावृत्ति बुद्धि अपर विशेष के निमित्त से नहीं होती ऐसा माना जाय तो परमाणु आदि में भी वह बुद्धि अपर विशेष के निमित्त से नहीं होती ऐसा मानना चाहिए । उभयत्र समानता है । क्योंकि परमाणु आदि में विशेषों के द्वारा अन्योन्य व्यावृत्त बुद्धि की उत्पत्ति होने पर तो परमाणुओं की सकल विशेषों से व्यावृत्तबुद्धि अन्य विशेष से होगी । इसतरह अनवस्था आती है । यदि कहा जाय कि परमाणुओ की सकल विशेषों से व्यावृत्तबुद्धि विशेषांतर से न होकर स्वतः ही होती है तो परमाणु आदि में भी स्वतः अन्योन्य व्यावृत्तबुद्धि होना स्वीकार करे, अर्थान्तर स्वरूप विशेष पदार्थ की कल्पना व्यर्थ ही है ।

वैशेषिक—जिसप्रकार अमेध्य मल आदि पदार्थों में अशुचिपना स्वतः रहता है और अन्य पदार्थों में अशुचिपना उस अमेध्य की अशुचिता से आता है उसीप्रकार

किञ्च, अतदात्मकेष्वप्यन्यनिमित्तः प्रत्ययो भवत्येव, यथा प्रदीपात्पटादिषु, न पुनः पटादिभ्यः प्रदीपे, एवं विशेषेभ्य एवाण्वादौ विशिष्टः प्रत्ययो नाण्वादिभ्यस्तत्र; इत्यप्यसमीचीनम्; यतोऽमेध्याद्यशुचिद्रव्यसंसर्गान्मोदकादयो भावा प्रच्युतप्राक्तनशुचिस्वभावा अन्ये एवाऽशुचिरूपतयोत्पद्यन्ते इति युक्तमेषामन्यसंसर्गादशुचित्वम् । न चाण्वादिष्वेतत्सम्भवति, तेषां नित्यत्वादेव प्राक्तनाविविक्तरूपपरित्यागेनापरविविक्तरूपतयानुपप(नुत्प)त्तेः । प्रदीपदृष्टान्तोप्यत एवासङ्गतः; पटादीनां प्रदीपादिपदार्थान्तरोपाधिकस्य रूपान्तरस्योत्पत्तेः, प्रकृते च तदसम्भवात् ।

अनुमानबाधितश्च विशेषसद्भावाभ्युपगमः; तथाहि-विवादाधिकरणेषु भावेषु विलक्षणप्रत्य-

---

विशेषों में स्वतः व्यावृत्तबुद्धि का हेतुपना होता है और परमाणु आदि में तो व्यावृत्त बुद्धि का हेतुपना विशेषपदार्थ से होता है । दूसरी बात यह है कि जो वस्तु अतदात्मक होती है उनमें अन्य निमित्त से प्रतिभास होता ही है यथा पट आदि पदार्थों में दीपक के निमित्त से प्रतिभास होता है, किन्तु ऐसा तो नहीं होता कि पटादिनिमित्त से दीपक में प्रतिभास होवे । इसीप्रकार की बात विशेषों में है अर्थात् अणु आदि में विशिष्ट प्रतिभास तो विशेषनामा पदार्थ के कारण होता है किन्तु विशेषों में अणु आदि से विशिष्ट प्रत्यय नहीं होता, स्वतः ही होता है ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, आपने अमेध्य मल आदि का दृष्टान्त दिया उसकी बात यह है कि अमेध्य आदि अशुचि द्रव्य के संसर्ग हो जाने से मोदकादिपदार्थ अपने पहले के शुचि-पवित्र स्वभाव को छोड़कर अशुचिरूप से अन्य ही उत्पन्न होते हैं अतः इन पदार्थो का अशुचिपना अन्य के संसर्ग से होना युक्ति संगत है, किन्तु परमाणु आदि में ऐसी बात नहीं है, क्योंकि परमाणु आदि द्रव्य नित्य हैं वे अपनी पहले की अविविक्तरूप अवस्था को छोड़कर दूसरी विविक्तरूप अवस्था से उत्पन्न हो नहीं सकते, दीपक का दृष्टान्त भी इसीलिये असंगत होता है, पट आदि पदार्थ का दीपकादि अन्य पदार्थ की उपाधि से रूपांतर हो जाता है अर्थात् दीपक के निमित्त से पटादि प्रकाश रूप हो जाते हैं, ऐसा होना परमाणुओं में सम्भव नहीं क्योंकि वे नित्य हैं उनमें रूपांतर हो नहीं सकता ।

आपका विशेष पदार्थ का मानना अनुमान प्रमाण से बाधित भी होता है, अब उसी अनुमान प्रमाण को उपस्थित करते हैं—विवाद में स्थित परमाणु आदि पदार्थों

यस्तद्व्यतिरिक्तविशेषनिबन्धनो न भवति, व्यावृत्तप्रत्ययत्वात्, विशेषेषु व्यावृत्तप्रत्ययवदिति । तन्न विशेषपदार्थोपि श्रेयान् साधकाभावाद्बाधकोपपत्तेश्च ।

में होनेवाला विलक्षण प्रत्यय [प्रतिभास] उन पदार्थों के अतिरिक्त विशेष के निमित्त से नहीं होता है, क्योंकि यह व्यावृत्त प्रत्यय है, जैसे विशेषों में व्यावृत्तप्रत्यय होते हैं वे अपने से अतिरिक्त विशेष से नहीं होते हैं । इस अनुमान द्वारा विशेषपदार्थ बाधित होता है अतः उसको मानना श्रेयस्कर नहीं है, जिसको मानने से बाधा आती है एवं जिसको सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रमाण नही है उसको नही मानना ही कल्याणकारी है । अलं विस्तरेण ।

।। विशेषपदार्थविचार समाप्त ।।

विशेषपदार्थविचार के खंडन का सारांश

विशेष पदार्थ भी सिद्ध नहीं है, वैशेषिक इसका नित्य द्रव्य में अस्तित्व मानते हैं, किन्तु सर्वथा नित्य द्रव्य किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ परस्पर में विशिष्ट प्रतीत होता है वह विशेष पदार्थ द्वारा होता है ऐसा कहना अयुक्त है, पदार्थ किसी भिन्न विशेष से विशिष्ट प्रतीत न होकर स्वतः ही विशिष्टरूप प्रतीत होता है। वैशेषिक द्रव्य आदि में व्यावृत्त प्रत्यय विशेष द्वारा होता है और विशेष में उक्त प्रत्यय स्वत. होता है ऐसा मानते हैं। किन्तु यह प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता। अनवस्था दोष आता है क्योंकि यदि द्रव्य में विशेष द्वारा व्यावृत्त प्रत्यय होता है तो विशेष पदार्थ में भी अन्य विशेष द्वारा व्यावृत्त प्रत्यय होना चाहिए इसप्रकार अनवस्था आती है। तथा विशेष पदार्थ में स्वतः व्यावृत्त प्रत्यय होता है तो अन्य द्रव्य में भी स्वतः होना चाहिए।

विशेष में व्यावृत्त प्रत्यय स्वतः होता है और अन्य द्रव्य में व्यावृत्त प्रत्यय पर से होता है जैसे अशुचि विष्ठा आदि में अशुचिपना स्वतः होता है और अन्य पदार्थ में अशुचिपना विष्ठादि मल संपर्क से होता है ऐसा कहना भी असत् है, अशुचि विष्ठादि के संपर्क से मोदक आदि पदार्थ जो अशुचि होते हैं वे शुचिरूप पूर्व अवस्था का त्याग कर अशुचिरूप होते हैं, ऐसा परिवर्त्तन आपके द्रव्यों में सम्भव नहीं क्योंकि नित्य द्रव्य में विशेष पदार्थ रहता है अतः उक्त परिवर्त्तन होना अशक्य है। इसतरह विशेष पदार्थ की सिद्धि नहीं होती है।

॥ सारांश समाप्त ॥

१६

समवायपदार्थविचारः

नापि समवायपदार्थोऽनवद्यतल्लक्षणाभावात् । ननु च "अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदम्प्रत्ययहेतुर्यः सम्बन्धः स समवायः ।" [प्रश० भा० पृ० १४] इत्यनवद्यतल्लक्षणसद्भावात्तदभावोऽसिद्धः । न चान्तरालाभावेन 'इह ग्रामे वृक्षाः' इतीहेदम्प्रत्ययहेतुना व्यभिचारः; सम्बन्धग्रह-

वैशेषिक का अभिमत समवाय नामा पदार्थ भी निर्दोष लक्षण के अभाव में सिद्ध नहीं होता है । अब यहां पर उसी का सुविस्तृत पूर्व पक्ष रखा जाता है—

वैशेषिक—"अयुत सिद्धाना माधार्याधारभूतानामिहेदंप्रत्यय हेतुर्यः सम्बन्धः स समवायः" आधार और आधेयभूत अयुत सिद्ध पदार्थों में "यहां पर यह है" इस प्रकार के ज्ञान को कराने मे जो सम्बन्ध निमित्त होता है वह समवाय कहलाता है, इसप्रकार समवाय पदार्थ का निर्दोष लक्षण पाया जाता है अतः उसका अभाव नहीं कर सकते, अंतराल का अभाव होने से "यहां पर ग्राम में वृक्ष हैं" इत्यादि स्थान पर भी इहेदं प्रत्यय हेतु देखा जाता है अतः समवाय का लक्षण व्यभिचरित है ऐसा नहीं कहना, क्योंकि सम्बन्ध शब्द का ग्रहण किया है । अर्थात् जहां पर इहेदं प्रत्यय हो वहां समवाय है ऐसा लक्षण करते तो दोष आता, किन्तु इहेदं प्रत्यय के साथ सम्बन्ध शब्द जोड़ा है अतः अंतराल के अभावरूप से [निरन्तररूप से] यहां ग्राम में वृक्ष हैं "इस तरह कहने में जो इहेदं प्रत्यय हुआ है उसमें सम्बन्ध नहीं है अतः उससे समवाय का

गात् । न चासौ सम्बन्धोऽभावरूपत्वात् । नापि 'इहाकाशे शकुनिः' इति प्रत्ययहेतुनासंयोगेन; 'आधाराधेयभूतानाम्' इत्युक्तेः । न ह्याकाशस्य व्यापित्वेनाधस्तादेव भावोस्ति शकुनेरुपर्यपि भावात् । नापि 'इह कुण्डे दधि' इतिप्रत्ययहेतुना; 'अयुतसिद्धानाम्' इत्यभिधानात् । न खलु तन्तुपटादिवद्दधि-कुण्डादयोऽयुतसिद्धाः, तेषां युतसिद्धेः सद्भावात् । युतसिद्धिश्च पृथगाश्रयवृत्तित्वं पृथग्गतिमत्त्व चोच्यते । न चासौ तन्तुपटादिष्वप्यस्ति; तन्तून्विहाय पटस्यान्यत्रावृत्तेः ।

तथापि 'इहाकाशे वाच्ये वाचक आकाशशब्दः' इति वाच्यवाचकभावेन 'इहात्मनि ज्ञानम्' इति विषयविषयिभावेन वा व्यभिचारोऽत्रायुतसिद्धेराधाराधेयभावस्य च भावात्; इत्यप्यसाम्प्रतम्;

लक्षण सदोष नही होता । अन्तराल का अभाव सम्बन्ध नही है क्योंकि अभावरूप है [सम्बन्ध सद्भावरूप हुआ करता है] यहां आकाश में पक्षी है" इस संयोगरूप ज्ञान के निमित्त से भी समवाय का लक्षण बाधित नही होता क्योकि उस लक्षण में हमने "आधार–आधेयभूतों का सम्बन्ध" ऐसा वाक्य जोड़ा है, आकाश और पक्षी का ऐसा आधार आधेय सम्बन्ध नही होता, क्योंकि आधार आधेय के नीचे होता है और आकाश व्यापक होने से पक्षी के नीचे के ओर ही होवे सो बात नहीं, ऊपर की ओर भी होता है । इस कुण्डा में दही है इत्यादि प्रतीति द्वारा भी व्यभिचार नही होगा, क्योंकि कुण्डा में दही आधार आधेयभूत तो है किन्तु अयुत सिद्ध नही है [अपृथक् नहीं है] जिसप्रकार तन्तु और पट में अयुतपना है उसप्रकार दही और कुण्डा में नहीं है, वे तो युतसिद्ध हैं– पृथक् पृथक् सिद्ध हैं युतसिद्ध का अर्थ यही है कि पृथक् आश्रय में रहना जैसे कि दो मल्लों में पृथक् पृथक् आश्रय है, पृथक् पृथक् गतिमान होना भी युतसिद्धत्व है, जैसे दो मेंढ़ा में है, ऐसा पृथक् पृथक् आश्रयपना तन्तु और वस्त्र में नहीं है, क्योंकि तंतुओं को छोड़कर अन्यत्र वस्त्र नहीं रहता ।

शंका—आधार–आधेयभूत एवं अयुत सिद्ध इन दोनों विशेषणों को लेने पर भी व्यभिचार आता है क्योंकि यहां पर आकाशरूप वाच्य मे वाचक आकाश शब्द रहता है इसतरह वाच्य–वाचक संबंध से इहेदं प्रत्यय होता है, तथा "इस आत्मा में ज्ञान है" इसतरह विषय विषयी भाव संबंध से इहेदं प्रत्यय होता है, इसमें आधार–आधेय तथा अयुत सिद्धपना दोनों है किंतु समवाय संबंध न होकर वाच्यवाचक संबंध तथा विषयविषयी संबंध है, अतः समवाय का लक्षण गलत है ?

उभयत्रावधारणाऽऽश्रयणात् । एतयोश्च युतसिद्धेष्वप्यनाधाराधेयभूतेष्वपि च भावात्, घटतच्छब्द-ज्ञानवत् । नन्वेवम् 'अयुतसिद्धानामेव' इत्यवधारणेऽप्यव्यभिचारात् 'आधाराधेयभूतानाम्' इति वचन-मनर्थकम्, 'आधाराधेयभूतानामेव' इत्यवधारणे 'अयुतसिद्धनाम्' इतिवचनवत्, ताभ्यामव्यभिचारात्; इत्यप्यसारम्; एकद्रव्यसमवायिनां रूपरसादीनामयुतसिद्धानामेव परस्परं समवायाभावात् एकार्थसम-वायसम्बन्धव्यभिचारनिवृत्यर्थमुत्तरावधारणम् । न ह्ययं वाच्यवाचकभावादिवद्युतसिद्धानामपि सम्भवति । तथोत्तरावधारणे सत्यपि आधाराधेयभावेन संयोगविशेषेण सर्वदाऽनाधाराधेयभूतानाम-सम्भवता व्यभिचारो मा भूदित्येवमर्थं पूर्वावधारणम् ।

समाधान— ऐसा नही कहना, दोनों जगह अवधारण करना है, अर्थात् अयुत सिद्धों के ही आधार–आधेय के ही समवाय है इसतरह एवकार लगाना चाहिए । ऐसा दोनों जगह का एवकार वाच्य–वाचक सम्बन्ध तथा विषयविषयी संबंध में नही लगता है, क्योंकि वाच्य वाचक संबंध तो युतसिद्ध पदार्थों में भी होता है तथा अनाधार अनाधेय पदार्थों में भी होता है, जैसे घट वाच्य और उसका वाचक शब्द ये दोनों युत सिद्ध [पृथक् सिद्ध] है तथा आधार–आधेयभूत भी नहीं है तथा घट पदार्थ और घट का ज्ञान ये युतसिद्ध तथा अनाधेय अनाधार होकर विषय–विषयीभाव संबंधरूप है, अतः समवाय का लक्षण इनसे बाधित नहीं हो सकता ।

शंका—अयुतसिद्धो के ही समवाय संबंध होता है ऐसा अवधारण करने पर भी व्यभिचार नहीं आता, अतः आधार–आधेयभूतानां इसतरह का विशेषण देना व्यर्थ है, तथा आधार–आधेयभूताना एव "ऐसा अवधारण होने पर भी व्यभिचार दूर होता है अतः इस अवधारण में "अयुतसिद्धानां एव" यह विशेषण व्यर्थ ठहरता है, अर्थात् दोनों में से एक द्वारा भी व्यभिचार दूर होता है, अतः एक कोई भी पद के साथ एव-कार देना ठीक है ।

समाधान—यह कथन असार है, एक एक पद मात्र से व्यभिचार नही हटता, एक द्रव्य में समवायी ऐसे रूप रस आदि गुण अयुत सिद्ध तो है किन्तु इनका परस्पर में समवाय संबध तो नहीं है । अतः "अयुतसिद्धानामेव समवायः" ऐसा पूर्व पद में अवधारण करने मात्र से काम नही चलता है । इन एकार्थ समवाय सम्बन्ध का व्यभिचार दूर करने के लिये उत्तर पद के साथ भी एवकार दिया है जैसे वाच्य–वाचक संबंध युतसिद्ध और अयुतसिद्ध दोनों तरह के पदार्थों में होता है वैसे एकार्थसमवाय

इति भेदकलक्षणस्याशेषदोषरहितत्वादिदमुच्यते—तन्तुपटादय: सामान्यतद्वदादयो वा 'संयुक्ता न भवन्ति' इति व्यवहर्तव्यम्, नियमेनायुतसिद्धत्वादाधाराधेयभूतत्वाच्च, ये तु संयुक्ता न ते तथा यथा कुण्डबदरादय:, तथा चैते, तस्मात्संयोगिनो न भवन्तीति। यद्वा तन्तुपटादिसम्बन्ध: संयोगो न भवति, नियमेनायुतसिद्धसम्बन्धत्वाद्, ज्ञानात्मनोर्विषयविषयिभाववदिति।

ननु समवायस्य प्रमाणत: प्रतीतौ सयोगाद्वैलक्षण्यसाधनं युक्तम्, न चासौ तस्यास्ति; इत्यप्य-

---

संबंध नही होता वह तो अयुतसिद्ध में ही होता है फिर भी इनमें आधार–आधेयपना तो नहीं है अत: जिनमें आधार–आधेयपना ही हो ऐसा अवधारण किया है।

संयोग विशेष के कारण होनेवाला जो आधार आधेयभाव है उसमें भी इह इदं प्रत्यय होता है जैसे "इस पर्वत पर वृक्ष हैं" यह प्रत्यय भी सर्वदा अनाधार अनाधेय में असम्भव है अर्थात् आधार–आधेयभाव के बिना नहीं होता है, किन्तु यह समवाय सम्बन्ध नहीं है अत: इसके साथ आने वाले व्यभिचार को दूर करने के लिये पूर्व का अवधारण किया है, अर्थात् अयुतसिद्धानामेव–अयुतसिद्धों में ही जो इहेदं प्रत्यय होता है वह समवाय संबंध का द्योतक है।

इसप्रकार समवाय नामा पदार्थ का यह लक्षण अन्य जो द्रव्य, गुण, कर्म आदि पदार्थों से सर्वथा भिन्न लक्षणभूत है अत: सम्पूर्ण दोषों से रहित है, अब अनुमान प्रमाण से सिद्ध करते हैं कि–"तन्तु पटादिक अथवा सामान्य–सामान्यवान इत्यादि पदार्थ संयुक्त नहीं होते है" ऐसा मानना चाहिये, क्योंकि नियम से अयुतसिद्ध तथा आधार–आधेयभूत है, जो संयुक्त हुआ करते हैं वे नियम से अयुतसिद्ध आदिरूप नहीं होते हैं, जैसे कुण्ड बेर आदि पदार्थ संयुक्त होने से नियमितपने से अयुतसिद्ध आदिरूप नहीं कहलाते हैं, तन्तु–पट आदिक नियम से आधार–आधेय एवं अयुतसिद्ध हैं अत: संयोगी नहीं हैं। दूसरा अनुमान भी है कि–तन्तु वस्त्र आदि पदार्थों का जो संबंध है वह संयोग नहीं कहलाता, [साध्य] क्योंकि यह संबंध नियम से अयुतसिद्ध संबंधरूप है, जैसे ज्ञान और आत्मा में विषयविषयी भावरूप नियमित अयुतसिद्ध संबंध रहता है।

शंका—समवाय की प्रमाण से प्रतीति होती तब आप इसको संयोग से विलक्षण सिद्ध करने का प्रयत्न करते, किन्तु समवाय प्रमाण द्वारा प्रतीत नहीं होता ?

सत्; प्रत्यक्षत एवास्य प्रतीतेः। तथाहि-तन्तुसम्बद्ध एव पट. प्रतिभासते तद्रूपादयश्च पटादिसम्बद्धाः, सम्बन्धाभावे सह्यविन्ध्यवद्विश्लेषप्रतिभासः स्यात्।

अनुमानाच्चासौ प्रतीयते; तथाहि-'इह तन्तुषु पटः' इत्यादीहप्रत्ययः सम्बन्धकार्योऽबाध्यमानेहप्रत्ययत्वात् इह कुण्डे दधीत्यादिप्रत्ययवत्। न तावदयं प्रत्ययो निर्हेतुकः; कादाचित्कत्वात्। नापि तन्तुहेतुकः पटहेतुको वा; तत्र 'तन्तवः, पटः' इति वा प्रत्ययप्रसङ्गात्। नापि वासनाहेतुकः; तस्याः कारणरहितायाः सम्भवाभावात्। पूर्वज्ञानस्य तत्कारणत्वे तदपि कुत स्यात्? तत्पूर्ववासना-

---

समाधान—यह शंका गलत है, समवाय तो प्रत्यक्ष से प्रतीत हो रहा है, साक्षात् ही तन्तुओं से सम्बद्ध हुआ पट प्रतिभासित होता है, तथा उनके रूपादिक पट से सम्बद्ध हुए प्रतीत होते हैं, यदि इनमें सम्बन्ध नहीं होता तो सह्याचल और विन्ध्याचल में जैसे विश्लेषपना प्रतीत होता है वैसे इनमें भी विश्लेषपना प्रतीत होता।

प्रत्यक्ष प्रमाण के समान अनुमान प्रमाण से भी समवाय की प्रतीति आती है, अब इसीको कहते हैं-यहां तन्तुओं मे पट है इत्यादिरूप जो इह प्रत्यय है वह संबंध का कार्य है, क्योंकि अबाध्यमान इह प्रत्यय स्वरूप है, जैसे इह कुण्डेदधि-इस कुण्डे में दही है, इत्यादि इह प्रत्यय अबाध्यमान हुआ करते हैं। इह प्रत्यय निर्हेतुक भी नहीं है क्योंकि कदाचित्-कभी होता है, इहप्रत्यय न तंतु हेतुक है और न पट हेतुक है, यदि तंतु हेतुक होता तो "तंतु हैं" ऐसा प्रत्यय होता अथवा पट हेतुक होता तो "पट है" ऐसा प्रत्यय होता। इह प्रत्यय वासना हेतुक है ऐसा कहना भी शक्य नहीं है वासना कारण रहित है उसका यहां सम्भव नहीं। वासना का कारण पूर्व ज्ञान है ऐसा कहना भी ठीक नही है, अर्थात् वासना पूर्व ज्ञान से हुई है ऐसा कहने पर पुनः प्रश्न होगा कि पूर्वज्ञान भी किस कारण से हुआ? इस प्रश्न का उत्तर दिया जाय कि वह पूर्वज्ञान भी अपनी पूर्व की वासना के निमित्त से हुआ है, तब तो अनवस्था स्पष्ट दिखायी दे रही है।

शंका— ज्ञान और वासना इनका बीजांकुर के समान अनादि प्रवाह चला आता है अतः कोई दोष नहीं है, कहने का अभिप्राय यह है कि तन्तुओं में वस्त्र है इत्यादिरूप जो इह प्रत्यय होता है उसका कारण तो वासना है और वासना का कारण पूर्व ज्ञान है, पुनः उस पूर्व ज्ञान का कारण वासना है, इसतरह पूर्व ज्ञान और वासना इनका अनादि प्रवाह चला है अतः अनवस्था दोष नहीं होता?

तश्चेत्; अनवस्था। ज्ञानवासनयोरनादित्वादयमदोषश्चेत्; न; एवं नीलादिसन्तानान्तरस्वसन्तानसंविदद्वैतादिसिद्धेरप्यभावानुषङ्गात्, अनादिवासनावशादेव नीलादिप्रत्ययस्य स्वतोऽवभासस्य च सम्भवात्। नापि तादात्म्यहेतुकोयम्; तादात्म्यं ह्येकत्वम्, तत्र च सम्बन्धाभाव एव स्यात् द्विष्ठ(ष्ठ)त्वात्तस्य। न च तन्तुपटयोरेकत्वम्; प्रतिभासभेदाद्विरुद्धधर्माध्यासात् परिमाणसंख्याजातिभेदाच्च घटपटवत्। नापि संयोगहेतुक:; युतसिद्धेष्वेवार्थेषु संयोगस्य सम्भवात्। न चात्र समवायपूर्वकत्वं

समाधान—यह कथन गलत है, इसतरह मानने से आप बौद्ध के यहां ही बाधा आती है, नील, पीत इत्यादि अन्य संतान तथा स्वसंतान एवं ज्ञानाद्वैत इत्यादि तत्वों का अभाव होवेगा, क्योंकि अनादि की वासना के वश से ही नीलादि संतानान्तर तथा स्वत: अवभासमान ज्ञानाद्वैत इत्यादि की सिद्धि होना संभव है। अर्थात् इहेदं प्रत्यय वासना के निमित्त से होता है ऐसा बौद्ध का कहना स्वीकार करे तो उन्ही के मत में बाधा आती है अर्थात् इहेदं ज्ञान यदि वासना से होता है तो नील पीतादिज्ञान या स्वयं ज्ञानाद्वैत वे सबके सब वासना से हो जायेंगे। फिर विज्ञानाद्वैत इत्यादि का अभाव ही ठहरता है, अत: इहेदं प्रत्यय वासना हेतुक है, ऐसा कहना गलत है।

जैन इहेदं प्रत्यय का कारण तादात्म्य है ऐसा बतलाते हैं किन्तु वह भी ठीक नही, क्योंकि एकत्व को तादात्म्य कहते हैं ऐसे एकत्वरूप तादात्म्य में सम्बन्ध का अभाव ही रहेगा। क्योंकि सम्बन्ध होता है द्वित्व—दो में। जैन तन्तु और वस्त्र में एकत्वरूप तादात्म्य मानते हैं किन्तु यह सर्वथा गलत है, तन्तु और वस्त्र इनमें तो विरुद्ध धर्म देखे जाते हैं, अर्थात् तन्तुओं का लंबा पतला अनेक धागे रूप धर्म है और वस्त्र का बड़ा एक एवं पहनने आदि के काम में आना इत्यादिरूप धर्म है अर्थात् तन्तु और वस्त्र में परिमाण की अपेक्षा, संख्या की अपेक्षा एवं जाति की अपेक्षा भी भेद देखा जाता है—तन्तुओं का परिमाण—माप तो छोटासा रहता है और वस्त्र का अधिक, तंतुओं की संख्या हजारों रहती हैं तो उन सबका मिलकर वस्त्र एक ही तैयार होता है, तन्तुओं की जाति अलग है वस्त्र की अलग है अत: तन्तु और वस्त्र में तादात्म्य हो नहीं सकता जैसे कि घट और वस्त्र में नही होता है।

इहेदं प्रत्यय संयोग के कारण होता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि संयोग युतसिद्ध पदार्थों में ही होता है [न कि अयुतसिद्धों में] "इह तंतुषु पट:" इत्यादि अनुमान प्रयुक्त किया है उससे तो पहले संबंधमात्र सिद्ध किया जा रहा है, न

साध्यते येन दृष्टान्तः साध्यविकलो हेतुश्च विरुद्धः स्यात्। नापि संयोगपूर्वकत्वं येनाभ्युपगमविरोधः स्यात्। किं तर्हि? सम्बन्धमात्रपूर्वकत्वम्। तस्मिंश्च सिद्धे परिशेषात्समवाय एव तज्जनको भविष्यति।

स(य)च्चेदम्-'विवादास्पदमिदमिहेति ज्ञानं न समवायपूर्वकमबाधितेहज्ञानत्वात् इह कुण्डे दधीतिज्ञानवत्' इति विशेषे(ष)विरुद्धानुमानम्; तत्सकलानुमानोच्छेदकत्वादनुमानवादिना न प्रयोक्तव्यम्।

कि समवाय पूर्वकपना सिद्ध किया जा रहा, जिससे कि कोई परवादी हमारे अनुमान में स्थित दृष्टांत को साध्यविकल कहे या हेतु को विरुद्ध बतलावे। कहने का अभिप्राय यह है कि "यहां पर तन्तुओं मे वस्त्र है इत्यादिरूप जो इहेदं प्रत्यय होता है वह संबंध का कार्य है–संबंध के कारण से होता है, क्योंकि यह अबाधित इहेदं प्रत्यय है, जैसे कि "इस कुण्डे में दही है" इत्यादि प्रत्यय अबाध्यमान हुआ करते हैं" इस अनुमान द्वारा हम वैशेषिक सामान्य से संबंध को सिद्ध कर रहे हैं न कि विशेष संबंधरूप समवाय को सिद्ध कर रहे, तथा इस अनुमान द्वारा संयोगनामा संबंध भी सिद्ध नहीं किया जाता, जिससे कि हमारी मान्य बात में बाधा आवे। अर्थात् "इह तन्तुषु पटः" इत्यादि अनुमान द्वारा संयोग संबंध को सिद्ध नहीं करते, क्योंकि इसतरह सिद्ध करने में तो तन्तु और वस्त्र में संयोग सम्बन्ध मानना पड़ेगा, और ऐसा मानना हम वैशेषिक के विरुद्ध पड़ेगा, अतः इस अनुमान प्रमाण से संयोग संबंध को सिद्ध नही करना है किंतु संबंध मात्र को सिद्ध करना है, जब सामान्य संबंध सिद्ध होवेगा तो परिशेष न्याय से समवाय अपने आप सिद्ध होवेगा।

यहां कोई जैनादि परवादी कहे कि "इह तन्तुषु पटः" इत्यादि अनुमान प्रमाण तो विशेष विरुद्ध अनुमान कहलाता है, "विवाद में स्थित इह प्रत्ययरूप जो ज्ञान है वह समवायपूर्वक नहीं होता [अपितु संयोगपूर्वक होता है] क्योंकि अबाधित इह प्रत्ययस्वरूप है, जैसे "इस कुण्डे में दही है" इत्यादि इह प्रत्यय अबाधित होने से समवायपूर्वक नहीं होता, इस अनुमान द्वारा हमारे सामान्य से सम्बन्धमात्र को सिद्ध करने वाले अनुमान में बाधा देवे तो ठीक नहीं क्योंकि ऐसा कहने से जगत् के सकल प्रसिद्ध अनुमान भी बाधित होकर समाप्त हो जायेंगे, अभिप्राय यह है कि सामान्यरूप से किसी पदार्थ को सिद्ध करने वाले अनुमान में विशेष की अपेक्षा लगाकर उसे बाधित करना अशक्य है।

यच्चोच्यते–इदमिहेति ज्ञानं न समवायालम्बनम्; तत्सत्यम्; विशिष्टाधारविषयत्वात्। न हि 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादीहप्रत्ययः केवलं समवायमालम्बते; समवायविशिष्टतन्तुपटालम्बनत्वात्। वैशिष्ट्यं चानयोः सम्बन्ध इति।

न चास्य संयोगवन्नानात्वम्; इहेति प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्च सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्च सत्तावत्। न च सम्बन्धत्वमेव विशेषलिङ्गम्; अस्यान्यथासिद्धत्वात्। न हि संयोगस्य सम्बन्धत्वेन नानात्वं साध्यतेऽपि तु प्रत्यक्षेण भिन्नाश्रयसमवेतस्य क्रमेणोत्पादोपलब्धेः। सम-

---

जैनादिका कहना है कि 'यह यहां पर है' ऐसा जो ज्ञान है वह समवाय के अवलंबन से नहीं होता, सो यह कहना सत्य है, क्योंकि विशिष्ट आधार को विषय करता है।

"इह तन्तुषु पटः" इत्यादि जो इह प्रत्यय होता है वह केवल समवाय का अवलंबन लेकर नही होता वह तो समवाय विशिष्ट तन्तु और पट का अवलंबन लेकर होता है, तन्तु और पट का जो संबंध है उसीको वैशिष्ट कहते हैं [और यही इह प्रत्यय का विषय या अवलंबन है]

यह समवाय संयोग के समान नाना प्रकार का नहीं होता किन्तु सत्ता के समान एकरूप ही होता है, इसीका खुलासा करते हैं—इहेद प्रत्यय की अविशेषता होने से एवं विशेष लिंग का अभाव होने से समवाय संबंध नानारूप नहीं है, जिसप्रकार का कि सत्ता सत्प्रत्यय की अविशेषता के कारण और विशेष लिंग का अभाव होने से नानारूप नहीं है अर्थात् सर्वत्र समानरूप से ही इहेदं ज्ञान होता है, उस ज्ञान में कोई विभिन्नता नहीं होती इससे सिद्ध होता है कि इस इहेदं प्रत्यय का कारण जो समवाय है वह एक ही रहता है, तथा विशेष लिंग–हेतु का अभाव होने के कारण भी समवाय में नानापने का अभाव सिद्ध होता है। कोई शंका करे कि संबंधपना होना ही समवाय का नानापना है, अर्थात् संबंधरूप होने के नाते समवाय में नानात्व सिद्ध होता है, संबंधत्व ही विशेष लिंग है? सो यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि संयोग को संबंधत्व हेतु से सिद्ध न करके अन्य ही प्रकार से सिद्ध करते हैं–हम लोग संयोग का नानापना सबंधत्व हेतु द्वारा नहीं साधते अपितु प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा साधते हैं, क्योकि भिन्न भिन्न आश्रय में समवेत हुए संयोग का साक्षात् ही क्रम से उत्पाद होना देखा जाता है

वायस्य चानेकत्वे सति अनुगतप्रत्ययोत्पत्तिर्न स्यात्। संयोगे तु संयोगत्वबलात्नानात्वेपि स्यात्। न चैतत्समवाये सम्भवति; समवायत्वस्य समवाये समवायाभावात्, अन्यथानवस्था स्यात्। संयोगस्य गुणत्वेन द्रव्यवृत्तित्वात्, संयोगत्वं पुन: संयोगे समवेतमिति।

न चैकत्वे समवायस्य द्रव्यत्ववद्गुणत्वस्याप्यभिव्यञ्जकं द्रव्यं कुतो न भवतीति वाच्यम्? आधारशक्तेर्नियामकत्वात्। द्रव्याणां हि द्रव्यत्वाधारशक्तिरेव, गुणादेस्तु गुणत्वाद्याधारशक्तिरिति। न

[अभिप्राय यह है कि संयोग अनेक प्रकार का होता है इस बात को सिद्ध करने के लिये सबधत्वरूप हेतु वाले अनुमान की आवश्यकता नहीं पड़ती, संयोग तो अनेक प्रकार का साक्षात् ही उपलब्ध होता है] संयोग के समान समवाय अनेकरूप होता तो अनुगत प्रत्यय-यह समवाय है, यह समवाय है, इसप्रकार का ज्ञान नही होता। सयोग मे भी अनुगत प्रत्यय होता है किन्तु वह एकत्व के कारण नही होता, उसमें नानापना होते हुए भी संयोगत्वरूप सामान्य के बल से अनुगत की प्रतीति होती है, ऐसा समवाय में शक्य नहीं, क्योंकि जैसे सयोग में सयोगत्व है वैसे समवाय मे समवायत्व नही माना है, यदि मानेंगे तो अनवस्था हो जायगी। सयोग में संयोगत्व मानने में ऐसी अनवस्था नही आती, क्योंकि संयोग गुणरूप है और गुण जो होता है वह द्रव्य में रहने वाला होता है, अत: संयोग में संयोगत्व समवेत हो जाता है।

शंका—समवाय को एकरूप मानेंगे तो द्रव्यत्व के समान गुणत्व को भी अभिव्यंजक करने वाला क्यों नही होवेगा, अर्थात् समवायनामा पदार्थ यदि एक ही है तो जिस समवाय से द्रव्य में द्रव्यपना समवेत हुआ है उसी समवाय से गुण मे गुणपना भी समवेत होवेगा, और इसतरह तो अपने मे समवेत हुए द्रव्यपने को जैसे द्रव्य अभिव्यक्त करता है वैसे गुणपने को भी अभिव्यक्त करेगा? क्योंकि द्रव्य में एक ही समवाय द्वारा द्रव्यपना और गुणपना समवेत हुआ है?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, यद्यपि समवाय एक है किन्तु आधार की शक्ति का प्रतिनियम विभिन्न होने के कारण द्रव्यो के द्रव्यपने का ही अभिव्यंजक होता है, घट पट आदि द्रव्यों में द्रव्यत्व के आधार की ही शक्ति रहती है, और गुणादि में गुणत्वादि के आधार की ही शक्ति रहती है, इस आधार शक्ति के नियम से ही अभिव्यंजकपने का नियम बन जाता है, अर्थात् द्रव्य मात्र द्रव्यत्व का अभिव्यंजक है और

चानुगतप्रत्ययजनकत्वेन सामान्याद्स्याऽभेदः; भिन्नलक्षणयोगित्वात् ।

यद्वा, 'समवायीनि द्रव्याणि' इत्यादिप्रत्ययो विशेषणपूर्वको विशेष्यप्रत्ययत्वाद्दण्डीत्यादिप्रत्ययवद्' इत्यतः समवायसिद्धिः । न चान्येषामत्रानुरागः सम्भवति । किन्तर्हि ? समवायस्यैव । अतः स एव विशेषणम् । अप्रतिपन्नसमयस्य 'समवायी' इतिप्रतिभासाभावादस्याऽविशेषणत्वम्, दण्डादावपि

गुण मात्र गुणत्व का अभिव्यंजक है ऐसा सिद्ध होता है । सामान्य भी अनुगत प्रत्यय को उत्पन्न करता है और समवाय भी अनुगत प्रत्यय को उत्पन्न करता है, अतः सामान्य और समवाय में भेद नहीं है ऐसी आशंका भी नहीं करना, अनुगतप्रत्यय को समान रूप से उत्पन्न करते हुए भी इनमें लक्षण भेद पाया जाता है, अबाधित अनुगत प्रत्यय को उत्पन्न करना सामान्य का लक्षण है, और अयुतसिद्ध एवं आधार-आधेयभूत पदार्थों में इहेदं प्रत्यय को उत्पन्न करनेवाला जो सम्बन्ध है वह समवाय का लक्षण है, इस प्रकार पृथक् लक्षण होने के कारण समवायनामा पदार्थ पृथक् है और सामान्यनामा पदार्थ पृथक् है ऐसा हम मानते हैं ।

समवाय को सिद्ध करनेवाला और भी अनुमान प्रमाण है कि द्रव्य समवायी होते हैं, ऐसा जो ज्ञान होता है वह विशेषणपूर्वक होता है, क्योंकि इसमें विशेष्य का प्रत्ययपना है [विशेष्य का ज्ञान है] जैसे "दण्डावाला है इत्यादि ज्ञान दण्ड विशेषण पूर्वक होते हैं । इस तरह द्रव्य के समवायी विशेषण से समवायनामा पदार्थ की सिद्धि होती है । यह जो द्रव्यों का विशेषण है वह अन्य किसी कारण से नहीं होता किन्तु समवाय के कारण से ही होता है अर्थात् कोई कहे कि समवायीनि द्रव्याणि इस वचन प्रयोग में तादात्म्यादि संबंध के कारण समवायी विशेषण का प्रयोग हो जायगा सो बात नहीं, यह विशेषण तो समवाय के कारण ही होता है, इसप्रकार समवाय संबंध की सिद्धि होती है ।

शंका—जिसने संकेत को नहीं जाना है ऐसे पुरुष को "द्रव्य समवायी है" ऐसा प्रतिभास नहीं होता है अतः समवाय का विशेषणपना असिद्ध है ।

समाधान—ऐसी बात तो दण्डादि विशेषण में भी है, जिसने संकेत को नहीं जाना है कि "जिसके हाथ में दण्डा हो उस पुरुष को दण्डी कहना" वह व्यक्ति दण्डा वाला है ऐसा विशेषणपूर्वक प्रत्यय को नहीं समझ सकता, किन्तु इतने मात्र से दण्डे

समानं तस्य दण्डाद्युल्लेखेन 'दण्डी' इत्यादिप्रत्ययानुत्पत्तेः। दण्डादेरभिधानयोजनाभावेपि 'अनेन वस्तुना तद्वानयम्' इत्यनुरागप्रतीतिः 'संसृष्टा एते तन्तुपटादयः' इति सम्बन्धमात्रेपि तुल्या। केवलं सङ्केताभावात् 'अयं समवायः' इति व्यपदेशाभावः। प्रतिपन्नसमयस्तु दण्डादेरिव समवायस्यापि विशेषणतामभिधानयोजनाद्वारेण प्रतिपद्यते।

यच्चान्यत्समवाये बाधकमुच्यते—नानिष्पन्नयोः समवायः सम्बन्धिनोरनुत्पादे सम्बन्धाभावात्। निष्पन्नयोश्च संयोग एव। असम्बन्धे चास्य 'समवायिनोः समवायः' इति व्यपदेशानुपपत्तिः।

का विशेषणपना समाप्त नहीं होता, अर्थात् संकेत को जानने वाले को तो "दण्डी है" ऐसा ज्ञान होता है इसी तरह संकेत को नहीं जानने वाले "द्रव्य समवायी होते हैं" ऐसा ज्ञान नहीं कर पाते किन्तु संकेत के जानकार तो करते ही हैं।

शंका—दण्ड में विशेषणपना इसलिये सिद्ध है कि संकेत को नहीं जानने वाले व्यक्ति दण्डी पुरुष को देखकर "यह दण्डी है" ऐसा नामपूर्वक उल्लेख नहीं करे किन्तु "इस वस्तु के कारण यह तद्वान है" ऐसा प्रतिभास तो हो जाता है ?

समाधान—इसीप्रकार "यह तन्तु वस्त्र इत्यादि पदार्थ संसृष्ट हैं" इत्यादि प्रतिभास संबंधमात्र में बिना संकेत के भी हो सकता है, दण्ड और समवाय में इसतरह समान ही प्रश्नोत्तर समझना चाहिये। संकेत के अभाव में तो केवल "यह समवाय है" ऐसा नामपूर्वक व्यवहार नहीं होता। [किन्तु उसकी प्रतीति अवश्य होती है] जो पुरुष संकेत को जानता है वह जिसप्रकार दण्डे के विशेषणपने को "दण्डी है" इत्यादि नाम योजना करके जानता है, उसीप्रकार समवाय के विशेषणपने को समवाय के संकेत को जानने वाला पुरुष "समवायी द्रव्य है" इत्यादि नाम योजनापूर्वक जानता है। अतः सिद्ध होता है कि "समवायी द्रव्य है" इत्यादि प्रत्यय समवायरूप विशेषण का अस्तित्व निश्चित करता है।

जैनादि परवादी की शंका—अनिष्पन्न [अभी जो बने नहीं हैं] ऐसे दो पदार्थों में समवाय होना अशक्य है, क्योंकि जिसका सम्बन्ध होना है ऐसे सम्बन्धी पदार्थों के हुए बिना सम्बन्ध का अभाव ही रहता है। यदि निष्पन्न पदार्थों में समवाय होता है ऐसा कहे तो संयोग ही कहलायेगा। तथा यह समवाय समवायी दो द्रव्यों से यदि असम्बद्ध है तो "समवायी का समवाय है" ऐसी संज्ञा नहीं हो सकती। समवायी से समवाय सम्बद्ध रहता है

सम्बन्धे वा न स्वतोसौ; संयोगादीनामपि तथा तत्प्रसङ्गात् । परतश्चेदनवस्था । न च गुणादीनामाधेयत्वं निष्क्रियत्वात् । गतिप्रतिबन्धकश्चाधारो जलादेर्घटादिवत् । तथा न स्वरूपसंश्लेषः समवायो यतस्तस्मिन्सत्येकत्वमेव न सम्बन्धः । नापि पारतन्त्र्यम्; अनिष्पन्नयोराधारस्यैवासत्त्वात् । 'स्वतन्त्रेण निष्पन्नयोश्च न पारतन्त्र्यम्'; इत्यप्यसमीचीनम्; यतो न निष्पन्नयोरनिष्पन्नयोर्वा समवायः; स्वकारणसत्तासम्बन्धस्यैव निष्पत्तिरूपत्वात् । न हि निष्पत्तिरन्या समवायश्चान्यो येन पौर्वापर्यम् ।

एतेन 'रूपसंश्लेषः पारतन्त्र्यं वा' इत्याद्यपास्तम् । नापि समवायस्य सम्बन्धान्तरेण सम्बन्धो युक्तो येनानवस्था स्यात्, सम्बन्धस्य समानलक्षणसम्बन्धेन सम्बन्धस्यान्यत्रादृष्टेः संयोगवत् । अग्ने-

---

ऐसा माने तो पुनः प्रश्न होगा कि वह समवायी में स्वतः [अपने आप] सम्बद्ध है कि पर से संबद्ध है । स्वतः है तो संयोग आदि संबंध भी अपने आप संबद्ध हो जायेंगे । तथा यदि पर से संबद्ध होता है तो अनवस्था आती है । गुण आदि पदार्थ आधेयस्वरूप हैं ऐसा कहना भी बनता नहीं, क्योंकि गुण निष्क्रिय हुआ करते हैं, निष्क्रिय वस्तु आधेय नहीं होती । तथा आधारभूत वस्तु गति की प्रतिबंधक [रोकने वाली] होती है, जैसे घट आदि आधारभूत पदार्थ जल, दूध आदि के प्रवाहरूप गति को रोकता है । स्वरूपों का संश्लेष होना समवाय कहलाता है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसके होने पर तो एकत्व होगा न कि संबंध । पारतन्त्र्य को समवाय कहना भी शक्य नहीं, क्योंकि दो अनिष्पन्न पदार्थों में आधार का ही असम्भव है, स्वतन्त्रता से निष्पन्न दो वस्तुओं में तो पारतन्त्र होता ही नहीं । वैशेषिक द्वारा समाधान–निष्पन्न अनिष्पन्नों के समवाय होता है ऐसा नहीं मानते, निष्पत्ति तो स्वकारण सत्ता के सम्बन्ध को कहते हैं । निष्पत्ति अन्य और समवाय अन्य है ऐसा नहीं है जिससे कि पौर्वापर्य होवे ।

विशेषार्थ—जैनादि वादियों ने समवाय के विषय में पूछा कि दो संबंधी पदार्थों में समवाय रहता है ऐसा वैशेषिक मानते हैं सो वे दो सम्बन्धी पदार्थ अनिष्पन्न है कि निष्पन्न हैं ? किन्तु यह प्रश्न व्यर्थ है, पदार्थों की अपने कारणों के मिलने पर जो निष्पत्ति होती है वही समवाय है, निष्पत्ति से अन्य समवाय नहीं है, पदार्थ में सत्ता का समवाय होना ही निष्पत्ति है अथवा जो निष्पत्ति है वही समवाय है, अतः समवाय कब होता है इत्यादि प्रश्न गलत है ।

परवादी समवाय के विषय में शंका करते हैं कि रूपका संश्लेष होने को समवाय कहना या पदार्थों की परस्पर की परतन्त्रता को समवाय कहते हैं इत्यादि, सो

रुष्णतावत्तु स्वत एवास्य सम्बन्धो युक्तः स्वत एव सम्बन्धरूपत्वात्, न संयोगादीनां तदभावात् । न ह्येकस्य स्वभावोऽन्यस्यापि, अन्यथा स्वतोऽग्नेरुष्णत्वदर्शनाज्जलादीनामपि तस्यात् ।

यच्चोक्तम्–'निष्क्रियत्वात्तेषां नाधेयत्वम्' इति; तदप्यसत्; संयोगिद्रव्यविलक्षणत्वाद्गुणादीनाम्, संयोगिनां सक्रियत्वेनेव तेषां निष्क्रियत्वेप्याधाराधेयभावस्य प्रत्यक्षेण प्रतीतेश्चेति ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तमयुतसिद्धेत्यादि; तत्रेदमयुतसिद्धत्वं शास्त्रीयम्, लौकिकं वा ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; तन्तुपटादीनां शास्त्रीयायुतसिद्धत्वस्यासम्भवात् । वैशेषिकशास्त्रे हि प्रसिद्धम्–

यह शंका भी पूर्वोक्त निष्पन्न के होता है या अनिष्पन्न के होता है इत्यादि शंका के समान खण्डित हुई समझना चाहिए ।

समवाय का संबंधी पदार्थों के साथ जो संबंध होता है वह अन्य संबंध द्वारा नहीं होता जिससे कि अनवस्था हो जाय, क्योंकि संबंध का अपने समान अन्य संबंध द्वारा संबंध होता हुआ अन्यत्र देखा नहीं गया है । संयोग के समान, अर्थात् संयोगी दो पदार्थों में संयोग का संबंध समवाय से होता है, किन्तु समवाय में किसी अन्य संबंध से समवायी के साथ संबंध नहीं होता, वह स्वयं सम्बद्ध होता है । समवाय संबंध तो अग्नि की उष्णता के समान स्वतः ही है । संयोगादिका इसतरह स्वतः संबंध नहीं होता, जो एक वस्तु का स्वभाव होता है वह अन्य वस्तु का भी हो ऐसा नहीं है, यदि एक का स्वभाव अन्य में अवश्य होता है तो अग्नि का स्वभाव स्वतः उष्ण रहना है अतः जलादिक भी स्वतः उष्ण स्वभाव युक्त हैं ऐसा मानना होगा ।

गुणादि पदार्थ निष्क्रिय होने से आधेय नहीं हो सकते ऐसा जैन ने कहा वह असत् है, क्योंकि संयोगी द्रव्यों से विलक्षण हो गुणादि पदार्थ हुआ करते हैं, संयोगी द्रव्य सक्रिय होते हैं, उनके सक्रिय होने के कारण गुणादिक निष्क्रिय होते हुए भी आधार–आधेयभाव युक्त हो जाते हैं यह गुणादिका आधेयादिपना प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है । इसप्रकार समवायनामा पदार्थ सिद्ध होता है ।

जैन—अब यहां पर वैशेषिक के समवाय विषयक पूर्व पक्ष का निरसन किया जाता है–सबसे पहले समवाय का लक्षण करते हुए कहा था कि अयुत सिद्ध पदार्थों में समवाय होता है सो अयुतसिद्धपना कौनसा है शास्त्रीय या लौकिक ? प्रथम पक्ष अयुक्त

अपृथगाश्रयवृत्तित्वमयुतसिद्धत्वम्, तच्चेह नास्त्येव, 'तन्तूनां स्वावयवांशुषु वृत्तेः पटस्य च तन्तुषु' इति पृथगाश्रयवृत्तित्वसिद्धेरपृथगाश्रयवृत्तित्वमसदेव। एवं गुणकर्मसामान्यानामप्यपृथगाश्रयवृत्तित्वाभावः प्रतिपत्तव्यः। लोकप्रसिद्धैकभाजनवृत्तिरूपं त्वयुतसिद्धत्वम् दुग्धाम्भसोर्युतसिद्धयोरप्यस्तीति।

ननु यथा कुण्डदध्यवयवाख्यौ पृथग्भूतावाश्रयौ तयोश्च कुण्डस्य दध्नश्च वृत्तिर्न तथात्र चत्वारोर्थाः प्रतीयन्ते-द्वावाश्रयौ पृथग्भूतौ द्वौ चाश्रयिणौ, तन्तोरेव स्वावयवापेक्षयाश्रयित्वात् पटापेक्षया चाश्रयत्वात्त्रयाणामेवार्थानां प्रसिद्धेः, 'पृथगाश्रयाश्रयित्वं युतसिद्धिः' इत्यस्य युतसिद्धिलक्षण-

---

है क्योंकि तन्तु और वस्त्र इत्यादि पदार्थों में शास्त्रीय अयुत सिद्धत्व असंभव है, आप वैशेषिक के शास्त्र में अयुतसिद्धत्व का लक्षण किया है कि अपृथगाश्रय वृत्तित्वं अयुतसिद्धत्वं—अपृथक् आश्रय में रहना अयुतसिद्धत्व है, सो इसप्रकार का अयुतसिद्धपना तंतु और वस्त्र में देखने में नहीं आता है, तन्तुओं का आश्रय अपने अपने अंशु [कार्पास] है और वस्त्र का आश्रय तन्तु हैं इसप्रकार इनका पृथक् आश्रय सिद्ध होने से अपृथक् आश्रय में रहना अयुतसिद्धत्व है और वह तन्तु आदि में पाया जाता है इत्यादि कहना गलत ठहरता है। जैसे तन्तु और पट में अपृथक् आश्रयवृत्ति का अभाव है वैसे ही गुण, कर्म सामान्यों में भी अपृथक् आश्रयवृत्ति का अभाव है। लौकिक अयुतसिद्धत्व एक भाजन में रहना इत्यादि स्वरूप है, ऐसा अयुतसिद्धत्व तो युतसिद्धरूप दूध और जल में भी पाया जाता है।

वैशेषिक—जिसप्रकार कुण्डा और दही है उसप्रकार तन्तु और वस्त्र नहीं है, कुण्डा और दही इत्यादि पदार्थों के सम्बन्ध में तो चार वस्तुएं होती है-कुण्डा और दही ये दो तो पृथक्भूत आश्रय हैं जो कि अवयव स्वरूप हैं, तथा कुण्डे को और दही की वृत्ति ये दो वस्तु हैं, इनमें कुण्डा और दही तो आश्रय है तथा दो आश्रयवान् हैं। इसप्रकार के चार पदार्थ तन्तु और वस्त्र आदि में नहीं हैं यहां तो तन्तु अपने अवयवों की अपेक्षा से आश्रयी और पटकी अपेक्षा आश्रयरूप होता है अतः यहां तीन ही वस्तुएं हैं। अतः पृथक् आश्रय और पृथक् आश्रयीपना जिसमें हो वह युतसिद्धत्व है, ऐसा युतसिद्धि का लक्षण उन तन्तु आदि में नहीं पाया जाता अतः उनको अयुतसिद्धरूप मानते हैं?

इसप्रकार युतसिद्धि का अर्थ करेंगे तो आकाश, दिशा आत्मादि पदार्थों में युतसिद्धत्व किस प्रकार रह सकेगा? क्योंकि आकाशादि द्रव्य नित्य एवं व्यापक हैं

स्याभावादयुतसिद्धत्वं तेषामिति चेत्; कथमेवमाकाशादीनां युतसिद्धिः स्यात् ? तेषामन्याश्रयविवेकतः पृथगाश्रयाश्रयित्वाभावात् ।

'नित्यानां च पृथग्गतिमत्त्वम्' इत्यपि तत्रासम्भाव्यम्; न खलु विभुद्रव्यपरमाणुवद्विभुद्रव्याणामन्यतरपृथग्गतिमत्त्वं परमाणुद्वयवदुभयपृथग्गतिमत्त्वं वा सम्भवति; अविभुत्वप्रसङ्गात् । तथैकद्रव्याश्रयाणां गुणकर्मसामान्यानां परस्परं पृथगाश्रयवृत्तेरभावादयुतसिद्धिप्रसङ्गतोऽन्योन्यं समवायः स्यात् । स च नेष्टस्तेषामाश्रयाश्रयिसमवाय(यिभावा)भावात् । इतरेतराश्रयश्चा(यश्चसमवाय) सिद्धौ हि पृथगाश्रयसमवायित्वलक्षणा युतसिद्धिः; तत्सिद्धौ च तन्निषेधेन समवायसिद्धिरिति ।

इनमें अन्य अन्य आश्रय का अभाव होने से पृथक् आश्रय और पृथक् आश्रयीपनारूप युतसिद्धत्व का लक्षण कथमपि घटित नहीं होता, किन्तु इन पदार्थों को सभी मतों में युतसिद्धरूप [भिन्न स्वरूप] माना है इसलिये युतसिद्धि का लक्षण एवं उसके अभावरूप अयुतसिद्धि का लक्षण ये दोनों ही घटित नहीं होते ।

यदि कहा जाय कि–आत्मादि नित्य पदार्थों में पृथक् आश्रय–आश्रयीपनारूप युतसिद्धत्व नहीं है किन्तु पृथग्गतिमत्त्वरूप युतसिद्धत्व है सो यह भी असंभव है, विभु–व्यापक द्रव्य और परमाणु द्रव्य में जिसप्रकार दोनों में से एक का पृथक्गतिमत्त्व देखा जाता है तथा दो परमाणु द्रव्यों में दोनों का ही पृथक्गतिमत्व देखा जाता है ऐसा पृथग्गतिमानपना केवल विभु–द्रव्यरूप आत्मा आदि में नहीं देखा जाता । यदि यह लक्षण आत्मादि में मानेंगे तो वे अविभु–अव्यापक कहलायेंगे । दूसरी बात यह है कि पृथक् आश्रय–आश्रयीपना युतसिद्धि का लक्षण करेंगे तो एक द्रव्य के आश्रयभूत गुण, कर्म एवं सामान्य में पृथक् आश्रयवृत्ति का अभाव होने से परस्पर में अयुतसिद्धपना ठहरेगा और अयुतसिद्धि होने से इनका आपस में समवाय सम्बन्ध हो जायगा । किन्तु यह इन्हें इष्ट नहीं है, क्योंकि उन पदार्थों के आश्रय आश्रयीभूत समवायीभाव का अभाव है । तथा पृथगाश्रयों में रहना युतसिद्धि है ऐसा लक्षण करने से अन्योन्याश्रय नामा दोष भी आता है, समवाय के सिद्ध होने पर तो पृथगाश्रय समवायीत्व लक्षण वाली युतसिद्धि की सिद्धि होगी, और उसके सिद्ध होने पर उसके निषेध द्वारा समवाय की सिद्धि होवेगी ।

ननु लक्षणं विद्यमानस्यार्थस्यान्यतो भेदेनावस्थापकं न तु सद्भावकारकम्, तेनायमदोषश्चेत्; ननु ज्ञापकपक्षे सुतरामितरेतराश्रयत्वम्। तथाहि–नाऽज्ञातया युतसिद्धया समवायो ज्ञातुं शक्यते, अनधिगतश्चासौ न युतसिद्धिमवस्थापयितुमुत्सहते इति। न चातो लक्षणात्समवायः सिद्धयति व्यभि-

वैशेषिक—लक्षण उसे कहते हैं कि जो विद्यमान पदार्थ का अन्य से भेद स्थापित करे, लक्षण का कार्य यह नहीं है कि वह लक्ष्य के सद्भाव को करे, अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता।

जैन—यदि आपको लक्षण के विषय में ज्ञापक पक्ष मात्र रखना है अर्थात् लक्षण वस्तु का ज्ञापक मात्र है ऐसा कहना है तो अन्योन्याश्रय दोष और भी विशेष रूप से आता है। आगे इसी को स्पष्ट करते हैं–अज्ञात युतसिद्धि द्वारा समवाय ज्ञात होना अशक्य है, और यह अज्ञात समवाय युतसिद्धि को स्थापित करने के लिये समर्थ नहीं हो सकता है।

भावार्थ—वैशेषिक के यहां युतसिद्धि का लक्षण पृथगाश्रयवृत्तित्व किया है और अपृथक् आश्रयवृत्तित्व अयुतसिद्धि का लक्षण किया है, अर्थात् पृथक्–पृथक् जिनका आश्रय है ऐसे पृथक् आश्रयों में रहने वाले दो पदार्थों को युतसिद्ध कहते हैं जैसे घट और पट हैं इनका भिन्न भिन्न आश्रय या आधार है अतः इन्हें युतसिद्ध पदार्थ कहते हैं, युतसिद्ध पदार्थों में समवाय सम्बन्ध नहीं होता। अयुतसिद्ध पदार्थ वे हैं जिनका अपृथक्–अभिन्न–एक ही आश्रय हो, ऐसे अयुतसिद्ध पदार्थों में समवाय संबंध होता है जैसे तन्तु और वस्त्र इनको अयुतसिद्ध बतलाकर उनमें समवाय संबंध होता है ऐसा वैशेषिक का कहना है किन्तु यह कथन उन्हींके सिद्धांत से बाधित होता है, क्योंकि इन्होंने तन्तु और वस्त्र का अपृथक् आश्रय नहीं माना है अपितु तन्तुओं का आश्रय तो तन्तुओं के छोटे छोटे अवयव जो कि तन्तु बनने के पहले कपास के रोयें होते हैं उन्हें माना है, और वस्त्र का आश्रय तन्तु हैं ऐसा माना है, अतः अपृथक् आश्रयपना होना अयुतसिद्धत्व है और अयुतसिद्धों में समवाय सम्बन्ध होता है ऐसा समवाय का लक्षण बाधित होता है। तथा अपृथक् अर्थात् एक ही आश्रय में जो हो उन्हें अयुतसिद्ध कहते हैं ऐसा अयुतसिद्धत्व का लक्षण करने पर गुण, कर्म और सामान्य इनको अयुतसिद्ध कहना होगा। क्योंकि ये तीनों एक द्रव्य के आश्रय में रहते हैं, और यदि ये अयुतसिद्ध हैं तो इनका परस्पर में समवाय सम्बन्ध भी स्वीकार करना होगा। किन्तु यह परवादी को इष्ट नहीं है। पृथगाश्रयवृत्ति स्वरूप युतसिद्धि है और ऐसी युत

धारात् । तथाहि–नियमेनायुतसिद्धसम्बन्धत्वमाधाराधेयभूतसम्बन्धत्वं च 'आकाशे वाच्ये वाचकस्तच्छब्दः' इति वाच्यवाचकभावे 'आत्मनि विषयभूते अहमिति ज्ञानं विषयि' इति विषयविषयिभावे

सिद्धि का जहां निषेध हो वह अयुतसिद्धि है उनमें समवाय सम्बन्ध होता ऐसा कहना अन्योन्याश्रय दोष युक्त भी है, क्योंकि युतसिद्धत्व प्रसिद्ध हुए बिना समवाय की प्रसिद्धि नहीं हो पाती और समवाय के प्रसिद्ध हुए बिना युतसिद्धत्व असिद्ध के कोटि में ही रह जाता है । इस पर वैशेषिक ने कहा कि पृथगाश्रयवृत्तित्वादि तो युतसिद्धि के लक्षण हैं, और लक्षण का कार्य इतना ही कि उस लक्ष्यभूत वस्तु का अन्य से भेद स्थापित कर देवे, लक्षण का कार्य यह नहीं कि उस वस्तु का अस्तित्व स्थापित करे, अर्थात् जो पदार्थ अपने कारण कलाप से निर्मित है पहले ही मौजूद है उसका लक्षण पहिचान करा देता है कि अमुक पदार्थ इस तरह का है, जैसे गाय का लक्षण सास्नादिमान है, जल का लक्षण द्रव्यत्वादि है, यह लक्षण वस्तु का ज्ञापक है–जतलाने वाला है न कि कारक है–बनाने वाला है । अतः हमने युतसिद्धि आदि का जो लक्षण कहा है उसमें इतरेतराश्रय दोष शक्य नही, क्योंकि युतसिद्धि का लक्षण युतसिद्धिभूत वस्तु को निर्माण तो कराता नहीं । सिद्धि या सद्भाव तो पहले से है लक्षण तो मात्र चिह्न या अन्य वस्तु से पृथक् करना है । तब जैनाचार्य ने कहा कि ठीक है लक्षण का कार्य तो वस्तु का ज्ञापक बनना है किन्तु ऐसा मानने पर भी अन्योन्याश्रय दोष से आपका छुटकारा नहीं होता, युतसिद्धि जब तक अज्ञात है तब तक समवाय को हम पहिचान नही सकते और समवाय को जब तक नहीं जाना तब तक युतसिद्धि का निर्णय नहीं होता, इस तरह युतसिद्धि और समवाय ये दोनों ही अज्ञात रह जाते हैं । अर्थात् एक कोई वस्तु और उसकी प्रतिपक्षीभूत अन्य वस्तु है, सो उस एक वस्तु को जाने बिना उसके प्रतिपक्षीभूत अन्य वस्तु को कैसे जाने ? इस तरह समवायनामा पदार्थ सिद्ध नहीं हो पाता ।

दूसरी बात यह है कि "अयुतसिद्धाना माधाराधेयभूतानां" इत्यादि समवाय का लक्षण किया है उसमें व्यभिचार दोष होने से समवाय पदार्थ सिद्ध नहीं होता आगे इसी को स्पष्ट करते हैं–जिसमें नियम से अयुतसिद्धत्व और आधार–आधेयत्व हो उसमें समवाय सम्बन्ध होता है ऐसा आपका कहना है, किंतु यह कथन व्यभिचरित होता है–आकाश और उसका वाचक शब्द इन वाच्य–वाचकभूत पदार्थों में अयुतसिद्धत्व और आधाराधेयत्व मौजूद है [क्योंकि वैशेषिक मत में शब्द को आकाश का गुण माना है]

च विद्यते इति। ननु सर्वस्य वाच्यवाचकवर्गस्य विषयविषयिवर्गस्य च नियमेनायुतसिद्धसम्बन्धत्वा-सम्भवो युतसिद्धेष्वप्यस्य सम्भवाद्घटतच्छब्दज्ञानवत्, अतो न व्यभिचारः; इत्यप्यसारम्; वर्गापेक्षयापि लक्षणस्य विपक्षैकदेशवृत्तेर्व्यभिचारित्वात्। इष्टं च विपक्षैकदेशादव्यावृत्तस्य सर्वैरप्यनैकान्तिकत्वम्।

यच्चोक्तम्–तन्तुपटादयः संयोगिनो न भवन्तीत्यादि; तत्सत्यम्; तत्र तादात्म्योपगमात्।

फिर भी इनका परस्पर में समवाय सम्बन्ध नहीं माना, तथा विषयभूत आत्मा और "अहं–मैं" इस रूप विषयी ज्ञान में अयुतसिद्धत्वादि मौजूद है तो भी समवाय संबंधपना नही माना। अर्थात् वाच्य वाचक पदार्थों में और विषयविषयीभूत पदार्थों में आपने समवाय होना स्वीकार नहीं किया किंतु इनमें समवाय लक्षण अवश्य है।

वैशेषिक—जितने वाच्य–वाचक पदार्थ हैं और विषय–विषयीभूत पदार्थ हैं उन सबमें नियम से अयुतसिद्धपना नही है वाच्य–वाचकपना तो युतसिद्ध पदार्थों में भी रहता है, इसीतरह विषयविषयीभाव भी युतसिद्ध पदार्थों में देखा जाता है, जैसे घट पदार्थ और उसका वाचक घट शब्द ये दोनों युतसिद्ध हैं, एवं घटरूप विषय और उसका ज्ञानरूप विषयी ये दोनों युतसिद्ध हैं, इसलिये समवाय के लक्षण में व्यभिचार नहीं आता है?

जैन—यह कथन असार है सभी वाच्य वाचक वर्ग और विषय विषयी वर्ग में यह समवाय का लक्षण न जाय किंतु उसके एक देश में जाता ही है। अतः विपक्ष के एक देश में लक्षण के चले जाने से वह लक्षण व्यभिचरित ही कहलायेगा सभी वादी परवादियों ने स्वीकार किया है कि जो लक्षण विपक्ष [अलक्ष्य] के देश में चला जाता है–उससे व्यावृत्त नहीं होता वह अनैकान्तिक [अतिव्याप्ति] दोष युक्त होता है।

तन्तु और वस्त्रादि पदार्थ संयोगी नहीं होते [संयोग संबंध युक्त नहीं होते] इत्यादि जो कहा था वह कथन ठीक ही है, क्योंकि इन तन्तु वस्त्रादि पदार्थों में तादात्म्य स्वीकार किया गया है, संयोग नही।

यत्तूक्तम्-प्रत्यक्षत एव समवायः प्रतीयत इत्यादि; तदयुक्तम्; असाधारणस्वरूपत्वे हि सिद्धे सिद्ध्येदर्थानां प्रत्यक्षता पृथुबुध्नोदराद्याकारघटादिवत् । न चास्य तत्सिद्धम् । तद्धि किमयुतसिद्धसम्बन्धत्वम्, सम्बन्धमात्रं वा ? न तावदयुतसिद्धसम्बन्धत्वम्; सर्वैरप्रतीयमानत्वात् । यत्पुनर्यस्य स्वरूपं तत्तेनैव स्वरूपेण सर्वस्यापि प्रतिभासते यथा पृथुबुध्नोदराद्याकारतया घट इति । न चैकस्य सामान्यात्मकं स्वरूपं युक्तम्; समानानामभावे सामान्याभावाद्गगने गगनत्ववत् । नापि सम्बन्धमात्रं समवायस्यासाधारणं स्वरूपम्; संयोगादावपि सम्भवात् ।

किञ्च, तद्रूपतयासौ सम्बन्धबुद्धौ प्रतिभासेत, इहेति प्रत्यये वा, समवाय इत्यनुभवे वा ? यदि सम्बन्धबुद्धौ, कोयं सम्बन्धो नाम-किं सम्बन्धत्वजातियुक्तः सम्बन्धः, अनेकोपादानजनिता वा, अनेका-

---

वैशेषिक ने कहा कि समवाय की प्रत्यक्ष से प्रतीति होती है, इत्यादि, वह कथन तो अयुक्त है, जब तक पदार्थों का असाधारण स्वरूप सिद्ध नही हो जाता तब तक उसको प्रत्यक्ष प्रतीति हो नही सकती, असाधारण स्वरूप सिद्ध होने पर ही वस्तु की प्रत्यक्षता सिद्ध होगी, जैसे पृथु-मोटा बुध्न-गोल मटोल, फैला हुआ, नीचे से समत्व रहित, ऊपर की ओर उठा हुआ इत्यादि घट का आकार या असाधारण स्वरूप सिद्ध होने पर ही घट की प्रत्यक्षता हुआ करती है, ऐसा असाधारण स्वरूप समवाय का सिद्ध नही होता । समवाय का असाधारण स्वरूप क्या है अयुतसिद्ध संबंधत्व समवाय का असाधारण स्वरूप है अथवा सम्बन्ध मात्र है ? अयुतसिद्ध सम्बन्धत्व समवाय का असाधारण स्वरूप है ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि यह स्वरूप सभी को प्रतिभासित नही होता है, जो जिसका स्वरूप होता है वह उसी स्वरूप द्वारा सभी वादी प्रतिवादी को प्रतिभासित हो जाता है, जैसे पृथु बुध्नादि आकार घट का असाधारण स्वरूप है अतः वह सभी को उस स्वरूप से प्रतीति होता है, तथा समवाय को आप लोग एकरूप ही मानते है, जो एक है उसमें सामान्यात्मक स्वरूप नही रह सकता, क्योंकि समान वस्तुओ के अभाव में सामान्य नहीं होता, जैसे आकाश के अभाव में आकाशत्व नहीं होता है । सम्बन्धमात्र समवाय का असाधारण स्वरूप है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि यह स्वरूप संयोग आदि मे भी रहता है ।

किञ्च, संबंधमात्र समवाय का स्वरूप माना जाय तो संबंधत्व की रूपता से संबंध बुद्धि में प्रतिभासित होगा कि "इह इति" प्रत्यय में प्रतिभासित होगा, अथवा "समवाय" इसप्रकार के अनुभव में प्रतिभासित होगा ? सबंधबुद्धि में प्रतिभासित होता

श्रितो वा, सम्बन्धबुद्ध्युत्पादको वा, सम्बन्धबुद्धिविषयो वा ? न तावत्सम्बन्धत्वजातियुक्तः; समवायस्यासम्बन्धत्वप्रसङ्गात् । द्रव्यादित्रयान्यतमरूपत्वाभावेन समवायान्तरासत्त्वेन चात्र सम्बन्धत्वजातेरप्रवर्त्तनात् । अथ संयोगवदनेकोपादानजनितः; तर्हि घटादेरपि सम्बन्धत्वप्रसङ्गः । नाप्यनेकाश्रितः; घटत्वादे. सम्बन्धत्वानुषङ्गात् । नापि सम्बन्धबुद्ध्युत्पादकः लोचनादेरपि तत्त्वप्रसक्तेः । नापि सम्बन्धबुद्धिविषयः; सम्बन्धसम्बन्धिनोरेकज्ञानविषयत्वे सम्बन्धिनोपि तद्रूपतानुषङ्गात् । न च प्रतिविषयं ज्ञानभेदः; मेचकज्ञानाभावप्रसङ्गात् ।

है ऐसा कहो तो पुनः प्रश्न होता है कि किसको सम्बन्ध कहते हैं सम्बन्धत्व शब्द के पांच अर्थ हो सकते हैं–संबंधत्व की जाति से युक्त होना, अनेक उपादानों से उत्पन्न होना, अनेको के आश्रित रहना, संबंधबुद्धि को उत्पन्न करना [संबंध है इसप्रकार की बुद्धि का उत्पादक] और संबंध बुद्धि का विषय होना, इतने संबंधत्व शब्द के अर्थ हैं, इनमें प्रथम विकल्प संबंधत्व जातियुक्त होने को संबंध कहते हैं ऐसा मानना ठीक नहीं, इस तरह संबंध का लक्षण करेंगे तो समवाय असंबधरूप बन जायगा, कैसे सो ही बताते हैं–समवाय को आप लोग न द्रव्य मानते है और न गुण या कर्मरूप मानते हैं अतः उसमें संबंधत्व जाति की वृत्ति नही हो सकती तथा मान भी लेवे कि समवाय मे संबंधत्व जाति रहती है किंतु उसका संबंध जोडने के लिये अन्य समवाय नही होने से उक्त जाति उसमें नही रह सकती । दूसरा विकल्प–संयोग के समान अनेक उपादानों से उत्पन्न होना सबंध है, ऐसा कहो तो घटादि पदार्थ भी संबंधत्व स्वरूप बन जायेंगे, क्योकि घटादिक भी अनेक उपादानो से उत्पन्न हुए हैं । अनेकों के आश्रित होने को संबध कहते हैं, ऐसा तीसरा विकल्प भी गलत है, इसमें घटत्वादि को सबंधरूप मानने का प्रसंग आता है । सबंध की बुद्धि के उत्पादक को सबंधत्व कहते है ऐसा चौथा विकल्प कहे तो नेत्रादि को सम्बन्धत्वरूप मानना होगा क्योकि नेत्र, प्रदीपादिक वस्तुओं मे संबंध की बुद्धि को उत्पन्न करते हैं । संबधबुद्धि के विषय को सम्बन्धत्व कहते हैं ऐसा अंतिम विकल्प भी ठीक नहीं, संबंध और संबंधी को एक ज्ञान का विषय मानने पर संबंधी पदार्थ को भी संबंधपना प्राप्त होगा । अर्थात् सम्बन्ध और सम्बन्धी पदार्थ इन दोनों को ही संबधरूपता आती है, [जिसमे संबंधत्व रहता है या समवाय रहता है उस संबंधवान पदार्थ को भी सम्बन्ध या समवाय मानना होगा जो कि परवादी को इष्ट नहीं है] कोई कहे कि संबंध को विषय करने वाला ज्ञान पृथक् है और संबंध युक्त संबंधी को विषय करने वाला ज्ञान पृथक् है, सो यह भी युक्त नहीं इसमें मेचक ज्ञान

अथेहबुद्धौ समवायः प्रतिभासते; न; इहबुद्धेरधिकरणाध्यवसायरूपत्वात्। न चान्यस्मिन्नाकारे प्रतीयमानेऽन्याकारोर्थः कल्पयितुं युक्तोतिप्रसङ्गात्।

अथ समवायबुद्ध्यासौ प्रतीयते; तन्न; समवायबुद्धेरसम्भवात्। नहि 'एते तन्तवः, अयं पटः, अयं च समवायः' इत्यन्योन्यविविक्तं त्रितयं बहिर्ग्राह्याकारतया कस्याञ्चित्प्रतीतौ प्रतीयते तथानुभवाभावात्।

सर्वसमवाय्यनुगतैकस्वभावो ह्यसौ तत्र प्रतिभासेत, तद्व्यावृत्तस्वभावो वा ? न तावत्तद्व्यावृत्तस्वभावः; सर्वतो व्यावृत्तस्वभावस्यान्यासम्बन्धित्वेन गगनाम्भोजवत्समवायत्वानुपपत्तेः। नापि

के अभाव का प्रसंग आयेगा। अर्थात् प्रति विषय में ज्ञान का भेद है और पृथक् पृथक् एक एक विषय का पृथक् पृथक् हो ज्ञान है ऐसा माने तो मेचक ज्ञान [चित्र का ज्ञान] का अभाव होगा, क्योंकि मेचक ज्ञान का विषय नील, पीत, हरित आदि अनेक वस्तु रूप होता है। इसप्रकार समवाय का स्वरूप संबंधमात्र है और वह संबंधबुद्धि में प्रतिभासित होता है ऐसा प्रथम पक्ष खण्डित हुआ।

"इह इति" इसप्रकार के प्रत्यय–अर्थात् ज्ञान में समवाय प्रतिभासित होता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि "इह–यहां पर" ऐसा ज्ञान तो अधिकरण का अध्यवसाय–निश्चय कर रहा है, इस ज्ञान में अधिकरण प्रतीत हो रहा है न कि संबंधत्व प्रतीत हो रहा, अन्य आकार प्रतीत होने पर उसमें अन्य आकार की कल्पना करना अयुक्त है, अन्यथा अतिप्रसंग उपस्थित होगा–पट के प्रतिभास में गृह घटादिका प्रतिभास होना भी स्वीकार करना होगा।

"समवाय" इसप्रकार की बुद्धि द्वारा संबंधत्वरूप समवाय प्रतिभासित होता है ऐसा तृतीय पक्ष भी असंभव है, क्योंकि समवाय बुद्धि होना असम्भव है। ये तन्तु [धागे] हैं "यह वस्त्र है" और "यह समवाय है" इसप्रकार परस्पर से भिन्न तीन वस्तु बाह्य ग्राह्याकारपने से किसी ज्ञान में प्रतीत होती हुई अनुभव में नहीं आती। तीन वस्तुओं के अनुभवन का अभाव है।

तथा यह विचारणीय है कि समवाय समवायबुद्धि में प्रतिभासित होता है वह किस स्वभाव से प्रतिभासित होता है–सर्वसमवायी द्रव्यों में अनुगत एक स्वभाव से या व्यावृत्त स्वभाव से ? सर्व द्रव्यों से व्यावृत्त स्वभाव से समवायबुद्धि में समवाय प्रतीत

सवनुगतैकस्वभावः; सामान्यादेरपि समवायत्वानुषङ्गात् । न चाखिलसमवाय्यप्रतिभासे तदनुगतस्वभावतयासौ प्रत्यक्षेण प्रत्येतुं शक्यः । अथानुगतव्यावृत्तरूपव्यतिरेकेण सम्बन्धरूपतयासौ प्रतीयते; तन्न; सम्बन्धरूपतायाः प्रागेव कृतोत्तरत्वात् ।

यदप्युक्तम्-'इह तन्तुषु पटः' इत्यादीहप्रत्ययः सम्बन्धकार्योऽबाध्यमानेहप्रत्ययत्वादिह कुण्डे दधीत्यादिप्रत्ययवदित्यनुमानाच्चासौ प्रतीयते' इत्यादि; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; हेतोराश्रयासिद्धत्वात् । तदसिद्धत्वं च 'इह तन्तुषु पटः' इत्यादिप्रत्ययस्य धर्मिणोऽसिद्धेः । अप्रसिद्धविशेषणश्चायं हेतुः;

होता है ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि जो सभी से व्यावृत्त स्वभावभूत है उसका अन्य के साथ संबंधीपना नहीं होने के कारण आकाश पुष्प की तरह अभाव हो रहेगा उसमें समवायपना हो नहीं सकता, जो वस्तु सबसे व्यावृत्त है तो इसका अर्थ यही है कि उसका अस्तित्व नही है । सर्व समवायी द्रव्यों में अनुगत एक स्वभावभूत समवाय समवायबुद्धि में प्रतीत होता है ऐसा पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि अनुगतस्वभावरूप समवाय को मानेगे तो सामान्यादि पदार्थ के भी समवायपना होवेगा । तथा अखिल समवायी द्रव्यों के प्रतिभासित हुए बिना उनके अनुगत स्वभावपने से यह समवाय प्रत्यक्ष द्वारा प्रतीत होना अशक्य है ।

शंका—समवायबुद्धि में समवाय प्रतीत होता है वह अनुगतरूप से या व्यावृत्त रूप से प्रतीत नहीं होता, किन्तु इनसे अतिरिक्त संबंधरूपता से प्रतीत होता है ।

समाधान—ऐसा नहीं कहना, इस सम्बन्धरूपता के विषय में पहले ही उत्तर दिया है ।

वैशेषिक ने अपने पूर्व पक्ष में कहा था कि–"इह तन्तुषु पटः" इत्यादि स्थान पर जो "इह–यहां पर" ऐसा जो प्रत्यय [ज्ञान] होता है वह संबंध [समवाय] का कार्य है क्योंकि यह अबाध्यमान इह प्रत्यय स्वरूप है, जैसे इस कुण्डा में दही है इत्यादि प्रत्यय अबाध्यमान है "इस अनुमान प्रमाण से समवाय पदार्थ प्रतिभासित होता है इत्यादि, सो उक्त कथन भी अविचार पूर्ण है क्योकि इस अनुमान का हेतु [अबाध्यमान इह प्रत्ययत्वात्] आश्रयासिद्ध है, इसका असिद्धपना भी इसलिये है कि "इह तंतुषु पटः" इत्यादि प्रत्यय धर्मी हम प्रतिवादी के प्रति असिद्ध हैं । [अर्थात्–इन तन्तुओं में पट है

'पटे तन्तवो वृक्षे शाखा' इत्याविरूपतया प्रतीयमानप्रत्ययेन 'इह तन्तुषु पटः' इति प्रत्ययस्य बाध्यमानत्वात् । स्वरूपासिद्धश्चायम्; तन्तुपटप्रत्यये इहप्रत्ययत्वस्यानुभवाभावात्, 'पटोयम्' इत्यादिरूपतया हि प्रत्ययोनुभूयते ।

अनैकान्तिकश्च; 'इह प्रागभावेऽनादित्वम्, इह प्रध्वंसाभावे प्रध्वंसाभावाभावः' इत्यबाध्यमानेहप्रत्ययस्य सम्बन्धपूर्वकत्वाभावात् । न चात्र विशेषणविशेष्यभावः सम्बन्धो वाच्यः; सम्बन्धमन्तरेण विशेषणविशेष्यभावस्याऽसम्भवात्, अन्यथा सर्वं सर्वस्य विशेषणं विशेष्यं च स्यात् । सम्बन्धे

इत्यादि ज्ञान का विषय समवाय है, ऐसा जैन के यहां माना ही नहीं] "अबाध्यमान इह प्रत्ययत्वात्" हेतु अप्रसिद्ध विशेषण वाला भी है, अर्थात् इसका अबाध्यमानत्व विशेषण सिद्ध नही है, "इस वस्त्र में तन्तु हैं" इस वृक्ष पर शाखायें हैं इत्यादि विपरीत क्रम से अर्थात् तन्तुओं में वस्त्र है ऐसा प्रत्यय न होकर वस्त्र में तन्तु हैं ऐसा भी प्रत्यय होता हुआ देखा जाता है, जैसे अवयवों में अवयवो प्रतीत होता है वैसे अवयवी में अवयव भी प्रतीत होते हैं । अतः "इह प्रत्यय" बाधित ठहरता है । यह हेतु स्वरूपासिद्ध दोष युक्त भी है, कैसे सो ही बताते हैं–तन्तु और वस्त्र के ज्ञान में "इह प्रत्यय" अनुभव में आता नहीं, वहां तो "पटोऽयं" "यह वस्त्र है" इत्यादि स्वरूप से प्रतिभास होता है ।

इह प्रत्ययत्वात् हेतु अनैकान्तिक भी है, क्योंकि जहां जहां अबाध्यमान इह प्रत्यय है वहां वहां वह संबंध का ही कार्य है ऐसा साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव नही है, इस प्रागभाव में अनादिपना है "यहां प्रध्वंसाभाव में प्रध्वंसाभाव का अभाव है" इत्यादि स्थानों पर अबाध्यमान इह प्रत्यय तो हो रहा है किन्तु वह संबंध का कार्य नहीं है अतः यह हेतु अनैकान्तिक है, "विपक्षेप्यविरुद्धवृत्तिः अनैकान्तिकः" विपक्ष में जो हेतु अविरुद्धपने से रहता है वह अनैकान्तिक है ऐसा सभी ने स्वीकार किया है ।

शंका—यहां प्रागभाव में अनादिपना है इत्यादि स्थान पर जो इह प्रत्यय होता है वह विशेष्य–विशेषण संबंध का कार्य है, अर्थात् विशेषण–विशेष्य संबंध होने के कारण यहां पर इह प्रत्यय होता है ?

समाधान—ऐसा भी नहीं कह सकते, संबंध के बिना विशेषण विशेष्यभाव होना असंभव है । यदि ऐसा नहीं है तो सब पदार्थ सभी के विशेषण और विशेष्य

सत्येव हि द्रव्यगुणकर्मादावेकस्य विशेषणत्वमपरस्य विशेष्यत्वं दृष्टम् । तदभावेपि विशेषणविशेष्यभाव-कल्पनायामतिप्रसङ्गः स्यात् ।

न चात्राऽदृष्टलक्षणः सम्बन्धो विशेषणविशेष्यभावनिबन्धनम् इत्यभिधातव्यम्; षोढासम्बन्धवादित्वव्याघातानुषङ्गात् । न चास्य सम्बन्धरूपता । सम्बन्धो हि द्विष्ठो भवताभ्युपेतः । अदृष्टश्चात्मवृत्तितया प्रागभावाऽनादित्वयोरतिष्ठन्कथं द्विष्ठो भवतीति चिन्त्यमेतत् ? यदि चात्राऽदृष्टः सम्बन्धः; तर्हि गुणगुण्यादयोऽप्यत एव सम्बद्धा भविष्यन्तीत्यलं समवायादिसम्बन्धकल्पनया ।

होंगे । जब सम्बन्ध होता है तभी पदार्थों में से–द्रव्य, गुण, कर्मादि में से कोई एकके विशेषणपना और दूसरे के विशेष्यपना देखा जाता है, सम्बन्ध के अभाव में भी विशेषण विशेष्य की कल्पना करेंगे तो अतिप्रसंग होगा–फिर तो सह्याचल और विंध्याचल में विशेष्य–विशेषणपना हो सकेगा ।

वैशेषिक—"यहां प्रागभाव में अनादिपना है" इत्यादि इह प्रत्यय में अदृष्ट नाम के संबंध के कारण विशेष्य विशेषणभाव होता है । अर्थात् अदृष्ट के कारण प्रागभावादि में विशेष्य विशेषणभाव संबंध बनता है ?

जैन—ऐसा नहीं कहना, इस तरह तो आपके ही "षोढा संबंधवाद में व्याघात होगा" अर्थात् आपके सिद्धांत में छह प्रकार का सम्बन्ध माना है–संयोग संबंध, संयुक्त समवाय संबंध, संयुक्त समवेत समवाय संबंध, समवाय संबंध, समवेत संबंध और विशेषण विशेष्यभाव संबंध, अब यदि अदृष्ट विशेष्य–विशेषण संबंध भी मानेंगे तो छः संख्या का व्याघात होगा । तथा दूसरी बात यह है कि अदृष्ट लक्षण विशेष्य विशेषण भाव को संबंधपना बनता ही नहीं, क्योंकि संबंध दो में होता है ऐसा आपने माना है, अदृष्ट केवल आत्मा में रहता है, प्रागभाव और अनादित्व में नहीं रहता अतः उक्त अदृष्ट द्विष्ठ किसप्रकार होगा यह विचार कोटी में ही रहेगा । तथा यदि प्रागभावादि में अदृष्ट लक्षण संबंध होता है तो गुण–गुणी इत्यादि में भी अदृष्ट लक्षण–अदृष्ट निमित्तक संबंध हो जायगा फिर समवाय आदि अनेक प्रकार के संबंध की कल्पना करने में कुछ प्रयोजन नहीं रहता है ।

किञ्च, अतोनुमानात्सम्बन्धमात्रं साध्यते, तद्विशेषो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, तादात्म्यलक्षणसम्बन्धस्येष्टत्वात्तन्तुपटादीनाम् । ननु तेषां तादात्म्ये सति तन्तवः पटो वा स्यात्, तथा च सम्बन्धिनोरेकत्वे कथं सम्बन्धो नामास्य द्विष्ठत्वात् ? तदप्ययुक्तम्; यो हि द्विष्ठः सम्बन्धस्तस्येत्थमभावो युक्तः, यस्तु तत्स्वभावतालक्षणः कथं तस्याभावो युक्तः ? तन्तुस्वभाव एव हि पटो नार्थान्तरम्, आतानवितानीभूततन्तुव्यतिरेकेण देशभेदादिना पटस्यानुपलभ्यमानत्वात् ।

अथ सम्बन्धविशेषः साध्यते; स किं संयोगः, समवायो वा ? संयोगश्चेत्; अभ्युपगमबाधा । समवायश्चेत्; दृष्टान्तस्य साध्यविकलता ।

वैशेषिक को "इह तन्तुषु पटः" इत्यादि अनुमान द्वारा संबंधमात्र को सिद्ध करना है अथवा संबंधविशेष सिद्ध करना है प्रथम पक्ष कहो तो सिद्ध साध्यता है, क्योंकि हम जैन भी तन्तु और वस्त्र इत्यादि में तादात्म्य नामका सम्बन्ध मानते हैं ।

वैशेषिक—तन्तु और वस्त्र इत्यादि पदार्थों में तादात्म्य सम्बन्ध मानने पर या तो तन्तु ही रहेंगे या वस्त्र ही रहेगा इसतरह सम्बन्धी पदार्थों के एकरूप होने पर उसे सम्बन्ध कैसे कह सकते हैं, सम्बन्ध तो दो मे होता है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, जो वादी "सम्बन्ध दो में होता है" ऐसा हठाग्रह रखते हैं, उनके यहां सम्बन्ध का अभाव होना रूप दोष दे सकते हैं, किन्तु जो वादी तन्तु और वस्त्र इत्यादि का ऐसा स्वभावपना ही मानते हैं उनको सम्बन्ध का अभाव होना रूप दूषण किसप्रकार दे सकते हैं, हम जैन वादी के यहां तो तंतु स्वभावरूप ही पट है अर्थान्तर नहीं है, अर्थात् आतान–वितान रूप तन्तुओं का बनना ही पट है इनसे पृथक् देश या स्वभावादि के भेद से भिन्न कोई भी पट पदार्थ उपलब्ध नहीं होता जो तन्तुओं के क्षेत्र, द्रव्य स्वभावादिक हैं वे ही वस्त्र के हैं ।

"इह तन्तुषु पटः" इत्यादि अनुमान द्वारा सम्बन्ध विशेष को सिद्ध किया जाता है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो प्रश्न होता है कि वह सम्बन्ध विशेष कौन है, संयोग सम्बन्ध या समवाय सम्बन्ध ? संयोग सम्बन्ध तो कह नहीं सकते, क्योंकि तन्तु वस्त्रादि में आपने संयोग सम्बन्ध माना ही नहीं । समवाय सम्बन्ध सिद्ध किया जाता है ऐसा कहो तो दृष्टांत साध्य विकल होगा, अर्थात् यहां तन्तुओं में वस्त्र है इत्यादि इहप्रत्यय

अथोच्यते–न संयोगः समवायो वा साध्यते किन्तु सम्बन्धमात्रम्, तत्सिद्धौ च परिशेषात् समवायः सिध्यतीति; तदप्युक्तिमात्रम्; परिशेषन्यायेन समवायस्य सिद्धेरसंभवात्, तस्यानेकदोषदुष्टत्वेन प्रतिपादितत्वात्। यदि हि संबन्धान्तरमनेकदोषदुष्टं समवायस्तु निर्दोषः स्यात्, तदासौ तन्न्यायात् सिध्येत्। न चैवमित्युक्तम्।

कश्चायं परिशेषो नाम ? प्रसक्तप्रतिषेधे विशि(धे शि)ष्यमाणसंप्रत्ययहेतुः स इति चेत्; स किं प्रमाणम्, अप्रमाणं वा ? न तावदप्रमाणमभिप्रेतसिद्धौ समर्थम्; अतिप्रसङ्गात्। प्रमाणं

सम्बन्ध का कार्य है, क्योंकि यह अबाध्यमान इह प्रत्यय स्वरूप है, जैसे "यहां कुण्डा में दही है" इत्यादि इह प्रत्यय अबाध्यमान है, इसप्रकार पहले अनुमान प्रयुक्त हुआ था, उसमें "कुण्डा में दही है" ऐसा दृष्टांत दिया है वह साध्य जो समवाय सम्बन्ध है उससे रहित है, क्योंकि कुण्डा और दही में समवाय सम्बन्ध नहीं होता, इसतरह दृष्टांत साध्य रहित होने के कारण अनुमान दूषित होता है।

वैशेषिक—"इह तन्तुषु पटः" इत्यादि अनुमान द्वारा न संयोग सिद्ध करते हैं और न समवाय ही, किन्तु सम्बन्धमात्र सिद्ध करते हैं, जब इससे सम्बन्धमात्र सिद्ध होगा तब परिशेष से [तन्तु और वस्त्र का सम्बन्ध संयोगादि रूप नहीं है अतः समवाय रूप ही है। इत्यादि परिशेष अनुमान से] समवाय सिद्ध करते हैं ?

जैन—यह भी कहना मात्र है, परिशेष न्याय से समवाय की सिद्धि होना असम्भव है, आपके समवाय पदार्थ के मानने में अनेक दोष आते हैं वह किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है ऐसा बता आये हैं। तथा यदि तन्तु आदि में अन्य संबंध मानने में अनेक दोष आते हों और समवाय संबंध मानने में निर्दोषता हो तब तो परिशेष न्याय से उनमें समवाय सिद्ध होता, किन्तु उलटे समवाय मानने में ही अनेक दोष आते हैं।

तथा परिशेष किसे कहते हैं—जिसका प्रसंग प्राप्त था ऐसे संयोगादिका प्रतिषेध होने पर अवशेष जो समवाय है उसके प्रतीति का कारण परिशेष कहलाता है ऐसा परिशेष स्वरूप या लक्षण करते हैं तो वह परिशेष आपको प्रमाणभूत है कि अप्रमाणभूत है ? अप्रमाण है ऐसा कहो तो वह आपके इष्ट ऐसे समवाय को सिद्ध करने

वैशिक प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा ? न तावत्प्रत्यक्षम्; तस्य प्रसक्तप्रतिषेधद्वारेणाभिप्रेतसिद्धावसमर्थत्वात्। अथ केवलव्यतिरेक्यनुमानं परिशेषः; तर्हि प्रकृतानुमानोपन्यासवैयर्थ्यम्, तस्योपन्यासेपि परिशेषमन्तरेणाभिप्रेतसिद्धेरभावात्। परिशेषस्तु प्रमाणान्तरमन्तरेणापि तत्सिद्धौ समर्थ इति स एवोच्यताम्, न चासावुक्तः, तत् कथं समवायः सिध्येत्।

ननु चेहप्रत्ययस्य समवायाहेतुकत्वे निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात् कादाचित्कत्वविरोधः; तदसत्; तादात्म्यहेतुकतयास्य प्रतिपादितत्वात्। महेश्वरहेतुकत्वाद्वा कादाचित्कत्वाविरोधः। तस्य तद्धेतुकत्वे

में समर्थ नहीं हो सकेगा, अप्रमाण द्वारा साध्यसिद्ध होना माने तो अतिप्रसंग होगा–किसी का भी सिद्धांत बिना प्रमाण के सिद्ध होने लगेगा। परिशेष न्याय प्रमाणभूत है ऐसा कहो तो वह कौनसा प्रमाण है प्रत्यक्ष प्रमाण या अनुमान–प्रमाण ? प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि प्रसक्त का निषेध करके अपने अभिप्रेत को सिद्ध करने की सामर्थ्य प्रत्यक्ष में नही है वह तो केवल निकटवर्ती रूपादि को सिद्ध कर सकता है।

वैशेषिक—समवाय को सिद्ध करने वाला केवल व्यतिरेकी अनुमान परिशेष है।

जैन—तो फिर आपका "इह तन्तुषु पटः" इत्यादि अनुमान प्रयोग व्यर्थ ठहरता है ? क्योंकि उसका प्रयोग होने पर भी परिशेष अनुमान के बिना अभिप्रेत समवाय की सिद्धि नहीं हो पाती। परिशेषरूप केवल व्यतिरेकी अनुमान अन्य प्रमाण के बिना ही समवाय को सिद्ध करने में समर्थ है तो उसीको कहना चाहिये किन्तु उसे कहा नहीं फिर किस प्रकार समवाय की सिद्धि होगी ?

वैशेषिक—यदि इह प्रत्यय को समवाय द्वारा होना नहीं स्वीकार करते हैं [समवायरूप हेतु के बिना होना मानते हैं] तो उक्त प्रत्यय निर्हेतुक होगा और निर्हेतुक होने से कदाचित् न होकर सतत् होने का प्रसंग आता है, किन्तु इह प्रत्यय तो कदाचित् होता है, जो प्रतिभास कभी कभी होता है वह निर्हेतुक नहीं होता उसका कारण अवश्य होता है ऐसा सभी स्वीकार करते हैं।

जैन—यह कथन असत् है, हम कहां कह रहे हैं कि इह प्रत्यय निर्हेतुक है, यह प्रत्यय तादात्म्य संबंध के कारण होता है ऐसा पहले ही प्रतिपादन कर दिया है।

वा तेनैव कार्यत्वादिहेतोर्व्यभिचारः। ननु महेश्वरोऽसम्बन्धत्वात्कथं सम्बन्धबुद्धेः कारणमिति चेत्? प्रभुशक्तेरचिन्त्यत्वात्। यो हीश्वरस्त्रैलोक्यकार्यकरणसमर्थः स कथं 'पटे रूपादयः' इति बुद्धिं न विदध्यात्? प्रभुः खलु यदेवेच्छति तत्करोति, अन्यथा प्रभुत्वमेवास्य हीयते। नच 'इह कुण्डे दधि' इत्यादिप्रत्यये सम्बन्धपूर्वकत्वोपलम्भादत्रापि तत्पूर्वकत्वस्यैव सिद्धिः; तत्रापीश्वरहेतुकत्वं कार्यस्येच्छतस्तच्चोद्यानिवृत्तेः। संयोगश्चार्थान्तरभूतस्तन्निमित्तत्वेनात्राप्यसिद्धः; तस्यासिद्धस्वरूपत्वात्।

अथवा आप वैशेषिक को इह प्रत्यय का कारण महेश्वर मानना होगा, महेश्वर हेतुक मानने पर कदाचित् होने में अविरोध है। यदि इहेदं प्रत्यय-ईश्वर हेतुक नहीं माने तो ईश्वर सिद्धि में दिये गये कार्यत्व, सन्निवेश विशिष्टत्वादि हेतु उसीसे व्यभिचारी बन जायेंगे, अर्थात् जो कदाचित् होता है–कार्यरूप होता है वह ईश्वर कृत होता है ऐसा आपका हटाग्रह है, पृथ्वी, पर्वत आदि कार्य होने से बुद्धिमान द्वारा निर्मित है ऐसा कार्यत्व का संबध महेश्वर से ही स्थापित किया है, जो भी कार्य हो वह महेश्वर कृत है अतः यहां प्रकरण मे इहेदं प्रत्यय भी कदाचित् होने से कार्य है इसलिये महेश्वर द्वारा ही होना चाहिये, किन्तु इहेदं प्रत्यय का हेतु समवाय है ऐसा आप कह रहे सो कार्य होकर भी ईश्वर कृत नही होने से कार्यत्व हेतु व्यभिचरित ठहरता है।

वैशेषिक—कार्यत्व हेतु व्यभिचरित नहीं होगा, महेश्वर संबंधरूप पदार्थ नहीं है फिर वह संबंध बुद्धि का–इहेदं प्रत्यय का कारण किस प्रकार हो सकता है। अर्थात् नहीं हो सकता।

जैन—प्रभु की शक्ति तो अचिन्त्य है। जो तीन लोक के कार्यों को करने में समर्थ है वह "यहां वस्त्र में रूपादिगुण है" इत्यादि बुद्धि को कैसे नही करा सकता, अवश्य करा सकता है, प्रभु तो प्रभु ही [समर्थ] है वह जो चाहे उसे कर सकता है अन्यथा तो उसका प्रभुपना ही समाप्त होता है। यहां कुण्डे में दही है इत्यादि प्रत्यय मात्र सयोग संबंध के कारण होते है ऐसे ही "यहां तन्तुओं में पट है" इत्यादि प्रत्यय समवाय सबंध के कारण होते हैं ऐसा कहना भी ठीक नहीं, "यहां कुण्डे में दही है" इत्यादि इह प्रत्यय भी ईश्वर हेतुक मानने होगे, क्योंकि वे कार्य हैं, जो कदाचित् होता है वह कार्य कहलाता है और कार्य ईश्वर कृत होता है इत्यादि वही पूर्वोक्त प्रश्नोत्तर यहां भी समझ लेना चाहिए। अभिप्राय यह है कि आप वैशेषिक कार्यत्व हेतु से सृष्टिकर्त्ता

"ननु संयोगो नामार्थान्तरं न स्यात्तदा क्षेत्रे बीजादयो निर्विशिष्टत्वात् सर्वदैवाङ्कुरादिकार्यं कुर्युः, न चैवम् । तस्मात्सर्वदा कार्यानारम्भात् तेऽङ्कुरादिकार्योत्पत्तौ कारणान्तरसापेक्षाः, यथा मृत्पिण्डदण्डादयो घटकरणे कुम्भकारादिसापेक्षाः । योसावपेक्ष्यः स संयोग इति ।

किञ्च, द्रव्ययोर्विशेषणभावेनाध्यक्षत एवासौ प्रतीयते; तथाहि–कश्चित्केनचित् 'संयुक्ते द्रव्ये आहर' इत्युक्ते ययोरेव द्रव्ययोः संयोगमुपलभते ते एवाहरति, न द्रव्यमात्रम् ।

ईश्वर सिद्ध करते हैं अतः इह प्रत्यय को ईश्वर कृत मानना चाहिये न कि समवाय कृत, अन्यथा कार्यत्व हेतु द्वारा ईश्वर कर्तृत्व को सिद्ध करना अशक्य होगा । और यदि इहेदं प्रत्यय को ईश्वर निमित्तक मानेंगे तो समवाय पदार्थ व्यर्थ ठहरता है । तथा "इह कुण्डे दधि" इत्यादि इह प्रत्यय में अर्थान्तरभूत संयोग संबंध कारण है ऐसा कहना भी असिद्ध है, क्योंकि संयोग का स्वरूप ही सिद्ध नहीं है ।

वैशेषिक—यदि संयोग को अर्थान्तरभूत न माना जाय तो खेत में डाले गये गेहूँ आदि बीज निर्विशेष होने से सर्वदा अंकुरादि कार्यों को करने लगेगे, अर्थात्–मिट्टी पानी आदि का संयोग होवे चाहे मत होवे गेहूं आदि बीज घर में हो चाहे खेत में डाले वे सतत ही अंकुरादि को उत्पन्न कर सकते हैं, क्योंकि संयोग की अपेक्षा नहीं है, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता, अतः सर्वदा कार्य का अनारंभ देखकर निश्चित होता है कि गेहूं आदि बीज अंकुरादि कार्य को करने में कारणांतर जो संयोग है उसकी अपेक्षा रखते हैं–[मिट्टी, हवा, पानी इत्यादि के संयोग की अपेक्षा रखते हैं] जिसप्रकार मिट्टी का पिण्ड, दण्डा इत्यादि पदार्थ घट को उत्पन्न करते समय कुंभकार आदि की अपेक्षा रखते हैं, जिसकी अपेक्षा पड़ती है वही संयोग है ।

तथा दो द्रव्यों के विशेषण भाव द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण से संयोग गुण प्रतीति में आता है, अब इसी को बतलाते हैं–किसी पुरुष ने अपने पास बैठे हुये व्यक्ति को प्रेरित किया कि संयुक्त पदार्थ ले आओ इसप्रकार कहने पर वह प्रेरित हुआ व्यक्ति जिसमें दो द्रव्यों का संयोग उपलब्ध होता है उन्हीं पदार्थों को ले आता है, न कि द्रव्यमात्र को इससे संयोग सिद्ध होता है ।

किञ्च; 'कुण्डली देवदत्त:' इत्यादिमतिरुपजायमाना किन्निबन्धनेत्यभिधातव्यम् ? न तावत्पुरुषकुण्डलमात्रनिबन्धना; सर्वदा तस्या: सद्भावप्रसङ्गात् ।

किञ्च, यदेव केनचित्क्वचिदुपलब्धसत्त्वं तस्यैवान्यत्र विधिप्रतिषेधमुखेन लोके व्यवहारप्रवृत्तिर्दृष्टा । यदि तु संयोगो न कदाचिदुपलब्धस्तत्कथमस्य 'चैत्रोऽकुण्डली कुण्डली' वा इत्येवं विभागेन व्यवहारो भवेत् ? 'चैत्रोऽकुण्डली' इत्यत्र हि न कुण्डलं चैत्रो वा प्रतिषिध्यते देशादिभेदेनानयो: सतो: प्रतिषेधायोगात् । तस्माच्चैत्रस्य कुण्डलसंयोग: प्रतिषिध्यते । तथा 'चैत्र: कुण्डली' इत्यनेनापि विधिवाक्येन चैत्रकुण्डलयोनान्यतरस्य विधानं तयो: सिद्धत्वात् । पारिशेष्यात्संयोगस्यैव विधिर्विज्ञायते ।"
[न्यायवा० पृ० २१८-२२२]

किञ्च, "कुण्डली देवदत्त:" यह देवदत्त कुण्डलयुक्त है इत्यादि जो प्रतीति हुआ करती है इसमें कौन कारण है यह कहना चाहिये ? केवल देवदत्त पुरुष या केवल कुण्डल [कान के आभूषण] तो कारण हो नहीं सकते । क्योंकि ये कारण होते तो सर्वदा [देवदत्त और कुण्डल के अलग अलग रहने पर उस अकेले देवदत्तादि में भी] उक्त प्रतीति के सद्भाव का प्रसंग आता है ।

दूसरी बात यह है कि किसी पुरुष द्वारा कहीं पर जो कुछ उपलब्ध होता है उसी उपलब्ध वस्तु का अन्य स्थान पर विधि या निषेध होता हुआ देखा जाता है । यदि संयोग कभी कदाचित् उपलब्ध नहीं हुआ है तो यह चैत्र कुण्डल वाला नहीं है अथवा यह कुण्डल वाला है इत्यादि विभागरूप से व्यवहार किसप्रकार होगा ? चैत्र कुण्डल वाला नहीं है इत्यादि व्यवहार में न कुण्डल का निषेध किया गया है, और न चैत्र का निषेध किया गया है, क्योकि कुण्डल और चैत्र अपने अपने स्थान पर मौजूद ही हैं, उनका निषेध कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता, इसलिये "चैत्र कुण्डल वाला नहीं है" इत्यादि प्रतीति में चैत्र का कुण्डल के साथ होने वाला जो संयोग है उसका निषेध करते हैं । इसीप्रकार "चैत्र कुण्डल वाला है" इत्यादि विधि वाक्य द्वारा न चैत्र की विधि होती है और न कुण्डल की विधि होती है, क्योंकि यदि अकेले चैत्रादि की विधि होती तो कुण्डल रहित चैत्र में या चैत्र रहित कुण्डल में भी ऐसी विधि होती । अत: परिशेष न्याय से प्रमाणभूत सिद्ध होता है कि "चैत्र कुण्डल वाला है" इत्यादि वाक्य द्वारा संयोग का ही कथन होता है-संयोग का ही प्रतिभास होता है ।

इत्यप्युद्योतकरस्य मनोरथमात्रम्; तथाहि–यत्तावदुक्तम्–निर्विशिष्टत्वाद्बीजादयः सर्वदैवाङ्कुरं कुर्युः; तदयुक्तम्; तेषां निर्विशिष्टत्वासिद्धेः, सकलभावानां परिणामित्वात्। ततो विशिष्टपरिणामापन्नानामेव तेषां जनकत्वं नान्यथा।

यच्चोक्तम्–'सर्वदा कार्यानारम्भात्' इत्यादि; तत्रापि कारणमात्रसापेक्षत्वसाधने सिद्धसाध्यता, अस्माभिरपि विशिष्टपरिणामापेक्षाणां तेषां कार्यकारित्वाभ्युपगमात्। अथाभिमतसंयोगाख्यपदार्थान्तरसापेक्षत्वं साध्यते; तदानेन हेतोरन्वयासिद्धेरनैकान्तिकता, तमन्तरेणापि सभवाविरोधात्। दृष्टां-

---

जैन–यह उद्योतकर ग्रन्थकार का कथन मनोरथ मात्र है। सबसे प्रथम जो कहा कि गेहूं आदि बीज सदा निर्विशिष्ट रहते हैं तो हमेशा ही अकुर आदि कार्यों को करेंगे इत्यादि, सो यह कथन गलत है, गेहूं आदि बीजों की निर्विशिष्टता असिद्ध है, क्योंकि हमारे यहां संपूर्ण पदार्थों को परिणमन युक्त माना है। अतः विशिष्ट परिणाम युक्त ही गेहूं आदि बीज अंकुरादि कार्यों को उत्पन्न करते हैं अन्यथा नहीं करते ऐसा सिद्ध होता है।

और भी जो कहा कि कार्य का अनारंभ देखकर कारणान्तर की अपेक्षा सिद्ध होती है, इत्यादि, सो उस अनुमान द्वारा यदि आप कारण मात्र की अपेक्षा सिद्ध करते हैं तो सिद्ध साध्यता है, क्योंकि हम जैन भी विशिष्ट परिणाम की अपेक्षा लेकर गेहूं आदि बीज अंकुरादि कार्यों को करते हैं ऐसा मानते हैं। और यदि आप वैशेषिक अपने इष्ट संयोग नामा पदार्थान्तर की अपेक्षा अंकुरादि कार्य की उत्पत्ति में हुआ करती है ऐसा उस अनुमान द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं तब हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव सिद्ध नहीं होने से, अनैकान्तिक दोष आता है। अर्थात्–संयोग पृथक् पदार्थ है [साध्य] क्योंकि यह पृथक् पदार्थ नहीं होता तो बीजादिक निर्विशिष्ट होकर सदा ही अंकुरादि कार्य को करते किन्तु सदा कार्य नहीं होता अत; संयोगरूप कारण की अपेक्षा से अंकुरादि कार्य होता है ऐसा सिद्ध होता है, [हेतु] सो इस अनुमान का हेतु साध्य के बिना भी रहता है। उक्त अनुमान में जो दृष्टांत दिया था कि–जिसप्रकार घट के करने में मिट्टी, दण्ड आदि पदार्थ कुम्भकार के संयोगरूप कारण की अपेक्षा रखते है उसप्रकार गेहूं आदि बीज अंकुर की उत्पत्ति में संयोगरूप कारण की अपेक्षा रखते हैं, यह दृष्टांत साध्य से रहित है, क्योंकि यद्यपि मिट्टी आदिक घट के करने में कुंभकार

न्तस्य च साध्यविकलता । यदि च संयोगमात्रसापेक्षा एव ते तज्जनकाः; तर्हि प्रथमोपनिपाते एव क्षित्यादिभ्योऽङ्कुरादिकार्योदयप्रसङ्गः पश्चादिवाविकलकारणत्वात् । तदा तदनुत्पत्तौ वा पश्चादप्यनुत्पत्तिप्रसङ्गो विशेषाभावात् ।

यदप्युक्तम्-द्रव्ययोर्विशेषणभावेनेत्यादि; तदप्ययुक्तम्; यतो न द्रव्याभ्यामर्थान्तरभूतः संयोगः प्रतिपत्तुः प्रत्यक्षे प्रतिभाति यतस्तद्दर्शनाद्विशिष्टे द्रव्ये आहरेत् । किं तर्हि ? प्रागभाविसान्तरावस्थापरित्यागेन निरन्तरावस्थारूपतयोत्पन्ने वस्तुनी एव संयुक्तशब्दवाच्ये, अवस्थाविशेषे प्रभावितत्वात् संयोगशब्दस्य । तेन यत्र तथाविधे वस्तुनी संयोगशब्दविषयभावापन्ने पश्यति ते एवाहरति, नान्ये ।

यदप्युक्तम्-कुण्डलीत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; यतो यथैव हि चैत्रकुण्डलयोर्विशिष्टावस्थाप्राप्तिः संयोगः सर्वदा न भवति, तद्वत् 'कुण्डली' इति मतिरप्यवस्थाविशेषनिबन्धना कथं तदभावे भवेत् ?

को अपेक्षा रखते हैं किन्तु वह कुंभकार संयोगस्वरूप नहीं है । यदि गेहूं आदि बीज संयोगमात्र की अपेक्षा लेकर ही अंकुरादिकार्य को उत्पन्न करने वाले माने जांय तो संयोग के प्रथम क्षण में ही पृथिवी आदि से अंकुरादिकार्य होने का प्रसंग आता है, क्योंकि जैसे पीछे संयोगरूप अविकल कारण मौजूद है वैसे प्रथम क्षण में भी मौजूद है । यदि प्रथम क्षण में वह कार्य उत्पन्न नहीं होता तो पीछे भी उत्पन्न नहीं होने का प्रसंग होगा, क्योंकि संयोगरूप कारण समानरूप है ।

वैशेषिक ने कहा कि दो द्रव्यों के विशेषण भाव से संयोग तो साक्षात् प्रतीत होता है, इत्यादि वह भी अयुक्त है, क्योंकि दो द्रव्यों से पृथग्भूत संयोग किसी प्रतिपत्ता पुरुष के प्रत्यक्ष ज्ञान में प्रतिभासित नहीं होता, जिससे कि वह पुरुष उस संयोग को देखकर संयोगयुक्त द्रव्यों को उठा लेवे । प्रश्न—तो फिर क्या है ? उत्तर—पहले की अंतरालरूप अवस्था को छोड़ निरंतराल—मिली हुई अवस्थारूप से उत्पन्न हुई दो वस्तु ही संयुक्त शब्द का वाच्य है क्योंकि अवस्था विशेष में संयोग शब्द की प्रवृत्ति होती है । अतः संयोग शब्द द्वारा जो कहे जाते हैं ऐसे निरंतरालरूप अवस्था वाले दो पदार्थों को देखता है और उन्हीं को ले आता है अन्य को नहीं ।

"कुण्डली देवदत्तः" इत्यादि जो ज्ञान होता है उसका कारण संयोग है ऐसा वैशेषिक का मतव्य है किन्तु वह असत् है, देवदत्त और कुण्डल या चैत्र और कुण्डल इन दो पदार्थों का विशिष्ट अवस्था की प्राप्ति होना रूप संयोग जैसे सर्वदा नहीं होता

विधिप्रतिषेधावपि न केवलयोश्चैत्रकुण्डलयोः, किन्त्ववस्थाविशेषस्यैवेत्युक्तदोषानवकाशः । ततो ये प्रनेकवस्तुसन्निपाते सत्युपजायन्ते प्रत्यया न ते परपरिकल्पितसंयोगविषयाः यथा प्रविरलावस्थितानेक-तन्तुविषयाः प्रत्ययाः, तथा चैते संयुक्तप्रत्यया इति ।

यच्चान्यदुक्तम्–'विशेषविरुद्धानुमानं सकलानुमानोच्छेदकत्वान्न वक्तव्यमिति; तत्किमनुमाना-भासोच्छेदकत्वान्न वाच्यम्, सम्यगनुमानोच्छेदकत्वाद्वा ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; न हि कालात्ययापदिष्ट-हेतूत्थानुमानोच्छेदकस्य प्रत्यक्षादेरनुमानवादिनोपन्यासो न कर्तव्योऽतिप्रसक्तेः । द्वितीयपक्षोप्ययुक्तः;

[अर्थात् देवदत्त हमेशा कुण्डल को पहने ही नहीं रहता, बिना कुण्डल के भी रहता है] वैसे ही "कुण्डलवाला है' इसप्रकार का ज्ञान भी हमेशा नहीं होकर संयुक्त अवस्था विशेष के होने पर ही होता है इसलिये उक्त ज्ञान संयुक्त अवस्था के अभाव में किस प्रकार होवेगा ? चैत्र और कुण्डल के विधि–निषेध की बात कही थी, अर्थात्–चैत्रः कुण्डली, चैत्रः अकुण्डली, चैत्र कुण्डल वाला है, अथवा चैत्र कुण्डलवाला नही है इत्यादि विधि निषेधरूप वाक्य मे केवल चैत्र या केवल कुण्डल का विधि निषेध नही हुआ करता अपितु अवस्था विशेष का ही विधि निषेध हुआ करता है अतः आपके कहे दोष नहीं होते हैं । इसलिये अनुमान द्वारा निश्चित होता है कि–जो प्रतिभास अनेक वस्तुओ के संयुक्त अवस्था विशेष होने पर उत्पन्न होते हैं वे परवादी–वैशेषिक द्वारा कल्पित संयोग को विषय करने वाले नहीं होते, जिसप्रकार विकल अवस्था मे अवस्थित अनेक तंतुओं को विषय करने वाले [जानने वाले] प्रतिभास संयोग विषयक नही होते, ये विवक्षित संयुक्त प्रतिभास भी अनेक वस्तुओं के सन्निपात में होते हैं, अतः परकल्पित संयोग विषयक नहीं हैं ।

वैशेषिक के समवायविषयक अनुमान का निरसन करने के लिये जैन ने कहा था कि–विवाद में स्थित "इह इति ज्ञान" समवायपूर्वक नही होता, क्योंकि यह अबाधित इह प्रत्ययवाला है, इत्यादि इस अनुमान से समवाय का खण्डन हो चुकता है अतः "अयुत सिद्धानां इत्यादि अनुमान वाक्य विशेष विरुद्ध नामा अनुमानाभास बन जाता है" इस जैन के कथन पर वैशेषिक ने कहा था कि इसतरह विशेषविरुद्ध अनुमान को बाधा देंगे तो जगत्प्रसिद्ध सकल अनुमान नष्ट होंगे ? अतः ऐसा अनुमान नहीं कहना चाहिये । अब हम जैन आपसे पूछते हैं कि ऐसा अनुमान अनुमानाभास को बाधित करता है इसलिये नहीं कहना, कि–सत्य अनुमान को नष्ट करता है इसलिये नहीं

न हि धूमादिसम्यगनुमानस्य विशेषविरुद्धानुमानसहस्रेणापि प्रत्यक्षादिभिरपहृतविषयेण बाधा विधातुं पार्यते। न च विशेषविरुद्धानुमानत्वादेवेदमवाच्यम्; यतो न विशेषविरुद्धानुमानत्वमसिद्धत्वादिवद्धेत्वाभासनिरूपणप्रकरणे दोषो निरूपितो येनानुमानवादिभिस्तदसिद्धत्वादिवन्न प्रयुज्यते। ततो यद्दुष्टमनुमानं तदेव विशेषविघाताय न प्रयोक्तव्यम्-यथा 'अयं प्रदेशोऽत्रत्येनाग्निनाग्निमान्न भवति

कहना ? प्रथम पक्ष अयुक्त है-क्योंकि कालात्ययपदिष्ट हेतु से [प्रत्यक्ष बाधित हेतु से] उत्पन्न हुए अनुमान का खंडन करने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण का अनुमान वादी द्वारा उपन्यास प्रयोग नहीं करने का अतिप्रसंग आता है। अतः ऐसा नहीं कहना चाहिए।

भावार्थ—वैशेषिक का समवाय को सिद्ध करनेवाला अनुमान जैन के अनुमान द्वारा बाधित होता था तब वैशेषिक ने कहा कि हमारे अनुमान को विशेष विरुद्ध अनुमान है, इत्यादि रूप बाधा देंगे तो जगत के धूम अग्नि सम्बन्धी सकल अनुमान गलत ठहरेंगे। तब जैनाचार्य ने कहा कि इसतरह सदोष अनुमान को सदोष न बताया जाय तो बहुत ही बड़ा अनर्थ होगा, प्रत्यक्ष प्रमाण से जिसमें बाधा आ रही है उसे यदि दोष युक्त नहीं बतावे तो क्या प्रत्यक्ष को दोष युक्त बतावे ? सदोष को दोषी नहीं कहे तो क्या निर्दोष को दोषी कहे ? अर्थात् सदोष को ही सदोष कहना होगा न कि निर्दोष को। इसप्रकार अनुमानाभास का उच्छेद [नाश] करने वाला अनुमान नहीं कहना ऐसा वैशेषिक का पक्ष असत् है।

सम्यक्-सत्य अनुमान का उच्छेद करनेवाला जैन का अनुमान प्रयोग है अतः हमारे समवाय विषयक अनुमान को विशेषविरुद्धानुमान ठहराने वाले इस अनुमान को नहीं कहना, इसतरह दूसरा पक्ष कहो तो भी अयुक्त है। धूमादि हेतु वाले सत्य अनुमान हजारों विशेषविरुद्ध अनुमान जो कि प्रत्यक्षादि से खण्डित विषय वाले हैं उनसे बाधित नहीं हो सकते। अर्थात् अनुमानाभासों द्वारा सत्य अनुमान का निरसन नहीं किया जा सकता। तथा समवाय को खण्डित करने वाला अनुमान विशेषविरुद्धानुमान है अतः उसे नहीं कहना ऐसा वैशेषिक ने कहा वह असत् है, क्योंकि विशेष विरुद्धानुमान असिद्ध आदि हेत्वाभासों के समान सदोष होता है ऐसा हेत्वाभासों का प्रतिपादन करने वाले प्रकरण में निरूपण नहीं किया है [अर्थात् विशेषविरुद्धानुमान नामका दोष है ऐसा नहीं बताया है] जिससे कि अनुमान प्रमाणवादी जैनादि लोग असिद्धादि के समान उसका

धूमवत्त्वान्महानसवत्' इत्यादिकम् । यतस्तेन यो विशेषो निराक्रियते स प्रत्यक्षेणैव तद्देशोपसर्पणे सति प्रतीयते । न चैतत् समवाये संभवति; प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वेनास्य प्रतिपादितत्वात् । न चातद्विषयं बाधकमतिप्रसङ्गात् ।

यत्पुनरुक्तम्-न चास्य संयोगवन्नानात्वमित्यादि; तदप्यसमीचीनम्; तदेकत्वस्यानुमानबाधितत्वात् । तथाहि-अनेकः समवायो विभिन्नदेशकालाकारार्थेषु सम्बन्धबुद्धिहेतुत्वात् । यो य इत्थंभूतः स सोनेकः यथा संयोगः, तथा च समवायः, तस्मादनेक इति । प्रसिद्धो हि दण्डपुरुषसंयोगात् कटकुड्यादि-

---

प्रयोग करे । इसलिये जो दुष्ट–सदोष अनुमान है उसीको विशेषविघात के लिये नहीं कहना चाहिये, जैसे यह प्रदेश यहां के अग्नि द्वारा अग्निमान नही होता, क्योंकि धूम वाला है, जिसतरह रसोई घर यहां के अग्नि से अग्निमान नहीं होता । इसप्रकार के अनुमान ही विशेषविघातक होने से कहने योग्य नहीं हुआ करते । क्योंकि ऐसे अनुमान द्वारा जो विशेष निराकृत किया जाता है वह उस अग्नि के स्थान पर जाने से साक्षात्–प्रत्यक्ष द्वारा ही प्रतीत होता है किन्तु समवाय में यह सम्भव नही अर्थात् जिस तरह अग्नि का साक्षात्कार हुआ और विशेष विघातक अनुमान असत्य हुआ उस तरह समवाय में नही हो सकता, क्योंकि समवाय प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जानने मे नही आता, इस बात का पहले प्रतिपादन कर आये हैं । जब समवाय किसी प्रमाण के गोचर ही नहीं तब बाधक कैसे हो सकता है, नातद् विषयं बाधकं नाम–जिसका जो विषय नही होता उसका वह बाधक भी नही होता, यदि माना जाय तो अतिप्रसंग होगा–फिर आकाश पुष्प भी बाधक बन सकेगा ।

समवाय का वर्णन करते हुए कहा था कि–संयोग के समान समवाय नानारूप नहीं होता इत्यादि, वह कथन असमीचीन है, समवाय संबंध को एक रूप मानना अनुमान से बाधित होता है, अब उसी बाधक अनुमान को उपस्थित करते हैं–समवाय अनेक होते हैं, क्योंकि वे भिन्न देश, भिन्न काल और भिन्न आकार वाले पदार्थों में संबंध ज्ञान के हेतु हैं, [संबंध ज्ञान को उत्पन्न कराते हैं] जो जो संबंध इसतरह विभिन्न देशादिवर्ती पदार्थों में सम्बन्धबुद्धि को कराता है वह वह अनेकरूप ही होता है, जैसे संयोग अनेक है, समवाय भी संयोग के समान नानादेशादि में सम्बन्ध प्रतिभास का हेतु है अतः अवश्यमेव अनेक है । प्रसिद्ध बात है कि दण्ड और पुरुष के संयोग से चटाई

संयोगस्य भेद: । 'निबिड: संयोग: शिथिल: संयोग:' इति प्रत्ययभेदात्संयोगस्य भेदाभ्युपगमे 'नित्यं समवाय: कदाचित्समवाय:' इति प्रत्ययभेदात्समवायस्यापि भेदोस्तु । समवायिनोर्नित्यकादाचित्कत्वाभ्यां समवाये तत्प्रत्ययोत्पत्तौ संयोगिनोर्निबिडत्वशिथिलत्वाभ्यां संयोगे तथा प्रत्ययोत्पत्ति: स्यान्न पुन: संयोगस्य निबिडत्वादिस्वभावभेदात्, इत्येकं सधित्सोरन्यत् प्रच्यवते ।

तथा, 'नाना समवायोऽयुतसिद्धावयविद्रव्याश्रितत्वात् संख्यावत्' इत्यतोप्यस्यानेकत्वसिद्धि: ।

दिवाल आदि का संयोग भिन्न है। ऐसे ऐसे अनगिनती संयोग देखने में आते हैं–पुस्तक चौकी, स्लेट पेन्सिल, दवात कलम, कुण्डा बेर इत्यादि पदार्थों के संयोग भिन्न भिन्न हैं, इसीतरह समवाय भी भिन्न भिन्न अनेक सिद्ध होते हैं। कोई कहे कि–संयोग के अनेक प्रकार इसलिये होते है कि यह घनिष्ट संयोग है, यह संयोग शिथिल है–विरल है इत्यादि भिन्न भिन्न प्रतिभास होने के कारण संयोग नानारूप सिद्ध होते है। तो नित्य समवाय है, कदाचित् होने वाला समवाय है इत्यादि भिन्न भिन्न प्रतिभास होने से समवाय में भी भेद मानना चाहिये।

शंका—समवायी पदार्थो के निमित्त से नित्य इत्यादि प्रतिभास की उत्पत्ति हुआ करती है, अर्थात् नित्य समवायी दो द्रव्य नित्यरूप से समवाय की प्रतीति कराते हैं और अनित्य–कादाचित्क सम्बन्ध वाले दो द्रव्य कदाचित्‌रूप से समवाय की प्रतीति कराते है किन्तु समवाय स्वयं भिन्न भिन्न नही है ?

समाधान—तो फिर संयोग भी संयोगी द्रव्यों के निबिड और शिथिलपने के कारण ही नाना प्रतिभासों को कराता है, सयोग स्वयं निबिडादि स्वभाव भेद मे नाना प्रतिभास नहीं कराता ऐसा मानना होगा। इसतरह आप समवाय को एक सिद्ध करना चाहते हैं तो सयोग भी एकरूप सिद्ध हो जाता है, एक को सुधारने चले तो अन्य का बिगाड़ हुआ, एक को जोड़ने चले तो दूसरा छिन्न हुआ, कुए से बचने चले तो खाई में आ गिरे, इसतरह की आप वैशेषिक की दशा हुई।

समवाय को नानारूप सिद्ध करने वाला और भी अनुमान है समवाय अनेक हैं, क्योंकि अयुतसिद्ध अवयवी द्रव्यों के आश्रयों में रहते हैं, जिस तरह संख्या अनेक आश्रयों में रहने से अनेक हैं। इस अनुमान प्रमाण द्वारा भी समवाय अनेक रूप सिद्ध

न चेदमसिद्धम्; अनाश्रितत्वे हि समवायस्य "षण्णामाश्रितत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः" [प्रश० भा० पृ. १६] इत्यस्य विरोधः। अथ न परमार्थतः समवायस्याश्रितत्वं नाम धर्मो येनानेकत्वं स्यात् किन्तूपचारात्। निमित्तं तूपचारस्य समवायिषु सत्सु समवायज्ञानम्। तत्त्वतो ह्याश्रितत्वेस्य स्वाश्रयविनाशे विनाशप्रसंगो गुणादिवत्; इत्यप्ययुक्तम्; विशेषपरित्यागेनाश्रितत्वसामान्यस्य हेतुत्वात्, दिगादीनामाश्रितत्वापत्तेश्च, मूर्त्तद्रव्येषूपलब्धिलक्षणप्राप्तेषु दिग्लिङ्गस्य 'इदमतः पूर्वेण' इत्यादिप्रत्ययस्य काललिङ्गस्य च परत्वापरत्वादिप्रत्ययस्य सद्भावात्। तथा च 'अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः' इति विरुध्यते। सामान्यस्यानाश्रितत्वप्रसङ्गश्च; आश्रयविनाशेप्यविनाशात् समवायवत्।

होता है, अयुतसिद्ध अवयवी द्रव्य द्रव्याश्रितत्व हेतु असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि यदि समवाय को अनाश्रित बतायेंगे तो "षण्णामाश्रितत्व मन्यत्र नित्य द्रव्येभ्यः" नित्य द्रव्यों को छोड़कर छह द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय पदार्थों के आश्रितपना है इत्यादि आपके ग्रन्थ से ही सिद्ध होता है कि समवाय अनाश्रित नहीं आश्रित ही है। अतः यहां समवाय को अनाश्रित बताना सिद्धांत से विरुद्ध होता है।

वैशेषिक—सिद्धांत में समवाय का आश्रितपना कहा है वह मात्र उपचार से कहा है, परमार्थ से देखा जाय तो समवाय का स्वभाव आश्रित नहीं है, अतः समवाय को अनेकरूप मानना ठीक नहीं, समवाय को उपचार से नानारूप बताने का कारण तो यह है कि–समवायी द्रव्यों के होने पर "समवाय है" ऐसा समवाय का प्रतिभास होता है। यदि समवाय के वास्तविक आश्रितपना माने तो स्वआश्रय के नष्ट होने पर समवाय के विनाश का प्रसंग आयेगा। जैसे गुण आश्रय के नष्ट होने पर नष्ट होते हैं ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, विशेष का परित्याग करके आश्रितत्व सामान्य को हेतु मानने पर उक्त दोष नहीं आता। अभिप्राय यह है कि गुण गुणी के आश्रित है, अवयव अवयवी के आश्रित है इत्यादि विशेष नियम न करके आश्रितत्व सामान्य को स्वीकारते हैं तो आश्रय के नष्ट होने पर भी आश्रितत्व सामान्य का नाश नहीं होता क्योंकि सामान्य नित्य होता है। तथा 'अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः' नित्य द्रव्यों को छोड़कर अन्य द्रव्य, गुण, कर्मादि में आश्रितपना होता है ऐसा वैशेषिक ने कहा था वह विरुद्ध है, दिशा आदि नित्य द्रव्यों में भी आश्रितपना पाया जाता है, अब यही बताते हैं–उपलब्ध होने योग्य मूर्त्तद्रव्यों में ही दिशा का लिंग प्रतीति में आता है कि "यह यहां से पूर्व दिशा में है" तथा परत्व–अपरत्वादि काल द्रव्य का लिंग [लक्षण या चिह्न विशेष]

अस्तु वानाश्रितत्वं समवायस्य, तथाप्यनेकत्वमनिवार्यम्; तथाहि-अनेकः समवायोऽनाश्रितत्वात्परमाणुवत् । नाकाशादिभिर्व्यभिचारः; तेषामपि कथंचिन्नानात्वसाधनात् । ततोऽयुक्तमुक्तम्-'इहेति प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावाच्चैकः समवायः' इति । विशेषलिङ्गाभावस्यानन्तरप्रतिपादितलिङ्गसद्भावतोऽसिद्धत्वात् । इहेति प्रत्ययाविशेषोप्यसिद्धः; 'इहात्मनि ज्ञानमिह पटे रूपादिकम्' इतोहेति प्रत्ययस्य विशेषात् । विशेषणानुरागो हि प्रत्ययस्य विशिष्टत्वम् । न चानुगतप्रत्ययप्रतीतितः

भी मूर्त्तद्रव्यों के आश्रयपने से प्रसिद्ध है अतः नित्य द्रव्य को छोड़कर अन्य द्रव्य आश्रित हैं ऐसा कहना भी बाधित होता है, आपने कहा था कि समवाय को आश्रित मानेगे तो आश्रय के नष्ट होने पर वह भी नष्ट होवेगा, सो यह दोष सामान्य में भी होगा—सामान्य को भी यदि आश्रित मानते हैं तो स्वाश्रय के नष्ट होने पर सामान्य के नाश का प्रसग आता है अतः समवाय के समान सामान्य को भी आश्रय रहित मानने का अतिप्रसंग आता है ।

वैशेषिक के आग्रह से मान लेवे कि समवाय के आश्रितपना नहीं है, अनाश्रित है, तो भी उसे अनेकरूप तो अवश्य मानना होगा । आगे इसी को स्पष्ट करते हैं—समवाय अनेक हैं, क्योंकि वह अनाश्रित होता है, जैसे परमाणु अनाश्रित होने से अनेक है । इस अनाश्रितत्व हेतु का आकाशादि के साथ व्यभिचार भी नहीं आता, क्योंकि हम जैन ने आकाश आदि को भी कथंचित्—प्रदेश भेद की अपेक्षा नाना—अनेकरूप सिद्ध किया है । इसप्रकार समवाय में अनेकपना सिद्ध हुआ । समवाय जब अनेक हैं तब आपका पूर्वोक्त कथन गलत ठहरता है कि—इहेदं प्रत्यय की अविशेषता के कारण और विशेष लिंग का अभाव होने से समवाय एक है, इत्यादि, विशेष लिंग का अभाव है नहीं सद्भाव है, अभी हमने बताया था कि नित्यरूप समवाय है "कदाचित् स्वभावरूप समवाय है" इत्यादि प्रतीतिरूप उस समवाय का विशेष लिंग हुआ ही करता है, अतः विशेष लिंग का अभाव असिद्ध है । "इह" इसप्रकार का प्रत्यय सर्वत्र अविशेष [समान] ही है ऐसा कहा वह भी गलत है, "इह आत्मनि ज्ञानं, पटे रूपादिकं" यहां आत्मा में ज्ञान है, यहां वस्त्र में रूपादिक है, इत्यादि इह प्रत्यय विशेष प्रतीतिरूप ही है । भिन्न भिन्न विशेषण युक्त होना ही प्रतीति का विशिष्टपना कहलाता है । अनुगतप्रत्यय की प्रतीति होने से समवाय में एकत्व है ऐसा भी सिद्ध नहीं होता । गोत्व, घटत्व इत्यादि सामान्यों में और द्रव्यादि छहों पदार्थों में अनुगत के एकत्व का अभाव होने पर अनुगत

समवायस्यैकत्वं सिध्यति; गोत्वादिसामान्येषु षट्पदार्थेषु चानुगतस्यैकत्वस्याभावेप्यनुगतप्रत्ययप्रतीतेः।

'सत्तावत्' इति दृष्टान्तोपि साध्यसाधनविकलः; सर्वथैकत्वस्य सत्प्रत्ययाविशेषस्य चासिद्धत्वात्। सर्वथैकत्वे हि सत्तायाः 'पटः सन्' इति प्रत्ययोत्पत्तौ सर्वथा सत्तायाः प्रतीत्यनुषङ्गात् क्वचित् सत्तासंदेहो न स्यात्। तस्याः सर्वथा प्रतीतावपि तद्विशेष्यार्थानामप्रतीतेः क्वचित्सत्तासंदेहे पटविशेषणत्वम् तस्या अन्यदन्यदर्थान्तरविशेषणत्वम् इत्यायातमनेकरूपत्वं तस्याः।

प्रत्यय की प्रतीति होती है। अर्थात् घटों में घटत्वरूप होने वाला अनुगत प्रत्यय और गायों में गोत्वरूप होने वाला अनुगतप्रत्यय भिन्न भिन्न है, एकरूप नही तो भी अनुगत की इनमें प्रतीति होती है, इसीतरह समवाय अनुगत प्रत्यय कराता है तो भी अनेक है। इसप्रकार अनुगत प्रत्यय का कारण होने से समवाय एक पदार्थ है ऐसा कहना अशक्य है।

जिसतरह सत्ता एक होती है उसतरह समवाय की संख्या एक है, ऐसा दृष्टांत दिया था वह साध्य और साधन दोनों से विकल है, क्योंकि सत्ता और सत्प्रत्यय सर्वथा एकरूप हो ऐसा सिद्ध नहीं होता, यदि सत्ता सर्वथा एक है तो "पटः सन्" पट सत् है ऐसा प्रतिभास उत्पन्न होते ही सब प्रकार की सत्ता प्रतीति में आने से किसी स्थान पर भी सत्ता [अस्तित्व] का संशय नही रहेगा। [एक की सत्ता जानते ही सबकी सत्ता निश्चित होवेगी और फिर किसी पदार्थ के अस्तित्व में संशय नहीं रहेगा कि अमुक पदार्थ है या नहीं इत्यादि]।

वैशेषिक—सत्ता एक होने से एकत्र प्रतीत होने पर सब प्रकार की सत्ता तो प्रतीत हो जाती है किन्तु सत्ता के विशेष्यभूत पदार्थों के प्रतीत नहीं होने से कहीं पर सत्ता के विषय में संदेह हो जाया करता है?

जैन—ठीक है, इसतरह प्रतिपादन करे तो भी सत्ता या सत्ता के समान समवाय इन दोनों में अनेकपना ही सिद्ध होता है, "पटः सन्" वस्त्र सत् है इसप्रकार का सत्ता का जो पट संबंधी विशेषण है वह अन्य है और अन्य घट आदि पदार्थ संबंधी विशेषण हैं वे अन्य हैं इसतरह अनेक विशेषणों के निमित्त से उस सत्ता के अनेकपना ही सिद्ध होता है।

यदप्युक्तम्–समवायीनि द्रव्याणीत्यादिप्रत्ययो विशेषणपूर्वको विशेष्यप्रत्ययत्वादित्यादि; तदप्यनल्पतमोविलसितम्; हेतोर्विशेषणासिद्धत्वात्। तदसिद्धत्वं च समवायानुरागस्याप्रतीतेः। प्रतीतौ वानुमानानर्थक्यम्। को हि नाम समवायानुरक्तं द्रव्यादिकं मन्यमानः समवायं न मन्येत? तदनुरागाभावेपि तेनास्य विशेष्यत्वे खरशृङ्गेणापि तत्स्यादविशेषात्। ननु सम्बन्धानुरक्तं द्रव्यादिकं प्रतिभाति। सत्यं प्रतिभाति, समवाये तु किमायातम्? न च स एव स इति वाच्यम्; तादात्म्यादपि

समवाय सिद्धि में कहा था कि "समवायीनि द्रव्याणि" द्रव्य समवायी होते हैं इत्यादि प्रत्यय विशेषण पूर्वक होता है, क्योंकि विशेष्य प्रत्ययरूप है, इत्यादि वर्णन तो अज्ञान का विलास मात्र है। इस अनुमान का हेतु असिद्ध विशेषण वाला है, क्योंकि समवायरूप संबंध या अनुराग [उपाधि या विशेषण] की प्रतीति नहीं होती, अभिप्राय यह है कि "द्रव्य समवायी है" ऐसा द्रव्य का समवायीपना तब प्रतीत होता जब कि समवायरूप विशेषण सिद्ध होता, जैसे कि देवदत्त दण्डी या दण्डा वाला है ऐसा प्रत्यय दण्ड प्रतीत होने पर ही होता है, इसतरह द्रव्य समवायी–समवाय वाला है ऐसा प्रत्यय और कथन तभी शक्य होता जब समवाय का प्रतिभास होता। समवाय साक्षात् ज्ञान में प्रतीत होता है तो उसको सिद्ध करने वाला अनुमान व्यर्थ होगा। कौन ऐसा व्यक्ति है कि जो समवाय से युक्त द्रव्यादि को मानता हुआ समवाय को नहीं माने। अतः कहना होगा कि समवायरूप अनुराग की प्रतीति ही नहीं होती, अब यदि समवायरूप उपाधि के अभाव में भी उसे द्रव्यरूप विशेष्य का विशेषण बनायेंगे तो खर शृंग के साथ भी उसे जोड़ सकते हैं, कोई विशेषता नहीं क्योंकि जैसा खर शृंग अभावरूप है वैसे समवाय अभावरूप है।

वैशेषिक—संबंध से अनुरक्त अर्थात् सहित ही द्रव्यादि पदार्थ प्रतिभासित हुआ करते हैं।

जैन—सत्य है कि संबंध युक्त द्रव्यादि प्रतीत होते हैं किन्तु उससे समवाय में क्या आया! [समवाय कैसे सिद्ध हुआ]।

वैशेषिक—संबंध युक्त द्रव्य प्रतीत होते हैं उनमें जो संबंध है वही तो समवाय कहलाता है।

त्सम्भवात् संयोगवत् । तथाप्यत्रैवाग्रहे खरविषाणेप्याग्रहः किन्न स्यात् ? 'खरविषाणी पट इति प्रत्ययो विशेषणपूर्वको विशेष्यप्रत्ययत्वात्' इति । अत्राश्रयासिद्धतान्यत्रापि समाना । न खलु 'समवायी पटः' इति प्रत्ययः केनाप्यनुभूयते ।

अथाप्रतिपन्नसमयस्य संश्लेषमात्रं प्रतिपन्नसमयस्य तु 'समवायी' इति प्रतिभातीति चेत्; न; ज्ञानाद्वयादेः प्रसङ्गात् । शक्यते हि तत्राप्येवं वक्तुम्-अप्रतिपन्नसमयस्य वस्तुमात्रमभिधानयोजनारहितं प्रतिभाति, संकेतवशाच्चैतत्सर्वं ज्ञानाद्वयादि । स्वशास्त्रजनितसंस्कारवशाद्विज्ञानाद्वयादिप्रतिभासोऽप्र-

---

जैन—ऐसा नहीं कह सकते संबंध से अनुरक्त पदार्थ तो तादात्म्य के कारण भी प्रतीत हो सकते हैं, जिस तरह संयोग के कारण संबंध से अनुरक्त पदार्थ प्रतीत होते हैं। जब संबंध से युक्त पदार्थ का प्रतीत होना तादात्म्यादि के कारण भी सम्भव है तो इसी समवाय के लिये आग्रह क्यों किया जा रहा ? अन्यथा खर विषाण में भी आग्रह क्यों न किया जाय ? ऐसा कह सकते हैं कि—खर विषाणो [गधे के सींग युक्त] पट है "इसतरह का प्रत्यय विशेषणपूर्वक होता है, क्योंकि विशेष्य प्रत्ययरूप है इत्यादि। कोई कहे कि खर विषाणी पट है इत्यादि अनुमान का विशेष्य प्रत्ययत्वात् हेतु आश्रयासिद्ध है [इसका आश्रय खर विषाण नहीं है] सो यही बात समवाय में है, समवाय नामा पदार्थ भी गधे के सींग के समान असिद्ध है, "पट समवायी है" ऐसा प्रत्यय भी किसी भी पुरुष द्वारा अनुभव में नहीं आता। इसप्रकार समवाय किसी भी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता है।

वैशेषिक—जैन ने कहा कि "समवायी द्रव्य है" इसतरह का प्रतिभास किसी को नहीं होता, उसमें बात ऐसी है कि जिस पुरुष ने संकेत को नहीं जाना है उसे तो समवायी—समवाय युक्त द्रव्य में मात्र संबंध है, मिला हुआ पदार्थ है, इतना ही प्रतिभास होता है किन्तु जिस पुरुष ने संकेत समझा है उसे तो "समवायी द्रव्य है" ऐसा ही प्रतिभास होता है। अर्थ यह हुआ कि जिस पुरुष को समवाय और समवायी द्रव्य का विशेषण—विशेष्यभाव, एवं समवाय पदार्थ और समवाय शब्द इनका परस्पर का वाच्य—वाचक भाव समझाया है वह पुरुष द्रव्य को देखते ही समवायी है ऐसी प्रतीति कर लेता है, किन्तु इससे विपरीत जिसने इन वाच्य—वाचकादिका ज्ञान नहीं प्राप्त किया वह संश्लेषमात्र को प्रतीत करता है।

माणम्; इत्यन्यत्रापि समानम्। न हि तत्रापि स्वशास्त्रसंस्काराहते 'समवायी' इति ज्ञानमनुभवत्यन्यजनः। न चैतच्छास्त्रमप्रमाणमेतच्च प्रमाणमिति प्रेक्षावतां वक्तुं युक्तमविशेषात्।

समवाय इति प्रत्ययेनानैकान्तिकश्चायं हेतुः; स हि विशेष्यप्रत्ययो न च विशेषणमपेक्षते। अथात्र समवायिनो विशेषणम्। नन्वस्तु तेषां विशेषणत्वं यत्र 'समवायिनां समवायः' इति प्रतिभासते,

---

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, इसतरह संकेत को ग्रहण करने मात्र से तत्व-व्यवस्था करेंगे तो विज्ञानाद्वैत, ब्रह्माद्वैत आदि मत भी सत्य कहलायेंगे। कोई अद्वैत वादी कह सकता है कि जिसने संकेत को नहीं जाना उस पुरुष को शब्द की योजना से रहित वस्तुमात्र ही प्रतीत होती है, और जब संकेत हो जाता है तब यह विश्व मात्र विज्ञानरूप प्रतीत होता है।

वैशेषिक—"विज्ञान मात्र तत्व है" इत्यादि प्रतिभास विज्ञानाद्वैत वादी को होता है वह उनके अपने शास्त्र के संस्कार के कारण से होता है, अतः वह प्रतिभास प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

जैन—यही बात समवाय में घटित होगी, द्रव्य समवायी है, ऐसा जो प्रतिभास होता है वह आपको ही होता है और उसका कारण अपने शास्त्र का संस्कार मात्र है, अतः ऐसा प्रतिभास प्रमाणभूत नहीं हो सकता। आपको समवायी द्रव्य है ऐसी प्रतीति होती है वह स्वशास्त्र के संस्कार के बिना नहीं होती। आप यदि कहें कि हमारे शास्त्र तो प्रमाणभूत हैं अतः उनके संस्कार से होने वाला संकेत पूर्वक समवाय का प्रतिभास सत्य है। तो यह असत् है जब दोनों के शास्त्रों में समानता है तब बुद्धिमान जन ऐसा नहीं कह सकते कि यह शास्त्र प्रमाण है, और यह अप्रमाण है। वैशेषिक द्वारा प्रयुक्त विशेष्य प्रत्ययत्वात् हेतु 'समवाय है' इस प्रत्यय से अनैकान्तिक भी होता है। क्योंकि वह विशेष्य प्रत्यय विशेषण की अपेक्षा नहीं करता।

वैशेषिक—"समवाय है" इस प्रतिभास में तो समवायी द्रव्य विशेषण भाव को प्राप्त होते हैं।

जैन—यह तो ठीक है कि जहां "समवायी द्रव्यों का समवाय है" ऐसा प्रतिभास होता हो वहां समवायी द्रव्य विशेषणत्व को प्राप्त होते हैं, किन्तु जहां "समवाय है" ऐसा इतना मात्र प्रतिभास हो वहां क्या विशेषण होगा यह विचारिये।

यत्र तु 'समवाय:' इत्येतावाननुभवस्तत्र किं विशेषणमिति चिन्त्यताम् ? अथ विशेषणाभावान्नेदं विशेष्यज्ञानम्; तर्ह्यन्यस्य विशेष्यस्यात्रासंभवाद्विशेषणज्ञानमपि तन्मा भूत् । न चैतद्युक्तम् । कथं चैवं 'पट:' इति प्रत्ययो विशेष्य: स्यात् विशेषणाभावाविशेषात् ? अथात्र पटत्वं विशेषणम्, तर्हि 'समवाय:' इति प्रत्यये किं विशेषणम् ? न तावत्समवायत्वम्; अनभ्युपगमात् ।

अथ येन सता विशिष्ट: प्रत्ययो जायते तद्विशेषणम्, तत्र 'समवाय:' इति प्रत्ययोत्पादे समवायत्वसामान्यस्यानभ्युपगमात्, द्रव्यादेश्चाप्रतिभासनाददृष्टस्यैव विशेषणत्वमिति; तन्न; यत: किं येन सता

वैशेषिक—"समवाय है" इस तरह का जो ज्ञान होता है उसमें विशेषग का अभाव होने से यह विशेष्य ज्ञान नहीं है। अर्थात् 'समवाय है' इस ज्ञान मे विशेषण नहीं होने से विशेष्य प्रत्यय का अभाव है ऐसा मानना चाहिये।

जैन—तो फिर यहां समवायी प्रकरण में अन्य विशेष्य का अभाव होने से विशेषण ज्ञान भी मत होवे। अर्थात् विशेषण नहीं होने से विशेष्य ज्ञान का अभाव कर सकते हैं तो विशेष्य के नहीं होने से विशेषण [समवाय] के ज्ञान का भी अभाव कर सकते हैं। किन्तु यह अयुक्त है। विशेषण रहित विशेष्य और विशेष्य रहित विशेषण प्रतीत नही होता ऐसा भी नहीं कहना। यदि ऐसा मानें तो "पट है" इस प्रकार का विशेष्य प्रत्यय किसप्रकार हो सकेगा ? क्योंकि यहां पर भी समानरूप से विशेषण का अभाव है ?

वैशेषिक—"पट है" इसप्रकार के प्रतिभास में पटत्व को विशेषण मानते हैं।

जैन—तो फिर "समवाय है" इस प्रतिभास में किसको विशेषणपना माना जाय ? समवायत्व को मानना तो शक्य नहीं, क्योंकि आपने समवाय में समवायत्व नहीं माना है।

वैशेषिक—जिसके होने पर या जिसके द्वारा विशिष्ट प्रतिभास होता है वह विशेषण कहलाता है, अब जो "समवाय है" ऐसे प्रत्यय का उत्पाद होता है उसमें प्रथम तो बात यह है कि हम लोग समवाय में समवायत्व सामान्य को स्वीकार नहीं करते, तथा दूसरी बात यह है कि उपर्युक्त प्रत्यय में द्रव्यादिक तो प्रतीत होते नहीं, अत: इस प्रत्यय में अदृष्ट को ही विशेषणपना सिद्ध होता है। अर्थात् "समवाय है" इस प्रत्यय का विशेषण अदृष्ट है, ऐसा हमारा कहना है।

विशेष्यज्ञानमुत्पद्यते तद्विशेषणम्, किं वा यस्यानुरागः प्रतिभासते तदिति ? प्रथमपक्षे चक्षुरालोकादेरपि तदनिवार्यम् । अथ यस्यानुरागस्तद्विशेषणम्; न तर्हि 'दण्डी' इति प्रत्यये दण्डवद्दण्डशब्दोल्लेखेन 'समवायः' इति प्रत्ययेऽप्यदृष्टस्य तच्छब्दयोजनाद्वारेणानुरागं जनो मन्यते । तथाप्यदृष्टस्य विशेषणस्वकल्पनायाम् 'दण्डी' इत्यादिप्रत्ययेऽप्यस्यैव तत्कल्पनास्तु किं द्रव्यादेर्विशेषणभावकल्पनया ?

यच्चोक्तम्–स्वकारणसत्तासबन्ध एवात्मलाभ इत्यादि; तन्न; आत्मलाभस्य स्वकारणसत्तासमवायपर्यायतायां नित्यत्वप्रसङ्गात्, तन्नित्यत्वे च कार्यस्याविनाशित्वं स्यात् ।

जैन—इसतरह नहीं कह सकते, जिसके होने पर विशेष्य का ज्ञान उत्पन्न होता है उसको विशेषण कहते हैं, अथवा विशेष्य में जिसका अनुराग [संबंध] प्रतीत होता है उसे विशेषण कहते हैं ? प्रथम पक्ष कहो तो नेत्र, प्रकाशादि को भी विशेषणपना आयेगा । क्योंकि नेत्रादि के मौजूदगी से भी "यह विशेष्य है" ऐसा विशेष्य का ज्ञान होता है । जिसका अनुराग [संबंध] प्रतीत होता है वह विशेषण है, ऐसा द्वितीय पक्ष भी ठीक नही, कैसे सो ही बताते हैं-जिसप्रकार "दण्डावाला है" इस ज्ञान में दंड शब्द द्वारा उस दण्डवाले पुरुष का दण्ड के साथ होने वाले संबंध को सभी लोग मानते हैं, [अर्थात् देवदत्त दंडवाला है ऐसा दण्ड शब्द द्वारा उल्लेख करते हैं] उसप्रकार "समवाय है" इस प्रत्यय में अदृष्ट का "यह अदृष्ट युक्त है अथवा अदृष्ट विशेषण है" इत्यादि शब्द द्वारा उल्लेख करके उसके संबंध को नही जानते हैं अतः समवाय का विशेषण अदृष्ट है ऐसा कहना सिद्ध नहीं होता । इसप्रकार अदृष्ट समवाय का विशेषण नहीं होने पर भी उसमें विशेपणत्व की कल्पना करेंगे तो "दण्डो है" इत्यादि प्रत्यय में भो इसी अदृष्ट को विशेषण मानना होगा । दण्डा आदि पदार्थों में विशेषण भाव की कल्पना से क्या प्रयोजन ? अभिप्राय यही हुआ कि अदृष्ट को समवाय का विशेषण बताना कथमपि सिद्ध नहीं होता ।

स्वकारण सत्ता का संबंध होना ही वस्तु का आत्म लाभ या स्वरूप निष्पत्ति है इत्यादि पहले वैशेषिक ने प्रतिपादन किया था वह ठीक नहीं, क्योंकि वस्तु के स्वरूप निष्पत्ति को यदि स्वकारण सत्ता समवाय के पर्यायरूप मानेंगे तो वह नित्य बन जायगा, क्योंकि सत्ता और समवाय दोनों ही नित्य हैं । और यदि वस्तु की स्वरूपनिष्पत्ति नित्य हुई तो कार्य को अविनाशी मानना होगा । किन्तु किसी भी वादी प्रतिवादी ने कार्य

किञ्च, असौ सतां सत्तासमवायः, असतां वा स्यात्? न तावदसताम्; व्योमोत्पलादीनामपि तत्प्रसङ्गात्। अथात्यन्तासत्त्वात्तेषां न तत्प्रसङ्गः; गुणगुण्यादीनामत्यन्तासत्त्वाभावः कुतः? समवायाच्चेत्; इतरेतराश्रयः–सिद्धे हि समवाये तेषामत्यन्तासत्त्वाभावः; तदभावाच्च समवायः। नापि सताम्; समवायात्पूर्वं हि सत्त्वं तेषां समवायान्तरात्, स्वतो वा? समवायान्तराच्चेत्; न अस्यैकत्वाभ्युपगमात्। अनेकत्वेपि अतोपि पूर्व(र्वं)समवायन्तरात्तेषा सत्त्वमित्यनवस्था। स्वतः सत्त्वाभ्युपगमे

को विनाश रहित नहीं माना, सभी वादी प्रतिवादी कार्य को विनाशयुक्त मानते हैं, अतः स्वकारणसत्ता समवाय होना ही वस्तु का आत्म लाभ है ऐसा कहना अशक्य है।

दूसरी बात यह है कि–यह सत्ता समवाय असत् वस्तुओं में होता है या सत् वस्तुओं में होता है? असत् के तो हो नहीं सकता क्योंकि असत् में सत्ता समवाय हो सकता है तो आकाश पुष्प खरगोश के सींग आदि में भी सत्ता समवाय हो सकता है।

वैशेषिक—आकाश पुष्पादि में सत्ता का समवाय मानने का प्रसंग नहीं आयेगा, क्योंकि वे अत्यन्त असत् हैं।

जैन—गुण–गुणी आदि पदार्थ अत्यन्त असत् क्यों नहीं, उनमें अत्यन्त असत्व का अभाव किस कारण से माना जाय।

वैशेषिक—गुण गुणी आदि में समवाय रहता है, अतः उनका अत्यन्त असत्व नहीं होता।

जैन—इसतरह कहो तो इतरेतराश्रय दोष होगा पहले समवाय सिद्ध होवे तो उन गुण–गुणी आदि का अत्यन्त असत्व का अभाव सिद्ध होवे, और इस अभाव के सिद्ध होने पर उससे समवाय सिद्ध होवे, अर्थात् गुण गुणी का अत्यन्त असत्व क्यों नहीं तो उनमें समवाय है इसलिये नहीं, और गुण गुणी में समवाय संबंध क्यों होता है तो उनका अत्यन्त असत्व नहीं होने से होता है, इसप्रकार का परस्पराश्रित कथन अन्योन्याश्रय दोष युक्त होता है। सत् वस्तुओं में सत्ता का समवाय संबंध होता है ऐसा द्वितीय विकल्प भी ठीक नहीं, आगे इसी विषय को कहते हैं–सत् वस्तु में सत्ता का समवाय होता है तो समवाय होने के पहले उसमें सत् अन्य समवाय से आया कि स्वतः आया? अन्य समवाय से शक्य नहीं क्योंकि आपने समवाय नामा पदार्थ एक ही

तु समवायपरिकल्पनानर्थक्यम् । ननु न समवायात् पूर्वं तेषां सत्त्वमसत्त्वं वा, सत्तासमवायात्सत्त्वाभ्युपगमात्; इत्यप्यसङ्गतम्; परस्परव्यवच्छेदरूपाणामेकनिषेधस्यापरविधाननान्तरीयकत्वेनोभयनिषेधविरोधात् । न चानुपकारिणोः सत्तासमवाययोः परस्परसम्बन्धो युक्तोतिप्रसङ्गात् ।

अव्यापि चेदं सत्त्वलक्षणम् सत्तासमवायान्त्यविशेषेषु तस्या संभवात् । "त्रिषु पदार्थेषु सत्करी सत्ता" [ ] इत्यभिधानात् । अतिव्यापि चाकाशकुशेशयादिष्वपि भावात् । न च तेषाम-

---

माना है, यदि यहां पर उसे अनेकरूप मानो तो अनवस्था दूषण प्राप्त होगा, क्योंकि विवक्षित समवाय के पहले उस वस्तु का सत्व किससे हुआ अन्य समवाय से हुआ तो पुनः वह अन्य समवाय भी सत् वस्तु में हुआ कि असत् वस्तु में ? सत् में हुआ तो वह सत् किसी अन्य तीसरे समवाय से होगा, इत्यादिरूप से अनवस्था आती है । तथा यदि समवाय के पहले वस्तुओं में सत् स्वतः ही था ऐसा दूसरा विकल्प स्वीकार किया जाय तो समवाय नामा पदार्थ की कल्पना करना व्यर्थ ही ठहरता है ।

वैशेषिक—समवाय के पहले वस्तुओं में न सत्व था और न असत्व ही था, जब सत्ता का समवाय हुआ तब उनमें सत्व आया ऐसा हमने स्वीकार किया है ।

जैन—यह असंगत है जिन दो धर्मों का परस्पर में व्यवच्छेद है उन दो धर्मों में से एक का निषेध करने पर अन्य की विधि होने का नियम है अतः सत्व और असत्व दोनों का एक में एक साथ निषेध करना विरुद्ध है । स्वकारण सत्ता का समवाय होना स्वरूप निष्पत्ति है इत्यादि आपने कहा वह अयुक्त है, क्योंकि सत्ता और समवाय ये दोनों परस्पर में अनुपकारि हैं–अतः इनका आपसमें सम्बन्ध युक्त नहीं, अन्यथा अति प्रसंग होगा ।

सत्ता का समवाय होने के पूर्व पदार्थों का न सत्व है और न असत्व है इत्यादि सत्व का लक्षण अव्यापि है क्योंकि यह लक्षण सत्ता में, समवाय में और अन्त्य विशेष में नहीं पाया जाता, आपने इनको स्वरूप से हो सत्वरूप माना है । "त्रिषुपदार्थेषु सत्करी सत्ता" द्रव्य, गुण, कर्म इन तीन पदार्थों में सत्ता के समवाय से सत्व होता है । अर्थात् सत्ता, समवाय और अन्त्य विशेषों में स्वतः सत्व है और द्रव्य, गुण तथा कर्म में सत्ता समवाय से सत्व है ऐसी आपकी मान्यता है अतः सत्ता समवाय के पूर्व सब पदार्थों में न सत्व है न असत्व है ऐसा कहना अव्यापि है । तथा यह सत्व का लक्षण

सत्त्वात्र सत्तासमवाय:; अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्-असत्त्वे हि तेषां सत्तासमवायविरहः, तद्विरहाच्चा सत्त्वमिति । न च सत्तासमवाय: सत्त्वलक्षणं युक्तमर्थान्तरत्वात् । न ह्यर्थान्तरमर्थान्तरस्य स्वरूपम्; अतिप्रसङ्गादर्थान्तरत्वहानिप्रसङ्गाच्च ।

किञ्च, सत्तासमवायात्पदार्थानां सत्त्वे तयोः कुतः सत्त्वम् ? असत्संबन्धात्सत्त्वे अतिप्रसङ्गात् । सत्तासमवायान्तराच्चेत्; अनवस्था । स्वतश्चेत्; पदार्थानामपि तत्स्वत एवास्तु किं सत्तासमवायेन ?

यदप्यभिहितम्-अग्नेरुष्णतावदित्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; यतः प्रत्यक्षसिद्धे पदार्थस्वभावे स्वभावैरुत्तरं वक्तुं युक्तम् । न च 'समवायस्य स्वतः सम्बन्धत्वं संयोगादीनां तु तस्मात्' इत्यध्यक्ष-

---

अतिव्यापि दोष युक्त भी है, क्योंकि यह लक्षण आकाश पुष्पादि में भी पाया जाता है तुम कहो कि-आकाश पुष्पादि असत्वरूप है अतः उनमें सत्ता का समवाय नहीं होता, सो यह कथन अन्योन्याश्रय दोष युक्त है-आकाश पुष्पादिका असत्व होने से सत्ता समवाय नहीं होता और सत्ता समवाय नहीं होने से असत्व होता है इसतरह एक की भी सिद्धि नहीं होती । सत्ता का समवाय सत्व है ऐसा सत्व का लक्षण युक्त नहीं, क्योंकि यह पदार्थ से भिन्न है । अर्थान्तर अर्थान्तर का स्वरूप नहीं हो सकता, अन्यथा अतिप्रसंग होगा-घट का स्वरूप पट भी होवेगा । तथा अर्थान्तरत्वके हानि का प्रसंग भी होगा, [भिन्न अर्थ भिन्न अर्थ का स्वरूप है तो दोनों एक स्वरूप वाले बन जायेंगे और इसतरह भिन्न भिन्न अर्थों का अस्तित्व ही समाप्त होवेगा] ।

तथा यह प्रश्न होता है कि-द्रव्यादि पदार्थों का सत्व तो सत्ता समवाय से होता है किन्तु सत्ता में और समवाय में सत्व किससे होता है ? असत् सम्बन्ध से सत्व होना मानें तो अतिप्रसंग होगा, अर्थात् असत्‌रूप सत्ता सम्बन्ध से सत्ता में सत्व आता है तो आकाश पुष्पादि में भी सत्व आयेगा । अन्य किसी सत्ता समवाय से सत्तादि में सत्व आना माने तो अनवस्था है । सत्ता और समवाय में स्वतः सत्व है ऐसा कहो तो द्रव्य गुणादि पदार्थों में भी स्वतः सत्व होवे फिर सत्ता समवाय से क्या प्रयोजन है ?

समवाय की सिद्धि करते समय वैशेषिक ने कहा था कि अग्नि की उष्णता के समान समवाय सम्बन्ध होता है, इत्यादि यह अयुक्त है क्योंकि प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थ के स्वभाव में स्वभाव द्वारा उत्तर कहना युक्त है किन्तु समवाय में स्वतः सम्बन्धपना

प्रसिद्धम्, तत्स्वरूपस्याध्यक्षाद्यगोचरत्वप्रतिपादनात्। 'समवायोऽन्येन संबध्यमानो न स्वतः संबध्यते संबध्यमानत्वाद्रूपादिवत्' इत्यनुमानविरोधाच्च। यदि चाग्निप्रदीपगङ्गोदकादीनामुष्णप्रकाशपवित्रतावत्समवायः स्वपरयोः सम्बन्धहेतुः; तर्हि तद्दृष्टान्तावष्टम्भेनैव ज्ञानं स्वपरयोः प्रकाशहेतुः किन्न स्यात्? तथाच "ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं प्रमेयत्वात्" [ ] इति प्लवते।

यच्चोच्यते-'समवायः सम्बन्धान्तरं नापेक्षते, स्वतः सम्बन्धत्वात्, ये तु सम्बन्धान्तरमपेक्षन्ते

और संयोगादि में उस सम्बन्ध द्वारा संबंधपना होता हो ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध नही होता, क्योंकि आपके उस समवाय का स्वरूप प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा ग्रहण में नहीं आता ऐसा प्रतिपादन कर चुके हैं, तथा समवाय स्वतः संबंधरूप है ऐसा आपका कहना अनुमान से विरुद्ध भी है, समवाय अन्य संबंधी पदार्थ द्वारा संबद्ध होता हुआ स्वतः संबंध को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि यह संबध्यमानरूप है, जैसे रूपादिगुण संबध्यमान स्वरूप होने से स्वतः संबंध को प्राप्त नहीं होते। तथा आप वैशेषिक यदि अग्नि में उष्णता, दीपक में प्रकाश, गंगा जल में पवित्रता स्व और परके लिये हुआ करती है अर्थात्-अग्नि में स्वयं में उष्णता है और परको भी उष्ण करने में निमित्त है स्वतः को उष्ण करना और परको उष्ण करना उसका स्वयं का स्वभाव है, दीपक स्वयं को प्रकाश देता है और परको भी, गंगाजल स्वयं पवित्र है और परको भी पवित्र करता है। इसीप्रकार समवाय स्व और परके सम्बन्ध का कारण है ऐसा कहो तो इसी दृष्टांत के अवलंबन से ज्ञान में स्व पर प्रकाशकपना क्यों न माना जाय! और इसतरह ज्ञान का स्व परका प्रकाशकपना सिद्ध होने पर आपका सिद्धांत "ज्ञानं ज्ञानान्तर वेद्य प्रमेयत्वात्" यह खण्डित होता है। अभिप्राय यही है कि वैशेषिक यदि समवाय में सम्बन्धपना स्वतः मानते हैं, समवाय स्व और पर दोनों के सम्बन्ध का कारण है ऐसा इनको इष्ट है तो ज्ञान में भो स्व और परको प्रकाशित करने का स्वभाव है वह भी स्वयं को और परको जानता है ऐसा क्यों न इष्ट किया जाय? समवाय स्व परके सम्बन्ध का हेतु है तो ज्ञान भी स्व परके जानने का हेतु है ऐसा समान न्याय होवे फिर ज्ञान स्वयं को नहीं जानता उसको जानने के लिये दूसरे ज्ञान की आवश्यकता है इत्यादि कथन बाधित होता है।

वैशेषिक का आनुमानिक कथन है कि-समवाय अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि स्वतः ही सम्बन्धस्वरूप है, जो पदार्थ अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा रखते हैं

न ते स्वत: सम्बन्धा: यथा घटादय:, न चायं न स्वत: सम्बन्ध:, तस्मात्सम्बन्धान्तरं नापेक्षते इति; तदपि मनोरथमात्रम्; हेतोरसिद्धे:। न हि समवायस्य स्वरूपासिद्धौ स्वत: सम्बन्धत्वं तत्र सिध्यति। संयोगेनानेकान्ताच्च; स हि स्वत: सम्बन्ध: सम्बन्धान्तरं चापेक्षते। न हि स्वतोऽसम्बन्धस्वभावत्वे संयोगादे: परतस्तद्युक्तम्; अतिप्रसङ्गात्। घटादीनां च सम्बन्धित्वान्न परतोपि सम्बन्धत्वम्। इत्ययुक्तमुक्तम्–'न ते स्वत:सम्बन्धा:' इति। तन्नास्य स्वत: सम्बन्धो युक्त:।

परतश्चेत्किं संयोगात्, समवायान्तरात्, विशेषणभावात्, अदृष्टाद्वा? न तावत्संयोगात्; तस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रयत्वात्, समवायस्य चाद्रव्यत्वात्। नापि समवायान्तरात्; तस्यैकरूपतयाभ्युपगमात्, "तत्त्वं भावेन" व्याख्यातम् [वैशे० सू० ७।२।२८] इत्यभिधानात्।

वे स्वत: सम्बन्धस्वरूप नहीं हुआ करते, जैसे घट, गृह आदि पदार्थ सम्बन्धांतर की अपेक्षा रखने वाले होने से स्वत: सम्बन्धरूप नही हैं, समवाय स्वत: सम्बन्धरूप न हो सो बात नहीं अत: यह सम्बन्धान्तर की अपेक्षा नहीं रखता है। इत्यादि कहना मनोरथ मात्र है। इसमें स्वत: सम्बन्धत्वात् हेतु असिद्ध है, आगे यही बताते हैं–समवाय का स्वरूप जब तक सिद्ध नही होता तब तक उसमें स्वत: सम्बन्धपना सिद्ध नहीं होता है। अत: समवाय स्वत: सम्बन्धरूप है ऐसा कहना स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास दोष युक्त है। तथा स्वत: सम्बन्धत्व हेतु संयोग के साथ अनैकान्तिक भी होता है क्योंकि संयोग स्वत: सम्बन्धरूप भी है और सम्बन्धान्तर की अपेक्षा भी रखता है। संयोग आदि में स्वत: सम्बन्धपना न होकर परसे सम्बन्धपना आता है ऐसा आपका कहना है किन्तु यह युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि संयोगादि के स्वत: असम्बन्ध स्वभाव मानकर परसे सम्बन्धपना स्वीकार करना भी अतिप्रसङ्ग आने से युक्त नही है। तथा घटादि पदार्थ संबंधी रूप होने से उनके सम्बन्धपना भी अशक्य है। अत: वे पदार्थ स्वत: सम्बन्धरूप नहीं इत्यादि पूर्वोक्त कथन अयुक्त है। इसप्रकार समवाय का स्वत: संबंधपना असिद्ध हुआ।

समवाय मे सम्बन्धपना परसे होता है ऐसा पक्ष माना जाय तो प्रश्न होते हैं कि परसे सम्बन्धपना है तो संयोग से या समवायान्तर से, अथवा विशेषण भाव से, या कि अदृष्ट से सम्बन्धपना है? संयोग से समवाय में संबंधपना होना अशक्य है, क्योंकि संयोग गुणरूप होने से मात्र द्रव्य के आश्रय में रहता है और समवाय अद्रव्यरूप है। समवाय में संबंधपना अन्य समवाय से आता है ऐसा द्वितीय विकल्प भी गलत है,

नापि विशेषणभावात्; सम्बन्धान्तराभिसम्बद्धार्थेष्वेवास्य प्रवृत्तिप्रतीतेर्दण्डविशिष्टः पुरुष इत्यादिवत्, अन्यथा सर्वं सर्वस्य विशेषणं विशेष्यं च स्यात्। समवायादिसम्बन्धानर्थक्यं च, तदभावेपि गुणगुण्यादिभावोपपत्तेः। समवायस्य समवायिविशेषणतानुपपत्तिश्च, अत्यन्तमर्थान्तरत्वेनातद्धर्मत्वादाकाशवत्। न खलु 'संयुक्ताविमौ' इत्यत्र संयोगिधर्मतामन्तरेण संयोगस्य तद्विशेषणता दृष्टा। न च समवायसमवायिनां सम्बन्धान्तराभिसम्बद्धत्वम्; अनभ्युपगमात्।

किञ्च, विशेषणभावोप्येतेभ्योत्यन्तं भिन्नस्तत्रैव कुतो नियाम्येत ? समवायाच्चेत्; इतरेतरा-

---

क्योंकि आपके सिद्धांत में समवाय एक ही माना है। "तत्वं भावेन व्याख्यातं" भाव या सत्तारूप पदार्थ एक ही होता है ऐसी आपकी मान्यता है।

विशेषण भाव से समवाय में सम्बन्धपना होता है ऐसा तीसरा विकल्प भी असत् है, विशेषण भाव की प्रवृत्ति तो सम्बन्धान्तर से अभिसंबद्ध हुए पदार्थों में ही हुआ करती है, अर्थात् जिसमें पहले से ही संयोगादि कोई संबंध है ऐसे पदार्थों का ही विशेषणभाव देखा जाता है, जैसे "दण्ड विशिष्ट पुरुष है" इत्यादि कथन में दण्ड और पुरुष संयोग युक्त होने पर दण्ड पुरुष का विशेषण बनता है, संयोग के बिना विशेषणभाव माना जाय तो सभी पदार्थों के सभी विशेषण और विशेष्य बन जायेंगे। तथा बिना संयोगादि के विशेषण–विशेष्यभाव हो सकता है तो समवायादि संबंध मानना व्यर्थ ही है। उसके अभाव में भी गुण–गुणी, अवयव–अवयवी इत्यादि भाव बन सकते हैं। समवाय के समवायीका विशेषणपना भी नहीं हो सकता, क्योंकि अत्यन्त भिन्न होने से अतद्धर्मस्वरूप है। अर्थात् समवाय विशेषण है और समवायी विशेष्य है ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि ये सर्वथा भिन्न है। जैसे आकाश अत्यन्त भिन्न होने के कारण विशेषण नही बनता। ये दो पदार्थ संयुक्त हैं–परस्पर में मिले हैं इसतरह का जो विशेषणपना देखा जाता है वह संयोग के संयोगी द्रव्य का धर्मपना प्राप्त हुए बिना नहीं हो सकता। तथा समवाय और समवायी के संबंधान्तर से अभिसम्बन्धपना होना आपने स्वीकार नहीं किया अत. वे सम्बन्धान्तर से अभिसम्बद्ध हुए हैं ऐसा कहना अशक्य है।

तथा समवाय का विशेषण भाव जब इन समवायी द्रव्यों से अत्यंत भिन्न है तब समवायो द्रव्यों में ही समवाय का विशेषण भाव रहता है ऐसा नियम किस

श्रयः–समवायस्य नियमसिद्धौ हि ततो विशेषणभावस्य नियमसिद्धिः, तत्सिद्धेश्च समवायस्य तत्सिद्धिरिति ।

किञ्च, अयं विशेषणभावः षट्पदार्थेभ्यो भिन्नः, अभिन्नो वा ? भिन्नश्चेत्; किं भावरूपः, अभावरूपो वा ? न तावद्भावरूपः; 'षडेव पदार्थाः' इति नियमविरोधात् । नाप्यभावरूपः; अनभ्युपगमात् । अभेदेपि न तावद्द्रव्यम्; गुणाश्रितत्वाभावप्रसङ्गात् । अत एव न गुणोपि । नापि कर्म; कर्माश्रितत्वाभावानुषङ्गात् । "अकर्म कर्म" [ ] इत्यभिधानात् । नापि सामान्यम्;

तरह कर सकते हैं ? समवाय से नियम बन जायगा ऐसा कहो तो अन्योन्याश्रय होगा–समवाय का नियम सिद्ध होवे तो उससे विशेषण भाव का नियम सिद्ध होवे, और विशेषण भाव जब सिद्ध होवे तब समवाय का नियम सिद्ध होवे कि इसी समवायी में समवाय है । इस तरह दोनों असिद्ध होते है ।

दूसरी बात यह है कि आप वैशेषिक के छहों पदार्थों से (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय) यह विशेषण भाव भिन्न है या अभिन्न है ? भिन्न है तो भाव रूप है अथवा अभावरूप है ? भावरूप भिन्न विशेषण भाव हो नहीं सकता, क्योंकि इसतरह विशेषण भाव को पृथक् सद्भावरूप पदार्थ मानेंगे तो छह पदार्थों के नियम में विरोध आता है । विशेषण भाव अभावरूप है ऐसा कहना भी अशक्य है क्योंकि आपने विशेषण भाव को अभावरूप नही माना । अब दूसरे विकल्प पर सोचे कि छह पदार्थों से विशेषण भाव अभिन्न है, सो इसका अर्थ तो यही होगा कि छहों पदार्थों में से कोई एक पदार्थ विशेषण भावरूप है ? अब यदि द्रव्य को विशेषण भावरूप माना जाय तो ठीक नहीं रहता, क्योंकि द्रव्य विशेषण भावरूप बन जाने से उसमे गुण का आश्रयपना नही रहेगा, जो द्रव्य होता है वही गुण का आश्रयभूत होता है, और द्रव्य तो विशेषण भाव बन चुका है, गुण विशेषण रूप है, ऐसे पक्ष में भी वही पूर्वोक्त दोष [गुणों के आश्रितपने का अभाव] आता है, क्योंकि गुण विशेषण भाव को प्राप्त हुआ है उसमें आश्रितपने का अभाव ही रहेगा । कर्म विशेषण भाव रूप है ऐसा मानना भी अशक्य है, क्योंकि कर्म यदि विशेषण भाव बना तो उसमें कर्म के आश्रितत्त्व का अभाव होगा । कर्म स्वयं अकर्म रूप होता है ऐसा वचन है । सामान्य नाम का पदार्थ विशेषण भाव को प्राप्त होता है ऐसा कहना भी असंभव है, क्योंकि सामान्य से विशेषण भाव अभिन्न है तो समवाय में विशेषण भाव का अभाव होगा

समवाये तदनुपपत्तेः, पदार्थत्रयवृत्तित्वात्तस्य । नापि विशेषः; विशेषाणां नित्यद्रव्याश्रितत्वात् । अनित्यद्रव्ये चास्योपलम्भात् समवाये चाभावानुषङ्गात् । नापिसमवाय: युगपदनेकसमवायिविशेषणत्वे चास्यानेकत्वप्राप्तिः । यदिह युगपदनेकार्थविशेषणं तदनेकं प्रतिपन्नम् यथा दण्डकुण्डलादि, तथा च समवाय:, तस्मादनेक इति । न च सत्त्वादिनाऽनेकान्तः; तस्यानेकस्वभावत्वप्रसाधनात् । तन्न विशेषणभावेनाप्यसौ सम्बद्धः ।

नाप्यऽदृष्टेन; अस्य सम्बन्धरूपत्वासम्भवात् । सम्बन्धो हि द्विष्ठो भवताभ्युपगतः, अदृष्टश्चा-

---

[समवाय किसी का विशेषण नहीं बन सकेगा] इसका कारण भी यह है कि सामान्य तीन पदार्थों में–द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है समवाय आदि में नहीं रहता ऐसा आपका सिद्धांत है । विशेष पदार्थ विशेषण भाव रूप होता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, इसका कारण यह है कि विशेष नामा पदार्थ केवल नित्य द्रव्यों के आश्रित रहते हैं ऐसा आपने माना है । और यह विशेषण भाव तो अनित्य द्रव्य में उपलब्ध होता है ।

तथा विशेषण भाव यदि विशेष पदार्थ रूप है तो समवाय में विशेष भाव का अभाव ठहरेगा । विशेषण भाव समवाय रूप है ऐसा कहना भी ठीक नही, क्योंकि एक साथ अनेक समवायी द्रव्यों में विशेषण भाव देखे जाते हैं अतः समवाय द्वारा युगपत् अनेक द्रव्यों में विशेषण भाव स्वीकार करने पर समवाय के अनेकपना प्राप्त होगा । अनुमान प्रसिद्ध बात है कि–जो एक साथ अनेक पदार्थों का विशेषण होता है वह अनेक सख्यारूप ही होता है, जैसे दण्ड, कुण्डल इत्यादि विशेषण एक साथ अनेक देवदत्तादि पुरुषों के विशेषण बनते हैं अतः वे अनेक हुआ करते हैं, समवाय भी युगपत् अनेकों का विशेषण है अतः अनेक है । यह कथन सत्त्व आदि के साथ व्यभिचरित भी नही होता अर्थात् सत्त्व एक रूप होकर भी अनेकों का विशेषण बनता है अतः जो अनेकों का विशेषण है वह अनेक ही है ऐसा हेतु अनैकांतिक होगा ऐसा वैशेषिक कहे तो वह भी ठीक नही क्योंकि हम जैन ने सत्त्वादि को भी अनेक स्वभाव रूप माना है एवं सिद्ध किया है [सामान्य विचार प्रकरण में] इसप्रकार विशेषण भाव से समवाय का स्वसमवायी में संबंध होता है ऐसा तीसरा पक्ष सिद्ध नही होता ।

चौथा विकल्प अदृष्ट का है—अदृष्ट द्वारा समवाय का स्वसमवायी में संबंध होता है ऐसा कहना भी असिद्ध है, क्योंकि अदृष्ट संबंध रूप नहीं है । अब यही बताते

त्मवृत्तितया समवायसमवायिनोरतिष्ठन् कथं द्विष्ठो भवेत् ? षोढा सम्बन्धवादित्वव्याघातश्च । यदि चाऽदृष्टेन समवायः सम्बध्यते; तर्हि गुणगुण्यादयोप्यत एव सम्बद्धा भविष्यन्तीत्यलं समवायादिकल्पनया । न चादृष्टोप्यसम्बद्धः समवायसम्बन्धहेतुः अतिप्रसङ्गात् । सम्बद्धश्चेत्; कुतोस्य सम्बन्धः ? समवायाच्चेत्; अन्योन्याश्रयः । अन्यतश्चेत्; अभ्युपगमव्याघातः । तन्न सम्बद्धः समवायः ।

नाप्यसम्बद्धः; 'षण्णामाश्रितत्वम्' इति विरोधानुषंगात् । कथं चासम्बद्धस्य सम्बन्धरूपतार्थान्तरवत् ? सम्बन्धबुद्धिहेतुत्वाच्चेत्; महेश्वरादेरपि तत्प्रसंगः । कथं चासम्बद्धोसौ समवायिनोः

हैं–संबंध द्विष्ठ–दो में रहने वाला होता है ऐसा आपका सिद्धान्त है और अदृष्ट तो मात्र आत्मा में रहता है, वह समवाय और समवायी में नहीं रहता फिर द्विष्ठ किस प्रकार कहलायेगा अर्थात् नहीं कहला सकता तथा आपके यहां संबंध छः प्रकार का ही माना है, उन समवाय, संयोग इत्यादि छहों संबंधों में अदृष्ट नामा कोई भी संबंध नहीं है । अतः अदृष्ट नाम का संबंध मानेंगे तो संबंध के छह सख्या का व्याघात होगा । दूसरी बात यह है कि यदि अदृष्ट द्वारा समवाय समवायी में संबंध को प्राप्त होता है तो गुण गुणी आदि भी अदृष्ट द्वारा संबद्ध होवेंगे । फिर तो समवाय आदि संबंधों की कल्पना करना निष्प्रयोजन है तथा अदृष्ट भी स्वयं असंबद्ध रहकर समवाय के संबंध का हेतु नहीं हो सकता, अन्यथा अतिप्रसंग आता है । यदि अदृष्ट संबद्ध होकर समवाय के संबंध का हेतु है ऐसा माने तो इस अदृष्ट का किससे संबंध हुआ अर्थात् अदृष्ट संबद्ध है तो किस संबंध से संबद्ध हुआ है ? समवाय से संबद्ध है ऐसा कहे तो अन्योन्याश्रय दोष आता है–समवाय के सिद्ध होने पर समवाय द्वारा अदृष्ट का संबंधपना सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर संबद्ध अदृष्ट का समवाय हेतुत्व सिद्ध होगा । अदृष्ट जो समवाय से संबद्ध हुआ है वह किसी अन्य संबंध से हुआ है ऐसा कहने पर तो तुम्हारी स्वतः की मान्यता में बाधा आती है, क्योंकि तुम्हारा सिद्धांत है कि समवाय किसी के द्वारा संबद्ध नहीं होता वह स्वतः ही संबद्ध होता है । इसप्रकार समवायी में समवाय पर से संबद्ध होता है ऐसा कहना खण्डित होता है ।

समवायी में समवाय असंबद्ध है, संबद्ध नहीं ऐसा कहना भी दोष युक्त है, "षण्णा माश्रितत्वम्" द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये छहों पदार्थ आश्रित रहते हैं–संबद्ध रहते हैं ऐसा आपके प्रशस्त पाद भाष्य नामा ग्रन्थ में लिखा है उसमें बाधा आयेगी । तथा यह भी बात है कि यदि समवाय समवायी से असंबद्ध है तो उसको

सम्बन्धबुद्धिनिबन्धनम् ? न ह्यंगुल्योः संयोगो घटपटयोरप्रवर्त्तमानस्तयोः सम्बन्धबुद्धिनिबन्धनं दृष्टः। तथा, 'इहात्मनि ज्ञानमित्यादिसम्बन्धबुद्धिर्न सम्बन्ध्यऽसम्बद्धसम्बन्धपूर्विका सम्बन्धबुद्धित्वात् दण्डपुरुषसम्बन्धबुद्धिवत्' इत्यनुमानविरोधश्च।

किञ्च, अयं समवायः समवायिनोः परिकल्प्यते, असमवायिनोर्वा? यद्यसमवायिनोः; घट-

---

संबंधरूप कैसे मान सकते हैं? वह तो भिन्न पदार्थ के समान असंबंध रूप ही कहलायेगा।

वैशेषिक—समवाय संबंध के ज्ञान का हेतु है अतः उसे संबंधरूप मानते हैं!

जैन—इसतरह मानेंगे तो महेश्वर आदि को भी संबंध रूप मानना पड़ेगा। क्योंकि सबंध ज्ञान के हेतु महेश्वरादि भी माने गये हैं। दूसरी बात यह है कि–जब समवाय असंबद्ध है तब "दो समवायी द्रव्यों का संबंध है" इसतरह संबंध का ज्ञान किसप्रकार करा सकता है? सम्बन्ध जिसमें स्वयं सम्बद्ध नहीं हुआ है वह उसके सम्बन्ध का ज्ञान नहीं करा सकता, दो अंगुली का संयोग घट और पट में नहीं रहता हुआ उनमें सम्बन्ध ज्ञान को कराने में हेतु नहीं होता। कहने का अभिप्राय यह है कि-हमारे हाथ की दो अंगुलियां परस्पर में मिलने पर इनका संयोग है ऐसा ज्ञान उन अगुलियो में तो होता है किन्तु जो अन्य घट और पट हैं जिनमें उक्त अगुलि संयोग नहीं है वह उन घटादि में ये परस्पर सम्बद्ध हैं, "इन दोनों का संयोग है" इस तरह का सम्बन्ध ज्ञान नही करा सकते, इसीप्रकार समवायी द्रव्यो में सम्बद्ध नहीं हुआ समवाय "ये समवायी द्रव्य हैं" ऐसा सम्बन्ध ज्ञान उन समवायी द्रव्यों में नहीं करा सकता। असंबद्ध समवाय से सम्बन्ध का ज्ञान होता है ऐसा मानना अनुमान प्रमाण से बाधित भी होता है, अब उसी अनुमान को बताते हैं–"यहां आत्मा में ज्ञान है" इस प्रकार की सम्बन्ध बुद्धि सम्बन्धी द्रव्य में असम्बद्ध सम्बन्ध के हेतु से नहीं हुआ करती, क्योकि वह सम्बन्ध बुद्धि स्वरूप है, जिस तरह दण्ड और पुरुष में होने वाली सम्बन्ध बुद्धि सम्बन्धी में असम्बद्ध सम्बन्ध द्वारा नही होती, इस अनुमान से यह सिद्ध होता है कि सम्बन्ध का ज्ञान कराने के लिये समवाय को समवायी में सम्बद्ध होना पड़ेगा, अन्यथा वह सम्बन्ध ज्ञान का हेतु नहीं बन सकता।

तथा यह समवाय नामका पदार्थ दो समवायी द्रव्यों में कल्पित किया जाता है या असमवायी द्रव्यों में कल्पित किया जाता है? असमवायी द्रव्यों में कहो तो घट

पटयोरप्येतत्प्रसंगः । अथ समवायिनोः; कुतस्तयोः समवायित्वम्–समवायात्, स्वतो वा ? समवायाच्चेत्; अन्योन्याश्रयः–सिद्धे हि समवायित्वे तयोः समवायः, तस्माच्च तत्त्वमिति । स्वतः समवायित्वे किं समवाय परिकल्पनया ।

किञ्च, अभिन्नं तेनानयोः समवायित्वं विधीयते, भिन्नं वा ? न तावदभिन्नम्; तद्विधाने गगनादीनां विधानानुषंगात् । भिन्नं चेत्; तयोस्तत्सम्बन्धित्वानुपपत्तिः । सम्बन्धान्तरकल्पने चान-

---

पट में भी मानना पड़ेगा ! क्योंकि असमवायी में समवाय वृत्ति है और घट पट असमवायी है । दूसरा पक्ष समवायी द्रव्यों में समवाय परिकल्पित किया जाता है ऐसा कहो तो पुनः प्रश्न है कि–उन समवायी द्रव्यों में समवायीपना किससे आया है ? समवाय से कि स्वतः ? समवाय से कहो तो अन्योन्याश्रय होगा–समवायो द्रव्यों का समवायीपना सिद्ध होने पर उनमें समवाय की कल्पना होगी, और समवाय के परिकल्पित होने पर उससे समवायी द्रव्यों का समवायित्व सिद्ध हो सकेगा । समवायी में समवायीपना स्वतः ही होता है ऐसा दूसरा विकल्प कहो तो समवाय पदार्थ को मानना व्यर्थ है ? क्योंकि समवायी मे समवायीपना स्वतः रहता है ।

किञ्च, समवायी द्रव्यों में समवाय द्वारा समवायीपना किया जाता है ऐसा आपका मत है तो वह समवायीपन समवायी द्रव्यों से भिन्न है या अभिन्न ? अभिन्न कहना तो उचित नहीं, क्योंकि समवायी द्रव्यों का समवाय द्वारा किया जाने वाला समवायीपना उन द्रव्यों से अभिन्न है तो इसका अर्थ समवाय ने समवायित्व के साथ साथ समवायी द्रव्यों को भी किया है । जैसे आकाश और शब्द ये समवायी हैं इनके अभिन्न समवायीपने को समवाय ने किया तो इसका अर्थ समवाय ने आकाश एवं शब्द को किया ? इसतरह विपरीत सिद्धांत का प्रसंग प्राप्त होता है–आकाशादि द्रव्यों को कोई भी नहीं करता वे नित्य पदार्थ हैं, ऐसा सभी मानते हैं, अतः समवायी का अभिन्न समवायीपना समवाय द्वारा किया जाता है ऐसा कहना असम्भव है । समवाय द्वारा समवायी द्रव्यों का किया जाने वाला समवायीत्व उन द्रव्यों से भिन्न रहता है ऐसा दूसरा पक्ष भी गलत है, इस पक्ष में उन समवायी द्रव्यों का समवायीपना भिन्न रहने से सबंध नहीं बनेगा–"यह समवायीत्व इन दो द्रव्यों का है" ऐसा नहीं कह सकते और न उस भिन्न समवायीत्व से वे द्रव्य समवायवान बन सकते हैं । समवाय द्वारा किया

वस्था । तत एव तन्नियमे चेतरेतराश्रयः-सिद्धे हि समवायिनोः समवायित्वनियमे समवायनियमसिद्धिः, ततश्च तन्नियमसिद्धिरिति । स्वत एव तु समवायिनोः समवायित्वे किं समवायेन ?

ननु संयोगेप्येतत्सर्वं समानम्; इत्यप्यवाच्यम्; संश्लिष्टतयोत्पन्नवस्तुस्वरूपव्यतिरेकेणास्याप्यसम्भवात् । भिन्नसंयोगवशात्तु संयोगिनोर्नियमे समानमेवैतत् ।

यच्चान्यदुक्तम्-संयोगिद्रव्यविलक्षणत्वाद्गुणत्वादीनामित्यादि; तदप्यनुक्तसमम्; यतो निष्क्रि-

---

गया समवायी का समवायित्व किसी अन्य सम्बन्ध से समवायी में सम्बद्ध किया जाता है ऐसा माने तो अनवस्था आती है । [अर्थात् दूसरा सम्बन्ध भी सम्बन्धी द्रव्यों से भिन्न है कि अभिन्न है, भिन्न रहकर तो समवायित्व को जोड़ नहीं सकता इत्यादि पूर्वोक्त दोष आते हैं और संबंध के लिये सम्बन्ध, पुनः सम्बन्ध के लिये सम्बन्ध इस तरह अनवस्था बढ़ती जाती है] यदि कहा जाय कि–समवाय के द्वारा ही समवायी द्रव्यों में समवायीपने का संबंधित होने का नियम है, तो इतरेतराश्रय दोष होगा–पहले समवायी द्रव्यों के समवायीपने का नियम सिद्ध होवे तो समवाय का नियम सिद्ध होगा और उसका नियम सिद्ध होवे तो समवायी के समवायित्व का नियम सिद्ध होगा । यदि कहो कि समवायी का समवायीपना तो स्वतः सिद्ध है, तो समवाय नामा पदार्थ मानना ही व्यर्थ है ।

शंका—इसतरह समवाय को दूषित ठहरायेंगे तो संयोग भी दूषित होगा अर्थात् उसकी भी सिद्धि नहीं हो सकेगी ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, संश्लेषरूप से उत्पन्न हुए वस्तु स्वरूप को छोड़ कर अन्य कोई संयोग नहीं है । जो परवादी संयोग को भिन्न मानकर उसके द्वारा संयोगी पदार्थों में संयोगपना मानते हैं उनके मत में समवाय के समान अनवस्था आदि दोष अवश्य आते हैं ।

समवाय के विषय में शंका समाधान करते हुए वैशेषिक ने प्रतिपादन किया था कि संयोगी द्रव्य से विलक्षण ही गुण हुआ करते हैं, वे गुण यद्यपि निष्क्रिय हैं तो भी संयोगी द्रव्य के सक्रियवान् होने से आधेयभाव बन जाता है यह प्रतिपादन असत्

यत्त्वेप्येषामाधेयत्वमल्पपरिमाणत्वात्, तत्कार्यत्वात् तथाप्रतिभासाद्वा ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; सामान्यस्य महापरिमाणगुणस्य चानाधेयत्वप्रसंगात् । द्वितीयपक्षोप्यत एवायुक्तः ।

तृतीयपक्षोप्यविचारितरमणीयः; तेषामाधेयतया प्रतिभासाभावात् । तदभावश्च रूपादीनां स्वाधारेष्वन्तर्बहिश्च सत्त्वात् । न ह्यन्यत्र कुण्डाद्यावधिकरणे बदरादीनामाधेयानां तथा सत्त्वमस्ति । अथ रूपादीनामाधेयत्वे सत्यपि युतसिद्धेरभावादुपरितनतया प्रतिभासाभावः; न; युतसिद्धत्वस्योपरितनत्वप्रतीत्यहेतुत्वात्, अन्यथोर्ध्वावस्थितवंशादेः क्षीरनीरयोश्च सम्बन्धे तत्प्रसङ्गात् । ततः परपरि-

---

है। आपने निष्क्रिय होते हुए भी गुणों में आधेयभाव माना है वह अल्प परिमाण [माप]पना होने से, या उन गुणी द्रव्य का कार्य होने से अथवा वैसा–आधेयरूप से प्रतिभास होने से। प्रथम पक्ष–संयोगी द्रव्य से गुण अल्प परिमाणरूप हैं अतः गुणों में आधेयपना है, अयुक्त होगा, क्योंकि सामान्य तथा महापरिमाण नामा गुण को अनाधेय मानना पड़ेगा। क्योंकि इनमें अल्प परिमाणत्व नहीं है। गुण संयोगी द्रव्य का कार्य है अतः इसमें आधेयत्व होता है, ऐसा दूसरा पक्ष भी इसीलिये गलत होता है, अर्थात् जो द्रव्य का कार्य हो उसी में आधेयपना होता है ऐसा कहेंगे तो महापरिमाण गुण में आधेयपना घटित नहीं होता, क्योंकि महापरिमाण किसी द्रव्य का कार्य नहीं है।

तीसरा पक्ष–गुणों में आधेयपना प्रतीत होता है अतः माना है ऐसा कहना भी अविचारित रमणीय है, क्योंकि गुण आधेयरूप प्रतिभासित होते ही नहीं, उस तरह से प्रतिभासित नहीं होने का कारण भी यह है कि–रूप रसादि गुण अपने आधारभूत घट पट आदि पदार्थों में अंतरंग और बहिरंग दोनों तरह से रहते हैं, आधेयत्व ऐसा नहीं है वह तो मात्र बहिरंग से रहता है। कुण्ड आदि अधिकरणभूत अर्थ में आधेयरूप बेर आंवला आदि का अंतरंग–बहिरंग प्रकार से सत्व नहीं रहता।

वैशेषिक—रूप रस इत्यादि गुण यद्यपि आधेयरूप हैं तो भी वे युत सिद्ध [पृथक् पृथक् सिद्ध] नहीं हैं अतः उनका ऊपरपने से [बाहर से] प्रतिभास नहीं होता ?

जैन—यह नहीं कहना, ऊपरपने से प्रतीति होने का कारण युतसिद्धत्व है ऐसा कहना अयुक्त है, अर्थात् जिनमें युतसिद्धत्व हो उसमें उपरितनरूप से प्रतीति होती है और जिनमें युत सिद्धत्व [युत–पृथक् पृथक् रूप से सिद्धयुत सिद्धत्व है–पृथक्

कल्पितपदार्थानां विचार्यमाणानां स्वरूपाव्यवस्थितेः कथं 'षडेव पदार्थाः' इत्यवधारणं घटते स्वरूपासिद्धौ संख्यासिद्धेरभावात् ?

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छल [जाति]निग्रहस्थानानां नैयायिकाभ्युपगतषोडशपदार्थानां षट्पदार्थाधिकयेन व्यवस्थानाच्च । न च

पृथक् दो वस्तुओं का अवस्थान] नहीं रहता उनमें उपरितनरूप से प्रतीति नही होती ऐसा कहना असत् है, क्योंकि इस तरह युत सिद्धत्व को उपरितन प्रतीति का कारण माने तो ऊर्ध्वस्थित बांसादि में–खड़े रखे हुए बांस, लकड़ी आदि पदार्थ में युत सिद्धत्व मानना होगा क्योंकि उसमें उपरितनरूप से प्रतीति हो रही है, तथा दूध और पानी का संबंध होने पर उपरितन प्रतीति होनी चाहिये ? क्योंकि इन दूध पानी का युतसिद्ध संबंध है ? किन्तु ऐसा प्रतिभास नहीं होता, अतः उपरितन प्रतीति का कारण युतसिद्धत्व है ऐसा कहना अयुक्त है । इसप्रकार परवादी–वैशेषिक द्वारा परिकल्पित किये गये पदार्थों के विषय में विचार करने पर उनका स्वरूप सिद्ध नहीं होता है, फिर किस प्रकार छह ही पदार्थ होते हैं ऐसा नियम सिद्ध हो सकता है ? जिनका स्वरूप ही असिद्ध है उनकी गणना असिद्ध होना स्वाभाविक है ।

नैयायिक छह पदार्थों से भी अधिक पदार्थ मानते हैं, उनके मत में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह स्थान, इसप्रकार सोलह पदार्थ स्वीकार किये हैं । इन सोलह पदार्थों को द्रव्यादि छह पदार्थों में अंतर्भूत कर लेने पर छह से अधिक संख्या सिद्ध नहीं होती ऐसा वैशेषिक का कहना भी असत् है । यदि नैयायिक के सोलह पदार्थों को अपने द्रव्यादि छह पदार्थों में अन्तर्भूत कर सकते हैं, तो, उनके संक्षिप्तरूप से माने गये प्रमाण और प्रमेय इन दो पदार्थों में द्रव्यादि छह पदार्थों को भी अन्तर्भूत कर सकते हैं । अतः पदार्थों की छह संख्या भी सिद्ध नहीं होती ।

वैशेषिक—प्रमाण और प्रमेय में छह पदार्थों का अन्तर्भाव हो सकता है किंतु अवान्तर भिन्न भिन्न लक्षण होने के कारण एवं प्रयोजन होने के कारण द्रव्यादि छह पदार्थ ही व्यवस्थित किये जाते हैं ?

पदार्थषोडशकस्य षट्स्वेवान्तर्भावान्नातोधिकपदार्थव्यवस्थेत्यभिधातव्यम्; द्रव्यादीनामपि षण्णां प्रमाणप्रमेयरूपपदार्थद्वयेऽन्तर्भावात्पदार्थषट्कस्याप्यनुपपत्तेः। अथ तदन्तर्भावेप्यवान्तरविभिन्नलक्षण-

जैन—तो फिर इसी अवांतर विभिन्न लक्षण के कारण तथा प्रयोजन के कारण प्रमाण आदि सोलह पदार्थों को व्यवस्थित किया जाय दोनों जगह कोई विशेषता नहीं है। अर्थात् विभिन्न लक्षण आदि कारण से पदार्थों की छह संख्या तो व्यवस्थित हो सके और इन्हीं विभिन्न लक्षणादि कारण से पदार्थों की सोलह संख्या व्यवस्थित नहीं हो सके ऐसी विशेषता देखने में नहीं आती, किंतु नैयायिक की पदार्थ संख्या भी वैशेषिक के समान सिद्ध नहीं हो पाती, नैयायिक ने जिस तरह का प्रमाण प्रमेय आदि का स्वरूप प्रतिपादन किया है वह यथास्थान निषिद्ध हो चुका है [आगे जय पराजय नामा प्रकरण भी इन सोलह पदार्थों में से किसी किसी का प्रतिषेध किया जायगा] नैयायिक ने पदार्थो की संख्या सोलह मानी है किन्तु उनमें भी संपूर्ण पदार्थ नहीं आते क्योंकि इन प्रमाण आदि सोलह पदार्थों से अन्य विपर्यय तथा अनध्यवसाय पदार्थ शेष रह जाते हैं। अंत में यह निश्चय हुआ कि वैशेषिक के अभिमत द्रव्यादि छह पदार्थ एवं नैयायिक के अभिमत सोलह पदार्थ असिद्ध स्वरूप वाले हैं। इनका लक्षण कथमपि प्रमाणित नहीं होता।

विशेषार्थ—संपूर्ण विश्व में दृश्यमान अदृश्यमान पदार्थ ऐसे तो अनंत हैं किंतु इनकी जाति की अपेक्षा पृथक् पृथक् लक्षण की अपेक्षा कितने भेद है इस बात को जैन के अतिरिक्त कोई भी परवादी बता नहीं सकते, क्योंकि इनका मत इनके ग्रन्थ अल्प ज्ञान पर आधारित है, अल्पज्ञ पुरुष अपनी बुद्धि अनुसार जैसा जितना जानने में आया उतना ही कथन एवं स्वयं समझ सकता है फिर उसमें मिथ्यात्व का बहुत बड़ा पुट रहता है अतः वास्तविक तत्व को किसी सम्यग्ज्ञानी द्वारा समझाने बताने पर भी वह अपने हटाग्रह को नहीं छोड़ता या नहीं छोड़ पाता—

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणु वइट्ठं ॥१॥

अर्थात् मिथ्यात्व से दूषित–अनादि अविद्या के वासना से संयुक्त व्यक्ति जिनेन्द्र प्रणीत प्रवचन–तत्व प्रतिपादन को स्वीकार नहीं करता, उन पर विश्वास नहीं

वशात् प्रयोजनवशाच्च द्रव्यादिषट्कव्यवस्था; तर्हि तत एव प्रमाणाविषोडशव्यवस्थाप्यस्तु विशेषा-

---

कर पाता। और जो तत्व असद्भावरूप है उस पर किसी के कहने से या स्वयं ही विश्वास करता है। सो यहां वैशेषिक के षट् पदार्थवाद का विचार चल रहा था, श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने अपनी जैन स्याद्वाद पद्धति एवं अपूर्व तर्क तथा युक्ति द्वारा वैशेषिक को समझाया है कि यह ६पदार्थ संख्या इसलिये असत् है कि इनका लक्षण सदोष है, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय ये छह पदार्थ आपने माने किंतु इनका स्वरूप सिद्ध नहीं होता, द्रव्य का लक्षण–"गुणवत् क्रियावत् समवायी कारणं द्रव्यम्" इसप्रकार है, किंतु यह घटित नहीं होता क्योंकि द्रव्य को गुण से सर्वथा भिन्न मानकर समवाय द्वारा उसका सम्बन्ध होना बताते हैं सो भिन्न गुण द्वारा द्रव्य गुणी होता है तो हर किसी द्रव्य मे हर कोई गुण सम्बद्ध हो सकता है, जो किसी को इष्ट नहीं। द्रव्यों की नौ संख्या भी असिद्ध है। गुण का लक्षण जो द्रव्य के आश्रित हो, स्वयं गुण रहित हो, संयोग विभाग का निरपेक्ष कारण न हो वह गुण कहलाता है किंतु यह लक्षण इसलिये असिद्ध है कि गुण अपने गुणी से पहले भिन्न रहता है और फिर समवाय से सम्बद्ध होता है। संयोग और विभाग को गुण मानना तो सर्वथा हास्यास्पद है। कर्म नामा तीसरा पदार्थ विचित्र है, कर्म अर्थात् क्रिया, क्रिया कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, क्रियाशील पदार्थ ही है, सामान्य–"अनुगत ज्ञान कारणं सामान्यम्" जो अनुगत ज्ञान [गौरयं गौरयं इति] को कराता है वह सामान्य नामा पदार्थ है यह भी द्रव्य से पृथक् वस्तु नहीं है। द्रव्य का अपनी जाति से साधारण स्वरूप होता है वही सामान्य कहलाता है, सामान्य को आकाशवत् सर्व व्यापक सर्वथा एक मानना भी प्रतीति से बाधित है। विशेष पदार्थ विशिष्टपने का प्रतिभास कराता है ऐसा विशेष का लक्षण भी असंगत है, प्रत्येक पदार्थ की विशेषता उसीमें स्वयं है उसके लिये ऊपर से विशेष का संयोग कराने की आवश्यकता नहीं। समवाय पदार्थ–"अयुत सिद्धानामाधाराधेय भूतानां इहेदं प्रत्यय हेतुः यः सम्बन्धः सः समवायः" अयुत सिद्ध और आधेय आधार भूत पदार्थों में जो इहेदं–यहां यह है इस तरह का ज्ञान कराता है उस सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। यह समवाय सम्बन्ध किसी प्रकार से सिद्ध नहीं होता। द्रव्यों को सम्बद्ध कराने के लिये अथवा द्रव्य में गुणों को सम्बन्धित कराने के लिये इस समवाय नामा गोंद की कोई भी आवश्यकता नहीं पड़ती, वे स्वयं इसीरूप सिद्ध हैं। इन सब

भावात्। न च सापि युक्ता; परोपगतस्वरूपाणां प्रमाणादीनां यथास्थानं प्रतिषेधात्, विपर्ययानध्य-

---

पदार्थों का यथास्थान क्रमशः मूल में ही निरसन कर दिया है, यहां अधिक नहीं कहना है। बात यह है कि वैशेषिक के छह पदार्थों में से एक द्रव्य नामा वस्तु तो है शेष गुण कर्म आदि सब पदार्थ मात्र काल्पनिक हैं क्योंकि इनका पृथक् पृथक् अस्तित्व नहीं है स्वयं वैशेषिक ने भी इनको पृथक् मानकर भी द्रव्य में गुण रहते हैं उसीमें कर्म रहता है। विशेष भी नित्य द्रव्यों में रहते हैं ऐसी इनकी मान्यता है, द्रव्य में ही रूपादि गुण रहते हैं उसीमें उत्क्षेपणादि कर्म है, द्रव्य के ही साधारणपने को या अनुगत प्रत्यय को कराने वाला सामान्य पदार्थ है, समवाय का कार्य तो गुण आदि का द्रव्य में सम्बन्ध कराना है, और विशेष पदार्थ नित्य द्रव्य में रहता है इस तरह एक द्रव्यनामा पदार्थ के ही ये शेष गुणादिक स्वरूप या स्वभाव ठहरते है, इसलिये पदार्थों की छह संख्या बताना असत्य है, तथा यह एक शेष जो द्रव्यनामा पदार्थ है उसकी नौ संख्या एवं लक्षण स्वरूपादि भी सिद्ध नहीं हो पाते जैसे दिशा नामा द्रव्य पृथक् सिद्ध नहीं होता इत्यादि अतः वैशेषिक का षट् पदार्थवाद निराकृत होता है। वैशेषिक मत मे अभाव नामा सातवां पदार्थ भी माना है किन्तु असत्रूप होने से उसको षट् पदार्थों के साथ नहीं मिलाते। सद्भावरूप पदार्थ तो छह हैं और असद्भावरूप पदार्थ अभाव है ऐसा इन का मत है। छह पदार्थो के समान अभाव नामा पदार्थ भी पृथक्रूप से सिद्ध नहीं होता, वह भी द्रव्य का द्रव्यांतर में नहीं रहना इत्यादिरूप ही सिद्ध होता है। अभाव के विषय में प्रथम भाग के "अभावस्यप्रत्यक्षादावन्तर्भावः" इस प्रकरण में बहुत कुछ कहा गया है अर्थात् उसका पृथक् अस्तित्व निराकृत किया है। नैयायिक मत में सोलह पदार्थ हैं प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान ये इनके पदार्थ या तत्व हैं इनमें प्रमाण तो ज्ञानरूप है और ज्ञान गुण होने के कारण द्रव्य में अन्तर्भूत है, प्रमेय द्रव्यरूप है किंतु इसका लक्षण गलत बताते हैं, संशय तो ज्ञानरूप है। प्रयोजन कोई तत्व नहीं वह तो एक तरह से कार्य या अभिप्राय है। दृष्टान्त अनुमान ज्ञान का अंश है या जिस वस्तु को दिखाकर समझाया जाता है वह वस्तु है पृथक् तत्व नहीं है। सिद्धांत नामा पदार्थ तो एक तरह का मत है। अवयव तो अवयवी द्रव्य ही है अवयवी से न्यारा नहीं है, अवयव का अर्थ यदि अनुमान के अंग किया जाय तो वह ज्ञान या

वसाययोश्च प्रमाणादिषोडशपदार्थेभ्योऽर्थान्तरभूतयोः प्रतीतेः ।

शब्द रूप है । तर्क, निर्णय ये दोनों ज्ञानात्मक या वचनात्मक हैं । वाद, जल्प और वितण्डा स्पष्ट रूप से विवाद–बातचीत या वचनरूप हैं । इसीप्रकार छल, जाति और निग्रह स्थान ये सब सभा में विवाद करते समय गलत अनुमान वाक्य कहने के प्रकार हैं और ये ज्ञान के अल्प होने से या वचन कौशल के न होने से प्रयुक्त होते हैं, इस प्रकार इन सोलह तत्वों का प्रतिपादन वन्ध्या सुत के व्यावर्णन सदृश असत् है, क्योंकि उनका स्वरूप–लक्षण इस उपर्युक्त कथनानुसार असम्भव ठहरता है, ज्ञान के वचन के भेद कोई तत्व कहलाते हैं ? अर्थात् नही कहलाते । इसतरह जैनाचार्य ने अपने अगाध पांडित्य द्वारा–सम्यग्ज्ञान पूर्ण युक्ति द्वारा वैशेषिक–नैयायिक के अभिमत पदार्थों का खण्डन किया है ।

॥ समवायपदार्थविचार समाप्त ॥

१७

धर्माधर्मद्रव्यविचारः

धर्माधर्मद्रव्ययोश्च । कुतः प्रमाणात्तत्सिद्धिरिति चेत् ? अनुमानात्; तथाहि-विवादापन्नाः सकलजीवपुद्गलाश्रयाः सकृद्गतयः साधारणबाह्यनिमित्तापेक्षाः, युगपद्भाविगतित्वात्, एकसरःसलिलाश्रयानेकमत्स्यगतिवत् । तथा सकलजीवपुद्गलस्थितयः साधारणबाह्यनिमित्तापेक्षाः, युगपद्भा-

---

जैन सिद्धांत में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इसप्रकार छह द्रव्य माने हैं इन्हीं को तत्व, अर्थ, पदार्थ एवं वस्तु कहते हैं, जीव द्रव्य के अस्तित्व में कोई विवाद नहीं है [चार्वाक को छोड़कर] पुद्गल दृश्यमान पदार्थ होने से सिद्ध ही है । आकाश द्रव्य का अस्तित्व एवं उसका वास्तविक लक्षण वैशेषिक मत के आकाश का खण्डन करते हुए बता दिया है, और काल द्रव्य का वास्तविक स्वरूप भी इन्हीं के काल द्रव्य का निरसन करते हुए प्रतिपादन कर चुके हैं, अब यहां पर धर्म और अधर्म द्रव्य को सिद्ध करते हैं, वे द्रव्य किस प्रमाण से सिद्ध होंगे ? इसप्रकार प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं कि वे द्रव्य तो अनुमान प्रमाण से सिद्ध होंगे, अब उसीको बताते हैं- संपूर्ण जीव तथा पुद्गलों की एक बार में होने वाली गमन क्रियायें सर्व साधारण बाह्य निमित्त की अपेक्षा रखती हैं, [साध्य] क्योंकि ये एक साथ होने वाली गमन क्रियायें हैं [हेतु] जैसे एक तालाब के जल के आश्रय में रहने वाले अनेक मत्स्यों की गमन क्रिया एक बार मे होने से एक ही साधारण बाह्य निमित्तरूप जल द्वारा होती है । इस अनुमान से धर्म द्रव्य की सिद्धि होती है । तथा सकल जीव एवं पुद्गलों की स्थिति

विस्थितित्वात्, एककुण्डाश्रयानेकबदरादिस्थितिवत्। यत्तु साधारणं निमित्तं स धर्मोऽधर्मश्च, ताभ्यां विना तद्गतिस्थितिकार्यस्यासम्भवात्।

गतिस्थितिपरिणामिन एवार्थाः परस्परं तद्धेतवश्चेत्; न; अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्—सिद्धायां हि तिष्ठत्पदार्थेभ्यो गच्छत्पदार्थानां गतौ तेभ्यस्तिष्ठत्पदार्थानां स्थितिसिद्धिः, तत्सिद्धौ च गच्छत्पदार्थानां गतिसिद्धिरिति। साधारणनिमित्तरहिता एवाखिलार्थगतिस्थितयः प्रतिनियतस्वकारणपूर्वकत्वादिति चेत्; कथमिदानीं नर्त्तकीक्षणो निखिलप्रेक्षकजनानां नानातद्वेदनोत्पत्तौ साधारणं निमित्तम्?

साधारण बाह्य निमित्त की अपेक्षा लेकर होती है, क्योंकि एक साथ होने वाली स्थिति है, जैसे एक कुण्ड के आश्रय मे अनेक बेर, आंवला, आम आदि की स्थिति एक साथ है वह उस कुण्ड रूप बाह्य निमित्त की अपेक्षा लेकर होती है, जो इन जीव पुद्गलों की गति और स्थिति का निमित्त है वही क्रमशः धर्म एवं अधर्म द्रव्य है, इन दो द्रव्यों के अस्तित्व हुए बिना जीव पुद्गलों का गति स्थितिरूप कार्य होना असम्भव है। अभिप्राय यह है कि क्रियाशील पदार्थ जीव और पुद्गल हैं इनका सर्व साधारण बाह्य निमित्त यदि कोई है तो वह धर्म द्रव्य है और जो इन द्रव्यों का स्थित होने में निमित्त है वह अधर्म द्रव्य है ऐसा अनुमान से सिद्ध होता है।

शंका—गति और स्थिति क्रिया को करने में परिणत हुए जो पदार्थ हैं वे ही परस्पर में उस गति स्थिति के निमित्त हुआ करते हैं?

समाधान—ऐसा माने तो अन्योन्याश्रय होगा—ठहरते हुए पदार्थों से गमन करते हुए पदार्थों की गति सिद्ध होने पर उनसे ठहरते हुए पदार्थों को स्थिति सिद्ध होगी, और उस स्थिति के सिद्ध होने पर गमन करते हुए पदार्थों की स्थिति सिद्ध हो पायेगी। इसतरह दोनों ही असिद्ध रह जायेंगे।

शंका—संपूर्ण पदार्थों की गति एवं स्थिति जो होती है वह साधारण निमित्त से रहित ही होती है क्योंकि वह अपने अपने प्रतिनियत निश्चित कारण से होती है?

समाधान—यह शंका असत् है, नृत्यकारिणी नृत्य कर रही है वह नृत्य रूप पर्याय या अवस्था सकल प्रेक्षक लोगों के नाना तरह के काम भाव आदि की उत्पत्ति कराने में साधारण निमित्त है। वह किस प्रकार है? जिसतरह एक ही नृत्य एक बार

सहकारिमात्रत्वेन चेत्; तर्हि सकलार्थगतिस्थितीनां सकृद्भुवां धर्माधर्मौ सहकारिमात्रत्वेन साधारणं निमित्तं किन्नेष्यते ?

पृथिव्यादिरेव साधारणं निमित्तं तासाम्; इत्यप्यसङ्गतम्; गगनवर्त्तिपदार्थगतिस्थितीनां तदसम्भवात्। तर्हि नभः साधारणं निमित्त तासामस्तु सर्वत्र भावात्; इत्यप्यपेशलम्; तस्यावगाह-निमित्तत्वप्रतिपादनात्। तस्यैकस्यैवानेककार्यनिमित्ततायाम् अनेकसर्वगतपदार्थपरिकल्पनानर्थक्यप्रस-

---

में ही देखने वाले सकल व्यक्तियों के नाना भावों का निमित्त होता है उसी तरह धर्म अधर्म द्रव्य गति स्थिति शील पदार्थों के गति स्थिति का क्रमशः साधारण निमित्त है।

शंका—नृत्यकारिणीका नृत्य नाना भावों को उत्पन्न कराने में मात्र सहकारी कारण है ?

समाधान—तो फिर ऐसे ही सकल पदार्थों की गति-स्थिति जो कि एक बार में हो रही है उनके सहकारी कारण धर्म अधर्म द्रव्य है इसतरह से उनको साधारण निमित्तरूप से क्यों न माना जाय ? अर्थात् मानना ही चाहिये।

शंका—द्रव्यों के गमन तथा स्थिति का साधारण निमित्त तो पृथिवी जलादि पदार्थ हैं ?

समाधान—यह बात गलत है, जो जीवादि पदार्थ आकाश में [अधर] स्थित हैं उन पदार्थों को ये पृथिवी आदि पदार्थ गमनादि कराने में निमित्त कैसे हो सकेंगे, अर्थात् नहीं हो सकते।

शंका—यदि ऐसी बात है तो गति और स्थितियों का साधारण निमित्त आकाश को माना जाय क्योंकि वह तो सर्वत्र है ?

समाधान—यह कथन भी असुन्दर है, आकाश तो अवगाह देता है, उसीका वह साधारण निमित्त सिद्ध होता है।

शंका—वह एक ही आकाश द्रव्य अवगाह, गति आदि अनेक कार्यों का निमित्त माना जाय ?

ङ्गात्, कालात्मदिक्सामान्यसमवायकार्यस्यापि यौगपद्यादिप्रत्ययस्य बुद्ध्यादेः 'इदमतः पूर्वेण' इत्यादिप्रत्ययस्य अन्वयज्ञानस्य 'इहेदम्' इति प्रत्ययस्य च नभोनिमित्तस्योपपत्तेस्तस्य सर्वत्र सर्वदा सद्भावात्। कार्यविशेषात्कालादिनिमित्तभेदव्यवस्थायाम् तत एव धर्मादिनिमित्तभेदव्यवस्थाप्यस्तु सर्वथा विशेषाभावात्।

एतेनादृष्टनिमित्तत्वमप्यासां प्रत्याख्यातम्; पुद्गलानामदृष्टासम्भवाच्च। ये यदात्मोपभोग्याः

समाधान—इसतरह माना जाय तो आकाश आदि अनेक सर्वगत पदार्थों की कल्पना करना व्यर्थ ठहरता है, वैशेषिक आदि परवादी के यहां बताया है कि काल, आत्मा, दिशा सामान्य, और समवाय ये सर्वदा सर्वगत हैं, काल द्रव्य का कार्य युगपत्, चिर, क्षिप्र आदि का ज्ञान कराना है, इस कार्य से पृथक् ही आत्म द्रव्य का कार्य है वह बुद्धि आदि का निमित्त है। दिशा द्रव्य का कार्य 'यहां से यह पूर्व में है इत्यादि ज्ञान को कराना है। "यह गौ है यह भी गौ है" इत्यादि रूप से अन्वय ज्ञान का हेतु सामान्य नामा सर्वगत पदार्थ है और इहेदं प्रत्ययरूप कार्य को समवाय करता है। उक्त निखिल कार्य एक आकाश के निमित्त से होना मानना चाहिये क्योंकि आकाश का सर्वत्र सर्वदा सद्भाव है।

शंका—कालादि द्रव्यों का पृथक् पृथक् विशेष कार्य देखकर इन विभिन्न कार्यों का विभिन्न निमित्त होना चाहिये इत्यादि रूप से इनको सिद्ध किया है।

समाधान—इसीप्रकार धर्म और अधर्म द्रव्य को सिद्ध करना चाहिए, इनका भी गति और स्थितिरूप विभिन्न कार्य देखते हैं अतः इन कार्यों का कोई साधारण निमित्त अवश्य है ऐसा अनुमान द्वारा आकाश द्रव्य से भिन्न द्रव्य रूप इनको सिद्ध किया जाता है। आकाश, काल आदि के समान ये भी सिद्ध होते हैं। उभयत्र कोई विशेष भेद नहो है।

कोई कहे कि गति स्थितियों का निमित्त कारण अदृष्ट को माना जाय तो वह ठीक नहीं, इस मान्यता का भी पहले के समान खण्डन हुआ समझना चाहिए तथा यह भी बात है कि यदि अदृष्ट के निमित्त से गति स्थिति होती है तो पुद्गलों में गमनादि नहीं हो सकेंगे, क्योंकि पुद्गल के अदृष्ट नहीं होता।

पुद्गलास्तद्गतिस्थितयस्तदात्माऽदृष्टनिमित्ताश्चेत्; तर्ह्यसाधारणं निमित्तमदृष्टं तासां प्रतिनियतात्माऽदृष्टस्य प्रतिनियतद्रव्यगतिस्थितिहेतुत्वप्रसिद्धेः । न च तदनिष्टं तासां क्षमादेरिवासाधारणकारण-

---

वैशेषिक—जो पुद्गल जिस आत्मा के उपभोग्य हुआ करते हैं, वे उसी आत्मा के अदृष्ट द्वारा गति स्थितिरूप कार्य को करते हैं, अर्थात् उस आत्मा का अदृष्ट ही उस सम्बन्धी पुद्गल के गति स्थिति का निमित्त होता है, ऐसा माना जाय ?

जैन—ऐसा कहो तो अदृष्ट को गति और स्थितियों का असाधारण निमित्त मानना होगा न कि सर्व साधारण निमित्त, क्योंकि अदृष्ट तो प्रत्येक आत्मा का पृथक् पृथक् अपने ही आत्मा में प्रति नियमित होता है, उसके द्वारा अपनी ही आत्मा के उपभोग्य पुद्गल के गति एवं स्थिति का निमित्तपना हो सकता है अन्य आत्मा के पुद्गल के गति स्थिति का नहीं । दूसरी बात यह है यदि कोई अदृष्ट को गति आदि का असाधारण निमित्त माने तो हम जैन को कोई अनिष्टकारक बात नही है, हमारा सिद्धांत तो अबाधित ही रहता है कि इन गति स्थितियों का सर्व साधारण निमित्त तो धर्म–अधर्म द्रव्य ही है, अन्य नहीं । जिस तरह इन गति आदि का असाधारण निमित्त पृथिवी जल इत्यादि पदार्थ हैं उस तरह यदि अदृष्ट को इन गति आदि का असाधारण निमित्तपना माना जाय तो हमें इष्ट ही है किन्तु साधारण निमित्त तो गति स्थितियों का धर्म–अधर्म द्रव्य ही है, इसप्रकार गति स्थितिरूप कार्य विशेष से धर्म अधर्म द्रव्यों का सद्भाव सिद्ध होता है ।

विशेषार्थ—जब वैशेषिकादि परवादी द्वारा मान्य द्रव्य, गुण इत्यादि पदार्थों का खण्डन किया तो सहज ही प्रश्न होते है कि जैन के यहां पदार्थों का लक्षण क्या होगा, कितनी संख्या होगी, वे किस प्रमाण द्वारा आधारित हैं–सिद्ध होते हैं ? इत्यादि, सो यहां सक्षेप से बताया जाता है, मूल ग्रन्थ में धर्म–अधर्म द्रव्य की सिद्धि की है, आत्मा आदि की सिद्धि तो परवादी के आत्मा आदि द्रव्यों का खण्डन करते हुए ही कर दी है । जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल इसप्रकार ये छह द्रव्य या पदार्थ हैं । जीव का लक्षण उपयोग–ज्ञान दर्शनमयी है, अर्थात् जिसमें ज्ञानदर्शन पाया जाय वह जीव द्रव्य है, इसकी संख्या अनन्त है, जैन जीव की सत्ता पृथक् पृथक् मानते हैं एक परमात्मा के ही अंशरूप सब जीव हैं ऐसा नहीं मानते हैं । जीव द्रव्य की सिद्धि

स्याद्दृष्टस्यापीष्टत्वात् । साधारणं तु कारणं तासां धर्माधर्मावेवेति सिद्धः कार्यविशेषात्तयोः सद्भाव इति ।

अपने स्वयं के अनुभवरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा होती है, तथा अनुमान एवं आगम प्रमाण से भी होती है । जीव द्रव्य के संसारी मुक्त इत्यादि भेद प्रभेद, इनकी शुद्ध अशुद्ध अवस्था इत्यादि का वर्णन जैन ग्रन्थों में पाया जाता है वहीं से [जीव कांड, सर्वार्थसिद्धि आदि से] जानना चाहिये । पुद्गल का लक्षण–स्पर्श, रस, गंध और वर्ण जिसमें पाये जाते हैं वह पुद्गल द्रव्य है, चाहे दृश्यमान पुद्गल चाहे अदृश्यमान पुद्गल हो दोनो में हो स्पर्शादि चारों गुण निश्चित रहते हैं, ऐसा नहीं है कि किसी में एक किसी मे दो इत्यादिरूप मे गुण रहते हों जैसा कि वैशेषिक मानते हैं । पुद्गल की जाति भेद की अपेक्षा दो भेद हैं अणु और स्कन्ध, स्कन्ध के स्थूल आदि छह भेद हैं, इनकी सख्या जीव से भी अनन्तानंत प्रमाण है, यह द्रव्य तो चाक्षुष प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध है । धर्म, अधर्म, काल और आकाश इनकी सिद्धि अनुमान तथा आगम प्रमाण से होती है । धर्म–अधर्म द्रव्यों का लक्षण उनके गति और स्थितिरूप कार्य विशेष द्वारा किया जाता है, अर्थात् गति परिणत जीव पुद्गलों को जो उदासीनरूप से निमित्त होता है वह धर्म द्रव्य है, यही इस द्रव्य का विशेष गुण है यही इसका लक्षण है, जैसा जीव का ज्ञान लक्षण है और विशेष गुण भी वही है । अधर्म द्रव्य स्थितिपरिणत जीव पुद्गलों का उदासीन सहायक है, इस द्रव्य का यह विशेष गुण एवं लक्षण है । काल वर्त्तना लक्षण वाला है, इसके निमित्त से प्रत्येक द्रव्य में प्रतिक्षण परिवर्त्तन होता है । इसी उपादान कारण द्वारा सूर्यादि के भ्रमण का निमित्त पाकर दिन, रात, वर्ष, अयन, युग इत्यादि व्यवहार काल बनता है । आकाश का लक्षण अवगाहना है, जीवादि सभी द्रव्यों को एवं स्वयं को जो स्थान दे वह आकाश है वह एक अखंडित सर्वगत है किंतु निरंश नहीं अंश सहित है–अनंत प्रदेशी है । इन सभी द्रव्यों का विशेष विवेचन तत्वार्थ सूत्र, सर्वार्थ सिद्धि, राजवार्तिक, गोम्मटसार, पंचास्तिकाय इत्यादि जैन ग्रन्थों में पाया जाता है, विशेष जानने के इच्छुक मुमुक्षुओं को वहीं से जानना चाहिये, यहां तो प्रसंग पाकर दिग्दर्शन मात्र कराया है ।

।। धर्माधर्मद्रव्यविचार समाप्त ।।

१८

फलस्वरूपविचारः

अथेदानीं फलविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थमज्ञाननिवृत्तिरित्याद्याह—

अज्ञाननिवृत्तिः हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।। ५।१ ।।

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ।। ५।२ ।।

अब यहां पर प्रमाण के फल का विचार करते हैं, परीक्षामुख तथा प्रमेय रत्नमाला इन दोनों ग्रन्थों में प्रमाण के फल का प्रकरण पांचवें परिच्छेद मे दिया है किन्तु यहां प्रभाचन्द्राचार्य ने इसको चौथे परिच्छेद में दिया है । अस्तु । प्रमाण का विवेचन करते समय चार विषयों में विवाद होता है प्रमाण का स्वरूप—लक्षण, प्रमाण की संख्या, प्रमाण का विषय और प्रमाण का फल इसतरह स्वरूप विप्रतिपत्ति, संख्या विप्रतिपत्ति, विषय विप्रतिपत्ति, फल विप्रतिपत्ति इन चार विवादों में से प्रथम परिच्छेद में "स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं" इत्यादि रूप से स्वरूप विप्रतिपत्ति को दूर करते हुए प्रमाण का निर्दोष स्वरूप बताया है। तद् द्वेधा "प्रत्यक्षेतर भेदात्" इत्यादि रूप से प्रमाण के भेद द्वितीय परिच्छेद में बतलाकर प्रमाण की— संख्या को निश्चित करके संख्या विप्रतिपत्ति दूर की। "सामान्य विशेषात्मा तदर्थोविषयः" इत्यादिरूप से चौथे परिच्छेद में प्रमाण के विषय का नियम बनाकर विषय विप्रतिपत्ति को समाप्त किया अव यहां चौथे परिच्छेद के अंत में [परीक्षामुख ग्रन्थ की अपेक्षा पांचवें परिच्छेद में] अंतिम फल विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए माणिक्यनंदी आचार्य सूत्रावतार करते हैं—

अज्ञान निवृत्तिः हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।।५।१।।

प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ।।५।२।।

द्विविधं हि प्रमाणस्य फलं ततो भिन्नम्, अभिन्नं च। तत्राज्ञाननिवृत्तिः प्रमाणादभिन्नं फलम्। ननु चाज्ञाननिवृत्तिः प्रमाणभूतज्ञानमेव, न तदेव तस्यैव कार्यं युक्तं विरोधात्, तत्कुतोसौ प्रमाणफलम्? इत्यनुपपन्नम्; यतोऽज्ञानमज्ञप्तिः स्वपररूपयोर्व्यामोहः, तस्य निवृत्तिर्यथावत्तद्रूपयोर्ज्ञप्तिः, प्रमाणधर्मत्वात् तत्कार्यतया न विरोधमध्यास्ते। स्वविषये हि स्वार्थस्वरूपे प्रमाणस्य व्यामोहविच्छेदा-

---

सूत्रार्थ—अज्ञान का दूर होना प्रमाण का फल है, तथा हेय पदार्थ में हेयत्व की–त्याग–छोड़ने की बुद्धि होना, उपादेय में ग्रहण की बुद्धि होना और उपेक्षणीय वस्तु में उपेक्षाबुद्धि होना प्रमाण का फल है। यह प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न भी है। किसी भी वस्तु को जानने से तत्संबंधी अज्ञान दूर होता है, यह प्रमाण का–जानने का फल [लाभ] है, जिस वस्तु को जाना है उसमें यह मेरे लिये उपयोगी वस्तु है ऐसा जानना उपादेय बुद्धि कहलाती है यह कार्य भी प्रमाण का होने से उसका फल कहलाता है। तथा हानिकारक पदार्थ में यह छोड़ने योग्य है ऐसी प्रतीति होना भी प्रमाण का फल है। जो न उपयोगी है और न हानिकारक है ऐसे पदार्थो में उपेक्षाबुद्धि होना भी प्रमाण का ही कार्य है। यह प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न होता है तथा अभिन्न भी होता है। जो अज्ञान की निवृत्ति होना रूप फल है वह तो प्रमाण से अभिन्न है।

शंका—अज्ञान निवृत्ति होना प्रमाणभूत ज्ञान ही है फिर उसे प्रमाण का कार्य कैसे कह सकते हैं? यदि कहेंगे तो विरुद्ध होगा, अतः प्रमाण का फल अज्ञान निवृत्ति है ऐसा कहना किस तरह सिद्ध होगा?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं, अज्ञान जो होता है वह नहीं जाननेरूप हुआ करता है स्व परका व्यामोहरूप होता है उसकी निवृत्ति होने पर जैसा का तैसा स्व परका जानना होता है यह प्रमाण का धर्म है अतः अज्ञान निवृत्ति प्रमाण का कार्य है [फल है] ऐसा मानने में कोई विरोध नहीं होता, यदि प्रमाण अपने विषयभूत स्व पर अर्थ के स्वरूप में होने वाला व्यामोह [अज्ञान विपर्ययादि] दूर नहीं कर सकता है तो वह बौद्ध के निर्विकल्प दर्शन और वैशेषिक के सन्निकर्ष के समान होने से प्रमाणभूत नहीं होगा। अर्थात् निर्विकल्प दर्शन स्वविषयसम्बन्धी अज्ञान को–व्यामोह को दूर नहीं करता सन्निकर्ष भी अज्ञान को दूर नहीं करता अतः अप्रमाण है वैसे यदि प्रमाण अज्ञान

भावे निर्विकल्पकदर्शनात् सन्निकर्षाच्चाविशेषप्रसङ्गतः प्रामाण्यं न स्यात्। न च धर्मधर्मिणोः सर्वथा भेदोऽभेदो वा; तद्भावविरोधानुषङ्गात् तदन्यतरवदर्थान्तरवच्च।

अथाज्ञाननिवृत्तिर्ज्ञानमेवेत्यनयोः सामर्थ्यसिद्धत्वान्यथानुपपत्तेरभेदः; तन्न; अस्याऽविरुद्धत्वात्। सामर्थ्यसिद्धत्वं हि भेदे सत्येवोपलब्ध निमन्त्रणे आकारणवत्। कथं चैवं वादिनो हेतावन्वयव्यतिरेक-धर्मयोर्भेदः सिध्येत्? 'साध्यसद्भावेऽस्तित्वमेव हि साध्याभावे हेतोर्नास्तित्वम्' इत्यनयोरपि सामर्थ्य-सिद्धत्वाविशेषात्।

को दूर नहीं करेगा तो अप्रमाण हो जायगा। तथा अज्ञान निवृत्ति प्रमाण का स्वभाव या धर्म है, धर्म धर्मी से सर्वथा भिन्न या अभिन्न नहीं होता, यदि धर्म धर्मी का परस्पर में सर्वथा भेद अथवा सर्वथा अभेद स्वीकार करेंगे तो यह धर्म इसी धर्म का है ऐसा तद्भाव नहीं हो सकेगा, जिस तरह केवल धर्म या धर्मी में तद्भाव नहीं बनता अथवा अर्थान्तरभूत दो पदार्थों का तद्भाव नहीं होता अर्थात् धर्मी से धर्म को सर्वथा अभिन्न माने तो दोनों में से एक ही रहेगा क्योंकि वे सर्वथा अभिन्न हैं एवं धर्मी से धर्म सर्वथा भिन्न माने तो इस धर्मी का यह धर्म है ऐसा कथन नही हो सकेगा।

शंका—अज्ञाननिवृत्ति ज्ञान ही है इसलिये इनमें सामर्थ्य सिद्धत्व की अन्यथा-नुपपत्ति से अभेद ही सिद्ध होता है, अर्थात्–अज्ञाननिवृत्ति की अन्यथानुपपत्ति से ज्ञान सिद्धि और ज्ञान की अन्यथानुपपत्ति से अज्ञाननिवृत्ति की सिद्धि होती है। अतः इनमे अभेद है।

समाधान—ऐसी बात नही कहना, ज्ञान की सामर्थ्य से ही अज्ञान निवृत्ति की सिद्धि हो जाती है तो भी इनमें भेद मानना अविरुद्ध है। क्योंकि सामर्थ्य सिद्ध-पना भेद होने पर ही देखने में आता है जैसे निमन्त्रण में आह्वानन सामर्थ्य सिद्ध है। दूसरी बात यह है कि यदि सामर्थ्यसिद्धत्व होने से अज्ञान निवृत्ति और ज्ञान इनको अभेदरूप ही मानेंगे तो आपके यहां हेतु में अन्वय धर्म और व्यतिरेक धर्म में भेद किस प्रकार सिद्ध होगा? अर्थात् नही होगा, क्योंकि साध्य के सद्भाव में होना ही हेतु का साध्य के अभाव में नहीं होना है, हेतुका साध्य में जो अस्तित्व है वही साध्य के अभाव में नास्तित्व है इसतरह ये दोनों सामर्थ्य सिद्ध हैं कोई विशेषता नहीं साध्य के होने पर होना अन्वयी हेतु है अथवा हेतुका अन्वय धर्म है और साध्य के नहीं होने पर नहीं

न चानयोरभेदे कार्यकारणभावो विरुध्यते; अभेदस्य तद्भावाविरोधकत्वाज्जीवसुखादिवत्। साधकतमस्वभावं हि प्रमाणम् स्वपररूपयोर्ज्ञप्तिलक्षणामज्ञाननिवृत्तिं निर्वर्त्तयति तत्रान्येनास्या निर्वर्त्तनाभावात्। साधकतमस्वभावत्वं चास्य स्वपरग्रहणव्यापार एव तद्ग्रहणाभिमुख्यलक्षणः। तद्धि स्वकारणकलापादुपजायमानं स्वपरग्रहणव्यापारलक्षणोपयोगरूपं सत्स्वार्थव्यवसायरूपतया परिणमते इत्यभेदेऽप्यनयोः कार्यकारणभावाऽविरोधः।

नन्वेवमज्ञाननिवृत्तिरूपतयेव हानादिरूपतयाप्यस्य परिणमनसम्भवात् तदप्यस्याऽभिन्नमेव

होना व्यतिरेक है–हेतु का व्यतिरेक धर्म इसतरह उप हेतु के अन्वय–व्यतिरेकरूप दो धर्म न मानकर अभेद स्वीकारना होगा।

प्रमाण और अज्ञान निवृत्तिरूप प्रमाण का फल इनमें कथंचित् अभेद मानने पर भी कार्य कारणपना विरुद्ध नहीं है अर्थात् प्रमाण कारण है और अज्ञान निवृत्ति उसका कार्य है ऐसा कार्य कारणभाव अभेद पक्ष में भी [प्रमाण से उसके फलको अभिन्न मानने पर भी] विरुद्ध नहीं पड़ता, अभेद का तद्भाव के साथ कोई विरोधकपना नहीं है जिसप्रकार जीव और सुख में अभेद है फिर भी जीवका कार्य सुख है ऐसा कार्यकारणभाव मानते हैं। पदार्थों को जानने के लिये साधकतम स्वभाव वाला प्रमाण स्व परको जानना रूप ज्ञप्ति लक्षण वाली अज्ञान निवृत्ति को करता है, इस कार्य में अन्य सन्निकर्षादि समर्थ नहीं है अर्थात् अज्ञान निवृत्ति को करने में सन्निकर्षादि को शक्ति नही होती इस प्रमाण का साधकतम स्वभाव तो यही है कि स्व और परको ग्रहण करने का व्यापार–स्व परको ग्रहण करने में अभिमुख होना। इसप्रकार के स्वभाव वाला प्रमाण अपने कारण सामग्री से उत्पन्न होता हुआ स्व परको ग्रहण करना रूप व्यापार लक्षण वाले उपयोगरूप परिणमन करता है जो कि परिणमन स्व परका निश्चयात्मक स्वरूप होता है [संशय विपर्यय अनध्यवसाय रहित सविकल्परूप से स्व और परका निश्चय करता है], इसप्रकार प्रमाण और उसका फल इनमें कार्य कारण भाव का अविरोध है।

शंका—इस तरह आप अज्ञान निवृत्तिरूप फल को प्रमाण से अभिन्न मानते हैं तो हान उपादान और उपेक्षारूप फल को भी प्रमाण से अभिन्न मानना चाहिये? क्योंकि हानोपादानादिरूप से भी प्रमाण का परिणमन [कार्य] होता है।

फलं स्यात्; इत्यप्यसुन्दरम्; अज्ञाननिवृत्तिलक्षणफलेनास्य व्यवधानसम्भवतो भिन्नत्वाविरोधात्। अत आह-हानोपादानोपेक्षाश्च प्रमाणाद्भिन्नं फलम्। अत्रापि कथञ्चिद्भेदो द्रष्टव्यः। सर्वथा भेदे प्रमाणफलव्यवहारविरोधात्। अमुमेवार्थं स्पष्टयन् यः प्रमिमीते इत्यादिना लौकिकेतरप्रतिपत्तिप्रसिद्धां प्रतीतिं दर्शयति—

यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः ॥५।३॥

यः प्रतिपत्ता प्रमिमीते स्वार्थग्रहणपरिणामेन परिणमते स एव निवृत्ताज्ञानः स्वविषये व्यामोहविरहितो जहात्यभिप्रेतप्रयोजनाप्रसाधकमर्थम्, तत्प्रसाधकं त्वादत्ते उभयप्रयोजनाऽप्रसाधकं तूपेक्षणीयमुपेक्षते चेति प्रतीतेः प्रमाणफलयोः कथञ्चिद्भेदाभेदव्यवस्था प्रतिपत्तव्या।

समाधान—यह कहना गलत है, प्रमाण से प्रथम तो अज्ञान निवृत्तिरूप फल होता है अनन्तर हानादि फल होते हैं, अज्ञान निवृत्तिरूप फल से व्यवधानित होकर ही हानोपादानादि फल उत्पन्न होते हैं अतः इन हानादिको प्रमाण से कथंचित् भिन्न मानने में कोई विरोध नहीं आता। इसीलिये प्रमाण से हान, उपादान और उपेक्षा फल भिन्न है ऐसा कहा है। यह भिन्नता कथंचित् है, यदि हानादि फल को सर्वथा भिन्न मानेंगे तो यह प्रमाण का फल है इसप्रकार से कह नहीं सकेंगे। अब आगे प्रमाण के फल के विषय में इसी भेदाभेद अर्थ को स्पष्ट करते हुए यः प्रमिमीते इत्यादि सूत्र द्वारा लौकिक तथा शास्त्रज्ञ में प्रसिद्ध ऐसी प्रतीति को दिखलाते हैं–यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः ॥५।३॥

सूत्रार्थ—जो जानता है वही अज्ञान रहित होता है एवं हेयको छोड़ता है, उपादेय को ग्रहण करता है, उपेक्षणीय पदार्थ में मध्यस्थ होता है इसप्रकार सभी को प्रतिभासित होता है।

जो प्रमाता जानता है अर्थात् स्व पर ग्रहणरूप परिणाम से परिणमता है उसीका अज्ञान दूर होता है, व्यामोह [संशयादि] से रहित होता है, वही प्रमाता पुरुष अपने इच्छित प्रयोजन को सिद्ध नहीं करने वाले पदार्थ को छोड़ देता है और प्रयोजन को सिद्ध करने वाले को ग्रहण करता है जो न प्रयोजन का साधक है और न असाधक है अर्थात् उपेक्षणीय है उस पदार्थ की उपेक्षा कर देता है, इस तरह तीन

नन्वेवं प्रमातृप्रमाणफलानां भेदाभावात्प्रतीतिप्रसिद्धस्तद्व्यवस्थाविलोप: स्यात्; तदसाम्प्रतम्; कथञ्चिल्लक्षणभेदतस्तेषां भेदात्। आत्मनो हि पदार्थपरिच्छित्तौ साधकतमत्वेन व्याप्रियमाणं स्वरूपं प्रमाणं निर्व्यापारम्, व्यापारं तु क्रियोच्यते, स्वातन्त्र्येण पुनर्व्याप्रियमाणं प्रमाता, इति कथञ्चित्तद्भेद:। प्राक्तनपर्यायविशिष्टस्य कथञ्चिदवस्थितस्यैव बोधस्य परिच्छित्तिविशेषरूपतयोत्पत्तेरभेद इति। साधनभेदाच्च तद्भेद:; करणसाधनं हि प्रमाणं साधकतमस्वभावम्, कर्तृसाधनस्तु प्रमाता

प्रकार से प्रमाता की प्रक्रिया प्रतीति में आती है, इसलिये प्रमाण से प्रमाण का फल कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होता है।

शंका—इसतरह प्रमाण के विषय में मानेंगे तो प्रमाता, प्रमाण और फल इनमें कुछ भी भेद नहीं रहेगा, फिर यह जगत प्रसिद्ध प्रमाता आदि का व्यवहार समाप्त हो जायगा।

समाधान—यह शंका निर्मूल है, प्रमाता आदि में लक्षण भिन्न भिन्न होने से कथंचित् भेद माना है। पदार्थ के जानने में साधकतमत्व–करणरूप से परिणमित होता हुआ आत्मा का जो स्वरूप है उसे प्रमाण कहते हैं जो कि निर्व्यापाररूप है, तथा जो व्यापार है जानन क्रिया है वह फल है। स्वतन्त्ररूप से जानना क्रिया में प्रवृत्त हुआ आत्मा प्रमाता है, इसतरह प्रमाण आदि में कथंचित् भेद माना गया है। अभिप्राय यह है कि–आत्मा प्रमाता कहलाता है जो कर्त्ता है, आत्मा में ज्ञान है वह प्रमाण है, और जानना फल है। कभी कभी प्रमाता और प्रमाण इनको भिन्न न करके प्रमाता जानता है ऐसा भी कहते हैं क्योंकि प्रमाता आत्मा और प्रमाण ज्ञान ये दोनों एक ही द्रव्य हैं केवल संज्ञा, लक्षणादि की अपेक्षा भेद है। इसतरह कर्त्ता और करण को भेद करके तथा न करके कथन करते हैं, "प्रमाता घटं जानाति" यहां पर कर्त्ता करण दोनों को पृथक् नहीं किया, प्रमाता प्रमाणेन घटं जानाति इसतरह की प्रतीति या कथन करने पर आत्मा के ज्ञान को पृथक् करके आत्मा कर्त्ता और ज्ञान करण बनता है। प्राक्तन पर्याय से विशिष्ट तथा कथंचित् अवस्थित ऐसा जो ज्ञान है वही परिच्छित्ति विशेष अर्थात् फलरूप से उत्पन्न होता है अत: प्रमाण और फल में अभेद भी स्वीकार किया है। कर्त्तृसाधन आदि की अपेक्षा भी प्रमाता आदि में भेद होता है साधकतम स्वभाव रूप करण साधन होता है इसमें प्रमाण करण बनता है "प्रमीयते येन इति प्रमाणं"

स्वतन्त्रस्वरूपः, भावसाधना तु क्रिया स्वार्थनिर्णीतिस्वभावा इति कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमादेव कार्यकारणभावस्याप्यविरोधः ।

यच्चोच्यते-आत्मव्यतिरिक्तक्रियाकारि प्रमाणं कारकत्वाद्वास्यादिवत्; तत्र कथञ्चिद्भेदेसाध्ये सिद्धसाध्यता, अज्ञाननिवृत्तेस्तद्धर्मतया हानादेश्च तत्कार्यतया प्रमाणात्कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात् । सर्वथा भेदे तु साध्ये साध्यविकलो दृष्टान्तः; वास्यादिना हि काष्ठादेश्छिदा निरूप्यमाणा छेद्यद्रव्यानुप्रवेशलक्षणैवावतिष्ठते । स चानुप्रवेशो वास्यादेरात्मगत एव धर्मो नार्थान्तरम् । ननु छिदा काष्ठस्था वास्यादिस्तु देवदत्तस्थ इत्यनयोर्भेद एव; इत्यप्यसुन्दरम्; सर्वथा भेदस्यैवमसिद्धेः, सत्त्वादिनाऽ-

---

कर्त्तृसाधन में यः प्रमिमीते सः प्रमाता इसप्रकार स्वतन्त्र स्वरूप कर्त्ता की विवक्षा होती है । भाव साधन मे स्वपर की निश्चयात्मक ज्ञप्तिक्रिया दिखायी जाती है "प्रमितिः प्रमाण" यह फलस्वरूप है । इसतरह कथंचित् भेद स्वीकार करने से ही कार्य कारण भाव भी सिद्ध होता है, कोई विरोध नहीं आता । परवादी का कहना है कि आत्मा से पृथक् क्रिया को करने वाला प्रमाण होता है, क्योंकि यह कारक है, जैसे वमूला आदि कारक होने से कर्त्ता पुरुष से पृथक् क्रिया को करते हैं, इस पर हम जैन का कहना है कि यदि आत्मा से प्रमाण को कथंचित् भिन्न सिद्ध करना है तो सिद्ध साध्यता है, क्योंकि हम जैन ने भी अज्ञान निवृत्ति को प्रमाण का धर्म माना है और हानादिक उसके [धर्म के] कार्य माने हैं, अतः प्रमाण से फल का या प्रमाता का कथचित् भेद मानना इष्ट है । यदि इन प्रमाणादि मे सर्वथा भेद सिद्ध करेंगे तो उस साध्य में वसूले का दृष्टांत साध्य विकल ठहरेगा, इसी को स्पष्ट करते हैं-वसूला आदि द्वारा काष्ठ आदि की जो छेदन क्रिया होती है उस क्रिया को देखते हैं तो वह छेद्यद्रव्य-काष्ठादि में अनुप्रविष्ट हुई ही सिद्ध होती है, वसूला लकड़ी में प्रवेश करके छेदता है यह जो प्रवेश हुआ वह स्वयं वसूले का ही परिणमन या धर्म है अर्थान्तर नहीं अतः शंकाकार का जो कहना था कि कर्त्ता आदि से करण पृथक्-भिन्न ही होना चाहिये, प्रमाता आदि से प्रमाण भिन्न ही होना चाहिये, यह कहना उसीके वसूले के दृष्टांत द्वारा बाधित होता है ।

शंका—छेदन क्रिया तो काष्ठ में हो रही और वसूला देवदत्त के हाथ में स्थित है इसतरह क्रिया और करण इनमें भेद ही रहता है ?

भेदस्यापि प्रतीतेः । न च 'सर्वथा करणाद्भिन्नैव क्रिया' इति नियमोस्ति; 'प्रदीपः स्वात्मनात्मानं प्रकाशयति' इत्यत्राभेदेनाप्यस्याः प्रतीतेः। न खलु प्रदीपात्मा प्रदीपाद्भिन्नः; तस्याऽप्रदीपत्वप्रसंगात् पटवत् । प्रदीपे प्रदीपात्मनो भिन्नस्यापि समवायात्प्रदीपत्वसिद्धिरिति चेत्; न; अप्रदीपेपि घटादौ प्रदीपत्वसमवायानुषङ्गात् । प्रत्यासत्तिविशेषात्प्रदीपात्मनः प्रदीप एव समवायो नान्यत्रेति चेत्; स कोऽन्योन्यत्र कथञ्चित्तादात्म्यात् ।

एतेन प्रकाशनक्रियाया अपि प्रदीपात्मकत्वं प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यम् । तस्यास्ततो भेदे प्रदीप-

---

समाधान—यह बात गलत है, इसतरह भी सर्वथा भेद सिद्ध नहीं होता, सत्व आदि धर्मों की अपेक्षा इन करण और क्रियामें अभेद भी है। अर्थात् कर्त्ता देवदत्तादि करण वसूलादि एवं छेदन क्रिया ये सब अस्ति–सत्वरूप है, सत्वदृष्टि से इनमें कथंचित् अभेद भी है। तथा यह सर्वथा नियम नहीं है कि करण से क्रिया भिन्न ही है, "प्रदीपः स्वात्मना आत्मानं प्रकाशयति" इत्यादि स्थानों पर वह क्रिया करण से अपृथक्–अभिन्न प्रतीत हो रही है। प्रदीप का जो प्रकाशरूप स्वभाव है वह प्रदीप से भिन्न नहीं है, यदि भिन्न होवे तो प्रदीप–अप्रदीप बन जायगा जैसे प्रदीप से पट पृथक् होने के कारण अप्रदीप है।

शंका—प्रदीप से प्रदीप का स्वरूप भिन्न है किंतु समवाय से प्रदीप में प्रदीपत्व सिद्ध होता है ?

समाधान—यह कथन ठीक नहीं, इसतरह अप्रदीपरूप जो घट पट आदि पदार्थ हैं उनमें भी प्रदीपपने का समवाय होने का प्रसंग आता है। क्योंकि जैसे प्रदीपत्व आने के पहले प्रदीप अप्रदीपरूप है वैसे पट घट इत्यादि पदार्थ भी अप्रदीप हैं।

शंका—प्रत्यासत्ति की विशेषता से प्रदीप में ही प्रदीपत्वस्वरूप का समवाय होता है अन्यत्र नहीं।

समाधान—वह प्रत्यासत्ति विशेष कौन है, कथंचित् तादात्म्य ही तो है ? तादात्म्य को छोड़कर प्रत्यासत्ति विशेष कुछ भी नहीं है।

जिसप्रकार प्रदीप का स्वरूप प्रदीप से भिन्न नहीं है प्रदीप का प्रदीपपना या स्वरूप प्रदीपात्मक ही है ऐसा सिद्ध हुआ, इसीप्रकार प्रदीप की प्रकाशन क्रिया प्रदीप

स्याऽप्रकाशकद्रव्यत्वानुषङ्गात् । तत्रास्याः समवायान्नायं दोषः; इत्यप्यसमीचीनम्; अनन्तरोक्ताऽशेष-दोषानुषङ्गात् । तन्नानयोरात्यन्तिको भेदः ।

नाप्यभेदः; तदऽव्यवस्थानुषङ्गात् । न खलु 'सारूप्यमस्य प्रमाणमधिगतिः फलम्' इति सर्वथा तादात्म्ये व्यवस्थापयितुं शक्यं विरोधात् ।

ननु सर्वथाऽभेदेप्यनयोर्व्यावृत्तिभेदात्प्रमाणफलव्यवस्था घटते एव, अप्रमाणव्यावृत्त्या हि ज्ञानं

स्वरूप ही है ऐसा समझना चाहिये, यदि प्रकाशन क्रिया को प्रदीप से भिन्न माना जायगा तो प्रदीप अप्रकाशक द्रव्य बनेगा ।

शंका–प्रदीप का प्रकाशकत्व यद्यपि पृथक् है तो भी प्रदीप में उसका समवाय होने से कोई दोष नहीं आता ।

समाधान–यह कथन असमीचीन है, इसमें वही पूर्वोक्त दोष आते हैं, अर्थात्–प्रदीप का प्रकाशकत्व प्रदीप से भिन्न है तो उसका समवाय प्रदीप में होता है अन्यत्र नहीं होता ऐसा नियम नहीं बनता प्रकाशकत्व का समवाय होने के पहले प्रदीप भी अप्रकाशरूप था और घट पटादि पदार्थ भी अप्रकाश स्वरूप थे फिर प्रदीप में ही प्रकाशकत्व क्यों आया घटादि में क्यों नहीं आया इत्यादि शंकाओं का समाधान नहीं कर सकने से समवाय पक्ष की बात असत्य होती है । इसप्रकार प्रमाण और प्रमाण के फल में अत्यन्त भेद–सर्वथा भेद मानना सिद्ध नहीं होता ।

प्रमाण और उसके फल में सर्वथा–अत्यन्त अभेद भी नहीं है । क्योंकि सर्वथा अभेद माने तो इनकी व्यवस्था नहीं होगी कि यह प्रमाण है और यह उसका फल है । कोई बौद्ध मतवाले कहे कि प्रमाण और उसके फल की व्यवस्था बन जायगी, ज्ञान का पदार्थ के आकार होना प्रमाण है और उस पदार्थ को जानना प्रमाण का फल है । सो भी बात नहीं है उन दोनों में सर्वथा तादात्म्य अर्थात् अभेद मानने में उक्त व्यवस्था विरुद्ध पड़ती है । तादात्म्य एक ही वस्तुरूप होता उसमें यह प्रमाण है यह उसका फल है इत्यादिरूप व्यवस्था होना शक्य नहीं ।

शंका—प्रमाण और फल मे सर्वथा अभेद होने पर भी व्यावृत्ति के भेद से प्रमाण फल की व्यवस्था घटित होती है–ज्ञान अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण कहलाता है और अफल की व्यावृत्ति से फल कहलाता है ।

प्रमाणमफलव्यावृत्या च फलम्; इत्यप्यविचारितरमणीयम्; परमार्थतः स्वेष्टसिद्धिविरोधात्। न च स्वभावभेदमन्तरेणान्यव्यावृत्तिभेदोप्युपपद्यते इत्युक्तं सारूप्यविचारे। कथं चास्याऽप्रमाणफलव्यावृत्त्या प्रमाणफलव्यवस्थावत् प्रमाणफलान्तरव्यावृत्त्याऽप्रमाणफलव्यवस्थापि न स्यात्? ततः पारमा-

---

समाधान—यह कथन अविचार पूर्ण है, इसतरह व्यावृत्ति की कल्पना से भेद बतायेंगे तो अपना इष्ट वास्तविकरूप से सिद्ध नहीं होगा काल्पनिक ही सिद्ध होगा। अभिप्राय यह समझना कि बौद्ध प्रमाण और उसके फल में सर्वथा अभेद बतलाकर व्यावृत्ति से भेद स्थापित करना चाहते हैं, अप्रमाण की व्यावृत्ति प्रमाण है और अफल की व्यावृत्ति फल है ऐसा इनका कहना है किन्तु यह परमार्थभूत सिद्ध नहीं होता अप्रमाण कौनसा पदार्थ है तथा उससे व्यावृत्त होना क्या है इत्यादि कुछ भी न बता सकते हैं और न सिद्ध ही होता है। तथा प्रमाण और फल में स्वभाव भेद सिद्ध हुए बिना केवल अन्य की व्यावृत्ति से भेद मानना अशक्य है। इस विषय में साकार ज्ञानवाद के प्रकरण में [प्रथम भाग में] बहुत कुछ कह दिया है। बौद्ध अप्रमाण की व्यावृत्ति से प्रमाण की और अफल की व्यावृत्ति से फल की व्यवस्था करते हैं, तो इस विषय में विपरीत प्रतिपादन करे कि–प्रमाणान्तर की व्यावृत्ति अप्रमाण कहलाता है और फलान्तर को व्यावृत्ति अफल कहलाता है तो इसका समाधान आपके पास कुछ भी नही है, अतः परमार्थभूत सत्य प्रमाण तथा फल को सिद्ध करना है तो इन दोनों में कथंचित् भेद है ऐसी प्रतीति सिद्ध व्यवस्था स्वीकार करना चाहिये अन्यथा प्रमाण तथा फल दोनों की भी व्यवस्था नहीं बन सकती ऐसा निश्चय हुआ।

विशेषार्थ—प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न है कि अभिन्न है इस विषय में विवाद है, नैयायिकादि उसको सर्वथा भिन्न मानते हैं, तो बौद्ध सर्वथा अभिन्न, किन्तु ये मत प्रतीति से बाधित होते हैं, प्रमाण का साक्षात् फल जो अज्ञान दूर होना है वह तो प्रमाण से अभिन्न है क्योंकि जो व्यक्ति जानता है उसी की अज्ञान निवृत्ति होती है ज्ञान और ज्ञान की ज्ञप्ति–जानन क्रिया ये भिन्न भिन्न नहीं है। परवादी का यह जो कथन है कि कर्त्ता, करण और क्रिया ये सब पृथक् पृथक् ही होने चाहिये जैसे देवदत्त कर्त्ता वसूलाकरण द्वारा काष्ठ को छेदता है इसमें कर्त्ता करण और छेदन क्रिया पृथक् पृथक् है, सो ऐसी बात ज्ञान के विषय में नहीं हो सकती यह नियम नहीं है कि कर्त्ता करण आदि सर्वथा पृथक् पृथक् ही हो, प्रदीप कर्त्ता प्रकाशरूप करण द्वारा घट

थिके प्रमाणफले प्रतीतिसिद्धे कथञ्चिद्भिन्ने प्रतिपत्तव्ये प्रमाणफलव्यवस्थान्यथानुपपत्तेरिति स्थितम् ।

को प्रकाशित करता है, इसमें प्रदीप कर्त्ता से प्रकाशरूप करण पृथक् नहीं दिखता न कोई इसे पृथक् मानता ही है एवं प्रकाशन क्रिया भी भिन्न नहीं है, प्रमाण और फल वसूला और काष्ठ छेदन क्रिया के समान नहीं है अपितु प्रकाश और प्रकाशन क्रिया के समान अभिन्न है अतः प्रमाण से उसके फल को सर्वथा भिन्न मानने का हटाग्रह अज्ञान पूर्ण है। प्रमाण से उसके फलको सर्वथा अभिन्न बताने वाले बौद्ध के यहां भी बाधा आती है, क्योंकि प्रमाण और उसका फल सर्वथा अभिन्न है, अपृथक् है तो यह प्रमाण है और यह उसका फल है ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती। अतः सही मार्ग तो स्याद्वाद की शरण लेने पर ही मिलता है कि प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है लक्षण, प्रजोजन, आदि की अपेक्षा तो भिन्न है, प्रमाण का लक्षण स्वपर को जानना है और अज्ञान दूर होना इत्यादि फल का लक्षण है। हान, उपादान एवं उपेक्षा ये भी प्रमाण के फल हैं, जो पुरुष जानता है वही हान क्रिया को करता है अर्थात् प्रमाण द्वारा यह पदार्थ अनिष्टकारी है ऐसा जानकर उसे छोड़ देता है, तथा उपादान क्रिया अर्थात् यह पदार्थ इष्ट है ऐसा जानकर उसे ग्रहण करता है, जो पदार्थ न इष्ट है और न अनिष्ट है उसकी उपेक्षा करता है—उसमें मध्यस्थता रखता है, यह सब उस प्रमाता पुरुष की ही क्रिया है यह प्रमाण का फल परम्परा फल कहलाता है क्योंकि प्रथम फल तो उस वस्तु सम्बन्धी अज्ञान दूर होना है, अज्ञान के निवृत्त होने पर उसे छोड़ना या ग्रहण करना आदि क्रमशः बाद में होता है। इसप्रकार प्रमाण और फल में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है ऐसा सिद्ध होता है। इसप्रकार विषय परिच्छेद नामा इस अध्याय में श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने प्रमाण का विषय क्या है इसका बहुत विस्तृत विवेचन किया है अंत मे यह फल का प्रकरण भी दिया है इस परिच्छेद में प्रमाण का विषय बतलाते हुए सामान्यस्वरूप विचार, ब्राह्मणत्व जाति निरास, क्षण भंगवाद, सम्बन्ध सद्भाववाद, अन्वय्यात्मसिद्धि, सामान्यविशेषात्मकवाद, अवयविस्वरूप-विचार, परमाणुरूप नित्यद्रव्यविचार, आकाशद्रव्यविचार, काल तथा दिशाद्रव्यविचार, आत्मद्रव्यविचार, गुणपदार्थविचार, कर्म पदार्थ एवं विशेषपदार्थविचार, समवायपदार्थ विचार, धर्मअधर्मद्रव्यविचार और अंतिम फलस्वरूपविचार इसतरह सोलह प्रकरणों पर विमर्श किया गया है, ये प्रकरण कुछ बौद्ध सम्बन्धी हैं और कुछ वैशेषिक सम्बन्धी

योऽनेकान्तपदं प्रवृद्धमतुलं स्वेष्टार्थसिद्धिप्रदम्,
प्राप्तोऽनन्तगुणोदयं निखिलविन्निःशेषतो निर्मलम् ।
स श्रीमानखिलप्रमाणविषयो जीयाज्जनानन्दनः,
मिथ्यैकान्तमहान्धकाररहितः श्रीवर्द्धमानोदितः ।।

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते प्रमेयकमलमार्तण्डे परीक्षामुखालङ्कारे
चतुर्थः परिच्छेदः ।। श्रीः ।।

हैं । अस्तु । अब यहां पर आचार्य प्रभाचन्द्र इस परिच्छेद को समाप्त करके अन्तिम आशीर्वादात्मक मंगल श्लोक प्रस्तुत करते हैं—

योऽनेकान्त पदं प्रवृद्धमतुलं स्वेष्टार्थसिद्धिप्रदम् ।
प्राप्तोऽनंतगुणोदयं निखिलविन्निःशेषतो निर्मलम् ।।
स श्रीमानखिलप्रमाणविषयो जीयाज्जनानंदनः ।
मिथ्यैकान्तमहान्धकाररहितः श्री वर्द्धमानोदितः ।।१।।

अर्थ—जो अनेकान्त पद को प्राप्त है ऐसा अखिल प्रमाण का विषय जयशील होवे, कैसा है वह अनेकान्त पद ! प्रवृद्धशाली एवं अतुल है, तथा स्व-अपने इष्ट अर्थ की सिद्धि को देने वाला है, अनन्त गुणों का जिसमें उदय है, पूर्णरूप से निर्मल है, जीवों को आनन्दित करने वाला है, मिथ्या एकान्तरूप महान् अंधकार से रहित है, श्री वर्द्धमान तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित है श्रीयुक्त ऐसा यह प्रमाण विषय जयवन्त वर्त्तो । पक्ष में-निखिल वित्-सर्वज्ञ देव जयशील होवे ! कैसे हैं सर्वज्ञ देव ? जो अनेकान्त पद को प्राप्त हैं, कैसा है अनेकान्त पद ? प्रवृद्ध, अतुल, स्वेष्टार्थसिद्धि का प्रदाता, अनन्त गुणों का जिसमें उदय पाया जाता है, पूर्णरूप से निर्मल है श्रीमान्-श्रीयुक्त है, श्री अर्थात् अंतरंग लक्ष्मी अनंत ज्ञानादि, बहिरंग लक्ष्मी समवशरणादि से युक्त है, जगत् के जीवों को आनन्दित करने वाले हैं, संपूर्ण प्रमाणों के विषयों को जानने वाले होने से अखिल प्रमाण विषय है मिथ्या एकांतरूपी महान् अंधकार से रहित है, एवं गुण विशिष्ट सर्वज्ञ देव सदा जयवंत रहे । इति ।

इति श्री प्रभाचन्द्राचार्य विरचिते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे परीक्षामुखालंकारे
चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः ।

१६

अथ पञ्चमः परिच्छेदः

अथेदानीं तदाभासस्वरूपनिरूपणाय—

ततोन्यत्तदाभासम् ।। १ ।।

इत्याद्याह ।

प्रतिपादितस्वरूपात्प्रमाणसंख्याप्रमेयफलाद्यदन्यत्तत्तदाभासमिति । तदेव तथाहीत्यादिना यथा-क्रमं । व्याचष्टे । तत्र प्रतिपादितस्वरूपात्स्वार्थव्यवसायात्मकप्रमाणादन्ये—

अब यहां पर प्रमाणाभास, संख्याभास, विषयाभास और फलाभास का वर्णन करते हैं—

ततोन्यत्तदाभासम् ।।१।।

अर्थ—पहले जिनका वर्णन किया था ऐसे प्रमाणों का तथा उनकी संख्या विषय एवं फल इन चारों का जो स्वरूप बताया उससे विपरीत स्वरूप वाले प्रमाणा-भास संख्याभास आदि हुआ करते हैं, अर्थात् प्रमाण का स्वरूप स्वपर का निश्चय करना है इससे विपरीत स्वरूपवाला प्रमाणाभास कहलाता है। प्रमाण की प्रमुख संख्या दो हैं इससे कम अधिक संख्या मानना संख्याभास है। प्रमाण का विषय सामान्य विशेषात्मक वस्तु है उसमें अकेला सामान्यादिको विषय बताना विषयाभास है। प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न तथा कथंचित् अभिन्न होता है उससे विपरीत सर्वथा भिन्न या अभिन्न मानना फलाभास है। इन्हीं को आगे क्रम से श्रीमाणिक्यनन्दी आचार्य सूत्र द्वारा प्रतिपादन करते हैं—सर्व प्रथम स्वार्थ व्यवसायात्मक प्रमाण से अन्य जो हो वह प्रमाणाभास है ऐसा प्रमाणाभास का लक्षण करते हुए कहते हैं—

अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः ।। २ ।।

स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् ।। ३ ।।

पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत् ।। ४ ।।

अस्वसंविदिगृहीतार्थ दर्शन संशयादयः प्रमाणाभासाः ।।२।।

स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् ।।३।।

अर्थ—अपने आपको नहीं जानने वाला ज्ञान, गृहीतग्राही ज्ञान, निर्विकल्प ज्ञान, संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय इत्यादि प्रमाणाभास कहलाते हैं [असत् ज्ञान कहलाते हैं] क्योंकि ये सभी ज्ञान अपने विषय का प्रतिभास कराने में असमर्थ हैं निर्णय कराने में भी असमर्थ हैं। आगे इन्हीं का उदाहरण देते हैं—

पुरुषांतरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत् ।।४।।

अर्थ—अस्वसंविदित–अपने को नहीं जानने वाला ज्ञान अन्य पुरुष के ज्ञान के समान है, अर्थात्–जो स्वयं को नहीं जानता वह दूसरे व्यक्ति के ज्ञान के समान ही है, क्योंकि जैसे पराया ज्ञान हमारे को नहीं जानता वैसे हमारा ज्ञान भी हमें नहीं जानता, अतः इसतरह का ज्ञान प्रमाणाभास है। गृहीत ग्राही–जाने हुए को जानने वाला ज्ञान पूर्वार्थ पहले जाने हुए वस्तु के ज्ञान के समान है, इस ज्ञान से अज्ञान निवृत्तिरूप फल नहीं होता क्योंकि उस वस्तु सम्बन्धी अज्ञान को पहले के ज्ञान ने ही दूर किया है अतः यह भी प्रमाणाभास है। निर्विकल्प दर्शन चलते हुए पुरुष के तृण स्पर्श के ज्ञान के समान अनिर्णयात्मक है, जैसे चलते हुए पुरुष के पैर में कुछ तृणादिका स्पर्श होता है किंतु उस पुरुष का उस पर लक्ष्य नही होने से कुछ है, कुछ पैर में लगा इतना समझ वह पुरुष आगे बढ़ता है उसको यह निर्णय नहीं होता कि यह किस वस्तु का स्पर्श हुआ है। इसीतरह बौद्ध जो निर्विकल्प दर्शन को ही प्रमाण मान बैठे हैं वह दर्शन वस्तु का निश्चय नहीं कर सकता अतः प्रमाणाभास है। संशय ज्ञान स्थाणु और पुरुष आदि में होने वाला चलित प्रतिभास है यह भी वस्तु बोध नहीं कराता अतः प्रमाणाभास है। इन संशय विपर्यय और अनध्यवसाय को तो सभी ने प्रमाणाभास माना है।

चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च ॥ ५ ॥

एतच्च सर्वं प्रमाणसामान्यलक्षणपरिच्छेदे विस्तरतोऽभिहितमिति पुनर्नेहाभिधीयते । तथा

चक्षू रसयोर्द्रव्ये संयुक्त समवाय वच्च ॥५॥

चक्षु और रसका द्रव्य में संयुक्त समवाय होने पर भी जैसे ज्ञान नहीं होता अर्थात् सन्निकर्ष को प्रमाण मानने वाले के मत में चक्षु और रसका सन्निकर्ष होना तो मानते हैं किंतु वह सन्निकर्ष प्रमाणभूत नहीं है क्योंकि उस सन्निकर्ष द्वारा ज्ञान रसका ज्ञान नहीं होता इसीप्रकार अस्वसंविदित ज्ञान तथा सन्निकर्षादि भी प्रमाणाभास है, अर्थात् वैशेषिकादि परवादी सन्निकर्ष को [इन्द्रिय द्वारा वस्तु का स्पर्श होना] प्रमाण मानते हैं किंतु वह प्रमाणाभास है, क्योकि यदि सन्निकर्ष–छूना मात्र प्रमाण होता तो जैसे नेत्र द्वारा रूपका स्पर्श होकर रूपका ज्ञान होना मानते हैं वैसे जहां जिस द्रव्य में रूप है उसी में रस है अतः नेत्र और रूपका संयुक्त समवाय होकर नेत्र द्वारा रूपका ज्ञान होना मानते हैं, वैसे उसी रूप युक्त पदार्थ में रस होने से नेत्र का भी रसके साथ संयुक्त समवाय है किन्तु नेत्र द्वारा रसका ज्ञान तो होता ही नहीं, अतः निश्चय होता है कि सन्निकर्ष प्रमाण नही प्रमाणाभास है । इन अस्वसंविदित आदि के विषय में पहले परिच्छेद में प्रमाण का सामान्य लक्षण करते समय विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है अब यहां पुनः नहीं कहते ।

विशेषार्थ—ज्ञानको अस्वसंविदित मानने वाले बहुत से परवादी हैं, नैयायिक ज्ञानको अस्वसंविदित मानते हैं, इनका कहना है कि ज्ञान परपदार्थों को जानता है किंतु स्वयं को नहीं, स्वयं को जानने के लिये तो अन्य ज्ञान चाहिये, इसीलिये नैयायिक को ज्ञानान्तर वेद्यज्ञानवादी कहते है, इस मतका प्रथम भाग में भलीभांति खंडन किया है और यह सिद्ध किया है कि ज्ञान स्व और पर दोनों को जानता है । मीमांसक के दो भेद हैं भाट्ट और प्राभाकर, इनमें से भाट्ट ज्ञानको सर्वथा परोक्ष मानता है, नैयायिक तो अन्य ज्ञान द्वारा ज्ञानका प्रत्यक्ष होना तो बताते हैं किंतु भाट्ट एक कदम आगे बढ़ते हैं ये तो कहते हैं कि ज्ञान अन्य अन्य सभी वस्तुओं को जान सकता है किन्तु स्वयं हमेशा परोक्ष ही रहेगा, इसीलिये इन्हें परोक्ष ज्ञानवादी कहते हैं, यह मत भी नैयायिक के समान बाधित होने से पहले भाग में खण्डित हो चुका है । प्राभाकर अपने भाई

अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनाद् वह्निविज्ञानवत् ॥ ६ ॥

विशदं प्रत्यक्षमित्युक्तं ततोऽन्यस्मिन्नवैशद्ये सति प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्मिकधूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानवत् इत्यप्युक्तं प्रपञ्चतः प्रत्यक्षपरिच्छेदे ।

भाट्ट से एक कदम और भी आगे बढ़ते हैं, ये प्रतिपादन करते हैं कि ज्ञान और आत्मा ये दोनों भी परोक्ष हैं ज्ञान अपने को और अपने अधिकरणभूत आत्मा इनको कभी भी नहीं जान सकता अतः इन्हें आत्मपरोक्षवादी कहते हैं, इन नैयायिक आदि परवादी का यह अभिप्राय है कि प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता और प्रमिति इन प्रमुख चार तत्वों में से प्रमाण या ज्ञान प्रमेय को तो जानता है और प्रमिति [जानना] उसका फल होने से उसे भी ज्ञान जान लेता है किन्तु प्रमाण अप्रमेय होने से स्वयं को कैसे जाने ? नैयायिक ज्ञानको अन्य ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष होना बताते हैं किंतु भाट्ट इसे सर्वथा परोक्ष बताते हैं, प्राभाकर प्रमाण करण और आत्मा कर्ता इन दोनों को ही परोक्ष–सर्वथा परोक्ष स्वीकार करते हैं, इनका मत साक्षात् बाधित होता है आत्मा और ज्ञान परोक्ष रहेंगे तो स्वयं को जो अनुभव सुख दुःख होता है पर वस्तु को जानकर हर्ष विषाद होता है वह हो नहीं सकता इत्यादि बहुत प्रकार से इन मतों का निरसन किया गया है । इस प्रकार नैयायिक, भाट्ट और प्राभाकर ये तीनों अस्वसंविदित ज्ञानवादी हैं, इनका स्वीकृत प्रमाण नहीं प्रमाणाभास है । गृहीत ग्राही ज्ञान प्रमाणाभास इसलिये है कि जिस वस्तु को पहले ग्रहण कर चुके उसको जान लेने से कुछ प्रयोजन नहीं निकलता । निर्विकल्प दर्शन को प्रमाण मानने वाले बौद्ध हैं उनका अभिमत ज्ञान वस्तु का निश्चायक नहीं होने से प्रमाणाभास के कोटि में आ जाता है । संशयादि ज्ञानको सभी मतवाले प्रमाणाभासरूप स्वीकार करते हैं । सन्निकर्ष को प्रमाण वाले वैशेषिक का मत भी बाधित होता है प्रथम तो बात यह है इन्द्रिय और पदार्थ का स्पर्श सन्निकर्ष या छूना कोई प्रमाण या ज्ञान है नहीं वह तो एक तरह का प्रमाण का कारण है, दूसरी बात–हर इन्द्रियां पदार्थ को स्पर्श करके जानती ही नहीं चक्षु और मन तो बिना स्पर्श किये ही जानते हैं इत्यादि इस विषय को पहले बतला चुके हैं ।

अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद् धूमदर्शनाद् वह्निविज्ञानवत् ॥६॥

अर्थ—अविशद ज्ञानको प्रत्यक्ष कहना प्रत्यक्षाभास है, जैसे अचानक धूम के दर्शन से होने वाले अग्नि के ज्ञान को बौद्ध प्रत्यक्ष मानते हैं वह प्रत्यक्षाभास इसी को

वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ।। ७ ।।

न हि करणज्ञानेऽव्यवधानेन प्रतिभासलक्षणं वैशद्यमसिद्धं स्वार्थयोः प्रतीत्यन्तरनिरपेक्षतया तत्र प्रतिभासनादित्युक्तं तत्रैव । तथाऽनुभूतेर्थे तदित्याकारा स्मृतिरित्युक्तम् । अननुभूते—

बताते हैं—पहले प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण करते हुए विशदं प्रत्यक्षम् ऐसा कहा था, इस लक्षण से विपरीत अर्थात् अविशद–अस्पष्ट या अनिश्चायक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं किन्तु प्रत्यक्षाभास है, जैसे–जिस व्यक्ति को धूम और वाष्पका भेद मालूम नहीं है उस ज्ञान के अभाव में उसको निश्चयात्मक व्याप्ति ज्ञान भी नहीं होता कि जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि अवश्य होती है, ऐसे व्याप्तिज्ञान के अभाव में यदि वह पुरुष अचानक ही धूम को देखे और यहां पर अग्नि है ऐसा समझे तो उसका वह ज्ञान प्रमाण नहीं कहलायेगा अपितु प्रमाणाभास ही कहलायेगा, क्योंकि उसे धूम और अग्नि के सम्बन्ध का निश्चय नहीं है न वह धूम और वाष्प के भेद को जानता है, इसीतरह बौद्ध का माना हुआ निर्विकल्प प्रत्यक्ष–प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है किन्तु प्रत्यक्षाभास है, क्योंकि जैसे अकस्मात् होने वाले उस अग्नि ज्ञान को अनिश्चयात्मक होने से प्रमाणाभास माना जाता है वैसे ही निर्विकल्प दर्शन अनिश्चयात्मक होने से प्रत्यक्ष प्रमाणाभास है ऐसा मानना चाहिये । इस विषय का प्रथम भाग में प्रत्यक्ष परिच्छेद में विस्तारपूर्वक कथन किया है ।

वैशद्येपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ।।७।।

अर्थ—विशद ज्ञान को भी परोक्ष मानना परोक्षाभास है, जैसे मीमांसक का करणज्ञान, अर्थात्–मीमांसक करणज्ञान को [जिसके द्वारा जाना जाय ऐसा ज्ञान स्वयं परोक्ष रहता है ऐसी मीमांसक की मान्यता है, तदनुसार] परोक्ष मानते हैं वह मानना परोक्षाभास है, क्योंकि करण ज्ञान में अव्यवधानरूप से जानना रूप वैशद्य असिद्ध नहीं है, यह ज्ञान भी स्व और परको बिना किसी अन्य प्रतीति की अपेक्षा किये प्रतिभासित करता है, अतः प्रत्यक्ष है, इसे परोक्ष मानना परोक्षाभास है । इस विषय का खुलासा पहले कर चुके हैं ।

अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथेति ॥ ८ ॥

तदेकत्वादिनिबन्धनं तदेवेदमित्यादि प्रत्यभिज्ञानमित्युक्तम् । तद्विपरीतं तु—

सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥ ९ ॥

अनुभूत विषय में "वह" इसप्रकार की प्रतीति होना स्मरण प्रमाण कहलाता है, यदि बिना अनुभूत किया पदार्थ हो तो—

अतस्मिन् तदिति ज्ञानं स्मरणाभासं जिनदत्ते स देवदत्तो यथेति ॥८॥

अर्थ—जो वह नहीं है उसमें "वह" इसप्रकार की स्मृति होना स्मरणाभास है, जैसे जिनदत्त का तो अनुभव किया था और स्मरण करता है "वह देवदत्त" इस प्रकार का प्रतिभास होना स्मृत्याभास है। एक वस्तु में जो एकपना रहता है उसके निमित्त से होने वाला–उसका ग्राहक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान होता है, तथा और भी प्रत्यभिज्ञान के भेद पहले बताये थे उनसे विपरीत जो ज्ञान हो वे प्रत्यभिज्ञानाभास हैं अर्थात् सदृश में एकत्व का और एकत्व में सदृश का ज्ञान होना प्रत्यभिज्ञानाभास है आगे इसीको कहते हैं—

सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासं ॥९॥

अर्थ—सदृश वस्तु में कहना कि यह वही पुरुष [जिसे मैंने कल देखा था] है, और जो वही एक वस्तु है उसको कहना या उसमें प्रतीति होना कि यह उसके सदृश है सो क्रमशः एकत्व प्रत्यभिज्ञानाभास और सदृश प्रत्यभिज्ञानाभास है, जैसे एक व्यक्ति के दो युगलिया [जुड़वां] पुत्र थे, मान लो एक का नाम रमेश और एक का नाम सुरेश था दोनों भाई–बिलकुल समान थे, उन दोनों को पहले किसी ने देखा था किन्तु समानता होने के कारण कभी रमेश को देखकर उसमें यह वही सुरेश है जिसे पहले देखा था ऐसी प्रतीति करता है, तथा कभी वही एक सुरेश को देखकर भी कहता या समझता है कि यह रमेश सुरेश सदृश है। इसतरह प्रत्यभिज्ञानाभास के उदाहरण समझने चाहिये।

असम्बन्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम्, यावांस्तत्पुत्रः स श्यामः इति यथा ॥ १० ॥

व्याप्तिज्ञानं तर्क इत्युक्तम् । ततोन्यत्पुनः असम्बन्धे-अव्याप्तौ तज्ज्ञानं=व्याप्तिज्ञानं तर्काभासम् । यावांस्तत्पुत्रः स श्याम इति यथा ।

इदमनुमानाभासम् ॥ ११ ॥

असंबंधे तज्ज्ञानं तर्काभासम् यावांस्तत् पुत्रः स श्यामः इति यथा ॥१०॥

अर्थ—जिसमें व्याप्ति-संबंध नहीं है ऐसे असबद्ध पदार्थ में संबंध का ज्ञान होना तर्काभास है, जैसे मैत्री का जो भी पुत्र है वह श्याम [काला] ही है इत्यादि । व्याप्ति ज्ञान को तर्क कहते हैं ऐसा पहले बता दिया है, उस लक्षण से अन्य जो ज्ञान हो वह तर्काभास है, व्याप्ति ज्ञान का लक्षण बतलाते हुए कहा था कि "उपलंभानुपलंभनिमित्तं व्याप्तिज्ञान मूहः" उपलम्भ और अनुपलम्भ के निमित्त से व्याप्ति का ज्ञान होना तर्क प्रमाण है, जैसे जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है, और जहां अग्नि नहीं होती वहां धूम भी नहीं होता इत्यादि, इसप्रकार साध्य और साधन के अविनाभावपने का ज्ञान होना अर्थात् इस साध्य के बिना यह हेतु नहीं होता-इस हेतु का साध्य के साथ अविनाभावी संबंध है इसतरह संबंधयुक्त पदार्थ का ज्ञान तो तर्क है किन्तु जिसमें ऐसा अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है, उनमें संबंध बताना तो तर्काभास ही है, जैसे किसी अज्ञानी ने अनुमान बताया कि यह मैत्री के गर्भ में स्थित जो बालक है वह काला होगा, क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है, जो जो मैत्री का पुत्र होता है वह वह काला ही होता है, जैसे वर्त्तमान में उसके और भी जो पुत्र हैं वे सब काले हैं । इस अनुमान में मैत्री के पुत्र के साथ काले रंग का अविनाभाव सम्बन्ध जोड़ा है वह गलत है, यह जरूरी नहीं है कि किसी के वर्त्तमान के पुत्र काले हैं अतः गर्भ में आया हुआ पुत्र भी काला ही हो । जो साधन अर्थात् हेतु साध्य के साथ अविनाभावी हो साध्य के बिना नहीं होता हो उसीको हेतु बनाना चाहिये ऐसे हेतु से ही अनुमान सही कहलाता है अन्यथा वह अनुमानाभास होता है और ऐसे अविनाभाव संबंध के नहीं होते हुए भी उसको मानना तर्काभास है ।

इदमनुमानाभासम् ॥११॥

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमित्युक्तम् । तद्विपरीतं त्विदं वक्ष्यमाणमनुमानाभासम् । पक्षहेतुदृष्टान्तपूर्वकश्चानुमानप्रयोग: प्रतिपादित इति । तत्रेत्यादिना यथाक्रमं पक्षाभासादीनुदाहरति ।

तत्र अनिष्टादिः पक्षाभासः ।। १२ ।।

तत्रानुमानाभासेऽनिष्टादिः पक्षाभास: तत्र—

अनिष्टो मीमांसकस्याऽनित्यः शब्द इति ।। १३ ।।

स हि प्रतिवाद्यादिदर्शनात्कदाचिदाकुलितबुद्धिर्विस्मरन्ननभिप्रेतमपि पक्षं करोति ।

अर्थ—अब यहां से अनुमानाभासका प्रकरण शुरु होना है, साधन से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं ऐसा अनुमान का लक्षण पहले कहा था इससे विपरीत ज्ञानको अनुमानाभास कहते हैं । पक्ष हेतु, दृष्टांतपूर्वक अनुमान प्रयोग होता है ऐसा प्रतिपादन किया था उन पक्ष आदि का जैसा स्वरूप बतलाया है उससे विपरीत स्वरूप वाले पक्ष आदि का प्रयोग करने से पक्षाभास आदि बनते हैं और इससे अनुमान भी अनुमानाभास बनते हैं, अब क्रम से इनको कहते हैं—

तत्र अनिष्टादि: पक्षाभास: ।।१२।।

अर्थ—अनिष्ट आदि को पक्ष बनाना पक्षाभास है, इष्ट, अबाधित और असिद्ध ऐसा साध्य होता है, साध्य जहां पर रहता है उसे पक्ष कहते हैं, जिस पक्ष में अनिष्टपना हो या बाधा हो अथवा सिद्ध हो वे सब पक्षाभास हैं ।

अनिष्टो मीमांसकस्याऽनित्य: शब्द इति ।।१३।।

अर्थ—मीमांसक शब्द को नित्य मानने का पक्ष रखते हैं किंतु यदि कदाचित् वे पक्ष बनावें कि अनित्य: शब्द:, कृतकत्वात् शब्द अनित्य है, क्योंकि वह किया हुआ है, इसतरह शब्द को अनित्य बताना उन्हींके लिये अनिष्ट हुआ, प्रतिवादी के मत को देखना आदि के निमित्त से कदाचित् आकुलित बुद्धि होकर वादी अपने पक्ष को विस्मृत कर अनिष्ट ऐसे परमत के पक्ष को करने लग जाता है ।

तथा सिद्धः श्रावणः शब्दः ।। १४ ।।

सिद्धः पक्षाभासः, यथा श्रावणः शब्द इति, वादिप्रतिवादिनोस्तत्राऽविप्रतिपत्तेः । तथा—

बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ।।१५।।

पक्षाभासो भवति ।

तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा—

अनुष्णोग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ।। १६ ।।

अनुमानबाधितो यथा—

तथा सिद्धः श्रावणः शब्दः ।।१४।।

अर्थ—पक्ष में रहने वाला साध्य असिद्ध विशेषण वाला होना चाहिये उसे न समझकर कोई सिद्ध को ही पक्ष बनावे तो वह सिद्ध पक्षाभास कहलाता है, जैसे किसी ने पक्ष उपस्थित किया कि "श्रावणः शब्दः" शब्द श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होता है सो ऐसे समय पर वह पक्षाभास होगा क्योंकि शब्द श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य होता है । ऐसा सभी को सिद्ध है, वादी प्रतिवादी का इसमे कोई विवाद नहीं है ।

बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ।।१५।।

अर्थ—बाधित पक्ष पांच प्रकार का है प्रत्यक्ष बाधित, अनुमान बाधित, आगम बाधित, लोक बाधित, और स्ववचन बाधित, जो भी पक्ष रखे वह अबाधित होना चाहिये ऐसा पहले कहा था किन्तु उसे स्मरण नहीं करके कोई बाधित को पक्ष बनावे तो वह बाधित पक्षाभास है । अब इनके पांच भेदो में से प्रत्यक्ष बाधित पक्षाभास का उदाहरण प्रस्तुत करते है—

अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ।।१६।।

अर्थ— अग्नि ठंडी है, क्योंकि वह द्रव्य है, जैसे जल द्रव्य होने से ठंडा होता है । इसप्रकार कहना प्रत्यक्ष बाधित है, क्योंकि साक्षात् ही अग्नि उष्ण सिद्ध हो रही है । अनुमान बाधित पक्षाभास का उदाहरण—

अपरिणामी शब्दः कृतकत्वाद्घटवत् ।। १७ ।।

तथाहि—'परिणामी शब्दोऽर्थक्रियाकारित्वात्कृतकत्वाद् घटवत्' इति अर्थक्रियाकारित्वादयो हि हेतवो घटे परिणामित्वे सत्येवोपलब्धाः, शब्देप्युपलभ्यमानाः परिणामित्वं प्रसाधयन्ति इति 'अपरिणामी शब्दः' इति पक्षस्यानुमानबाधा ।

आगमबाधितो यथा—

प्रेत्याऽसुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवदिति ।। १८ ।।

आगमे हि धर्मस्याभ्युदयनिःश्रेयसहेतुत्वं तद्विपरीतत्वं चाधर्मस्य प्रतिपाद्यते । प्रामाण्यं चास्य प्रागेव प्रतिपादितम् ।

लोकबाधितो यथा—

अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् घटवत् ।।१७।।

अर्थ—शब्द अपरिणामी होता है, क्योंकि वह किया हुआ है, जैसे घट किया हुआ है, ऐसा कहना अन्य अनुमान द्वारा बाधित होता है, अब उसी अनुमान को बताते हैं—शब्द परिणामी है, क्योंकि वह अर्थ क्रिया को करने वाला है तथा किया हुआ है, जैसे घट अर्थ क्रियाकारी और कृतक होने से परिणामी होता है, इसप्रकार के अनुमान द्वारा पहले के शब्द को अपरिणामी बतलाने वाला अनुमान बाधा युक्त होता है, क्योंकि अर्थ क्रियाकारित्व आदि हेतु घटरूप उदाहरण में परिणामित्व के होने पर ही देखे जाते हैं अतः शब्द में यदि वे अर्थ क्रियाकारित्व और कृतकत्व दिखाई देते हैं तो वे शब्द को परिणामीरूप सिद्ध कर देते हैं, इसलिये "अपरिणामी शब्दः" इत्यादि पक्ष में अनुमान से बाधा आती है । आगम बाधित पक्षाभास का उदाहरण—

प्रेत्याऽसुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ।।१८।।

अर्थ—परलोक में धर्म दुःख को देने वाला है, क्योंकि वह पुरुष के आश्रित है, जैसे अधर्म पुरुष के आश्रित होने से दुःख को देनेवाला होता है, इसतरह कहना आगम बाधित है, आगम में तो धर्म को स्वर्ग और मोक्ष का कारण बताया है इससे उलटे जो अधर्म है उसे दुःखकारी नीच गति का कारण बताया है, अतः कोई धर्म को

शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खशुक्तिवदिति ॥ १९ ॥

लोके हि प्राण्यङ्गत्वाविशेषेपि किञ्चिदपवित्रं किञ्चित्पवित्रं च वस्तुस्वभावात्प्रसिद्धम्। यथा गोपिण्डोत्पन्नत्वाविशेषेपि वस्तुस्वभावतः किञ्चिद् दुग्धादि शुद्धं न गोमांसम्। यथा वा मणित्वाविशेषेपि कश्चिद्विषापहारादिप्रयोजनविधायी महामूल्योऽन्यस्तु तद्विपरीतो वस्तुस्वभाव इति।

स्ववचनबाधितो यथा—

माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत् ॥ २० ॥

दुःख का कारण कहे तो वह आगम बाधित पक्ष है। आगम प्रमाण किस प्रकार प्रामाणिक होता है इसका कथन पहले कर दिया है। लोक बाधित पक्षाभास का उदाहरण—

शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यंगत्वाच्छंखशुक्तिवत् ॥१९॥

अर्थ—मृत मनुष्य का कपाल पवित्र है, क्योकि वह प्राणो का अंग अवयव है, जैसे शंख, सीप आदि प्राणी के अंग होकर पवित्र माने गये हैं, इसतरह अनुमान प्रयुक्त करना लोक से बाधित है लोक में तो प्राणी का अवयव होते हुए भी किसी अंग को–अवयव को पवित्र और किसी को अपवित्र बताया है, क्योंकि ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है, जैसे कि गाय से उत्पन्न होने की अपेक्षा दूध और मांस समान होते हुए भी दूध शुद्ध है और मांस शुद्ध नहीं है, अथवा रत्न की अपेक्षा समानता होते हुए भी कोई रत्न विष बाधा को दूर करना इत्यादि कार्य में उपयोगी होने से महामूल्य होता है और कोई रत्न ऐसा इतना उपयोगी नहीं होता, इसीप्रकार का उनमें भिन्न भिन्न स्वभाव है, इसीतरह प्राणो का अंग होते हुए भी मृत मनुष्य की खोपड़ी अपवित्र है–छूने मात्र से सचेल स्नान करना होता है और शंख, सीप आदि के छूने से स्नान नहीं करना पड़ता अतः दोनों को समान बतलाना लोक बाधित है। स्ववचन बाधित पक्षाभास का उदाहरण—

माता मे वन्ध्या पुरुष संयोगेप्यगर्भत्वात् प्रसिद्ध वन्ध्यावत् ॥२०॥

अथेदानीं पक्षाभासानन्तरं हेत्वाभासेत्यादिना हेत्वाभासानाह—

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाऽकिञ्चित्कराः ।। २१ ।।

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरित्युक्तं प्राक् । तद्विपरीतास्तु हेत्वाभासाः । के ते ? असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाऽकिंचित्कराः ।

तत्रासिद्धस्य स्वरूपं निरूपयति—

असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः इति ।। २२ ।।

सत्ता च निश्चयश्च [सत्तानिश्चयौ] असन्तौ सत्तानिश्चयौ यस्य स तथोक्तः । तत्र—

अर्थ—मेरी माता वन्ध्या है, क्योंकि पुरुष का संयोग होने पर भी गर्भधारण नहीं करती, जैसे प्रसिद्ध वन्ध्या स्त्री गर्भधारण नहीं करती, ऐसा किसी ने पक्ष कहा यह उसी के वचन से बाधित है मेरी माता और फिर वन्ध्या, यह होना अशक्य है यदि माता वन्ध्या होती तो तू कहां से होता ? इसतरह प्रत्यक्ष बाधित आदि पक्ष को स्थापित करने से वह अनुमान गलत हो जाता है अतः अनुमान का प्रयोग करते समय इष्ट, अबाधित और असिद्ध इन विशेषणों से युक्त ऐसे पक्षका ही प्रयोग करना चाहिये, अन्यथा पक्षाभास होने से अनुमान भी असत् ठहरता है । इसप्रकार नौ सूत्रों द्वारा पक्षाभास का वर्णन करके अब आगे अठारह सूत्रों द्वारा हेत्वाभासों का वर्णन करते हैं—

हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाऽकिञ्चित्कराः ।।२१।।

अर्थ—हेत्वाभास के चार भेद हैं, असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर साध्य के साथ जिसका अविनाभावी सम्बन्ध हो वह हेतु कहलाता है, ऐसा हेतु का लक्षण जिसमें न पाया जाय वह हेत्वाभास है, उसके ये असिद्धादि चार भेद हैं । उनमें से असिद्ध हेत्वाभास का निरूपण करते हैं—

असत् सत्ता निश्चयोऽसिद्धः ।।२२।।

अर्थ—जो हेतु साध्य में मौजूद नहीं हो वह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है तथा जिसका साध्य में रहना निश्चित न हो वह सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास है, यानी जिस

अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वादिति ।। २३ ।।

कथमस्याऽसिद्धत्वमित्याह—

स्वरूपेणासिद्धत्वात् इति ।। २४ ।।

चक्षुर्ज्ञानग्राह्यत्वं हि चाक्षुषत्वम्, तच्च स्वरूपेणासत्त्वादसिद्धम् । पौद्गलिकत्वात्तत्सिद्धिः; इत्यप्यपेशलम्; तदविशेषेप्यनुद्भूतस्वभावस्यानुपलम्भसम्भवाज्जलकनकादिसंयुक्तानले भासुररूपोष्ण-स्पर्शवदित्युक्तं तत्पौद्गलिकत्वसिद्धिप्रघट्टके ।

पुरुष को जिस हेतुका साध्य के साथ होने वाला अविनाभाव मालूम न हो उसके प्रति हेतु का प्रयोग करना सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास है ।

"सत्ता च निश्चयश्च सत्तानिश्चयौ, असन्तौ सत्तानिश्चयौ यस्य असौ असत् सत्तानिश्चयः" इसप्रकार "असत् सत्तानिश्चयः" इस पदका विग्रह करके असिद्ध हेत्वाभास के दो भेद समझ लेने चाहिये ।

अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ।।२३।।

अर्थ—जिसको सत्ता विद्यमान नहीं हो वह असत् सत्ता या स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, जैसे किसीने अनुमान वाक्य कहा कि-शब्द परिणामी है, क्योंकि वह चाक्षुष है नेत्र द्वारा ग्राह्य है, सो यह अनुमान गलत है, शब्द चाक्षुष नहीं होता, शब्द में चाक्षुष धर्म स्वरूप से ही असिद्ध है, इसी का खुलासा करते हैं—

स्वरूपेणासिद्धत्वात् ।।२४।।

अर्थ— शब्द को चाक्षुष कहना स्वरूप से ही असिद्ध है । चक्षु सम्बन्धी ज्ञान के द्वारा जो ग्रहण में आता है ऐसे रूप जो नील पीतादि हैं वे चाक्षुष हैं, ऐसा चाक्षुष-पना शब्द का स्वरूप नहीं है अतः शब्द को चाक्षुष हेतु से परिणामी सिद्ध करना असिद्ध हेत्वाभास कहा जाता है । कोई कहे कि-शब्द भी पुद्गल है और चाक्षुष रूपादि धर्म भी पुद्गल है अतः पुद्गलपने की अपेक्षा समानता है, तथा शब्द को जब जैन लोग पौद्गलिक मानते हैं तब उसमें चाक्षुषपना होना जरूरी है, अतः चाक्षुष हेतु

ये च विशेष्यासिद्धादयोऽसिद्धप्रकाराः परैरिष्टास्तेऽसत्सत्ताकत्वलक्षणासिद्धप्रकारान्नार्थान्तरम्, तल्लक्षणभेदाभावात् । यथैव हि स्वरूपासिद्धस्य स्वरूपतोऽसत्वादसत्सत्ताकत्वलक्षणमसिद्धत्वं तथा विशेष्यासिद्धादीनामपि विशेष्यत्वादिस्वरूपतोऽसत्वात्तल्लक्षणमेवासिद्धत्वम् ।

तत्र विशेष्यासिद्धो यथा–अनित्यः शब्दः सामान्यवत्वे सति चाक्षुषत्वात् ।

से शब्द को परिणामी सिद्ध करना कैसे गलत हो सकता है ? सो यह शंका ठीक नहीं, यद्यपि शब्द में पौद्गलिकपने की अपेक्षा चाक्षुष की अविशेषता है अर्थात् शब्द में चाक्षुष धर्म जो नीलादिरूप है वह रहता है किन्तु वह अनुद्भूत स्वभाव वाला है, इसलिये दिखायी नहीं देता, शब्द में रूप की अनुद्भूति उसी प्रकार की है कि जिस प्रकार की अनुद्भूति जल में संयुक्त हुए अग्नि की है अर्थात् जैसे वैशेषिकादि का कहना है कि जल जब अग्नि से संयुक्त होता है तब उस अग्नि का चमकीला रूप अनुद्भूत–अप्रकट रहता है, तथा सुवर्ण में अग्नि सयुक्त होने पर उसका उष्ण स्पर्श अनुद्भूत रहता है, ठीक वैसे शब्द में चाक्षुषरूप अनुद्भूत रहता है, इस विषय में शब्द को पौद्गलिक सिद्ध करते समय भली प्रकार से बता चुके हैं । मतलब यह हुआ कि शब्द को परिणमनशील सिद्ध करने के लिये यदि कोई अनुमान करे कि "परिणामी शब्द श्चाक्षुषत्वात्" तो यह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास वाला अनुमान है, अर्थात् चाक्षुषत्वात् हेतु शब्द मे नहीं है ।

नैयायिकादिने असिद्ध हेत्वाभास के विशेष्यासिद्ध, विशेषणासिद्ध इत्यादि अनेक भेद किये हैं उन सब प्रकार के हेत्वाभासों में असत् सत्तारूप असिद्ध हेत्वाभास का लक्षण घटित होने से इससे पृथक् सिद्ध नहीं होते, जिसप्रकार इस स्वरूपासिद्ध हेतु में स्वरूप से असत् होने के कारण असत् सत्तात्व लक्षण वाला असिद्धपना मौजूद है उसीप्रकार विशेष्यासिद्ध आदि हेत्वाभासों में भी विशेष्यादिस्वरूप से असत्पना होने से असत्सत्तात्व लक्षण मौजूद है अतः वे असिद्ध हेत्वाभास में ही अन्तर्भूत हैं ।

अब यहां पर परवादी द्वारा मान्य इन विशेष्यासिद्ध आदि हेत्वाभासों का उदाहरण सहित कथन किया जाता है–सबसे पहले विशेष्यासिद्ध का उदाहरण देते हैं–जैसे किसी ने अनुमान प्रस्तुत किया कि–शब्द अनित्य है [साध्य] क्योंकि सामान्यवान होकर चाक्षुष है [हेतु] सो इसमें चाक्षुष हेतुविशेष्य है और उसका विशेषण सामान्यवान है, चाक्षुषपनारूप विशेष्य शब्द में नहीं पाया जाता, अतः यह विशेष्यासिद्ध

विशेषणासिद्धो यथा–अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वे सति सामान्यवत्त्वात् ।

आश्रयासिद्धो यथा–अस्ति प्रधानं विश्वपरिणामित्वात् ।

आश्रयैकदेशासिद्धो यथा–नित्याः परमाणुप्रधानात्मेश्वरा अकृतकत्वात् ।

व्यर्थविशेष्यासिद्धो यथा–अनित्याः परमाणवः कृतकत्वे सति सामान्यवत्त्वात् ।

व्यर्थविशेषणासिद्धो यथा–अनित्याः परमाणवः सामान्यवत्त्वे सति कृतकत्वात् । व्यर्थविशेष्यविशेषणश्चासावसिद्धश्चेति ।

नामका हेत्वाभास कहलाया ।

विशेषणसिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण–शब्द अनित्य है, क्योंकि वह चाक्षुष होकर सामान्यवान है, यहां चाक्षुष को विशेषण और सामान्यवान को विशेष्य बताया, शब्द चाक्षुष होता नहीं अतः यह विशेषण असिद्ध नामा हेत्वाभास बना ।

आश्रयासिद्ध हेत्वाभास का दृष्टांत–सांख्याभिमत प्रधान तत्व है, क्योंकि वही विश्वरूप परिणमन कर गया है इस अनुमान का विश्वपरिणामित्व हेतु आश्रय से विहीन है, क्योंकि वास्तविकरूप से प्रधान तत्व की सिद्धि नही होती है ।

जिस हेतुका आश्रय एक देश असिद्ध हो उसका उदाहरण–परमाणु, प्रधान, आत्मा और ईश्वर ये चारों नित्य हैं, क्योंकि अकृत्रिम हैं यहां जो अकृतकत्वात् हेतु है वह अपने पक्षभूत परमाणु आदि चारों में न रहकर परमाणु और आत्मा इन दो में ही रहता है क्योंकि प्रधान और ईश्वर नाम के कोई पदार्थ हैं नही, अतः यह हेतु आश्रय एक देश असिद्ध हेत्वाभास कहलाया [तथा परमाणु सर्वथा नित्य नहीं होने से अकृतकत्व हेतु अनुमान बाधित पक्ष वाला भी है] ।

जिसका विशेष्य व्यर्थ हो वह व्यर्थ विशेष्यासिद्ध हेतु है जैसे परमाणु अनित्य है, क्योंकि कृतक होकर सामान्यवान है, यह सामान्यवत्वात् ऐसा जो हेतु का विशेष्य भाग है वह व्यर्थ [बेकार] का है क्योंकि कृतक–किया हुआ इतने विशेषण से ही साध्य सिद्ध हो जाता है ।

जिसका विशेषण व्यर्थ हो वह व्यर्थविशेषणासिद्ध हेत्वाभास है जैसे–परमाणु अनित्य हैं, क्योंकि सामान्यवान होकर कृतक हैं यहां कृतकत्वरूप विशेष्य से ही साध्य

व्यधिकरणासिद्धो यथा-अनित्यः शब्दः पटस्य कृतकत्वात् । व्यधिकरणश्चासावसिद्धश्चेति । ननु शब्दे कृतकत्वमस्ति तत्कथमस्यासिद्धत्वम् ? तदयुक्तम्; तस्य हेतुत्वेनाप्रतिपादितत्वात् । न चान्यत्र प्रतिपादितमन्यत्र सिद्धं भवत्यतिप्रसङ्गात् ।

भागासिद्धो यथा-[अ]नित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् । व्यधिकरणासिद्धत्वं भागा-

---

[अनित्यपना] सिद्ध हो जाता है अतः सामान्यवान् विशेषण व्यर्थ ठहरता है । "व्यर्थ है विशेष्य और विशेषण जिसके" ऐसा व्यर्थ विशेष्यासिद्धादि पदों का समास है ।

जहां हेतु और साध्य का अधिकरण भिन्न भिन्न हो वह व्यधिकरण असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है, जैसे–शब्द अनित्य है, क्योंकि पटके कृतकपना है । यहां पटके कृतकपने से शब्द का अनित्यपना सिद्ध किया सो गलत है, अन्य का धर्म अन्य में नहीं होता, कोई कहे कि शब्द में भी तो कृतक धर्म होता है अतः उसे असिद्ध क्यों कहा जाय ? सो बात अयुक्त है, शब्द में कृतकत्व है जरूर किन्तु उसको तो हेतु नहीं बनाया, अन्य जगह कही हुई बात अन्य जगह लागू नहीं होती अन्यथा अतिप्रसंग होगा, अर्थात् फिर तो एक जगह साध्यसिद्धि के लिये हेतु के उपस्थित करने मात्र से सर्वत्र सभी प्रकार के साध्यों की सिद्धि हो बैठेगी । अतः पटके कृतकत्व से शब्द में अनित्यपना सिद्ध करना अशक्य है, शब्द के कृतकत्व से ही शब्द में कृतकत्व सिद्ध हो सकता है अन्यथा व्यधिकरणासिद्ध नामा हेत्वाभास होगा ।

जो पक्ष के एक भाग में असिद्ध हो उसे भागासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं जैसे– शब्द अनित्य है क्योंकि प्रयत्न के अनन्तर होता है । पक्ष के एक भाग में रहे और एक भाग में न रहे उस हेतु को भागासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं, यहां शब्द पक्ष है साध्य अनित्यत्व है और हेतु प्रयत्न के अनन्तर होना है, सो संसार के सारे ही शब्द प्रयत्न के बाद ही हो ऐसी बात नहीं है, मेघध्वनि आदि बहुत से शब्द बिना प्रयत्न के भी होते हुए देखे जाते हैं, अतः पक्ष के एक भाग में–जो शब्द पुरुष द्वारा किये–बोले गये हैं उनमें तो प्रयत्नान्तरीयकत्व हेतु है और मेघध्वनि आदि शब्द में यह हेतु नहीं है इसलिये भागासिद्ध कहलाता है ।

सिद्धत्वं च परप्रक्रियाप्रदर्शनमात्रं न वस्तुतो हेतुदोषः; व्यधिकरणस्यापि 'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्, उपरि वृष्टो देवोऽधः पूरदर्शनात्' इत्यादेर्गमकत्वप्रतीतेः। अविनाभावनिबन्धनो हि गम्यगमकभावः, न तु व्यधिकरणाव्यधिकरणनिबन्धनः 'स श्यामस्तत्पुत्रत्वात्, धवलः प्रासादः काकस्य कार्ष्ण्यात्' इत्यादिवत्।

व्यधिकरणसिद्धत्व और भागासिद्धत्व ये हेतु तो कोई वास्तविक हेत्वाभास नहीं है, ये तो नैयायिकादि परवादी की अपनी एक प्रक्रिया दिखाना मात्र है व्यधिकरणासिद्धत्व का लक्षण यह किया कि पक्ष और हेतुका भिन्न भिन्न अधिकरण होना व्यधिकरणासिद्धत्व है सो यह बात गलत है, ऐसा हेतु हो सकता है कि उसका अधिकरण भिन्न हो और साध्य-पक्ष का अधिकरण भिन्न है जैसे एक मुहूर्त के बाद रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि कृतिका नक्षत्र का उदय हो रहा है, इस अनुमान में रोहिणी का उदय होगा रूप साध्य और कृतिका का उदय हो चुका है यह हेतु इन दोनों का अधिकरण भिन्न भिन्न है फिर भी कृतिकोदय हेतु स्वसाध्य का गमक है, [सिद्ध करने वाला है] तथा ऊपर के भाग में बरसात अवश्य हुई है, क्योंकि यहां नीचले भाग में नदी में बाढ़ आयी है, यहां भी साध्य एवं हेतु का विभिन्न अधिकरण है तो भी इनमें गम्य गमक भाव बराबर पाया जाता है, कहने का अभिप्राय यही है कि साध्य साधन में गम्य गमक भाव जो होता है वह उन दोनों के अविनाभावी संबंध के कारण होता है न कि व्यधिकरण अव्यधिकरण के कारण होता है, अर्थात् जहां व्यधिकरण हो वहां हेतु साध्य को सिद्ध न करे और जहां अव्यधिकरण हो वहां वह हेतु साध्य को सिद्ध कर देवे ऐसी बात नहीं है, साध्य की सिद्धि करने वाला तो वह हेतु है जो साध्य के साथ अविनाभाव रखता हो, साध्य के साथ अविनाभाव होने के बाद तो चाहे वह व्यधिकरणरूप हो चाहे अव्यधिकरणरूप हो। यदि व्यधिकरण अव्यधिकरण के निमित्त से गम्य गमक मानेंगे तो "सः श्यामस्तत् पुत्रत्वात्" उसका गर्भस्थ पुत्र काला होगा, क्योंकि उसका पुत्र है इत्यादि हेतु भी स्वसाध्य के गमक-सिद्धि कारक बन जायेंगे ? क्योंकि उनमें व्यधिकरणासिद्धत्व नहीं है तथा यह महल सफेद है, क्योंकि काक में कालापना है, यह हेतु व्यधिकरण होने मात्र से गमक नहीं है ऐसा मानना होगा ? किन्तु ऐसी बात नहीं है, ये हेतु तो अविनाभाव संबंध के अभाव होने से ही सदोष हैं और स्वसाध्य के गमक नहीं हैं।

न च व्यधिकरणस्यापि गमकत्वे अविद्यमानसत्ताकत्वलक्षणमसिद्धत्वं विरुध्यते; न हि पक्षेऽविद्यमानसत्ताकोऽसिद्धोऽभिप्रेतो गुरूणाम्। किं तर्हि? अविद्यमाना साध्येनासाध्येनोभयेन वाऽविनाभाविनी सत्ता यस्यासावसिद्ध इति।

भागासिद्धस्याप्यविनाभावसद्भावाद्गमकत्वमेव। न खलु प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वमन्तरेण क्वापि दृश्यते। यावति च तत्प्रवर्त्तते तावतः शब्दस्यानित्यत्वं ततः प्रसिद्धयति, अन्यस्य

शंका—व्यधिकरणत्व हेतु को साध्य का गमक माना जाय तो जिसकी सत्ता अविद्यमान है उसे अविद्यमान सत्ता नामका असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं, इसप्रकार असिद्ध हेत्वाभास का लक्षण विरुद्ध होगा ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है, पक्ष में जिसकी सत्ता अविद्यमान हो वह असिद्ध हेत्वाभास है ऐसा असिद्ध हेत्वाभास का अर्थ करना आचार्य को इष्ट नहीं है, अर्थात् अविद्यमान सत्ताकः परिणामी शब्द ... इत्यादि रूप जो श्री माणिक्यनन्दी गुरुदेव ने सूत्र रचना की है उसका अर्थ यह नहीं है कि जो हेतु पक्ष में मौजूद नहीं है वह असिद्ध हेत्वाभास है, किन्तु उसका अर्थ तो यह है कि साध्य के साथ जिसका अविनाभाव न हो वह असिद्ध हेत्वाभास है तथा दृष्टान्त और साध्य में जिसकी मौजूदगी नहीं हो वह असिद्ध हेत्वाभास है।

भागासिद्ध नामका जो हेत्वाभास कहा वह भी गलत है, क्योंकि पक्ष के एक भाग में हेतु के असिद्ध होने पर भी साध्य का अविनाभावी होकर गमक हो सकता है, भागासिद्ध हेतु का उदाहरण दिया था कि "अनित्यः शब्दः प्रयत्नानंतरीयकत्वात्" शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रयत्न के अनन्तर पैदा होता है सो अनित्यत्व के बिना कोई भी वस्तु प्रयत्न से पैदा होती देखी नहीं जाती, अर्थात् प्रयत्नानंतरीयकत्वरूप हेतु अनित्यरूप साध्य का सदा अविनाभावी है, जो शब्द प्रयत्न से बनता है उसमें तो अनित्यपना प्रयत्न अनन्तरत्व हेतु से सिद्ध किया जाता है, और जो शब्द प्रयत्न बिना होता है ऐसे मेघादि शब्द की अनित्यता को कृतकत्वादि हेतु से सिद्ध किया जाता है अथवा प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु के प्रयोग से ही यह मालूम पड़ता है कि इस अनुमान में उसी शब्द को पक्ष बनाया है कि जो प्रयत्न के अनन्तर हुआ हो, इसतरह के पक्ष को बनाने से तो हेतु की उस पक्ष में सर्वत्र प्रवृत्ति होगी ही फिर उसे भागासिद्ध कैसे कह सकते हैं ?

स्वन्यतः कृतकत्वादेरिति । यद्वा-'प्रयत्नानन्तरीयकत्वहेतूपादानसामर्थ्यात्' प्रयत्नानन्तरीयक एव शब्दोत्र पक्षः । तत्र चास्य सर्वत्र प्रवृत्तेः कथं भागासिद्धत्वमिति ?

अथेदानीं द्वितीयमसिद्धप्रकारं व्याचष्टे—

भावार्थ—असिद्ध हेत्वाभास के दो भेद हैं स्वरूपासिद्ध और सन्दिग्धासिद्ध, इनमें से स्वरूपासिद्ध हेतु वह है जिसका स्वरूप असिद्ध है, नैयायिक के यहां इस हेतु के आठ भेद माने हैं, विशष्यासिद्ध, विशेषणासिद्ध, आश्रयासिद्ध, आश्रयैकदेशासिद्ध, व्यर्थविशेष्यासिद्ध, व्यर्थविशेषणासिद्ध व्यधिकरणासिद्ध, भागासिद्ध । आश्रयैकदेशासिद्ध और भागासिद्ध में यह अंतर है कि–आश्रय एक देश असिद्ध में हेतु तो सिद्ध रहता है किन्तु आश्रय का एक देश ही असिद्ध होता है, और भागासिद्ध मे हेतु असिद्ध होता है और पक्ष या आश्रय का एक देश या भाग तो सिद्ध होता है ।

पहले के छह भेदों के लिये तो जैनाचार्य ने इतना ही कहा कि ये छहों भेद स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास से पृथक् सिद्ध नहीं होते, इनका लक्षण स्वरूपासिद्ध के समान ही है, जब तक लक्षण भेद नहीं होता तब तक वस्तु भेद नही माना जाता है । व्यधिकरणासिद्ध के लिये समझाया है कि यह कोई दूषण नहीं है कि हेतु का अधिकरण साध्य या पक्ष से भिन्न होने से वह हेत्वाभास बन जाता हो अर्थात् साध्य–पक्ष का अधिकरण और हेतु का अधिकरण विभिन्न भी हो सकता है जैसे कृतिकोदय नामा हेतु रोहिणी उदय नामा पक्ष के आधार में नहीं रहकर साध्य का गमक ही है, अतः व्यधिकरणासिद्ध नामा कोई हेत्वाभास सिद्ध नहीं होता । भागासिद्ध नामा हेत्वाभास भी साध्याविनाभावी हो तो अवश्य ही गमक होता है, अर्थात् पक्ष के एक भाग में रहे वह भागासिद्ध हेत्वाभास है ऐसा कहना भी अयोग्य है क्योंकि बहुत से इसतरह के हेतु होते हैं कि जो पक्ष के एक भाग में रहकर भी साध्य के साथ अविनाभावी सम्बन्ध होने के कारण सत्य हेतु कहलाते हैं–स्वसाध्य के गमक होते हैं । अतः परवादी को ऐसे ऐसे हेत्वाभासों के भेद नहीं मानने चाहिये ।

अब असिद्ध हेत्वाभास का दूसरा प्रकार बताते हैं—

अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमादिति ।। २५ ।।

कुतोस्याविद्यमाननियततेत्याह—

तस्य बाष्पादिभावेन भूतसंघाते सन्देहात् ।। २६ ।।

मुग्धबुद्धेर्बाष्पादिभावेन भूतसंघाते सन्देहात् । न खलु साध्यसाधनयोरव्युत्पन्नप्रज्ञः 'धूमादिरीदृशो बाष्पादिश्चेदृशः' इति विवेचयितुं समर्थः ।

अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात् ।।२५।।

अर्थ—जिस हेतुका साध्य साधनभाव निश्चित नहीं किया गया ऐसे हेतु का प्रयोग करना सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास है, अथवा जिस पुरुष ने साध्य साधनभाव का नियम नहीं जाना है उसके प्रति हेतुका प्रयोग करना सन्दिग्धासिद्ध है, जैसे मुग्धबुद्धि [अनुमान के साध्य–साधन को नहीं जानता हो अथवा अल्प बुद्धि वाला] के प्रति कहना कि–यहां पर अग्नि है, क्योंकि धूम दिखायी दे रहा है ।

आगे बता रहे कि इस हेतु का निश्चय क्यों अविद्यमान है—

तस्य बाष्पादिभावेन भूतसंघाते संदेहात् ।।२६।।

अर्थ–उस मुग्धबुद्धि पुरुष को अग्नि पर से उतारी हुई चांवलादि की बटलोई को देखकर उसमें होने वाले बाष्प–बाफ के देखने से अग्नि का संदेह होगा अतः अनिश्चित अविनाभाव वाले हेतु का अथवा अल्पज्ञ के प्रति हेतु का प्रयोग करना सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास है ।

भावार्थ—चूल्हा पर पानी चावल डालकर बटलोई को चढ़ाया वहां बटलोई मिट्टी की है अतः पृथिवी, अग्नि, पानी ये तीनों हैं तथा हवा सर्वत्र है इसतरह भूत-चतुष्टय का सघात स्वरूप उस बटलोई में पकते हुए चावलों से बाफ निकलती है, बाफ और धूम कुछ सदृश होते हैं अब कोई अल्पज्ञ पुरुष है उसको किसी ने कहा कि यहां सामने अवश्य अग्नि है, क्योंकि धूम दिख रहा है, उस वाक्य को सुनकर उक्त पुरुष संदेह मे पड़ जायगा क्योंकि वह साध्य साधन के भाव में प्रथम तो अव्युत्पन्न है तथा धूमादि तो इसतरह का होता है और बाष्प इसतरह का होता है ऐसा विवेचन करना उसके लिये अशक्य है ।

साङ्ख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वादिति ।। २७ ।।

चाविद्यमाननिश्चयः । कुत एतत् ?

तेनाज्ञातत्वात् ।। २८ ।।

न ह्यस्याविर्भावादन्यत् कारणव्यापारादसतो रूपस्यात्मलाभलक्षणं कृतकत्वं प्रसिद्धम् ।

सन्दिग्धविशेष्यादयोप्यविद्यमाननिश्चयतालक्षणातिक्रमाभावान्नार्थान्तरम् । तत्र सन्दिग्धविशेष्यासिद्धो यथा-अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः पुरुषत्वे सत्यद्याप्यनुत्पन्नतत्त्वज्ञानत्वात् । सन्दिग्धवि-

---

सांख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।।२७।।

अर्थ—सांख्य मतानुसारी शिष्य को कहना कि शब्द परिणामी है, क्योंकि कृतक–किया हुआ है, सो इस अनुमान के साध्य साधन भाव का निश्चय उस शिष्य को नहीं होने से उसके प्रति कृतकत्व हेतु संदिग्धासिद्ध है कैसे सो ही बताते हैं—

तेनाज्ञातत्वात् ।। २८ ।।

अर्थ—सांख्यमतानुसारी शिष्य कृतकत्व हेतु और परिणामी साध्य इनके साध्य साधनभाव को नहीं जानता है, इसका भी कारण यह है कि–सांख्य के यहां आविर्भाव तिरोभाव को छोड़कर अन्य कोई उत्पत्ति और विनाश नहीं माना जाता, आविर्भाव से पृथक् किसी कारण के व्यापार से कोई असत् स्वरूप पदार्थ का आत्म लाभ होना–उत्पन्न हो जाना ऐसा कृतकपना सांख्य के यहां पर प्रसिद्ध नहीं है । उनके यहां तो आविर्भाव–प्रकट होना ही उत्पन्न होना है और तिरोभाव होना ही नाश है, अमुक कारण से अमुक कार्य पैदा हुआ, मिट्टी ने घड़े को किया, कुम्हार ने घड़े को किया ऐसा उनके यहां नही माना है अतः ऐसे व्यक्ति को कोई कहे कि शब्द कृतक होने से परिणामी है, शब्द को उत्पन्न किया जाता है अतः वह परिणामी है इत्यादि सो यह कथन उस सांख्यमती शिष्य के प्रति संदिग्ध ही रहेगा ।

इस संदिग्धासिद्ध हेत्वाभास के परवादी संदिग्धविशेष्य आदि अनेक भेद करते हैं किन्तु उन सबमें अविद्यमान निश्चयरूप लक्षण का अतिक्रम नहीं होने से कोई भिन्नपना नही है अर्थात् संदिग्धविशेष्य इत्यादि हेतु पृथक्रूप से सिद्ध नहीं होते । वे

षेषणासिद्धो यथा-अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः सर्वदा तत्त्वज्ञानरहितत्वे सति पुरुषत्वात् । एते एवा-सिद्धभेदाः केचिदन्यतरासिद्धाः केचिदुभयासिद्धाः प्रतिपत्तव्याः ।

ननु नास्त्यन्यतरासिद्धो हेत्वाभासः; तथाहि-परेणासिद्ध इत्युद्भाविते यदि वादी तत्साधकं प्रमाणं न प्रतिपादयति, तदा प्रमाणाभासवदुभयोरसिद्धः । अथ प्रमाणं प्रतिपादयेत्; तर्हि प्रमाणस्या-पक्षपातित्वादुभयोरप्यसौ सिद्धः । अन्यथा साध्यमप्यन्यतरासिद्धं न कदाचित्सिद्ध्येदिति व्यर्थः

संदिग्धविशेष्यासिद्ध का उदाहरण इसप्रकार कहते हैं–कपिल नामा सांख्य का गुरु अभी भी राग मोहादि से युक्त है, क्योंकि पुरुष होकर उसे तत्व ज्ञान नहीं हुआ है । संदिग्ध विशेषण असिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण–कपिल अभी भी रागादिमान है, क्योंकि तत्त्वज्ञान रहित होकर पुरुष है । इन दोनों अनुमानों में पुरुषत्व और तत्त्वज्ञान रहितत्व क्रमशः विशेष्य और विशेषण है वह असिद्ध है । ये विशेष्यासिद्ध इत्यादि हेत्वाभास बतलाये हैं उनमें से कोई कोई हेत्वाभास ऐसे हैं कि वादी प्रतिवादियों मे से किसी एक को असिद्ध हैं, तथा कोई कोई ऐसे हैं कि दोनों को असिद्ध हैं ।

शंका—वादी प्रतिवादियों में से एक के प्रति असिद्ध हो ऐसा कोई हेत्वाभास नहीं होता किन्तु जो भी हेतु असिद्ध होगा तो दोनों के प्रति ही असिद्ध होगा । इसी को बताते हैं–वादी प्रतिवादी विवाद कर रहे हैं उस समय प्रतिवादी ने वादी को कहा कि तुम्हारा कहा हुआ अनुमान का हेतु असिद्ध है, तब उस वाक्य को सुनकर वादी यदि अपने हेतु को सिद्ध करने वाला प्रमाण नहीं बताता है तो वह हेतु प्रमाणाभास के समान दोनों के लिए ही असिद्ध कहलायेगा, अर्थात् जैसे प्रमाणाभास दोनों को अमान्य है वैसे वह हेतु बनेगा, क्योंकि जिस वादी ने हेतु प्रयुक्त किया है उसने उसे सिद्ध नही किया । यदि वह वादी अपने हेतु को सिद्ध करने वाले प्रमाण को उपस्थित करता है तो जो भी प्रमाण होगा वह पक्षपात रहित उभय मान्य होगा अतः प्रमाण सिद्ध वह हेतु सिद्ध ही कहलायेगा । अपने हेतु को प्रमाण द्वारा सिद्ध करके दिखाने पर भी उसे असिद्ध माना जाय तो साध्य कभी भी सिद्ध नहीं होगा क्योंकि वह भी दोनों में से एक को असिद्ध रहता है, और इसतरह साध्य किसी प्रकार भी यदि सिद्ध नहीं होगा तो उसके लिए प्रमाण को उपस्थित करना व्यर्थ ही है । अभिप्राय यही हुआ कि वादी प्रतिवादी दोनो को असिद्ध ऐसा ही असिद्ध हेत्वाभास होता है, एक को असिद्ध और एक को सिद्ध ऐसा नहीं होता ।

प्रमाणोपन्यासः स्यात्; इत्यप्यसमीचीनम्; यतो वादिना प्रतिवादिना वा सभ्यसमक्षं स्वोपन्यस्तो हेतुः प्रमाणतो यावन्न परं प्रति साध्यते तावत्तं प्रत्यस्य प्रसिद्धेरभावात्कथं नान्यतरासिद्धता ? नन्वेवमप्यस्यासिद्धत्वं गौणमेव स्यादिति चेत्; एवमेतत्, प्रमाणतो हि सिद्धेरभावादसिद्धोसौ न तु स्वरूपतः। न खलु रत्नादिपदार्थस्तत्त्वतोऽप्रतीयमानस्तावत्कालं मुख्यतस्तदाभासो भवतीति।

समाधान—यह कथन असमीचीन है–वाद करने मे उद्युक्त वादी प्रतिवादी जब तक सभासदों के समक्ष अपने हेतु को प्रमाण से सिद्ध नहीं करते तब तक वह परके लिये अप्रसिद्ध ही रहता है अतः हेतु अन्यतर असिद्ध कैसे नहीं हुआ ? अवश्य हुआ। अर्थात् सभा में वादी अपना मत स्थापित करता है, अनुमान द्वारा स्वमत सिद्ध करता है उस समय प्रतिवादी को उसका अनुमान असिद्ध ही रहता है जब वह अपने अनुमानगत हेतु को उदाहरण आदि से सिद्ध करता है [प्रमाण से सिद्ध करता है] तभी उसको परवादी मानता है। अतः अन्यतर असिद्ध हेतु किस प्रकार नहीं होता ? होता ही है।

शंका—इसतरह से हेतु को अन्यतर असिद्ध बताया जाय तो इसकी यह असिद्धता गौण कहलायेगी।

समाधान—ठीक तो है यह हेतु तब तक ही असिद्ध रहता है जब तक कि प्रमाण से उसे सिद्ध करके नहीं बताया जाता है, यह हेतु स्वरूप से असिद्ध नहीं रहता, परवादी की अपेक्षा से ही इसे असिद्ध हेत्वाभास कहा है।

भावार्थ—जो वस्तु परको मालूम नही है, अथवा जिस पदार्थ के विषय में किसी को जानकारी नहीं है तो उतने मात्र से वह वस्तु असत् है ऐसा नहीं माना जाता, रत्न अमृतादि पदार्थ किसी को अज्ञात है जब तक वे उसे प्रतीत नहीं होते तब तक क्या वे रत्नाभास आदि हो जाते हैं ? अर्थात् नहीं होते, उसी प्रकार यह अन्यतर असिद्ध हेत्वाभास है, वादी प्रतिवादी आपस में एक दूसरे को अपना मत समझाते हैं तब तक उसके लिये वह असिद्ध रहता किन्तु वह स्वरूप से असिद्ध नहीं रहता। यहां तक यह बात निश्चित हुई कि वादी प्रतिवादियों में से किसी एक को जो हेतु असिद्ध होता है वह अन्यतर असिद्ध हेत्वाभास है। इसप्रकार असिद्ध हेत्वाभास के दो ही भेद होते हैं, नैयायिकादि के माने गये हेत्वाभास सभी पृथक् वास्तविक हेत्वाभास नहीं हैं क्योंकि पृथक् लक्षण वाले नहीं होने से इन्हीं दो हेत्वाभासों में अंतर्लीन हैं ऐसा सिद्ध हुआ।

अथेदानीं विरुद्धहेत्वाभासस्य विपरीतस्येत्यादिना स्वरूपं दर्शयति—

विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धः अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।।२९।।

साध्यस्वरूपाद्विपरीतेन प्रत्यनीकेन निश्चितोऽविनाभावो यस्यासौ विरुद्धः। यथाऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वादिति। कृतकत्वं हि पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनैवाविनाभूतं बहिरन्तर्वा प्रतीतिविषयः सर्वथा नित्ये क्षणिके वा तदभावप्रतिपादनात्।

ये चाष्टौ विरुद्धभेदाः परैरिष्टास्तेप्येतल्लक्षणलक्षितत्वाविशेषतोऽत्रैवान्तर्भवन्तीत्युदाह्रियन्ते। सति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः। पक्षविपक्षव्यापकः सपक्षावृत्तिर्यथा–नित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात्।

अब इस समय विरुद्ध हेत्वाभास का कथन करते है—

विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धः, अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।।२९।।

अर्थ—विपरीत अर्थात् साध्य से विपरीत जो विपक्ष है उसमें जिस हेतु का अविनाभाव निश्चित है वह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है, जैसे किसी ने कहा कि शब्द अपरिणामी है, क्योंकि वह कृतक है, सो ऐसा कहना गलत है इस अनुमान का कृतकत्व हेतु साध्य जो अपरिणामी है उसमे न रहकर इससे विपरीत जो परिणामीत्व है उसमें रहता है। साध्य से विपरीत जो विपक्ष है उसके साथ है अविनाभाव जिसका उसे विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं, इसप्रकार "विपरीतनिश्चिताविनाभावः" इस पद का विग्रह है। जैसे किसी ने कहा कि शब्द कृतक होने से अपरिणामी है, सो यह विरुद्ध है, क्योंकि कृतकत्व तो उसे कहते है जो पूर्व आकार का परिहार और उत्तर आकार की प्राप्ति एवं स्थितिरूप से परिणमन करता है, इसतरह के परिणामित्व के साथ ही कृतकत्व का अविनाभाव है, बहिरंग घट आदि पदार्थ, अंतरंग आत्मादि पदार्थ ये सभी कथंचित् इसीप्रकार से परिणामी होते हुए प्रतिभासित होते हैं, सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक में परिणामित्व सिद्ध नहीं होता, ऐसा हमने पहले ही प्रतिपादन कर दिया है। इस विरुद्ध हेत्वाभास के नैयायिकादि परवादी आठ भेद मानते हैं, उनकी कोई पृथक् पृथक् लक्षण भेद से सिद्धि नहीं होती है आठों का अन्तर्भाव एक में ही करके उनके उदाहरण उपस्थित करते हैं–जिसका सपक्ष मौजूद रहता है ऐसे विरुद्ध हेत्वाभास के चार भेद होते हैं, तथा जिसमें सपक्ष नहीं होता ऐसे विरुद्ध हेत्वाभास के चार भेद होते हैं, उनमें से प्रथम ही सपक्ष वाले विरुद्ध

उत्पत्तिधर्मकत्वं हि पक्षीकृते शब्दे प्रवर्त्तते, नित्यविपरीते चानित्ये घटादौ विपक्षे, नाकाशादौ सत्यपि सपक्षे इति ।

विपक्षैकदेशवृत्तिः पक्षव्यापकः सपक्षावृत्तिश्च यथा—नित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् । बाह्येन्द्रियग्रहणयोग्यतामात्र हि बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वमत्र विवक्षितम् तेनास्य पक्षव्यापकत्वम् । विपक्षैकदेशव्यापकत्वं चानित्ये घटादौ भावात्सुखादौ चाभावात् सिद्धम् । सपक्षावृत्तित्वं चाकाशादौ नित्येऽवृत्तेः । सामान्ये वृत्तिस्तु 'सामान्यवत्त्वे सति' इति विशेषणाद्व्यवच्छिन्ना ।

पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षावृत्तिश्च यथा—सामान्यविशेषवती अस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षे

हेत्वाभासों के क्रमशः दृष्टांत देते हैं—जो हेतु पक्ष और विपक्ष में व्यापक हो और सपक्ष में न हो वह प्रथम विरुद्ध हेत्वाभास है, जैसे किसी ने अनुमान कहा कि शब्द [पक्ष] नित्य है [साध्य] क्योंकि यह उत्पत्ति धर्म वाला है [हेतु] यहां उत्पत्ति धर्मकत्व हेतु पक्षभूत शब्द में रहता है, तथा विपक्षभूत जो नित्य से विपरीत ऐसे अनित्य घटादि में रहता है, किन्तु आकाशादि सपक्ष के होते हुए भी उसमें नही रहता ।

जो हेतु विपक्ष के एक देश में रहता है, पक्ष में व्यापक है सपक्ष में नहीं है वह दूसरा विरुद्ध हेत्वाभास है जैसे—शब्द नित्य है, क्योंकि सामान्यवान् होकर हमारे बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होता है । यहां बाह्येन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य होना इतना ही बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षत्व का अर्थ विवक्षित है, ऐसी बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षता पक्षभूत शब्द में रहती है, यह बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षत्व हेतु विपक्ष के किसी देश में रहता है और किसी देश में नहीं, अर्थात् घटादि अनित्य विपक्षभूत वस्तु में बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होना रूप धर्म पाया जाता है और सुख आदि अनित्यभूत विपक्ष में वह बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षत्व नहीं रहता अतः यह हेतु विपक्षैक देशवृत्ति वाला कहलाता है, आकाशादि नित्यभूत सपक्ष में बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षत्व नहीं रहने से सपक्ष असत्व कहा जाता है । सामान्यवत्वे सति इस विशेषण से सामान्य नामा पदार्थ में इस हेतु का रहना निषिद्ध होता है । जो हेतु पक्ष और विपक्ष के मात्र एक देश में रहे तथा सपक्ष में न रहे वह तीसरा विरुद्ध हेत्वाभास है, जैसे—वचन और मन सामान्य विशेष वाले हैं एवं हमारे बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि नित्य हैं, यहां नित्यत्व हेतु पक्ष का एक देश जो मन है उसमें तो

वाग्मनसे नित्यत्वात् । नित्यत्वं हि पक्षैकदेशे मनसि वर्त्तते न वाचि, विपक्षे चास्मदादिबाह्यकरणाप्रत्यक्षे गगनादौ नित्यत्वं वर्त्तते न सुखादौ । सपक्षे च घटादावस्याऽवृत्तेः सपक्षावृत्तित्वम् । सामान्यस्य च सपक्षत्वं सामान्या (न्य) विशेषवत्त्वविशेषणाद्व्यवच्छिन्नम् । योगिबाह्यकरणप्रत्यक्षस्य चाकाशादेरस्मदाद्यऽग्रहणादसपक्षत्वम् ।

पक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षावृत्तिविपक्षव्यापको यथा–नित्ये वाग्मनसे उत्पत्तिधर्मकत्वात् । उत्पत्तिधर्मकत्वं हि पक्षैकदेशे वाचि वर्त्तते न मनसि, सपक्षे चाकाशादौ नित्ये न वर्त्तते, विपक्षे च घटादौ सर्वत्र वर्त्तते इति ।

तथाऽसति सपक्षे चत्वारो विरुद्धाः पक्षविपक्षव्यापकोऽविद्यमानसपक्षो यथा–आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रमेयत्वात् । प्रमेयत्वं हि पक्षे शब्दे वर्तते । विपक्षे चानाकाशविशेषगुणे घटादौ, न तु

रहता है [परवादी ने मन को नित्य माना है] और वचन रूप पक्ष में नहीं रहता । तथा जो बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं है ऐसे आकाशादि विपक्ष में यह नित्यत्व हेतु रहता है किंतु सुखादि विपक्ष में नही रहता, इस तरह यह पक्ष के एक देश में तथा विपक्ष के एक देश में रहने वाला कहा जाता है, घट आदि सपक्षभूत पदार्थ में यह हेतु नहीं रहने से सपक्ष अवृत्ति वाला है । यहां सामान्य को सपक्षपना नही है क्योंकि "सामान्य विशेषवान हैं" ऐसे विशेषण द्वारा सामान्यनामा पदार्थ का व्यवच्छेद किया है । योगिजन के बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने वाले आकाशादिक यहां सपक्ष नहीं हो सकते, क्योंकि वे हमारे द्वारा अग्राह्य हैं ।

जो हेतु पक्ष के एक देश में रहता हो, सपक्ष अवृत्ति वाला हो, और विपक्ष में पूर्ण व्यापक हो वह चौथा विरुद्ध हेत्वाभास है जैसे–मन और वचन नित्य हैं, क्योंकि उत्पत्ति धर्म वाले हैं, यह उत्पत्ति धर्मत्व हेतु पक्ष के एकदेशभूत वचन में रहता है और एकदेशभूत मन में नहीं रहता । नित्य सपक्षभूत आकाशादि में नहीं रहता । तथा विपक्षभूत घट पटादि में सर्वत्र ही रहता है ।

अब जिसका सपक्ष विद्यमान हो नहीं होता ऐसे विरुद्ध हेत्वाभास के चार भेद बतलाते हैं–जो हेतु पक्ष विपक्ष में व्यापक है और अविद्यमान है सपक्ष जिसका ऐसा है उस विरुद्ध हेत्वाभास का उदाहरण–जैसे शब्द आकाश का विशेष गुण है, क्योंकि वह प्रमेय है । यह प्रमेयत्व हेतु पक्षभूत शब्द में रहता है, जो आकाश का गुण

सपक्षे तस्यैवाभावात् । न ह्याकाशे शब्दादन्यो विशेषगुणः कश्चिदस्ति यः सपक्षः स्यात् । परममहापरिमाणादेरन्यत्रापि प्रवर्त्तनः साधारणगुणत्वात् ।

पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिरविद्यमानसपक्षो यथा–सत्तासम्बन्धिनः षट् पदार्था उत्पत्तिमत्त्वात् । अत्र हि हेतुः पक्षीकृतषट्पदार्थैकदेशे अनित्यद्रव्यगुणकर्मण्येव वर्त्तते न नित्यद्रव्यादौ । विपक्षे चासत्तासम्बन्धिनि प्रागभावाद्येकदेशे प्रध्वंसाभावे वर्त्तते न तु प्रागभावादौ । सपक्षस्य चासम्भवादेव तत्रास्यावृत्तिः सिद्धा ।

पक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिरविद्यमानसपक्षो यथा–आकाशविशेषगुणः शब्दो बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् । अयं हि हेतुः पक्षीकृते शब्दे वर्त्तते । विपक्षस्य चानाकाशविशेषगुणस्यैकदेशे रूपादौ वर्त्तते न तु सुखादौ । सपक्षस्य चासम्भवादेव तत्रास्याऽवृत्तिः सिद्धा ।

नहीं है ऐसे घट आदि विपक्ष में भी रहता है, किन्तु सपक्ष में नहीं रहता, क्योंकि इसका सपक्ष होता ही नहीं इसका भी कारण यह है कि आकाश में शब्द को छोड़कर अन्य कोई भी विशेष गुण नहीं होता जो उसका सपक्ष बने ! परम महा परिमाणादि गुण रहते तो है किंतु वे आत्मादि अन्य द्रव्य में भी रहते हैं अतः सामान्य गुण रूप ही कहलाते हैं विशेष गुणरूप नहीं ।

जो हेतु पक्ष और विपक्ष के एक देश में रहता है तथा सपक्ष जिसका नहीं है वह दूसरा विरुद्ध हेत्वाभास है, जैसे–द्रव्य, गुण आदि छहों पदार्थ सत्ता सम्बन्ध वाले होते हैं, क्योंकि उत्पत्तिमान हैं, इस अनुमान में जो उत्पत्तिमत्व हेतु है वह पक्ष में लिये छहों पदार्थों में न रहकर एक देश में–अर्थात् अनित्यद्रव्य तथा गुण एवं कर्म में मात्र रहता है, नित्य द्रव्यादि अन्य पदार्थों मे नही रहता । विपक्ष जो असत्ता सम्बन्धी है ऐसे चार प्रकार के अभावों में न रहकर सिर्फ एक देश जो प्रध्वंसाभाव उसी में उत्पत्तिमत्व हेतु रहता है अन्य प्रागभाव आदि तीन प्रकार के अभावों में नहीं रहता । इस हेतु का सपक्ष नहीं होने से उसमें रहना असिद्ध ही है ।

जो हेतु पक्ष में पूर्णतया व्यापक हो, विपक्ष के एक देश में रहता है, एवं अविद्यमान सपक्षभूत है वह तीसरा विरुद्ध हेत्वाभास है, जैसे–शब्द आकाश का विशेष गुण है, क्योंकि बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्ष है, यह बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षत्व हेतु पक्षरूप शब्द में रहता है, अनाकाश के विशेषगुणभूत रूपरसादि विपक्ष के एक देश में तो है किन्तु

पक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापकोऽविद्यमानसपक्षो यथा-नित्येवाङ्मनसे कार्यत्वात् । कार्यत्वं हि पक्षस्यैकदेशे वाचि वर्त्तते न मनसि । विपक्षे चानित्ये घटादौ सर्वत्र प्रवर्त्तते सपक्षे चावृत्तिस्तस्याभावात्सुप्रसिद्धा ।

अथानैकान्तिकः कीदृश इत्याह—

विपक्षेप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ।। ३० ।।

न केवलं पक्षसपक्षेऽपि तु विपक्षेपीत्यपिशब्दार्थः । एकस्मिन्नन्ते नियतो ह्यैकान्तिकस्तद्विपरीतोऽनैकान्तिकः सव्यभिचार इत्यर्थः । कः पुनरयं व्यभिचारो नाम ? पक्षसपक्षान्यवृत्तित्वम् । यः खलु

सुखादि विपक्ष में नहीं है अतः विपक्षैक देशवृत्ति कहलाया, सपक्ष का असत्व होने से उसमें रहना निषिद्ध है ही ।

जो हेतु पक्ष के एक देश में रहता है और विपक्ष में पूर्ण व्यापक रहता है एवं अविद्यमान सपक्ष वाला है वह चौथा विरुद्ध हेत्वाभास है, जैसे वचन और मन नित्य हैं, क्योंकि ये कार्यरूप हैं, यह कार्यत्व हेतु पक्ष के एक देशभूत वचन में तो रहता है और मन में नहीं रहता, अनित्य घटादि विपक्ष में सर्वत्र रहता है, सपक्ष के अभाव होने से उसमें रहना असम्भव है ही । इसप्रकार जिसका सपक्ष नहीं होता ऐसे विरुद्ध हेत्वाभास के चार भेद और पहले जो सपक्ष वाले चार भेद बताये वे सब मिलकर आठ हुए इनका प्रतिपादन नैयायिकादि परवादी करते हैं किन्तु ये सबके सब विशेष लक्षण के अभाव में कुछ भी महत्व नहीं रखते हैं ।

अब अनैकान्तिक हेत्वाभास का वर्णन करते हैं—

विपक्षेप्यविरुद्ध वृत्तिरनैकान्तिकः ।।३०।।

अर्थ—जो हेतु विपक्ष में भी अविरुद्ध रूपसे रहता हो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है । केवल पक्ष सपक्ष में ही नहीं अपितु विपक्ष में भी जो हेतु चला जाय वह अनैकान्तिक [व्यभिचारी] कहलाता है ऐसा सूत्रस्थ अपि शब्द का अर्थ है । एक धर्म में जो नियत है वह ऐकान्तिक है और जो ऐकान्तिक नहीं वह अनैकान्तिक कहा जाता है, "एकस्मिन् अन्ते [धर्मे] नियतः स ऐकान्तिक [इकण प्रत्यय] न ऐकान्तिकः असौ

पक्षसपक्षवृत्तित्वे सत्यन्यत्र वर्त्तते स व्यभिचारी प्रसिद्धः । यथा लोके पक्षसपक्षविपक्षवर्ती कश्चित्पुरुषस्तथा चायमनैकान्तिकत्वेनाभिमतो हेतुरिति । स च द्वेधा निश्चितवृत्तिः शङ्कितवृत्तिश्चेति । तत्र—

निश्चितवृत्तिर्यथाऽनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद् घटवदिति ।।३१ ।।

कथमित्याह—

आकाशे नित्येप्यस्य सम्भवादिति ।। ३२ ।।

शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वादिति ।। ३३ ।।

कुतोऽस्य शङ्कितवृत्तिरित्याह—

अनैकान्तिकः" इसप्रकार अनैकान्तिक पद का विग्रह है । अर्थ यह हुआ कि जो विपक्ष से व्यभिचरित होता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है । कोई पूछे कि व्यभिचार किसे कहते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि पक्ष सपक्ष और विपक्ष में रहना व्यभिचार है, जो हेतु पक्ष और सपक्ष में रहते हुए अन्य–विपक्ष मे भी जाता है वह व्यभिचारी हेतु होता है, जैसे लोक में भी प्रसिद्ध है कि–जो कोई पुरुष अपने पक्ष में तथा सपक्ष में बोलता है और विपक्ष में भी बोलने लग जाता है अर्थात् तीनों में मिला रहता है उसे व्यभिचारी दोगला कहते हैं ऐसा ही यह हेतु अनैकान्तिकरूप माना गया है । इसके दो भेद हैं निश्चित वृत्ति, और शंकित वृत्ति । निश्चित वृत्ति अनैकान्तिक का उदाहरण—

निश्चितवृत्तिर्यथानित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत् ।।३१।।

अर्थ—जो निश्चितरूप से विपक्ष में जाता हो वह हेतु निश्चित वृत्ति अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे–शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है, जिसप्रकार घट प्रमेय होने से अनित्य है । यह हेतु व्यभिचरित कैसे होता है सो ही बताते हैं—

आकाशे नित्येप्यस्य संभवात् ।।३२।।

अर्थ— यह प्रमेयत्व नित्य आकाश में भी रहता है अतः व्यभिचरित है, शंकित वृत्ति अनैकान्तिक का उदाहरण—

शंकितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ।।३३।।

सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ।। ३४ ।।

एतच्च सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे प्रपञ्चितमिति नेहोच्यते । पराभ्युपगतश्च पक्षत्रयव्यापकाद्यनैकान्तिकप्रपञ्च एतल्लक्षणलक्षितत्वाविशेषान्नातोऽर्थान्तरम्, सर्वत्र विपक्षस्यैकदेशे सर्वत्र वा विपक्षे वृत्त्या विपक्षेप्यविरुद्धवृत्तित्वलक्षणसम्भवादित्युदाह्रियते । पक्षत्रयव्यापको यथा-अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् । पक्षे सपक्षे विपक्षे चास्य सर्वत्र प्रवृत्तेः पक्षत्रयव्यापकः ।

सपक्षविपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा-नित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वात् । अमूर्त्तत्वं हि पक्षीकृते शब्दे सर्वत्र

अर्थ—जिसका विपक्ष में जाना संशयास्पद हो वह शंकित वृत्ति अनैकांतिक है, जैसे—सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह बोलता है । यह वक्तृत्व हेतु शंकित वृत्ति हेत्वाभास क्यों हुआ सो बताते हैं—

सर्वज्ञेन वक्तृत्वाविरोधात् ।।३४।।

अर्थ—सर्वज्ञ के साथ वक्तृत्व का कोई विरोध नहीं है अर्थात् जो सर्वज्ञ हो वह बोले नहीं ऐसा कोई नियम नहीं, अतः सर्वज्ञ का नास्तिपना वक्तृत्व हेतु द्वारा सिद्ध नहीं होता, वक्तृत्व तो सर्वज्ञ हो चाहे असर्वज्ञ हो दोनों प्रकार के पुरुषों में पाया जाना सम्भव है, इस विषय में सर्वज्ञसिद्धि प्रकरण में [दूसरे भाग में] विस्तारपूर्वक कह दिया है, अब यहां नहीं कहते । नैयायिकादि ने इस अनैकान्तिक हेत्वाभास के पक्षत्रय व्यापक आदि अनेक [आठ] भेद किये हैं किंतु उन सबमें यही एक लक्षण—"विपक्ष में अविरुद्धरूप से रहना पाया जाता है अतः इस अनैकान्तिक से पृथक् सिद्ध नहीं होते, सभी में विपक्ष के एक देश में या पूरे विपक्ष में अविरुद्धरूप से रहना संभव है । अब इन्हीं नैयायिकादि के अनैकान्तिक हेत्वाभासों के उदाहरण दिये जाते हैं—पक्ष विपक्ष सपक्ष तीनों में व्याप्त रहने वाला प्रथम अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे—शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रमेय है, यह प्रमेय पक्ष शब्द में, सपक्ष घट आदि में और विपक्ष आकाशादि में सर्वत्र ही रहता है, अतः इसे पक्ष त्रय व्यापक कहते हैं ।

जो सपक्ष तथा विपक्ष के एक देश में रहे वह दूसरा अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे—शब्द नित्य है, क्योंकि वह अमूर्त्त है, यह अमूर्त्तत्व हेतु पक्षीकृत शब्द में पूर्ण

वर्त्तते । सपक्षैकदेशे चाकाशादौ वर्त्तते, न परमाणुषु । विपक्षैकदेशे च सुखादौ वर्त्तते न घटादाविति ।

पक्षसपक्षव्यापको विपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा–गौरयं विषाणित्वात् । विषाणित्वं हि पक्षीकृते पिण्डे वर्त्तते, सपक्षे च गोत्वधर्माध्यासिते सर्वत्र व्यक्तिविशेषे, विपक्षस्य चागोरूपस्यैकदेशे महिष्यादौ वर्त्तते न तु मनुष्यादाविति ।

पक्षविपक्षव्यापकः सपक्षैकदेशवृत्तिर्यथा–अगौरयं विषाणित्वात् । अयं हि हेतुः पक्षीकृतेऽगोपिण्डे वर्त्तते । अगोत्वविपक्षे च गोव्यक्तिविशेषे सर्वत्र, सपक्षस्य चागोरूपस्यैकदेशे महिष्यादौ वर्तते न तु मनुष्यादाविति ।

पक्षत्रयैकदेशवृत्तिर्यथा–अनित्ये वाग्मनसेऽमूर्त्तत्वात् । अमूर्त्तत्वं हि पक्षस्यैकदेशे वाचि वर्त्तते

रूप से व्यापक है, सपक्ष के एक देश आकाशादि में तो रहता है परमाणु में नहीं रहता, विपक्ष के भी एक देश स्वरूप सुखादि मे रहता और घटादि विपक्ष में नहीं रहता ।

पक्ष और सपक्ष में तो व्यापक हो विपक्ष के एकदेश में रहे वह तीसरा अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे–यह पशु तो बैल है क्योंकि सीग वाला है, यह विषाणित्व [सींगवालापन] हेतु पक्षभूत बैल में रहता है, जिसमें गोत्व पाया जाता है ऐसे अन्य सब सपक्षभूत गो व्यक्तियों में रहता है, विपक्षभूत गोत्व से रहित अगोरूप भैंस आदि किसी किसी में वह विषाणित्व पाया जाता है और अगोरूप अन्य विपक्ष जो मनुष्यादि हैं उनमें नहीं पाया जाता, अतः विपक्षैक देशवृत्ति अनैकान्तिक है ।

पक्ष विपक्ष में व्यापक और सपक्ष के एक देश में रहे वह चौथा अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे–यह पशु आगे है गो नहीं, क्योंकि यह विषाणी है, यह विषाणित्व हेतु पक्षीकृत अगो पिंड मे रहता है, [सींग वाले पशु विशेष में] अगोत्व का विपक्ष जो गो व्यक्ति विशेष है उसमें सर्वत्र रहता है । [यहां सामने उपस्थित एक पशु को तो पक्ष बनाया है जो कि अगो है । गो व्यक्ति विशेष जो खण्ड मुण्ड आदि संपूर्ण गो व्यक्तियां हैं उन सभी को विपक्ष में लिया है] इस हेतु का सपक्ष अगो है सो अगोरूप भैंस आदि किसी सपक्ष में तो यह विषाणित्व हेतु रहता है और मनुष्यादि अगो सपक्ष में नहीं रहता, अतः अपक्षैक देश वृत्ति कहलाया ।

पक्ष सपक्ष विपक्ष तीनों के एकदेश में रहे वह पांचवा अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे–वचन और मन अनित्य हैं, क्योंकि अमूर्त्त हैं, यह अमूर्त्तत्व हेतु पक्ष के

न मनसि, सपक्षस्य चैकदेशे सुखादौ न घटादौ, विपक्षस्य चाकाशादेर्नित्यस्यैकदेशे गगनादौ न परमाणुष्विति ।

पक्षसपक्षैकदेशवृत्तिर्विपक्षव्यापको यथा-द्रव्याणि दिक्कालमनांस्यमूर्तत्वात् । अमूर्तत्वं हि पक्षस्यैकदेशे दिक्काले वर्तते न मनसि, सपक्षस्य च द्रव्यरूपस्यैकदेशे आत्मादौ वर्तते न घटादौ, विपक्षे चाद्रव्यरूपे गुणादौ सर्वत्रेति ।

पक्षविपक्षैकदेशवृत्तिः सपक्षव्यापको यथा-अद्रव्याणि दिक्कालमनांस्यमूर्तत्वात् । अत्रापि प्राक्तनमेव व्याख्यानम् अद्रव्यरूपस्य गुणादेस्तु सपक्षतेति विशेषः ।

एकदेश-वचन में रहता है (परवादी की अपेक्षा वचन अमूर्त्त है) मन में नही । सपक्ष के एकदेश सुखादि मे रहता है घटादि में नहीं, इसीतरह विपक्ष जो यहां नित्य है उस नित्यभूत आकाशादि विपक्ष मे अमूर्त्तत्व रहता है और परमाणुरूप विपक्ष में नहीं रहता अत: पक्षत्रय एकदेश वृत्ति कहा जाता है ।

पक्ष और सपक्ष के एकदेश में रहे और विपक्ष में व्यापक हो वह छठा अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे-दिशाकाल और मन ये सब द्रव्य हैं, क्योंकि ये अमूर्त्त हैं, यहां अमूर्त्तत्व हेतु पक्ष का एकदेश जो दिशा और काल है उनमें तो रहता है और शेष एकदेश मनमें नहीं रहता । सपक्ष का एकदेश जो द्रव्यरूप आत्मा आदि है उनमें रहता है और घट आदि द्रव्यरूप सपक्ष में नहीं । अद्रव्य जो गुणादि विपक्ष हैं उनमें सर्वत्र रहता है [नैयायिकादि परवादी के यहां मूर्त्तत्व अमूर्त्तत्व का लक्षण इसप्रकार है—"इयत्ताअवच्छिन्नयोगित्वं मूर्त्तत्वं" "इतना है" इसप्रकार जिसका माप हो सके वह मूर्त्तत्व कहलाता है और इससे विपरीत जिसका इतनापना-परिमाण न हो सके वह अमूर्त्तत्व कहलाता है, इस लक्षण के अनुसार सभी गुण-रूप, रस, गंधादिक भी अमूर्त्त ठहरते है, किंतु यह लक्षण सर्वथा प्रत्यक्ष बाधित है अस्तु, इसी लक्षण के अनुसार यहां सभी गुणों को अमूर्त्त कहा] ।

पक्ष और विपक्ष के एकदेश में और सपक्ष में सर्वत्र व्यापक हो वह सातवां अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे-दिशा, काल और मन अद्रव्य हैं-द्रव्य नहीं कहलाते, क्योंकि ये अमूर्त्त है । यहां पर भी पहले कहे हुए छठवें हेत्वाभास के समान सब

सपक्षविपक्षव्यापकः पक्षैकदेशवृत्तिर्यथा–पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशान्यनित्यान्यगन्धवत्त्वात् । अगन्धवत्त्वं हि पृथिवीतोऽन्यत्र पक्षैकदेशे वर्त्तते न तु पृथिव्याम्, सपक्षे चानित्ये गुणे कर्मणि च, विपक्षे चात्मादौ नित्ये सर्वत्र वर्त्तत इति ।

अथेदानीमकिञ्चित्करस्वरूपं सिद्ध इत्यादिना व्याचष्टे—

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ।। ३५ ।।

सिद्धे निर्णीते प्रमाणान्तरात्साध्ये प्रत्यक्षादिबाधिते च हेतुर्न किञ्चित्करोतीत्यकिञ्चित्करोऽनर्थकः ।

व्याख्यान घटित करना चाहिये, इतनी विशेषता है कि अद्रव्यरूप जो गुणादिक हैं वे यहां सपक्ष कहलायेंगे । इसका खुलासा करते है "दिशा काल और मन ये अद्रव्य हैं" यह तो पक्ष है इसमें अमूर्त्तत्व हेतु दिशा काल रूप पक्ष के एकदेश में तो है और एक देश जो मन है उसमें नहीं है । विपक्ष यहां द्रव्य है सो किसी द्रव्यरूप विपक्ष में तो अमूर्त्तत्व है और किसी मे नही, इसतरह पक्ष और विपक्ष के एकदेश में अमूर्त्तत्व हेतु रहा । इस हेतु का सपक्ष गुणादि है उसमें सर्वत्र व्यापक है ।

जो हेतु सपक्ष और विपक्ष में व्यापक हो और पक्ष के एकदेश मे रहे वह आठवां अनैकान्तिक हेत्वाभास है, जैसे–पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये पदार्थ अनित्य हैं क्योंकि ये अगंधवान है । यह अगंधवानत्व हेतु पृथिवी को छोड़कर अन्य जल आदि पदार्थों में तो रहता है किन्तु पृथिवी में नही रहता । सपक्ष जो अनित्य गुण और कर्म है उनमें व्यापक है, और आत्मा आदि नित्यरूप विपक्ष में भी सर्वत्र व्याप्त है । इसतरह नैयायिकादि के यहां हेत्वाभासों का वर्णन है, असिद्ध के आठ भेद विरुद्ध के आठ भेद और अनैकान्तिक आठ भेद ये अपने अपने असिद्ध आदि में ही लीन हैं क्योंकि इनमें कुछ भी लक्षण भेद नहीं हैं, अतः इसतरह भेद करना गलत है ।

अब यहां पर श्रीमाणिक्यनंदी आचार्य अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का स्वरूप बतलाते हैं—

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ।।३५।।

अर्थ—जो प्रमाण प्रसिद्ध साध्य हो अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित साध्य हो ऐसे साध्य के लिये प्रयुक्त हुआ हेतु अकिञ्चित्कर कहलाता है, जो साध्य पहले ही

यथा श्रावणः शब्दः शब्दत्वादिति ।।३६।।

न ह्यसौ स्वसाध्यं साधयति, तस्याध्यक्षादेव प्रसिद्धेः । नापि साध्यान्तरम्; तत्रावृत्तेरित्यत आह—

किञ्चिदकरणात् ।। ३७ ।।

प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्येऽकिञ्चित्करोसौ- -

यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किंचित्कर्त्तु मशक्यत्वात् ।। ३८ ।।

कुतोस्याऽकिञ्चित्करत्वमित्याह-किञ्चित्कर्तु मशक्यत्वात् ।

किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध हो चुका हो, या किसी प्रत्यक्षादि से जिसमें बाधा आती हो ऐसे वस्तु को साध्य बनाकर उसमें जो हेतु दिया जाय तो वह अकिंचित्कर माना जाता है, न किंचित् करोति इति अकिंचित्करः अनर्थक. ऐसा व्युत्पत्यर्थ है । इसीके उदाहरण देते हैं—

यथा श्रावणः शब्दः शब्दत्वात् ।।३६।।

जैसे किसी ने कहा कि शब्द कर्णेन्द्रिय का विषय है, क्योंकि वह शब्दरूप है । यहां शब्दत्व हेतु स्वसाध्य को [श्रावणत्व को] कुछ भी सिद्ध नहीं करता, क्योंकि साध्य प्रत्यक्ष सिद्ध है अर्थात् शब्द कर्ण से प्रत्यक्ष सुनायी दे रहा उसे क्या कहना कि यह कर्ण से सुनायी देने वाला है ? अन्य साध्य को भी सिद्ध नहीं करता, क्योंकि उसमें नहीं है, इसीको कहते हैं—

किञ्चिदकरणात् ।। ३७ ।।

अर्थ—यह शब्दत्व हेतु कुछ भी नहीं करता है । प्रत्यक्षादि से बाधित जो साध्य है उसमें भी यह हेतु कुछ नही करता ऐसा बतलाते हैं—

यथा अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किंचित् कर्त्तुमशक्यत्वात् ।।३८।।

अर्थ—जैसे किसी ने अनुमान वाक्य का प्रयोग किया कि अग्नि ठंडी होती है, क्योंकि वह द्रव्यरूप है, जिसप्रकार जल द्रव्य होने से ठंडा रहता है ! सो साध्य में

ननु प्रसिद्धः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैश्च बाधितः पक्षाभासः प्रतिपादितः तद्दोषेणैव चास्य दुष्टत्वात् पृथगकिञ्चित्कराभिधानमनर्थकमित्याशङ्क्य लक्षण एवेत्यादिना प्रतिविधत्ते—

लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ।। ३९ ।।

लक्षणे लक्षणव्युत्पादनशास्त्रे एवासावकिञ्चित्करत्वलक्षणो दोषो विनेयव्युत्पत्त्यर्थं व्युत्पाद्यते, न तु व्युत्पन्नानां प्रयोगकाले । कुत एतदित्याह-व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ।

दिया हुआ यह द्रव्यत्व हेतु कुछ नहीं कर सकता अर्थात् अग्नि को ठंडा सिद्ध नहीं करता, क्योंकि अग्नि तो प्रत्यक्ष से उष्ण सिद्ध हो रही ।

शंका—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक और स्ववचन इनसे बाधित जो पक्ष हो वह सब पक्षाभास है ऐसा पहले ही बता चुके हैं, उस पक्ष के दोष के कारण ही यह अकिंचित्कर हेतु हेत्वाभास बना है, अतः इस हेत्वाभास को पृथक्रूप से कहना व्यर्थ है ?

समाधान—इसी बात को मनमें रखकर सूत्र को कहते हैं—

लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ।।३९।।

अर्थ—लक्षण को बतलाने वाले हेतु के लक्षण शास्त्र में ही इस अकिंचित्कर हेत्वाभास को गिनाया है, जो व्यक्ति अनुमान के प्रयोग करने में कुशल है व्युत्पन्नमति है वह तो पक्ष के दोष के कारण ही इस हेतु को दुष्ट हुआ मान लेता है । अभिप्राय यह है कि–हेतु के लक्षण बतलाने वाले शास्त्र में इस अकिंचित्कर लक्षण वाला दोष बता दिया है, इसका कारण यह है कि शिष्यों को पहले से ही व्युत्पन्न–अनुमान प्रयोग में प्रवीण करना है अतः उनको समझाया है कि इसतरह के हेतुका प्रयोग नहीं करना, इसतरह का पक्ष नही बनाना, किन्तु जो व्युत्पन्नमति बन चुके हैं, वाद में उपस्थित हुए हैं उनके लिये यह हेत्वाभास का लक्षण नहीं कहा, इसका भी कारण यह है कि व्युत्पन्न पुरुष यदि ऐसा अनुमान प्रयोग करेंगे तो उन्हें वहीं रोका जायगा और कहा जायगा कि आपका यह पक्ष ठीक नहीं है, इस पक्ष के दोष से–पक्षाभास के प्रयोग से ही हेतु दूषित हुआ इत्यादि, सो कोई वाद कुशल पुरुष भी यदि किसी आकुलता आदि

अथेदानीं दृष्टान्ताभासप्रतिपादनार्थं दृष्टान्तेत्याद्युपक्रमते । दृष्टान्तो ह्यन्वयव्यतिरेकभेदाद्द्विधेत्युक्तम् । तद्विपरीतस्तदाभासोपि तद्भेदाद्द्विधैव द्रष्टव्यः । तत्र—

दृष्टान्ताभासा अन्वये असिद्धसाध्यसाधनोभयाः ।। ४० ।।

अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुख-परमाणु-घटवदिति ।। ४१ ।।

इन्द्रियसुखे हि साधनममूर्तत्वमस्ति, साध्यं त्वपौरुषेयत्वं नास्ति पौरुषेयत्वात्तस्य । परमाणुषु तु साध्यमपौरुषेयत्वमस्ति, साधनं त्वमूर्तत्वं नास्ति मूर्तत्वात्तेषाम् । घटे तूभयमपि पौरुषेयत्वान्मूर्त्तत्वाच्चास्येति । न केवलमेत एवान्वये दृष्टान्ताभासाः ।

किन्तु—

कारणवश इसतरह का सदोष अनुमान प्रयोग कर बैठे तो उसे पक्ष के दोष से ही दूषित ठहराया जाता है । इसप्रकार यहां तक हेत्वाभास का वर्णन किया ।

अब इस समय दृष्टान्ताभास का प्रतिपादन करते हैं, दृष्टांत के अन्वय दृष्टांत और व्यतिरेक दृष्टांत इसप्रकार दो भेद पहले बताये थे, अतः दृष्टांताभास भी दो प्रकार का है, उसमें पहले अन्वय दृष्टांताभास को कहते हैं—

दृष्टांताभासा अन्वये असिद्धसाध्यसाधनोभयाः ।।४०।।

अर्थ—अन्वय–जहां जहां साधन [धूम] होता है वहा वहां साध्य [अग्नि] होता है, इसप्रकार की व्याप्ति दिखलाकर दृष्टांत दिया जाता है उस दृष्टांत में यदि साध्य न हो या साधन न हो अथवा उभय–दोनों नही हो वे सबके सब अन्वय दृष्टांताभास हैं, इनका उदाहरण देते हैं—

अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्त्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ।।४१।।

अर्थ—शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि वह अमूर्त्त है, जैसे इंद्रिय सुख अमूर्त्त होने से अपौरुषेय है, अथवा परमाणु अमूर्त्त होने से अपौरुषेय है अथवा जिसप्रकार घट अमूर्त्त होने से अपौरुषेय है, इसप्रकार किसी ने अनुमान का प्रयोग किया इसमें शब्द को अपौरुषेय सिद्ध करने के लिये अमूर्त्तत्व हेतु दिया है और दृष्टांत तीन दिये है,

विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्त्तम् ॥ ४२ ॥

विपरीतोऽन्वयो व्याप्तिप्रदर्शनं यस्मिन्निति । यथा यदपौरुषेयं तदमूर्तमिति । 'यदमूर्तं तदपौरुषेयम्' इति हि साध्येन व्याप्ते साधने प्रदर्शनीये कुतश्चिद्व्यामोहात् 'यदपौरुषेयं तदमूर्तम्' इति प्रदर्शयति । न चैवं प्रदर्शनीयम्—

विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गादिति ॥ ४३ ॥

विद्युद्वनकुसुमादौ ह्यपौरुषेयत्वेप्यमूर्तत्वं नास्तीति ।

उनमें प्रथम दृष्टान्त इन्द्रिय सुखका है इन्द्रिय सुख में अमूर्त्तत्व हेतु [साधन] तो है किन्तु साध्य जो अपौरुषेय है वह नहीं, क्योंकि इंद्रिय सुख पुरुषकृत ही है अतः यह दृष्टान्त साध्यविकल ठहरता है । दूसरा दृष्टान्त परमाणु का है, इसमें साध्य–अपौरुषेयत्व तो है किन्तु साधन–अमूर्त्तत्व नहीं है अतः यह दृष्टान्त साधन विकल कहलाया । तीसरा दृष्टान्त घटका है, इसमें साध्य–साधन अपौरुषेय और अमूर्त्तत्व दोनों ही नहीं है, घट तो पौरुषेय और मूर्त्त है अतः घट दृष्टांत उभयविकल है । और भी अन्वय दृष्टान्ताभास को बतलाते हैं—

विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्त्तम् ॥४२॥

अर्थ—जिस दृष्टान्त में विपरीत अन्वय दिखाया जाता है वह भी दृष्टान्ताभास कहलाता है, जैसे कहना कि जो अपौरुषेय होता है वह अमूर्त्त होता है । विपरीत रूप से अन्वय व्याप्ति है जिसमें उसे विपरीतान्वय कहते हैं, इसप्रकार विपरीतान्वय शब्दका विग्रह है । जो अमूर्त्त है वह अपौरुषेय होता है ऐसा सही अन्वय दिखाना चाहिए अर्थात् साध्य के साथ साधन की व्याप्ति बतलानी थी सो किसी व्यामोह के कारण उलटा अन्वय कर बैठता है कि जो अपौरुषेय है वह अमूर्त्त होता है, सो ऐसा कहना ठीक क्यों नहीं इस बात को कहते हैं—

विद्युदादिनातिप्रसंगात् ॥ ४३ ॥

अर्थ—यदि जो अपौरुषेय है वह अमूर्त्त होता है ऐसा निश्चय करेंगे तो विद्युत्–बिजली आदि पदार्थ के साथ अतिप्रसंग प्राप्त होगा, अर्थात् विद्युत, वनके पुष्प

व्यतिरेके दृष्टान्ताभासाः—

व्यतिरेके असिद्धतद्व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ।। ४४ ।।

असिद्धतद्व्यतिरेकाः—असिद्धस्तेषां साध्यसाधनोभयानां व्यतिरेको [व्या] वृत्तिर्येषु ते तथोक्ताः। यथाऽपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादित्युक्त्वा यन्नापौरुषेयं तन्नामूर्तं परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवदिति व्यतिरेकमाह। परमाणुभ्यो ह्यमूर्तत्वव्यावृत्तावप्यऽपौरुषेयत्वं न व्यावृत्तमपौरुषेयत्वात्तेषाम्। इन्द्रियसुखे त्वपौरुषेयत्वव्यावृत्तावप्यमूर्त्तत्वं न व्यावृत्तममूर्त्तत्वात्तस्य। आकाशे तूभयं न व्यावृत्तमपौरुषेयत्वादमूर्त्तत्वाच्चास्येति। न केवलमेत एव व्यतिरेके दृष्टान्ताभासाः किंतु—

इत्यादि पदार्थ अपौरुषेय तो अवश्य हैं [किसी मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं हैं] किंतु अमूर्त्त नही हैं, इसीलिये विपरीत अन्वय दिखाना दृष्टान्ताभास है। जो अमूर्त्त है वह अपौरुषेय होता है ऐसा कहना तो घटित होता है किन्तु इससे विपरीत कहना घटित नहीं होता, अतः दृष्टान्त देते समय वादी प्रतिवादी को चाहिए कि वे विपरीत अन्वय न करें और न साध्य आदि से रहित ऐसे दृष्टांत को उपस्थित करें।

अब व्यतिरेक में दृष्टान्ताभास किसप्रकार होते हैं सो बताते हैं—

व्यतिरेके असिद्ध तद् व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ।। ४४ ।।

अर्थ—जिस दृष्टान्त में साध्य के व्यतिरेक की व्याप्ति न हो या साधन की अथवा दोनों के व्यतिरेक की व्याप्ति सिद्ध नहीं हो वह व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, उसके तीन भेद होते है, साध्य व्यतिरेक रहित, साधन व्यतिरेक रहित, उभय–साध्य साधन व्यतिरेक रहित। असिद्ध है साध्यसाधन और उभय का व्यतिरेक जिनमें उनको कहते हैं असिद्ध तद् व्यतिरेक, इसतरह "असिद्ध तद् व्यतिरेकाः" इस पदका समास विग्रह है, अब क्रमशः इनका उदाहरण प्रस्तुत करते है—शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि वह अमूर्त्त है, इसप्रकार साध्य और हेतु को कहकर व्यतिरेक दृष्टात बताया कि जो अपौरुषेय नहीं है वह अमूर्त्त भी नही होता जिसप्रकार परमाणु, इन्द्रिय सुख तथा आकाश अपौरुषेय नहीं होने से अमूर्त्त नहीं होते, सो ये तीनों ही दृष्टान्त गलत हैं, इसका खुलासा इस प्रकार है—परमाणुओं से अमूर्त्तत्व तो व्यावृत्त होता है [परमाणु में अमूर्त्तत्व नहीं होने से] किन्तु अपौरुषेयत्व व्यावृत्त नहीं होता, क्योंकि परमाणु अपौरुषेय ही हुआ

विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषेयम् ।। ४५ ।।

विपरीतो व्यतिरेको व्यावृत्तिप्रदर्शनं यस्येति । यथा यन्नामूर्त्तं तन्नापौरुषेयमिति । 'यन्नापौरुषेयं तन्नामूर्तम्' इति हि साध्यव्यतिरेके साधनव्यतिरेकः प्रदर्शनीयस्तथैव प्रतिबन्धादिति ।

करते हैं। दूसरा दृष्टांत इन्द्रिय सुख का दिया इसमें अपौरुषेय की व्यावृत्ति तो है किंतु अमूर्त्त की व्यावृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इन्द्रिय सुख अमूर्त्त ही है। तीसरा दृष्टांत आकाश का है आकाश में न अपौरुषेय की व्यावृत्ति हो सकती है और न अमूर्त्तत्व की व्यावृत्ति हो सकती है, आकाश तो अपौरुषेय भी है और अमूर्त्त भी है, अतः आकाश का दृष्टांत साध्य साधन दोनों के व्यतिरेक से रहित ऐसा व्यतिरेक दृष्टान्ताभास कहा जाता है। व्यतिरेक दृष्टान्ताभास का और भी उदाहरण देते हैं।

विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्त्त तन्नापौरुषेयम् ।।४५।।

अर्थ—विपरीत-उलटा व्यतिरेक बतलाते हुए व्यतिरेक दृष्टान्त देना भी व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, जैसे–जो अमूर्त्त नहीं है वह अपौरुषेय नहीं होता। विपरीत है व्यतिरेक अर्थात् व्यावृत्ति का दिखाना जिसमें उसे कहते हैं विपरीत व्यतिरेक, इस प्रकार विपरीत व्यतिरेक शब्द का विग्रह समझना। वह विपरीत इसप्रकार होता है कि "जो अमूर्त्त नहीं है वह अपौरुषेय नहीं होता" यहां व्यतिरेक तो ऐसा करना चाहिये था कि साध्य के हटने पर साधन का हटाना दिखाया जाय अर्थात् जो अपौरुषेय नहीं है वह अमूर्त्त नहीं होता, इसीप्रकार कहने से ही व्यतिरेक व्याप्ति सही होती है, क्योंकि साध्य साधन का इसी तरह का अविनाभाव होता है।

भावार्थ—शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि वह अमूर्त्त है, इसप्रकार किसी मीमांसकादि ने अनुमान वाक्य कहा, फिर व्यतिरेक व्याप्ति दिखाते हुए दृष्टांत दिया कि "जो जो अमूर्त्त नहीं है वह वह अपौरुषेय नहीं होता, जैसे परमाणु तथा इन्द्रिय सुख और आकाश अमूर्त्त नहीं होने से अपौरुषेय नहीं है" सो इसतरह किसी व्यामोह वश उलटा व्यतिरेक और उलटा ही दृष्टांत देवे तो वह व्यतिरेक दृष्टांताभास कहलाता है, यदि सिर्फ दृष्टांत ही साध्य साधन के व्यतिरेक से रहित है तो वह व्यतिरेक दृष्टांताभास है और यदि मात्र व्यतिरेक व्याप्ति उलटी दिखायी तो भी वह दृष्टांताभास कहलाता है।

अव्युत्पन्नव्युत्पादनार्थं पञ्चावयवोपि प्रयोग· प्राक् प्रतिपादितस्तत्प्रयोगाभासः कीदृश इत्याह–

अनुमान में साध्य और साधन ये दो प्रमुख पदार्थ हुआ करते हैं, साध्य तो वह है जिसे सिद्ध करना है, और जिसके द्वारा वह सिद्ध किया जाय उसे साधन कहते हैं, साध्य के साथ साधन का अविनाभाव सम्बन्ध तो होता है किन्तु साधन के साथ साध्य का अविनाभाव होना जरूरी नहीं है, अतः पंचावयवरूप अनुमान प्रयोग करते समय यह नियम लक्ष्य में रखकर वाक्य रचना करनी होगी अन्यथा गलत होगा जैसे–शब्द अपौरुषेय (साध्य) है क्योंकि वह अमूर्त्त (साधन) है यहां अपौरुषेयरूप साध्य को अमूर्त्तरूप साधन सिद्ध कर रहा है अतः अपौरुषेय के साथ अमूर्त्त का अविनाभाव तो है किन्तु अमूर्त्त के साथ अपौरुषेय का अविनाभाव नहीं है, बिजली आदि पदार्थ अमूर्त्त न होकर भी अपौरुषेय है, अतः ऐसा व्यतिरेक नहीं दिखा सकते कि जहां जहां अमूर्त्त नहीं होता वहां वहां अपौरुषेय नहीं होता। पहले अन्वय दृष्टांताभास मे भी यहीं बात कही थी कि अन्वय यदि उलटा दिखाया जाय तो वह अन्वय दृष्टान्ताभास बनता है जैसे किसी ने कहा कि जो अपौरुषेय होता है वह अमूर्त्त होता है सो यह गलत ठहरता है, जो अपौरुषेय हो वह अमूर्त्त ही होवे ऐसा नियम नही है, इसलिये अनुमान प्रयोग मे अन्वय व्याप्ति तथा व्यतिरेक व्याप्ति को सही दिखाना चाहिये अन्यथा दृष्टांताभास बनेगे। अन्वय या व्यतिरेक दृष्टांत देते समय यह लक्ष्य अवश्य रखे कि कहीं साध्य या साधन अथवा दोनों से विकल–रहित ऐसा दृष्टान्त–उदाहरण तो प्रस्तुत नही कर रहे ! यदि इस बात का लक्ष्य नही रखा जायगा तो वे सब दृष्टान्ताभास बनते जायेंगे। दृष्टान्त में साध्य न रहे अथवा साध्य होकर भी यदि साधन न रहे तो भी वह दृष्टांताभास ही कहलायेगा, इसीलिये दृष्टांत शब्द की निरुक्ति है कि "दृष्टौ साध्य साधनरूप धर्मौ [अंतौ] यस्मिन् स दृष्टांतः" देखे जाते हैं साध्य साधन के धर्म जिसमें वह दृष्टांत है।

अनुमान के कितने अंग–या अवयव होते हैं इस विषय की चर्चा करते हुए तीसरे परिच्छेद में कहा था कि जो पुरुष अव्युत्पन्न है–अनुमान वाक्य के विषय में अजान है उसके लिये अनुमान में पांच अवयव भी प्रयुक्त होते हैं अन्यथा दो ही प्रमुख अवयव होते हैं इत्यादि, सो अब यहां प्रश्न होता है कि उस अव्युत्पन्न–पुरुष के प्रति किस प्रकार का अनुमान प्रयोग अनुमान प्रयोगाभास कहलायेगा ? इसीका समाधान अग्रिम सूत्र द्वारा करते हैं—

बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता ।। ४६ ।।

यथाग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति ।। ४७ ।।

धूमवांश्चायमिति वा ।। ४८ ।।

यो ह्यव्युत्पन्नप्रज्ञोऽनुमानप्रयोगे पञ्चावयवे गृहीतसङ्केतः स उपनयनिगमनरहितस्य निगमन-रहितस्य वानुमानप्रयोगस्य तदाभासता मन्यते । न केवलं कियद्धीनतैव बालप्रयोगाभासः किंतु तद्विपर्ययश्च-तेषामवयवानां विपर्ययस्तत्प्रयोगाभासो यथा—

बालप्रयोगाभासः पंचावयवेषु कियद्धीनता ।।४६।।

अर्थ—बाल प्रयोग पांच अवयव सहित होना था उसमें कमी करना बाल प्रयोगाभास है, जैसे यहां अग्नि है [१ साध्य] क्योंकि धूम है [२ हेतु] जहां धूम होता है वहां अग्नि अवश्य होती है जैसे रसोई घर [३ दृष्टांत] यहां पर भी धूम है [४ उपनय] अतः अवश्य ही अग्नि है [५ निगमन] ये अनुमान के पांच अवयव हैं इनमें से एक या दो आदि अवयव प्रयुक्त नहीं होना बालप्रयोगाभास है ।

यथा अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात् यदित्थं तदित्थं यथा महानसः ।।४७।।

अर्थ—स्वयं माणिक्यनंदी आचार्य प्रयोग करके बतला रहे हैं कि—यदि कोई पुरुष अव्युत्पन्न व्यक्ति के लिये अनुमान के पांच अवयव न बताकर तीन ही बताता है तो वह बाल प्रयोगाभास कहलायेगा अर्थात्—यह प्रदेश अग्नि सहित है, क्योंकि धूम दिखायी दे रहा है, जो इसतरह धूम सहित होता है वह अग्निमान होता है, जैसे रसोई घर । इस अनुमान में तीन ही अवयव हैं आगे के उपनय और निगमन ये दो अवयव नहीं बताये अतः यह बालप्रयोगाभास है ।

धूमवांश्चायम् इति वा ।।४८।।

अर्थ—अथवा उपर्युक्त अनुमान में चौथा अवयव जोड़ना अर्थात् "यह प्रदेश भी धूमवाला है" ऐसे उपनय युक्त चार अवयव वाला अनुमान प्रयोग करना भी बाल प्रयोगाभास कहा जाता है । जो पुरुष अव्युत्पन्न बुद्धि है, जिसको सिखाया हुआ है कि

तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायमिति ।। ४६ ।।

स ह्युपनयपूर्वकं निगमनप्रयोगं साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं मन्यते, नान्यथा । कुत एतदित्याह—

स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ।। ५० ।।

स्पष्टतया प्रकृतस्य साध्यस्य प्रतिपत्तेरयोगात् । यो हि यथा गृहीतसङ्केतः स तथैव वाक्प्रयोगात्प्रकृतमर्थं प्रतिपद्येत नान्यथा लोकवत् । यस्तु सर्वप्रकारेण वाक्प्रयोगे व्युत्पन्नप्रज्ञः स यथा यथा

अनुमान में पांच अवयव होते हैं, अथवा किसी विषय को पांच अवयव द्वारा उसको समझाया है, सो ऐसे पुरुष के प्रति उपनय और निगमन रहित अनुमान प्रयोग करना अथवा निगमन रहित अनुमान प्रयोग करना ये सब बालप्रयोगाभास है । अब यह बताते हैं कि कम अवयव बताना मात्र बालप्रयोगाभास नहीं है किन्तु और कारण से अर्थात् विपरीत क्रम से कहने के निमित्त से भी बालप्रयोगाभास होता है, जैसे—

तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायं ।। ४६ ।।

अर्थ—अत: अग्निमान है, यह भी धूमवान है, इसप्रकार पहले निगमन और पीछे उपनय का प्रयोग करना भी बालप्रयोगाभास है । जिनके मत में पंचावयवी अनुमान माना है अथवा जो अव्युत्पन्न है वह उपनय पूर्वक निगमन का प्रयोग होने को ही साध्य सिद्धि का कारण मानता है, इससे विपरीत निगमनपूर्वक उपनय के प्रयोग को साध्यसिद्धि का कारण नहीं मानता अत: विपरीत क्रम से प्रयोग करना बालप्रयोगाभास होता है । इसका भी कारण यह है कि—

स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ।। ५० ।।

अर्थ—निगमन को पहले और उपनय को पीछे कहने से स्पष्टरूप मे अनुमान ज्ञान नहीं हो पाता । प्रकृत जो अग्नि आदि साध्य है उसका ज्ञान विपरीत क्रम से कहने के कारण नहीं हो सकता, बात यह है कि जिस पुरुष को जिसप्रकार से संकेत बताया है वह पुरुष उसीप्रकार से वाक्य प्रयोग करे तो प्रकृत अर्थ को समझ सकता है अन्यथा नहीं, जैसे लोक व्यवहार में हम देखते है कि जिस बालक आदि को जिस पुस्तक आदि वस्तु मे जिस शब्द द्वारा प्रयोग करके बताया हो वह बालकादि उसी

वाक्यप्रयुज्यते तथा तथा प्रकृतमर्थं प्रतिपद्येत लोके सर्वभाषाप्रवीणपुरुषवत्। तथा च न तं प्रत्यनन्तरोक्तः कश्चित्प्रयोगाभास इति।

अथेदानीमागमाभासप्ररूपणार्थमाह—

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ।। ५१ ।।

रागाक्रान्तो हि पुरुषः क्रीडावशीकृतचित्तो विनोदार्थं वस्तु किञ्चिदप्राप्नुवन्माणवकैरपि सह क्रीडाभिलाषेणेदं वाक्यमुच्चारयति—

यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवका इति ।। ५२ ।।

शब्द द्वारा उस वस्तु को जानता है, अन्यथा नहीं। यह तो अव्युत्पन्न पुरुष की बात है, किन्तु जो पुरुष व्युत्पन्न बुद्धि है सब प्रकार के वाक्यों के प्रयोग करने समझने में कुशल है वह तो जिस जिस प्रकार का वाक्य प्रयुक्त करो उसको उसी उसी प्रकार से झट समझ जाता है, जैसे कोई पुरुष सपूर्ण भाषाओं में प्रवीण है तो वह जिस किसी प्रकार से वचन या वाक्य हो फौरन उसका अर्थ समझ जाता है, इस तरह यदि अनुमान प्रयोग में जो व्युत्पन्न है उसके लिये कैसा भी अनुमान बताओ वह झट समझ जाता है, उस व्युत्पन्न मति पुरुष को कोई भी प्रयोग बालप्रयोगाभास नहीं कहलायेगा। क्योंकि वह हर तरह से समझ सकता है। अस्तु।

अब इस समय आगमाभास का प्ररूपण करते हैं—

रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ।।५१।।

अर्थ—राग से युक्त अथवा द्वेष मोहादि से युक्त जो पुरुष है ऐसे पुरुष के वचन के निमित्त से जो ज्ञान होता है वह आगमाभास कहलाता है। रागादि से आक्रान्त व्यक्ति कभी क्रीड़ा कौतुहल के वश होकर विनोद के लिये [मनोरंजन के लिये] कुछ वस्तु को जब नहीं पाता तब बालकों के साथ भी क्रीड़ा की अभिलाषा से इस तरह बोलता है कि—

यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः ।।५२।।

तथा क्वचित्कार्ये व्यासक्तचित्तो माणवकै: कदर्थितो द्वेषाक्रान्तोप्यात्मीयस्थानात्तदुच्चाटनाभिलाषेणेदमेव वाक्यमुच्चारयति ।

मोहाक्रान्तस्तु सांख्यादि:—

अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति च ।। ५३ ।।

उच्चारयति । न खल्वज्ञानमहामहीधराक्रान्त: पुरुषो यथावद्वस्तु विवेचयितुं समर्थ: ।

ननु चैवंविधपुरुषवचनोद्भूतं ज्ञानं कस्मादागमाभासमित्याह—

अर्थ—हे बालकों ! दौड़ो दौड़ो नदी के किनारे बहुत से मोदक लड्डुओं के ढेर लगे हैं । इसतरह बालकों के साथ मनोरंजन करते हुए कोई बात करे तो वे वचन आगमाभास कहलाते है, क्योंकि इनमें सत्यता नहीं है । कभी कभी जब कोई व्यक्ति किसी कार्य में लगा रहता है उस समय बालक उसे परेशान करते हैं तो वह बालकों से पीड़ित हो क्रोध–द्वेष में आकर अपने स्थान से बालकों को भगाने के लिये इसतरह के वचन बोलता है ।

मोह–मिथ्यात्व से आक्रान्त हुआ पुरुष जो कि परवादी सांख्यादि है वह जो वचन बोलता है वे वचन आगमाभास हैं अब उसका उदाहरण देते है—

अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते इति च ।।५३।।

अर्थ—अंगुली के अग्रभाग पर हाथियों के सैकड़ों समूह रहते हैं, इत्यादि वचन एवं तत्सम्बन्धी ज्ञान सभी आगमाभास है, इसतरह के वचन आगमाभास इसलिये कहे जाते हैं कि इसतरह का वचनालाप अज्ञानरूपी बड़े भारी पर्वत से आक्रान्त हुए पुरुष ही बोला करते हैं, उनके द्वारा अज्ञान होने के कारण वास्तविक वस्तु तत्व का विवेचन नहीं हो सकता ।

शंका—इसतरह मोहादि से आक्रांत पुरुष के वचन से उत्पन्न हुआ ज्ञान आगमाभास क्यों कहा जाता है ?

विसंवादात् ॥ ५४ ॥

प्रतिपन्नार्थविचलनं हि विसंवादो विपरीतार्थोपस्थापकप्रमाणावसेयः । स चात्रास्तीत्यागमाभासता ।

अथेदानीं संख्याभासोपदर्शनार्थमाह—

विसंवादात् ॥ ५४ ॥

अर्थ—रागी मोही पुरुष के वचन विसंवाद कराते हैं अतः आगमाभास है । जो प्रमाण प्रतिपन्न पदार्थ है उससे विचलित होना विसवाद कहलाता है अर्थात् विपरीत अर्थ को उपस्थित करने वाला प्रमाण ही विसंवादक है, ऐसा विसंवाद रागी मोही पुरुषों के वचन से उत्पन्न हुए ज्ञान में पाया जाता है अतः ऐसे वचन से उत्पन्न हुआ ज्ञान आगमाभासरूप सिद्ध होता है ।

भावार्थ—"आप्तवचनादि निबंधनमर्थज्ञानमागमः" आप्त पुरुष सर्वज्ञ वीतरागी पुरुषों के वचन के निमित्त से अर्थात् उनके वचनों को सुनकर या पढ़कर जो पदार्थ का वास्तविक ज्ञान होता है उसको आगम प्रमाण कहते हैं ऐसा आगम प्रमाण का लक्षण करते हुए तीसरे परिच्छेद में [दूसरे भाग में] कहा था, उस लक्षण से विपरीत लक्षणवाला जो ज्ञान है वह सब आगमाभास है, जो आप्त पुरुष नही है राग द्वेष अथवा मोहयुक्त है उसके वचन प्रामाणिक नहीं होने से उन वचनों को सुनकर होने वाला ज्ञान भी प्रामाणिक नहीं होता, रागी पुरुष मनोरंजनादि के लिये जो वचन बोलता है उससे जो ज्ञान होता है वह आगमाभास है तथा द्वेषी पुरुष द्वेषवश जो कुछ कहता है उससे जो ज्ञान होता है वह आगमाभास है, मोह का अर्थ मिथ्यात्व है मिथ्यात्व के उदय से आक्रान्त पुरुष के वचन तो सर्वथा विपरीत ज्ञानके कारण होने से आगमाभास ही हैं, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, बौद्ध, चार्वाक, मीमांसक आदि जितने भी मत हैं उन मतों के जो वचन अर्थात् ग्रन्थ हैं वे सभी विपरीत ज्ञानके कारण होने से आगमाभास कहे जाते हैं ।

अब प्रमाण की संख्या सम्बन्धी जो विपरीतता है अर्थात् प्रमाण की संख्या कम या अधिकरूप से मानना संख्याभास है ऐसा कहते हैं—

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम् ।। ५५ ।।

कस्मादित्याह—

लोकायतिकस्य प्रत्यक्षत: परलोकादिनिषेधस्य परबुद्धयादेश्चासिद्धेः अतद्विषयत्वात् ।। ५६ ।।

कुतोऽसिद्धिरित्याह–अतद्विषयत्वात् । यथा चाध्यक्षस्य परलोकादिनिषेधादिरविषयस्तथा विस्तरतो द्वितीयपरिच्छेदे प्रतिपादितम् ।

अमुमेवार्थं समर्थयमान: सौगतादिपरिकल्पितां च संख्या निराकुर्वाण: सौगतेत्याद्याह—

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम् ।।५५।।

अर्थ—प्रत्यक्षरूप एक ही प्रमाण है इत्यादि रूप मानना संख्याभास है ।

लोकायितकस्य प्रत्यक्षत: परलोकादिनिषेधस्य परबुद्धयादेश्चासिद्धे : अतद् विषयत्वात् ।। ५६ ।।

अर्थ—लौकायित जो चार्वाक है वह एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है, यह एक प्रमाण संख्या ठीक नहीं है, क्योंकि एक प्रत्यक्ष से परलोक का निषेध करना, पर जीवों में ज्ञानादि को सिद्ध करना इत्यादि कार्य नही हो सकता, इसका भी कारण यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण परलोकादि को जानता ही नही उस ज्ञान की प्रवृत्ति परलोकादि परोक्ष वस्तु में न होकर केवल घट पट आदि प्रत्यक्ष वस्तु में ही हुआ करती है । चार्वाक एक ही प्रमाण मानते हैं, किन्तु उधर परलोकादि का निषेध करते हैं, सो परलोक नहीं है, सर्वज्ञ नहीं है, इत्यादि विषयों का निषेध करना अनुमानादि के अभाव में कैसे शक्य होगा ? अर्थात् नहीं हो सकता, अत: एक प्रत्यक्ष मात्र को मानना संख्याभास है । प्रत्यक्ष का विषय परलोक आदि पदार्थ नहीं हो सकते प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा परलोक का निषेध करना अशक्य है इत्यादि बातों का खुलासा द्वितीय परिच्छेद में कर दिया है, यहां अधिक नहीं कहते । आगे इसीका समर्थन करते हुए बौद्ध आदि परवादी द्वारा परिकल्पित प्रमाण संख्या का निराकरण करते हैं—

सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैः एकैकाधिकैः व्याप्तिवत् ।। ५७ ।।

यथैव हि सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां मते प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैः प्रमाणैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिर्न सिध्यत्यतद्विषयत्वात् तथा प्रकृतमपि । प्रयोग:–यद्यस्याऽविषयो न तत-

---

सौगत सांख्य यौग प्राभाकर जैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्य भावैः एकैकाधिकैः व्याप्तिवत् ।। ५७ ।।

अर्थ—जिसप्रकार सौगत सांख्य यौग प्राभाकर जैमिनी इनके मत में क्रमशः प्रत्यक्ष और अनुमानों द्वारा, प्रत्यक्ष अनुमान आगमों द्वारा, प्रत्यक्षादि में एक अधिक उपमा द्वारा, प्रत्यक्षादि में एक अधिक अर्थापत्ति, और उन्हींमें एक अधिक अभाव प्रमाण द्वारा व्याप्ति ज्ञानका विषय ग्रहण नहीं होने से उन मतों की दो तीन आदि प्रमाण संख्या बाधित होती है उसीप्रकार चार्वाक की एक प्रमाण संख्या बाधित होती है, इसका विवरण इसप्रकार है कि चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है किन्तु एक प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उसी चार्वाक का इष्ट सिद्धांत जो परलोक का खंडन करना आदि है वह किया नहीं जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय परलोकादि नही है प्रत्यक्ष प्रमाण उसको जान नहीं सकता, इसीप्रकार सौगत प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण माने हैं किंतु इन दो प्रमाणों द्वारा तर्क का विषय जो व्याप्ति है [जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है इत्यादि] उसका ग्रहण नहीं होता अतः दो संख्या मानने पर भी इष्ट मतकी सिद्धि नहीं हो सकती । प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ऐसे तीन प्रमाण सांख्य मानता है, प्रत्यक्ष अनुमान आगम और उपमान ऐसे चार प्रमाण यौग [नैयायिक–वैशेषिक] मानता है, प्रत्यक्ष अनुमान, आगम, उपमा और अर्थापत्ति ऐसे पांच प्रमाण प्रभाकर मानता है, प्रत्यक्ष अनुमान, आगम, उपमा, अर्थापत्ति और अभाव ऐसे छह प्रमाण जैमिनी [मीमांसक] मानता है किन्तु इन प्रमाणों द्वारा व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता क्योंकि उन प्रत्यक्षादि छह प्रमाणों मे से किसी भी प्रमाण का विषय व्याप्ति है ही नहीं, व्याप्ति का ग्रहण हुए बिना अनुमान आदि प्रमाणों की सिद्धि हो नहीं सकती ऐसा परोक्ष प्रमाण का वर्णन करते हुए सिद्ध कर चुके हैं, यहां कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे बौद्ध आदि के इष्ट प्रमाण संख्या द्वारा व्याप्तिरूप विषय ग्रहण नहीं होता अतः उनकी संख्या सिद्ध नहीं होती वैसे ही चार्वाक के एक प्रत्यक्ष

स्तत्सिद्धि: यथा प्रत्यक्षानुमानाद्यविषयो व्याप्तिर्न तत: सिद्धिसौधशिखरमारोहति, अविषयश्च पर-लोकनिषेधादि: प्रत्यक्षस्येति ।

मा भूत्प्रत्यक्षस्य तद्विषयत्वमनुमानादेस्तु भविष्यतीत्याह—

अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ।। ५८ ।।

चार्वाकं प्रति । सौगतादीन्प्रति—

तर्कस्यैव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वम् अप्रमाणस्य अव्यवस्थापकत्वात् ।।५९।।

प्रमाण द्वारा परलोक निषेधादि नही होने से वह एक संख्या बाधित होती है । अनुमान सिद्ध बात है कि–जो जिसका अविषय है वह उसके द्वारा सिद्ध नही होता, जैसे प्रत्यक्ष अनुमान आदि का व्याप्ति अविषय होने से उनके द्वारा वह सिद्धि रूपी प्रासाद शिखर का आरोहण नही कर सकती अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमानादि से व्याप्ति की सिद्धि नहीं होती, परलोक निषेध आदि प्रत्यक्ष प्रमाण का अविषय है ही अत: वह प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता । इसप्रकार चार्वाक, बौद्ध आदि सभी परवादियों के यहां जो जो प्रमाण संख्या मानी है वह वह सब ही संख्याभास है वास्तविक प्रमाण संख्या नहीं है ऐसा निश्चय हुआ । अब यहां कोई शंका करे कि परलोक निषेधादिक प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय भले ही मत होवे किन्तु अनुमान प्रमाण का विषय तो वह होगा ही ? सो इस शंका का समाधान करते हैं—

अनुमानादेस्तद् विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ।।५८।।

अर्थ—चार्वाक यदि अनुमानादि द्वारा परलोक निषेध आदि कार्य होना स्वीकार करे, अर्थात् परलोक निषेध इत्यादि अनुमान का विषय है ऐसा माने तो उस अनुमान को प्रमाणभूत स्वीकार करना होगा, और इसतरह प्रत्यक्ष से अन्य भी प्रमाण है ऐसा स्वीकार करने से उस मत की प्रमाण संख्या खण्डित होती ही है । जैसे बौद्ध मतकी संख्या खण्डित होती है—

तर्कस्यैव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वम् अप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् ।।५९।।

अर्थ—बौद्ध यदि व्याप्ति को तर्क प्रमाण विषय करता है ऐसा माने अर्थात् तर्क प्रमाण द्वारा व्याप्ति का [साध्य–साधन का अविनाभाव] ग्रहण होता है ऐसा

कुत एतदित्याह अप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् ।

प्रतिभासादिभेदस्य च भेदकत्वादिति ॥६०॥

माने तो उस तर्क प्रमाण को प्रत्यक्षादि से पृथक् स्वीकार करना होगा ही और ऐसा मानने पर उन बौद्धों की दो प्रमाण संख्या कहां रही ? अर्थात् नहीं रहती । यदि उस तर्क को स्वीकार करके अप्रमाण बताया जाय तो उस अप्रमाणभूत तर्क द्वारा व्याप्ति की सिद्धि हो नहीं सकती क्योंकि जो अप्रमाण होता है वह वस्तु व्यवस्था नही कर सकता ऐसा सर्व मान्य नियम है ।

प्रतिभासादिभेदस्य च भेदकत्वात् ॥६०॥

अर्थ—कोई कहे कि अनुमान या तर्क आदि को प्रामाणिक तो मान लेवे किंतु उन ज्ञानों का अन्तर्भाव तो प्रत्यक्षादि में ही हो जावेगा ? सो इस कथन पर आचार्य कहते हैं कि प्रतिभास में भेद होने से–पृथक् पृथक् प्रतीति आने से ही तो प्रमाणों में भेद स्थापित किया जाता है, अर्थात् जिस जिस प्रतीति या ज्ञान मे पृथक् पृथक् रूप से झलक आतो है उस उस ज्ञानको भिन्न भिन्न प्रमाणरूप से स्वीकार करते हैं, प्रत्यक्षादि की प्रतीति से तर्क ज्ञानकी प्रतीति पृथक् या विलक्षण है क्योंकि प्रत्यक्षादि से व्याप्ति का ग्रहण नहीं होकर तर्क ज्ञान से व्याप्ति का ग्रहण होता है इसी से सिद्ध होता है कि तर्क भी एक पृथक् प्रमाण है, जैसे कि प्रत्यक्षादि ज्ञान विलक्षण प्रतोति वाले होने से पृथक् पृथक् प्रमाण हैं । प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान प्रमाण, तर्क प्रमाण इत्यादि प्रमाणों मे विभिन्न प्रतिभास है इन प्रमाणों की सामग्री भी विभिन्न है इत्यादि विषयों का पहले "तद्द्वेधा" इस सूत्र का विवेचन करते समय खुलासा कर दिया है अब यहां अधिक नही कहते हैं ।

विशेषार्थ—प्रत्यक्ष और परोक्ष इसप्रकार दो प्रमुख प्रमाण हैं ऐसा पहले सिद्ध कर आये हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण के सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष इसप्रकार दो भेद हैं इन दो में "विशदं प्रत्यक्षं" ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण पाया जाता है अतः ये कथंचित् लक्षण अभेद की अपेक्षा एक भी है । परोक्ष प्रमाण के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ऐसे पांच भेद हैं इन सभी में परोक्षमितरद–

प्रतिपादितश्चायं प्रतिभासभेदसामग्रीभेदश्चाध्यक्षादीनां प्रपञ्चतस्तद्द्वैत्यत्रेत्युपरम्यते ।

अथेदानीं विषयाभासप्ररूपणार्थं विषयेत्याद्युपक्रमते—

अविशदं परोक्षम्, ऐसा लक्षण सुघटित होता है अतः इनमें कथंचित् अभेद भी है । प्रत्यक्ष प्रमाण में पारमार्थिक प्रत्यक्ष की सामग्री अखिल आवरण कर्मों का नाश होना है, और सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष की सामग्री इन्द्रियां तथा मन है, अंतरंग में आवरण कर्म का क्षयोपशम होना है । परोक्ष ज्ञान में–स्मृति में कारण प्रत्यक्ष प्रमाण तथा तदावरण कर्म का क्षयोपशम है, प्रत्यभिज्ञान में प्रत्यक्ष तथा स्मृति एवं तदावरण कर्म का क्षयोपशम इसप्रकार कारण है ऐसे ही तर्क आदि प्रमाणों के कारण अर्थात् सामग्री समझ लेना चाहिये इसतरह विभिन्न सामग्री के होने से प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाणों में एवं इनके प्रभेदों में विभिन्नता आया करती है । प्रतिभास का भेद भी इनमें दिखायी देता है, प्रत्यक्ष का प्रतिभास विशद–स्पष्ट है और परोक्ष का अविशद–अस्पष्ट है । ऐसे ही इनके सांव्यावहारिक या अनुमानादि में कथंचित् विभिन्न विभिन्न प्रतिभास होते हैं अतः इन ज्ञानोंको भिन्न भिन्न प्रमाणरूप माना है । जैन से अन्य परवादी जो चार्वाक बौद्ध आदि हैं उनके यहां प्रमाण संख्या सही सिद्ध नहीं होती क्योंकि प्रथम तो वे लोग प्रमाण का लक्षण गलत करते हैं दूसरी बात इनके माने गये एक दो आदि प्रमाण द्वारा इन्ही का इष्ट सिद्धांत सिद्ध नहीं हो पाता, चार्वाक को परलोक का निषेध करना इष्ट है किन्तु वह प्रत्यक्ष से नही हो सकता, ऐसे ही बौद्ध को अनुमान प्रमाण मानना इष्ट है किन्तु अनुमान तभी सिद्ध हो सकता है जब उस अनुमान में स्थित जो साध्य–साधन का अविनाभाव है उसको जानने वाला तर्क ज्ञान स्वीकार किया जाय । यदि चार्वाक आदि कहे कि हम अनुमान को मानकर उनका अन्तर्भाव प्रत्यक्षादि में ही कर लेंगे ? सो बात गलत है क्योंकि जब इस तर्कादि ज्ञान में प्रतिभास विभिन्न हो रहा है तो उसे अवश्य ही पृथक् प्रमाणरूप से स्वीकार करना होगा अन्यथा इन चार्वाक आदि का इष्ट कार्य सिद्ध नही हो सकता । इसप्रकार परवादियों की प्रमाण गणना सही नहीं है ऐसा निश्चित होता है । अस्तु ।

अब इस समय विषयाभास का वर्णन करते हैं—

विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ॥ ६१ ॥

विषयाभासाः—सामान्यं यथा सत्ताद्वैतवादिनः। केवलं विशेषो वा यथा सौगतस्य। द्वयं वा स्वतन्त्रं यथा यौगस्य। कुतोऽस्य विषयाभासतेत्याह—

तथाऽप्रतिभासनात् कार्याकरणाच्च ॥ ६२ ॥

स ह्येवंविधोऽर्थः स्वयमसमर्थः समर्थो वा कार्यं कुर्यात्? न तावत्प्रथमः पक्षः;

विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ॥६१॥

अर्थ—प्रमाण का विषय "सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषयः" इसप्रकार बतलाया था इससे विपरीत अकेला सामान्य अथवा अकेला विशेष या सामान्य और विशेष दोनों स्वतन्त्ररूप से प्रमाण के विषय हैं ऐसा कहना विषयाभास है। सत्ताद्वैत-वादी [ब्रह्माद्वैतवादी आदि] प्रमाण का विषय सामान्य है ऐसा कहते हैं अर्थात् प्रमाण मात्र सामान्य को जानता है सामान्य को छोड़कर अन्य पदार्थ ही नहीं हैं अतः प्रमाण अन्य को कैसे जानेगा इसप्रकार इन सत्ताद्वैतवादियों की मान्यता है। बौद्ध प्रमाण का विषय केवल विशेष है ऐसा बताते हैं। नैयायिक-वैशेषिक प्रमाण का विषय सामान्य और विशेष मानते तो हैं किन्तु इन दोनों का अस्तित्व सर्वथा पृथक् पृथक् बतलाते हैं सामान्य सर्वथा एक स्वतंत्र पदार्थ है और विशेष सर्वथा पृथक् एक स्वतंत्र पदार्थ है ऐसा मानते हैं ये सभी विषय असत् हैं, इसतरह के विषय को ग्रहण करने वाला प्रमाण नहीं होता है प्रमाण तो सामान्य और विशेष दोनों जिसके अभिन्न अंग हैं ऐसे पदार्थ को विषय करता है अतः एक एक को विषय मानना विषयाभास है। आगे इसीको बताते हैं—

तथा-प्रतिभासनात् कार्या-करणाच्च ॥६२॥

अर्थ—सामान्य और विशेष ये दोनों स्वतंत्र पदार्थ हो अथवा एक सामान्य मात्र ही जगत में पदार्थ है, या एक विशेष नामा पदार्थ ही वास्तविक है सामान्य तो काल्पनिक है ऐसा प्रतीत नही होता, प्रतीति में तो सामान्य विशेषात्मक एक वस्तु आती है, देखिये-गाय में गोत्व सामान्य और कृष्ण शुक्ल आदि विशेष क्या न्यारे न्यारे प्रतिभासित होते हैं ? नहीं होते, संसार भर का कोई भी पदार्थ हो वह सामान्य

स्वयमसमर्थस्याऽकारकत्वात्पूर्ववत् ।। ६३ ।।

एतच्च सर्वं विषयपरिच्छेदे विस्तारतोभिहितमिति नेहाभिधीयते ।

नापि द्वितीयः पक्षः;

समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ।। ६४ ।।

विशेषात्मक ही रहेगा ऐसा अटल नियम है और यह नियम भी कोई जबरदस्ती स्थापित नहीं किया है किन्तु इसीप्रकार की प्रतीति आने से–प्रतीति के आधार पर ही स्थापित हुआ है। सामान्य विशेषात्मक ही पदार्थ है पृथक् पृथक् दो नहीं हैं ऐसा मानने का कारण यह भी है कि अकेला सामान्य या अकेला विशेष कोई भी कार्य नहीं कर सकता है। हम जैन सत्ताद्वैतवादी आदि परवादियों से प्रश्न करते है कि अकेला स्वतन्त्र ऐसा यह सामान्य या विशेष यदि कार्य करता है तो स्वय समर्थ होकर करता है या असमर्थ होकर करता है ? स्वयं असमर्थ होकर तो कार्य कर नहीं सकते, क्योंकि–

स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात् पूर्ववत् ।।६३।।

अर्थ—जो स्वयं असमर्थ है वह कार्य कर नही सकता जैसे पहले नहीं करता था, अर्थात् पदार्थ जो भी कार्य करते हैं उसमें वे किसी अन्य की अपेक्षा रखते हैं या नहीं ? यदि रखते हैं तो जब अन्य सहकारी कारण मिला तब पदार्थ ने कार्य को किया ऐसा अर्थ हुआ ? किन्तु ऐसा परवादी मान नहीं सकते क्योंकि उनके यहां प्रत्येक पदार्थ को या सर्वथा परिणामी–परिवर्त्तनशील माना है या सर्वथा अपरिणमनशील माना है, यदि मान लो कि पदार्थ सर्वथा अपरिणामी है तथा स्वयं असमर्थ है परकी अपेक्षा लेकर कार्य करता है तो ऐसा मानना अशक्य है, क्योंकि जो अपरिणामी है उसको परकी सहायता हो तभी जैसा का तैसा है और परकी सहायता जब नही है तभी जैसा का तैसा पूर्ववत् है। इस विषय को विषय परिच्छेद में विस्तारपूर्वक कह दिया है अतः यहां नहीं कहते हैं। दूसरा पक्ष–सामान्यादि अकेला स्वतंत्र पदार्थ स्वयं समर्थ होकर कार्य को करता है ऐसा मानना भी गलत है, क्योंकि—

समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ।।६४।।

परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावादिति ।। ६५ ।।

अथेदानीं फलाभासं प्ररूपयन्नाह—

फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ।। ६६ ।।

कुतोस्य फलाभासतेत्याह—

अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ।। ६७ ।।

न खलु सर्वथा तयोरभेदे 'इदं प्रमाणमिदं फलम्' इति व्यवहारः शक्यः प्रवर्त्तयितुम्—

अर्थ—जो समर्थ होकर कार्य करता है तो हमेशा ही कार्य की उत्पत्ति होना चाहिये ? क्योंकि उसे अन्य कारण की अपेक्षा है नहीं, यह सर्वसम्मत बात है कि जो समर्थ है किसी की अपेक्षा नहीं रखता है उसका कार्य रुकता नहीं, चलता ही रहता है।

परापेक्षणे परिणामित्व मन्यथा तदभावात् ।।६५।।

अर्थ—यदि वह समर्थ पदार्थ परकी अपेक्षा रखता है ऐसा माना जाय तो वह निश्चित ही परिवर्त्तनशील पदार्थ ठहरेगा। क्योंकि परिवर्त्तन के हुए बिना ऐसा कह नहीं सकते कि पहले कार्य को नहीं किया था पर सहायक कारण मिलने पर कार्य किया इत्यादि। इसप्रकार सर्वथा पृथक् पृथक् सामान्य और विशेष को मानना कथमपि सिद्ध नहीं होता है।

अब यहां फलाभास का वर्णन करते है—

फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ।।६६।।

अर्थ—प्रमाण से प्रमाण का फल सर्वथा भिन्न ही है अथवा सर्वथा अभिन्न ही है ऐसा मानना फलाभास है इसे फलाभास किस कारण से कहते हैं, सो बताते हैं—

अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ।।६७।।

अर्थ—यदि प्रमाण से प्रमाण का फल सर्वथा अभिन्न ही है ऐसा स्वीकार किया जाय तो यह प्रमाण है और यह इसका फल है ऐसा व्यवहार बन नहीं सकता।

ननु व्यावृत्त्या तयोः कल्पना भविष्यतीत्याह—

व्यावृत्त्यापि न तत्कल्पना फलान्तराद्व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसङ्गात् ॥ ६८ ॥

प्रमाणान्तराद्व्यावृत्तौ वाऽप्रमाणत्वस्येति ॥ ६९ ॥

एतच्च फलपरीक्षायां प्रपञ्चितमिति पुनर्नेह प्रपञ्च्यते ।

क्योंकि अभेद में इसतरह का कथन होना अशक्य है, यहां कोई बौद्धमती शिष्य प्रश्न करे कि–प्रमाण और फल में अभेद होने पर भी व्यावृत्ति द्वारा यह प्रमाण का फल है ऐसा व्यवहार हो जाता है क्या दोष है ?

व्यावृत्यापि न तत् कल्पना फलान्तराद् व्यावृत्याऽफलत्वप्रसङ्गात् ॥६८॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्रश्न का उत्तर देते है कि–व्यावृत्ति–अफल की व्यावृत्ति फल है इसप्रकार की व्यावृत्ति से भी प्रमाण के फल की व्यवस्था नहीं होती, क्योंकि जैसे विवक्षित किसी प्रमाण का फल अफल से व्यावृत्त है वैसे अन्य फल से भी व्यावृत्त होगा, और जब उसको फलान्तर से व्यावृत्ति करने के लिये बैठेंगे तब वह अफलरूप ही सिद्ध होवेगा ? यहां भावार्थ यह समझना कि बौद्धमत में शब्द का अर्थ अन्यापोह किया है, जैसे गो शब्द है यह गो अर्थ को नहीं कहता किंतु अगो की व्यावृत्ति–अगो का अभाव है ऐसा कहता है, इस विषय पर अपोहवाद नामा प्रकरण में [दूसरे भाग में] बहुत कुछ कह आये हैं और इस व्यावृत्ति या अन्यापोह मतका खण्डन कर आये है, यहां पर इतना समझना कि फल शब्द का अर्थ अफल व्यावृत्ति है ऐसा करते हैं तो उसका घूम फिर कर यह अर्थ निकलता है कि फल विशेष से व्यावृत्त होना, सो ऐसा अर्थ करना गलत है ।

प्रमाणाद् व्यावृत्येवाऽप्रमाणत्वस्य ॥६९॥

अर्थ—तथा शब्द का अर्थ अन्य व्यावृत्तिरूप होने से बौद्ध फल शब्द का अर्थ अफल व्यावृत्ति [अफल नहीं होना] करते हैं तो जब अफल शब्द का अर्थ करना हो तो क्या करेंगे ? अफल की व्यावृत्ति ही तो करेंगे ? जैसे कि प्रमाण की व्यावृत्ति अप्रमाण है ऐसा अर्थ करते हैं ? किन्तु ऐसा अर्थ करना अयुक्त है । प्रमाण से प्रमाण

तस्माद्वास्तवो भेदः ॥ ७० ॥

प्रमाणफलयोस्तद्व्यवहारान्यथानुपपत्तेरिति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम् ।

अस्तु तर्हि सर्वथा तयोर्भेद इत्याशङ्कापनोदार्थमाह—

भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तिः (त्तेः) ॥ ७१ ॥

का फल सर्वथा अभिन्न या सर्वथा भिन्न नहीं होता इत्यादि रूप से अभी चौथे परिच्छेद में विस्तारपूर्वक कह आये हैं, यहां पुनः नहीं कहते ।

तस्माद् वास्तवो भेदः ॥ ७० ॥

अर्थ—व्यावृत्ति या कल्पना मात्र से प्रमाण और फल में भेद है ऐसा कहना सिद्ध नहीं होता, अतः इनमे जो भेद है वह वास्तविक है काल्पनिक नही ऐसा स्वीकार करना चाहिए । यदि इसतरह न माने तो प्रमाण और फल में जो भेद व्यवहार देखा जाता है कि यह प्रमाण है और यह उसका फल है, इत्यादि व्यवहार बनता नही, इस प्रकार प्रेक्षावान पुरुषों को प्रमाण एवं फल के विषय में समझना चाहिये ।

यहां पर कोई कहे कि प्रमाण और फल में आप जैन वास्तविक भेद स्वीकार करते हैं, सो उनमें सर्वथा ही भेद मानना इष्ट है क्या ?

भेदे त्वात्मान्तरवत् तदनुपपत्तेः ॥७१॥

अर्थ—उपर्युक्त शंका का समाधान करते हैं कि–प्रमाण और फल में भेद है किंतु इसका मतलब यह नहीं करना कि सर्वथा भेद है, सर्वथा भेद और वास्तविक भेद इन शब्दों में अन्तर है, सर्वथा भेद का अर्थ तो भिन्न पृथक् वस्तु रूप होता है और वास्तव भेद का अर्थ काल्पनिक भेद नहीं है, लक्षण भेद आदि से भेद है ऐसा होता है। यदि प्रमाण और फल में सर्वथा भेद माने तो अन्य आत्मा का फल जैसे हमारे से भिन्न है वैसे हमारा स्वयं का फल भी हमारे से भिन्न ठहरेगा, फिर यह प्रमाण हमारा है इसका फल यह है इत्यादि व्यपदेश नहीं होगा क्योंकि वह तो हमारे आत्मा से एवं प्रमाण से सर्वथा भिन्न है ।

समवायेऽतिप्रसङ्गः ॥ ७२ ॥

समवायेऽतिप्रसंगः ॥ ७२ ॥

अर्थ—यहां कोई कहे कि प्रमाण से उसका फल है तो सर्वथा पृथक्, किन्तु इन दोनों का समवाय हो जाने से यह इस प्रमाण का फल है ऐसा व्यवहार बन जाता है ? सो यह बात असत् है, समवाय जब स्वयं पृथक् है तो इस प्रमाण में इस फल को समवेत करना है, अन्य प्रमाण में या आकाशादि में नहीं, इत्यादि रूप विवेक समवाय द्वारा होना अशक्य है, भिन्न समवाय तो हर किसी प्रमाण के साथ हर किसी प्रमाण के फल को समवेत कर सकता है, इसतरह का अतिप्रसंग होने के कारण प्रमाण और फल में सर्वथा भेद नहीं मानना चाहिये। समवाय किसी गुण गुणी आदि का सम्बन्ध नहीं कराता, कार्य कारण का सम्बन्ध नहीं कराता इत्यादि, इस विषय में समवाय विचार नामा प्रकरण में कह आये हैं। यहां अधिक नहीं कहते। इसप्रकार प्रमाणाभास, संख्याभास, विषयाभास और फलाभास इन चारों का वर्णन समाप्त हुआ।

॥ तदाभास प्रकरण समाप्त ॥

इत्यप्युक्तं तत्रैव ।

अथेदानीं प्रतिपन्नप्रमाणतदाभासस्वरूपाणां विनेयानां प्रमाणतदाभासावित्यादिना फलमादर्शयति—

प्रमाण-तदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृता-ऽपरिहृतदोषौ वादिनः साधन-तदाभासौ प्रतिवादिनो दूषण-भूषणे च ।। ७३ ।।

प्रतिपादितस्वरूपौ हि प्रमाणतदाभासौ यथावत्प्रतिपन्नाप्रतिपन्नस्वरूपौ जयेतरव्यवस्थाया निबन्धनं भवतः। तथाहि—चतुरङ्गवादमुररीकृत्य विज्ञातप्रमाणतदाभासस्वरूपेण वादिना सम्यक्-

---

अब जिन्होंने प्रमाण और प्रमाणाभास का स्वरूप जाना है ऐसे शिष्यों को प्रमाण और प्रमाणाभास जानने का फल क्या है सो बताते हैं—

प्रमाण तदाभासौ दुष्टतयोद्‌भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधन तदाभासौ प्रतिवादिनो दूषण भूषणे च ।।७३।।

अर्थ—प्रमाण और प्रमाणाभास का स्वरूप बता चुके हैं, यदि इनका स्वरूप भली प्रकार जाना हुआ है तो वाद में जय होता है और यदि नहीं जाना हुआ है तो पराजय होता है, इसका खुलासा करते हैं—वाद के चार अंग हुआ करते हैं सभ्य, सभापति, वादी और प्रतिवादी, इनमें जो वादी है [सभा में पहली बार अपना पक्ष उपस्थित करने वाला पुरुष] वह यदि प्रमाण और प्रमाणाभास का स्वरूप जाना हुआ

प्रमाणे स्वपक्षसाधनायोपन्यस्ते प्रविज्ञाततत्त्वरूपेण तु तदाभासे । प्रतिवादिना चाऽनिश्चिततत्त्वरूपेण दुष्टतया सम्यक्प्रमाणेपि तदाभासतोद्भाविता । निश्चिततत्त्वरूपेण तु तदाभासे तदाभासतोद्भाविता ।

है तो स्वपक्ष की सिद्धि के लिये सत्यप्रमाण उपस्थित करता है, और यदि उन प्रमाणादिका स्वरूप नहीं जाना हुआ है तो वह असत्य प्रमाण अर्थात् प्रमाणाभास को उपस्थित करता है, अब सामने जो प्रतिवादी बैठा है वह यदि प्रमाणादि का स्वरूप नहीं जानता तो वादी के सत्य प्रमाण को भी दुष्टता से यह तो प्रमाणाभास है ऐसा दोषोद्भावन करता है, और कोई अन्य प्रतिवादी यदि है तो वह प्रमाण आदि का स्वरूप जानने वाला होने से वादी के असत्य प्रमाण में ही तदाभासता "तुमने यह प्रमाणाभास उपस्थित किया" ऐसा दोषोद्भावन करता है, अब यदि वादी उस दोषोद्भावन को हटाता है तो उसके पक्षका साधन होता है और प्रतिवाद को दूषण प्राप्त होता है, और कदाचित् वादी अपने ऊपर दिये हुए दोषोद्भावन को नहीं हटाता तब तो उसके पक्षका साधन नहीं हो पाता और प्रतिवादी को भूषण प्राप्त होता है [अर्थात् प्रतिवादी ने दोषोद्भावन किया था वह ठीक है ऐसा निर्णय होता है] ।

विशेषार्थ— वस्तुतत्व का स्वरूप बतलाने वाला सम्यग्ज्ञान स्वरूप प्रमाण होता है, प्रमाण के बल से ही जगत के यावन्मात्र पदार्थ हैं उनका बोध होता है, जो सम्यग्ज्ञान नहीं है उससे वस्तु स्वरूप का निर्णय नही होता है, जिन पुरुषों का ज्ञान आवरण कर्म से रहित होता है वे ही पूर्णरूप से वस्तु तत्व को जान सकते हैं, वर्त्तमान में ऐसा ज्ञान और ज्ञान के धारी उपलब्ध नहीं हैं, अत. वस्तु के स्वरूप में विविध मत प्रचलित हुए हैं, भारत में सांख्य, मीमांसक, योग आदि अनेक मत हैं और वे सारे ही स्व स्वमत को सही बतलाते हैं, कुछ शताब्दी पहले इन विविध मत वालों में परस्पर में अपने अपने मतकी सिद्धि के लिये वाद हुआ करते थे, यहां पर उसी वाद के विषय में कथन चलेगा, वाद के चार अंग हैं, वादी—जो सभा मे सबसे पहले अपना पक्ष उपस्थित करता है, प्रतिवादी—जो वादी के पक्षको असिद्ध करने का प्रयत्न करता है, सभ्य—वाद को सुनने—देखने वाले एवं प्रश्न कर्त्ता मध्यस्थ महाशय, सभापति—वाद में कलह नहीं होने देना, दोनो पक्षों को जानने वाला एवं जय पराजय का निर्णय देने वाला सज्जन पुरुष । वादी और प्रतिवादो वे ही होने चाहिये जो प्रमाण और प्रमाणाभास का स्वरूप भली प्रकार से जानते हों, अपने अपने मत में निष्णात हों, एवं अनुमान प्रयोग में

एवं तौ प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च भवतः।

ननु चतुरङ्गवादमुररीकृत्येत्याद्ययुक्तमुक्तम्; वादस्याविजिगीषुविषयत्वेन चतुरङ्गत्वासम्भवात्। न खलु वादो विजिगीषतोर्वर्त्तते तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थरहितत्वात्। यस्तु विजिगीषतोर्नासौ

अत्यन्त निपुण हों, क्योंकि वाद में अनुमानप्रमाण द्वारा ही प्रायः स्वपक्ष को सिद्ध किया जाता है। वादी प्रमाण और प्रमाणाभास को अच्छी तरह जानता हो तो अपने पक्षको सिद्ध करने के लिये सत्य प्रमाण उपस्थित करता है, प्रतिवादी यदि न्याय के क्रम का उल्लंघन नहीं करता और उस प्रमाण के स्वरूप को जानने वाला होता है तो उस सत्य प्रमाण में कोई दूषण नहीं दे पाता, और इसतरह वादी का पक्ष सिद्ध हो जाता है तथा आगे भी प्रतिवादी यदि कुछ प्रश्नोत्तर नहीं कर पाता तो वादी की जय भी हो जाती है तथा वादी यदि प्रमाणादि को ठीक से नहीं जानता तो स्वपक्ष को सिद्ध करने के लिये प्रमाणाभास–असत्य प्रमाण उपस्थित करता है, तब प्रतिवादी उसके प्रमाण को सदोष बता देता है, अब यदि वादी उस दोष को दूर कर देता है तो ठीक है अन्यथा उसका पक्ष असिद्ध होकर आगे उसका पराजय भी हो जाता है। कभी ऐसा भी होता है कि वादी सत्य प्रमाण उपस्थित करता है तो भी प्रतिवादी उसका पराजय करने के लिये उस प्रमाण को दूषित ठहराता है, तब वादी उस दोष का यदि परिहार कर पाता है तो ठीक वरना पराभव होने की संभावना है, तथा कभी ऐसा भी होता है कि वादी द्वारा सही प्रमाण युक्त पक्ष उपस्थित किया है तो भी प्रतिवादी अपने मत की अपेक्षा या वचन चातुर्य से उस प्रमाण को सदोष बताता है ऐसे अवसर पर भी वादी यदि उस दोष का परिहार करने में असमर्थ हो जाता है तो भी वादी का पराजय होना संभव है। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि अपने पक्षके ऊपर, प्रमाण के ऊपर प्रतिवादी द्वारा दिये गये दोषों का निराकरण कर सकना ही विजय का हेतु है।

जैन के द्वारा वाद का लक्षण सुनकर योग अपना मत उपस्थित करता है—

योग—वाद के चार अंग होते हैं इत्यादि जो अभी जैन ने कहा वह अयुक्त है, वाद में जीतने की इच्छा नहीं होने के कारण सभ्य आदि चार अंगों की वहां संभावना नहीं है। विजय पाने की इच्छा है जिन्हें ऐसे वादी प्रतिवादियों के बीच में

तथा सिद्धः यथा जल्पो वितण्डा च, तथा च वादः, तस्मान्न विजिगीषोतोरिति । न हि वादस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थो भवति; जल्पवितण्डयोरेव तत्त्वात् । तदुक्तम्—

"तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कंटकशाखावरणवत्" [न्यायसू० ४।२।५०] इति । तदप्यसमीचीनम्; वादस्याविजिगीषुविषयत्वासिद्धेः । तथाहि–वादो नाविजिगीषुविषयो निग्रहस्थानवत्त्वात् जल्पवितण्डावत् । न चास्य निग्रहस्थानवत्त्वमसिद्धम्; 'सिद्धान्ता-

---

वाद नहीं चलता, क्योंकि वाद तत्वाध्यवसाय का संरक्षण नही करता, जो विजिगीषुओं के बीच में होता है वह ऐसा नहीं होता, जैसे जल्प और वितंडा में तत्वाध्यवसाय संरक्षण होने से वे विजिगीषु पुरुषों में चलते हैं, वाद ऐसा तत्वाध्यवसाय का संरक्षण तो करता नही अतः विजिगीषु पुरुषों के बीच में नही होता । इसप्रकार पंचावयवी अनुमान द्वारा यह सिद्ध हुआ कि वाद के चार अंग नही होते और न उसको विजिगीषु पुरुष करते हैं । यहां कोई कहे कि वाद भी तत्वाध्यवसाय के संरक्षण के लिये होता है ऐसा माना जाय ? सो यह कथन ठीक नही जल्प और वितंडा से ही तत्व संरक्षण हो सकता है, अन्य से नहीं । कहा भी है–जैसे बीज और अंकुरों की सुरक्षा के लिये कांटों की बाड़ लगायी जाती है, वैसे तत्वाध्यवसाय के संरक्षण हेतु जल्प और वितंडा किये जाते हैं ।

जैन—यह कथन असमीचीन है, वादको जो आपने विजिगीषु पुरुषों का विषय नहीं माना वह बात असिद्ध है, देखिये–अनुमान प्रसिद्ध बात है कि–वाद अविजिगीषु पुरुषों का विषय नहीं होता, क्योंकि वह निग्रह स्थानों से युक्त है, जैसे जल्प वितंडा निग्रहस्थान युक्त होने से अविजिगीषु पुरुषो के विषय नहीं हैं । वाद निग्रहस्थान युक्त नही हो सो तो बात है नहीं, क्योंकि आप यौग के यहां वाद का जो लक्षण पाया जाता है उससे सिद्ध होता है कि वाद में आठ निग्रहस्थान होते हैं, अर्थात् 'प्रमाण तर्क साधनोपालंभः सिद्धान्ताविरुद्धः पचावयवोपपन्नः, पक्ष पतिपक्षपरिग्रहो वादः" ऐसा वाद का लक्षण आपके यहां माना है, इस लक्षण से रहित यदि कोई वादका प्रयोग करे तो निग्रहस्थान का पात्र बनता है, इसी का खुलासा करते हैं कि सिद्धांत अविरुद्ध वाद न हो तो अपसिद्धांत नामका निग्रहस्थान होता है, अनुमान के पांच अवयव ही होने चाहिये ऐसा वादका लक्षण था उन पांच अवयवों से कम या अधिक अवयव प्रयुक्त होते

विरुद्ध:' इत्यनेनापसिद्धान्त:, 'पञ्चावयवोपपन्न:' इत्यत्र पञ्चग्रहणात् न्यूनाधिके, अवयवोपपन्नग्रहणाद्धेत्वाभासपञ्चकं चेत्यष्टनिग्रहस्थानानां वादे नियमप्रतिपादनात् ।

ननु वादे सतामप्येषां निग्रहबुद्धयोद्भावनाभावान्न विजिगीषास्ति । तदुक्तम्-तर्कशब्देन भूतपूर्वगतिन्यायेन वीतरागकथात्वज्ञापनादुद्भावननियमोपलभ्यते" [ ] तेन सिद्धान्ताविरुद्ध: पञ्चावयवोपपन्न इति चोत्तरपदयो: समस्तनिग्रहस्थानाद्युपलक्षणार्थत्वाद्वादेऽप्रमाणबुद्धया परेण छलजातिनिग्रहस्थानानि प्रयुक्तानि न निग्रहबुद्धयोद्भाव्यन्ते किन्तु निवारणबुद्धया । तत्वज्ञानायावयो:

हैं तो क्रमश: न्यून और अधिक ऐसे दो निग्रह स्थानों का भागी बनता है एवं पांच हेत्वाभासों में से जो हेत्वाभास युक्त वाद का प्रयोग होगा वह वह निग्रहस्थान आवेगा इस तरह पांच हेत्वाभासों के निमित्त से पांच निग्रहस्थान होते हैं ऐसा यौग के यहां बताया गया है अत: जल्प और वितंडा के समान वाद भी निग्रहस्थान युक्त होने से विजिगीषुओं के बीच में होता है ऐसा सिद्ध होता है ।

यौग—यद्यपि उपर्युक्त निग्रहस्थान वाद मे भी होते हैं किन्तु उनको परवादी का निग्रह हो जाय इस बुद्धि से प्रगट नहीं किया जाता अत: इस वाद में विजिगीषा [जीतने की इच्छा] नहीं होती । कहा भी है वादका लक्षण करते समय तर्क शब्द आया है वह भूतपूर्व गति न्याय से वीतराग कथा का ज्ञापक है अत: वाद में निग्रहस्थान किस प्रकार से प्रगट किये जाते हैं उसका नियम मालूम पड़ता है, बात यह है कि "यहां पर यही अर्थ लगाना होगा अन्य नहीं" इत्यादि रूप से विचार करने को तर्क कहते हैं जब वादी प्रतिवादी व्याख्यान कर रहे हों तब उनका जो विचार चलता है उसमें वीतरागत्व रहता है ऐसे ही वाद काल में भी वीतरागत्व रहता है वाद काल की वीतरागता तर्क शब्द से ही मालूम पड़ती है, मतलब यह है कि व्याख्यान–उपदेश के समय और वाद के समय वादी प्रतिवादी वीतरागभाव से तत्व का प्रतिपादन करते हैं, हार जीत को भावना से नहीं ऐसा नियम है । प्रमाणतर्क साधनोपालंभ सहित वाद होता है इस पद से तथा सिद्धांत अविरुद्ध, पंचावयवोपपन्न इन उत्तर पदों से सारे ही निग्रहस्थान संगृहीत होते हैं इन निग्रहस्थानों का प्रयोग परका निग्रह करने को बुद्धि से नही होता किंतु निवारण बुद्धि से होता है, तथा उपलक्षण से जाति, छल आदि का प्रयोग भी निग्रह बुद्धि से न होकर निवारण बुद्धि से होता है,

प्रवृत्तिर्न च साधनाभासो दूषणाभासो वा तद्धेतुः। अतो न तत्प्रयोगो युक्त इति। तदप्यसाम्प्रतम्; जल्पवितण्डयोरपि तयोद्भावननियमप्रसङ्गात्। तयोस्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणाय स्वयमभ्युपगमात्। तस्य च छलजातिनिग्रहस्थानैः कर्त्तुमशक्यत्वात्। परस्य तूष्णींभावार्थं जल्पवितण्डयोश्छलाद्युद्भावनमिति चेत्; न; तथा परस्य तूष्णींभावाभावादऽसदुत्तराणामानन्त्यात्।

[न च] तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वरहितत्वं च वादेऽसिद्धम्; तस्यैव तत्संरक्षणार्थत्वोपपत्तेः। तथाहि-वाद एव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थः, प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भत्वे सिद्धान्ताविरुद्धत्वे पञ्चा-

---

ऐसा नियम है, जब वाद में वादी प्रतिवादी प्रवृत्त होते हैं तब उनका परस्पर में निर्णय रहता है कि अपन दोनों की जो वचनालाप की प्रवृत्ति हो रही है वह तत्व ज्ञानके लिये हो रही है, न कि एक दूसरे के साधनाभास या दूषणाभास को बतलाने [या हार जीत कराने] के लिये हो रही है, इत्यादि। इतने विवेचन से निश्चित हो जाता है कि वाद काल में निग्रहस्थानों का प्रयोग निग्रह बुद्धि से करना युक्त नहीं।

जैन—यह कथन गलत है, यदि वाद में निग्रहस्थान आदि का प्रयोग निग्रह बुद्धि से न करके निवारण बुद्धि से किया जाता है ऐसा मानते हैं तो जल्प और वितंडा में भी इन निग्रहस्थानादि का निवारण बुद्धि से प्रयोग होता है ऐसा मानना चाहिए। आप स्वयं जल्प और वितंडा को तत्वाध्यवसाय के संरक्षण के लिये मानते हैं, कहने का अभिप्राय यही है कि तत्वज्ञान के लिये वाद किया जाता है ऐसा आप यौग ने अभी कहा था सो यही तत्वज्ञान के लिये जल्प और वितंडा भी होते हैं, तत्वज्ञान और तत्वाध्यवसाय संरक्षण इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है तथा तत्वाध्यवसाय का जो संरक्षण होता है वह छल, जाति और निग्रहस्थानों द्वारा करना अशक्य भी है।

यौग—तत्वाध्यवसाय का संरक्षण तो छलादि द्वारा नहीं हो पाता किन्तु जल्प और वितण्डा में उनका उद्भावन इसलिये होता है कि परवादी चुप हो जावे।

जैन—ऐसा करने पर भी परवादी चुप नहीं रह सकता, क्योंकि असत् उत्तर तो अनंत हो सकते हैं। असत्य प्रश्नोत्तरों की क्या गणना? यौग ने जो कहा था कि वाद तत्वाध्यवसाय का संरक्षण नहीं करता इत्यादि, सो बात असिद्ध है, उलटे वाद

वयवोपपन्नत्वे च सति पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवत्त्वात्, यस्तु न तथा स न तथा यथाक्रोशादिः, तथा च वादः, तस्मात्तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थ इति । न चायमसिद्धो हेतुः;

"प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः।" [न्यायसू० १।२।१] इत्यभिधानात् । 'पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवत्त्वात्' इत्युच्यमाने जल्पोपि तथा स्यादित्यवधारणविरोधः, तत्परिहारार्थं प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भत्वविशेषणम् । न हि जल्पे तदस्ति, "यथोक्तोपपन्नच्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः।" [न्यायसू० १।२।२] इत्यभिधानात् ।

हो उसका संरक्षण करने में समर्थ होता है। हम सिद्ध करके बताते हैं–तत्वाध्यवसाय का रक्षण वाद द्वारा ही हो सकता है जल्प और वितंडा द्वारा नहीं, क्योंकि वाद चार विशेषणों से भरपूर है अर्थात् प्रमाण तर्क, स्वपक्ष साधन, परपक्षउपालंभ देने में समर्थ वाद ही है, यह सिद्धांत से अविरुद्ध रहता है, तथा अनुमान के पांच अवयवों से युक्त होकर पक्ष प्रतिपक्ष के ग्रहण से भी युक्त है, जो इतने गुणों से युक्त नहीं होता वह तत्वाध्यवसाय का रक्षण भी नहीं करता, जैसे आक्रोश-गाली वगैरह के वचन तत्व का संरक्षण नहीं करते। वाद प्रमाण तर्क इत्यादि से युक्त है अतः तत्वाध्यवसाय का संरक्षण करने के लिए होता है।

यह प्रमाण तर्क साधनोपालंभत्व इत्यादि विशेषण युक्त जो हेतु है वह असिद्ध नहीं समझना, आप योग का सूत्र है कि "प्रमाण तर्क साधनोपालंभः सिद्धांताविरुद्धः पंचावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वाद." अर्थात् वाद प्रमाण तर्क साधनोपालंभ इत्यादि विशेषण युक्त होता है ऐसा इस सूत्र में निर्देश पाया जाता है, यदि इस सूत्र में "पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवत्व" इतना ही हेतु देते अर्थात् वादका इतना लक्षण करते तो जल्प भी इसप्रकार का होने से उसमें यह लक्षण चला जाता और यह अवधारण नहीं हो पाता कि केवल वाद ही इस लक्षण वाला है, इस दोष का परिहार करने के लिये प्रमाण तर्क साधनोपालंभयुक्त वाद होता है ऐसा वाद का विशेषण दिया है, जल्प में यह विशेषण होने पर भी आगे के सिद्धांत अविरुद्ध आदि विशेषण नहीं पाये जाते, जल्प का लक्षण तो इतना ही है कि–"यथोक्तोपपन्नश्छलजाति निग्रहस्थान साधनोपालंभो जल्पः" अर्थात् प्रमाण तर्क आदि से युक्त एवं छल जाति निग्रहस्थान साधन उपालंभ से युक्त ऐसा जल्प होता है, अतः वादका लक्षण जल्प में नहीं जाता

नापि वितण्डा तथानुवर्ण्यते; जल्पस्यैव वितण्डारूपत्वात्, "स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।" [न्याय-सू० १।२।३] इति वचनात्। स यथोक्तो जल्पः प्रतिपक्षस्थापनाहीनतया विशेषितो वितण्डात्वं प्रतिपद्यते। वैतण्डिकस्य च स्वपक्ष एव साधनवादिपक्षापेक्षया प्रतिपक्षो हस्तिप्रतिहस्तिन्यायेन। तस्मिन्प्रतिपक्षे वैतण्डिको हि न साधनं वक्ति। केवलं परपक्षनिराकरणायैव प्रवर्त्तते इति व्याख्यानात्।

पक्षप्रतिपक्षौ च वस्तुधर्मावेकाधिकरणौ विरुद्धावेककालावनवसितौ। वस्तुधर्माविति वस्तुविशेषौ वस्तुनः। सामान्येनाधिगतत्वाद्विशेषतोऽनधिगतत्वाच्च विशेषावगमनिमित्तो विचारः। एकाधि-

---

और इसी वजह से हेतु व्यभिचरित नहीं होता। वितंडा भी तत्वाध्यवसाय संरक्षण नहीं करता, क्योंकि वितण्डा जल्प के समान ही है "सप्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितंडा" जल्प के लक्षण में प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित लक्षण कर देवे तो वितंडा का स्वरूप बन जाता है जिसमें प्रतिपक्ष की स्थापना नहीं हो ऐसा जल्प ही वितंडापने को प्राप्त होता है, वितंडा को करने वाला वैतंडिक का जो स्वपक्ष है वही प्रतिवादी की अपेक्षा प्रतिपक्ष बन जाता है, जैसे कि हाथी हो अन्य हाथी की अपेक्षा प्रति हाथी कहा जाता है। इसप्रकार वैतंडिक जो सामने वाले पुरुष ने पक्ष रखा है उसमें दूषण मात्र देता है किंतु अपना पक्ष रखकर उसके सिद्धि के लिये कुछ हेतु प्रस्तुत नहीं करता, केवल पर पक्ष का निराकरण करने में ही लगा रहता है। कहने का अभिप्राय यही है कि जल्प और वितंडा में यही अन्तर है कि जल्प में तो पक्ष प्रतिपक्ष दोनों रहते हैं किन्तु वितंडा में प्रतिपक्ष नहीं रहता, इसप्रकार आप यौग के यहां जल्प और वितंडा के विषय में व्याख्यान पाया जाता है।

अब यहां पर यह देखना है कि पक्ष और प्रतिपक्ष किसे कहते हैं, "वस्तुधर्मौ, एकाधिकरणौ, विरुद्धौ, एक कालौ, अनवसितौ पक्ष प्रतिपक्षौ" वस्तु के धर्म हो, एक अधिकरणभूत हो, विरुद्ध हो एक काल की अपेक्षा लिये हो और अनिश्चित हो वे पक्ष प्रतिपक्ष कहलाते हैं, इसको स्पष्ट करते हैं—वस्तु के विशेष धर्म पक्ष प्रतिपक्ष बनाये जाते हैं क्योंकि सामान्य से जो जाना है और विशेषरूप से नहीं जाना है उसी विशेष को जानने के लिये विचार [वाद विवाद] प्रवृत्त होता है, तथा वे दो वस्तु धर्म एक ही अधिकरण में विवक्षित हो तो विचार चलता है, नाना अधिकरण में स्थित धर्मों के विषय में विचार की जरूरत ही नहीं, क्योंकि नाना अधिकरण में तो वे प्रमाण

करणाविति, नानाधिकरणौ विचारं न प्रयोजयत उभयोः प्रमाणोपपत्तेः; तद्यथा–अनित्या बुद्धिर्नित्य आत्मेति । अविरुद्धावप्येवं विचारं न प्रयोजयतः, तद्यथा-क्रियावद्द्रव्यं गुणवच्चेति । एककालाविति, भिन्नकालयोर्विचाराप्रयोजकत्वं प्रमाणोपपत्तेः, यथा क्रियावद्द्रव्यं निष्क्रियं च कालभेदे सति । तथाऽवसितौ विचारं न प्रयोजयतः; निश्चयोत्तरकाल विवादाभावादित्यनवसितौ तौ निर्दिष्टौ । एवंविशे-

---

सिद्ध हो रहते हैं जैसे बुद्धि अनित्य है और आत्मा नित्य है ऐसा किसी ने कहा तो इसमें विचार–विवाद नहीं होता वे नित्य अनित्य तो अपने अपने स्थान में हैं, किन्तु जहां एक ही आधार में दो विशेषों के विषय में विचार चलता हो कि इन दोनों में से यहां कौन होगा । शब्द में एक व्यक्ति तो नित्य धर्म मानता है और एक व्यक्ति अनित्य धर्म, तब विचार प्रवृत्त होगा, पक्ष प्रतिपक्ष रखा जायगा, एक कहेगा शब्द में नित्यत्व है और दूसरा कहेगा शब्द में अनित्यत्व है । यदि वे दो धर्म परस्पर में विरुद्ध न हो तो भी विचार का कोई प्रयोजन नहीं रहता, जैसे द्रव्य क्रियावान होता है और गुणवान भी होता सो क्रिया और गुण का विरोध नहीं होने से यहां विचार को जरूरत नहीं । तथा वे दो धर्म एक काल मे विवक्षित हो तो विचार होगा, भिन्नकाल में विचार की आवश्यकता नहीं रहती, भिन्न काल में तो वे धर्म एकाधार में रह सकते हैं जैसे काल भेद से द्रव्य में सक्रियत्व और निष्क्रियत्व रह जाता [योगमत की अपेक्षा] है । तथा जिन धर्मों का निश्चय हो चुका है उनमें विचार करने का प्रयोजन नहीं रहता, क्योंकि निश्चय होने के बाद विवाद नहीं होता अतः अनवसित–अनिश्चित धर्मों के विषय में विचार करने के लिये पक्ष प्रतिपक्ष स्थापित किये जाते हैं एक कहता है कि इसप्रकार के धर्म से युक्त हो धर्मी होता है तो दूसरा व्यक्ति–प्रतिवादी कहता है कि नहीं, इस प्रकार के धर्म से युक्त नहीं होता इत्यादि । इसप्रकार प्रमाण तर्क साधन उपलम्भादि विशेषण वाले पक्ष प्रतिपक्ष का ग्रहण जल्प और वितंडा में नहीं होता ऐसा सिद्ध होता है, केवल वाद में ही इसप्रकार के विशेषण वाले पक्षादि होते हैं और वह वाद ही तत्वाध्यवसाय के संरक्षण के लिए होता है [किया जाता है] ऐसा सिद्ध हुआ, जिस प्रकार वाद से ख्याति पूजा लाभ की प्राप्ति होती है उसीप्रकार तत्वाध्यवसाय का रक्षण भी होता है ऐसा मानना चाहिए ।

विशेषार्थ—योग का कहना है कि वाद से अपने अपने तत्व के निश्चय का रक्षण नहीं हो सकता तत्व का संरक्षण तो जल्प और वितंडा से होता है, आचार्य

वरणौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षौ। तयोः परिग्रह इत्थंभावनियमः 'एवंधर्मायं धर्मी नैवंधर्मा' इति च। ततः प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भत्वविशेषणस्य पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहस्य जल्पवितण्डयोरसम्भवात् सिद्धं वादस्यैव तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वं लाभपूजाख्यातिवत्।

तत्त्वस्याध्यवसायो हि निश्चयस्तस्य संरक्षणं न्यायबलान्निखिलबाधकनिराकरणम्, न पुनस्तत्र

उनको समझा रहे कि आपके यहां जो वाद आदि का लक्षण किया है उससे सिद्ध होता है कि वाद से ही तत्व संरक्षण होता है, जल्प और वितंडा से नहीं, वितंडा में तो प्रतिपक्ष की स्थापना ही नहीं होती, तथा इन दोनों में सिद्धांत अविरुद्धता भी नहीं, वाद में ऐसा नहीं होता, वाद करने वाले पुरुष अपने अपने पक्ष की स्थापना करते हैं तथा उनका वाद प्रमाण तर्क आदि से युक्त होता है एवं सिद्धांत से अविरुद्ध भी होता है। सभा के मध्य में वादी प्रतिवादी जो अपना अपना पक्ष उपस्थित करते हैं उसके विषय में चर्चा करते हुए आचार्य ने कहा है कि जब एक ही पदार्थ के गुण धर्म के बारे में विवाद या मतभेद होता है तब अपनी अपनी मान्यता सिद्ध करने के लिये सभापति के समक्ष वादी प्रतिवादी उपस्थित होकर उस पदार्थ के गुण धर्म के विषय मे अपना अपना पक्ष रखते हैं जैसे एक पुरुष को शब्द को नित्य सिद्ध करना है और एक पुरुष को उसी शब्द को अनित्य सिद्ध करना है, पक्ष प्रतिपक्ष दोनों का अधिकरण वही शब्द है। नित्य और अनित्य परस्पर विरुद्ध हैं इसीलिये उन पुरुषों के मध्य में विवाद खड़ा हुआ है यदि अविरुद्ध धर्म होते तो विवाद या विचार करने को जरूरत नहीं होती, तथा ये दोनों धर्म–नित्य अनित्य एक साथ एक वस्तु में मानने की बात आती है तब विवाद पड़ता है तथा उन धर्मों का एक वस्तु में यदि पहले से निश्चय हो चुका है तो भी विवाद नहीं होता अनिश्चित गुण धर्म में हो विवाद होता है, इसप्रकार पक्ष प्रति-पक्ष का स्वरूप भली प्रकार से जानकर ही वादी प्रतिवादी सभा में उपस्थित होते हैं और ऐसे पक्ष प्रतिपक्ष आदि के विषय में जानकार पुरुष ही वाद करके तत्व निश्चय का संरक्षण कर सकते हैं, जल्प और वितंडा में यह सब सम्भव नहीं, क्योंकि न इनमें इतने सुनिश्चित नियम रहते हैं और न इनको करने वाले पुरुष ऐसे क्षमता को धारते हैं। इसप्रकार जैनाचार्य ने उन्हीं यौग के सिद्धांत के अनुसार यह सिद्ध किया है कि जल्प और वितंडा से तत्व संरक्षण नहीं होता, अपितु वाद से ही होता है।

'तत्वाध्यवसाय संरक्षण' इस शब्द के अर्थ पर विचार करते हैं–तत्व का अध्यवसाय अर्थात् निश्चय होना उसका संरक्षण करना अर्थात् अपन जो तत्व का निर्णय

बाधकमुद्भावयतो यथाकथञ्चिन्निर्मुखीकरणं लकुटचपेटादिभिस्तन्म्यक्करणस्यापि तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थत्वानुषङ्गात् । न च जल्पवितण्डाभ्यां निखिलबाधकनिराकरणम्; छलजात्युपक्रमपरतया ताभ्यां संशयस्य विपर्ययस्य वा जननात् । तत्त्वाध्यवसाये सत्यपि हि परनिर्मुखीकरणे प्रवृत्तौ प्राश्निकास्तत्र संशेरते विपर्ययस्यन्ति वा–'किमस्य तत्त्वाध्यवसायोऽस्ति कि वा नास्तीति, नास्त्येवेति वा' परनिर्मुखीकरणमात्रे तत्त्वाध्यवसायरहितस्यापि प्रवृत्त्युपलम्भात् तत्त्वोपप्लववादिवत् । तथा चाख्यातिरेवास्य प्रेक्षावत्सु स्यादिति कुतः पूजा लाभो वा ?

किये हुए हैं उसमें कोई बाधा करे तो उस निखिल बाधा को न्याय बल से दूर करना, इसतरह तत्वाध्यवसाय संरक्षण का अर्थ है, तत्व निश्चय का संरक्षण बाधा देने वाले पुरुष का मुख जैसा बने वैसा बंद करना नहीं है, अर्थात् अपने पक्ष में प्रतिवादी ने बाधक प्रमाण उपस्थित किया हो तो उसका न्यायपूर्वक निराकरण करना तो ठीक है किन्तु निराकरण का मतलब यह नही है कि प्रतिवादी का मुख चाहे जैसा बंद करना, ऐसा करने से कोई तत्व निश्चय का संरक्षण नही होता । यदि प्रतिवादी का मुख बंद करने से ही इष्ट तत्व सिद्ध होता है तो लाठी चपेटा आदि से भी प्रतिवादी का मुख बंद कर सकते हैं और तत्व संरक्षण कर सकते हैं ? किंतु ऐसा नहीं होता है । कोई कहे कि जल्प और वितंडा से निखिल बाधा का निराकरण हो सकता है सो बात गलत है, जल्प और वितंडा मे तो न्यायपूर्वक निराकरण नहीं होता किन्तु छल, और जाति के प्रस्ताव से बाधा का निराकरण करते हैं, इसतरह के निराकरण करने से तो संशय और विपर्यय पैदा होता है । जल्प और वितण्डा मे प्रवृत्त हुए पुरुष प्रतिवादी के मुख को बंद करने में ही लगे रहते हैं यदि कदाचित् उनके तत्वअध्यवसाय होवे तो भी प्राश्निक लोगों को संशय या विपर्यय हो जाता है कि क्या इस वैतंडिक को तत्वाध्यवसाय है या नहीं ? अथवा मालूम पड़ता है कि इसे तत्व का निश्चय हुआ ही नहीं इत्यादि । बात यह है कि परवादी की जबान बंद कर देना उसे निरुत्तर करना इत्यादि कार्य को करना तो जिसे तत्वाध्यवसाय नहीं हुआ ऐसा पुरुष भी कर सकता है अतः प्राश्निक महाशयों को संदेहादि होवेंगे कि तत्वोपप्लववादी के समान यह वादी तत्व निश्चय रहित दिखाई दे रहा इत्यादि । जब इसतरह वादी केवल परवादी को निर्मुख करने में प्रवृत्ति करेगा तो बुद्धिमान पुरुषों में उसकी अप्रसिद्धि ही होवेगी । फिर ख्याति और लाभ कहां से होवेंगे ? अर्थात् नहीं हो सकते । इसप्रकार जो शुरु में हम जैन ने कहा

ततः सिद्धश्चतुरङ्गो वादः स्वाभिप्रेतार्थव्यवस्थापनफलत्वाद्वादत्वाद्वा लोकप्रख्यातवादवत् । एकाङ्गस्यापि वैकल्ये प्रस्तुतार्थाऽपरिसमाप्तेः । तथा हि । अहङ्कारग्रहग्रस्तानां मर्यादातिक्रमेण प्रवर्तमानानां शक्तित्रयसमन्वितौदासीन्यादिगुणोपेतसभापतिमन्तरेण ।

"अपक्षपतिताः प्राज्ञाः सिद्धान्तद्वयवेदिनः ।

असद्वादनिषेद्धारः प्राश्निकाः प्रग्रहा इव ।" इत्येवंविधप्राश्निकांश्च विना को नाम नियामकः स्यात् ? प्रमाणतदाभासपरिज्ञानसामर्थ्योपेतवादिप्रतिवादिभ्यां च विना कथं वादः प्रवर्तेत ?

ननु चास्तु चतुरङ्गता वादस्य । जयेतरव्यवस्था तु छलजातिनिग्रहस्थानैरेव न पुनः प्रमाणतदाभासयोर्दुष्टतयोद्भावितयोः परिहृतापरिहृतदोषमात्रेण; इत्यप्यपेशलम्; छलादीनामसदुत्तरत्वेन

था कि चतुरंगवाद होता है सो सिद्ध हुआ, वाद के चार अंग होते हैं यही अपने इच्छित तत्व की व्यवस्था करता है, सच्चा वादपना तो इसी में है, जैसे कि लोक प्रसिद्ध वाद में वादपना या तत्व व्यवस्था होने से चतुरंगता होती है। यह निश्चित समझना कि यदि वाद में एक अंग भी नहीं रहेगा तो वह प्रस्तुत अर्थ जो तत्वाध्यवसाय संरक्षण है उसे पूर्ण नहीं कर सकता। अब आगे वाद के ये चार अंग सिद्ध करते हैं, सबसे पहले सभापति को देखे, वाद सभा में जब वादी प्रतिवादी अहंकार से ग्रस्त होकर मर्यादा का उल्लंघन करने लग जाते हैं तब उनको प्रभुत्व शक्ति, उत्साह शक्ति और मन्त्र शक्ति ऐसी तीन शक्तियों से युक्त उदासीनता पापभीरुता गुणों से युक्त ऐसे सभापति के बिना कौन रोक सकता है ? तथा अपक्षपाती, प्राज्ञ, वादी प्रतिवादी दोनों के सिद्धांत को जानने वाले, असत्यवाद का निषेध करने वाले ऐसे प्राश्निक–सभ्य हुआ करते हैं जो कि बैलगाड़ी को चलाने वाले गाड़ीवान जैसे बैलों को नियंत्रण में रखते हैं वैसे वादी प्रतिवादी को नियंत्रण में रखते हैं, उनको मर्यादा का उल्लंघन नहीं करने देते। प्रमाण और प्रमाणाभास के स्वरूप को जानने वाले वादी प्रतिवादी के बिना तो वाद ही काहे का ? इसप्रकार निश्चित होता है कि वाद के चार अंग होते हैं।

यौग—वाद के चार अंग भले ही सिद्ध हो जाय किन्तु जय पराजय की व्यवस्था तो छल जाति और निग्रह स्थानों से ही होती है न कि प्रमाण और प्रमाणाभास में दुष्टता से दिये गये दोषों के परिहार करने और नहीं करने मे होती है। जय हो चाहे पराजय हो वह तो छल आदि से ही होगा ?

स्वपरपक्षयोः साधनदूषणत्वासम्भवतो जयेतरव्यवस्थानिबन्धनत्वायोगात् । ततः परेषां सामान्यतो विशेषतश्च छलादीनां लक्षणप्रणयनमयुक्तमेव ।

तत्र सामान्यतश्छललक्षणम्—

"वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्" [न्यायसू० १।२।१०] इति । "तत्त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं च" [न्यायसू० १।२।११] इति ।

तत्र वाक्छललक्षणं तेषाम्–"अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्" [न्यायसू० १।२।१२] इति । अस्योदाहरणम्–'आढ्यो वै वैधवेयोयं वर्तते नवकम्बलः' इत्युक्ते प्रत्यवस्थानम् कुतोस्य नव कम्बलाः ? नवकम्बलशब्दे हि सामान्यवाचिन्यत्र प्रयुक्ते 'नवोस्य कम्बलो जीर्णो नैव' इत्यभिप्रायो वक्तुः, तस्मादन्यस्यासम्भाव्यमानार्थस्य कल्पना 'नव अस्य कम्बला नाष्टौ'

जैन—यह बात गलत है, छल आदि तो असत् उत्तर देना रूप है । उन छलादि से अपने पक्षका साधन और परपक्ष में दूषण देना रूप कार्य हो नहीं सकता, अतः जय पराजय की व्यवस्था उनके द्वारा होना असम्भव है । जब छल जाति आदि की वाद में उपयोगिता ही नहीं है तो उनका सामान्य और विशेषरूप से लक्षण करना, उदाहरण सहित विस्तृत विवेचन सब व्यर्थ ही है अब यहां पर योग मतानुसार छल आदि का वर्णन करते हैं । सामान्य से छल का लक्षण–"वचन विघातोऽर्थविकल्पोपपत्या छलम्" अर्थ–विकल्प द्वारा [अर्थ को बदलकर] वचन का व्याघात कर देना छल है, इसके तीन भेद हैं, वाक् छल, सामान्य छल और उपचार छल । योग के यहां वाक् छल का लक्षण इसतरह बताया है कि वक्ता सामान्यरूप से किसी अर्थ को कहने वाला वचन प्रयोग करता है तब उसके अभिप्राय को छोड़कर अन्य ही अर्थ की कल्पना करना वाक् छल है, इसका उदाहरण देते हैं– यह वैधवेय धनवान् है, क्योंकि नव कंबल युक्त है, ऐसा वादी ने अनुमान प्रयुक्त किया तब प्रतिवादी उसके अभिप्राय को जान बूझकर विपरीत करके कहता है कि इसके नौ कंबल कहां हैं ? वादी ने तो सामान्य से नवकंबल शब्द का प्रयोग किया था उसका अभिप्राय तो यह था कि इस व्यक्ति का कंबल नवीन है पुराना नहीं, इस सामान्य सरल सीधे अर्थ को बदलकर जो अर्थ असम्भव है उसकी कल्पना करना कि इसके नौ कंबल हैं आठ नहीं इत्यादि । सो यह प्रतिवादी का कथन अन्याय पूर्ण है अतः उसका पराजय होता है, बुद्धिमान पुरुषों को तत्व परीक्षा करते

इति । एवं प्रत्यवस्थातुरन्यायवादित्वात्पराजयः । न खलु प्रेक्षावतां तत्त्वपरीक्षायां छलेन प्रत्यवस्थानं युक्तमिति यौगाः; तेप्यतत्त्वज्ञाः; यतो यद्येतावतैव जिगीषुर्निगृह्येत तर्हि पत्रवाक्यमनेकार्थं व्याचक्षाणोपि निगृह्यताम् । न चैवम् । यत्र हि पक्षे वादिप्रतिवादिनोर्विप्रतिपत्त्या प्रवृत्तिस्तत्सिद्धेरेवैकस्य जयोन्यस्य पराजयः न त्वनेकार्थत्वप्रतिपादनमात्रम् । एवं च 'आढ्यो वै वैधवेयो नवकम्बलत्वाद्देवदत्तवत्' इति प्रयोगे यदि वक्तुः 'नवः कम्बलोस्येति, नवास्य कम्बलाः' इति चार्थद्वय 'नवकम्बलः' इति शब्दस्याभिप्रेतं भवति तदा-'कुतोस्य नव कम्बलाः, इति प्रत्यवतिष्ठमानो हेतोरसिद्धतामेवोद्भावयति । अन्यस्तु तदुभयार्थसमर्थनेन तदेकतरार्थसमर्थनेन वा हेतुसिद्धिं प्रदर्शयति । नवस्तावदेकः कम्बलोस्य प्रतीतो भवता, अन्येऽप्यष्टौ कम्बला गृहे तिष्ठन्तीत्युभयथा नवकम्बलत्वस्य सिद्धेर्नासिद्धतोद्भावनीया ।

समय छलपूर्वक प्रतिपादन नहीं करना चाहिये । इसप्रकार वाक् छल के विषय में यौग कहते हैं । किन्तु ये लोग वास्तविक वस्तु को नहीं जानते, क्योंकि यदि इसप्रकार वचन का अर्थ बदलकर प्रत्यवस्थान करने वाले प्रतिवादी का निग्रह किया जायगा तो अनेक अर्थ से गूढ़ ऐसे पत्र वाक्य को कहने वाले वादी का भी निग्रह होना चाहिए । किंतु होता तो नहीं, जय पराजय की बात तो ऐसी है कि वादी और प्रतिवादी का विवाद तो स्व स्व पक्ष की सिद्धि में है जब तक उन दोनों में से एक के पक्ष की सिद्धि नहीं होती तब तक एक का जय और एक का पराजय हो नहीं सकता, वचन का व्याघात करने मात्र से-अर्थ को अनेकपने से प्रतिपादन करने मात्र से निग्रह अर्थात् पराजय नहीं होता । इसप्रकार यह निश्चय होता है कि वादी के कहे हुए वचन का दूसरा अर्थ करना गलत नहीं. अब वादी ने यदि अनुमान वाक्य कहा कि "आढ्यो वै वैधवेयो नवकंबलत्वात् देवदत्तवत्" यह वैधवेय [विधवा का पुत्र] श्रीमन्त है क्योंकि नवकंबल युक्त है, जैसे देवदत्त, इसमें नवकंबल जो पद है उसके दो अर्थ निकलते हैं नवीन है कंबल जिसका ऐसा यह पुरुष है, एवं इसके पास नौ कंबल हैं, अब इसमें से इसके नौ कंबल कहां हैं ? इसप्रकार प्रतिवादी विवाद करते हुए हेतु की असिद्धता को ही उद्भावित करता है । पश्चात् वादी हेतु के दोनों अर्थों का समर्थन करके अथवा उनमें से किसी एक अर्थ का समर्थन करके निज हेतु को सिद्ध करता है, वह इसप्रकार कहता है कि नव कंबलत्वात् हेतु में स्थित नव शब्द का अर्थ यदि नौ संख्यारूप है तो इस वैधवेय के नौ कंबल हैं एक तो आप साक्षात् देख रहे और अन्य आठ कंबल घर में हैं, अतः नवकम्बलत्वात् हेतु सिद्ध है, इसमें असिद्धता दोष नहीं दे सकते । तथा नव शब्द का नूतन अर्थ भी है क्योंकि इस व्यक्ति का कम्बल नूतन है, इसप्रकार दोनों

नवकम्बलयोगित्वस्य वा हेतुत्वेनोपादानात्सिद्ध एव हेतुः । इति स्वपक्षसिद्धौ सत्यामेव वादिनो जयः परस्य च पराजयो नान्यथा । तन्न वाक्छलं युक्तम् ।

नापि सामान्यच्छलम् । तस्य हि लक्षणम्-"सम्भवतोर्थस्यातिसामान्ययोगादसद्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्" [न्यायसू० १।२।१३] इति । तथा हि-'विद्याचरणसम्पत्तिर्ब्राह्मणे सम्भवेत्' इत्युक्तेऽस्य वाक्यस्य विघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याऽसद्भूतार्थकल्पनया क्रियते । यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत्सम्भवति व्रात्येपि सम्भवेद्ब्राह्मणत्वस्य तत्रापि सम्भवात् । तदिदं ब्राह्मणत्वं विवक्षितमर्थं विद्याचरण-

---

प्रकार से भी हेतु सिद्ध है । अथवा हमने नवकंबलत्वात् हेतु में केवल "नवीन कंबल वाला होने से" इस रूप ही अर्थ ग्रहण किया है अतः यह सिद्ध ही है । किन्तु यह सब होने पर भी वादी का जय और प्रतिवादी का पराजय तो वादी के स्वपक्ष की सिद्धि होने पर ही होगा अन्यथा नहीं हो सकता, अर्थात् हेतु को निर्दोष सिद्ध करने मात्र से जय नहीं होता अपितु तदनन्तर स्वपक्ष की सिद्धि होने पर ही होता है । अतः वाक् छल युक्त नहीं है ।

भावार्थ—नैयायिक के यहां छल, निग्रह स्थान आदि के द्वारा भी जय पराजय की व्यवस्था स्वीकार की है किन्तु वह असत् व्यवस्था है, सिद्धांत सम्बन्धी वाद की बात तो दूर है किन्तु लौकिक वाद विवाद में भी जब तक स्वपक्ष पुष्ट नहीं होता तब तक विजय नहीं मानी जाती, अतः आचार्य कह रहे हैं कि छल के तीन भेदों में से प्रथम भेद जो वाक् छल है उसके द्वारा जय पराजय का निर्णय हो नहीं सकता इसलिये उसका वर्णन करना या वाद में उसको स्वीकारना व्यर्थ है ।

सामान्य छल भी युक्त नहीं है । नैयायिक के न्यायसूत्र में सामान्य छल का लक्षण इसप्रकार किया है-संभावित अर्थ की अत्यन्त सामान्यता होने से अन्य असद्भूत अर्थ की कल्पना करना सामान्य छल है आगे इसीको बताते हैं-विद्या और सदाचार रूप संपत्ति ब्राह्मण में सम्भव है, अथवा यह पुरुष विद्या और सदाचार संपन्न है, क्योंकि ब्राह्मण है जैसे अन्य विद्या सदाचार सम्पन्न ब्राह्मण हुआ करते हैं, इसप्रकार वादी के कहने पर प्रतिवादी अर्थ के भेद द्वारा असद्भूत अर्थ की कल्पना से वादी के वाक्य का विघात करता है, वह कहता है कि यदि ब्राह्मण में विद्या और सदाचार रहता है तो भ्रष्ट ब्राह्मण में भी रहना चाहिये क्योंकि उसमें भी ब्राह्मणत्व है । वह विद्या और

सम्भवलक्षणं 'क्वचिद्ब्राह्मणे तादृश्येति क्वचित्तु व्रात्येऽत्येति तदभावेपि भावात्' इत्यतिसामान्यम्, तेन योगाद्युक्त रभिप्रेतादर्थात्सद्भूतादन्यस्यासद्भूतार्थस्य कल्पना सामान्यच्छलम् । तच्चायुक्तम्; हेतुदोषस्यानैकान्तिकत्वस्यात्रापरेणोद्भावनात् । न चानैकान्तिकत्वोद्भावनमेव सामान्यच्छलम्; 'अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वाद्घटवत्' इत्यादेरपि सामान्यच्छलत्वानुषङ्गात् । अत्रापि हि प्रमेयत्वं क्वचिद्घटादावनित्यत्वमेति, आकाशादौ तदभावेपि भावादत्येतीति । तथाप्यस्यानैकान्तिकत्वेपि प्रकृतेपि तदस्तु विशेषाभावात् । तन्न सामान्यच्छलमप्युपपन्नम् ।

नाप्युपचारच्छलम् । तस्य हि लक्षणम्-"धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्"

सदाचार संपन्न विवक्षित अर्थ वाला ब्राह्मणत्व उस प्रकारके किसी ब्राह्मण पुरुष में प्राप्त है, और किसी भ्रष्ट ब्राह्मण में अप्राप्त है अर्थात् विद्याचरणयुक्त ब्राह्मणत्व भ्रष्ट ब्राह्मण में नहीं है, भ्रष्ट ब्राह्मण में तो विद्याचरण का अभाव होने पर भी ब्राह्मणत्व है, अतः यह ब्राह्मणत्व अतिसामान्यरूप है और इस कारण से वक्ता के इच्छित सद्भूत अर्थ को छोड अन्य असद्भूत अर्थ की कल्पना की जाती है । इसप्रकार यह सामान्य नामका छल माना है । आचार्य कहते हैं कि इसप्रकार का सामान्य छल भी अयुक्त है, उपर्युक्त अनुमान में तो प्रतिवादी द्वारा अनैकान्तिक हेत्वाभासरूप दोष दिया जाता है । अर्थात् ब्राह्मणत्व हेतु विद्याचरण संपन्न ब्राह्मण और भ्रष्ट ब्राह्मण दोनों में पाया जाने से अनैकान्तिक दोष युक्त होता है, न कि सामान्य छल रूप । यदि कहा जाय कि "अनैकान्तिक दोष प्रगट करना ही सामान्य छल है" तो यह भी अयुक्त है, इसतरह तो "शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रमेय है, जैसे घट" इत्यादि अनुमान वाक्य भी सामान्य छल रूप बन बैठेंगे, क्योंकि इस अनुमान में भी प्रमेयत्व हेतु किसी घट आदि में तो अनित्यत्व को प्राप्त होता है और आकाश आदि में अनित्यत्व का अभाव होने पर भी प्राप्त होता है, इसतरह प्रमेयत्व हेतु अति सामान्यरूप ही है फिर भी उसे अनैकान्तिक हेत्वाभासरूप माना जाता है तो प्रकृत सामान्य छल के उदाहरण में प्रयुक्त ब्राह्मणत्व भी अनैकान्तिक हेत्वाभासरूप मानना चाहिये उभयत्र कोई विशेषता नहीं है । इसलिये सामान्य छल भी सिद्ध नहीं होता । न उसके निमित्त से वाद में जय आदि की व्यवस्था हो सकती है ।

छल का तीसरा भेद उपचार छल भी अयुक्त है । नैयायिक मत के आद्य प्रणेता अपने न्याय सूत्र में इस छल का लक्षण लिखते हैं कि धर्म (स्वभाव) के विकल्प

[न्यायसू० १।२।१४] इति । धर्मस्य हि क्रोशनादेर्विकल्पोऽध्यारोपस्तस्य निर्देशे 'मञ्चाः क्रोशन्ति गायन्ति' इत्यादौ तात्स्थ्यात्तच्छब्दोपचारेणासद्भूतार्थस्य तु परिकल्पन कृत्वा परेण प्रतिषेधो विधीयते- 'न मञ्चाः क्रोशन्ति किन्तु मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति' इति । तच्च परस्य पराजयाय जायते यथा-वक्तुरभिप्रायमप्रतिषेधात् । शब्दप्रयोगो हि लोके प्रधानभावेन गुणभावेन च प्रसिद्धः । ततो यदि वक्तुर्गौणोर्थोभिप्रेतः, तदा तस्यानुज्ञानं प्रतिषेधो वा विधातव्यः । अथ प्रधानभूतः; तदा तस्य

निर्देश होने पर मुख्य अर्थ के सद्भाव का निषेध करना उपचार छल है । वादी क्रोशन (गाना–चिल्लाना) आदि धर्म का विकल्प उपचरित कर कथन करता है कि "मंचाः क्रोशंति" मच गा रहे है, इस वाक्य में "तात्स्थ्यात् तत् शब्द प्रयोग." उसमें स्थित व्यक्ति का उस शब्द से उपचार किया जाता है इस न्याय के अनुसार मंच में स्थित पुरुष ही मंच शब्द द्वारा कह गया है अर्थात् मच गा रहे है इस वाक्य का अर्थ मंच पर बैठे हुए पुरुष गा रहे हैं ऐसा है किन्तु वादी के इस वाक्य को प्रतिवादी असद्भूत अर्थ वाला कहकर प्रतिषेध करता है कि मंच नहीं गा रहे किन्तु मंच पर स्थित पुरुष गा रहे हैं । इसप्रकार उपचार छल करना प्रतिवादी के पराजय का ही कारण होगा, क्योंकि इसने वक्ता के अभिप्राय का उल्लंघन न करते हुए प्रतिषेध नही किया है, अर्थात् वक्ता के अभिप्राय का उल्लंघन करके उसके वाक्य में दोष उपस्थित किया है । लोक व्यवहार मे शब्द का प्रयोग गौणभाव और प्रधान भाव दोनों रूप से हुआ करता है । अतः यदि वक्ता को गौण अर्थ इष्ट है तो उसका अनुज्ञान या प्रतिषेध प्रतिवादी को करना चाहिए, अर्थात् वादी ने जो गौण अर्थ इष्ट करके वाक्य कहा है वह सिद्ध है तो स्वीकार करना और असिद्ध है तो प्रतिषेध करना चाहिये । तथा यदि वक्ता को प्रधान अर्थ इष्ट है तो उसका अनुज्ञान या प्रतिषेध करना चाहिये । इसप्रकार की व्यवस्था है, किंतु प्रतिवादी ऐसा नही करता, वक्ता गौण अर्थ इष्ट कर रहा और प्रतिवादी प्रधान अर्थ को लेकर प्रतिषेध करता है तो प्रतिवादी द्वारा स्व अभिप्राय ही निषिद्ध माना जायगा, न कि वादीका अभिप्राय । इसलिये यह दोष या पराजय वादी का नहीं कहलायेगा, और वादी निर्दोष वक्ता होने से प्रतिवादी ही पराजित माना जायगा ।

नैयायिक के इस उपचार छल का आचार्य निराकरण करते हैं कि यह कथन अविचारपूर्ण है, क्योंकि गौण अर्थ अभीष्ट होनेपर मुख्य अर्थ द्वारा निषेध करना

ताविति। यदा तु वक्ता गौणमर्थमभिप्रैति प्रधानभूतं परिकल्प्य परः प्रतिषेधति तदा तेन स्वमनीषा प्रतिषिद्धा स्यान्न परस्याभिप्राय इति नास्यायमुपालम्भः स्यात्, तदनुपालम्भाच्चासौ परजीयते; इत्यप्यविचारितरमणीयम्; यतो यद्येतावतैवासौ निगृह्येत तर्हि यौगोपि सकलशून्यवादिनं प्रति मुख्यरूपतया प्रमाणादिप्रतिषेधं कुर्वन्निगृह्येत, संव्यवहारेण प्रमाणादेस्तेनाभ्युपगमात्। ततः स्वपक्षसिद्ध्यैव परस्य पराजयो न पुनश्छलमात्रेण।

इत्यादिरूप से ही यदि प्रतिवादी का निग्रह या पराजय किया जाय तो शून्याद्वैत वादी बौद्ध के प्रति मुख्यरूप से प्रमाणादिका प्रतिषेध करता हुआ नैयायिक-वैशेषिक भी पराजित किया जा सकता है। क्योंकि शून्यवादी ने भी लोक व्यवहार में उपचाररूप से प्रमाणादि तत्त्व को स्वीकार किया है। अतः यही बात निश्चित है कि स्वपक्ष की सिद्धि करने पर ही प्रतिवादी का पराजय हो सकता है न कि छल मात्र से हो सकता।

विशेषार्थ—नैयायिक के यहां उपचार छल का वर्णन करते हुए कहा है कि वादी [प्रथम बार अपना पक्ष उपस्थित करनेवाले को वादी और उसका निषेध करते हुए अपना अन्य पक्ष या मंतव्य स्थापित करनेवाले को प्रतिवादी कहते हैं] किसी शब्द के गौण अर्थ को इष्ट करके कथन करे और प्रतिवादी उक्त कथन में प्रधान अर्थ को लेकर दोष उपस्थित करे तो यह उपचार छल है, इसतरह के छल करने से प्रतिवादी का पराजय हो जायगा। किंतु नैयायिक का यह कथन अयुक्त है, इससे तो उनका ही पराजय सम्भव है। वही दिखाते हैं। नैयायिक आदि प्रवादी बौद्ध के सकल शून्यवाद का निरसन करते हैं। शून्यवादी प्रमाण द्वारा शून्यवाद का समर्थन करते हैं, उनके यहां यद्यपि कोई भी तत्त्व वास्तविक नहीं है तो भी अपने शून्यवादका समर्थन करने के लिये प्रमाण उपस्थित करते हैं, उनका कहना है कि केवल लोक व्यवहार चलाने के लिये प्रमाण, प्रमेय आदि तत्त्व हम लोग उपचार रूप से स्वीकार करते हैं। इस शून्यवादी का मतव्य निराकृत करते हुए यदि नैयायिक कहे कि आपने जब सकल शून्यवाद स्वीकार किया है तब प्रमाण द्वारा शून्यत्व का समर्थन भी नही कर सकते। इस पर शून्यवादी कह देगा कि हमने शून्यत्व को गौण प्रमाण द्वारा सिद्ध किया है न कि प्रधान प्रमाण द्वारा, आपने हमारे गौणभूत अर्थ का व्याघात करके प्रधान अर्थ लिया है अतः आप उपचार छल के प्रयोक्ता होने से निगृहीत हो चुके हैं, क्योंकि आपके ही मत में उपचार छल माना है और उसके प्रयोक्ता प्रतिवादी का उससे

नापि जातिमात्रेण । तथाहि-तस्याः सामान्यलक्षणम्-"साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः" [न्यायसू० १।२।१८] इति । तस्याश्चानेकत्वं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य भेदात् । तथा च न्यायभाष्यकारः-"साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिबहुत्वमिति" [न्यायभा० ५।१।१] । ताश्च खल्विमा जातयः स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते चतुर्विशतिः, प्रतिषेधहेतवः-"साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यऽप्राप्तिप्रसंगप्रतिदृष्टान्तानुपपत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः" [न्यायसू० ५।१।१] इति सूत्रकारवचनात् ।

तत्र साधर्म्यसमां जातिं न्यायभाष्यकारो व्याचष्टे-साधर्म्येणोपसंहारे कृते साध्यधर्मविपर्ययो-

---

पराजय होना स्वीकार किया है । निष्कर्ष यह है कि उपचार छल को वाद में पराजय का कारण मानना अयुक्त है ।

जाति मात्र के द्वारा भी पराजय सम्भव नहीं है । नैयायिक के यहां जातिका सामान्य लक्षण इसप्रकार है-साधर्म्य या वैधर्म्य द्वारा दूषण उपस्थित करना जाति है । साधर्म्य वैधर्म्य द्वारा दोष के अनेक भेद होने से जाति के अनेक भेद हैं । न्यायभाष्यकार भी इसीतरह प्रतिपादन करते हैं कि साधर्म्य (अन्वय दृष्टान्त) द्वारा या वैधर्म्य (व्यतिरेक दृष्टांत) द्वारा दोष उपस्थित करने के अनेक विकल्प होने से जाति बहुत भेद वाली है । ये जो जातिया हैं वे विधिरूप साध्य को सिद्ध करने वाले हेतु के प्रयुक्त होने पर उसका प्रतिषेध करने वाली चौबीस प्रकार की हुआ करती हैं-साधर्म्यसमा १ वैधर्म्यसमा २ उत्कर्षसमा ३ अपकर्षसमा ४ वर्ण्यसमा ५ अवर्ण्यसमा ६ विकल्पसमा ७ साध्यसमा ८ प्राप्तिसमा ९ अप्राप्तिसमा १० प्रसंगसमा ११ प्रतिदृष्टांतसमा १२ अनुत्पत्तिसमा १३ संशयसमा १४ प्रकरणसमा १५ अहेतुसमा १६ अर्थापत्तिसमा १७ अविशेषसमा १८ उपपत्तिसमा १९ उपलब्धिसमा २० अनुपलब्धिसमा २१ नित्यसमा २२ अनित्यसमा २३ कार्यसमा २४ । न्याय सूत्र में गौतमऋषि ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है ।

इन जातियों में से प्रथम भेद साधर्म्यसमा का न्याय भाष्यकार ने इसप्रकार प्रतिपादन किया है-वादी द्वारा साधर्म्य दृष्टांत द्वारा अनुमान पूर्ण कर चुकने पर प्रतिवादी साध्यधर्म का विपर्यय करके साधर्म्य द्वारा दोष उपस्थित करता है वह

पपत्तेः साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमः प्रतिषेधः । निदर्शनम्–'क्रियावानात्मा, क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वात्, यो यः क्रियाहेतुगुणाश्रयः स स क्रियावान् यथा लोष्टः, तथा चात्मा, तस्मात् क्रियावान्' इति साधर्म्योदाहरणेनोपसंहारे कृते परः साध्यधर्मविपर्ययोपपत्तितः साधर्म्योदाहरणेनैव प्रत्यवतिष्ठते–'निष्क्रिय आत्मा विभुद्रव्यत्वादाकाशवत्' इति । न चास्ति विशेषः–'क्रियावत्साधर्म्यात्क्रियावता भवितव्यं न पुनर्निष्क्रियत्वसाधर्म्यान्निष्क्रियेण' इति साधर्म्यसमो दूषणाभासः । न ह्यात्मनः क्रियावत्त्वे साध्ये क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वस्य हेतोः स्वसाध्येन व्याप्तिः विभुत्वान्निष्क्रियत्वसिद्धौ विच्छिद्यते । न च तदविच्छेदे तद्दूषणत्वम्, साध्यसाधनयोर्व्याप्तिविच्छेदसमर्थस्यैव दोषत्वेनोपवर्णनात् ।

वार्त्तिककारस्त्वेवमाह–साधर्म्येणोपसहारे कृते तद्विपरीतसाधर्म्येण प्रत्यवस्थान वैधर्म्येणोप-

---

साधर्म्यसमा जाति है । इसका उदाहरण–आत्मा क्रियावान् है, क्योंकि वह क्रिया का हेतु रूप जो गुण है उसका आश्रय स्वरूप है, जो जो क्रिया हेतु गुणका आश्रय है वह वह पदार्थ क्रियावान् होता है, जैसे लोष्ट [मिट्टी का ढेला] आत्मा भी उसतरह है अतः क्रियावान् है, इसप्रकार साधर्म्य उदाहरण द्वारा वादी के उपसंहार करने पर प्रतिवादी साध्यधर्म को विपर्ययरूप बदलकर साधर्म्य उदाहरण द्वारा ही दोष देता है । वह इसप्रकार–आत्मा निष्क्रिय है, व्यापकद्रव्य होने से जैसे आकाश । किंतु इन वादी और प्रतिवादी के अनुमानों में कुछ विशेषता सम्भव नहीं कि जिससे क्रियावान् द्रव्य से साधर्म्य होने के कारण आत्मा क्रियावान् तो सिद्ध हो किन्तु निष्क्रिय द्रव्य से साधर्म्य होने से आत्मा निष्क्रिय सिद्ध नहीं हो । अतः वादी द्वारा प्रयुक्त उक्त अनुमान में प्रतिवादी द्वारा प्रतिपादित किया गया साधर्म्यसमा नामा जातिदोष दोष नहीं दूषणाभास है । क्योंकि आत्मा के क्रियावान्पने को साध्य बनाकर प्रयुक्त हुआ "क्रिया हेतु गुणाश्रयत्व" नामा हेतु अपने साध्य के साथ जो व्याप्ति [अविनाभाव] रखता है वह अविनाभाव विभुद्रव्यत्व अर्थात् व्यापकत्व नामा हेतु द्वारा उसी आत्मा के निष्क्रियत्व सिद्ध करने पर नष्ट नहीं होता है । यदि कहा जाय कि अविनाभाव का विच्छेद भले ही मत होवे किन्तु साध्यसम [अथवा साधर्म्यसमा] दोष तो होगा ? सो ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि साध्य और साधन का जो अविनाभाव है उसके विच्छेद करने में जो समर्थ है वही दोष कहलाता है अन्य नहीं ।

न्यायसूत्र पर वार्त्तिक रचनेवाले उद्योतकर उक्त जाति का इसप्रकार वर्णन करते हैं कि साधर्म्य द्वारा वादी के उपसंहार करने पर उस साधर्म्य से अन्य विपरीत

संहारे तत्साधर्म्येण प्रत्यवस्थानं साधर्म्यसमः। यथा 'अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात्कुम्भादिवत्' इत्युपसंहृते परः प्रत्यवतिष्ठते–यद्यऽनित्यघटसाधर्म्यादयमनित्यो नित्येनाप्याकाशेनास्य साधर्म्यममूर्त्तत्वमस्तीति नित्यः प्राप्तः। तथा 'अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात्, यत्पुनरनित्य न भवति तन्नोत्पत्तिधर्मकम् यथाकाशम्' इति प्रतिपादिते परः प्रत्यवतिष्ठते–यदि नित्याकाशवैधर्म्यादनित्यः शब्दस्तदा साधर्म्यमप्यस्याकाशेनास्त्यमूर्त्तत्वम्, अतो नित्यः प्राप्तः। अथ सत्यप्येतस्मिन्साधर्म्ये नित्यो न भवति, न तर्हि वक्तव्यम्–'अनित्यघटसाधर्म्यान्नित्याकाशवैधर्म्याच्चाऽनित्यः शब्दः' इति।

वैधर्म्यसमायास्तु जातेः–वैधर्म्येणोपसंहारे कृते साध्यधर्मविपर्ययाद्वैधर्म्येण साधर्म्येण वा प्रत्यवस्थानं लक्षणम्। 'यथात्मा निष्क्रियो विभुत्वात्, यत्पुनः सक्रियं तन्न विभु यथा लोष्ठादि, विभु-

---

साधर्म्य द्वारा दोष देना, तथा वैधर्म्य द्वारा उपसंहार करने पर प्रतिवादी उस वैधर्म्य से भिन्न साधर्म्य द्वारा दोष देना साधर्म्यसमा जाति दोष है। जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि उत्पत्ति धर्मवाला है घटादि की तरह। इसप्रकार वादी द्वारा अनुमान पूर्ण होने पर प्रतिवादी प्रतिकूलरूप से परिवर्त्तन करता है कि यदि अनित्य घटके साथ साधर्म्य [समानता] होने से शब्द अनित्य है तो नित्य आकाश के साथ भी इस शब्द का अमूर्त्तत्वरूप साधर्म्य होता ही है, इसतरह शब्द नित्यरूप सिद्ध हो सकता है। तथा शब्द अनित्य है क्योंकि उत्पत्ति धर्मवाला है, जो अनित्य नही होता वह उत्पत्ति धर्म वाला नहीं होता, जैसे आकाश। इसप्रकार वादी द्वारा प्रतिपादन करने पर प्रतिवादी उसका निराकरण करता है कि नित्य आकाश के साथ वैधर्म्य होने के कारण यदि शब्द अनित्य है तो आकाश के साथ इस शब्द का अमूर्त्तत्व के निमित्त से साधर्म्य भी तो है, इस साधर्म्य के कारण तो शब्द नित्य बन बैठता है। यदि कहा जाय कि आकाश के साथ शब्दका अमूर्त्तत्व निमित्तक साधर्म्य भले ही हो किन्तु इससे शब्द नित्य सिद्ध नहीं होता। सो यह ठीक नही, क्योंकि इसतरह तो अनित्य घट के साधर्म्य होने से और नित्य आकाश के वैधर्म्य होने के कारण शब्द अनित्य है, ऐसा भी न कह सकेंगे।

वैधर्म्यसमा नामकी दूसरी जाति का लक्षण इसप्रकार है–वैधर्म्य दृष्टांत द्वारा वादी के उपसंहार करने पर प्रतिवादी साध्यधर्म का विपर्यय कर वैधर्म्य या साधर्म्य द्वारा वादी के उक्त अनुमान का निराकरण कर देता है। जैसे आत्मा निष्क्रिय है,

आत्मा, तस्मान्निष्क्रियः' इत्युक्ते परः प्राह-निष्क्रियत्वे सत्यात्मनः क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वं न स्यादाकाशवत्, अस्तिचैतत्, ततो नायं निष्क्रिय इति । साधर्म्येण तु प्रत्यवस्थानम्-'क्रियावानेवात्मा क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वात्, य ईदृशः स ईदृशो दृष्टः यथा लोष्टादिः, तथा चात्मा, तस्मात्क्रियावानेव' इति ।

उत्कर्षसमादीनां लक्षणम्-"साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमः" [न्यायसू० ५।१।४] इति ।

तत्रोत्कर्षसमायास्तावल्लक्षणम्-दृष्टान्तधर्मं साध्ये समासञ्जयतो मतोत्कर्षसमा जातिः । तद्यथा-'क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणाश्रयत्वाल्लोष्टवत्' इत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते-यदि क्रियाहेतुगुणाश्रयो जीवो लोष्टवत्क्रियावांस्तदा तद्वदेव स्पर्शवान्भवेत् । अथ न स्पर्शवान्तर्हि क्रियावानपि न स्यादविशेषात् ।

व्यापक होने से । जो द्रव्य सक्रिय होता है वह व्यापक नही होता जैसे लोष्ट, आत्मा व्यापक है अतः निष्क्रिय है । इसतरह वादी द्वारा अनुमान प्रयुक्त होने पर प्रतिवादी कहता है-आत्मा के निष्क्रियपना मानने पर उसमें क्रिया हेतु गुणका आश्रय घटित नही हो सकता जैसे आकाश में घटित नही होता, किन्तु आत्मा में उक्त आश्रय देखा गया है अतः वह निष्क्रिय नहीं है । तथा प्रतिवादी कभी साधर्म्य द्वारा भी उक्त अनुमान का निराकरण करता है-आत्मा क्रियावान् ही है, क्योंकि यह क्रिया हेतु गुणका आश्रय है, जो ऐसा है वह इसीप्रकार देखा गया है, जैसे लोष्ट [मिट्टी का ढेला या पत्थर] आदि, आत्मा उसीतरह का है अतः अवश्य क्रियावान् है ।

उत्कर्षसमा आदि अग्रिम छह जातियों का सामान्यतः लक्षण इसप्रकार कहा जाता है- पक्ष और दृष्टांत के धर्म क समारोप से तथा दोनों में साध्यत्व होने से उत्कर्षसमा, अपकर्षसमा, वर्ण्यसमा, अवर्ण्यसमा, विकल्पसमा और साध्यसमा जाति नामके दोष उपस्थित किये जाते है । इन छहों में से उत्कर्षसमा जातिका उदाहरण प्रस्तुत करते हैं-दृष्टांत के धर्मका साध्य में समारोप करने से उत्कर्षसमा जातिदोष आता है, वह इसप्रकार आत्मा क्रियावान् है क्रिया हेतु गुणका आश्रय होने से लोष्ट की तरह, वादी के इस अनुमान में प्रतिवादी उलाहना [दोष] देता है कि, यदि आत्मा क्रिया हेतु गुणका आश्रय होने से लोष्ट के समान क्रियावान् है तो उसी लोष्ट के समान स्पर्शवान् भी मानना होगा । कहा जाय कि आत्मा स्पर्शवान् तो नहीं है तब

यस्तु तत्रैव क्रियावज्जीवसाधने प्रयुक्ते साध्ये साध्यधर्मिणि धर्मस्याभावं दृष्टान्तात्समासञ्जयन्वक्ति सोऽपकर्षसमां जातिं वक्ति । यथा लोष्टः क्रियाश्रयोऽसर्वगतो दृष्टस्तद्वदात्माप्यसर्वगतोस्तु, विपर्यये विशेषो वा वाच्य इति ।

ख्यापनीयो वर्ण्योऽख्यापनीयोऽवर्ण्यः । तेन वर्ण्येनावर्ण्येन च समा जातिः । तद्यथात्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–यद्यात्मा क्रियावान् वर्ण्यः साध्यस्तदा लोष्टादिरपि साध्योस्तु । अथ लोष्टादिरवर्ण्यस्तर्ह्यात्माप्यवर्ण्योस्तु विशेषाभावादिति ।

विकल्पो विशेषः, साध्यधर्मस्य विकल्पं धर्मान्तरविकल्पात्प्रसञ्जयतो विकल्पसमा जातिः ।

तो क्रियावान् भी स्वीकार नहीं कर सकते, इसतरह क्रिया हेतु गुणाश्रयत्व हेतु में अविशेषता है, कोई विशेषता नही ।

अपकर्षसमा जाति–उपर्युक्त पक्ष में आत्मा को क्रियावान् साधने में साध्य प्रयुक्त हुआ है उसी साध्यधर्मी में धर्मका अभाव दृष्टांत के सहारे से समारोपित करते हुए कहता है वह अपकर्षसमा जाति है । जैसे पूर्वोक्त अनुमान में दोष दिखाना कि लोष्ट क्रियावान् होकर असर्वगत पाया जाता है उसीतरह आत्मा भी असर्वगत मानना होगा । यदि आत्मा विपर्यय है अर्थात् वह सर्वगत है तो वादी को वैसी विशेषता कहनी चाहिए ।

वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा जाति–ख्यापनीय वर्ण्य है और अख्यापनीय अवर्ण्य है, इससे वर्ण्यसमा और अवर्ण्यसमा जाति दोष होता है । जैसे उसी क्रियावान् साध्य वाले अनुमानप्रयोग में प्रतिवादी दोष देता है–जिसतरह आत्मा क्रियावान् साधन के लिये ख्यापित किया जाता है उसतरह लोष्ट आदि भी ख्यापित किया जाय अर्थात् उसको भी पक्ष बनाया जाय । प्रतिवादी द्वारा इसप्रकार की उलाहना देना वर्ण्यसमा जाति दोष है । तथा ऐसा कहना कि लोष्टादि को पक्षरूप नहीं बनाते तो आत्मा को भी अवर्ण्य अर्थात् पक्षरूप उपस्थित नहीं करना चाहिये, उभयत्र कोई विशेषता नहीं है, सो यह अवर्ण्यसमा जाति नामका दोष है ।

विकल्प समाजाति–विकल्प अर्थात् विशेष, उसी उपर्युक्त अनुमान में साध्यधर्म जो क्रियाश्रयत्व है उसमें अन्य धर्मके विकल्प से भेद दिखाना विकल्पसमा जाति है ।

यथात्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–क्रियाहेतुगुणोपेतं किञ्चिद्गुरु दृश्यते यथा लोष्टादि, किञ्चित्तु लघूपलभ्यते यथा वायुः, तथा क्रियाहेतुगुणोपेतमपि किञ्चित्क्रियाश्रयं युज्येत यथा लोष्टादि, किञ्चित्तु निष्क्रियं यथात्मेति ।

हेत्वाद्यवयवयोगी धर्मः साध्यः, तमेव दृष्टान्ते प्रसञ्जयतः साध्यसमा जातिः । यथात्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्राह–यदि यथा लोष्टस्तथात्मा तदा यथात्मायं तथा लोष्टः स्यात् । 'सक्रियः' इति साध्य-श्चात्मा लोष्टोपि तथा साध्योस्तु । अथ लोष्टः क्रियावान्न साध्यः, तदात्मापि क्रियावान्साध्यो मा भूद्विशेषो वा वाच्य इति ।

दूषणाभासता चासाम्–सत्साधने दृष्टान्तादिसामर्थ्ययुक्ते सति साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पमात्रा-त्प्रतिषेधस्य कर्तुमशक्यत्वात् । यत्र हि लौकिकेतरयोर्बुद्धिसाम्यं तस्य दृष्टान्तत्वान्न साध्यत्वमिति ।

जैसे उसी अनुमान में प्रतिवादी दोष उपस्थित करता है कि क्रियाश्रयत्व वादी का हेतु है सो यह क्रियाश्रयत्व कोई तो गुरु–भारयुक्त देखा जाता है जैसे कि लोष्टादि है, तथा कोई लघुस्वरूप देखा जाता है जैसे वायु । इसलिये यह क्रियाहेतु गुणाश्रयत्व भी किसी वस्तु में क्रिया का आश्रययुक्त होता है लोष्ट की तरह और किसी वस्तु में वह निष्क्रिय ही होता है जैसे आत्मा ।

साध्यसमाजाति–हेतु आदि अवयव युक्त धर्मसाध्य होता है उसीको दृष्टांत में लगा दिया जाय वह साध्यसमा नामकी जाति है । जैसे इसी उपर्युक्त अनुमान में साधन प्रयुक्त करने पर प्रतिवादी कहता है, यदि आप जैसा लोष्ट है वैसा आत्मा है इसतरह कहते हो तो जैसा आत्मा है वैसा लोष्ट है ऐसा संभावित होगा । तथा आत्मा जैसा सक्रिय साधा जाता है वैसा लोष्ट भी सक्रिय साधा जाना चाहिये । और यदि लोष्ट को क्रियावान् नहीं साधा जाता तो आत्मा भी क्रियावान् नहीं साधना चाहिए । उभयत्र कोई विशेषता नहीं है । यदि विशेषता है तो आपको बताना होगा ।

ये जो उत्कर्षसमा से लेकर साध्यसमा तक जातियां हैं वे सब दूषणाभासरूप हैं, क्योंकि दृष्टांत आदि सामर्थ्ययुक्त वास्तविक हेतु के प्रयोग करने पर, केवल पक्ष और दृष्टांत में धर्मका विकल्प [आरोप] कर उक्त साधनादिका प्रतिषेध करना शक्य नहीं है । जहां पर लौकिकजन तथा अलौकिकजन दोनों के बुद्धि का साम्य होता है अर्थात् दोनों को जो मान्य हो वह दृष्टांत कहा गया है, उसको साध्य नहीं बना सकते ।

सम्यक्साधने प्रयुक्ते प्राप्त्या यत्प्रत्यवस्थानं सा प्राप्तिसमा जातिः। अप्राप्त्या तु प्रत्यवस्थानमप्राप्तिसमेति। तद्यथा-हेतुः साध्यं प्राप्य, अप्राप्य वा साधयेत्? 'प्राप्य चेत्; हेतुसाध्ययोः प्राप्तयोर्युगपत्सम्भवात्कथमेकस्य हेतुतान्यस्य साध्यता युज्येत्' इति प्रत्यवस्थानं प्राप्तिसमा जातिः। अथ 'अप्राप्य हेतुः साध्यं साधयेत्; तर्हि सर्वसाध्यमसौ साधयेत्। न चाप्राप्तः प्रदीपः पदार्थानां प्रकाशको दृष्टः' इति प्रत्यवस्थानमप्राप्तिसमेति।

ताविमौ दूषणाभासौ प्राप्तस्यापि धूमादेरग्न्यादिसाधकत्वोपलम्भात्, कृत्तिकोदयादेस्त्वप्राप्तस्य शकटोदयादौ गमकत्वप्रतीतेरिति।

दृष्टान्तस्यापि साध्यविशिष्टतया प्रतिपत्तौ साधनं वक्तव्यमिति प्रसङ्गेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमा जातिः। यथात्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते-'क्रियाहेतुगुणयोगात्क्रियावांल्लोष्टः' इति हेतुर्नोक्तः। न च हेतुमन्तरेण साध्यसिद्धिः।

प्राप्ति और अप्राप्ति समाजाति-वादी द्वारा सत्य साधन प्रयुक्त करने पर प्राप्ति द्वारा जो दोष दिया जाता है वह प्राप्तिसमा जाति है, तथा अप्राप्ति द्वारा जो दोष उपस्थित किया जाय वह अप्राप्तिसमा नामकी जाति है। इन्हीको बताते हैं-प्रतिवादी वादी से प्रश्न करता है कि आपका हेतु साध्य को प्राप्त कर सिद्ध करता है या अप्राप्त कर सिद्ध करता है? यदि प्राप्त कर साध्य को सिद्ध करता है तो हेतु और साध्य एक साथ प्राप्तरूप संभव होने से एक को हेतुपना और एक को साध्यपना किस प्रकार युक्तिसंमत हो सकता है। इसतरह प्रतिवादी द्वारा उलाहना देना प्राप्तिसमा जाति है। तथा यदि आप वादी को अपना हेतु साध्य को बिना प्राप्त हुए सिद्ध करता है ऐसा मानना इष्ट है तो यह हेतु सभी साध्य को सिद्ध करने वाला बन जायगा। ऐसा देखा नहीं गया है कि अप्राप्त दीपक पदार्थों का प्रकाशन करता हो। इसतरह के प्रतिवादी द्वारा निरसन करने को अप्राप्तिसमा जाति दोष माना है।

किन्तु ये प्राप्तिसमा और अप्राप्तिसमा दोनों ही सही दूषण नहीं दूषणाभास मात्र है। हेतु तो दोनों प्रकार से [प्राप्त औद अप्राप्त] देखे जाते हैं, जैसे धूम आदि हेतु प्राप्त होकर भी अग्नि आदि साध्य को सिद्ध करते हैं, एवं कृतिका का उदयरूप हेतु बिना प्राप्त हुए शकट उदयरूप साध्य को सिद्ध करते हैं।

अस्याश्च दूषणाभासत्वम्–यथैव हि रूपं दिदृक्षूणां प्रदीपोपादानं प्रतीयते न पुनः स्वयं प्रकाशमानं प्रदीपं दिदृक्षूणाम्। तथा साध्यस्यात्मनः क्रियावत्त्वस्य प्रसिद्ध्यर्थं लोष्टस्य दृष्टान्तस्य ग्रहणमभिप्रेतं न पुनस्तस्यैव सिद्ध्यर्थं साधनान्तरस्योपादानम्, वादि प्रतिवादिनोरविवादविषयस्य दृष्टान्तस्य दृष्टान्तत्वोपपत्तेस्तत्रसाधनान्तरस्याफलत्वादिति।

प्रतिदृष्टान्तरूपेण प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमा जातिः। यथात्रैव साधने प्रयुक्ते प्रतिदृष्टान्तेन परः प्रत्यवतिष्ठते-क्रिया-हेतुगुणाश्रयमाकाशं निष्क्रियं दृष्टमिति। कः पुनराकाशस्य क्रियाहेतुगुणः? संयोगो वायुना सह। कालत्रयेप्यसम्भवादाकाशे क्रियायाः। न क्रियाहेतुर्वायुना संयोगः, इत्यप्यसारम्;

प्रसंगसमा जाति–अनुमान में दिये गये दृष्टांत में भी साध्य की विशिष्टरूप से जानकारी कराने के लिये हेतु कहना चाहिये, इसप्रकार का प्रसङ्ग उपस्थित करना प्रसंगसमा जाति है। जैसे इसी उपर्युक्त अनुमान में हेतु के प्रयुक्त होने पर प्रतिवादी उलाहना देता है कि क्रिया के हेतुरूप गुण के योग से लोष्ट क्रियावान् है, इसतरह लोष्ट का जो दृष्टांत दिया था उसमें हेतु घटित नहीं किया, बिना हेतु के तो साध्य सिद्धि नही होती।

यह प्रसंगसमा नामका जाति दूषण भी पूर्व की जाति दूषण की तरह दूषणाभास है अर्थात् वास्तविक दूषण नहीं है। इसीको बतलाते हैं–किसी वस्तु के रूप को देखने के इच्छुक पुरुष दीपक को ग्रहण करते हुए पाये जाते हैं, किन्तु स्वयं प्रकाशमान दीपक को देखने के लिये तो दीपक का ग्रहण नहीं करते हैं। दूसरी बात यह है कि साध्यरूप आत्मा में क्रियापना साधने के लिये लोष्टरूप दृष्टांत का ग्रहण होता हो है, किन्तु उसी दृष्टांत के सिद्धि के लिये तो अन्य हेतु ग्रहण करना कहीं भी नहीं माना। क्योंकि वादो और प्रतिवादी दोनों का जिसमे विवाद नहीं है अविवाद का विषय है उसी दृष्टांत के दृष्टांतपना घटित हो सकता है। ऐसे सुप्रसिद्ध हुए दृष्टांत में पुनः अन्य हेतु की काई सफलता नहीं, अर्थात् उसमें हेतु देना निष्फल है।

प्रतिदृष्टांतसमा जाति – प्रतिदृष्टांतरूप से अर्थात् प्रतिकूल दृष्टांत द्वारा दोष उपस्थित करना प्रतिदृष्टांतसमा जाति है। जैसे इसी उपर्युक्त क्रिया हेतु गुणाश्रय होने से आत्मा सक्रिय है इत्यादि अनुमान प्रयुक्त होने पर प्रतिवादी प्रतिकूल दृष्टांत से दूषण उपस्थित करता है–आकाश क्रिया के हेतुरूप गुण का आश्रय है फिर भी निष्क्रिय देखा जाता है। कोई पूछे कि आकाश में क्रिया का हेतुरूप गुण कौनसा है? तो हम

वायुसंयोगेन वनस्पतौ क्रियाकारणेन समानधर्मत्वादाकाशे वायुसंयोगस्य । यत्वसौ तत्र क्रियां न करोति तन्नाकारणत्वात्, किन्तु परममहापरिमाणेन प्रतिबद्धत्वात् । अथ क्रियाकारणवायुवनस्पतिसंयोगसदृशो वाय्वाकाशसंयोगो न पुनः क्रियाकारणम्; न कश्चिदप्येवं हेतुरनैकान्तिकः स्यात्-'अनित्यः शब्दोऽमूर्त्तत्वात्सुखादिवत्' इत्यत्राप्यमूर्त्तत्व हेतुः शब्देऽन्योन्यश्चाकाशे तत्सदृश इति कथमस्याकाशेनानैकान्तिकत्वम्? सकलानुमानोच्छेदश्च, अनुमानस्य सादृश्यादेव प्रवर्त्तनात् । न खलु ये धूमधर्माः क्वचिद्धूमे

बतलाते हैं कि वायु के साथ संयोग होना रूप क्रियाहेतु गुणाश्रय आकाश में है किंतु उसमें तीन काल में भी क्रिया की संभावना नहीं है । वायु के साथ संयोग होना क्रिया का हेतु नहीं है ऐसा कहना भी असत् है, देखा जाता है कि वायु के संयोग से वनस्पति में क्रिया होती है, आकाश मे वनस्पति की तरह ही वायु के साथ संयोग होना रूप समान धर्म है । इतनी बात है कि यह वायुसंयोग आकाश में क्रिया को नहीं करता वह अकारणपना होने से नहीं करता हो ऐसी बात नहीं किंतु आकाश परम महापरिमाण से प्रतिबद्ध होने के कारण उक्त वायुसंयोग क्रिया को नही करता है । यदि कहा जाय कि क्रिया का कारण जो वायु और वनस्पति का संयोग है उसके समान अन्य ही कोई वायु और आकाश का संयोग है अर्थात् वनस्पति और वायु का संयोग भिन्न जातीय है और वायु तथा आकाश का संयोग भिन्न है अतः क्रिया का कारण नहीं है? सो यह कहना अयुक्त है, इसतरह तो कोई भी हेतु अनैकान्तिक नही रहेगा । इसका खुलासा—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह अमूर्त्त है जैसे सुखादिक, ऐसा अनुमान किया जाय तो इसका जो अमूर्त्तत्व हेतु है वह शब्दरूप पक्ष म अन्य है और आकाश में उसके समान कोई अन्य है, ऐसा संभावित किया जा सकता है अतः अमूर्त्तत्व हेतु का आकाश के साथ व्यभिचार दिखाना अर्थात् अनैकान्तिक दोष उपस्थित करना कैसे सम्भव होगा? इसतरह तो अनैकान्तिक दोष ही जगत् से उठ जायगा । दूसरी बात यह भी है कि इसप्रकार वायुवनस्पति संयोग और वायुआकाश संयोग इनकी भिन्नता मानी जाय तो संपूर्ण अनुमान का विच्छेद होवेगा, अनुमान तो सादृश्य से ही प्रवृत्त होता है, अर्थात् अन्य के साथ व्याप्तियुक्त देखे हुए पदार्थ का अन्यत्र दर्शन हो जाने से ही अनुमान का प्रवर्त्तन माना गया है । किसी पर्वत आदि स्थान पर होने वाले धूम में जो धूम के धर्म [वर्णादिगुण] देखे जाते हैं, वे ही धर्म अन्य स्थान के धूम में नहीं देखे जाते, वहां तो उसके समानरूप वाले भिन्न ही धूमधर्म उपलब्ध होते हैं । अतः होता

दृष्टास्त एवान्यत्र दृश्यन्ते तत्सदृशानामेव दर्शनात् । ततोनेन कस्यचिद्धेतोरनैकान्तिकत्वं क्वचिदनुमानात्प्रवृत्तिचेच्छता तद्धर्मसदृशस्तद्धर्मोनुमन्तव्य इति क्रियाकारणवायुवनस्पतिसंयोगसदृशो वाय्वाकाशसंयोगोपि क्रियाकारणमेव । तथा च प्रतिदृष्टान्तेनाकाशेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमः प्रतिषेधः ।

है, किसी किसी हेतु में अनैकान्तिक दोष होता एवं कहीं अनुमान से प्रवृत्ति होती है ऐसी व्यवस्था चाहने वाले को विवक्षित अनुमान में जो हेतु के धर्म पाये जाते हैं वे तद् धर्म सदृश धर्म पाये जाते हैं ऐसा ही स्वीकार करना होगा। और ऐसा सर्वमान्य होने पर जैसे वायु संयोग वनस्पति में क्रिया का कारण है वैसे आकाश में भी क्रिया का कारण है यह बात सिद्ध होती है, इसलिये ऊपर जो कहा था कि "वनस्पति में होने वाला वायुसंयोग भिन्न जातीय है और आकाश में होने वाला वायुसंयोग भिन्न जातीय है" वह असत् है अतः प्रतिदृष्टांत–प्रतिकूलदृष्टांत स्वरूप आकाश से दोष उपस्थित करना प्रति दृष्टांतसमा जाति दोष है।

जातिवादी के इस लंबे चौड़े बखान में भी कुछ तथ्य नही अन्य जाति भेदों के समान यह प्रतिदृष्टांतसमा जाति भी दोषाभास मात्र है इसीको दिखाते हैं–यदि प्रतिवादी यह कहता है कि जिसतरह तेरा लोष्टादि दृष्टांत है मेरा भी उसतरह आकाशादि दृष्टांत है, तब तो व्याघात दोष हुआ, वह व्याघात ऐसा होगा कि एक व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त दृष्टांत में दृष्टांतपना सिद्ध होने पर उसके प्रतिकूलरूप उपस्थित किया गया दृष्टांत अब दृष्टांत ही सिद्ध होगा, दोनों में दृष्टांतपना तो बन नहीं सकता।

भावार्थ—साध्य की सिद्धि में अनुकूल और प्रतिकूल हो रहे लोष्ट या आकाश में से एक का दृष्टांतपना स्वीकार करने पर बचे हुए दूसरे का अदृष्टांतपना ही सिद्ध होगा, एक साथ अनुकूल, प्रतिकूल दोनों दृष्टांतों में तो समीचीन दृष्टांतपने का विरोध है। प्रतिवादी ने स्वमुख से ही कह दिया कि जैसा तेरा दृष्टांत है वैसा मेरा दृष्टांत है, एतावता उसने वादी के दृष्टांत को अंगीकार किया माना जायगा, ऐसी दशा में अब प्रतिवादी प्रतिकूलदृष्टांत कथमपि बोल नहीं सकता।

स चायुक्तः; अस्य दूषणाभासत्वात् । तथाहि–यदि तावदयं ब्रूते–'यथायं त्वदीयो दृष्टान्तो लोष्टादिस्तथा मदीयोप्याकाशादिः' इति, तदा व्याघातः–एकस्य हि दृष्टान्तत्वेन्यस्यादृष्टान्तत्वमेव, उभयोस्तु दृष्टान्तत्वविरोधः । अथैवं ब्रूते–यथायं मदीयो न दृष्टान्तस्तथा त्वदीयोपि इति' । तथापि व्याघातः–प्रतिदृष्टान्तस्य ह्यदृष्टान्तत्वे दृष्टान्तस्यादृष्टान्तत्वव्याघातः, प्रतिदृष्टान्ताभावे तस्य दृष्टान्तत्वोपपत्तेः । दृष्टान्तस्य वाऽदृष्टान्तत्वे प्रतिदृष्टान्तस्यादृष्टान्तत्वव्याघातः, दृष्टान्ताभावे तस्य तत्त्वोपपत्तेरिति ।

"प्रागुत्पत्तेः कारणाभावाद्या प्रत्यवस्थितिः सानुत्पत्तिसमा जातिः" [न्यायसू० ५।१।१२] तद्यथा–'विनश्वरः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्कटकादिवत्' इत्युक्ते परः प्राह–'प्रागुत्पत्तेरनुत्पन्ने शब्दे विनश्वरत्वस्य यत्कारणं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं तन्नास्ति ततोयमविनश्वरः, शाश्वतस्य च शब्दस्य न प्रयत्नानन्तरं जन्म इति ।

प्रतिवादी यदि इसप्रकार कहता है कि जैसा यह मेरा दृष्टांत नहीं वैसा तेरा भी नहीं है । ऐसे भी व्याघात दोष होगा, प्रतिवादी के प्रतिकूलदृष्टांत में अदृष्टांतत्व स्वीकार किया जाय तो वादी के दृष्टांत में अदृष्टांतत्व का निराकरण स्वतः ही होगा, क्योंकि प्रतिदृष्टांत के अभाव में उसके सुलभता से दृष्टांतत्व घटित होता है । अथवा वादी के दृष्टांत में अदृष्टांतत्व स्वीकारा जाय तो प्रतिवादी के प्रतिदृष्टांत में अदृष्टांतत्व दोष समाप्त होगा अर्थात् प्रतिदृष्टांत सत्य होगा, और इसतरह वादी के दृष्टांत का अदृष्टांतपना होने से अभाव होने पर उक्त प्रतिवादी का तत्व सिद्ध होगा । भावार्थ यही हुआ कि प्रतिदृष्टांत समा नामका जातिदोष उठाना व्यर्थ है, इस दोष द्वारा जय पराजय नहीं होता न किसी के पक्षका निराकरण ही यह तो केवल दूषणाभास है ।

अनुत्पत्तिसमा जाति–उत्पत्ति के पहले कारण के अभाव से जो दोष उपस्थित किया जाता है वह अनुत्पत्तिसमा जाति है । वह इसप्रकार–शब्द नश्वर है मनुष्य के प्रयत्न द्वारा अव्यवहित उत्तरकाल में उत्पत्ति वाला होने से जैसा कटक–कड़ा आदि है, इसतरह वादी द्वारा अनुमान प्रयुक्त होनेपर प्रतिवादी कहता है–उत्पत्ति के पहले अनुत्पन्नरूप शब्द में नश्वरता का हेतु जो आपने प्रयत्न के अनन्तर होना [प्रयत्न के उत्तरकाल में होना] बताया है वह नहीं है, इसलिये यह शब्द तो अविनश्वर है । इसतरह अनुत्पन्न शब्द में नश्वरता नहीं होने से वह शाश्वत होगा और उस शाश्वत शब्द की पुनः प्रयत्न के उत्तरकाल में उत्पत्ति नहीं होती ।

सेयमनुत्पत्त्या प्रत्यवस्था दूषणाभासो न्यायातिलंघनात् । उत्पन्नस्यैव हि शब्दस्य धर्मिणः प्रयत्नानन्तरीयकत्वमुत्पत्तिधर्मकत्वं वा भवति नानुत्पन्नस्य । प्रागुत्पत्तेः शब्दस्याऽसत्त्वे किमाश्रयोयमुपालम्भः ? न ह्ययमनुत्पन्नोऽसन्नेव 'शब्दः' इति 'प्रयत्नानन्तरीयकः' इति 'अनित्यः' इति वा व्यपदेष्टुं शक्यः । सत्त्वे तु सिद्धमेव प्रयत्नानन्तरीयकत्वकारणं नश्वरत्वे साध्ये, अतः कथमस्य प्रतिषेध इति ?

"सामान्यघटयोरैन्द्रियिकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयसमा जातिः ।" [न्यायसू० ५।१।१४] यथा 'अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवत्' इत्युक्ते परः सद्दूषणमपश्यन् संशयेन प्रत्यवतिष्ठते–प्रयत्नानन्तरीयकेपि शब्दे सामान्येन साधर्म्यमैन्द्रियिकत्वं नित्येनास्ति घटेन चानित्येनास्ति, संशयः शब्दे नित्यत्वानित्यत्वधर्मयोरिति ।

यह अनुत्पत्ति द्वारा प्रतिवादी का दोष देना दोषाभास मात्र है इसमें न्याय मार्ग का उल्लंघन होता है । उत्पन्न हो चुके शब्द को ही पक्ष बनाया जाता है और उसका प्रयत्न के उत्तरकाल में होना या उत्पत्ति धर्मपना होना सिद्ध किया जाता है । अनुत्पन्न शब्द को पक्ष बताया ही नहीं जाता और न उसके प्रयत्न के अनन्तर होना रूप धर्म सिद्ध किया जाता है । जब उत्पत्ति के पहले शब्दका असत्व ही है तब किसका आश्रय लेकर प्रतिवादी उलाहना देगा ? अनुत्पन्न होने से असत्वरूप इस शब्द को 'यह शब्द है' "अथवा प्रयत्न के अनन्तर होने वाला है" 'या अनित्य है' इत्यादि कथन करना किसतरह शक्य है ? और जब उस शब्द का सत्त्व हो जाता है तब प्रयत्न के उत्तरकाल में होनारूप हेतु नश्वरत्व साध्य को सिद्ध ही कर देता है फिर इस हेतु का प्रतिषेध किसप्रकार होगा ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

संशयसमाजाति–पर अपर सामान्य और घट इनमें इन्द्रिय द्वारा ग्राह्यपना समानरूप से सिद्ध होने पर नित्यत्व अनित्यत्व के साधर्म्य से संशयद्वारा दोष देना संशयसमाजाति है । जैसे शब्द अनित्य है प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से, घट के समान इसप्रकार वादीद्वारा अनुमान देने पर प्रतिवादी इसमें वास्तविक दोष का अभाव देख संशय द्वारा उलाहना देता है कि प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होनेपर भी शब्द में नित्यस्वरूप सामान्य पदार्थ के साथ इन्द्रियग्राह्य होनारूप समानता है, तथा अनित्यस्वरूप घट के साथ भी प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होनारूप समानता है, इस कारण शब्द में नित्यपन और अनित्यपन धर्मों का संशय रहता है ।

अस्याश्च दूषणाभासत्वम्–शब्दाऽनित्यत्वाऽप्रतिबन्धित्वात् । यथैव हि पुरुषे शिरःसंयमनादिना विशेषेण निश्चिते सति न स्थाणुपुरुषसाधर्म्यादूर्ध्वत्वात् संशयस्तथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वेन विशेषेणानित्ये शब्दे निश्चिते न घटसामान्यसाधर्म्यादैन्द्रियिकत्वात् संशयो युक्त इति ।

"उभयसाधर्म्यात्प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमा जातिः ।" [न्यायसू० ५।१।१६] 'यथा अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवत्' इत्यनित्यसाधर्म्यात्प्रयत्नानन्तरीयकत्वाच्छब्दस्यानित्यतां कश्चित्साधयति । अपरः पुनर्गोत्वादिना सामान्येन साधर्म्यात्तस्य नित्यताम् इति, अतः पक्षे विपक्षे च प्रक्रिया समानेति ।

ईदृश्यं च प्रक्रियाऽनतिवृत्त्या प्रत्यवस्थानमयुक्तम्; विरोधात् । प्रतिपक्षप्रक्रियासिद्धौ हि प्रतिषेधो विरुध्यते । प्रतिषेधोपपत्तौ तु प्रतिपक्षप्रक्रियासिद्धिर्व्याहन्यते इति ।

किन्तु यह जातिदूषण भी केवल दूषणाभास है, क्योंकि उपर्युक्त पक्षभूत शब्द में अनित्यपने का कोई प्रतिबन्ध नहीं है, जिसप्रकार पुरुष में शिर का संयम न करना आदि विशेषता से पुरुषपने का निश्चय होने पर पुनः पुरुष और स्थाणु [ठूंट] में समानरूप से होने वाले ऊर्ध्वत्व धर्म से संशय नहीं होता है, उसीप्रकार शब्द में प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होनारूप विशेषता से अनित्यपना निश्चित होनेपर घट और सामान्य में समानता से होने वाले इन्द्रियग्राह्यत्व से संशय होना अयुक्त है ।

प्रकरणसमाजाति–दोनों [नित्य अनित्य या सामान्य तथा घट] के साथ साधर्म्य होने के कारण दोनों की प्रक्रिया सिद्ध होना प्रकरणसमाजाति है । जैसे शब्द अनित्य है प्रयत्न के अनन्तर होने से घट के समान, इसप्रकार किसी वादी ने अनुमान प्रयोग किया, इसमें प्रयत्न के अनन्तर होना रूप हेतु अनित्य के साथ साधर्म्य रखता है अतः उसके द्वारा वादी ने शब्द की अनित्यता को सिद्ध किया है । इसपर प्रतिवादी दोष उठाता है कि शब्द में इन्द्रियग्राह्यत्व है वह गोत्वआदि सामान्य के साथ साधर्म्य रखता है अतः उस साधर्म्य से शब्द में नित्यता सिद्ध होती है । इसप्रकार जहां पक्ष और विपक्ष में समान प्रक्रिया पायी जाय वह प्रकरणसमा जाति है ।

इस जाति का निराकरण इसतरह होता है कि प्रक्रिया का अतिक्रमण नहीं होने से अर्थात् समान प्रक्रिया होने से ऐसी उलाहना देना अयुक्त है, विरोध दोष होगा, देखिये, प्रतिपक्ष की प्रक्रिया [अनुमान का तरीका] सिद्ध हो जाने पर तो उस प्रतिपक्ष

"त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमा जातिः।" [न्यायसू० ५।१।१८] यथा सत्साधने दूषणमपश्यन्परः प्राह–'साध्यात्पूर्वं वा साधनम्, उत्तर वा, सहभावि वा स्यात् ? न तावत्पूर्वम्; असत्यर्थे तस्य साधनत्वानुपपत्तेः। नाप्युत्तरम्; असति साधने पूर्वं साध्यस्य साध्यस्वरूपत्वासम्भवात्। नापि सहभावि; स्वतन्त्रतया प्रसिद्धयोः साध्यसाधनभावासम्भवात्सह्यविन्ध्यवत्' इत्यहेतुसमत्वेन प्रत्यवस्थानमयुक्तम्; हेतोः प्रत्यक्षतो धूमादेर्वन्ह्यादौ प्रसिद्धेरिति।

"अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमा जातिः।" [न्यायसू० ५।१।२१] यथात्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्राह–'यदि प्रयत्नानन्तरीयकत्वेनानित्यः शब्दो घटवत्तदार्थापत्तितो नित्याकाशसाधर्म्या-

---

का प्रतिषेध करना नियम से विरुद्ध पड़ता है। और प्रतिपक्ष के निषेध की सिद्धि हो चुकने पर तो प्रतिपक्ष की प्रक्रिया साधने का व्याघात होता है। इसतरह दोनों [पक्ष विपक्ष] में प्रक्रिया समान कहां रही ? जिससे प्रकरणसमा जाति नामा दोष दिया जाय ?

अहेतुसमा जाति–साध्य सिद्धि के लिये प्रयुक्त हुए हेतु का तीनों कालों में वर्त्तना नहीं बनने से दोष उठाना अहेतुसमा जाति है। वादी के वास्तविक हेतु में कोई दोष न देखकर प्रतिवादी व्यर्थ ही कह बैठता है कि यह आपका हेतु साध्य के पहले विद्यमान रहता है या उत्तरकाल में अथवा साध्य का सहभावि है ? साध्य के पहले तो विद्यमान नहीं हो सकता, क्योंकि उसका साध्यभूत अर्थ ही नहीं अतः साधन (हेतु) नहीं कहला सकता। साध्य के उत्तरकाल भावी हेतु का होना भी अयुक्त है, क्योंकि जब साधन असत् था उस पूर्वकाल में साध्य का साध्यस्वरूप असम्भव है। सहभावि भी नहीं हो सकता, जब स्वतंत्ररूप से दोनों प्रसिद्ध हैं तो उनमें साध्य–साधनभाव असम्भव ही है, जैसे कि सह्य और विंध्य में साध्य–साधनभाव असम्भव है।

जातिवादी के इस अहेतुसमा जाति द्वारा दोष देना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि हेतु की प्रसिद्धि तो प्रत्यक्षप्रमाण से है, जैसे कि अग्नि आदि साध्य में धूमादि हेतु प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध है।

अर्थापत्तिसमा जाति–अर्थापत्ति से प्रतिपक्ष सिद्ध होना अर्थापत्तिसमा जाति है। जैसे इसी पूर्वोक्त अनुमान के प्रयुक्त होने पर प्रतिवादी कहता है–यदि प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है जैसे घट है, तो अर्थापत्ति से इस शब्द में नित्य

सिद्ध्योऽस्तु । यथैव ह्यस्पर्शवत्वं खे नित्ये दृष्टं तथा शब्देपि' इति ।

अस्याश्च दूषणाभासत्वम्; सुखादिनानैकान्तिकत्वात् । नचानैकान्तिकाद्धेतोः प्रतिपक्षसिद्धिरिति ।

"एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात् सत्त्वोपपत्तितोऽविशेषसमा जातिः ।" [न्यायसू० ५।१।२३] यथात्रैव साधने प्रयुक्ते पर प्रत्यवतिष्ठते-प्रयत्नानन्तरीयकत्वलक्षणैकधर्मोपपत्तेर्घटशब्दयोरनित्यत्वाविशेषे सत्त्वधर्मस्याप्यखिलार्थेषूपपत्तेरनित्यत्वाविशेषः स्यात् ।

आकाश के साथ समानता होने से नित्यत्व सिद्ध होवे । देखा भी जाता है कि जैसे अस्पर्शवान्पना नित्य आकाश में है वैसा अस्पर्शवत्व शब्द में भो है ।

यह अर्थापत्तिसमा जाति भी सही दूषण नहीं केवल दूषणाभास है । इसीको बतलाते हैं-प्रयत्न के अनन्तर उत्पत्तिमान् होने से शब्द अनित्य है ऐसे वादी के कथन में अर्थापत्ति से नित्य आकाश के साधर्म्य से शब्द को नित्य बताना तो सुखादि के साथ व्यभिचरित होता है, क्योंकि सुखादि अस्पर्शवान् होकर भी अनित्य है । अतः इसतरह के अनैकान्तिक हेतु से प्रतिवादी के प्रतिपक्ष की सिद्धि कथमपि संभव नहीं है ।

अविशेषसमा जाति-एक धर्म [प्रयत्नानतर उत्पत्तिमत्व] को उपपत्ति [शब्द में, घट में] अविशेप होने पर अर्थात् प्रयत्नानन्तर उत्पत्तिमत्व हेतु द्वारा शब्द और घट दृष्टांत में अनित्यत्व स्वीकृत होने पर वह धर्म अविशेष कहलाता है, इस पर पुनः प्रतिवादी कहता है कि सब वस्तुओं मे सत्त्वधर्म घटित होने से घटादि की तरह अनित्यपना सिद्ध हो जाओ, इसतरह सब में अनित्यपने का प्रसंग अविशेषरूप से उपस्थित करना अविशेषसमा जाति है । जैसे वादी ने अनुमान प्रयुक्त किया कि शब्द अनित्य है प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से घट की तरह । पुनः प्रतिवादी इसका निराकरण करता है कि प्रयत्नानंतरीयकत्वरूप एक ही धर्म द्वारा घट और शब्द में अनित्यपना समानरूप से स्वीकार करने पर तो सत्वधर्म संपूर्ण पदार्थों में उपलब्ध होने से उनमें अनित्यत्व समानरूप से स्वोकार करना पड़ेगा इत्यादि । इसप्रकार प्रतिवादी का दोष उठाना अविशेषसमा जाति है ।

तस्याश्च दूषणाभासता; तथा साधयितुमशक्यत्वात्। न खलु यथा प्रयत्नानन्तरीयकत्वं साधनधर्मः साध्यमनित्यत्व शब्दे साधयति तथा सर्वार्थे सत्त्वम्, धर्मान्तरस्यापि नित्यत्वस्याकाशादौ सत्त्वे सत्युपलम्भात्, प्रयत्नानन्तरीयकत्वे च सत्यऽनित्यत्वस्यैवोपलम्भादिति।

"उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमा जातिः।" [न्यायसू० ५।१।२५] यथात्रैव साधने प्रयुक्ते परः प्राह–'यद्यनित्यत्वे कारणं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं शब्दस्यास्तीत्यनित्योसौ तदा नित्यत्वेप्यस्य कारण-मस्पर्शवत्त्वमस्तीति नित्योप्यस्तु' इत्युभयस्य नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य च कारणोपपत्त्या प्रत्यवस्थान-मुपपत्तिसमो दूषणाभासः। एवं ब्रुवता स्वयमेवानित्यत्वकारणं प्रयत्नानन्तरीयकत्वं तावदभ्युपगतम्। एवं तदभ्युपगमाच्चानुपपन्नस्तत्प्रतिषेध इति।

"निर्दिष्टकारणाभावेप्युपलम्भादुपलब्धिसमा जातिः।" [न्यायसू० ५।१।२७] यथात्रैव

यह भी केवल दूषणाभास है, क्योंकि उक्त प्रकार से सब में अनित्यत्व साधना अशक्य है। जैसे प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होना रूप साधन धर्म शब्द में अनित्यरूप माध्य को सिद्ध करता है वैसे सत्वधर्म सभी पदार्थों में अनित्यत्व सिद्ध नही करता, क्योंकि आकाश आदि में नित्यरूप धर्मान्तर भी सत्त्व के होने पर उसी के साथ उपलब्ध है, किन्तु प्रयत्नानन्तरीयकत्व ऐसा नहीं है वह केवल अनित्यधर्म की उपलब्धि में ही होता है। अतः अविशेष का प्रसंग लाकर अविशेपसमा जाति उपस्थित करना असिद्ध है।

उपपत्तिसमा जाति–उभयकारण की उपपत्ति होने से उपपत्तिसमा जाति दिखायी जाती है। जैसे उसी अनुमान के प्रयुक्त होने पर प्रतिवादी कहता है–यदि अनित्यपन का कारण प्रयत्नानंतरीयकत्व शब्द में है अतः उसे अनित्य स्वीकार किया जाता है तो नित्यपन का कारण जो अस्पर्शवत्व है वह शब्द में है अतः उसे नित्य भी स्वीकार करना चाहिए। इसप्रकार नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों के कारणों के उपपत्ति दिखाकर उलाहना देना उपपत्तिसमा जाति है। किन्तु यह दूषणाभास है। इस प्रकार से दोष उपस्थित करने वाले प्रतिवादी ने तो प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु को अनित्यपने का कारण स्वीकार कर ही लिया, और ऐसा स्वीकृत होने पर पुनः उसी का निराकरण शक्य नहीं है।

उपलब्धिसमा जाति–निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी उपलब्धि दिखाना उपलब्धिसमा जाति है। जैसे प्रयत्नानंतरीयकत्व हेतु द्वारा शब्द में अनित्यत्व सिद्ध

साधने प्रयुक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–'शाखादिभङ्गजे शब्दे प्रयत्नानन्तरीयकत्वाभावेप्यनित्यत्वमस्ति' इति।

दूषणाभासत्वं चास्याः; प्रकृतसाधनाप्रतिबन्धित्वात्। न खलु 'साधनमन्तरेण साध्यं न भवति इति' नियमोस्ति, साधनस्यैव साध्याभावेऽभावनियमव्यवस्थितेः। न चानित्यत्वे प्रयत्नानन्तरीयकत्वमेव गमकम्; उत्पत्तिमत्त्वादेरपि तद्गमकत्वात्।

"तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमा जातिः।" [न्यायसू० ५।१।२९] 'यथा अविद्यमानः शब्द उच्चारणात्पूर्वमनुपलब्धेरुत्पत्तेः पूर्वं घटादिवत्। न खलूच्चारणा-

---

होने पर प्रतिवादी कहता है–शाखा आदि के टूट जाने से प्रादुर्भूत हुए शब्द मे प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु का अभाव है फिर भी अनित्यत्व है, अर्थात् प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है ऐसा वादी ने कहा किन्तु शाखा टूट जाने से जो शब्द होता है उसमे प्रयत्न के अनन्तर होना रूप स्वभाव नहीं, अतः आपका साध्य जो अनित्यत्व है वह हेतु जो प्रयत्नानंतरीयकत्व है उसके अभाव में भी पाया गया। इस प्रकार यह निर्दिष्ट किये गये कारण [हेतु] के अभाव में भी साध्य उपलब्ध होना उपलब्धिसमा जाति दोष है।

यह भी दूषणाभासरूप है क्योंकि इसप्रकार का दूषण प्रकृत हेतु का प्रतिबंधक नहीं होता। हेतु के बिना साध्य नहीं होता हो ऐसा नियम नहीं है अपितु साध्य के बिना हेतु नहीं होता ऐसा नियम है। यथा यह भी बात है कि केवल प्रयत्नानंतरीयकत्व ही अनित्यपने का गमक नही है? अनित्य का गमक तो उत्पत्तिमत्व आदि भी हुआ करते हैं।

अनुपलब्धिसमा जाति–शब्द की अनुपलब्धि के समय अर्थात् उच्चारण के पहले अनुपलंभ रहने से उस शब्द का अभाव वादी द्वारा सिद्ध करने पर प्रतिवादी उससे विपरीत भाव की उत्पत्ति दिखाता है वह अनुपलब्धिसमा जाति है। जैसे शब्द अविद्यमान है [शब्द का अस्तित्व नही है] क्योंकि उच्चारण करने के पहले वह अनुपलब्ध रहता है [उपलब्ध नहीं होता] जैसे कि घट उत्पत्ति के पहले अनुपलब्ध रहता है। यहां कोई कहे कि उच्चारण के पहले शब्द विद्यमान है किन्तु उस पर आवरण रहने से पहले उपलब्ध नही होता ? सो यह कथन असत् है। उस शब्द को

त्प्राग्विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिः तदावरणानुपलब्धेः, उत्पत्तेः प्राग्घटादेरिव। यस्य तु दर्शनात् प्राग्विद्यमानस्यानुपलब्धिस्तस्य नावरणानुपलब्धिः, यथा भूम्याद्यावृतस्योदकादेः, आवरणानुपलब्धिश्च श्रवणात्प्राक् शब्दस्य।' इत्युक्ते परः प्राह-तस्य शब्दस्यानुपलब्धेरप्यनुपलम्भादभावसिद्धौ सत्यां शब्दस्याभावविपरीतत्वेन भावस्योपपत्तेरनुपलब्धिसमा जातिः।

अस्याश्च दूषणाभासत्वम्; अनुपलब्धेरनुपलब्धिस्वभावतयोपलब्धिविषयत्वात्। यथैव ह्युपलब्धिरुपलब्धेर्विषयस्तथानुपलब्धिरपि। कथमन्यथा 'अस्ति मे घटोपलब्धिः तदनुपलब्धिस्तु नास्ति' इति संवेदनमुपपद्यते?

"साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमा जातिः।" [न्यायसू० ५।१।३३]

आवृत्त करने वाले आवरण की अनुपलब्धि है, अर्थात् शब्द का आवरण असिद्ध है, इसलिये शब्द विद्यमान है केवल उच्चारण के पूर्व अनुपलब्ध है ऐसा कहना नहीं बनता। जिस विद्यमान वस्तु की देखने के पूर्व अनुपलब्धि होती है उसके आवरण की अनुपलब्धि नहीं हुआ करती, अर्थात् उसका आवरण उपलब्ध ही होता है, जैसे भूमि आदि से आवृत्त जल आदि है तो जल के देखने के पूर्व उसके आवरणस्वरूप भूमि आदि उपलब्ध ही रहते हैं, अनुपलब्ध नहीं। किंतु शब्द के आवरण की तो सुनने के पूर्व अनुपलब्धि ही रहती है। इसप्रकार वादी के कह चुकने पर प्रतिवादी उसमें दूषण उठाते हुए कहता है कि शब्द के अनुपलब्धि की भी अनुपलब्धि है अतः उस अनुपलब्धि का तो अभाव सिद्ध होता है और इसतरह अनुपलब्धि की अनुपलब्धि होने से शब्द के अभाव का विपरीत धर्म जो भाव [सद्भाव] है उसकी सिद्धि होती है। इसप्रकार अनुपलब्धिसमा जाति का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है।

उपर्युक्त जाति भी दूषणाभास है, क्योंकि अनुपलब्धि की अनुपलब्धि स्वभाव से उपलब्धि हुआ ही करती है अर्थात् अनुपलब्धि तो अनुपलब्धि स्वभाव का विषय है वह उस रूप से प्रतीत होती ही है, जैसे कि उपलब्धि का विषय उपलब्धि है। अन्यथा मेरे को घटकी उपलब्धि है उसकी अनुपलब्धि तो नहीं है इसतरह का संवेदन कैसा होता है?

अनित्यसमा जाति–साधर्म्य से तुल्य धर्म की प्राप्ति अर्थात् अनित्यत्व की प्राप्ति होने से सबको अनित्यपने का प्रसंग दिखाना अनित्यसमा जाति है। जैसे शब्द

यथा 'अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवत्' इत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–यदि शब्दस्य घटेन साधर्म्यं कृतकत्वादिनाऽनित्यत्वं साधयेत्, तदा सर्वं वस्त्वनित्यं प्रसज्येत घटादिनाऽनित्येन सत्त्वेन कृत्वा साधर्म्यमात्रस्य सर्वत्राऽविशेषात् ।

तस्याश्च दूषणाभासत्वम्; प्रतिषेधकस्याप्यसिद्धिप्रसङ्गात् । पक्षो हि प्रतिषेध्यः प्रतिषेधकस्तु प्रतिपक्षः । तयोश्च साधर्म्यं प्रतिज्ञादियोगः तेन विना तयोरसम्भवात् । ततः प्रतिज्ञादियोगाद्यथापक्षस्या सिद्धिस्तथा प्रतिपक्षस्यापि । अथ सत्यपि साधर्म्ये पक्षप्रतिपक्षयोः पक्षस्यैवासिद्धिर्न प्रतिपक्षस्य; तर्हि घटेन साध्यम्यात्कृतकत्वाच्छब्दस्याऽनित्यतास्तु, सकलार्थाना त्वनित्यता तेन साधर्म्यमात्रात् मा भूदिति ।

अनित्य है, किया हुआ होने से, घट के समान । इसतरह वादी के कहने पर प्रतिवादी दोष देता है–यदि शब्द का घटके साथ कृतकत्वादि से साधर्म्य होने से अनित्यपना सिद्ध किया जाता है तो सभी वस्तु अनित्य सिद्ध होगी क्योंकि अनित्य घट आदि के साथ सत्त्व धर्म द्वारा साधर्म्य तो सर्वत्र सर्व वस्तुओ में समान रूप से पाया जाता है ।

इस जाति का निराकरण करते हैं कि यह केवल दूषणाभास है, क्योंकि इस तरह तो प्रतिषेधक अर्थात् प्रतिषेध करने वाला जो प्रतिपक्ष है उसका भी अभाव होगा । देखिये, पक्ष तो प्रतिषेध्य [निषेध योग्य] हुआ करता है और प्रतिषेधक प्रतिपक्ष होता है, इन दोनों में [प्रतिषेध्य–प्रतिषेधक या पक्ष प्रतिपक्ष में] प्रतिज्ञा हेतु आदि का होना रूप साधर्म्य रहता ही है, उसके बिना पक्ष प्रतिपक्ष संभव ही नहीं । तिसकारण जैसे प्रतिवादी के कथनानुसार प्रतिज्ञा आदि युक्त पक्ष की असिद्धि हो रही है, वैसे प्रतिवादो के प्रतिपक्ष की भी असिद्धि हो जाओ ? क्योंकि प्रतिज्ञादिरूप साधर्म्य दोनों में है एक की असिद्धि होने पर दूसरे की असिद्धि होगी ही । यदि प्रतिवादी द्वारा कहा जाय कि पक्ष और प्रतिपक्ष में साधर्म्य अवश्य है किन्तु पक्ष की ही असिद्धि है प्रतिपक्ष की नही । प्रतिवादी के इस मतव्य पर हम कहते हैं कि उसीप्रकार घट के साथ साधर्म्य को प्राप्त हुए कृतकत्व हेतु से शब्द की अनित्यता तो सिद्ध होवे किन्तु केवल सत्त्व द्वारा साधर्म्य होने से सब पदार्थों में अनित्यपना मत होवे । यही न्याय मार्ग है ।

"शब्दाऽनित्यत्वोक्तौ नित्यत्वप्रत्यवस्थितिर्नित्यसमा जातिः ।" [न्यायसू० ५।१।३५ ?] तद्यथा—'अनित्यः शब्दः' इत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–शब्दाश्रयमनित्यत्वं किं नित्यम्, अनित्यं वा ? यदि नित्यम्; तर्हि शब्दोपि नित्यः स्यात्, अन्यथास्य तदाधारत्वं न स्यात् । अथानित्यम्; तथाप्ययमेव दोषः–अनित्यत्वस्याऽनित्यत्वे हि शब्दस्य नित्यत्वमेव स्यात् ।

दूषणाभासत्वं चास्याः, प्रकृतसाधनाऽप्रतिबन्धित्वात् । प्रादुर्भूतस्य हि पदार्थस्य प्रध्वंसोऽनित्यत्वमुच्यते, तस्य प्रतिज्ञाने प्रतिषेधविरोधः । स्वयं तदप्रतिज्ञाने च प्रतिषेधो निराश्रयः स्यात् ।

नित्यसमा जाति–शब्द के अनित्यत्व को सिद्ध करने पर प्रतिवादी द्वारा उक्त पक्ष के अनित्य धर्म में नित्यत्व का प्रसंग लाना नित्यसमा जाति है । जैसे शब्द अनित्य है ऐसा कहने पर प्रतिवादी उलाहना देता है कि शब्द के आश्रय रहने वाला यह अनित्यधर्म क्या नित्य है अथवा अनित्य ? अर्थात् शब्दरूप पक्ष में साध्यरूप अनित्य-धर्म सदावस्थित है अथवा कादाचित्क है ? यदि उक्त धर्म नित्य है तो शब्द भी नित्य सिद्ध होगा, अन्यथा वह उस धर्म का आधार हो नहीं सकता । भावार्थ यह हुआ कि शब्द में अनित्यपन सदा तीनों काल ठहरा हुआ मानोगे तब तो उस अनित्यपने का आधार शब्द भी नित्य हो जायेगा, अपने धर्म को सदाकाल नित्य ठहराने वाला धर्मी नित्य होना ही चाहिए, यदि शब्द को कुछ काल तक ठहरने वाला माने तो सदा ठहरने वाला अनित्यत्व धर्म भला किसके आधार स्थित होगा । दूसरा पक्ष–शब्द के आश्रय रहने वाले अनित्यत्व धर्म को अनित्य माना जाय तो उसमे भी यही दोष है, अर्थात् शब्द में अनित्यत्व धर्म कभी कभी रहता है तो जब वह धर्म न रहेगा तब शब्द में नित्यत्व आ धमकेगा ।

यह नित्यसमा जाति भी दूषणाभास है क्योंकि यह प्रकृत साधन का प्रति-बंधक नहीं है । इसीको बतलाते हैं–प्रादुर्भूत पदार्थ के नाश होने को अनित्यत्व कहते हैं, जब प्रकृत अनुमान में अनित्यत्व साध्यरूप स्वीकार कर लिया है तब उसका प्रतिषेध विरुद्ध पड़ता है, और यदि स्वयं ने उसको स्वीकृत नहीं किया हो तो उसका प्रतिषेध निराश्रय है, मतलब यह है कि वादी ने शब्द अनित्य है ऐसा प्रतिज्ञा वाक्य कहा इस पर प्रतिवादी ने जब यह प्रश्न किया कि इस अनित्यत्व साध्यका आश्रय नित्य है या अनित्य ? तब निश्चित होता है कि इसने प्रतिज्ञा को स्वीकार किया है, इस प्रकार प्रतिज्ञा स्वीकृत होने पर उसीका पुनः निषेध तो विरुद्ध ही है । तथा कदाचित्

तन्नानित्यता शब्दे नित्यत्वप्रत्यवस्थितेर्निराकर्तुं शक्येति ।

"प्रयत्नानेककार्यत्वात्कार्यसमा जातिः ।" [न्यायसू० ५।१।३७] यथा 'अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' इत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–प्रयत्नानन्तरं घटादीनां प्रागऽसतामात्मलाभोपि प्रतीतः, आवारकापनयनात् प्राक्सतामेवाभिव्यक्तिश्च । तत्कथमतः शब्दस्यानित्यतेति ?

दूषणाभासता चास्याः; प्रकृतसाधनाप्रतिबन्धित्वादेव । शब्दस्य हि प्रागसतः स्वरूपलाभलक्षणं जन्मैव प्रयत्नानन्तरीयकत्वमुपपद्यते प्रागनुपलब्धिनिमित्तस्याभावेप्यनुपलब्धितः सत्त्वासम्भवादिति ।

प्रतिवादी शब्द के इस अनित्यत्व को स्वीकार नहीं करता तो अनित्य का निषेध आश्रय रहित हो जायगा, अर्थात् "शब्द अनित्य है" इस प्रतिज्ञा को नहीं मानने पर ये विकल्प किसके आधार पर उठाये जायेंगे कि शब्द में रहने वाला अनित्य धर्म नित्य है अथवा अनित्य है ? इसलिये शब्द के अनित्यपने का निराकरण नित्यत्वरूप उलाहना द्वारा करना शक्य नहीं है ।

कार्यसमाजाति–प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने वाले कार्य अनेक तरह के होते हैं इसतरह कहकर वादी के प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु में दोष देना कार्यसमाजाति है । जैसे वादी ने अनुमान कहा–"शब्द अनित्य है प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से" इस पर प्रतिवादी कटाक्ष करता है कि एक प्रयत्नानन्तरीयकत्व वह है जो प्रयत्न के पहले घटादि की तरह असत् रहता है और प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता है तथा दूसरा प्रयत्नानन्तरीयकत्व वह है जो आवरण को हटाने के पहले सत् ही रहता है और अनन्तर अभिव्यक्त होता है । इसतरह प्रयत्नानन्तरीयकत्व से शब्द की अनित्यता कैसे सिद्ध हो सकती है ? अर्थात् प्रयत्न के अनन्तर होना तो सत्त्वभूत पदार्थ का भी होता है और असत्त्वभूत पदार्थ का भी होता है अतः इसके द्वारा अनित्यपना सिद्ध नहीं होवेगा ।

यह कार्यसमाजाति दोष भी दोषाभास है, यह भी प्रकृत साधन का प्रतिबंधक नहीं है । शब्द पहले असत् रहता है और प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता है इसलिये इस शब्द के ही प्रयत्नानंतरीयकत्व सुघटित होगा । शब्द उत्पन्न होने के पहले अनुपलब्ध रहता है उसका कारण शब्द को आवृत्त करने वाला आवरण [आवारक

तदेतद्यौगकल्पितं जातीनां सामान्यविशेषलक्षणप्रणयनमयुक्तमेव; साधनाभासेपि साधर्म्यादिना प्रत्यवस्थानस्य जातित्वप्रसङ्गात्। तथेष्टत्वान्न दोष:; तथा हि-असाधौ साधने प्रयुक्ते यो जातीनां प्रयोग: सोनभिज्ञतया वा साधनदोषस्य स्यात्, तद्दोषप्रदर्शनार्थं वा प्रसङ्गव्याजेन; इत्यप्यसमीचीनम्; साधनाभासप्रयोगे जातिप्रयोगस्य उद्योतकरेण निराकरणात्।

जातिवादी च साधनाभासमेतदिति प्रतिपद्यते वा, न वा? यदि प्रतिपद्यते; तर्हि य एवास्य साधना भासत्वं हेतुदोषोऽनेन प्रतिपन्न: स एव वक्तव्यो न जाति:, प्रयोजनाभावात्। प्रसङ्गव्याजेन दोषप्रदर्शनार्थं सा; इत्यप्ययुक्तम्; अनर्थसंशयात्। यदि हि परप्रयुक्तायां जातौ साधनाभासवादी

वायु] है उसके अभाव होने पर भी यदि शब्द की अनुपलब्धि मानी जाय तो फिर शब्द का कभी सद्भाव ही नहीं होगा।

यह नैयायिक और वैशेषिक द्वारा प्रतिपादित जातियों का लक्षण अयुक्त है, इसतरह दोष उपस्थित करना तो साधनाभास [हेत्वाभास] में भी है उसमें भी साधर्म्यादि द्वारा दोष दिया जाता है इसलिये साधनाभास को भी जातिपने का प्रसंग आयेगा।

नैयायिक-वैशेपिक-साधनाभास को जाति कहना इष्ट है अत: कोई आपत्ति नही। इसीको दिखाते है-वादी द्वारा असत् हेतु का प्रयोग करने पर प्रतिवादी जो जातियों का प्रयोग करता है वह हेतु के दोष का ज्ञान न होने से करता है। अथवा उक्त हेतु के दोष दिखाने के लिये जातियों का प्रयोग करता है, या कोई प्रसंग के छल से जाति प्रयोग करता है।

जैन—यह कथन असमीचीन है। आपके यहां उद्योतकर ग्रन्थकार ने साधनाभास के प्रयुक्त होने पर जाति का प्रयोग करना निषिद्ध किया है।

दूसरी बात यह है कि जातिवादो पूर्व पक्ष रखने वाले वादी के हेतु को "यह हेत्वाभास है" ऐसा जानता है या नही जानता? यदि जानता है तो इस वादी के हेतु में जो असिद्धादि हेतु इसके द्वारा ज्ञात हुआ है उसी दोष को देना चाहिए, जाति दोष को नहीं, जाति दोष उपस्थित करने में कोई प्रयोजन ही नहीं।

यौग—कोई प्रसंग देख छल से दोष का प्रदर्शन करने के लिये जाति का प्रयोग होता है।

स्वप्रयुक्तसाधनदोषं पश्यन् सभायामेवं ब्रूयात् 'मया प्रयुक्ते साधनेऽयं दोषः स चानेन नोद्भावितः, जातिस्तु प्रयुक्ता' इति तदा तावज्जातिवादिनो न जयः प्रयोजनम्; उभयोरज्ञानसिद्धेः। नापि साम्यम्; सर्वथा जयस्यासम्भवे तस्याभिप्रेतत्वात् "ऐकान्तिकं पराजयाद्वरं सन्देहः" [ ] इत्यभिधानात्। तदप्रयोगेपि चैतत्समानम्-पूर्वपक्षवादिनो हि साधनाभासाभिधाने प्रतिवादिनश्च तूष्णींभावे यत्किञ्चिदभिधाने वा द्वयोरज्ञानप्रसिद्धितः प्राश्निकैः साम्यव्यवस्थापनात्। यदा च साधनाभासवादी स्वसाधने दोषं प्रच्छाद्य परप्रयुक्तां जातिमेवोद्भावयति तदा न तद्वादिनो जयः साम्यं वा प्रयोजनम्; पराजयस्यैव सम्भवात्।

जैन—यह भी अयुक्त है। क्योंकि इसतरह से दोष में संशय बना रहेगा, इसीको बताते हैं-प्रतिवादी द्वारा जाति का प्रयोग करने पर यदि हेत्वाभास वाले अनुमान को कहने वाला वादी अपने हेतु के दोष को देखकर सभा मे ही कह बैठे कि मेरे द्वारा प्रयुक्त हेतु में यह दोष है प्रतिवादी ने उसको प्रगट नही किया और जाति का प्रयोग किया इसप्रकार का प्रसंग आवे तो इसमें जाति प्रयोग वाले प्रतिवादी का जय होना रूप प्रयोजन सधता नहीं, क्योंकि ऐसे प्रसग मे वादी प्रतिवादी दोनों का अज्ञान ही सिद्ध होता है। ऐसे प्रसंग में दोनों का [वादी प्रतिवादी का] साम्य भी स्वीकृत नहीं होता, क्योंकि सर्वथा जय का असम्भव हो जाय तो दोनो मे साम्य [समानता] माना जाता है। सर्वथा पराजय होने की अपेक्षा सदेह रहना श्रेष्ठ है, अर्थात् वादी प्रतिवादी में से एक की सर्वथा हार होने को अपेक्षा दोनों के पक्ष प्रतिपक्षों में सदेह रहना कुछ ठीक है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि प्रतिवादी जाति का प्रयोग न करे तो भी यही उपर्युक्त बात आती है अर्थात् सर्वथा जय किसी का नही होता, इसका विवरण-पूर्व में पक्ष स्थापित करने वाले वादी ने हेत्वाभास कहा और इस पर प्रतिवादी मौन रहा अथवा जो चाहे बकवासरूप कहा तो इसमें दोनों को [वादी-प्रतिवादी को] अज्ञानता सिद्ध होती है, और प्राश्निक पुरुष [प्रश्नकर्त्ता मध्यस्थ सभ्यजन] दोनों में समानता स्थापित कर देते हैं। कदाचित् हेत्वाभास कहने वाला वादी अपने हेतु के दोष छिपाकर प्रतिवादी द्वारा प्रयुक्त जाति को ही प्रगट करता है तब इससे वादी का जय होना या दोनों के कथन में समानता होना रूप प्रयोजन नहीं सधता, ऐसे पराजय का प्रसंग आयेगा।

अथ साधनाभासमेतदित्यप्रतिपाद्य जातिं प्रयुङ्क्ते; तथाप्यफलस्तत्प्रयोगः प्रोक्तदोषानुषङ्गात्। सम्यक्साधने तु प्रयुक्ते तत्प्रयोगः पराजयायैव। अथ तूष्णींभावे पराजयोऽवश्यंभावी, तत्प्रयोगे तु कदाचिदसदुत्तरेणापि निरुत्तरः स्यात् इत्यैकान्तिकपराजयाद्वरं सन्देह इत्यसौ युक्त एवेति चेत्; न; तथाप्यैकान्तिकपराजयस्यानिवार्यत्वात्। यथैव ह्युत्तरपक्षवादिनस्तूष्णींभावे सत्युत्तराऽप्रतिपत्त्या पराजयः प्राश्निकैर्व्यवस्थाप्यते तथा जातिप्रयोगेप्युत्तराप्रतिपत्तेरविशेषात्, तत्प्रयोगस्यासदुत्तरत्वेनानुत्तरत्वात्।

ननु चास्य पराजयस्तैर्व्यवस्थाप्येत यद्युत्तराभासत्वं पूर्वपक्षवाद्युद्भावयेत्, अन्यथा पर्यनुयो-

---

योग—वादी ने हेत्वाभास कहा है, उसमें यह तुम्हारा हेतु असत् है अमुक हेत्वाभास है ऐसा न बतलाकर जाति का प्रयोग प्रतिवादी करे तो भी वादी का हेत्वाभास कहना निष्फल ही है, क्योंकि पराजय का प्रसंग रूप उक्त दोष इसमें भी आता है। तथा यदि वादी सत् हेतु का प्रयोग करता है तो प्रतिवादी द्वारा प्रयुक्त जाति प्रतिवादी के पराजय ही कारण होगी। बात यह है कि वादी चाहे सम्यक् हेतु कहे चाह असम्यक्, इसमें प्रतिवादी सर्वथा यदि मौन रहेगा तो उसका पराजय अवश्य हो जायगा, किन्तु यदि प्रतिवादी जाति का प्रयोग करता है तो कदाचित् उस असत् उत्तर द्वारा वादी निरुत्तर होना संभव है, इस रहस्य को ज्ञातकर अथवा बिना ज्ञात किये प्रतिवादी जाति दोष कहता है। "सर्वथा पराजय से संदेह रहना श्रेष्ठ है" इस उक्ति के अनुसार जाति का प्रयोग करना युक्त ही है।

जैन—यह बात ठीक नहीं है, जाति का प्रयोग करने पर भी आगे जाकर प्रतिवादी का सर्वथा पराजय होने का प्रसंग आता है। प्रतिवादी मौन रहने पर जिस प्रकार प्राश्निक पुरुष "प्रतिवादी उत्तर देना अर्थात् समाधान देना जान नहीं रहा है" ऐसा समझकर उसके पराजय की घोषणा करते हैं, वैसे प्रतिवादी के जाति प्रयोग करने पर भी पराजय की घोषणा करते हैं, क्योंकि जाति प्रयोग करने पर भी प्राश्निक जन निश्चय कर लेते हैं कि प्रतिवादी उत्तर को जानता नहीं, जाति प्रयोग द्वारा उत्तर देना तो असत् उत्तर ही है, समीचीन उत्तर नहीं है।

योग—प्राश्निक पुरुषों द्वारा प्रतिवादी के पराजय की व्यवस्था तब सम्भव है जब वादी स्वयं प्रतिवादी के असत् उत्तर को प्रकाशित करे, अन्यथा "तुम प्रतिवादी

ज्योपेक्षणात्तस्यैव पराजयः स्यात् । नन्वेवमुत्तराभासस्योत्तरपक्षवादिनोपन्यासेपि अपरस्योद्भावनश-क्त्यशक्त्यपेक्षया जयपराजयव्यवस्थायामनवस्था स्यात् । न खलु जातिवादिवदस्यापि तूष्णींभावः सम्भवति, सम्यगुत्तराप्रतिपत्तावपि उत्तराभासस्योपन्याससम्भवात् । ततश्चोपन्यस्तजातिस्वरूपस्यतो-ऽन्यस्य चोद्भावनेपि उत्तरपक्षवादिनस्तत्परिहारे शक्तिमशक्तिं चापेक्ष्यैव पूर्वपक्षवादिनो जयः पराजयो वा व्यवस्थाप्येत जातिवादिन इवेतरस्योद्भावनशक्त्यशक्त्यपेक्ष इति । जातिलक्षणासदुत्तरप्रयोगादेव तत्परिहाराशक्तिनिश्चयात् पुनरुपन्यासवैफल्ये सत्साधनाभिधानादेवोत्तराभासत्वोद्भावनशक्तेरध्यव-सायाद् इतरस्यापि कथं तद्वैफल्यं न स्यात् ? सत्साधनाभिधानात्तदभिधानसामर्थ्यमेवास्यावसीयते न

ने जाति का प्रयोग किया है" इसप्रकार के प्रश्न की उपेक्षा कर देने के कारण वादी का ही पराजय होवेगा ।

जैन—प्रतिवादी द्वारा उत्तराभास [असत् उत्तर] स्वरूप जाति के करने पर भी यदि वादी उस दोष को प्रकाशित करने की शक्ति रखता है तो जय और उक्त शक्ति नहीं रखता तो पराजय इसतरह की जय पराजय की व्यवस्था करने पर तो अनवस्था होगी । जाति को कहने वाले प्रतिवादी के समान वादी भी मौन रह सकता है, तथा वादी सम्यक् उत्तर को नहीं जाने तो उत्तराभास असत्व उत्तर को भी दे सकता है । तिस कारण से अन्य के उपस्थित किये गये जाति स्वरूप का उद्भावन करने पर भी प्राश्निकजन प्रतिवादी द्वारा उसका परिहार किये जाने की शक्ति है या नहीं है इसप्रकार की अपेक्षा लेकर ही वादी के जय या पराजय की व्यवस्था कर सकेंगे ? क्योंकि जैसे पहले जाति का प्रयोग करने वाले प्रतिवादी की शक्ति अथवा अशक्ति देखी गयी थी वैसे वादी के भी उक्त दोष को प्रगट करने की शक्ति या अशक्ति अपेक्षित होगी ही ।

यदि कहा जाय कि प्रतिवादी द्वारा जाति लक्षण स्वरूप असत् उत्तर के प्रयोग से ही निश्चित होता है कि प्रतिवादी मे वादी का परिहार अथवा वादी द्वारा प्रयुक्त हेतु का परिहार करने की शक्ति नही है, अतः वादी द्वारा पुनः असत् उत्तररूप जाति प्रयोग करना व्यर्थ है ? तो फिर वादी द्वारा वास्तविक हेतु के करने से ही निश्चित होता है कि यह वादी प्रतिवादी के असत् उत्तर रूप दोष को प्रकाशित कर सकता है, इसतरह उसके शक्ति का निश्चय होने से प्रतिवादी का जाति प्रयोग किस प्रकार निष्फल या व्यर्थ नही होगा ? अवश्य ही होगा ।

परोपन्यस्तजात्युद्भावनसामर्थ्यम्; तर्हि जातिप्रयोगेप्युत्तराभासवादिनः सम्यगुत्तराभिधानासामर्थ्यमेवावसीयेत न परोद्भावितजातिपरिहारासामर्थ्यम्। ननु सदुत्तराभिधानासामर्थ्यादेव तत्परिहारासामर्थ्यनिश्चयः, तत्सद्भावे हि न सदुत्तराभिधानासामर्थ्यं स्यात्; एवं तर्हि सत्साधनाभिधानसामर्थ्यादेवास्य परोपन्यस्तजात्युद्भावनशक्त्यवसायोस्तु, तदभावे तदभिधानसामर्थ्यायोगात्। सत्साधनाभिधानसमर्थस्यापि कदाचिदऽसदुत्तरेण व्यामोहसम्भवान्न तदुद्भावनसार्थ्यमवश्यंभावीति चेत्; तर्हि जातिवादिनः सदुत्तराभिधानासमर्थस्यापि स्वोपन्यस्तपरोद्भावितोत्तराभासपरिहारसामर्थ्यसम्भवात्पुनरुपन्यासश्च-

---

यौग—वादी निर्दोष हेतु कहता है तो उससे इतना ही ज्ञात होता है कि यह निर्दोष हेतु प्रयोग की सामर्थ्य रखता है, किंतु प्रतिवादी द्वारा प्रयुक्त जाति को प्रकाशित कर सकता है या नही कर सकता इस सामर्थ्य का ज्ञान तो नही हो सकता ?

जैन—तो फिर, प्रतिवादी द्वारा जाति प्रयोग करने पर इतना ही ज्ञात होता है कि यह सम्यक् उत्तर देने में समर्थ नहीं है, किंतु इससे यह तो ज्ञात नहीं होगा कि वादो उक्त जाति का परिहार करने की सामर्थ्य रखता है या नही।

यौग—जाति दोष के परिहार के असमर्थपने का निश्चय तो सत् उत्तर के कथन नही करने से ही हो जायगा, क्योंकि दोष परिहार की शक्ति रहने पर सत् उत्तर के कथन करने की असमर्थता रह नहीं सकती ?

जैन—अच्छा तो सत् हेतु के कथन की सामर्थ्य से इस वादी के अंदर प्रतिवादी द्वारा कही जाने वाली जाति को प्रगट करने का सामर्थ्य सिद्ध हो जाओ, क्योंकि इस सामर्थ्य के बिना वादी सत् हेतु के कथन का सामर्थ्य रख नही सकता।

यौग—वादी सत् हेतु प्रयोग का सामर्थ्य भले ही रखता हो तो भी कदाचित् प्रतिवादी के असत् उत्तर से व्यामोह को प्राप्त हो सकता है, इसलिये वादी मे उक्त जाति को प्रकाशित करने का सामर्थ्य होना अवश्यंभावी नही है।

जैन—तो फिर सत् उत्तर के कथन का असामर्थ्य रखने वाले जाति प्रयोक्ता पुरुष के भी अपने कहे हुए जाति में पर जो वादी है उसके द्वारा उक्त उत्तराभास का परिहार का सामर्थ्य संभव होने से चतुर्थ जाति की उपस्थिति अपेक्षित होगी। पुनश्च

तुर्योऽप्यक्षीणः स्यात् । साधनवादिनोपि तत्परिहारनिराकरणाय पञ्चमः । पुनर्जातिवादिनस्तन्निराकरणयोग्यताबबोधार्थं षष्ठ इत्यनवस्थानं स्यात् ।

ननु नायं दोषः पर्यनुयोज्योपेक्षणस्य प्रतिवादिनाऽनुद्भावनात्, 'कस्य पराजयः' इत्यनुयुक्ताः प्राश्निका एव हि पूर्वपक्षवादिनः पर्यनुयोज्योपेक्षणमुद्भावयन्ति । न खलु निग्रहप्राप्तो जातिवादी स्वं कौपीन विवृणुयात् । तर्हि जात्यादिप्रयोगमपि त एवोद्भावयन्तु न पुनः पूर्वपक्षवादी । पर्यनुयोज्योपेक्षणं ते पूर्वपक्षवादिन एवोद्भावयन्ति न जात्यादिवादिनो जात्यादिप्रयोगमिति महामाध्यस्थ्यं तेषां येनैकस्य दोषमुद्भावयन्ति नापरस्येति । ततः पूर्वपक्षवादिनं तूष्णींभावादिकमारचयन्तमुत्तराप्रतिपत्तिमुद्भावयन्नेव जातिवादी निगृह्णातीत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

सत् हेतु प्रयोक्ता वादी को भी उसके परिहार का निराकरण करने के लिये पंचम का उपन्यास करना होगा । फिर जाति वादी जो प्रतिवादी है उसमें उक्त दोष के निराकरण करने की योग्यता जानने के लिये छठी जाति कहनी होगी, इसप्रकार अनवस्था होती चली जायगी ।

यौग—यह अनवस्था दोष नहीं आता, पर्यनुयोज्य उपेक्षण अर्थात् प्रश्न या शंका का प्रसंग होने पर भी उसको न उठाना उपेक्षा करना पराजय का अवसर है, इस पर्यनुयोज्य उपेक्षण का प्रतिवादी द्वारा उद्भावित नहीं किया जाता, किंतु "किसका पराजय हुआ" इसप्रकार सभ्य प्राश्निकको पूछने पर वे पूर्व में पक्ष स्थापित करने वाले वादी के इस पर्यनुयोज्य उपेक्षण को प्रगट करते हैं । जाति का प्रयोक्ता स्वयं तो अपने गुह्यांग को नहीं खोलेगा ? अर्थात् मैंने असत् उत्तररूप जाति का प्रयोग किया है तुमने क्यो नहीं प्रगट किया, ऐसा तो कोई कह नहीं सकता ।

जैन—ऐसी बात है तो प्राश्निक पुरुष प्रतिवादी के जाति दोष आदि प्रयोग को प्रगट करें, वादो को इसको प्रगट नहीं करना चाहिए । प्राश्निक जन वादी के प्रश्न करने योग्य प्रसंग की उपेक्षा करना रूप पर्यनुयोज्य उपेक्षण का उद्भावन करें, और जाति प्रयोक्ता प्रतिवादी के जाति आदि प्रयोग का उद्भावन नहीं करे, ऐसा तो उनका यह कोई महामाध्यस्थ होगा, जिससे कि वे एक के दोष को तो प्रकट करे और दूसरे के दोष को न करे । अर्थात् मध्यस्थ प्राश्निक ऐसा नहीं कर सकते, वे तो जो भी सभा में असत् प्रलाप करेगा उसी का दोषोद्भावन कर देंगे । अतः प्राश्निक जनों

तत्रापि कथम्भूतेनोत्तराप्रतिपत्त्युद्भावनेनासौ विजयते ? किं स्वोपन्यस्तजात्यपरिज्ञानोद्भावनरूपेण, परोद्भावितजात्यन्तरनिराकरणलक्षणेन चो (वा, उ)त्तराप्रतिपत्तिमात्रोद्भावनाऽऽकारेण वा ? तत्राद्यविकल्पे 'अपकर्षसमाऽन्या वा जातिर्मया प्रयुक्तापि न ज्ञातानेन' इत्येवं स्वोपन्यस्तजात्यपरिज्ञानमुद्भावयन्नात्मनः सम्यगुत्तराप्रतिपत्तिमसम्बद्धाभिधायित्वं परकीयसाधनसम्यक्त्वं चोद्भावयतीति जात्युपन्यासवैयर्थ्यम्, अवश्यम्भावित्वात्पराजयस्य। परेणाविज्ञातमात्मनो दोषं स्वयमुद्भावयन्नपि न पराजयमास्कन्दतीति चेत्; परेणाविज्ञातः स दोष इति कुतोऽवसितम् ? तूष्णीभावादन्यस्य चोद्भावनादिति चेत्; न; वादविस्तरपरिहारार्थत्वात्तस्य। स्ववाग्यन्त्रिता हि वादिनो न विचलिष्यन्तीति

के नियम से माध्यस्थ रहता है ऐसा स्वीकार करने वाले आप यौग को मौन आदि का आचरण करने वाले वादी का प्रतिवादी द्वारा "यह उत्तर देने का ज्ञान नहीं रखता" इसप्रकार उद्भावन कर निग्रह होता है ऐसा मान्य करना होगा। उसमें भी यह बात है कि जाति प्रयोक्ता प्रतिवादी जो वादी का निग्रह करता है अर्थात् पराजय करता है वह किसप्रकार के उत्तर अप्रतिपत्ति के उद्भावन से विजयी होता है ? अपने द्वारा उपस्थित की गयी जाति का अपरिज्ञान देखकर "इस वादी को जाति का ज्ञान नहीं" इसप्रकार दोषोद्भावन करके विजयी होता है, किंवा वादी द्वारा उपस्थित की गयी जाति विशेष का निराकरण कर विजयी होता है। अथवा "वादी उत्तर देना जानता नहीं" इतने दोषोद्भावन मात्र से विजयी होता है ? प्रथम विकल्प माने तो मैंने अपकर्षसमा या अन्य जाति का प्रयोग किया तो भी इस वादी ने जाना नहीं। ऐसा अपने उपस्थित किये जाति के अपरिज्ञान का उद्भावन प्रतिवादी यदि करता है तो स्वमुख से ही सम्यग् उत्तर का अज्ञानरूप असम्बद्ध कथन को प्रगट कर रहा है एवं पर जो वादी है उसके हेतु के समीचीनता को प्रगट कर रहा है। इसतरह प्रथम ही स्वमुख से बकवास करने पर तो जाति की उपस्थिति व्यर्थ है, क्योंकि इसमें पराजय होना अवश्यंभावी है।

यौग—वादी द्वारा अज्ञात ऐसे अपने दोष को स्वयं प्रतिवादी यदि प्रगट कर देवे तो भी प्रतिवादी पराजय को प्राप्त नहीं होता।

जैन—वादी वह दोष नहीं जानता इस बात का निश्चय किससे होगा ?

यौग—वादी के मौन रहने से या अन्य ही किसी बात को कहने से निश्चय होता है कि इसने उक्त दोष नहीं जाना।

स्वयमुद्भावनीयं दोषं परेणोद्भावयितुं तूष्णींभावोऽन्यस्य चोद्भावनं नाज्ञानात्। स्वयमुद्भाविते हि दोषे जात्यादिवादी तत्परिहारार्थं किञ्चिदन्यद्ब्रूयादिति न वादावसानं स्यात्। परस्याऽज्ञानमाहात्म्यख्यापनार्थं वा; पश्यतैवंविधमस्याज्ञानमाहात्म्यं येन स्वयमेव स्वदोषकलापमस्मत्साधनस्य सम्यक्त्वं चोद्भावयतीति। एवं साध्येन पूर्वपक्षवादिना प्रत्यवस्थिते किमत्र जातिवादी ब्रूयात्–'जातिर्मया प्रयुक्तापि न ज्ञातानेनेति वचनादुत्तरकालमनेनावसितो दोषकलापो न प्राक्, अतोऽज्ञानेनैव प्रतिवादिना तूष्णींभूतमन्यद्वोद्भावितम्' इति। अत्रापि शपथः शरणम्। ननु यदि नाम जानतैव पूर्वपक्षवादिना तूष्णीभूतमन्यद्वोद्भावितं तथापि तेन सदुत्तरानभिधानात्कथं नास्य पराजयः स्यात्? तदेतज्जाति–

जैन—यह बात नहीं है, मौन रहना या अन्य कुछ कहना तो वादी इसलिये करता है कि वाद का अब अधिक विस्तार न हो। क्योंकि स्ववचन का नियंत्रण करने वाले वादीगण होते हैं वे विचलित नहीं होते, अतः स्वयं प्रकट करने योग्य दोष को पर के द्वारा प्रकट कराने के लिये मौन रहते हैं या अन्य बात को कहते हैं, अज्ञान के कारण मौन नहीं रहते। दूसरी बात यह है कि यदि वादी स्वयं उक्त दोष को प्रकट कर लेवे तो भी जाति प्रयोक्ता प्रतिवादी उसका परिहार करने के लिये पुनः कुछ अन्य बोलेगा, और इसतरह वाद का समापन न हो सकेगा। वादी इसलिये भी मौन रहता है कि जिससे सभ्यजनों को प्रतिवादी के अज्ञान माहात्म्य का पता चले, वे वादी अपने मौन द्वारा सभ्यों को यह जतलाया करते है कि देखो इस प्रतिवादी की अज्ञानता, जो अपने मुख से अपने दोष को और मेरे हेतु के वास्तविकपने को प्रगट कर रहा है। इसप्रकार साध्य को प्रथम बार कहने वाले वादी द्वारा प्रतिवादी का अज्ञान प्रकट करने पर उक्त प्रतिवादी क्या बोलेगा "मैंने जाति प्रयोग किया तो भी इसने नहीं जाना" ऐसा जब मैंने स्वयं कहा तब इस वादी ने दोषकलाप जाना, पहले तो कुछ समझा ही नहीं, ऐसा तो प्रतिवादी कहेगा नही, और जब कुछ कहेगा नही तो यही समझा जायगा कि अज्ञान के कारण प्रतिवादी मौन है या अन्य कुछ का कुछ[1] कह रहा है। इसमें भी शपथ शरण है अर्थात् इस तरीके से कुछ निर्णय नही होगा।

यौग—यदि पूर्व पक्षवादी दोष को जानते हुए मौन रहे या अन्य बात कहे, तो इसने सत् उत्तर तो दिया ही नहीं अतः इसका पराजय कैसे नहीं होगा?

---

१. टिप्पण–यहां संस्कृत में पाठ अपूर्ण या अशुद्ध प्रतीत होता है।

वादिनो जात्युपन्यासेपि समानं जातीनां दूषणाभासत्वात् । तस्मान्न स्वोपन्यस्तजात्यपरिज्ञानोद्भावनरूपेणोत्तराऽप्रतिपत्त्युद्भावनेन तूष्णींभूतमन्यद्वोद्भावयन्तमितरं निगृह्णाति ।

द्वितीयविकल्पे स्वोपन्यस्ता जातिः कथं परोद्भावितजात्यन्तररूपा न भवतीति वादिनेतरः प्रतिपाद्यते ? न तावत्स्वोपन्यस्तजातिस्वरूपानुवादेन, यथा नेयमुत्कर्षसमा जातिरपकर्षसमत्वादस्या इति; प्रथमपक्षोदितदोषप्रसङ्गात् । नाप्यनुपलम्भात्; अनुपलम्भमात्रस्याप्रमाणत्वात् । अनुपलम्भविशेषस्यापि स्वोपन्यस्तजातिस्वरूपोपलम्भलक्षणत्वात्, तत्र चोक्तदोषप्रसङ्गात् । तन्न जातिवादी जात्यन्तरमुद्भावयन्तं प्रतिवादिनं तदुद्भावितजात्यन्तरनिराकरणलक्षणेनोत्तराप्रतिपत्त्युद्भावनेन विजयते ।

नाप्युत्तराप्रतिपत्तिमात्रोद्भावनरूपेण; 'त्वया न ज्ञातमुत्तरम्' इत्युत्तराप्रतिपत्तिमात्रोद्भावने

जैन—यह बात तो जाति वादी के द्वारा जाति के उपस्थित करने पर भी समान रूप से होगी, क्योंकि जातियां तो दूषणाभास स्वरूप ही हैं । इसलिये स्व उपन्यस्त जाति का अपरिज्ञान प्रगट करना रूप उत्तर अप्रतिपत्ति के उद्भावन द्वारा मौन से या अन्य कुछ कहते हुए प्रतिवादी का निग्रह नहीं करता है ।

द्वितीय विकल्प-वादी द्वारा उद्भावित की गयी जाति विशेष का निराकरण करने से प्रतिवादो विजयी होता है ऐसा माने तो इसमें प्रश्न उठता है कि अपने द्वारा उपस्थित की गयी जाति पर द्वारा उद्भावित जाति विशेषरूप नहीं होती है ऐसा वादी द्वारा प्रतिवादी को किसप्रकार समझाया जायेगा ? अपने उपन्यस्त जाति का स्वरूप बतलाकर तो समझा नहीं सकता, क्योंकि यह उत्कर्षसमाजाति नहीं है यह तो अपकर्षसमाजातिरूप है, इसतरह यह प्रथमपक्ष में कहा हुआ उत्तर अप्रतिपत्तिरूप दोष ही हुआ । अनुपलभ से भी समझा सकता है क्योंकि अनुपलंभसामान्य अप्रमाणस्वरूप है और अनुपलंभविशेष भी अपनी उपन्यस्ताजाति स्वरूप उपलंभ वाला होने से उसमें वही उत्तर अप्रतिपत्ति दोष का प्रसंग होगा, अतः प्रथम बार जाति का प्रयोग करनेवाला जातिवादी अन्य जातिविशेष के प्रयोक्ता प्रतिवादी को उसके जाति विशेष का निराकरण करनारूप उत्तर अप्रतिपत्ति से जीत नहीं सकता यह निश्चित हुआ ।

तीसरा विकल्प-उत्तर अप्रतिपत्ति मात्र का उद्भावन करके भी विजयी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रतिवादी यदि कहेगा कि तुमने उत्तर को नहीं जाना, तो इस

हि पूर्वपक्षवादिनस्तद्विशेषविषय: प्रश्नोऽवश्यंभावी 'मया तावदुत्तरमुपन्यस्तमेतच्च कथमनुत्तरम्' इति। जातिवादिना चास्योत्तराप्रतिपत्तिर्विशेषेणोद्भावनीया 'मयोपन्यस्ताप्येषा जातिस्त्वया न ज्ञाता जात्यन्तरं चोद्भावितम्' इति। अत्र च प्रागुक्ताशेषदोषानुषङ्ग:। तदेवमुत्तराऽप्रतिपत्त्युद्भावनत्रयेपि जातिवादिन: पराजयस्यैकान्तिकत्वात् 'ऐकान्तिकपराजयाद्वर सन्देह:' इति जानन्नपि जात्यादिकं प्रयुङ्क्ते इत्येतद्वचो नैयायिकस्यानैयायिकतामाविर्भावयेत्। तत: स्वपक्षसिद्धयैव जयस्तदसिद्ध्या तु पराजय:, न तु मिथ्योत्तरलक्षणजातिशतैरपीति।

नापि निग्रहस्थानै:। तेषां हि "विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्"[न्यायसू० १।२।१९]

उत्तर अप्रतिपत्ति मात्र का उद्भावन करने पर पूर्वपक्षवादी उसके विषय में अवश्य ही प्रश्न करेगा कि मैंने तो उत्तर उपस्थित किया है, उसको अनुत्तर कैसे कहते हो ? इसप्रसंग में जातिवादी को तो इसके उत्तर अप्रतिपत्ति का विशेषरूप से उद्भावन करना पड़ेगा कि मैंने यह अमुक जाति उपस्थिति की थी तुमने उसे जाना नहीं और अन्य जाति का उद्भावन किया। इसप्रकार के वार्त्तालाप ने पुनः वही पूर्वोक्त अशेष दोष आते हैं। इसतरह उत्तर अप्रतिपत्ति के उद्भावन करने के तीन तरीके होनेपर भी जातिवादी का सर्वथा पराजय का प्रसंग दिखाई देता है, और "ऐकान्तिक पराजय से संदेहास्पद रहना श्रेष्ठ है" ऐसा जानते हुए भी जाति आदि प्रयोग किया जाना माने तो यह कथन नैयायिक के अनैयायिकपने को ही प्रगट करता है, अर्थात् सर्वथा पराजय का प्रसंग आने की अपेक्षा वाद का विषय संशयित श्रेष्ठ है ऐसा नैयायिक स्वयं स्वीकार करते हैं और सर्वथा पराजय का कारण स्वरूप जाति का प्रयोग भी मान्य करते हैं, यह तो उनके अनैयायिकता [न्याय की अज्ञानता] का द्योतक है।

यहां तक योग विशेष करके नैयायिक द्वारा प्रतिपादित असत् उत्तर स्वरूप चौबीस जातियों का पूर्वपक्ष सहित कथन कर निराकरण कर दिया है। अंत में आचार्य कहते हैं कि उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हुआ कि जाति प्रयोग से जय पराजय व्यवस्था नहीं होती, अतः अपने पक्ष के सिद्धि से ही जय होता है और स्वपक्ष सिद्ध न होने से पराजय होता है। मिथ्या उत्तररूप सैकड़ों जाति द्वारा भी यह व्यवस्था नहीं हो सकती।

नैयायिक द्वारा प्रतिपादित निग्रहस्थानों द्वारा भी जय पराजय की व्यवस्था सम्भव नहीं है। आगे इन्हीका विस्तृत विवेचन करते हैं। उन निग्रहस्थानों का

इति सामान्यलक्षणम् । विपरीता कुत्सिता वा प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिः । अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषयेऽनारम्भः, पक्षमभ्युपगम्य तस्याऽस्थापना, परेण स्थापितस्य वाऽप्रतिषेधः, प्रतिषिद्धस्य चाऽनुद्धार इति । प्रतिज्ञाहान्यादिव्यक्तिगतं तु विशेषलक्षणम् ।

तत्र प्रतिज्ञाहानेस्तावल्लक्षणम्–"प्रतिदृष्टान्तधर्म्य(र्मा)नुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः" [न्यायसू० ५।२।२] "साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थितः प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽनुजानन् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः । यथा 'अनित्यः शब्द एन्द्रियिकत्वाद् घटवत्' इत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–सामान्यमैन्द्रियिकं नित्यं दृष्टम्, कस्मान्न तथा शब्दोपि ? इत्येवं स्वप्रयुक्तस्य हेतोराभासतामवस्यन्नपि कथावसानमकृत्वा प्रतिज्ञात्याग करोति–यद्यैन्द्रियिकं सामान्यं नित्यं कामं घटोपि नित्योऽस्त्विति । न (स) खल्वयं ससाधनस्य दृष्टान्तस्य नित्यत्वं प्रसजन्निगमनान्तमेव पक्षं जहाति । पक्ष च परित्यजन्-

---

सामान्य लक्षण गौतम के न्यायसूत्र में इसप्रकार है–विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति को निग्रहस्थान कहते हैं । विपरीत अथवा कुत्सित प्रतिपत्ति होना [समझ] विप्रतिपत्ति है और जिसका प्रारम्भ करना हो उसका प्रारम्भ न करना अप्रतिपत्ति है, अर्थात् पक्ष को स्वीकार कर उसको उपस्थित नहीं करना या पर के द्वारा स्थापित पक्षका निषेध नहीं करना अथवा पर के द्वारा अपना पक्ष निषिद्ध करने पर उसका पुनः परिहार नहीं करना निग्रहस्थान है, यह निग्रहस्थानों का सामान्य लक्षण हुआ । इन निग्रहस्थानों का प्रतिज्ञाहानि आदि रूप विशेष लक्षण भी प्रतिपादित किया गया है ।

प्रथम प्रतिज्ञाहानि का लक्षण बतलाते हैं–अपने दृष्टांत में प्रतिदृष्टांत [पर के दृष्टांत] के धर्म को स्वीकार करना प्रतिहानि नामका निग्रहस्थान है [साध्यधर्म और धर्मी अर्थात् पक्ष के समुदाय को प्रतिज्ञा कहते हैं उसकी हानि करना प्रतिज्ञाहानि है] जब प्रतिवादी वादी के साध्यधर्म से विपरीत धर्म द्वारा प्रश्न करता है तब वादी प्रतिदृष्टांत के धर्म को अपने दृष्टांत में स्वीकार कर प्रतिज्ञा को छोड़ बैठता है, यही प्रतिज्ञाहानि है । जैसे "शब्द अनित्य है इन्द्रियग्राह्य होने से घट के समान" इस प्रकार वादी के कहने पर प्रतिवादी प्रश्न उपस्थित करता है कि सामान्य नामा पदार्थ इन्द्रियग्राह्य होने पर भी नित्य देखा जाता है, उसप्रकार शब्द भी नित्य क्यों नहीं है ? ऐसा प्रश्न होने पर वादी अपने हेतु के असत्पने को जानते हुए भी वाद को समाप्त न कर प्रतिज्ञा को त्याग देता है कि यदि इन्द्रियग्राह्य सामान्य नित्य है तो घट भी नित्य हो जाओ । सो यह वादी साधन सहित दृष्टांत को नित्यरूप स्वीकार कर

प्रतिज्ञां जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात्पक्षस्य" [न्यायभा० ५।२।२]।

इति भाष्यकारमतमसङ्गतमेव; साक्षाद्दृष्टान्तहानिरूपत्वात्तस्यास्तत्रैव साध्यधर्मपरित्यागात्। परम्परया तु हेतूपनयनिगमनानां त्यागः, दृष्टान्तासाधुत्वे तेषामप्यसाधुत्वात्। तथा च 'प्रतिज्ञाहानिरेव' इत्यसङ्गतम्।

वार्तिककारस्त्वेवमाचष्टे—"दृष्टश्चासावन्ते स्थितश्चेति दृष्टान्तः पक्षः स्वपक्षः, प्रतिदृष्टान्तः, प्रतिपक्षः। प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षेऽभ्यनुजानन् प्रतिज्ञां जहाति। यदि सामान्यमैन्द्रियिकं नित्यं शब्दोप्येवमस्त्विति।" [न्यायवा० ५।२।२]

तदेतदप्युद्द्योतकरस्य जाड्यमाविष्करोति; इत्थमेव प्रतिज्ञाहानेरवधारयितुमशक्यत्वात्। प्रतिपक्षसिद्धिमन्तरेण च कस्यचिन्निग्रहाधिकरणत्वायोगात्। न खलु प्रतिपक्षस्य धर्मं स्वपक्षेऽभ्यनु-

---

निगमन [प्रतिज्ञा को दुहराना निगमन है] तक पक्ष को ही छोड़ बैठता है। और पक्ष को छोड़ देने से प्रतिज्ञा को त्यागता है ऐसा कहा जाता है, क्योंकि पक्ष प्रतिज्ञा के आश्रयरूप है।

गौतम के न्याय सूत्र पर भाष्य करने वाले पंडित का उपर्युक्त मत असंगत ही है, उक्त निग्रहस्थान साक्षात् रूप से तो दृष्टांतहानिरूप है, क्योंकि दृष्टांत में ही साध्यधर्म का त्याग किया गया है। और परम्परारूप से हेतु, उपनय और निगमन का त्याग किया है, क्योंकि दृष्टांत के असत् होने पर हेतु आदि भी असत् होते हैं। अतः प्रतिहानि निग्रहस्थान में प्रतिज्ञाहानि ही हुई ऐसा कहना असंगत है।

न्याय सूत्र पर वार्तिक लिखने वाले उद्योतकर वार्तिककार इसप्रकार कहते हैं—अन्ते दृष्टः, अन्ते स्थितः वा दृष्टांतः जो अंत में दिखे या स्थित होवे सो दृष्टांत कहलाता है, इससे पक्ष और स्वपक्ष लेना, प्रतिपक्ष को प्रतिदृष्टांत कहते हैं। वादी प्रतिपक्ष के धर्मको अपने पक्ष में स्वीकार कर प्रतिज्ञा को छोड़ देता है, वह कहता है कि यदि इन्द्रियग्राह्य सामान्य नित्य है तो शब्द भी इसप्रकार होवे।

उद्योत कर पंडित का यह कथन भी उनके अज्ञान को प्रगट कर रहा है क्योंकि इसीप्रकार से ही प्रतिज्ञा की हानि होती है अन्यथा नहीं ऐसा अवधारण करना अशक्य है। तथा प्रतिपक्ष की सिद्धि हुए बिना किसी का निग्रह करना भी नहीं

जानत एव प्रतिज्ञात्यागो येनायमेक एव प्रकारः प्रतिज्ञाहानौ स्यात्। अधिक्षेपादिभिराकुलीभावात् प्रकृत्या सभाभीरुत्वादन्यमनस्कत्वादेर्वा निमित्तात्किञ्चित्साध्यत्वेन प्रतिज्ञाय तद्विपरीतं प्रतिजानतो-ऽप्युपलम्भात् पुरुषभ्रान्तेरनेककारणत्वोपपत्तेरिति।

तथा "प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम्।" [न्यायसू० ५।२।३] प्रतिज्ञातार्थस्य'ऽनित्यः शब्द इत्यादेरैन्द्रियिकत्वाख्यस्य हेतोर्व्यभिचारोपदर्शनेन प्रतिषेधे कृते तं दोष-मनुद्धरन् धर्मविकल्पं करोति 'किमयं शब्दोऽसर्वगतो घटवत्, किं वा सर्वगतः सामान्यवत्' इति। यद्य-सर्वगतो घटवत्; तर्हि तद्वदेवानित्योऽस्त्वित्येतत्प्रतिज्ञान्तरं नाम निग्रहस्थानं सामर्थ्यापरिज्ञानात्। स हि पूर्वस्याः 'अनित्यः शब्दः' इति प्रतिज्ञायाः साधनायोत्तराम् 'असर्वगतः शब्दोऽनित्यः' इति प्रतिज्ञामाह। न च प्रतिज्ञा प्रतिज्ञान्तरसाधने समर्थाऽतिप्रसङ्गात्।

बनता। दूसरी बात यह है कि प्रतिपक्ष के धर्म को अपने पक्ष में स्वीकार करनेवाले के ही प्रतिज्ञा का त्याग होता हो सो बात नहीं है, जिससे कि प्रतिज्ञाहानि में यही एक प्रकार दिखाया जाय। प्रतिज्ञाहानि को छोड़ देने के अनेक प्रकार संभव हैं, देखिये प्रतिपक्षी पुरुष द्वारा तिरस्कृत होने से आकुलित होकर वादी प्रतिज्ञा को छोड़ बैठता है, अथवा स्वभावतः सभाभीरु होने से या अन्यमनस्क [अन्यत्र मन के जाने से] किंवा अन्य किसी निमित्त से किसी एक धर्म को साध्यरूप से स्वीकार कर पुनः उससे विपरीत धर्म को मानते हुए देखा गया है, पुरुष को भ्रान्ति होने के तो अनेक कारण हुआ करते हैं।

प्रतिज्ञा किये हुए अर्थ का प्रतिषेध होने पर धर्म का भेद करके अर्थ निर्देश करना प्रतिज्ञान्तर निग्रहस्थान है, जैसे वादी ने "शब्द अनित्य है इन्द्रियग्राह्य होने से ऐसा प्रतिज्ञा वाक्य कहा, अब प्रतिवादी इन्द्रियग्राह्यत्व हेतु में व्यभिचार दोष दिखाकर उसका खंडन करता है उस समय वादी उस व्यभिचार दोष को तो हटाता नहीं और धर्म में [साध्यधर्म में] भेद करता है वह प्रतिवादी से कहता है–यह शब्द क्या घट के समान असर्वगत है, या सामान्य के समान सर्वगत है? यदि घट के समान असर्वगत है तो उसी घट के समान अनित्य भी होवे। इसतरह प्रतिज्ञा को पलट देना प्रतिज्ञान्तर नामा निग्रहस्थान है, सामर्थ्य का ज्ञान न होने से वादी ऐसा कर बैठता है, क्योंकि वादी पहले तो शब्द अनित्य है ऐसी प्रतिज्ञा करता है और उस प्रतिज्ञा को साधने के लिये "असर्वगत शब्द अनित्य है" ऐसी दूसरी प्रतिज्ञा कहता है किन्तु प्रतिज्ञा अन्य प्रतिज्ञा को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होती है। इससे तो अतिप्रसंग आता है।

इत्यप्येतेनैव प्रत्युक्तम्; प्रतिज्ञाहानिवत्तस्याप्यनेकनिमित्तत्वोपपत्तेः। प्रतिज्ञाहानितश्चास्य कथं भेदः पक्षत्यागस्योभयत्राऽविशेषात्? यथैव हि प्रतिदृष्टान्तधर्मस्य स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुज्ञानात्पक्षत्यागस्तथा प्रतिज्ञान्तरादपि। यथा च स्वपक्षसिद्ध्यर्थं प्रतिज्ञान्तरं विधीयते तथा शब्दाऽनित्यत्वसिद्ध्यर्थम्, भ्रान्तिवशात्तद्वच्छब्दोपि नित्योस्त्वित्यभ्यनुज्ञानम्। यथा चाभ्रान्तस्येदं विरुद्ध्यते तथा प्रतिज्ञान्तरमपि। निमित्तभेदाच्च तद्भेदेऽनिष्टनिग्रहस्थानान्तराणामप्यनुषङ्गः स्यात्। तेषां तत्रान्तर्भावे वा प्रतिज्ञान्तरस्यापि प्रतिज्ञाहानावन्तर्भावः स्यादिति।

"प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः" [न्यायसू० ५।२।४] यथा गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्यो भेदेनानुपलब्धेः। इत्यप्यसुन्दरम्; यतो हेतुना प्रतिज्ञायाः प्रतिज्ञात्वे निरस्ते प्रकारान्तरतः प्रतिज्ञाहानिरेवेयमुक्ता स्यात्, हेतुर्दोषो वात्र विरुद्धतालक्षणः, न प्रतिज्ञादोष इति।

नैयायिक के इस दूसरे निग्रहस्थान का निरसन भी पूर्वोक्त रीत्या हो जाता है, क्योंकि प्रतिज्ञाहानि के जैसे अनेक निमित्त हैं वैसे इस प्रतिज्ञान्तर के भी अनेक निमित्त संभव हैं। तथा प्रतिज्ञाहानि से प्रतिज्ञान्तर को भिन्न भी कैसे मान सकते हैं, क्योंकि दोनों में भी पक्षत्याग होना समान है, देखिये, प्रतिदृष्टांत के धर्म को अपने दृष्टांत में स्वीकार करने से जैसे पक्ष का त्याग हो जाता है वैसे प्रतिज्ञान्तर से भी पक्ष का त्याग होता है। वादी जिसतरह अपने पक्ष की सिद्धि के लिये प्रतिज्ञान्तर करता है उसतरह शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिये भ्रमवश सामान्य के समान शब्द भी नित्य होवे ऐसा मान बैठता है। जैसे अभ्रान्त व्यक्ति अपने स्वीकृत प्रतिज्ञा की हानि नहीं करता वैसे ही अभ्रान्त पुरुष प्रतिज्ञान्तर भी नहीं करता, मतलब यह है कि अभ्रान्त के तो ऐसा कथन नहीं होता। इसप्रकार प्रतिज्ञाहानि और प्रतिज्ञान्तर ये निग्रहस्थान एक ही है भिन्न नहीं हैं। यदि निमित्त के भेद से इनमें भेद माने तो आप नैयायिक को अन्य बहुत से अनिष्ट निग्रहस्थान स्वीकार करने होंगे। अन्य निग्रहस्थानों को प्रतिज्ञाहानि आदि में अन्तर्भूत किया जाता है ऐसा कहो तो प्रतिज्ञान्तर का भी प्रतिज्ञाहानि में अन्तर्भाव करना चाहिये। तीसरा निग्रहस्थान—प्रतिज्ञा का और हेतु का विरोध होना प्रतिज्ञाविरोधनामा निग्रहस्थान है, जैसे द्रव्य गुणों से भिन्न हुआ करता है क्योंकि रूपादि गुणों की भेदरूप से अनुपलब्धि है ऐसा अनुमान प्रयोग करना, इसमें प्रतिज्ञा में तो कहा द्रव्य गुणों से भिन्न होना है, और हेतु दिया रूपादि गुणों की भेदरूप से अनुपलब्धि है, यह परस्पर विरुद्ध है। किंतु ऐसा

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः।" [न्यायसू० ५।२।५] यथा 'अनित्यः शब्द ऐन्द्रियिकत्वाद् घटवत्' इत्युक्ते पूर्ववत्सामान्येनानैकान्तिकत्वे हेतोरुद्भाविते प्रतिज्ञासंन्यासं करोति-क एवमाह 'नित्यः (अनित्यः) शब्दः' ? इत्यपि प्रतिज्ञाहानितो न भिद्य ेत हेतोरनैकान्तिकत्वोपलम्भेनात्रापि प्रतिज्ञायाः परित्यागाविशेषादिति ।

"अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ।" [न्यायसू० ५।२।६] निदर्शनम्-'एकप्रकृतीदं व्यक्तं विकाराणां परिमाणान्मृत्पूर्वकघटशरावोदञ्चनादिवत्' इत्यस्य व्यभिचारेण प्रत्यवस्थानम्-नानाप्रकृतीनामेकप्रकृतीनां दृष्टं परिमाणमित्यस्य हेतोरहेतुत्वं निश्चित्य 'एकप्रकृति-समन्वये विकाराणां परिमाणात्' इत्याह । तदिदमविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषं ब्रुवतो हेत्वन्तरं नाम निग्रहस्थानम् ।

निग्रहस्थान पूर्वोक्त निग्रहस्थान से पृथक् नहीं है क्योंकि हेतु द्वारा प्रतिज्ञा का प्रतिज्ञापना खंडित होना प्रकारान्तर से प्रतिज्ञाहानि ही है उसीको प्रतिज्ञा विरोध नाम से कहा, अथवा यह विरुद्ध हेत्वाभास नामा हेतुदोष है न कि प्रतिज्ञादोष है ।

चौथा निग्रहस्थान-पक्ष का प्रतिषेध हो जाने पर प्रतिज्ञा के अर्थ को हटा देना प्रतिज्ञा संन्यास निग्रहस्थान है । जैसे शब्द अनित्य है इन्द्रियग्राह्य होने से घट के समान, ऐसे वादी के कथन करने पर प्रतिवादी पूर्ववत् सामान्य के साथ हेतु का अनैकान्तिक दोष प्रगट कर देता है तब वादी प्रतिज्ञा का सन्यास अर्थात् त्याग करता है कि शब्द अनित्य है ऐसा किसने कहा ? इत्यादि । सो यह निग्रहस्थान भी प्रतिज्ञा हानि से भिन्न नहीं, इसमें भी हेतु को अनैकान्तिकरूप से उपलब्धि होने के कारण प्रतिज्ञा का त्याग समानरूप से है ।

अविशेषरूप कहे हुए हेतु का खंडन होने पर विशेषहेतु का कथन करना हेत्वन्तर नामा पांचवां निग्रहस्थान है, यह व्यक्तरूप महदादि कार्य एक प्रकृतिरूप है, क्योंकि विकार अर्थात् वस्तु भेदों का परिमाण है, जैसे मिट्टीपूर्वक होने वाले घट, शराब, उदंचन [पानी सींचने का पात्र] आदि कार्य एक मिट्टीरूप हैं, ऐसा किसी सांख्यमती वादी ने कहा, इसमें प्रतिवादी व्यभिचार देता है-नाना प्रकृतिरूप और एक प्रकृतिरूप दोनों में ही परिमाण देखा जाता है अतः वस्तु भेदों का परिमाण होने से ऐसा हेतु अहेतु है वास्तविक हेतु नहीं है, इस दोष के देने पर पुनः वादी हेतु में

इत्यप्यसुन्दरम्; एवं सत्यविशेषोक्ते दृष्टान्तोपनयनिगमने प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो दृष्टांतान्तरमपि निग्रहस्थानान्तरमनुषज्येत तत्राक्षेपसमाधानानां समानत्वादिति ।

"प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बन्धार्थमर्थान्तरम् ।" [न्यायसू० ५।२।७] यथोक्तलक्षणे पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे हेतुतः साध्यसिद्धौ प्रकृतायां प्रकृतं हेतुं प्रमाणसामर्थ्येनाहमसमर्थः समर्थयितुमित्यवस्यन्नपि कथामपरित्यजन्नर्थान्तरमुपन्यस्यति-नित्यः शब्दोऽस्पर्शवत्त्वादिति हेतुः । हेतुश्च हिनोतेर्धातोस्तुप्रत्यये कृदन्तं पदम्, [पदं] च नामाख्यातोपसर्गनिपाता इति प्रस्तुत्य नामादीनि व्याचष्टे ।

विशेषण बढ़ाता है कि एक प्रकृतिरूप कारण से अनुस्यूत होने पर वस्तु भेदों का परिमाण है । सो इसतरह अविशेषरूप कहे हुए हेतु के निषिद्ध होने पर विशेषहेतु को कहना हेत्वन्तरनामा निग्रहस्थान है ।

यह निग्रहस्थान का वर्णन भी असत् है, इसतरह का निग्रहस्थान माने तो अविशेषरूप दृष्टांत, अविशेषरूप उपनय, या निगमन के प्रयुक्त होने पर प्रतिवादी उनका प्रतिषेध करता है और वादी पुनः विशेषता चाहता हुआ दृष्टान्तान्तर आदि को कहता है ऐसे ऐसे अनेकानेक निग्रहस्थान बन बैठेंगे, यदि उसमे आप नैयायिक कुछ आक्षेप उठायेंगे तो वे आक्षेप आपके हेत्वान्तर में घटित होंगे, तथा जो समाधान आप देंगे वे ही इन दृष्टांतान्तर आदि में घटित होवेंगे ।

छठा निग्रहस्थान-प्रकृत जो अर्थ है उससे असम्बद्ध अर्थ को कहते बैठना अर्थान्तर नामा निग्रहस्थान है, जैसे वादी ने पहले अनुमान प्रयोग किया कि शब्द अनित्य है इंद्रियग्राह्य होने से, इस पर प्रतिवादी सामान्य इन्द्रियग्राह्य होने पर भी नित्य है, इत्यादि दोष उपस्थित करता है तब वादी साध्यसिद्धि में प्रकृतहेतु को प्रमाण की सामर्थ्य द्वारा समर्थन करने के लिये मैं समर्थ नहीं हूं ऐसा जानता हुआ भी वाद को नहीं छोड़ता और अन्य अर्थ को उपस्थित करता है कि शब्द नित्य है, अस्पर्शवान् होने से, तथा हेतु शब्द को निष्पत्ति करने लगता है-'हेतुः' यह कृदंत पद है इसमे हिनोति धातु और तु प्रत्यय है । अथवा नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात आदि का प्रकरण लेकर उनको कहने लग जाता है, वह सबका सब अर्थान्तर निग्रह स्थान है ।

तदेतदप्यर्थान्तरं निग्रहस्थानं समर्थे साधने दूषणे वा प्रोक्ते निग्रहाय कल्प्येत, असमर्थे वा ? न तावत्समर्थे; स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोपि दोषाभावाल्लोकवत्। असमर्थेपि प्रतिवादिनः पक्षसिद्धौ तन्निग्रहाय स्यात्, असिद्धौ वा ? प्रथमपक्षे तत्पक्षसिद्ध्यैवास्य निग्रहो न त्वतो निग्रहस्थानात्। द्वितीय पक्षेप्यतो न निग्रहः पक्षसिद्धेरुभयोरप्यभावादिति।

"वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम्।" [न्यायसू० ५।२।८] यथाऽनित्यः शब्दो जबगडदशत्वात् झभघढधष्वत्। इत्यपि सर्वथार्थशून्यत्वान्निग्रहाय कल्प्येत, साध्यानुपयोगाद्वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; सर्वथार्थशून्यस्य शब्दस्यैवासम्भवात्। वर्णक्रमनिर्देशस्याप्यनुकार्येणार्थनार्थवत्त्वोपपत्तेः। द्वितीयविकल्पे तु सर्वमेव निग्रहस्थानं निरर्थकं स्यात्; साध्यसिद्धावनुपयोगित्वाविशेषात्। केनचिद्विशेष-

---

अर्थान्तर निग्रहस्थान का निरसन—इस निग्रहस्थान के विषय में प्रश्न है कि अर्थान्तर निग्रहस्थान समर्थ साधन या दूषण के कहने पर निग्रह के लिये माना जाता है या असमर्थ साधन वा दूषण कहने पर निग्रह के लिये माना जाता है ? समर्थ साधन या दूषण के प्रयोग में तो निग्रह हो नहीं सकता क्योंकि अपने साध्य को सिद्ध करके दिखा देने के बाद प्रवादी चाहे नृत्य भी करे तो उसमें दोष नहीं है, लोक में भी ऐसा मानते हैं। यदि असमर्थ साधन या दूषण का प्रयोग किया है तो उसमें दो प्रश्न उठते हैं कि प्रतिवादी के पक्ष की सिद्धि होने पर उक्त अर्थान्तर वादी का निग्रह करने वाला माना जाता है या पक्ष के असिद्धि होने पर निग्रह माना जाता है ? प्रथम बात कहो तो प्रतिवादी के पक्ष सिद्ध होने के कारण ही वादी का निग्रह हुआ न कि अर्थान्तर निग्रहस्थान से निग्रह हुआ। दूसरी बात कहो तो उक्त अर्थान्तर से निग्रह हो नहीं सकता, क्योंकि अभी वादी प्रतिवादी दोनों के भी पक्ष की सिद्धि हुई नहीं है।

सातवां निग्रहस्थान—वर्णक्रम निर्देश से (अर्थात् अर्थ रहित) शब्दों को कहना निरर्थक नाम का निग्रहस्थान है, जैसे—शब्द अनित्य है जबगडदशवाला होने से झभघढधष के समान इसप्रकार का अनुमान कहना। इसमें जैन का प्रश्न है कि जबगडदशत्व हेतु में प्रयुक्त वर्ण सर्वथा अर्थ शून्य होने से निग्रह माना जाता है, या साध्य में अनुपयोगी होने से निग्रह माना जाता है ? प्रथम बात अयुक्त है, सर्वथा अर्थशून्य कोई शब्द नहीं होते। वर्णक्रम निर्देश का भी अर्थ बताया जाने पर अर्थवान् ही होते हैं। दूसरी बात कहो तब तो आपके जितने भी निग्रहस्थान हैं वे सबके सब निरर्थक निग्रह स्थान स्वरूप ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि वे साध्य के सिद्धि में समानरूप से अनुपयोगी

मात्रेण भेदे वा खात्कृताकम्पहस्तास्फालनकक्षापिहिकादेरपि साध्यसिद्धयनुपयोगिनो निग्रहस्थानान्तरत्वानुषङ्ग इति ।

'परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ।" [न्यायसू० ५।२।६] अत्रेदमुच्यते-वादिना त्रिरभिहितमपि वाक्यं परिषत्प्रतिवादिभ्यां मन्दमतित्वादविज्ञातम् गूढाभिधानतो वा, द्रुतोच्चाराद्वा ? प्रथमपक्षे सत्साधनवादिनोप्येतन्निग्रहस्थानं स्यात्, तत्राप्यनयोर्मन्दमतित्वेनाविज्ञातत्व सम्भवात् । द्वितीयपक्षे तु पत्रवाक्यप्रयोगेपि तत्प्रसङ्गो गूढाभिधानतया परिषत्प्रतिवादिनोर्महाप्राज्ञयो-

---

हैं। यदि किंचित् विशेषता होने मात्र से उनमें भेद माना जाता है तो खकारना, कापना, हाथों को ठोकना, कक्षापिहिका [कक्ष-कांख को ढकना] इत्यादिरूप से की गयी वादी के चेष्टाये भी साध्य सिद्धि मे अनुपयोगी होने से निग्रहस्थान मानने होंगे। इसतरह बहुत सारे निरर्थक निग्रहस्थान बनेगे। इसलिये निरर्थक निग्रहस्थान से निग्रह करना-पराजय करना असम्भव है।

आठवां निग्रहस्थान-वादी ने तीन बार अनुमान वाक्य कहा तो भी सभ्य पुरुष और प्रतिवादी के द्वारा वह जाना नही जाय तो अविज्ञातार्थ नामा निग्रहस्थान है। इस विषय में जैन प्रश्न करते हैं-वादी द्वारा तीन बार वाक्य के कहने पर भी सभ्य और प्रतिवादी द्वारा वह वाक्य अज्ञात रहता है उसमें कारण क्या है सभ्य और प्रतिवादी की बुद्धिमन्द है, अथवा उक्त वाक्य गूढ है, या वादी ने उसे अतिशीघ्रता से बोला है ? बुद्धिमन्द होने से सभ्यादि ने उक्त वाक्यार्थ को नही जाना ऐसा कहो तो, सच्चे हेतु का प्रयोग करने वाले वादी के ऊपर भी यह निग्रहस्थान लागू हो जायगा ? क्योंकि उक्त हेतु प्रयोग को भी सभ्य और प्रतिवादी अपने मंदबुद्धि के कारण जान नही सकते। गूढता के कारण उक्त वाक्य को नहीं जाना ऐसी दूसरी बात मानो तो पत्र वाक्य प्रयोग में उक्त निग्रहस्थान का प्रसंग आयेगा क्योंकि पत्र द्वारा किये गये वाद में जो वादी द्वारा पत्र में लिखित अनुमान वाक्य रहता है वह अत्यन्त गूढ रहता है, उसको सभ्य और प्रतिवादी महाप्राज्ञ होने पर भी कदाचित् जान नहीं पाते।

नैयायिक-पत्र वाक्य की ऐसी बात है कि कदाचित् सभ्य और प्रतिवादी द्वारा उक्त वाक्य जाना नही जाता तो वादी स्वयं उसका व्याख्यान अर्थात् खुलासा कर दिया करता है ?

रप्यविज्ञातत्वोपलम्भात् । अथाभ्यामविज्ञातमप्येतद्वादी व्याचष्टे; गूढोपन्यासमप्यात्मनः स एव व्याचष्टाम् । अव्याख्याने तु जयाभाव एवास्य न पुनर्निग्रहः, परस्य पक्षसिद्धेरभावात् । द्रुतोच्चारेपि अनयोः कथञ्चित् ज्ञानं सम्भवत्येव सिद्धान्तद्वयवेदित्वात् । साध्यानुपयोगिनि तु वादिनः प्रलापमात्रे तयोरज्ञानं नाविज्ञातार्थं वर्णक्रमनिर्देशवत् । ततो नेदमभि (वि) ज्ञातार्थं निरर्थकाद्भिद्यते इति ।

"पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ।" [न्यायसू० ५।२।१०] यथा दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाऽजिनं पललपिण्डः ।

इत्यपि निरर्थकान्न भिद्यते–यथैव हि जबगडदशत्वादौ वर्णानां नैरर्थक्यं तथात्र पदानामिति । यदि पुनः पदनैरर्थक्यं वर्णनैरर्थक्यादन्यत्वान्निग्रहस्थानान्तरमभ्युपगम्यते; तर्हि वाक्यनैरर्थक्यस्याप्या-

---

जैन—तो वही बात यहां होवे, अर्थात् वादी ने गूढ वाक्य कहा है और सभ्यादि उसको जान नहीं रहे तो वादी स्वयं उसका अर्थ कह देगा । यदि वादी अपने गूढ वाक्य का अर्थ नहीं कहता है तो वादी का जय नहीं होगा, किन्तु इसको निग्रह हुआ नहीं कहते, क्योंकि अभी प्रतिवादी के पक्ष की सिद्धि नहीं हुई है । शीघ्र उच्चारण के कारण सभ्यादि पुरुष वादी के वाक्यार्थ को नहीं जानते ऐसा कहना भी जमता नहीं क्योंकि सभ्य और प्रतिवादी को पक्ष प्रतिपक्ष दोनों के सिद्धांतों का ज्ञान रहने से उक्त वाक्य का किंचित् अर्थ तो जानेंगे ही । वादी यदि साध्य के अनुपयोगी वाक्य का प्रलाप करता है तो यह उनका [वादी को साध्य साधन का अज्ञान है अथवा यह अज्ञान सभ्य और प्रतिवादी का है] अज्ञान है इसे अविज्ञातार्थ नाम नहीं है, जैसे वर्णक्रम निर्देश में साध्य के अनुपयोगी वाक्य की बात थी । अतः यह अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान, निरर्थक निग्रहस्थान से पृथक् नहीं है ।

नौवां निग्रहस्थान–पूर्वापर संबंध से रहित वाक्य प्रस्तुत करना अपार्थक निग्रहस्थान है, जैसे दश दाडिम है, छह पुआ, कुंडा, बकरे का चर्म, मांसपिंड है ऐसे वाक्य कहना ।

यह भी निरर्थक निग्रहस्थान से पृथक् नहीं है, जिसतरह जबगडदशत्व आदि हेतु वाक्य में वर्णों की निरर्थकता है उसतरह दश दाडिम आदि वाक्य में पदों की निरर्थकता है । यदि पद निरर्थकता को वर्ण निरर्थकता से भिन्न मानकर इसको निग्रहांतर माना जाता है तो वाक्य निरर्थकता भी इन दोनों से पृथक् होने से अन्य

स्यामन्यत्वान्निग्रहस्थानान्तरत्वं स्यात् । पदवत् पौर्वापर्येण (ण) प्रयुज्यमानानां वाक्यानामप्यनेकधोपलम्भात् ।

"शङ्खः कदल्यां कदली च भेर्यां तस्यां च भेर्यां सुमहद्विमानम् ।

तच्छङ्खभेरीकदलीविमानमुन्मत्तगङ्गप्रतिमं बभूव ।।" [ ] इत्यादिवत् । यदि पुनः पदनैरर्थक्यमेव वाक्यनैरर्थक्यं पदसमुदायात्मकत्वात्तस्य; तर्हि वर्णनैरर्थक्यमेव पदनैरर्थक्यं स्याद्वर्णसमुदायात्मकत्वात्तस्य । वर्णानां सर्वत्र निरर्थकत्वात्पदस्यापि तत्प्रसङ्गश्चेत्; तर्हि पदस्यापि निरर्थकत्वात् तत्समुदायात्मनो वाक्यस्यापि नैरर्थक्यानुषङ्गः । पदार्थापेक्षया पदस्यार्थवत्त्वे वर्णार्थापेक्षया वर्ण-

---

निग्रहस्थान बन बैठेगा, क्योंकि पदों के समान ही पूर्वापररूप से प्रयुक्त वाक्य भी अनेक प्रकार से उपलब्ध होते हैं । देखिये, शंख केला में है और केला नगाड़े में है, उस नगाड़े में अच्छा बड़ा लम्बा चौड़ा विमान है, वे शंख, नगाड़े, केला और विमान जिस देश में गंगा उन्मत्त है उसके समान हो गये । इत्यादि वाक्य पूर्वापर सम्बन्ध बिना प्रयुक्त होते हुए देखे जाते ही हैं । यदि कहा जाय कि पद निरर्थकता ही वाक्य निरर्थकता है क्योंकि पद समुदाय ही वाक्य बनता है ? तो फिर वर्ण निरर्थकता ही पद निरर्थकता है क्योंकि वर्ण समुदाय ही पद बनता है, ऐसा मानना चाहिये ।

प्रश्न—वर्णों को सर्वत्र [पद और वाक्य में] निरर्थक मानेंगे तो पदको भी निरर्थकता का प्रसंग आयेगा ?

उत्तर—तो फिर पद को निरर्थक मानने से उसके समुदाय स्वरूप वाक्य के निरर्थकता भी अवश्य आयेगी ।

यदि कहो कि पदकी अर्थकी अपेक्षा पद में अर्थवान्पना है, तो वर्ण को अर्थ की अपेक्षा वर्ण में अर्थवान्पना है ही, जैसे प्रकृति [धातु और लिंग] प्रत्यय [ति, तस् आदि एवं सि, औ आदि] आदि के वर्ण स्वयं की अपेक्षा अर्थवान् होते हैं । अकेली प्रकृति अथवा अकेला प्रत्यय पद नहीं बनता है, और न प्रकृति और प्रत्यय में अनर्थकपना ही है । वर्ण में अभिव्यक्त अर्थ नहीं होता अतः उनको अनर्थक कहते हैं ऐसा कहो तो पद में भी अभिव्यक्त अर्थ नहीं होता इसलिये उसे भी अनर्थक मानना होगा । क्योंकि जिसतरह प्रकृति का अर्थ प्रत्यय द्वारा अभिव्यक्त होता है और प्रत्यय

स्यापि तदस्तु प्रकृतिप्रत्ययादिवर्णवत्। न खलु प्रकृतिः केवला पदं प्रत्ययो वा, नाप्यनयोरनर्थकत्वम्। अभिव्यक्तार्थाभावादनर्थकत्वे पदस्यापि तस्यात् तथैव हि प्रकृत्यर्थः प्रत्ययेनाभिव्यज्यते प्रत्ययार्थश्च प्रकृत्या तयो केवलयोरप्रयोगात्, तथा 'देवदत्तस्तिष्ठति' इत्यादिप्रयोगे सुबन्तपदार्थस्य तिङन्तपदेन तिङन्तपदार्थस्य च सुबन्तपदेनाभिव्यक्तेः केवलस्याप्रयोगः। पदान्तरापेक्षस्य पदस्य सार्थकत्वं प्रकृत्यपेक्षस्य प्रत्ययस्य तदपेक्षस्य च प्रकृत्यादिवर्णस्य समानमिति।

"अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्।" [न्यायसू० ५।२।११] अवयवानां प्रतिज्ञादीनां विपर्यासेनाभिधानमप्राप्तकालं नाम निग्रहस्थानम्। इत्यप्यपेशलम्; प्रेक्षावतां प्रतिपत्तृणामवयवक्रमनियमं विनाप्यर्थप्रतिपत्त्युपलम्भाद्देवदत्तादिवाक्यवत्। ननु यथापशब्दाच्छ्रुताच्छब्दस्मरणं ततोऽर्थप्रत्यय इति शब्दादेवार्थप्रत्ययः परम्परया तथा प्रतिज्ञाद्यवयवव्युत्क्रमात् तत्क्रमस्मरणं ततो वाक्यार्थप्रत्ययो न

का अर्थ प्रकृति द्वारा अभिव्यक्त होता है इसलिये केवल प्रकृति या केवल प्रत्यय का प्रयोग नही करते, उसतरह देवदत्तस्तिष्ठति—"देवदत्त ठहरता है" इत्यादि प्रयोग में सुवंतपद का अर्थ [सि विभक्ति वाला देवदत्तः पद] तिङन्त पद के अर्थ द्वारा [ति विभक्ति वाला तिष्ठति पद] और तिङन्त पद का अर्थ सुबंत पद के अर्थ द्वारा अभिव्यक्त होता है, इसलिये केवल पद का प्रयोग नही करते। जो पद अन्य पद की अपेक्षा से युक्त है वह अर्थवान् है ऐसे कहे तो जो प्रत्यय प्रकृति की अपेक्षा से युक्त है अथवा जो प्रकृति प्रत्यय की अपेक्षा से युक्त है ऐसा प्रकृति आदि का वर्ण भी अर्थवान् क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा। इसतरह अपार्थक नामा निग्रहस्थान की व्यर्थता है।

दसवां निग्रहस्थान—अनुमान के अवयवों को विपरीतरूप से कहना अप्राप्तकाल नामका निग्रह स्थान है। प्रतिज्ञा हेतु आदि अनुमान के अवयव हैं उनका विपर्यास करके कथन करने से अप्राप्तकाल निग्रहस्थान होता है। सो यह निग्रहस्थान भी अयुक्त है; क्योंकि बुद्धिमान् प्रतिवादी आदि को अवयव क्रम का नियम नहीं होने पर अर्थ की प्रतिपत्ति होती है, जैसे "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" हे देवदत्त ! गाय को ताड़ो सफेद को दण्ड द्वारा" इस विपरीत पद प्रयुक्त वाक्य का सहज ही अर्थ कर लिया जाता है कि हे देवदत्त सफेद गाय को दण्डे से ताड़ो।

नैयायिक—जिसप्रकार असत्य शब्द के सुनने से पहले सत्य शब्द का स्मरण होता है फिर उस स्मृत शब्द से अर्थ बोध होता है अतः परम्परा से शब्द से ही अर्थ

तद्व्युत्क्रमात्; इत्यप्यसारम्; एवंविधप्रतीत्यभावात्। यस्माद्धि शब्दादुच्चरिताद्यत्रार्थे प्रतीतिः स एव तस्य वाचको नान्यः, अन्यथा 'शब्दात्तत्क्रमाच्चापशब्दे तद्व्युत्क्रमे च स्मरणं ततोऽर्थप्रतीतिः' इत्यपि वक्तुं शक्येत। एवं शब्दाद्यन्वाख्यानवैयर्थ्यं चेत्; न; एवं वादिनोऽनिष्टमात्रापादनात्, अपशब्देपि चान्वाख्यानस्योपलम्भात्। 'संस्कृताच्छब्दात्सत्याद्धर्मोऽन्यस्मादऽधर्मः' इति नियमे चान्यधर्माधर्मोपाया-

---

बोध हुआ माना जाता है उसीप्रकार प्रतिज्ञा आदि अनुमान के अवयवों को अक्रम से सुनकर पहले उनके क्रम का स्मरण होता है और स्मृत क्रम से वाक्यार्थ का बोध होता है न कि अक्रमिक अवयवों से ?

जैन—यह कथन असार है, इसतरह की प्रतीति नहीं होती है, उच्चारण किये गये जिस शब्द से जिस अर्थ में प्रतीति होती है वही शब्द उस अर्थ का वाचक हुआ करता है, अन्य नहीं। अन्यथा हम यों भी कह सकते हैं कि शब्द से या उसके क्रम से अपशब्द या व्युत्क्रम का स्मरण होता है फिर उस स्मृत अपशब्दादि से अर्थ बोध होता है।

नैयायिक—इसतरह शब्द से अपशब्द का स्मरण और उससे अर्थ बोध माने तो, शब्दों का अन्वाख्यान करना व्यर्थ सिद्ध होगा, अर्थात् विपरीत क्रम वाले शब्द होने पर या अपशब्द होने पर विद्वान्‌जन उनका क्रमवार व्याख्यान करते हैं श्लोकों का अन्वय करके अर्थ बोध कराते हैं, अपशब्द का सुशब्द द्वारा कथन करते हैं, सो सब व्यर्थ रहेगा ? क्योंकि क्रम के बिना या अपशब्द से [अपभ्रंश शब्द से] भी अर्थबोध होना मान लिया।

जैन—ऐसा नहीं है यहां केवल वादी के अनिष्ट का कथन करने की बात है। दूसरी बात यह भी है कि अपशब्द का भी अन्वाख्यान देखा जाता है। यदि आप कहें कि संस्कृत शब्द से धर्म होता है अन्य शब्द से नहीं अतः अपशब्द का–अपभ्रंश का अन्वाख्यान होता ही नहीं, सो यह संस्कृत सत्यभूत शब्द से धर्म और अन्य शब्द से अधर्म होने का नियम स्वीकार करें तो इज्या [पूजा] अध्ययन आदि एवं व्यसन आदि अन्य अन्य धर्म अधर्म के उपायों का अनुष्ठान व्यर्थ ठहरेगा। अर्थात् केवल संस्कृत शब्दोच्चारण से धर्म [पुण्य] होता है तो पूजा, तपस्यादि परिश्रम व्यर्थ है। तथा धर्म

नुष्ठानवैयर्थ्यम् । धर्माधर्मयोश्चाप्रतिनियमप्रसङ्गः; अधार्मिके धार्मिके च तच्छब्ददोपलम्भात् । भवतु वा तत्क्रमादर्थप्रतीतिः, तथाप्यर्थप्रत्ययः क्रमेण स्थितो येन वाक्येन व्युत्क्रम्यते तन्निरर्थकं न त्वप्राप्तकालमिति ।

"शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ।" [न्यायसू० ५।२।१४] तत्रार्थपुनरुक्तमेवोपपन्नं न शब्दपुनरुक्तम्; अर्थभेदेशब्दसाम्येप्यस्याऽसम्भवात्

> "हसति हसति स्वामिन्युच्चैरुदत्यतिरोदिति,
> कृतपरिकरं स्वेदोद्गारि प्रधावति धावति ।
> गुणसमुदितं दोषापेतं प्रणिन्दति निन्दति,
> धनलवपरिक्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति ।"
>
> [वादन्यायपृ० १११]

अधर्म में प्रतिनियम भी नहीं बन पायेगा, क्योंकि धार्मिक पुरुष और अधार्मिक पुरुष दोनों में संस्कृत [तथा अन्य] शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है । दुर्जन संतोष न्याय से मान भी लेवे कि शब्द के क्रम से अर्थबोध होता है, तो भी जिस वाक्य का क्रम से उच्चारण करने पर ही अर्थबोध होता हो उसका क्रम भंग–विपरीत क्रम होना सदोष है किन्तु यह तो निरर्थक नामा दोष या निग्रहस्थान कहलायेगा न कि अप्राप्तकाल निग्रहस्थान । इसप्रकार अप्राप्तकाल निग्रहस्थान का निग्रह आचार्य ने कर दिया ।

ग्यारहवां निग्रहस्थान—अनुवाद को छोड़कर अन्य वाद आदि में शब्द या अर्थ का पुनः प्रतिपादन करना पुनरुक्तनामा निग्रहस्थान है । इस पुनरुक्त के विषय में हमारा [जैन का] कहना है कि अर्थ को पुनः कहना ही पुनरुक्त दोष है शब्द को पुनः कहना पुनरुक्त दोष नहीं है, देखा जाता है कि शब्दों का साम्य होता है किंतु उनका अर्थ भिन्न भिन्न होता है अतः शब्दों को पुनः कहने में पुनरुक्त दोष मानना असंभव है । शब्दों की पुनरुक्तता का सुन्दर श्लोक प्रस्तुत करते हैं–हसति हसति स्वामिन्युच्चैरुदत्यतिरोदिति, कृतपरिकरं स्वेदोद्गारि प्रधावति धावति । गुणसमुदितं दोषापेतं प्रणिन्दति निन्दति, धनलवपरिक्रीतं यत्रं प्रनृत्यति नृत्यति ।।१।। भृत्य [नौकर] अपने स्वामी के हंसने पर तो हंसता है, स्वामी के रोने पर रोता है, स्वामी के दौड़ने पर सामान सहित पसीना बहाता हुआ दौड़ता है, गुणसमुदाययुक्त एवं दोष रहित पुरुष की यदि स्वामी

इत्यादिवत् । ततः स्वेष्टार्थवाचकैस्तैरेवान्यैर्वा शब्दैः सत्याः प्रतिपादनीयाः । तत्प्रतिपादक-शब्दानां तु सकृत्पुनः पुनर्वाभिधानं निरर्थकं न तु पुनरुक्तम् । यच्च(द)प्यर्थापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनं पुनरुक्तमुक्तम् । यथा 'उत्पत्तिधर्मकमनित्यम्' इत्युक्त्वाऽर्थादापन्नस्यार्थस्य योऽभिधायकः शब्दस्तेन स्वशब्देन ब्रूयात् 'नित्यमनुत्पत्तिधर्मकम्' इति । तदपि प्रतिपन्नार्थप्रतिपादकत्वेन वैयर्थ्यान्निग्रहस्थानं नान्यथा । तथा चेदं निरर्थकान्न विशिष्येतेति ।

"विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याऽप्रत्युच्चारणमननुभाषणम् ।" [न्यायसू० ५।२।१६] अप्रत्युच्चारयन्किमाश्रयं परपक्षप्रतिषेधं ब्रूयात् ? इत्यत्रापि किं सर्वस्य वादिनोक्तस्याननुभाषणम्,

---

निंदा करता है तो यह भी निंदा करता है, एव धनांश द्वारा खरोदे हुए यंत्र स्वरूप यह भृत्य स्वामी के नृत्य करने पर स्वयं नृत्य करने लगता है। इसमे "हसति हसति" इत्यादि शब्द पुनः पुनः कहे हैं तो भी अर्थ भिन्न होने से पुनरुक्त दोष नहीं माना जाता है। तिसकारण से अपने इष्ट अर्थों को कहने वाले उन्हीं शब्दों द्वारा या अन्य शब्दों द्वारा सत्यार्थों का प्रतिपादन करना युक्त है। उक्त अर्थ के प्रतिपादन हो चुकने पर, उनके प्रतिपादक शब्दों का एक बार या पुनः पुनः कोई व्यक्ति कथन करता है तो वह निरर्थक दोष होगा न कि पुनरुक्त दोष। अर्थापत्ति से प्राप्त हुए अर्थ का स्वशब्द से पुनः कहना पुनरुक्तता है, जैसे किसी वादी ने कहा कि "उत्पत्ति धर्मवाला अनित्य होता है" ऐसा कहकर अर्थापत्ति से प्राप्त अर्थ को कहनेवाला जो शब्द है उस स्वशब्द से बोलता है कि नित्य अनुत्पत्ति धर्मवाला होता है, यहां पर वादी ने उत्पत्ति धर्मवाला अनित्य होता है ऐसा कहा था इसीसे नित्य अनुत्पत्ति धर्मवाला होना सिद्ध हो जाता था फिर भी वादी ने उसे कहा, ऐसे प्रसंग पर जो पुनरुक्तत्व कहा जाता है वह ज्ञात अर्थ का प्रतिपादक होने से व्यर्थता के कारण निग्रहस्थान कहा जायेगा अन्य प्रकार से नही। अर्थात् उपर्युक्त उदाहरण में पुनरक्त के कारण निग्रहस्थान नहीं हुआ है, व्यर्थता के कारण हुआ है, और यह व्यर्थता निरर्थक से कोई पृथक् सिद्ध नहीं होती।

बारहवां निग्रहस्थान—वादी द्वारा तीन बार जिसको कह दिया है एवं जिसका अर्थ सभ्यजन जान चुके हैं उसके विषय मे प्रतिवादी कुछ भी न बोले तो वह अननुभाषणनामा निग्रहस्थान होता है। जब प्रतिवादी कुछ भी प्रतिपक्ष रूप कथन नहीं करेगा तो वादी के पक्ष का निरसन किस आश्रय से करेगा ? अतः उसका यह अननुभाषण

किं वा यन्नान्तरीयिका साध्यसिद्धिस्तस्येति ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; परोक्तमशेषमप्रत्युच्चारयतोपि दूषणवचनाऽव्याघातात् । यथा 'सर्वमनित्यं सत्त्वात्' इत्युक्ते 'सत्त्वात् इत्ययं हेतुर्विरुद्धः' इति हेतुमेवोच्चार्य विरुद्धतोद्भाव्यते-'क्षणक्षयाद्येकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधात्सत्त्वानुपपत्तेः' इति, समर्थ्यते च, तावता च परोक्तहेतोर्दूषणात्किमन्योच्चारणेन ? अतो यन्नान्तरीयिका साध्यसिद्धिस्तस्यैवाऽप्रत्युच्चारणमननुभाषणं प्रतिपत्तव्यम् । अथैवं दूषयितुमसमर्थः शास्त्रार्थपरिज्ञानविशेषविकलत्वात्; तदाऽयमुत्तराऽप्रतिपत्तेरेव तिरस्क्रियते न पुनरननुभाषणादिति ।

"अविज्ञातं चाज्ञानम् ।" [न्यायसू० ५।२।१७] विज्ञातार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना यदविज्ञातं

निग्रहस्थान होता है । अननुभाषण के इस लक्षण में हम जैन पूछते हैं कि वादी के कहे हुए प्रतिज्ञा हेतु आदि अवयवों स्वरूप सम्पूर्ण वाक्य का निरसन नही करने रूप अननुभाषण कहलाता है किंवा जिसके बिना साध्यसिद्धि न हो ऐसे विषय में नहीं बोलना रूप अननुभाषण कहलाता है ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, परवादी द्वारा प्रयुक्त सम्पूर्ण वाक्य का निरसनरूप कथन नहीं करे तो भी दूषण देना रूप वचन कह देने से कोई व्याघात नहीं है । जैसे सब पदार्थ अनित्य हैं सत्व होने से, ऐसा वादी के कहने पर यह तुम्हारा "सत्त्वात्" हेतु विरुद्ध है इसतरह केवल हेतु का उच्चारण कर प्रतिवादी उसमें विरुद्धता दिखाता है कि क्षण-क्षयादिरूप ऐकान्तिक पदार्थ में सर्वथा अर्थक्रिया का विरोध होने से सत्त्व सिद्ध नही होता, अर्थात् क्षणिक पदार्थ में अर्थक्रिया संभव नहीं और अर्थक्रिया के अभाव में क्षणिक पदार्थ का सत्व नहीं बनता अत: सत्त्व हेतु क्षणिक का विरोधी होने से विरुद्ध हेत्वाभास है, इसप्रकार प्रतिवादी उक्त हेतु में दोष प्रगट कर उस दोष को भली प्रकार समर्थित कर देता है, और इतने मात्र से ही वादी के हेतु में दूषण आ जाता है । फिर अन्य पक्ष आदि के निरसन से क्या लाभ ? इसलिये यह कहना चाहिये कि जिसके बिना साध्यसिद्धि न हो उस वाक्य का प्रत्युच्चारणरूप निरसन यदि प्रतिवादी नहीं करता तो उसका अननुभाषण निग्रहस्थान होता है । यदि पूर्वोक्तरीत्या हेतु के दूषण देने में प्रतिवादी शास्त्रार्थ का विशेष ज्ञान नहीं होने से असमर्थ होता है तो उस प्रतिवादी का उत्तर अप्रतिपत्ति [उत्तर को न दे सकना जान नहीं सकना] निग्रह स्थान से ही तिरस्कार हुआ माना जायगा न कि अननुभाषण से ।

तेरहवां निग्रहस्थान—वादी के वाक्य को प्रतिवादी नहीं जाने तो वह अज्ञान नामका निग्रहस्थान है । सभ्य पुरुष द्वारा ज्ञात अर्थ को यदि प्रतिवादी नहीं जानता तो

(नं) तदज्ञानं नाम निग्रहस्थानम् । अजानन् कस्य प्रतिषेधं ब्रूयात् ? इत्यप्यसारम्; प्रतिज्ञाहान्यादि-निग्रहस्थानानां भेदाभावानुषङ्गात् तत्राप्यज्ञानस्यैव सम्भवात् । तेषां तत्प्रभेदत्वे वा निग्रहस्थानप्रति-नियमाभावप्रसङ्गः परोक्तस्यार्द्धज्ञानादिभेदेन निग्रहस्थानानेकत्वसम्भवात् ।

"उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ।" [न्यायसू० ५।२।१८] साप्यज्ञानान्न भिद्यत एव ।

"निग्रहप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ।" [न्यायसू० ५।२।२१] पर्यनुयोज्यो हि निग्रहोपपत्त्या चोदनीयस्तस्योपेक्षणं 'निग्रहं प्राप्तोसि' इत्यननुयोग एव । एतच्च 'कस्य पराजयः' इत्यनुयुक्तया परिषदा वचनीयम् । न खलु निग्रहप्राप्तः स्वं कौपीनं विवृणुयात् । इत्यप्यज्ञानान्न व्यति-रिच्यत एव ।

उसका अज्ञान निग्रहस्थान होगा । क्योंकि वादी के वाक्य को जानेगा ही नहीं तो उसका प्रतिषेध कैसे करेगा ? आचार्य कहते हैं कि नैयायिक का यह निग्रहस्थान भी असार है, इससे तो आपके प्रतिज्ञा हानि आदि निग्रहस्थानों में कोई भेद ही नहीं रहेगा, क्योंकि उन सबमें भी अज्ञान की ही बहुलता है । यदि प्रतिज्ञा हानि आदि में अज्ञान समानरूप से होने पर भी उनको अज्ञान नामा निग्रहस्थान से भिन्न माना जाय तो निग्रहस्थानों की संख्या का कोई नियम नही रहेगा फिर तो वादी के वाक्य का अर्द्ध अज्ञान रहना आदि रूप अज्ञान के अनेक भेद होने से अनेक निग्रहस्थान होना संभव है ।

चौदहवां निग्रहस्थान—वादी के अनुमान वाक्य को ज्ञात करके भी समय पर उत्तर नही दे सकना प्रतिवादी का अप्रतिभा नामका निग्रहस्थान है, सो यह भी अज्ञान निग्रहस्थान से भिन्न नही है ।

पन्द्रहवां निग्रहस्थान—जिसका निग्रह प्राप्त था फिर भी उसका निग्रह नहीं करना पर्यनुयोज्य उपेक्षण नामका निग्रहस्थान है । निग्रह की उपपत्ति से अर्थात् यह तुम्हारा निग्रहस्थान होने से तुम निगृहीत किये जाते हो ऐसा निग्रह प्राप्त वादी या प्रतिवादी को कहना चाहिये था किन्तु उसने उसकी उपेक्षा कर दी अतः यह पर्यनुयोज्य उपेक्षण निग्रहस्थान कहलाया । इसमें जैन का कटाक्ष है कि निग्रह प्राप्त वादी या प्रतिवादी जो भी पुरुष है उस निग्रह प्राप्त अन्यतर पुरुष की शेष अन्य पुरुष उपेक्षा करता है तो पुनः किसलिये कोई कहेगा कि मेरे निग्रह प्राप्ति की तुमने उपेक्षा की, इत्यादि, यह तो "किसका पराजय हुआ" ऐसा सभ्यजनों को पूछने पर सभ्यों द्वारा

"अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानानुयोगो निरनुयोज्यानुयोगः ।" [न्यायसू० ५।२।२२] तस्याप्यज्ञानात्पृथग्भावोनुपपन्न एव ।

"कार्यव्यासङ्गात्कथाविच्छेदो विक्षेपः" [न्यायसू० ५।२।१६] सिसाधयिषितस्यार्थस्याऽशक्यसाध्यतामवसीय कालयापनार्थं यत्कर्त्तव्यं व्यासज्य कथां विच्छिनत्ति–इदं मे करणीयं परिहीयते, तस्मिन्नवसिते पश्चात्कथयिष्यामि । इत्यप्यज्ञानतो नार्थान्तरमिति प्रतिपत्तव्यम् ।

"स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ।" [न्यायसू० ५।२।२०] यः परेण चोदितं दोषमनुद्धृत्य ब्रवीति–'भवत्पक्षेप्ययं दोषः समानः' इति, स स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात्परपक्षे दोषं प्रसजन् परमतमनुजानातीति मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानमापद्यते । इत्यप्यज्ञानान्न भिद्यते एव ।

कहा जाना चाहिए, क्योंकि निग्रह प्राप्त व्यक्ति स्वयं अपने कौपीन को नहीं खोलता है, अतः प्रथम बात यह हुई कि पर्यनुयोज्य उपेक्षण को सभ्यजन कहेंगे प्रतिवादी अथवा वादी नहीं, तथा दूसरी बात यह है कि इसको कोई भी कहे किन्तु अज्ञान निग्रहस्थान से यह पृथक् नहीं है ।

सोलहवां निग्रहस्थान—जो निग्रह का स्थान नहीं है उसमें निग्रह दोष उठाना निरनुयोज्यानुयोग नामका निग्रहस्थान है । किन्तु यह भी अज्ञान निग्रहस्थान से पृथक् नही होने से सिद्ध नही होता ।

सतरहवां निग्रहस्थान—कार्य के व्यासंग से कथा–वाद का विच्छेद कर देना विक्षेप नामा निग्रहस्थान है । जिस अर्थ को सिद्ध करने की इच्छा थी उसको उपस्थित करके पुनः वादी देखता है कि इसका सिद्ध होना अशक्य है, काल पूरा करने के लिये जो कर्त्तव्य था उसको गमाकर यह कहकर वादका विच्छेद कर देता है कि मेरा यह अवश्य कार्य नष्ट हो रहा है उसको पूरा करके पीछे इस विषय पर कहूंगा । इसप्रकार यह विक्षेप निग्रहस्थान है । आचार्य कहते हैं कि यह भी अज्ञान निग्रहस्थान से भिन्न नहीं है ।

अठारहवां निग्रहस्थान—अपने पक्ष में दोष स्वीकार करके पर के पक्ष में दोष का प्रसंग लाना मतानुज्ञा नामका निग्रहस्थान है । जो वादी पर के द्वारा उपस्थित किये दोष को तो दूर करता नहीं और बोलता है कि तुम्हारे पक्ष में भी यह दोष समानरूप से मौजूद है । सो यह स्वपक्ष में दोष को मानकर पर पक्ष में दोष लगाता

अनैकान्तिकता चात्र हेतोः; तथाहि–'तस्करोय पुरुषत्वात्प्रसिद्धतस्करवत्' इत्युक्ते 'त्वमपि तस्करः स्यात्' इति हेतोरनैकान्तिकत्वमेवोक्तं स्यात्। स चात्मीयहेतोरात्मनैवानैकान्तिकत्वं दृष्ट्वा प्राह–भवत्पक्षेप्ययं दोषः समानः–त्वमपि पुरुषोसि इत्यनैकान्तिकत्वमेवोद्भावयतीति।

"हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम्।" [न्यायसू० ५।२।१२] यस्मिन्वाक्ये प्रतिज्ञादीनामन्यतमोऽवयवो न भवति तद्वाक्यं हीनं नाम निग्रहस्थानम्। साधनाभावे साध्यसिद्धेरभावात्, प्रतिज्ञादीनां च पञ्चानामपि साधनत्वात्; इत्यप्यसमीचीनम्; पञ्चावयवप्रयोगमन्तरेणापि साध्यसिद्धेः प्रतिपादितत्वात्, पक्षहेतुवचनमन्तरेणैव तत्सिद्धेरभावात् अतस्तद्धीनमेव न्यूनं निग्रहस्थानमिति।

"हेतूदाहरणाधिकमधिकम्।" [न्यायसू० ५।२।१३] यस्मिन्वाक्ये द्वौ हेतू द्वौ वा दृष्टान्तौ

हुआ परमत को स्वीकारता है, अतः उसको मतानुज्ञा निग्रहस्थान प्राप्त होता है। किंतु यह भी अज्ञान निग्रहस्थान से पृथक् नहीं है। तथा इसतरह के कथन में हेतु की अनैकान्तिकता सिद्ध होती है। आगे इसीको दिखाते हैं, यह चोर है पुरुष होने से प्रसिद्ध तस्कर के समान। ऐसा वादी के कहने पर प्रतिवादी यदि कहे कि फिर तुम तस्कर हो, इसतरह पुरुषत्व हेतु की अनैकान्तिकता कही। अब इस पर वादी अपने हेतु में अपने द्वारा ही अनैकान्तिकता आती देखकर बोलता है कि आपके पक्ष में भी दोष समान है, तुम भी पुरुष हो, इसतरह वह अनैकान्तिक दोष ही प्रगट कर देता है।

उन्नीसवां निग्रहस्थान—अनुमान के कोई अवयव कम करके कथन करना हीन नामका निग्रहस्थान है। जिस अनुमान वाक्य में प्रतिज्ञा, हेतु आदि में से कोई अवयव नहीं हो तो वह वाक्य हीन निग्रहस्थान कहलायेगा। क्योंकि साधन के अभाव मे साध्य की सिद्धि नहीं होती और प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पांचों ही साधन कहलाते हैं। नैयायिक का यह मंतव्य भी असत् है, उक्त पांचों अवयवों के बिना केवल दो अवयवों से भी साध्यसिद्धि होती है, हां पक्ष और हेतु इन दो के कथन के बिना तो साध्य की सिद्धि असम्भव है, इसलिये यदि इन दो में से एक कम कहा जाय तो हीन निग्रहस्थान बन सकता है।

बीसवां निग्रहस्थान—हेतु और उदाहरण को अधिक देना अधिक नामका निग्रहस्थान है। जिस अनुमान वाक्य में दो हेतु हों अथवा दो दृष्टांत दिये हों वह

तदधिकं निग्रहस्थानम्; इत्यपि वार्त्तम्; तथाविधाद्वाक्यात्पक्षप्रसिद्धौ पराजयायोगात्। कथं चैवं प्रमाणसंप्लवोभ्युपगम्यते ? अभ्युपगमे वाधिकत्वान्निग्रहाय जायेत। 'प्रतिपत्तिदार्ढ्य-संवादसिद्धि-प्रयोजनसद्भावान्न निग्रहः' इत्यन्यत्रापि समानम्। हेतुना दृष्टान्तेन वैकेन प्रसाधितेप्यर्थे द्वितीयस्य हेतोर्दृष्टान्तस्य वा नानर्थक्यम्, तत्प्रयोजनसद्भावात्। न चैवमनवस्था; कस्यचित्क्वचिन्निराकांक्षतोपपत्तेः प्रमाणान्तरवत्। कथं चास्य कृतकत्वादौ स्वार्थिककप्रत्ययवचनम्, 'यत्कृतकं तदनित्यम्' इति व्याप्तौ यत्तद्वचनम्, वृत्तिपदप्रयोगादेव चार्थप्रतिपत्तौ वाक्यप्रयोगः अधिकत्वान्निग्रहस्थानं न स्यात् ?

अधिक निग्रहस्थान है। किन्तु यह भी व्यर्थ का निग्रहस्थान है। इसप्रकार के दो हेतु आदि वाले अनुमान वाक्य से यदि पक्ष सिद्ध होता है तो पराजय कथमपि नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि इसतरह अधिक हेतु आदि का प्रयोग करना निषिद्ध मानोगे तो प्रमाण-संप्लव किस तरह स्वीकृत होगा ? [एक प्रमाण के विषय में अन्य प्रमाणों की प्रवृत्ति होना प्रमाण संप्लव कहलाता है, एकस्मिन् प्रमाण विषये प्रमाणान्तर वर्त्तनं प्रमाणसंप्लवः] यदि स्वीकृत है तो वह अधिक होने से निग्रह के लिये कारण बन जायगा।

नैयायिक—प्रमाण सप्लव मानने मे निग्रह का प्रसंग नही होता, क्योंकि इससे प्रतिपत्ति मे दृढ़ता आती है एवं संवाद [समर्थन] सिद्ध होता है ?

जैन—यह बात अधिक हेतु आदि में भी समान है। देखिये-एक हेतु या दृष्टांत द्वारा साध्यसिद्ध होने पर भी दूसरा हेतु या दृष्टांत देना व्यर्थ नहीं जाता, क्योंकि द्वितीय हेतु आदि के प्रयोग से तो प्रतिपत्ति की दृढ़ता आती है। ऐसा प्रयोग करने से अनवस्था हो जाने की आशंका भी नहीं करना, किसी को किसी वाक्य में निराकांक्षा हो ही जाती है जैसे प्रमाणान्तर प्रयोग में हो जाती है। अर्थात् एक ही अनुमान वाक्य में दूसरे हेतु आदि आयेंगे तो आगे आगे अन्यान्य भी आते रहने से अनवस्था बन बैठेगी ऐसी शंका नही करना, क्योंकि एक दो हेतु प्रयोग के अनन्तर प्रतिपत्ति की कांक्षा समाप्त होती है। जैसे एक प्रमाण के विषय में अन्य प्रमाण उपस्थित होवे तो आगे दो तीन प्रमाण के अनन्तर अपेक्षा समाप्त होती है अतः प्रमाण संप्लव में अनवस्था नही आती है। अधिक हेतु प्रयोग को निग्रहस्थान बतलाने वाले नैयायिक से हम जैन पूछते हैं कि, दो हेतु आदि के प्रयोग से निग्रह होता है तो कृतकत्व आदि हेतु पद में स्वार्थिक क प्रत्यय अधिक है, एवं जो कृतक होता है वह अनित्य होता है-

तथाविधस्याप्यस्य प्रतिपत्तिविशेषोपायत्वात्तन्नेति चेत्; कथमनेकस्य हेतोर्दृष्टान्तस्य वा तदुपायभूतस्य वचनं निग्रहाधिकरणम् ? निरर्थकस्य तु वचनं निरर्थकत्वादेव निग्रहस्थानं नाधिकत्वादिति ।

"सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः ।" [न्यायसू० ५।२।२३] प्रतिज्ञातार्थपरित्यागान्निग्रहस्थानम् । यथा नित्यानऽभ्युपेत्य शब्दादीन् पुनरनित्यान् ब्रूते । इत्यपि प्रतिवादिनः प्रतिपक्षसाधने सत्येव निग्रहस्थानं नान्यथा ।

"हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ।" [न्यायसू० ५।२।२४] असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययाप-

---

"यत् कृतकं तद् अनित्यं" इसप्रकार व्याप्ति दिखाने में यत् और तत् शब्द अधिक है, यहां पर समासान्त पद के प्रयोग से ही अर्थ की प्रतिपत्ति होना सम्भव है अतः वाक्य प्रयोग करना अधिक होने से निग्रहस्थान कैसे नहीं होगा ? अवश्य ही होगा ।

नैयायिक—कृतकत्व आदि हेतु पद में क प्रत्यय अधिक होने पर या यत् तत् शब्द अधिक होने पर भी वे शब्द प्रतिपत्ति विशेष के उपायभूत हैं अतः निग्रहस्थान नहीं कहलाते ?

जैन—तो फिर अनेक हेतु या दृष्टांत भी प्रतिपत्ति विशेष के उपाय होने से निग्रहस्थान कैसे कहला सकते है ? हां यदि निरर्थक हो दो हेतु आदि प्रयुक्त होवे तो निरर्थक के कारण निग्रहस्थान बना न कि अधिकता के कारण ।

इक्कीसवां निग्रहस्थान—सिद्धांत को स्वीकार कर पुनः उसके अनियम से कथा [वाद] करना अपसिद्धांत निग्रहस्थान है, अर्थात् अपने स्वीकृत आगम से विरुद्ध साध्य को सिद्ध करना अपसिद्धांत कहलाता है, इसमें प्रतिज्ञात अर्थ का त्याग होने से निग्रह होता है । जैसे शब्दों को नित्य स्वीकार कर पुनः अनित्य कहने लगना । सो यह निग्रहस्थान भी प्रतिवादी के प्रतिपक्ष के सिद्ध होने पर ही उपयोगी है अन्यथा नहीं ।

बाईसवां निग्रहस्थान—हेत्वाभास का प्रयोग करना हेत्वाभास निग्रहस्थान है, असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट, और प्रकरणसम ये पांच हेत्वाभास हैं, इनका अनुमान में प्रवेश हो तो हेत्वाभास निग्रहस्थान बनता है । इनमें हमारा कहना है कि विरुद्ध हेत्वाभास के प्रगट होने पर प्रतिपक्ष की सिद्धि होती है अतः इस हेत्वा-

दिष्टप्रकरणसमा निग्रहस्थानम् । इत्यत्रापि विरुद्धहेतूद्भावने प्रतिपक्षसिद्धेर्निग्रहाधिकरणत्वं युक्तम् । असिद्धाद्युद्भावने तु प्रतिवादिना प्रतिपक्षसाधने कृते तद्युक्तं नान्यथेति ।

भास को निग्रहस्थान कह सकते हैं किन्तु असिद्ध आदि हेत्वाभास के प्रगट होने पर भी तदनन्तर यदि प्रतिवादी प्रतिपक्ष की सिद्धि कर देता है तब तो उक्त हेत्वाभास निग्रह-स्थान बन सकते हैं, अन्यथा नहीं ।

भावार्थ—यहां तक नैयायिक द्वारा मान्य २२ निग्रहस्थानों का निरसन किया है । चतुरंग [सभ्य, सभापति, वादी और प्रतिवादी] वाद के समय प्रथम पक्ष स्थापित करने वाला वादी यदि एक प्रतिज्ञा को कहकर पुनः उसको छोड़ देता है या अन्य प्रतिज्ञा करता है, तो वह वादी के पराजय का कारण है, ऐसा नैयायिक का कहना है, किन्तु वह समीचीन नहीं है प्रतिज्ञा हानि आदि स्वल्प स्वल्प दोष होने मात्र से वादी का पराजय या प्रतिवादी का विजय नहीं हुआ करता, वादी ने प्रतिज्ञा हानि आदि की और उसको ज्ञातकर प्रतिवादी ने उक्त दोष प्रगट भी कर दिया तो इतने मात्र से प्रतिवादी का विजय नहीं होगा, इसके लिये तो उसे अपना जो प्रतिपक्ष है उसको सभ्य आदि के आगे सभा में सिद्ध करना होगा स्वपक्ष सिद्ध होने पर ही प्रतिवादी का जय माना जायगा । इसीप्रकार वादी ने कदाचित् सदोष अनुमान उपस्थित किया है और प्रतिवादी ने उसका प्रकाशन नहीं किया तो उतने मात्र से जय या पराजय नही हो सकता । तथा सदोष अनुमान वाक्य बोलने के अनेक प्रकार हो सकते हैं इसलिये नैयायिक का यह आग्रह कि निग्रहस्थान बाईस ही है समीचीन नही है न उन निग्रह-स्थानों द्वारा किसी का जय निश्चित हो सकता है, निग्रहस्थानों के पूर्व नैयायिकों ने तीन प्रकार के छल [वाक्छल, सामान्य छल, और उपचार छल] एवं चौबीस प्रकार जातियों का निरूपण कर उनके द्वारा उनके प्रयोक्ता वादी या प्रतिवादी का निग्रह होना कहा था, उस प्रकरण में भी आचार्य ने यही सिद्ध कर दिया कि छल या जाति मात्र से जय पराजय की व्यवस्था नहीं होती है ।

अंत में यही निर्णय किया है कि वादी प्रतिज्ञा हानि, प्रतिज्ञा विरोध आदि रूप सदोष वाक्य कहे और प्रतिवादी उनका प्रकाशन करे अथवा नहीं भी करे तो भी उससे वादी का पराजय नहीं होगा न प्रतिवादी का जय। इसीप्रकार प्रतिवादी ने वादी

एतेनासाधनाङ्गवचनादि निग्रहस्थानं प्रत्युक्तम्; एकस्य स्वपक्षसिद्ध्यैवान्यस्य निग्रहप्रसिद्धेः। ततः स्थितमेतत्—

"स्वपक्षसिद्धेरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिनः।

नासाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः॥" [　　　　] इति।

इदं चानवस्थितम्—

"असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।

निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते॥" [वादन्यापृ० १] इति। अत्र हि स्वपक्षं साधयन्

के पक्ष का निरसन करने के लिये कुछ व्यर्थ का कथन किया निग्रहस्थानरूप वचन बोले तो उतने मात्र से उसका पराजय नहीं होगा न वादी का जय। जय पराजय की निर्दोष व्यवस्था यह है कि वादी ने सदोष वाक्य कहा और प्रतिवादी ने उसका प्रकाशन किया तथा अपने प्रतिपक्ष को भली प्रकार सभा में सिद्ध कर दिया है तो प्रतिवादी का जय होगा। तथा वादी ने निर्दोष अनुमान कहा है और तदनन्तर सभा में स्वपक्ष सिद्ध कर दिया है तो वादी का जय होगा। एक के जय निश्चित होने पर दूसरे का पराजय तो नियम से होगा ही। इसप्रकार स्वपक्ष की सिद्धि पर ही जय का निश्चय होता है अन्यथा नहीं।

यहां तक नैयायिक मताभिमत बाईस निग्रहस्थानों का निरसन हो चुका, अब आगे बौद्धाभिमत निग्रहस्थानों का सयुक्तिक निराकरण करते हैं।

बौद्ध के द्वारा माने गये निग्रहस्थानों का भी उपर्युक्त रीत्या निरसन हुआ समझना चाहिए, वादी या प्रतिवादी में से एक के स्वपक्ष का सिद्ध होना ही दूसरे का निग्रह माना जाता है। इसी को अन्यत्र भी कहा है—एक वादी के स्वपक्ष के सिद्धि से अन्य का निग्रह हो जाता है, अतः वादी और प्रतिवादी में असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन नाम के निग्रहस्थान मानना अयुक्त है। अतः बौद्ध की यह मान्यता कि वादी का असाधनांग वाक्य का कहना ही निग्रहस्थान है एवं प्रतिवादी का उक्त वाक्य में अदोषोद्भावनदोष प्रकट नहीं करना ही निग्रहस्थान है, बस यही दो निग्रहस्थान स्वीकारने चाहिए, अन्य नैयायिकाभिमत प्रतिज्ञा हानि आदि निग्रहस्थान व्यर्थ के हैं। इत्यादि सो असिद्ध है। इस विषय में बौद्ध के प्रति हम जैन प्रश्न करते हैं कि वादी के

वादिप्रतिवादिनोरन्यतरोऽसाधनाङ्गवचनादऽदोषोद्भावनाद्वा परं निगृह्णाति, असाधयन्वा ? प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्ध्यैवास्य पराजयादन्योद्भावनं व्यर्थम् । द्वितीयपक्षे तु असाधनाङ्गवचनाद्युद्भावनेपि न कस्यचिज्जयः पक्षसिद्धे रुभयोरभावात् ।

यच्चास्य व्याख्यानम्–"साधनं सिद्धिः तदङ्गं त्रिरूपं लिङ्गम्, तस्याऽवचनं तूष्णींभावो यत्किञ्चिद्भाषणं वा । साधनस्य वा त्रिरूपलिङ्गस्याङ्गं समर्थनम् विपक्षे बाधकप्रमाणदर्शनरूपम्, तस्याऽवचनं वादिनो निग्रहस्थानम्" [वादन्यायपृ० ५–६] इति । तत्पञ्चावयवप्रयोगवादिनोपि समानम्–शक्यं हि तेनाप्येवं वक्तुम्–सिद्ध्यङ्गस्य पञ्चावयवप्रयोगस्यावचनात्सौगतस्य वादिनो

असाधनांगवचन के कहने पर प्रतिवादी स्वपक्ष को सिद्ध करते हुए वादी का निग्रह करता है या स्वपक्ष को बिना सिद्ध किये निग्रह करता है ? इसीप्रकार प्रतिवादी के अदोषोद्भावन अर्थात् दोष को प्रगट नहीं करने पर वादी स्वपक्ष को सिद्ध करते हुए उक्त प्रतिवादी का निग्रह करता है या स्वपक्ष को बिना सिद्ध किये निग्रह करता है ? स्वपक्ष को सिद्ध करते हुए निग्रह करता है ऐसा प्रथम विकल्प माने तो स्वपक्ष के सिद्धि से ही अन्य का पराजय हो चुका अब दूसरे दोष का उद्भावन व्यर्थ है । स्वपक्ष को सिद्ध किये बिना ही पर का निगृह करता है ऐसा द्वितीय विकल्प माने तो असाधनांग-वचन आदि का उद्भावन चाहे कर लेवे तो भी किसी का जय सम्भव नहीं, क्योंकि दोनों के ही पक्ष के सिद्धि का अभाव है ।

आगे बौद्ध के असाधनांगवचन निगृहस्थान का पुनः विवेचन करते हैं–सिद्धि को साधन कहते है उस साधन का अंग त्रिरूप हेतु है उसका अवचन मौन रहना या जो चाहे बोलना है । अथवा त्रिरूप हेतु का समर्थन करने को अंग कहते हैं अर्थात् विपक्ष में बाधक प्रमाण है हेतु विपक्ष में नहीं जाता है इत्यादि दिखाना साधन का अंग कहलाता है, उसका अवचन–कथन नहीं करना असाधनांगवचन नामका वादी का निगृहस्थान है । इस बौद्ध मंतव्य पर हम जैन का कहना है कि यह व्याख्यान अनुमान के पांच अवयव मानने वाले यौग के भी घटित होगा, यौग कह सकते हैं कि साध्यसिद्धि का कारण पच अवयवों का प्रयोग है बौद्ध उसका कथन नहीं करते अतः बौद्ध प्रवादी का निगृह होता है ।

निग्रहः । ननु चास्य तदवचनेपि न निग्रहः प्रतिज्ञानिगमनयोः पक्षधर्मोपसंहारस्य सामर्थ्याद्गम्यमानत्वात् । गम्यमानयोश्च वचने पुनरुक्तत्वानुषङ्गात् । ननु तत्प्रयोगेपि हेतुप्रयोगमन्तरेण साध्यार्थाप्रसिद्धिः; इत्यप्यपेशलम्; पक्षधर्मोपसंहारस्याप्येवमवचनानुषङ्गात् । अथ सामर्थ्याद्गम्यमानस्यापि 'यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं यथा घटः संश्च शब्दः' इति पक्षधर्मोपसंहारस्य वचनं हेतोरपक्षधर्मत्वेनासिद्धत्वव्यवच्छेदार्थम्; तर्हि साध्याधारसन्देहापनोदार्थं गम्यमानस्यापि पक्षस्य निगमनस्य च पक्षहेतूदाहरणोपनयानामेकार्थत्वप्रदर्शनार्थं वचनं किन्न स्यात्? न हि पक्षादीनामेकार्थत्वोपदर्शनमन्तरेण सगतत्वं घटते; भिन्नविषयपक्षादिवत् ।

ननु प्रतिज्ञातः साध्यसिद्धौ हेत्वादिवचनमनर्थकमेव स्यात्, अन्यथा नास्याः साधनांगतेति चेत्;

शंका—पंच अवयवों का कथन नहीं करने पर भी निग्रह नहीं होगा, क्योंकि प्रतिज्ञा और निगमन पक्षधर्म के उपसंहार की सामर्थ्य से गम्य हो जाते हैं, गम्य होने पर भी उनको कहा जाय तो पुनरुक्तता होगी ?

प्रति शंका—प्रतिज्ञा आदि का प्रयोग होने पर भी हेतु प्रयोग बिना तो साध्य अर्थ की असिद्धि ही है ?

समाधान—उपर्युक्त शंका प्रति शंका अयुक्त है, इसतरह के कथन से तो पक्ष धर्मका उपसंहार करना भी असिद्ध होगा । यदि कहा जाय कि पक्षधर्म का उपसंहार यद्यपि सामर्थ्य से गम्य है तो भी हेतु के अपक्षधर्मत्व की असिद्धि है अर्थात् अपक्षधर्मत्व के कारण हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं है, ऐसा हेतु के अपक्षधर्मत्व का व्यवच्छेद करने के लिये पक्षधर्म का उपसंहार करना घटित होता है, तो फिर साध्यधर्म के आधार के विषय में उत्पन्न हुए संदेह को दूर करने के लिये सामर्थ्य से गम्य होने पर भी पक्ष [प्रतिज्ञा] का प्रयोग एवं पक्ष, हेतु, उदाहरण और उपनयों का एकार्थपना दिखाने के लिये निगमन का कथन क्यों नहीं घटित होगा ? अवश्य होगा । क्योंकि पक्ष हेतु आदि का एकार्थत्व दिखाये बिना उक्त अवयवों की संगति नहीं बैठती, जैसे कि भिन्न भिन्न विषय वाले पक्ष हेतु की परस्पर संगति नहीं होती ।

बौद्ध—प्रतिज्ञा से साध्य की सिद्धि मानी जाय तो हेतु आदि का कथन व्यर्थ होगा, और यदि प्रतिज्ञा से साध्यसिद्धि नहीं होती तो उसको साध्यसिद्धि का अंग नहीं मानना चाहिये ?

तर्हि भवतोपि हेतुतः साध्यसिद्धौ दृष्टान्तोनर्थकः स्यात्, अन्यथा नास्य साधनांगतेति समानम्। ननु साध्यसाधनयोर्व्याप्तिप्रदर्शनार्थत्वाद् दृष्टान्तो नानर्थकः तत्र तदप्रदर्शने हेतोरगमकत्वात्; इत्यप्यसंगतम्; सर्वानित्यत्वसाधने सत्त्वादेर्दृष्टान्तासम्भवतोऽगमकत्वानुषंगात्। विपक्षव्यावृत्त्या सत्त्वादेर्गमकत्वे वा सर्वत्रापि हेतौ तथैव गमकत्वप्रसंगाद् दृष्टान्तोनर्थक एव स्यात्। विपक्षव्यावृत्त्या च हेतुं समर्थयन् कथं प्रतिज्ञा प्रतिक्षिपेत्? तस्याश्चानभिधाने क्व हेतुः साध्यं वा वर्त्तेत? गम्यमाने प्रतिज्ञा-

---

जैन—तो आपके यहां भी हेतु से साध्यसिद्धि होना माना जाता है तो दृष्टांत व्यर्थ होगा, तथा हेतु से साध्यसिद्धि नहीं होती है तो उसको साध्यसिद्धि का अंग नहीं मानना चाहिये।

बौद्ध—साध्य और साधन को व्याप्ति दिखाने वाला होने से दृष्टांत देना व्यर्थ नहीं है यदि उक्त साध्य साधन की व्याप्ति दिखायी नहीं जायगी तो हेतु अगमक अर्थात् साध्य का अज्ञापक बन जायगा।

जैन—यह असंगत है, यदि दृष्टांत के बिना हेतु को अगमक माना जायगा तो आपके सुप्रसिद्ध अनुमान का [सर्वं क्षणिक सत्त्वात्] सत्त्व नामका हेतु दृष्टांत के असम्भव होने से अगमक बन बैठेगा। यदि कहा जाय कि "सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् सब पदार्थ क्षणिक हैं-अनित्य हैं सत्त्वरूप होने से" इस अनुमान में सब पदार्थ पक्ष में अन्तर्भूत होने से सपक्षरूप दृष्टांत कहना अशक्य है तो भी सत्त्व हेतु विपक्ष जो अक्षणिक या नित्य है उससे व्यावृत्त है अतः इस विपक्षाद् व्यावृत्तिरूप बल से वह साध्य का गमक बन जाता है, तो इसीप्रकार सभी हेतु साध्य के गमक हो जायेंगे अन्त में दृष्टांत तो व्यर्थ ठहरता ही है। बड़ा आश्चर्य है कि आप बौद्ध विपक्ष व्यावृत्ति से हेतु का समर्थन करते हुए भी प्रतिज्ञा का निराकरण किसप्रकार करते हैं ? यदि प्रतिज्ञा वाक्य न कहा जाय तो हेतु या साध्य कहां पर रहेगा ?

बौद्ध—प्रतिज्ञा तो गम्यमान हुआ करती है उसी में साध्य तथा हेतु रहते हैं ?

जैन—तो गम्यमान हेतु का समर्थन होना चाहिए न कि कहे जाने पर, अर्थात् हेतु के बिना कहे ही उसका समर्थन आपको करना चाहिए ? हेतु गम्यमान है ही।

विषये एवेति चेत्; तर्हि गम्यमानस्यैव हेतोरपि समर्थनं स्यान्न तूक्तस्य । अथ गम्यमानस्यापि हेतोर्मन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थं वचनम्; तथा प्रतिज्ञावचने कोऽपरितोषः ?

यच्चेदम्–'असाधनांगम्' इत्यस्य व्याख्यान्तरम्–"साधर्म्येण हेतोर्वचने वैधर्म्यवचनं वैधर्म्येण वा प्रयोगे साधर्म्यवचनं गम्यमानत्वात् पुनरुक्तम् । अतो न साधनांगम् ।" [वादन्यायपृ० ६५] इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतः सम्यक्साधनसामर्थ्येन स्वपक्ष साधयतो वादिनो निग्रहःस्यात्, असाधयतो वा ? प्रथमपक्षे कथं साध्यसिद्ध्यऽप्रतिबन्धिवचनाधिक्योपलम्भमात्रेणास्य निग्रहो विरोधात् ? नन्वेवं

बौद्ध—यद्यपि हेतु गम्यमान [ज्ञात] है तो भी मंदमति के बोध के लिये उसका कथन करते हैं ?

जैन—इसी तरह प्रतिज्ञा के कथन करने में आपको क्या असंतोष है ? अर्थात् जैसे गम्यमान हुआ भी हेतु मदमति के लिये कहना पड़ता है वैसे गम्यमान हुई भी प्रतिज्ञा मंदमति के लिए कहनी पड़ती है ।

बौद्ध के यहां "असाधनांग" इस पद का दूसरा व्याख्यान इसतरह है—साधर्म्य द्वारा [साधर्म्य दृष्टांत अर्थात् अन्वय दृष्टांत द्वारा] हेतु के कथन करने पर पुनः वैधर्म्य का [वैधर्म्य दृष्टांत अर्थात् व्यतिरेक दृष्टांत का] कथन करना अथवा वैधर्म्य द्वारा [व्यतिरेक दृष्टांत द्वारा] हेतु के कथन करने पर पुनः साधर्म्य [अन्वय दृष्टांत का] कथन करना पुनरुक्त दोष है क्योंकि साधर्म्य वैधर्म्य में से एक के कथन करने पर दूसरा स्वतः गम्य होता है अतः उक्त प्रयोग साधन का [साध्यसिद्धि का] अंग नहीं है । सो यह व्याख्यान भी असत् है । इसमें हमारा प्रश्न है कि उक्त पुनरुक्त को आपने असाधनांग कहा वह सम्यक् हेतु की सामर्थ्य से स्वपक्ष को सिद्ध करने वाले वादी के निग्रह का कारण है अथवा स्वपक्ष को सिद्ध नहीं करने वाले वादी के निग्रह का कारण है ? प्रथम विकल्प कहो तो जो साध्यसिद्धि का प्रतिबंधक [रोकने वाला] नहीं है ऐसे वचन के अधिक कहने मात्र से वादी का निग्रह होना कैसे शक्य है ? यह तो परस्पर विरोध वाली बात है कि सम्यक् हेतु की सामर्थ्य से पक्ष सिद्ध कर रहा है और उसका निग्रह [पराजय] भी किया जा रहा है ।

नाटकादिघोषणातोप्यस्य निग्रहो न स्यात्; सत्यमेवैतत्; स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोपि दोषाभावाल्लोकवत्। अन्यथा ताम्बूलभक्षणभ्रूक्षेपखात्कृताकम्पहस्तास्फालनादिभ्योपिसत्यसाधनवादिनो निग्रहः स्यात्। अथ स्वपक्षमप्रसाधयतोस्य निग्रहः; नन्वत्रापि किं प्रतिवादिना स्वपक्षे साधिते वादिनो वचनाधिक्योपलम्भान्निग्रहो लक्ष्येत, असाधिते वा ? प्रथमविकल्पे स्वपक्षसिद्ध्यैवास्य निग्रहाद्वचनाधिक्योद्भावनमनर्थकम्, तस्मिन् सत्यपि स्वपक्षसिद्धिमन्तरेण जयायोगात्। द्वितीयपक्षे तु युगपद्वादिप्रतिवादिनो पराजयप्रसंगो जयप्रसंगो वा स्यात्स्वपक्षसिद्धेरभावाविशेषात्।

ननु न स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ जयपराजयौ तयोर्ज्ञानाज्ञाननिबन्धनत्वात्। साधनवादिना

बौद्ध—साध्यसिद्धि में अप्रतिबंधक किन्तु पुनरुक्त ऐसे वचन को निगृहरूप न माना जाय तो वादी नाटक या घोषणा आदि कर बैठे तो उससे भी उसका निगृह नहीं कर सकेंगे ?

जैन—ठीक ही तो है, अपने साध्य को सिद्ध करके पीछे नृत्य भी करे तो कोई दोष नहीं है, लोक में ऐसा ही देखा गया है। यदि ऐसा न मानें तो सत्य साधन प्रयुक्त करने वाले वादी का तांबूल भक्षण करना, भौं चढ़ाना, खकारना, हाथ हिलाना, ताली ठोकना आदि को करने से भी निगृह मानना होगा। दूसरा विकल्प–स्वपक्ष को सिद्ध न करके पुनरुक्तरूप कथन करने से वादी का निगृह होता है, ऐसा माने तो इसमें पुनः प्रश्न है कि वादी के पुनरुक्त प्रतिपादन करने पर प्रतिवादी द्वारा उसका जो निज पक्ष है उसको साधने पर वादी के पुनरुक्तरूप वचनाधिक्य से निगृह किया जाता है या उसके निज पक्ष के साधे बिना ही निगृह किया जाता है ? प्रथम विकल्प कहो तो प्रतिवादी के निज पक्ष की सिद्धि से ही निगृह हुआ, वचनाधिक्य दोष का प्रकाशन तो व्यर्थ ही है, क्योंकि वचनाधिक्य दोष प्रगट कर देने पर भी स्वपक्ष की सिद्धि किये बिना जय होना अशक्य है। दूसरा विकल्प वादी ने अधिक वचन कहा और प्रतिवादी ने स्वपक्ष को सिद्ध किया नहीं केवल वचनाधिक्य दोष उठाकर निग्रह किया, सो ऐसा माने तो एक साथ वादी प्रतिवादी दोनों के जय या पराजय का प्रसंग आ धमकेगा, क्योंकि दोनों के भी अपने निजपक्ष की सिद्धि नहीं हुई है, इसमें दोनों समान है।

बौद्ध—स्वपक्ष सिद्धि जय का और स्वपक्ष की असिद्धि पराजय का कारण नहीं है, जय और पराजय का कारण तो क्रमशः ज्ञान और अज्ञान है। साधनवादी का

हि साधु साधनं ज्ञात्वा वक्तव्यं दूषणवादिना च तद्दूषणम्। तत्र साधर्म्यवचनाद्वैधर्म्यवचनाद्वाऽर्थस्य प्रतिपत्तौ तदुभयवचने वादिनः प्रतिवादिना सभायामसाधनांगवचनस्योद्भावनात् साधुसाधनाभिधानाज्ञानसिद्धेः पराजयः, प्रतिवादिनस्तु तद्दूषणज्ञाननिर्णयाज्जयः स्यात्; इत्यप्यविचारितरमणीयम्; विकल्पानुपपत्तेः। स हि प्रतिवादी निर्दोषसाधनवादिनो वचनाधिक्यमुद्भावयेत्, साधनाभासवादिनो वा ? तत्राद्यविकल्पे वादिनः कथं साधुसाधनाभिधानाऽज्ञानम्, तद्वचनेयत्ताज्ञानस्यैवासम्भवात् ? द्वितीयविकल्पे तु न प्रतिवादिनो दूषणज्ञानमवतिष्ठते साधनाभासस्यानुद्भावनात्। तद्वचनाधिक्यदोषस्य ज्ञानाद्दूषणज्ञोसाविति चेत्; साधनाभासाज्ञानाददूषणज्ञोपीति नैकान्ततो वादिनं जयेत्, तददोषो-

---

कर्त्तव्य है कि वह अच्छे निर्दोष साधन को जानकर कहे और प्रतिवादी का कर्त्तव्य है कि उक्त साधन के दूषण जानकर दूषण देवे। साधर्म्यवचन से या वैधर्म्यवचन से साध्यार्थ की प्रतिपत्ति होती है इस पर भी वादी उन दोनों वचनों का प्रयोग करे तो प्रतिवादी द्वारा सभा में वादी के ऊपर असाधनांग वचन रूप दोष का उद्भावन कर दिया जाने से वादी के सत्य हेतु के कथन का अज्ञान सिद्ध होकर वादी का पराजय स्वीकारा जायगा, और प्रतिवादी ने वादी के साधन के दूषण को ज्ञात किया है अतः उसके तत्सम्बन्धी ज्ञान का निर्णय होने से जय माना जायगा ?

जैन—यह बात अविचारपूर्ण है, इसमें कोई भी प्रश्न हल नहीं होता, यह बताओ कि निर्दोष हेतु का प्रयोग करने वाले वादी के वचनाधिक्य दोष को प्रतिवादी उठाता है अथवा हेत्वाभास का प्रयोग करने वाले वादी के उक्त दोष उठाता है ? प्रथम पक्ष कहो तो इसमें वादी के सत्य हेतु के कथन का अज्ञान कैसे हुआ ? क्योंकि सत्य या साधु हेतु के ज्ञान रखने वाले के उक्त अज्ञान असम्भव है। हेत्वाभास कहने वाले वादी के ऊपर वचनाधिक्य दोष उठाया जाता है ऐसा दूसरा विकल्प माने तो भी ठीक नहीं, क्योंकि इसमे प्रतिवादी के दूषण देने का ज्ञान सिद्ध नहीं होता, प्रतिवादी को तो हेत्वाभास का प्रयोग करने वाले वादी के हेत्वाभास को प्रगट करना चाहिये था ? वादी के वचनाधिक्य दोष का इसे ज्ञान है अतः यह प्रतिवादी दूषणज्ञ–दूषण का ज्ञाता है ऐसा यदि कहो तो उक्त प्रतिवादी को हेत्वाभास का अज्ञान होने से अदूषणज्ञ कहा जायगा और इसलिये सर्वथा वादी को जीत भी नहीं सकता, उसके तो अदोषोद्भावन लक्षण वाला पराजय भी सम्भव है।

द्भावनलक्षणस्य पराजयस्यापि निवारयितुमशक्तेः। अथ वचनाधिक्यदोषोद्भावनादेव प्रतिवादिनो जयसिद्धौ साधनाभासोद्भावनमनर्थकम्; नन्वेवं साधनाभासानुद्भावनात्तस्य पराजयसिद्धौ वचनाधिक्यो-द्भावनं कथं जयाय प्रकल्प्येत? अथ वचनाधिक्यं साधनाभासं चोद्भावयतः प्रतिवादिनो जयः; कथमेवं साधर्म्यवचने वैधर्म्यवचनं तद्वचने वा साधर्म्यवचन पराजयाय प्रभवेत्?

कथं चैवं वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्यं न स्यात्? क्वचिदेकत्रापि पक्षे साधन-

---

बौद्ध—वचनाधिक्य दोष को प्रगट करने से ही प्रतिवादी का जय सिद्ध हो जाता है अतः साधनाभास दोष को प्रगट करना व्यर्थ है?

जैन—इसीप्रकार साधनाभास को प्रगट नही करने से उस प्रतिवादी का पराजय सिद्ध होने पर वचनाधिक्य को प्रगट करना जय का कारण किसप्रकार माना जा सकता है?

बौद्ध—अच्छा तो ऐसा माना जाय कि वचनाधिक्य और साधनाभास इन दोनो का उद्भावन—प्रगट करने वाले प्रतिवादी का जय होता है?

जैन—तो फिर साधर्म्यवचन अर्थात् अन्वय दृष्टांत के कहने पर वैधर्म्यवचन अर्थात् व्यतिरेक दृष्टांत देना आपने पराजय का कारण माना है वह किसप्रकार संभव होगा, तथा व्यतिरेक दृष्टांत देने पर पुनः अन्वय दृष्टांत देना भी पराजय का कारण माना है वह भी कैसे सम्भव होगा? अर्थात् जब यहां आपने स्वीकार कर लिया कि वचनाधिक्य और साधनाभास दोनों को प्रगट करने पर प्रतिवादी का जय होगा सो यह पुनरुक्तता या अधिक बोलना ही होता है और उससे जय होना भी मान लिया है, अतः पहले आपने जो कहा था कि साधर्म्य दृष्टांत दे चुकने पर पुनः वैधर्म्य दृष्टांत का प्रयोग करे तो पुनरुक्तता या वचनाधिक्य होने से पराजय का कारण है इत्यादि, सो यह कैसे बाधित नहीं होगा? अवश्य ही होगा क्योंकि एक जगह अधिक वचन प्रयोग को पराजय का हेतु कह रहे हो और दूसरी जगह उक्त प्रयोग को जय का हेतु कह रहे हो।

दूसरी बात यह है कि जय का कारण सत्य हेतु प्रयोग का ज्ञान है और पराजय का कारण उक्त हेतु प्रयोग का न जानना रूप अज्ञान है ऐसा माना जाय तो

सामर्थ्यज्ञानाज्ञानयोः सम्भवात्। न खलु शब्दादौ नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य वा परीक्षायाम् एकस्य साधनसामर्थ्ये ज्ञानमन्यस्य चाज्ञानं जयस्य पराजयस्य वा निबन्धनं न सम्भवति। युगपत्साधनसामर्थ्यस्य ज्ञानेन वादिप्रतिवादिनोः कस्य जयः पराजयो वा स्यात्तदविशेषात्? न कस्यचिदिति चेत्; तर्हि साधनवादिनो वचनाधिक्यकारिणः साधनसामर्थ्याऽज्ञानसिद्धेः प्रतिवादिनश्च वचनाधिक्यदोषोद्भावनात्तद्दोषमात्रे ज्ञानसिद्धेर्न कस्यचिज्जयः पराजयो वा स्यात्। न हि यो यद्दोषं वेत्ति स तद्गुणमपि, कुतश्चिन्मारणशक्तिवेदनेपि विषद्रव्यस्य कुष्ठापनयनशक्तौ संवेदनानुदयात्। तन्न तत्सामर्थ्यज्ञानाज्ञाननिबन्धनौ जयपराजयौ शक्यव्यवस्थौ यथोक्तदोषानुषगात्। स्वपक्षसिद्ध्यसिद्धिनिबन्धनौ तु तौ

वादी का पक्ष ग्रहण करना और प्रतिवादी का प्रतिपक्ष ग्रहण करना भी व्यर्थ कैसे नहीं होगा? क्योंकि किसी एक के पक्ष ग्रहण पर भी हेतु के सामर्थ्य का ज्ञान और अज्ञान होना सम्भव है? दूसरे प्रतिपक्ष को काहे को ग्रहण किया जाय? देखिये शब्द आदि पदार्थ में जब नित्यत्व या अनित्यत्व की परीक्षा की जाती है तब एक के [वादी के] साधन के सामर्थ्य के विषय में ज्ञात है वह और उनके [प्रतिवादी के] उक्त विषय में अज्ञात है वह जय या पराजय का निमित्त नही होता हो सो बात नहीं है, अर्थात् एक ही विषय में किसी को ज्ञान और किसी को अज्ञान होना सम्भव ही है। दूसरी बात यह है कि एक साथ वादी और प्रतिवादी दोनों को साधन के सामर्थ्य का ज्ञान भी हो जाय तो उस समय उस ज्ञान के द्वारा दोनों में से किसका जय और किसका पराजय माना जायगा? क्योंकि वादी प्रतिवादी दोनो में ज्ञान समान है कोई विशेषता नहीं है। तुम कहो कि उस समय किसी का भी जय या पराजय नही होगा, तो फिर अधिक वचन को कहने वाला जो साधनवादी है उसके साधन के सामर्थ्य के विषय में अज्ञान सिद्ध होता है क्योंकि उसने अधिक वचन कहा है, तथा प्रतिवादी उक्त वचनाधिक्य दोष को प्रगट करता है उससे दोष के विषयमात्र में उसका ज्ञान सिद्ध होता है, इस प्रकार के प्रसंग में किसी का जय या पराजय नहीं हो सकेगा। क्योंकि जो जिस व्यक्ति के दोष को जानता है वह उस व्यक्ति के गुण को भी जानता हो ऐसा नियम नहीं है, देखा भी जाता है कि किसी निमित्त से विषके मारक शक्ति को [दोष को] ज्ञात कर लेने पर भी उसके कुष्ठरोग को दूर करने की शक्ति को [गुणको] ज्ञात नहीं कर पाते। इसप्रकार निश्चित होता है कि साधन के सामर्थ्य के विषय में ज्ञान होने से जय की और उक्त विषय में अज्ञान होने से पराजय की व्यवस्था करना शक्य नहीं है, ऐसी व्यवस्था मानने में उक्त दोष आते हैं। जय और पराजय की

निरवद्यौ पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्याभावात् । कस्यचित्कुतश्चित्स्वपक्षसिद्धौ सुनिश्चितायां परस्य तत्सिद्ध्यभावतः सकृज्जयपराजयाप्रसंगात् ।

यच्चेदम्-'अदोषोद्भावनम्' इत्यस्य व्याख्यानम्-"प्रसज्यप्रतिषेधे दोषोद्भावनाऽभावमात्रम-दोषोद्भावनम्, पर्युदासे तु दोषाभासानामन्यदोषाणां चोद्भावनं प्रतिवादिनो निग्रहस्थानम्"

व्यवस्था तो स्वपक्ष की सिद्धि और असिद्धि के द्वारा ही निर्दोष रीति से सम्पन्न होती है, इस व्यवस्था में पक्ष और प्रतिपक्ष का ग्रहण करना भी व्यर्थ नहीं होता है । इस व्यवस्था में यह भी एक मौलिकता है कि वादी और प्रतिवादी में से किसी एक पुरुष के किसी निर्दोष हेतु आदि के निमित्त से स्वपक्ष की सिद्धि सुनिश्चित हो जाती है तब शेष परवादी पुरुष के अपने पक्ष की सिद्धि का नियम से अभाव है अतः एक साथ दोनों के जय अथवा पराजय होने का प्रसंग नहीं आता ।

यहां तक बोद्ध के "असाधनांगम्" इस पद के व्याख्यान का निरसन किया ।

"अदोषोद्भावनम्" इस पद का उनके यहां व्याख्यान है कि दोषोद्भावनम् "पद में नञ् समास है न दोषोद्भावनम् इति अदोषोद्भावनम्" इस नञ् का प्रसज्य प्रतिषेध [अत्यन्ताभाव] अर्थ करने पर दोषों के उद्भावन [प्रगट] का अभावमात्र अदोषोद्भावन कहलायेगा और नञ् का पर्युदास निषेध अर्थ करने पर दोषाभासों का तथा अन्य दोषों का उद्भावन करना अदोषोद्भावन कहलायेगा, ऐसा यह अदोषोद्-भावन प्रतिवादी का निग्रहस्थान है । इस व्याख्यान पर हम जैन का कहना है कि यदि वादी सदोष साधन [हेतु] का प्रयोग करता है और फिर भी प्रतिवादी अदोषोद्भावन रूप रहता है तो उसका निग्रहस्थान होगा किन्तु उसमें एक शर्त है यदि वादी स्वपक्ष को सिद्ध कर देगा तो उक्त अदोषोद्भावन प्रतिवादी का निग्रहस्थान बन जायगा, वादी स्वपक्ष को सिद्ध नहीं करेगा तो निग्रहस्थान नहीं हो सकता । बौद्ध के वचनाधिक्य दोष का निराकरण तो पहले ही उसके निरसन करते समय हो चुका है । आप बौद्ध जिसप्रकार प्रतिज्ञा आदि अनुमान के पांच अवयवों के प्रयोग करने पर वचनाधिक्य-नामा निग्रहस्थान हो जाना स्वीकारते हैं, उसीप्रकार योग प्रतिज्ञा आदि तीन अवयवों के प्रयोग करने पर न्यून नामका निग्रहस्थान हो जाना मानते हैं, उभयत्र कोई विशेषता नहीं है । योग की मान्यता है कि प्रतिज्ञा आदि पांचों भी अनुमान के अंग हैं, प्रतिज्ञा

[ ] इति; छलादिना दोषवति साधने प्रयुक्ते सत्यनुमतमेव, यदि वादी स्वपक्षं साधयेत्, नान्यथा। वचनाधिक्यं तु दोषः प्रागेव प्रतिविहितः। यथैव हि पञ्चावयवप्रयोगे वचनाधिक्यं निग्रहस्थानम्, तथा त्र्यवयवप्रयोगे न्यूनतापि स्याद्विशेषाभावात्। प्रतिज्ञादीनि हि पञ्चाप्यनुमानांगम्–"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" [न्यायसू० १।१।३२] इत्यभिधानात्। तेषां

हेतु उदाहरण, उपनय और निगमन ये अनुमान के अंग या अवयव कहलाते हैं, इन पांचों में से किसी को न कहा जाय तो न्यून नामका दोष अवश्य आता है। इसप्रकार बौद्ध के असाधनांग वचन और अदोषोद्भावन निग्रहस्थान का निरसन हो जाता है। नैयायिक के निग्रहस्थानों का निरसन तो पहले कर चुके हैं। इसलिये जय और पराजय की व्यवस्था का कारण भी माणिक्यनन्दी आचार्य ने "प्रमाणतदाभासौ" इत्यादि सूत्र द्वारा बहुत ही निर्दोषपद्धति से प्रतिपादन किया है। जय पराजय का निर्णय अन्य किसी भी निमित्त से नहीं हो सकता। आचार्य महाराज अब इस जय पराजय प्रकरण का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि नैयायिक आदि प्रवादी छल, जाति आदि के द्वारा जय और पराजय की व्यवस्था स्वीकारते हैं उसे आग्रहरूपी पिशाच को छोड़कर विचार पूर्ण भाव को निर्मल मन में लाकर प्रामाणिक पुरुषों को स्वयं ही निर्णय कर लेना चाहिये अर्थात् स्वपक्ष की सिद्धि होने पर जय और सिद्धि नही होने पर पराजय होता है, निग्रहस्थान या छल आदि से नहीं ऐसा स्व प्रज्ञा से बुद्धिमान् निश्चय करें, अब अधिक कथन नहीं करते हैं।

भावार्थ—प्राचीनकाल में मत मतांतर के विद्वान् स्व स्वमत का प्रचार करने के लिये वाद करते थे, वाद के चार अंग माने है, वादी, प्रतिवादी, सभ्य सभापति, प्रथम पक्ष स्थापित करने वाला वादी कहलाता है, उसके पक्ष का निराकार करते हुए अपने प्रतिपक्ष को स्थापित करने वाला प्रतिवादी एवं वाद के समय प्रश्नकर्त्ता मध्यस्थ महान् ज्ञानी पुरुष सभ्य हैं तथा सबके नियंत्रक सभापति हैं, वाद के समय अनुमान प्रमाण द्वारा अपना पक्ष सिद्ध किया जाता है, यदि सबके समक्ष वादी का पक्ष हेतु आदि निर्दोष सिद्ध होते हैं, उसके पक्ष के सिद्धि को सभ्य और सभापति स्वीकृत करते हैं तो वादी का जय माना जाता है। वादी के पक्ष उपस्थित करने पर उसमें प्रतिवादी अनेक प्रकार से सत्य दोषों को प्रगट करता है। नैयायिक आदि का कहना है कि वादी या प्रतिवादी के अनुमान में दोष प्रगट करना, तथा वादी आदि के द्वारा सदोष हेतु का

मध्येऽन्यतमस्याप्यनभिधाने न्यूनताख्यो दोषोनुषज्यत एव। "हीनमन्यतमेनापि न्यूनम्" [न्यायसू० ५।२।१२] इति वचनात्। ततो जयेतरव्यवस्थाया: 'प्रमाणतदाभासौ' इत्यादितो नान्यनिबन्धनं व्यवतिष्ठते, इत्येतच्छलादौ तन्निबन्धनत्वेनाग्रहग्रहं परित्यज्य विचारकभावमादायाऽमलमनसि प्रामाणिका: स्वयमेव सम्प्रधारयन्तु, कृतमतिप्रसंगेन।

कहना, इत्यादि अनेक कारणों से निग्रहस्थान आदि दोष आते हैं और उनसे जय पराजय की व्यवस्था हो जाती है अर्थात् वादी ने सदोष हेतु कहा और प्रतिवादी ने उसको सभा में प्रगट करके दिखाया तो वादी का पराजय होवेगा इत्यादि, तथा प्रतिवादी ने वादी के निर्दोष हेतु में भी यदि दोष प्रगट किया और वादी उक्त दोष को दूर नहीं कर सका तो भी वादी का निग्रह होगा। इसमें नैयायिक ने चौबीस जातियां तीन प्रकार का छल और बाईस निग्रहस्थान इसप्रकार के दोष गिनाये हैं और इनके प्रयोक्ता का इनके प्रयोग करने के कारण पराजित होना स्वीकारा है, इन्हीं जाति छल और निग्रहस्थानों का इस जय-पराजय व्यवस्था प्रकरण में विस्तृत विवेचन है। नैयायिक के यहां असदुत्तरं जातिः-असत्य उत्तर को जाति कहते हैं, वचनविघातोर्थोपपत्याछलं अर्थ का भेद करके वचन में दोष देना छल है, विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानं-विपरीत या कुत्सित प्रतिपत्ति [ज्ञान-समझ] होना एवं पक्ष को स्वीकृत करके भी स्थापित न करना निग्रहस्थान है, इसप्रकार इनका यह अतिसंक्षेप से लक्षण है, इनके भेदों का पृथक् पृथक् लक्षण यथा स्थान मूल में किया है। इन सबका आचार्य ने सुयुक्तिक निरसन किया है। आचार्य का कहना है कि वादी का कर्त्तव्य है कि वह निर्दोष अनुमान कहे एवं प्रतिवादी का कर्त्तव्य है कि वह स्वमतानुसार उसमें दोषोद्भावन करे, किन्तु व्याकुलता आदि किसी भी कारण से वादी प्रतिवादी ऐसा नहीं करते हैं, छल जाति आदिरूप वचन प्रयोग करते हैं या मौन होना आदि चेष्टाये करते हैं तो यह निश्चित है कि उनका तब तक जय नहीं होगा जब तक वे निर्दोष अनुमान प्रयोग कर स्वपक्ष सिद्धि नहीं करते, तथापि उक्त छलादि का प्रयोग करने वाले का उतने मात्र से पराजय कथमपि घोषित नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि असत् उत्तररूप जाति जो चौबीस गिनायी हैं वह भी अयुक्त है, जगत् में असत्य उत्तर के चौबीस क्या हजारों लाखों तरीके होते हैं अतः इनकी संख्या निश्चित करना अशक्य है। यही दशा निग्रह स्थानों की है, निग्रहस्थानों में कुछ ऐसे हैं जिनमें अंतर दृष्टिगोचर नहीं होता। बौद्ध

साभासं गदितं प्रमाणमखिलं संख्याफलस्वार्थतः,
सुव्यक्तैः सकलार्थसार्थविषयैः स्वल्पैः प्रसन्नैः पदैः ।
येनासौ निखिलप्रबोधजननो जीयाद्गुणाम्भोनिधिः,
वाक्कीर्त्योः परमालयोऽत्र सततं माणिक्यनन्दिप्रभुः ।।१।।

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे परीक्षामुखालङ्कारे
पञ्चमः परिच्छेदः समाप्त ।।

ने जाति आदि को नहीं माना किन्तु दो निग्रहस्थान माने हैं असाधनांग वचन और अदोषोद्भावन। इन सबका क्रमवार निरसन आचार्य देव ने कर दिया है, सर्व प्रथम त्रिविध छल [वाक्छल, सामान्यछल और उपचारछल] का निरसन है अनन्तर चौबीस जातियों का और अंत में बाईस निग्रहस्थानों का निरसन किया है, तथा सबके अंत में बौद्धाभिमत उक्त दो निग्रह स्थानों का निराकरण किया है, और सिद्ध किया है कि स्वपक्ष की सिद्धि करने पर ही जय होता है और स्वपक्ष को सिद्ध नहीं करने पर पराजय होता है।

अब श्री प्रभाचन्द्राचार्यदेव इस पंचमपरिच्छेद का उपसंहार करते हैं—इस परिच्छेद में जिनके द्वारा प्रमाणाभास सहित संपूर्ण प्रमाणों का सुव्यक्त–स्पष्ट पूर्ण अर्थ के विषय वाले, स्वल्प एवं प्रसन्न पदों द्वारा वर्णन किया गया है तथा उन प्रमाणों की संख्या और संख्याभास, फल और फलाभास, विषय और विषयाभासों का स्पष्ट पदों द्वारा वर्णन किया गया है वे निखिल बोध के जनक गुणो के समुद्र, सरस्वती और कीर्त्ति के परमधाम स्वरूपमाणिक्यनंदी आचार्य इस भूमंडल पर सदा जयवंत रहें।

इसप्रकार श्रीप्रभाचन्द्र आचार्य विरचित प्रमेयकमलमार्त्तण्ड जो कि परीक्षा मुख ग्रंथ का अलकार स्वरूप है उसका पंचम परिच्छेद पूर्ण हुआ ।।

जय पराजयव्यवस्था का सारांश

पञ्चम अध्याय का अंतिम सूत्र प्रमाण तदाभासौ इत्यादि में आचार्य श्री माणिक्यनन्दी ने जय पराजयव्यवस्था का संकेत मात्र किया है। स्वमत का प्रकाशन एवं प्रसार की दृष्टि से वाद किया जाता है। योग की मान्यता है कि वीतराग पुरुषों में सिद्धांत विषयक होने वाली चर्चा ही वाद है और परमत का निरसन एवं तत्त्व तथा स्वमत का संरक्षण करने के लिये जल्प और वितंडा होते हैं इन दो में ही जय पराजय का लक्ष्य रहता है ये विजिगीषु पुरुषों द्वारा प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् वाद तो वीतराग कथा रूप है यह गुरु और शिष्य या समान बुद्धिधारक पुरुषों में होता है। किन्तु यह युक्त नहीं, जल्प और वितंडा द्वारा तत्त्व संरक्षण होना असंभव है, वितंडा में तो अपना निजी पक्ष ही नहीं हुआ करता केवल पर का निराकरण रहता है। तथा जाति छल आदि द्वारा एक दूसरे का खंडन मात्र उनमें रहने से तत्त्व संरक्षण कथमपि नहीं होता। वाद द्वारा ही तत्त्व संरक्षण संभव है, इस बात को आचार्य ने सयुक्तिक सिद्ध किया है। इस तत्त्व संरक्षकवाद के चार अंग हैं वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति। सभा में सर्व प्रथम अपना पक्ष उपस्थित करने वाला वादी अनुमान द्वारा साध्य सिद्ध करता है, उस अनुमान में प्रतिवादी दोष दिखाता है, यदि सभा के सामने वादी का अनुमान बाधित होता है तो उतने मात्र से कोई पराजय नही होता। प्रथम तो बात यह है कि वाद करने का अधिकार स्व स्व सिद्धांत के प्रौढ़ विद्वान को ही होता है, उनका कर्त्तव्य है कि निर्दोष हेतु वाले अनुमान का प्रयोग करे, तथा प्रतिवादी का कर्त्तव्य है कि उसमें समीचीन रीत्या संभावित दोष प्रगट कर दे। यहां प्रश्न हो सकता है कि जब वादी ने निर्दोष हेतु उपस्थित किया है तो प्रतिवादी उसमें दोषोद्भावन कैसे कर सकता है? इसका उत्तर यह है कि वादी अपने सिद्धांत के अनुसार अन्यथानुपपत्तिरूप समर्थ हेतु का प्रयोग करता है, इसके पश्चात् प्रतिवादी अपने सिद्धांत का अवलंबन लेकर उक्त हेतु में दोष उठाता है, इसप्रकार विभिन्न सिद्धांत द्वारा एक ही विषय में समर्थ साधन

और समर्थदूषण व्यवस्थित होता है। हेतु में दिये गये दोष का निराकरण वादी न करे, तथा प्रतिवादी अपने प्रतिपक्ष को सिद्ध कर देवे तो वादी की पराजय होगी, और वादी के हेतु में प्रतिवादी दोष नहीं दे सकेगा या प्रतिवादी द्वारा दिये गये दोष का वादी निराकरण कर पश्चात् स्वपक्ष सिद्ध कर देगा तो वादी की जय और प्रतिवादी की पराजय निर्णीत होगी। स्वपक्ष को सिद्ध किये बिना जय कथमपि नहीं हो सकता। इसमें योग का मंतव्य सर्वथा भिन्न है वे छल [वचन विघातोर्थ विकल्पोपपत्त्या छलम् शब्द का दूसरा अर्थ करके परके वचन का व्याघात करना छल है] जाति [असदुत्तरं जातिः असत् उत्तर देना] एवं निग्रहस्थानों द्वारा जय पराजय होना स्वीकार करते हैं। छल के तीन भेद, जाति के चौबीस भेद एवं निग्रहस्थानों के बाईस भेद योग ने स्वीकार किये हैं। बौद्ध ने असाधनांगवचन और अदोषोद्भावन नामके दो निग्रहस्थान माने हैं। इन छल जाति आदि का आचार्य प्रभाचन्द्र ने अकाट्य तर्क शैली से निराकरण कर दिया है। बौद्ध के उक्त दो निग्रहस्थान एवं योग के प्रतिज्ञा हानि आदि २४ निग्रहस्थान ग्रामीणपन का प्रदर्शन मात्र है। इनके निग्रहस्थानों का सामान्य तथा विशेष लक्षण अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषों से भरा है। छल द्वारा तो कोई भी जय को प्राप्त नहीं कर सकता। प्रथम तो बात यह है कि चतुरंगवाद में सभ्य एवं सभापति महान् बुद्धिमान हुआ करते हैं—

अपक्ष पतिताः प्राज्ञाः सिद्धांतद्वयवेदिनः ।
असद्वाद निषेद्धारः प्रश्निकाः प्रगृहा इव ॥१॥

अर्थात् पक्षपात रहित, प्राज्ञ, वादी तथा प्रतिवादी के सिद्धांत के ज्ञाता, असत्य–अप्रशस्तवाद का निषेध करने वाले, शकट के बलीवर्द के नियंत्रक के समान उन्मार्ग के निषेधक प्राश्निक अर्थात् सभ्य पुरुष हुआ करते हैं। ऐसे महाजन छल प्रयोग होते ही उसे रोक देते हैं अतः छल द्वारा जय आदि की कल्पना सर्वथा असंभव है।

इसीप्रकार मिथ्या उत्तर स्वरूप जाति द्वारा जय पराजय की व्यवस्था भी असम्भव है। मिथ्या उत्तर चौबीस ही क्या सैकड़ों हजारों हो सकते हैं अतः इनकी संख्या निश्चित करना ही अज्ञानता है। अतः आचार्य माणिक्यनन्दी सूत्रकार का कथन ही युक्तिसंगत है कि वादी ने अपने पक्ष की सिद्धि के लिये स्वसिद्धांत अनुसार अनुमान

प्रमाण वाक्य कहा, पुनः प्रतिवादी ने उस प्रमाण वाक्य में दोष दिया, पश्चात् वादी ने उस दोष का परिहार किया। ऐसी दशा में वादी का हेतु स्वपक्ष साधक होता हुआ जय का प्रयोजक है और प्रतिवादी का कथन दूषणरूप होता हुआ पराजय का नियामक है। तथा वादी ने हेत्वाभास का प्रयोग किया, प्रतिवादी ने उसके ऊपर असिद्ध आदि हेत्वाभासों को उठा दिया। यदि वादी उन दोषों का परिहार नहीं करता है तो ऐसी दशा में वादी का उक्त हेतु हेत्वाभास होता हुआ पराजय का व्यवस्थापक है और स्वपक्ष सिद्धि को करते हुए प्रतिवादी का दूषण उठाना जयदायक है। स्वपक्ष की सिद्धि करना नितांत आवश्यक है उसके बिना जय नहीं हो सकता है। इसप्रकार इस प्रकरण में आचार्य ने जय पराजय की व्यवस्था निश्चित की है।

।। जय पराजयव्यवस्था प्रकरण का सारांश समाप्त ।।

ननूक्तं प्रमाणेतरयोर्लक्षणमक्षूणं नयेतरयोस्तु लक्षणं नोक्तम्, तच्चावश्यं वक्तव्यम्, तदवचने विनेयानां नाऽविकला व्युत्पत्तिः स्यात् इत्याशङ्कमानं प्रत्याह—

सम्भवदन्यद्विचारणीयम् ।। ६।७४ ।।

इति ।

सम्भवद्विद्यमानं कथितात्प्रमाणतदाभासलक्षणादन्यत् नयनयाभासयोर्लक्षणं विचारणीयं नयनिष्ठैर्दिग्मात्रप्रदर्शनपरत्वादस्य प्रयासस्येति । तल्लक्षण च सामान्यतो विशेषतश्च सम्भवतीति

यहां पर कोई विनीत शिष्य प्रश्न करता है कि आचार्य माणिक्यनन्दी ने प्रमाण और प्रमाणाभासों को निर्दोष लक्षण प्रतिपादित कर दिया किन्तु नय और नयाभासों का लक्षण अभी तक नहीं कहा उसको अवश्य कहना चाहिए, क्योंकि उसके न कहने पर शिष्यों को पूर्ण ज्ञान नहीं होगा ? इसप्रकार शंका करने वाले शिष्य के प्रति आचार्य कहते हैं—"सभवदन्यद्विचारणीयम्" अन्य जो नयादि हैं उसका भी विचार कर लेना चाहिये । संभवद् पद का अर्थ है विद्यमान पूर्व में कहे हुए प्रमाण और प्रमाणाभासों के जो लक्षण हैं उनसे अन्य जो नय और नयाभासों के लक्षण हैं उनका विचार नयों के ज्ञाता पुरुषों को करना चाहिये, क्योंकि इस परीक्षामुख ग्रंथ में दिग्मात्र—अतिसंक्षेप से कथन है ।

तथैव तद्व्युत्पाद्यते । तत्राऽनिराकृतप्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः । निराकृतप्रतिपक्षस्तु नयाभासः । इत्यनयोः सामान्यलक्षणम् । स च द्वेधा द्रव्यार्थिक–पर्यायार्थिकविकल्पात् । द्रव्यमेवार्थो विषयो यस्यास्ति स द्रव्यार्थिकः । पर्याय एवार्थो यस्यास्त्यसौ पर्यायार्थिकः । इति नयविशेषलक्षणम् । तत्राद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारविकल्पात् त्रिविधः । द्वितीयस्तु ऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतविकल्पाच्चतुर्विधः ।

तत्रानिष्पन्नार्थसङ्कल्पमात्रग्राही नैगमः । निगमो हि सङ्कल्पः, तत्र भवस्तत्प्रयोजनो वा नैगमः । यथा कश्चित्पुरुषो गृहीतकुठारो गच्छन् 'किमर्थं भवान्गच्छति' इति पृष्टः सन्नाह–'प्रस्थमानेतुम्' इति । एधोदकाद्याहरणे वा व्याप्रियमाणः 'किं करोति भवान्' इति पृष्टः प्राह–'ओदनं पचामि' इति । न

अब प्रभाचन्द्र आचार्य नयों का विवेचन करते हैं–नय का लक्षण सामान्य और विशेष रूप से हुआ करता है अतः उसी रूप से प्रतिपादन किया जाता है ।

नयों का सामान्य लक्षण–प्रतिपक्ष का निराकरण नहीं करने वाला एवं वस्तु के अंश का ग्रहण वाला ऐसा जो ज्ञाता पुरुष का अभिप्राय है वह नय कहलाता है ।

नयाभास का लक्षण–जो प्रतिपक्ष का निराकरण करता है वह नयाभास है । इसप्रकार नय और नयाभास का यह सामान्य लक्षण है । नय मूल में दो भेद वाला है द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय । द्रव्य ही जिसका विषय है वह द्रव्यार्थिकनय है और पर्याय ही जिसका विषय है वह पर्यायार्थिक नय है । यह नय का विशेष लक्षण हुआ । आदि के द्रव्यार्थिकनय के नैगम, संग्रह और व्यवहार ऐसे तीन भेद हैं । पर्यायार्थिकनय के चार भेद हैं, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ।

नैगम नय का लक्षण–जो पदार्थ अभी बना नहीं है उसके संकल्प मात्र को जो ग्रहण करता है वह नैगमनय है । निगम कहते हैं संकल्प को, उसमें जो होवे सो नैगम अथवा निगम अर्थात् संकल्प जिसका प्रयोजन है वह नैगम कहलाता है । जैसे कोई पुरुष हाथ में कुठार लेकर जा रहा है उसको पूछा कि आप कहां जा रहे हैं, तब वह कहता है प्रस्थ [करीब एक किलो धान्य जिससे मापा जाय ऐसा काष्ट का बर्त्तन विशेष] लाने को जा रहा हूँ । अथवा लकड़ी, जल आदि को एकत्रित करने वाले पुरुष को पूछा आप क्या कर रहे हैं ? तो वह कहता है "भात पका रहा हूं" । किन्तु इस

चासौ प्रस्थपर्याय ओदनपर्यायो वा निष्पन्नस्तन्निष्पत्तये सङ्कल्पमात्रे प्रस्थादिव्यवहारात् । यद्वा नैकंगमो नैगमो धर्मधर्मिणोर्गुणप्रधानभावेन विषयीकरणात् । 'जीवगुणः सुखम्' इत्यत्र हि जीवस्याप्राधान्यं विशेषणत्वात्, सुखस्य तु प्राधान्यं विशेष(ष्य)त्वात् । 'सुखी जीवः' इत्यादौ तु जीवस्य प्राधान्यं न सुखादेर्विपर्ययात् । न चास्यैवं प्रमाणात्मकत्वानुषङ्गः; धर्मधर्मिणोः प्राधान्येनात्र ज्ञप्तेरसम्भवात् । तयोरन्यतर एव हि नैगमनयेन प्रधानतयानुभूयते । प्राधान्येन द्रव्यपर्यायद्वयात्मकं चार्थमनुभवद्विज्ञानं प्रमाणं प्रतिपत्तव्यं नान्यदिति ।

सर्वथानयोरर्थान्तरत्वाभिसन्धिस्तु नैगमाभासः । धर्मधर्मिणोः सर्वथार्थान्तरत्वे धर्मिणि धर्माणां वृत्तिविरोधस्य प्रतिपादितत्वादिति ।

स्वजात्यविरोधेनैकध्यमुपनीयार्थानाक्रान्तभेदान् समस्तग्रहणात्संग्रहः । स च परोऽपरश्च ।

प्रकार का कथन करते समय प्रस्थ पर्याय या भात पर्याय निष्पन्न नहीं है, केवल उसके निष्पन्न करने का संकल्प है उसमें ही प्रस्थादि का व्यवहार किया गया है । अथवा नैगम शब्द का दूसरा अर्थ भी है वह इसप्रकार–"न एकं गमः नैगमः" जो एक को ही ग्रहण न करे अर्थात् धर्म और धर्मी को गौण और मुख्य भाव से विषय करे वह नैगम नय है । जैसे–जीवन का गुण सुख है अथवा सुख जीव का गुण है, यहां जीव अप्रधान है विशेषण होने से, और विशेष्य होने से सुख प्रधान है । सुखी जीव, इत्यादि में तो जीव प्रधान है सुखादि प्रधान नहीं, क्योंकि यहां सुखादि विशेषणरूप है ।

धर्म और धर्मी को गौण और प्रधान भाव से एक साथ विषय कर लेने से इस नय को प्रमाणरूप होने का प्रसंग नहीं होगा, क्योंकि इस नय में धर्म और धर्मी को प्रधान भाव से जानने की शक्ति नही है । धर्म धर्मी मे से कोई एक ही नैगम नय द्वारा प्रधानता से ज्ञात होता है । इससे विपरीत प्रमाण द्वारा तो धर्मधर्मी द्रव्य पर्यायात्मक वस्तुतत्त्व प्रधानता से ज्ञात होता है, अर्थात् धर्म धर्मी दोनों को एक साथ जानने वाला विज्ञान ही प्रमाण है अंशरूप जानने वाला प्रमाण नहीं ऐसा समझना चाहिए ।

नैगमाभास–धर्म और धर्मी में सर्वथा भेद है ऐसा अभिप्राय नैगमाभास कहलाता है । धर्म और धर्मी को यदि सर्वथा पृथक् माना जायगा तो धर्मी में धर्मों का रहना विरुद्ध पड़ता है, इसका पहले कथन कर आये हैं ।

संग्रहनय का लक्षण–स्वजाति जो सत्‌रूप है उसके अविरोध से एक प्रकार को प्राप्त कर जिसमें विशेष अन्तर्भूत हैं उनको पूर्णरूप से ग्रहण करे वह संग्रहनय

तत्र परः सकलभावानां सदात्मनैकत्वमभिप्रैति । 'सर्वमेकं सदविशेषात्' इत्युक्ते हि 'सत्' इतिवाग्विज्ञानानुवृत्तिलिङ्गानुमितसत्तात्मकत्वेनैकत्वमशेषार्थानां संगृह्यते । निराकृताऽशेषविशेषस्तु सत्ताऽद्वैताभिप्रायस्तदाभासो दृष्टेष्टबाधनात् । तथाऽपरः संग्रहो द्रव्यत्वेनाशेषद्रव्याणामेकत्वमभिप्रैति । 'द्रव्यम्' इत्युक्ते ह्यतीतानागतवर्तमानकालवर्त्तिविवक्षिताविवक्षितपर्यायद्रवणशीलानां जीवाजीवतद्भेदप्रभेदानामेकत्वेन संग्रहः । तथा 'घटः' इत्युक्ते निखिलघटव्यक्तीनां घटत्वेनैकत्वसंग्रहः ।

सामान्यविशेषाणां सर्वथार्थान्तरत्वाभिप्रायोऽनर्थान्तरत्वाभिप्रायो वाऽपरसंग्रहाभासः, प्रतीतिविरोधादिति ।

कहलाता है । उसके दो भेद हैं परसंग्रहनय अपरसंग्रहनय । सकल पदार्थों को सत् सामान्य की अपेक्षा एकरूप इष्ट करने वाला पर संग्रहनय है । जैसे किसी ने "सत् एक रूप है सत्पने की समानता होने से" ऐसा कहा इसमें "सत्" यह पद सत् शब्द, सत् का विज्ञान एवं सत् का अनुवृत्तप्रत्यय अर्थात् इदं सत् इदं सत् यह सत् है यह भी सत् है इन लिंगों से संपूर्ण पदार्थों का सत्तात्मक एकपना ग्रहण होता है अर्थात् सत् कहने से सत् शब्द, सत् का ज्ञान एवं सत् पदार्थ इन सबका संग्रह हो जाता है अथवा सत् ऐसा कहने पर सत् इसप्रकार के वचन और विज्ञान की अनुवृत्तिरूप लिंग से अनुमित सत्ता के आधारभूत सब पदार्थों का सामान्यरूप से संग्रह करना संग्रहनय का विषय है जो विशेष का निराकरण करता है वह संग्रहाभास है, जैसे सत्ताद्वैत–ब्रह्माद्वैतवाद का जो अभिप्राय है वह संग्रहाभास है, क्योंकि सर्वथा अद्वैत या अभेद मानना प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण से बाधित है । अपरसंग्रहनय–द्रव्य है ऐसा कहने पर द्रव्यपने की अपेक्षा संपूर्ण द्रव्यों में एकत्व स्थापित करना अपर संग्रहनय कहलाता है, क्योंकि द्रव्य ऐसा कहने पर अतीत अनागत एवं वर्त्तमान कालवर्त्ती विवक्षित तथा अविवक्षित पर्यायों से द्रवणपरिवर्त्तन स्वभाव वाले जीव अजीव एवं उनके भेद प्रभेदों का एक रूप से संग्रह होता है, तथा घट है, ऐसा कहने पर संपूर्ण घट व्यक्तियों का घटपने से एकत्व होने के कारण संग्रह हो जाता है ।

सामान्य और विशेषों को सर्वथा पृथक् मानने का अभिप्राय [योग] अपर संग्रहाभास है एवं उन सामान्य विशेषों को सर्वथा अपृथक् मानने का अभिप्राय [मीमांसक] संग्रहाभास है, क्योंकि सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न रूप सामान्य विशेषों की प्रतीति नहीं होती ।

संग्रहगृहीतार्थानां विधिपूर्वकमवहरणं विभजनं भेदेन प्ररूपणं व्यवहारः। परसंग्रहेण हि सद्धर्माधारतया सर्वमेकत्वेन 'सत्' इति संगृहीतम्। व्यवहारस्तु तद्विभागमभिप्रैति। यत्सत्तद्द्रव्यं पर्यायो वा। तथैवापरः संग्रहः सर्वद्रव्याणि 'द्रव्यम्' इति, सर्वपर्यायांश्च 'पर्यायः' इति संगृह्णाति। व्यवहारस्तु तद्विभागमभिप्रैति–यद्द्रव्यं तज्जीवादि षड्विधम्, यः पर्यायः स द्विविधः सहभावी क्रमभावी च। इत्यपरसंग्रहव्यवहारप्रपञ्चः प्रागृजुसूत्रात्परसंग्रहादुत्तरः प्रतिपत्तव्यः, सर्वस्य वस्तुनः कथञ्चित्सामान्यविशेषात्मकत्वसम्भवात्। न चास्यैवं नैगमत्वानुषङ्गः; संग्रहविषयप्रविभागपरत्वात्, नैगमस्य तु गुणप्रधानभूतोभयविषयत्वात्।

यः पुनः कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः, प्रमाणबाधितत्वात्। न हि कल्पनारोपित एव द्रव्यादिप्रविभागः; स्वार्थक्रियाहेतुत्वाभावप्रसङ्गाद्गगनाम्भोजवत्।

व्यवहारनय का लक्षण–संग्रहनय द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थों में विधिपूर्वक विभाग करना–भेद रूप से प्ररूपण करना व्यवहारनय है, पर संग्रहनय ने सत् धर्म [स्वभाव] के आधार से सबको एक रूप से सत् है ऐसा ग्रहण किया था अब उसमें व्यवहारनय विभाग चाहता है–जो सत् है वह द्रव्य है अथवा पर्याय है, इत्यादि विभाजन करता है। तथा अपर संग्रहनय ने सब द्रव्यों को द्रव्य पद से संगृहीत किया अथवा सब पर्यायों को पर्याय पद से संगृहीत किया था उनमे व्यवहार विभाग मानता है कि जो द्रव्य है वह जीव आदि रूप छह प्रकार का है, जो पर्याय है वह दो प्रकार की है सहभावी और क्रमभावी। इसप्रकार अपर संग्रह और व्यवहार का प्रपंच परसंगृह के आगे से लेकर ऋजुसूत्र के पहले पहले तक चलता है, क्योंकि सभी वस्तुयें कथंचित् सामान्य विशेषात्मक हैं। इसप्रकार से द्रव्य और पर्याय का विभाग विस्तार करने से इसको नैगमनयत्व के प्रसंग होने की आशंका भी नहीं करना, क्योंकि व्यवहारनय संगृह के विषय में विभाग करता है किन्तु नैगमनय तो गौण मुख्यता से उभय को [सामान्य विशेष या द्रव्य पर्याय] विषय करता है।

व्यवहाराभास का लक्षण–जो केवल कल्पनामात्र से आरोपित द्रव्य पर्यायों में विभाग करता है वह व्यवहाराभास है, क्योंकि वह प्रमाण बाधित है। द्रव्यादिका विभाग काल्पनिक मात्र नहीं है, यदि ऐसा मानें तो अर्थ क्रिया का अभाव होगा, जैसे कि गगन पुष्प में अर्थ क्रिया नहीं होती। तथा द्रव्य पर्याय का विभाग परक इस व्यवहार को असत्य मानने पर उसके अनुकूलता से आने वाली प्रमाणों की प्रमाणता

व्यवहारस्य चाऽसत्यत्वे तदानुकूल्येन प्रमाणानां प्रमाणता न स्यात् । अन्यथा स्वप्नादिविभ्रमानुकूल्येनापि तेषां तत्प्रसङ्गः । उक्तं च—

"व्यवहारानुकूल्यात्तु प्रमाणानां प्रमाणता ।
नान्यथा बाध्यमानानां ज्ञानानां तत्प्रसङ्गतः ।।" [लघी० का० ७०] इति ।

का भी भंग हो जावेगा । तथा द्रव्यादि का विभाग सर्वथा कल्पना मात्र है और उसका विषय करने वाले व्यवहार द्वारा प्रमाणों की प्रमाणता होती है ऐसा माने तो स्वप्न आदि का विभ्रमरूप विभाग परक ज्ञान से भी प्रमाणों की प्रमाणता होने लगेगी । कहा भी है–व्यवहार के अनुकूलता से प्रमाणों की प्रमाणता सिद्ध होती है, व्यवहार की अनुकूलता का जहां अभाव है वहां प्रमाणता सिद्ध नहीं होती, यदि ऐसा न मानें तो बाधित ज्ञानों में प्रमाणता का प्रसंग आयेगा ।।१।।

भावार्थ—पदार्थ द्रव्य पर्यायात्मक है द्रव्य और पर्याय में सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद मानना असत् है जो प्रवादी सर्वथा अभेद मानकर उनमें लोक व्यवहारार्थ कल्पना मात्र से विभाग करते हैं उनके यहां अर्थ क्रिया का अभाव होगा अर्थात् यदि द्रव्य से पर्याय सर्वथा अभिन्न है तो पर्याय का जो कार्य [अर्थ क्रिया] दृष्टिगोचर हो रहा है वह नहीं हो सकेगा, जीव द्रव्य की वर्त्तमान की जो मनुष्य पर्याय है उसकी जो मनुष्यपने से साक्षात् अर्थ क्रिया प्रतीत होती है वह नही हो सकेगी । पुद्गल परमाणुओं के पिंड स्वरूप स्कंध की जो अर्थ क्रियायें हैं [दृष्टिगोचर होना, उठाने धरने में आ सकना, स्थूल रूप होना, प्रकाश या अंधकार स्वरूप होना इत्यादि] वे भी समाप्त होगी, केवल कल्पना मात्र में कोई अर्थ क्रिया [वस्तु का उपयोग में आना] नहीं होती है जैसे स्वप्न में स्थित काल्पनिक पदार्थ में अर्थ क्रिया नही होती । अतः संग्रहनय द्वारा गृहीत पदार्थों में भेद या विभाग को करने वाला व्यवहारनय सत्य है एवं उसका विषय जो भेदरूप है वह भी पारमार्थिक है । जो लोक व्यवहार में क्रियाकारी है अर्थात् जिन पदार्थों के द्वारा लोक का जप, तप, स्वाध्याय, ध्यानरूप, धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ एवं स्नान, भोजन, व्यापार आदि काम तथा अर्थ पुरुषार्थ संपन्न हो, वे भेदाभेदात्मक पदार्थ वास्तविक ही हैं और उनको विषय करने वाला व्यवहारनय भी वास्तविक है क्योंकि

ऋजु प्राञ्जलं वर्तमानक्षणमात्रं सूत्रयतीत्यृजुसूत्रः 'सुखक्षणः सम्प्रत्यस्ति' इत्यादि। द्रव्यस्य सतोप्यनर्पणात्, अतीतानागतक्षणयोश्च विनष्टानुत्पन्नत्वेनासम्भवात्। न चैवं लोकव्यवहारविलोपप्रसङ्गः; नयस्यास्यैवं विषयमात्रप्ररूपणात्। लोकव्यवहारस्तु सकलनयसमूहसाध्य इति।

यस्तु बहिरन्तर्वा द्रव्यं सर्वथा प्रतिक्षिपत्यखिलार्थानां प्रतिक्षणं क्षणिकत्वाभिमानात् स तदाभासः प्रतीत्यतिक्रमात्। बाधविधुरा हि प्रत्यभिज्ञानादिप्रतीतिर्बहिरन्तश्चैकं द्रव्यं पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्ति प्रसाधयतीत्युक्तमूर्द्ध्वतासामान्यसिद्धिप्रस्तावे। प्रतिक्षणं क्षणिकत्वं च तत्रैव प्रतिव्यूढमिति।

नयरूप ज्ञान हो चाहे प्रमाणरूप ज्ञान हो उसमें प्रमाणता तभी स्वीकृत होती है जब उनके विषयभूत पदार्थ व्यवहार के उपयोगी या अर्थ क्रिया वाले हों। अस्तु।

ऋजुसूत्रनय का लक्षण—ऋजु स्पष्टरूप वर्त्तमान मात्र क्षण को पर्याय को जानने वाला ऋजु सूत्रनय है। जैसे इस समय सुख पर्याय है इत्यादि। यहां अतीतादि द्रव्य सत् है किन्तु उसकी अपेक्षा नही है, क्योंकि वर्तमान पर्याय में अतीत पर्याय तो नष्ट हो चुकने से असम्भव है और अनागत पर्याय अभी उत्पन्न ही नहीं हुई है। इस तरह वर्त्तमान मात्र को विषय करने से लोक व्यवहार के लोप की आशंका भी नहीं करनी चाहिए, यहां केवल इस नय का विषय बताया है। लोक व्यवहार तो सकल नयों के समुदाय से सम्पन्न होता है।

ऋजुसूत्राभास का लक्षण—जो अन्तस्तत्त्व आत्मा और बहिस्तत्त्व अजीवरूप पुद्गलादिका सर्वथा निराकरण करता है अर्थात् द्रव्य का निराकरण कर केवल पर्याय को ग्रहण करता है, सम्पूर्ण पदार्थों को प्रतिक्षण के अभिमान से सर्वथा क्षणिक ही मानता है वह अभिप्राय ऋजुसूत्राभास है; क्योंकि इसमें प्रतीति का उलंघन है। प्रतीति में आता है कि निर्बाध प्रत्यभिज्ञान प्रमाण अंतरंग द्रव्य और बहिरंग द्रव्य को पूर्व व उत्तर पर्याय युक्त सिद्ध करते हैं, इसका विवेचन ऊर्ध्वतासामान्य की सिद्धि करते समय हो चुका है। तथा उसी प्रसंग में प्रतिक्षण के वस्तु के क्षणिकत्व का भी निरसन कर दिया है।

कालकारकलिङ्गसंख्यासाधनोपग्रहभेदाद्भिन्नमर्थं शपतीति शब्दो नयः शब्दप्रधानत्वात्। तदोऽपास्तं वैयाकरणानां मतम्। ते हि "धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः" [पाणिनिव्या० ३।४।१] इति सूत्रमारभ्य 'विश्वदृश्वाऽस्य पुत्रो भविता' इत्यत्र कालभेदेप्येकं पदार्थमादृताः—'यो विश्वं द्रक्ष्यति सोस्य पुत्रो भविता' इति, भविष्यत्कालेनातीतकालस्याऽभेदाभिधानात् तथा व्यवहारोपलम्भात्। तच्चानुपपन्नम्; कालभेदेप्यर्थस्याऽभेदेऽतिप्रसंगात्, रावणशङ्खचक्रवर्तिशब्दयोरप्यतीतानागतार्थगोचरयोरेकार्थतापत्तेः। अथानयोर्भिन्नविषयत्वान्नैकार्थता; 'विश्वदृश्वा भविता' इत्यनयोरप्यसौ मा भूत्तत एव। न खलु 'विश्वं दृष्टवान्=विश्वदृश्वा' इति शब्दस्य योऽर्थोतीतकालः, स 'भविता' इति शब्दस्यानागतकालो युक्तः; पुत्रस्य भाविनोऽतीतत्वविरोधात्। अतीतकालस्याप्यनागतत्वाध्यारोपादेकार्थत्वे तु न परमार्थतः कालभेदेप्यभिन्नार्थव्यवस्था स्यात्।

शब्दनय का लक्षण—काल, कारक, लिंग, संख्या, साधन और उपग्रह के भेद से जो भिन्न अर्थ को कहता है वह शब्दनय है, इसमें शब्द ही प्रधान है। इस नय से शब्द भेद से अर्थभेद नहीं करने वाले वैयाकरणों के मतका निरसन होता है वैयाकरण पंडित "धातुसंबंधे प्रत्ययाः" इस व्याकरण सूत्र का प्रारंभ कर "विश्व दृश्वा अस्य पुत्रो भविता" जिसने विश्व को देख लिया है ऐसा पुत्र इसके होगा, इसतरह काल भेद में भी एक पदार्थ मानते हैं जो विश्व को देख चुका है वह इसके पुत्र होगा, ऐसा जो कहा इसमें भविष्यत् काल से अतीतकाल का अभेद कर दिया है, उस प्रकार का व्यवहार उपलब्ध होता है, किन्तु शब्दनय से यह अयुक्त है काल भेद होते हुए भी यदि अर्थ में भेद न माना जाय तो अतिप्रसंग होगा, फिर तो अतीत और अनागत अर्थ के गोचर हो रहे रावण और शंखचक्रवर्ती शब्दों के भी एकार्थपना प्राप्त होगा। यदि कहा जाय कि रावण और शंखचक्रवर्ती ये दो शब्द भिन्न भिन्न विषय वाले हैं अतः उनमें एकार्थपना नहीं हो सकता तो विश्वदृश्वा और भविता इन दो शब्दों में एकार्थपना मत होवे। क्योंकि ये दो शब्द भी भिन्न भिन्न विषय वाले हैं। देखिये "विश्वं दृष्टवान् इति विश्वदृश्वा" ऐसा विश्वदृश्वा शब्द का जो अर्थ अतीत काल है वह "भविता" इस शब्द का अनागतकाल मानना युक्त नहीं है जब पुत्र होना भावी है तब उसमें अतीतपना कैसे हो सकता है। अतीतकाल का अनागत मे अध्यारोप करने से एकार्थपना बन जाता है ऐसा कहो तो काल भेद होने पर भी अभिन्न अर्थ की व्यवस्था मानना पारमार्थिक नहीं रहा, काल्पनिक ही रहा।

तथा 'करोति क्रियते' इति कर्तृकर्मकारकभेदेप्यभिन्नमर्थं त एवाद्रियन्ते । 'यः करोति किञ्चित् स एव क्रियते केनचित्' इति प्रतीतेः । तदप्यसाम्प्रतम्; 'देवदत्तः कटं करोति' इत्यत्रापि कर्तृकर्मणोर्देवदत्तकटयोरभेदप्रसङ्गात् ।

तथा, 'पुष्यस्तारका' इत्यत्र लिंगभेदेपि नक्षत्रार्थमेकमेवाद्रियन्ते, लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वात्तस्य; इत्यसंगतम्; 'पटः कुटी' इत्यत्राप्येकत्वानुषंगात् ।

तथा, 'आपोऽम्भः' इत्यत्र संख्याभेदेप्येकमर्थं जलाख्यं मन्यन्ते, संख्याभेदस्याऽभेदकत्वाद्गुर्वादिवत् । तदप्ययुक्तम्; 'पटस्तन्तवः' इत्यत्राप्येकत्वानुषंगात् ।

तथा करोति क्रियते इनमें कर्त्तृकारक और कर्मकारक की अपेक्षा भेद होने पर भी वैयाकरण लोग इनका अभिन्न अर्थ ही करते हैं, जो करता है वही किसी द्वारा किया जाता है ऐसी दोनों कारकों में उन्होंने अभेद प्रतीति मानी है किन्तु वह ठीक नहीं यदि कर्त्तृकारक और कर्मकारक में अभेद माना जाय तो "देवदत्तः कटं करोतिः" इस वाक्य में स्थित देवदत्त कर्त्ता और कट कर्म इन दोनों में अभेद मानना पड़ेगा ।

तथा पुष्यः तारकाः इन दो पदों में पुलिंग स्त्रीलिंग का भेद होने पर भी व्याकरण पंडित इनका नक्षत्र रूप एक ही अर्थ ग्रहण करते हैं, वे कहते हैं कि लिंग अशिष्य है–अनुशासित नही है, लोक के आश्रित है अर्थात् लिंग नियमित न होकर व्यवहारानुसार परिवर्त्तनशील है किन्तु यह असंगत है, लिंग को इसतरह माने तो पटः और कुटी इनमें भी एकत्व बन बैठेगा ।

तथा "आपः अंभः" इन दो शब्दों में संख्या भेद रूप बहुवचन और एक वचन का भेद होने पर भी वे इनका जल रूप एक अर्थ मानते हैं, वे कहते हैं कि संख्या भेद होने से अर्थभेद होना जरूरी नहीं है जैसे गुरुः ऐसा पद एक संख्या रूप है किन्तु सामान्य रूप से यह सभी गुरुओं का द्योतक है अथवा कभी बहुसन्मान की अपेक्षा एक गुरु व्यक्ति को 'गुरवः' इस बहुसंख्यात पद से कहा जाता है । सो वैयाकरण का यह कथन भी अयुक्त है, इसतरह तो पटः तन्तवः इन दो शब्दों का भी [शेष आगे] एकार्थपना होवेगा ।

तथा 'एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता' इति साधनभेदेप्यर्थाऽभेदमाद्रियन्ते "प्रहासे मन्यवाचि युष्मन्मन्यतेऽस्मदेकवच्च" [जैनेन्द्रव्या० १।२।१५३] इत्यभिधानात्। तदप्यपेशलम्; 'अहं पचामि त्वं पचसि' इत्यत्राप्येकार्थत्वप्रसङ्गात्।

तथा, 'सन्तिष्ठते प्रतिष्ठते' इत्यत्रोपग्रहभेदेप्यर्थाभेदं प्रतिपद्यन्ते उपसर्गस्य धात्वर्थमात्रोद्द्योतकत्वात्। तदप्यचारु; 'सन्तिष्ठते प्रतिष्ठते' इत्यत्रापि स्थितिगतिक्रिययोरभेदप्रसङ्गात्। ततः कालादिभेदाद्भिन्न एवार्थः शब्दस्य। तथाहि–विवादापन्नो विभिन्नकालादिशब्दो विभिन्नार्थप्रतिपादको विभिन्न-

---

तथा "ऐहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पिता" [आवो तुम मानते होंगे कि मैं रथ से जावूंगा किन्तु नहीं जा सकते क्योंकि उससे तो तुम्हारे पिता गये। ऐसा एहि इत्यादि संस्कृत पदों का अर्थ व्याकरणाचार्य करते हैं किंतु व्याकरण के सर्व सामान्य नियमानुसार इन पदों का अर्थ–आवो मैं मानता हूं, रथ से जावोगे किंतु नहीं जा सकोगे क्योंकि उससे तुम्हारे पिता गये। इसप्रकार होता है] यहां साधन भेद– मध्यमपुरुष उत्तमपुरुष आदि का भेद होनेपर भी अर्थ अभेद है क्योंकि हंसी मजाक में मध्यमपुरुष और उत्तमपुरुष में एकत्व मानकर प्रयोग करना इष्ट है, ऐसा वे लोग कहते हैं किन्तु यह ठीक नहीं, इस तरह तो अहं पचामि, त्वं पचसि आदि में भी एकार्थपना स्वीकार करना पड़ेगा।

तथा संतिष्ठते प्रतिष्ठते इन पदों में उपसर्ग का भेद होने पर भी अर्थ का अभेद मानते हैं क्योंकि उपसर्ग धातुओं के अर्थ का मात्र द्योतक है, इसप्रकार का कथन भी असत् है, संतिष्ठते प्रतिष्ठते इन शब्दों में जो स्थिति और गति क्रिया है इनमें भी अभेद का प्रसंग होगा। इसलिये निश्चित होता है कि काल, कारक आदि के भिन्न होने पर शब्द का भिन्न ही अर्थ होता है। विवाद में स्थित विभिन्न कालादि शब्द विभिन्न अर्थ का प्रतिपादक है क्योंकि वह विभिन्न कालादि शब्दत्वरूप है, जैसे कि अन्य अन्य विभिन्न शब्द भिन्न भिन्न अर्थों के प्रतिपादक हुआ करते हैं, मतलब यह है कि जैसे रावण और शंख चक्रवर्त्ती शब्द क्रमशः अतीत और आगामीकाल में स्थित भिन्न भिन्न दो पदार्थों के वाचक हैं वैसे ही विश्वदृश्वा और भविता ये दो अतीत और आगामी काल में स्थित व्यक्ति के वाचक होने चाहिये, ऐसे ही कारक आदि में समझना। यहां

कालादिशब्दत्वात् तथाविधान्यशब्दवत्। नन्वेवं लोकव्यवहारविरोधः स्यादिति चेत्; विरुध्यतामसौ तत्त्वं तु मीमांस्यते, न हि भेषजमातुरेच्छानुवर्ति।

नानार्थान्समेत्याभिमुख्येन रूढः समभिरूढः। शब्दनयो हि पर्यायशब्दभेदान्नार्थभेदमभिप्रैति कालादिभेदत एवार्थभेदाभिप्रायात्। अयं तु पर्यायभेदेनाप्यर्थभेदमभिप्रैति। तथा हि-'इन्द्रः शक्रः पुरन्दरः' इत्याद्याः शब्दा विभिन्नार्थगोचरा विभिन्नशब्दत्वाद्वाजिवारणशब्दवदिति।

एवमित्थं विवक्षितक्रियापरिणामप्रकारेण भूतं परिणतमर्थं योभिप्रैति स एवम्भूतो नयः।

पर कोई शंका करे कि इसतरह माने तो लोक व्यवहार मे विरोध होगा? सो विरोध होने दो यहां तो तत्त्व का विचार किया जा रहा है, तत्त्व व्यवस्था कोई लोकानुसार नहीं होती, यथा औषधि रोगी की इच्छानुसार नही होती है।

समभिरूढनय का लक्षण—नाना अर्थों का आश्रय लेकर मुख्यता से रूढ होना अर्थात् पर्यायभेद से पदार्थ में नानापन स्वीकारना समभिरूढनय कहलाता है। शब्दनय पर्यायवाची शब्दों के भिन्न होने पर भी पदार्थ में भेद नहीं मानता, वह तो काल कारक आदि का भेद होने पर ही पदार्थ में भेद करता है किन्तु यह समभिरूढ नय पर्यायवाची शब्द के भिन्न होने पर भी अर्थ में भेद करता है। इसी को बताते हैं– इन्द्रः शक्रः पुरंदरः इत्यादि शब्द हैं इनमें लिगादि का भेद न होने से अर्थात् एक पुंलिंग स्वरूप होने से शब्दनय की अपेक्षा भेद नही है ये सब एकार्थवाची हैं। किन्तु समभिरूढ नय उक्त शब्द विभिन्न होने से उनका अर्थ भी विभिन्न स्वीकारता है जैसे कि वाजी और वारण ये दो शब्द होने से इनका अर्थ क्रमशः अश्व और हाथी है। मतलब यह है कि इस नय की दृष्टि में पर्यायवाची शब्द नही हो सकते। एक पदार्थ को अनेक नामों द्वारा कहना अशक्य है, यह तो जितने शब्द हैं उतने ही भिन्न अर्थवान् पदार्थ स्वीकार करेगा, शक्र और इन्द्र एक पदार्थ के वाचक नहीं हैं अपितु शकनात् शक्रः जो समर्थ है वह शक्र है एवं इन्दनात् इन्द्रः जो ऐश्वर्य युक्त है वह इन्द्र है ऐसा प्रत्येक पद का भिन्न ही अर्थ है इसतरह समभिरूढनय का अभिप्राय है।

एवंभूतनय का लक्षण—एवं–इसप्रकार विवक्षितक्रिया परिणाम के प्रकार से भूत–परिणत हुए अर्थ को जो इष्ट करे अर्थात् क्रिया का आश्रय लेकर भेद स्थापित

समभिरूढो हि शकनक्रियायां सत्यामसत्यां च देवराजार्थस्य शक्रव्यपदेशमभिप्रैति, पशोर्गमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत्, तथा रूढेः सद्भावात्. अयं तु शकनक्रियापरिणतिक्षणे एव शक्रमभिप्रैति न पूजनाभिषेचनक्षणे, अतिप्रसंगात् । न चैवंभूतनयाभिप्रायेण कश्चिदक्रियाशब्दोस्ति, 'गौरश्वः' इति जातिशब्दाभिमतानामपि क्रियाशब्दत्वात्, 'गच्छतीति गौराशुगाम्यश्वः' इति । 'शुक्लो नीलः' इति गुणशब्दा अपि क्रियाशब्दा एव, 'शुचिभवनाच्छुक्लो नीलनान्नीलः' इति । 'देवदत्तो यज्ञदत्तः' इति यदृच्छाशब्दा अपि क्रियाशब्दा एव, 'देवा एनं देयासुः' इति देवदत्तः, 'यज्ञ एनं देयात्' इति यज्ञदत्तः । तथा संयोगिसमवायिद्रव्यशब्दाः क्रियाशब्दाः एव, दण्डोस्यास्तीति दण्डी, विषाणमस्यास्तीति विषाणीति । पञ्चतयी तु शब्दानां प्रवृत्तिर्व्यवहारमात्रान्न निश्चयात् ।

करे वह एवंभूतनय है । समभिरूढनय देवराज [इन्द्र] नामके पदार्थ में शकन क्रिया होनेपर तथा नहीं होने पर भी उक्त देवराज की शक्र संज्ञा स्वीकारता है जैसे कि पशु विशेष में गमन क्रिया होवे या न होवे तो भी उसमें गो संज्ञा होती है वैसी रूढि होने के कारण, किन्तु यह एवंभूतनय शकन क्रिया से परिणत क्षण में ही शक्र नाम धरता है, जिससमय उक्त देवराज पूजन या अभिषेक क्रिया में परिणत है उस समय शक्र नाम नहीं धरता है, अतिप्रसंग होने से । तथा इस एवंभूतनय की अपेक्षा देखा जाय तो कोई शब्द क्रिया रहित या बिना क्रिया का नहीं है, गौः अश्वः इत्यादि जाति वाचक माने गये शब्द भी इस नय की दृष्टि में क्रिया शब्द है, जैसे गच्छति इति गौः, आशुगामी अश्वः जो चलती है वह गो है जो शीघ्र गमन करे वह अश्व है इत्यादि । तथा शुक्लः नीलः इत्यादि गुणवाचक शब्द भी क्रियावाचक ही है, जैसे कि शुचिभवनात् शुक्लः नीलनात् नीलः शुचि होने से शुक्ल है, नील क्रिया से परिणत नील है इत्यादि । देवदत्तः, यज्ञदत्तः इत्यादि यदृच्छा शब्द [इच्छानुसार प्रवृत्त हुए शब्द] भी एवंभूतनय की दृष्टि में क्रियावाचक ही है । देवाः एनं देयासुः इति देवदत्तः यज्ञे एनं देयात् इति यज्ञदत्तः, देवगण इसको देवे, देवों ने इसको दिया है वह देवदत्त कहलाता है और यज्ञ में इसको देना वह यज्ञदत्त कहलाता है । तथा संयोगी समवायी द्रव्यवाचक शब्द भी क्रियावाचक है, जैसे दण्ड जिसके है वह दंडी है, विषाण [सींग] जिसके है वह विषाणी है । जाति, क्रिया, गुण, यदृच्छा और सम्बन्ध इसप्रकार पांचप्रकार की शब्दों की प्रवृत्ति जो मानी है वह केवल व्यवहाररूप है निश्चय से नहीं । अर्थात् उपर्युक्त उदाहरणों से एवंभूतनय की दृष्टि से निश्चित क्रिया कि कोई भी शब्द फिर

एवमेते शब्दसमभिरूढैवंभूतनयाः सापेक्षाः सम्यग्, अन्योन्यमनपेक्षास्तु मिथ्येति प्रतिपत्तव्यम्।

एतेषु च नयेषु ऋजुसूत्रान्ताश्चत्वारोऽर्थप्रधानाः शेषास्तु त्रयः शब्दप्रधानाः प्रत्येतव्याः।

कः पुनरत्र बहुविषयो नयः को वाल्पविषयः कश्चात्र कारणभूतः कार्यभूतो वेति चेत्? 'पूर्वः पूर्वो बहुविषयः कारणभूतश्च परः परोल्पविषयः कार्यभूतश्च' इति ब्रूमः। संग्रहाद्धि नैगमो बहुविषयो भावाऽभावविषयत्वात्, यथैव हि सति सङ्कल्पस्तथाऽसत्यपि, सग्रहस्तु ततोल्पविषयः सन्मात्रगोचरत्वात्, तत्पूर्वकत्वाच्च तत्कार्यः। सग्रहाद्व्यवहारोपि तत्पूर्वकः सद्विशेषावबोधकत्वादल्पविषय एव। व्यवहारात्कालत्रितयवृत्त्यर्थगोचरात् ऋजुसूत्रोपि तत्पूर्वको वर्तमानार्थगोचरतयाल्पविषय एव। कारकादि-

---

उसे व्यवहार से जातिवाचक कहो या गुणवाचक कहो सबके सब शब्द क्रियावाचक ही हैं-क्रिया के द्योतक ही हैं।

ये शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय परस्पर में सापेक्ष हैं तो सम्यग्नय कहलाते हैं यदि परस्पर में निरपेक्ष हैं तो मिथ्यानय कहलाते हैं ऐसा समझना चाहिये। [नैगमादि सातोंनय परस्पर सापेक्ष होनेपर ही सम्यग्नय हैं अन्यथा मिथ्यानय हैं] इन सात नयों में नैगम, संग्रह व्यवहार और ऋजुसूत्र ये चार नय अर्थ प्रधान नय हैं और शेष तीन शब्द, समभिरूढ और एवंभूतनय शब्द प्रधान नय कहलाते हैं।

शंका—इन नयों में कौनसा नय बहुविषयवाला है और कौनसा नय अल्प विषयवाला है, तथा कौनसा नय कारणभूत और कौनसा नय कार्यभूत है?

समाधान—पूर्व पूर्व का नय बहुविषयवाला है एवं कारणभूत है, तथा आगे आगे का नय अल्पविषयवाला है एवं कार्यभूत है। संग्रह से नैगम बहुत विषय वाला है क्योंकि नैगम सद्भाव और अभाव दोनों को विषय करता है, अर्थात् विद्यमान वस्तु में जैसे संकल्प सम्भव है वैसे अविद्यमान वस्तु में भी सम्भव है, इस नैगम से संग्रहनय अल्प विषयवाला है, क्योंकि यह सन्मात्र—सद्भावमात्र को जानता है। तथा नैगम पूर्वक होने से संग्रहनय उसका कार्य है। व्यवहार भी संग्रह पूर्वक होने से कार्य है एवं विशेष सत् का अवबोधक होने से अल्प विषयवाला है। व्यवहार तीनकालवर्ती अर्थ का ग्राहक है उस पूर्वक ऋजुसूत्र होता है अतः ऋजुसूत्र उसका कार्य है एवं केवल वर्त्तमान अर्थ का ग्राहक होने से अल्प विषयवाला है। ऋजुसूत्रनय कारक आदि

भेदेनाऽभिन्नमर्थं प्रतिपद्यमानादृजुसूत्रतः तत्पूर्वकः शब्दनयोप्यल्पविषय एव तद्विपरीतार्थगोचरत्वात्। शब्दनयात्पर्यायभेदेनार्थाभेदं प्रतिपद्यमानात् तद्विपर्ययात् तत्पूर्वकः समभिरूढोप्यल्पविषय एव। समभिरूढतश्च क्रियाभेदेनाऽभिन्नमर्थं प्रतियतः तद्विपर्ययात् तत्पूर्वक एवम्भूतोप्यल्पविषय एवेति।

नन्वेते नयाः किमेकस्मिन्विषयेऽविशेषेण प्रवर्त्तन्ते, किं वा विशेषोस्तीति? अत्रोच्यते— यत्रोत्तरोत्तरो नयोऽर्थांशे प्रवर्त्तते तत्र पूर्वः पूर्वोपि नयो वर्त्तते एव, यथा सहस्रेऽष्टशती तस्यां वा पञ्चशतीत्यादौ पूर्वसंख्योत्तरसंख्यायामविरोधतो वर्त्तते। यत्र तु पूर्वः पूर्वो नयः प्रवर्त्तते तत्रोत्तरोत्तरो नयो न प्रवर्त्तते; पञ्चशत्यादावष्टशत्यादिवत्। एवं नयार्थे प्रमाणस्यापि सांशवस्तुवेदिनो वृत्तिरविरुद्धा, न तु प्रमाणार्थे नयानां वस्त्वंशमात्रवेदिनामिति।

का भेद होने पर भी अभिन्न अर्थ को ग्रहण करता है, और शब्दनय कारकादि के भेद होने पर अर्थ में भेद ग्रहण करता है अतः ऋजुसूत्र से शब्दनय अल्प विषयवाला है तथा ऋजुसूत्रपूर्वक होने से शब्दनय उसका कार्य है। शब्दनय पर्यायवाची शब्द या पर्याय के भिन्न होनेपर भी उनमें अर्थ भेद नहीं करता किंतु समभिरूढनय पर्याय के भिन्न होनेपर अर्थ में भेद करता है अतः शब्दनय से समभिरूढनय अल्प विषयवाला है एवं तत्पूर्वक होने से उसका कार्य है। समभिरूढनय क्रिया का भेद होने पर भी अर्थ में भेद नहीं करता किन्तु एवंभूत क्रिया भेद होने पर अवश्य अर्थ भेद करता है अतः समभिरूढ से एवंभूत अल्प विषयवाला है तथा तत्पूर्वक होने से कार्य है। इस प्रकार नैगमादिनयों का विषय और कारण कार्य भाव समझना चाहिये।

शका—ये सात नय एक विषय में समानरूप से प्रवृत्त होते हैं अथवा कुछ विशेषता है?

समाधान—विशेषता है, वस्तु के जिस अंश में आगे आगे का नय प्रवृत्त होता है उस अंश में पूर्व पूर्व का नय प्रवृत्त होता ही है, जैसे कि हजार संख्या में आठसौ की संख्या रहती है एवं आठसौ में पांचसौ रहते हैं, पूर्व संख्या में उत्तर संख्या रहने का अविरोध है। किंतु जिस वस्तु अंश में पूर्व पूर्व का नय प्रवृत्त है उस अंश में उत्तर उत्तर का नय प्रवृत्त नही हो पाता, जैसे कि पांचसौ की संख्या में आठसौ संख्या नहीं रहती है। इसीतरह सकल अंश युक्त या सांश वस्तु के ग्राहक प्रमाण की नय के विषय में प्रवृत्ति होना अविरुद्ध है, किंतु एक अंशमात्र को ग्रहण करने वाले नयों की प्रमाण के विषय में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। जैसे पांचसौ में आठसौ नहीं रहते हैं।

कथं पुनर्नयसप्तभङ्ग्याः प्रवृत्तिरिति चेत् ? 'प्रतिपर्यायं वस्तुन्येकत्राविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पनायाः' इति ब्रूमः। तथाहि–सङ्कल्पमात्रग्राहिणो नैगमस्याश्रयणाद्विधिकल्पना, प्रस्थादिकं कल्पनामात्रम्–'प्रस्थादि स्यादस्ति' इति। सग्रहाश्रयणात्तु प्रतिषेधकल्पना; न प्रस्थादि सङ्कल्पमात्रम्–प्रस्थादिसन्मात्रस्य तथाप्रतीतेरसतः प्रतीतिविरोधादिति। व्यवहाराश्रयणाद्वा द्रव्यस्य पर्यायस्य वा प्रस्थादि-

---

सप्तभंगी विवेचन

प्रश्न—नयों के सप्तभंगों की प्रवृत्ति किसप्रकार हुआ करती है ?

उत्तर—एक वस्तु में अविरोधरूप से प्रति पर्याय के आश्रय से विधि और निषेध की कल्पना स्वरूप सप्तभंगी है या सप्तभंगी की प्रवृत्ति है। आगे इसी को दिखाते हैं– संकल्पमात्र को ग्रहण करनेवाले नैगमनय के आश्रय से विधि [अस्ति] की कल्पना करना, कल्पना में स्थित जो प्रस्थ [माप विशेष] है उसको "प्रस्थादि स्याद् अस्ति" ऐसा कहना और संग्रह का आश्रय लेकर प्रतिषेध [नास्ति] की कल्पना करना, जैसे प्रस्थादि नहीं है ऐसा कहना। संग्रह कहेगा कि प्रस्थादि संकल्प मात्र नहीं होता, क्योंकि सत् रूप प्रस्थादि में प्रस्थपने की प्रतीति होगी असत् की प्रतीति होने में विरोध है। इसप्रकार नैगम द्वारा गृहीत जो विधिरूप संकल्प में स्थित प्रस्थादि है वह संग्रहनय की अपेक्षा निषिद्ध होता है। अथवा नैगम के संकल्पमात्ररूप प्रस्थादि का निषेध व्यवहार से भी होता है, क्योंकि व्यवहारनय भी द्रव्यप्रस्थादि या पर्यायप्रस्थादि का विधायक है इससे विपरीत संकल्पमात्र में स्थितप्रस्थादि फिर चाहे वह आगामी समय में सत्रूप होवे या असत्रूप होवे ऐसे प्रस्थादि का विधायक व्यवहार नहीं हो सकता। नैगम के प्रस्थादि का ऋजुसूत्रनय द्वारा ग्रहण नही होता क्योंकि यह पर्याय मात्र के प्रस्थादि को प्रस्थपने से प्रतिपादन करता है अतः नैगम के प्रस्थादि का वह निषेध [नास्ति] ही करेगा। अर्थात् प्रस्थ पर्याय से जो रहित है उसकी प्रतीति इस नय से नहीं हो सकती। शब्दनय भी कालादि के भेद से भिन्न अर्थरूप जो प्रस्थादि है उसीको प्रस्थपने से कथन करता है अन्यथा अतिप्रसंग होगा। समभिरूढनय का आश्रय लेने पर भी नैगम के प्रस्थादि में प्रतिषेध कल्पना होती है, क्योंकि समभिरूढ पर्याय के भेद से भिन्न अर्थरूप को ही प्रस्थादि स्वीकार करेगा, अन्यथा अतिप्रसंग होगा। एवंभूत का आश्रय लेकर भी सङ्कल्परूप प्रस्थादि में प्रतिषेध कल्पना होती है, क्योंकि यह

प्रतीतिः; तद्विपरीतस्याऽसतः सतो वा प्रत्येतुमशक्तेः। ऋजुसूत्राश्रयणाद्वा पर्यायमात्रस्य प्रस्थादित्वेन प्रतीतिः, अन्यथा प्रतीत्यनुपपत्तेः। शब्दाश्रयणाद्वा कालादिभिन्नस्यार्थस्य प्रस्थादित्वम्, अन्यथातिप्रसङ्गात्। समभिरूढाश्रयणाद्वा पर्यायभेदेन भिन्नस्यार्थस्य प्रस्थादित्वम्; अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्।

नय भी प्रस्थकी मापने की जो क्रिया है उस क्रिया में परिणत प्रस्थ को ही प्रस्थपने से स्वीकार करता है, सङ्कल्पस्थित प्रस्थका प्रस्थपना स्वीकार नहीं करता, अन्यथा अतिप्रसंग होगा। इसप्रकार नैगमनय द्वारा गृहीत प्रस्थादि विधिरूप है और अन्य छह नयों में से किसी एक नय का आश्रय लेनेपर उक्त प्रस्थादि प्रतिषेधरूप है अतः प्रस्थादि स्यादस्ति, प्रस्थादि स्यान्नास्ति, ये दो भंग हुए, तथा क्रम से अर्पित उभयनय की अपेक्षा प्रस्थादि स्याद् उभयरूप है [अस्तिनास्तिरूप] युगपत् उभयनय की अपेक्षा स्याद् प्रस्थादि अवक्तव्य है। इसीतरह अवक्तव्यरूप शेष तीन भंगों का कथन करना चाहिये। वे इसप्रकार हैं—नैगम और अक्रम की अपेक्षा लेने पर प्रस्थादि स्यात् अस्ति अवक्तव्य है। संग्रह आदि में से किसी एक नय की अपेक्षा और अक्रम की अपेक्षा लेने पर प्रस्थादि स्यात् नास्ति अवक्तव्य है। नैगम तथा संग्रहादि में से एक एवं अक्रम की अपेक्षा लेने पर प्रस्थादि स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य है।

विशेषार्थ—यहां पर श्री प्रभाचन्द्राचार्य ने सप्तभंगी बनाने के प्रकार सूचित मात्र किये हैं। श्लोकवार्तिक में इसका विस्तृत विवेचन पाया जाता है। वह इसप्रकार—नैगमनय की अपेक्षा अस्तित्व कहने पर स्यात् प्रस्थादि अस्ति १ संग्रह की अपेक्षा स्यात् प्रस्थादि नास्ति २ क्रम से उभय की अपेक्षा स्यात् प्रस्थादि अस्ति नास्ति ३ अक्रम की अपेक्षा स्यात् प्रस्थादि अवक्तव्यं ४ नैगम और अक्रम की अपेक्षा स्यात् प्रस्थादि अस्ति अवक्तव्यं ५ संग्रह और अक्रम की अपेक्षा स्यात् प्रस्थादि नास्ति अवक्तव्यं ६ और नैगम और संग्रह तथा अक्रम की अपेक्षा स्यात् प्रस्थादि अस्ति नास्ति अवक्तव्यं ७ इसप्रकार नैगमनय विधि को विषय करने पर और उसके साथ संग्रहनय निषेध को विषय करने पर ये सात भंगों वाली एक सप्तभगी हुई। इसीतरह नैगम से विधि कल्पना कर और व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत से प्रतिषेध की कल्पना कर दो। मूल भंगों को बनाकर शेष पांच क्रम अक्रम आदि से बनाते हुए पांच सप्तभंगियां बना लेना। नैगमनय की संग्रह आदि के साथ छह सप्तभगियां होती हैं। तथा संग्रहनय की अपेक्षा विधि कल्पना कर और व्यवहारनय की अपेक्षा प्रतिषेध कल्पना

एवंभूताश्रयणाद्वा प्रस्थादिक्रियापरिणतस्यैवार्थस्य प्रस्थादित्वं नान्यस्य अतिप्रसङ्गादिति । तथा स्यादुभयं क्रमार्पितोभयनयार्पणात् । स्यादवक्तव्यं सहार्पितोभयनयाश्रयणात् एवमवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गा यथायोगमुदाहार्याः ।

ननु चोदाहृता नयसप्तभंगी । प्रमाणसप्तभंगीतस्तु तस्याः किङ्कृतो विशेष इति चेत् ?

करते हुए दो मूल भंग बनाकर सप्तभंगी बना लेना। इसीप्रकार संग्रह की अपेक्षा विधि कल्पना कर ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, और एवंभूत नयों की अपेक्षा नास्तित्व मानकर अन्य चार सप्तभंगियां बना लेना। इनप्रकार संग्रहनय की व्यवहार आदि के साथ कथन कर देने से एक एक के प्रति एक एक सप्तभंगी होती हुई पांच सप्तभंगियां हुई तथा व्यवहार की अपेक्षा अस्तित्व कल्पना कर और ऋजुसूत्र की अपेक्षा नास्तित्व को मानकर एक सप्तभंगी बनाना। इसीप्रकार व्यवहार-नयकी अपेक्षा अस्तित्व मानकर शब्द, समभिरूढ और एवंभूत से नास्तित्व कल्पते हुये तीन सप्तभंगियां और भी बना लेना। ये व्यवहारनयकी ऋजुसूत्र आदि के साथ बन चार सप्तभंगियां हुई तथा ऋजुसूत्र की अपेक्षा विधिकल्पना के अनुसार शब्द आदिक तीन नयों के साथ निषेध कल्पना कर दो दो मूल भग बनाते हुये ऋजुसूत्र की शब्द आदि तीन के साथ तीन सप्तभंगियां हुई तथा शब्दनयकी अपेक्षा विधिकल्पना कर और समभिरूढ के साथ निषेध कल्पना करते हुये एक सप्तभंगी बनाना। इसीप्रकार शब्द द्वारा विधि और एवंभूत द्वारा निषेध कल्पना कर सप्तभंगी होगी तथा समभिरूढ की अपेक्षा अस्तित्व और एवंभूत की अपेक्षा नास्तित्व लेकर सप्तभंगी बना लेना। इसप्रकार स्वकीय पक्ष हो रहे पूर्व पूर्व नयों की अपेक्षा विधि और प्रतिकूल पक्ष माने गये उत्तर उत्तर नयों की अपेक्षा प्रतिषेधकल्पना करके सात मूल नयों की इक्कीस सप्तभंगियां हो जाती हैं। ऐसे ही आगे चलकर नैगम आदि के प्रभेद करके एक सौ सतरह सप्तभंगी तथा उत्तरोत्तर प्रभेदों की अपेक्षा एक सौ पचहत्तर सप्तभंगी सम्भव हैं।

शंका—नयसप्तभंगी का प्रतिपादन तो हुआ किंतु प्रमाण सप्तभंगी और इस नयसप्तभंगी में क्या विशेषता है अथवा भेद या अंतर है ?

'सकलविकलादेशकृतः' इति ब्रूमः। विकलादेशस्वभावा हि नयसप्तभंगी वस्त्वंशमात्रप्ररूपकत्वात्। सकलादेशस्वभावा तु प्रमाणसप्तभंगी यथावद्वस्तुरूपप्ररूपकत्वात्। तथा हि–स्यादस्ति जीवादिवस्तु स्वद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया। स्यान्नास्ति परद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया। स्यादुभयं क्रमार्पितद्वयापेक्षया। स्यादवक्तव्यं सहार्पितद्वयापेक्षया। एवमवक्तव्योत्तरास्त्रयो भंगाः प्रतिपत्तव्याः।

समाधान— सकलादेश और विकलादेश की अपेक्षा विशेषता या भेद है। वस्तु के अंशमात्र का प्ररूपक होने से नय सप्तभंगी विकलादेश स्वभाव वाली है और यथावत् वस्तु स्वरूप [पूर्ण वस्तु] की प्ररूपक होने से प्रमाण सप्तभंगी सकलादेश स्वभाव वाली है। ऊपर नय सप्तभंगी के उदाहरण दिये थे अब यहां प्रमाण सप्तभंगी का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–स्यात् अस्ति जीवादि वस्तु स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा १ स्यात् नास्ति जीवादि वस्तु पर द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा २ स्यात् अस्ति नास्ति जीवादि वस्तु क्रमार्पित स्वद्रव्यादि एवं परद्रव्यादि की अपेक्षा ३ स्यात् जीवादि वस्तु अवक्तव्य सहअर्पित स्वपरद्रव्यादि अपेक्षा ४ स्यात् जीवादि वस्तु अस्ति अवक्तव्य स्वद्रव्यादि और अक्रम की अपेक्षा ५ स्यात् जीवादि वस्तु नास्ति अवक्तव्य परद्रव्यादि और अक्रम की अपेक्षा ६ स्यात् जीवादिवस्तु अस्ति नास्ति अवक्तव्य स्वद्रव्यादि और परद्रव्यादि तथा अक्रम की अपेक्षा ७ इसप्रकार प्रमाण सप्तभंगी को समझना चाहिये।

विशेषार्थ—यहां पर प्रश्न हुआ कि नयसप्तभंगी और प्रमाण सप्तभंगी में क्या विशेष या अन्तर है? इसके उत्तर में आचार्य ने कहा कि इनमें विकलादेश और सकलादेश की अपेक्षा विशेष या अंतर है। प्रमाण ज्ञान सकलादेश–पूर्णरूप से वस्तु का ग्राहक है और नयज्ञान विकलादेश–अंशरूप से वस्तु का ग्राहक है। प्रमाण सप्तभंगी और नयसप्तभंगी में मौलिक अंतर यह दिखता है कि नयसप्तभंगी में नास्तित्व की व्यवस्था कराने के लिये विरुद्ध धर्म अपेक्षणीय है और प्रमाण सप्तभंगी में नास्तित्व धर्म की व्यवस्था के लिये अविरुद्ध आरोपित धर्म से नास्तित्व की व्यवस्था है। अथवा सर्वथा भिन्न पदार्थों की अपेक्षा विरुद्ध पदार्थों की ओर से भी नास्तित्व बन जाता है। तथा प्रमाण सप्तभंगी और नयसप्तभंगी में अन्य धर्म की अपेक्षा रखना और अन्य धर्म की उपेक्षा रखना यह भेद भी प्रसिद्ध है।

कस्मात्पुनर्नयवाक्ये प्रमाणवाक्ये वा सप्तैव भंगाः सम्भवन्तीति चेत्? प्रतिपाद्यप्रश्नानां तावतामेव सम्भवात्। प्रश्नवशादेव हि सप्तभंगीनियमः। सप्तविध एव प्रश्नोपि कुत इति चेत्? सप्तविधजिज्ञासासम्भवात्। सापि सप्तधा कुत इति चेत्? सप्तधा संशयोत्पत्तेः। सोपि सप्तधा कथमिति चेत्? तद्विषयवस्तुधर्मस्य सप्तविधत्वात्। तथा हि-सत्त्वं तावद्वस्तुधर्मः; तदनभ्युपगमे वस्तुनो वस्तुत्वायोगात् खरशृङ्गवत्। तथा कथञ्चिदसत्त्वं तद्धर्म एव; स्वरूपादिभिरिव पररूपादिभिरप्यस्याऽसत्त्वानिष्टौ प्रतिनियतस्वरूपाऽसम्भवाद्वस्तुप्रतिनियमविरोधः स्यात्। एतेन क्रमार्पितोभय-

---

शंका—नयवाक्य तथा प्रमाण वाक्य मे सात ही भंग क्यों होते हैं?

समाधान—प्रतिपाद्यभूत जो शिष्यादि हैं उनके प्रश्न सात ही होने से प्रमाण वाक्य तथा नय वाक्य में सात ही भंग होते है। प्रश्न के वश से सप्तभंगी का नियम प्रसिद्ध है।

शंका—प्रतिपाद्यों के सात ही प्रश्न क्यों हैं।

समाधान—सात प्रकार से जानने की इच्छा होने के कारण सात ही प्रश्न होते हैं।

शंका—जानने की इच्छा भी सात प्रकार की क्यों है?

समाधान—सात प्रकार का संशय होने के कारण सात जिज्ञासा हैं।

शंका—संशय भी सात प्रकार ही क्यों होता है?

समाधान—संशय विषयक वस्तु के धर्म सात प्रकार के होने से संशय भी सात प्रकार का होता है। आगे इसीको दिखाते हैं-सत्त्व अर्थात् अस्तित्व वस्तु का धर्म है ही। यदि इस अस्तित्व को वस्तु का धर्म न माना जाय तो वस्तु का वस्तुत्व ही समाप्त होगा गधे के सींग की तरह। तथा वस्तु का नास्तित्व धर्म भी कथंचित् है क्योंकि यदि वस्तु में नास्तित्व धर्म न मानें तो उस वस्तु का प्रतिनियत स्वरूप असम्भव होगा, अर्थात् जैसे स्वरूपादि की अपेक्षा नास्तित्व धर्म अनिष्ट है वैसे पर रूपादि की अपेक्षा भी नास्तित्व धर्म को अनिष्ट किया जाय तो प्रतिनियत स्वरूप न रहने से वस्तु का प्रतिनियम ही विघटित होवेगा। जैसे वस्तु में अस्ति और नास्ति धर्म सिद्ध होते हैं

त्वादीनां वस्तुधर्मत्वं प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यम् । तदभावे क्रमेण सदसत्त्वविकल्पशब्दव्यवहारविरोधात्, सहाऽवक्तव्यत्वोपलक्षितोत्तरधर्मत्रयविकल्पस्य शब्दव्यवहारस्य चासत्त्वप्रसंगात् । न चामी व्यवहारा निर्विषया एव; वस्तुप्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिनिश्चयात् तथाविधरूपादिव्यवहारवत् ।

ननु च प्रथमद्वितीयधर्मवत् प्रथमतृतीयादिधर्माणां क्रमेतरार्पितानां धर्मान्तरत्वसिद्धे र्न सप्तविधधर्मनियमः सिद्ध्येत्; इत्यप्यसुन्दरम्; क्रमार्पितयोः प्रथमतृतीयधर्मयोः धर्मान्तरत्वेनाऽप्रतीतेः, सत्त्वद्वयस्यासम्भवाद्विवक्षितस्वरूपादिना सत्त्वस्यैकत्वात् । तदन्यस्वरूपादिना सत्त्वस्य द्वितीयस्य सम्भवे विशेषादेशात् तत्प्रतिपक्षभूतासत्त्वस्याप्यपरस्य सम्भवादपरधर्मसप्तकसिद्धिः (द्धेः) सप्तभङ्ग्य-

---

वैसे क्रमार्पित उभयत्व आदि शेष धर्म भी वस्तु धर्म रूप है ऐसा प्रतिपादन हुआ समझना । अर्थात् स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य आदि धर्म भी वस्तु में हैं । अस्ति नास्ति का अभाव करे तो क्रम से सत्त्व और असत्त्व शब्द का व्यवहार विरुद्ध होगा । तथा युगपत् को अपेक्षा अवक्तव्य आदि से उपलक्षित स्यात् अवक्तव्य एवं उत्तर के तीन धर्म रूप शब्द व्यवहार भी समाप्त होगा । स्यात् अस्ति नास्ति, स्याद् अवक्तव्य आदि व्यवहार निर्विषय–विषयरहित काल्पनिक भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इन शब्द व्यवहारों से वस्तु की प्रतिपत्ति [ज्ञान] वस्तु की प्रवृत्ति [वस्तु को लेने आदि के लिये प्रवृत्त होना] एवं वस्तु की प्राप्ति होती है । जैसे कि अन्यत्र प्रतिपत्ति प्रवृत्ति आदि का व्यवहार होता है । यदि अन्यत्र शब्दादि से होने वाला व्यवहार भी निर्विषयी माना जायगा तो सम्पूर्ण प्रत्यक्षादि से होने वाला व्यवहार भी लुप्त होगा और फिर किसी के भी इष्ट तत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकेगी ।

शंका—प्रथम [अस्ति] और द्वितीय [नास्ति] धर्म के समान प्रथम और तृतीय आदि धर्मों को क्रम तथा अक्रम से अर्पित करने पर अन्य अन्य धर्म भी बन सकते हैं अतः सात ही प्रकार का धर्म है ऐसा नियम असिद्ध है ?

समाधान—यह कथन असत् है, क्रम से अर्पित प्रथम और तृतीय धर्म धर्मान्तररूप अर्थात् पृथक् धर्मरूप प्रतीत नहीं होते । एक ही वस्तु में दो सत्त्व धर्म असम्भव है, केवल विवक्षित स्वरूपादि की अपेक्षा एक ही सत्त्वधर्म सम्भव है । अर्थात् विवक्षित एक मनुष्य वस्तु में स्वद्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा एक ही सत्त्व या अस्तित्व है दूसरा सत्त्व नहीं है । यदि उससे अन्य स्वरूपादि की अपेक्षा दूसरा सत्त्व

न्तरसिद्धितो न कश्चिदुपालम्भः । एतेन द्वितीयतृतीयधर्मयोः क्रमार्पितयोर्धर्मान्तरत्वमप्रातीतिकं व्याख्यातम् । कथमेवं प्रथमचतुर्थयोर्द्वितीयचतुर्थयोस्तृतीयचतुर्थयोश्च सहितयोर्धर्मान्तरत्वं स्यादिति चेत् ? चतुर्थेऽवक्तव्यत्वधर्मे सत्त्वासत्त्वयोरपरामर्शात् । न खलु सहार्पितयोस्तयोरवक्तव्यशब्देनाभिधानम् । किं तर्हि ? तथार्पितयोस्तयोः सर्वथा वक्तुमशक्तेरवक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरस्य तेन प्रतिपादनमिष्यते । न च तेन सहितस्य सत्त्वस्यासत्त्वस्योभयस्य वाऽप्रतीतिर्धर्मान्तरत्वासिद्धिर्वा; प्रथमे भंगे सत्त्वस्य प्रधानभावेन प्रतीतेः, द्वितीये त्वसत्त्वस्य, तृतीये क्रमार्पितयोः सत्त्वासत्त्वयोः, चतुर्थे त्ववक्त-

---

संभावित किया जाय अर्थात् उस मनुष्य पर्यायभूत वस्तु से अन्य जो देवादिपर्यायभूत वस्तु है उसके स्वद्रव्यादि की अपेक्षा दूसरा सत्त्व पर्याय विशेष के आदेश से संभावित किया जाय तो उस द्वितीय सत्त्व के प्रतिपक्षभूत जो असत्त्व है वह भी दूसरा संभावित होगा और इसतरह एक अपर धर्मवाली न्यारी सप्तभंगी सिद्ध हो जायगी, इसप्रकार की सप्तभंगान्तर मानने में तो कोई दोष या उलाहना नही है। जैसे प्रथम और तृतीय धर्म को धर्मान्तरपना सिद्ध नहीं होता और न सप्तभग से अधिक भंग सिद्ध होते हैं वैसे हो द्वितीय और तृतीय धर्म को क्रम से अर्पित करने में धर्मान्तरपना सिद्ध नहीं होता ऐसा निश्चय करना चाहिए।

शंका—यदि उक्त रीत्या धर्मान्तरपना सम्भव नहीं है तो प्रथम के साथ चतुर्थ का संयोग करने पर स्यात् अस्ति अवक्तव्य एवं द्वितीय के साथ चतुर्थ का संयोग कर स्यात् नास्ति अवक्तव्य, तृतीय के साथ चतुर्थ का सयोग कर स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य को धर्मान्तरपना कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—अवक्तव्य नाम के चौथे धर्म में सत्त्व और असत्त्व का परामर्श नहीं होने से उक्त धर्मान्तरपना बन जाता है। युगपत् अर्पित उन सत्त्व असत्त्व का अवक्तव्य शब्द द्वारा कथन नहीं होता अपितु उक्त रीति से अर्पित हुए उन सत्त्व असत्त्व को सर्वथा कहना अशक्य है इस रूप अवक्तव्य नामा जो धर्मान्तर है उसका अवक्तव्य शब्द द्वारा प्रतिपादन होता है। उस अवक्तव्य सहित सत्त्व की या असत्त्व अथवा उभय की प्रतीति नहीं होती हो अथवा यह अवक्तव्य पृथक् धर्मरूप सिद्धि नहीं होता हो सो भी बात नहीं है। देखिये—प्रथम भंग में [स्यात् अस्ति] सत्त्व प्रधान भाव से प्रतीत होता है, द्वितीय भंग में [स्यात् नास्ति] असत्व प्रधान भाव से प्रतीत होता है,

श्यत्वस्य, पञ्चमे सत्वसहितस्य, षष्ठे पुनरसत्त्वोपेतस्य, सप्तमे क्रमे क्रमवत्तदुभययुक्तस्य सकलजनैः सुप्रतीतत्वात् ।

ननु चावक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरत्वे वस्तुनि वक्तव्यत्वस्याष्टमस्य धर्मान्तरस्य भावात्कथं सप्तविध एव धर्मः सप्तभङ्गीविषयः स्यात् ? इत्यप्यपेशलम्; सत्त्वादिभिरभिधीयमानतया वक्तव्यत्वस्य प्रसिद्धेः, सामान्येन वक्तव्यत्वस्यापि विशेषेण वक्तव्यतायामवस्थानात् । भवतु वा वक्तव्यत्वावक्तव्यत्वयोर्धर्मयोः प्रसिद्धिः; तथाप्याभ्यां विधिप्रतिषेधकल्पनाविषयाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यामिव सप्तभङ्ग्यन्तरस्य प्रवृत्तेर्न तद्विषयसप्तविधधर्मनियमव्याघातः, यतस्तद्विषयः संशयः सप्तधैव न स्यात् तद्धेतुर्जि-

---

तृतीय भंग में [स्यात् अस्ति नास्ति] क्रम से अर्पित सत्त्व असत्त्व प्रधानता से प्रतीत होता है, चतुर्थ भङ्ग में [स्यात् अवक्तव्य] अवक्तव्यधर्म प्रधानता से प्रतीत होता है, पंचम भङ्ग में [स्यात् अस्ति अवक्तव्य] सत्त्व सहित अवक्तव्य मुख्यता से प्रतिभासित होता है, षष्ठ भङ्ग में [स्यात् नास्ति अवक्तव्य] असत्त्व सहित अवक्तव्य मुख्यता से ज्ञात होता है, और अन्तिम सप्तभङ्ग में [स्यात् अस्ति नास्ति अवक्तव्य] क्रम से उभय युक्त अवक्तव्य प्रतिभासित होता है । इसप्रकार यह सर्वजन प्रसिद्ध प्रतीति है अर्थात् सप्तभङ्गी के ज्ञाता इन भङ्गों में इसीतरह प्रतीति होना स्वीकार करते हैं ।

शङ्का—यदि अवक्तव्य को वस्तु में पृथक् धर्मरूप स्वीकार किया जाता है तो वक्तव्यत्व नामका आठवां धर्मान्तर भी वस्तु में हो सकता है फिर वस्तु में सप्तभंगी के विषयभूत सात प्रकार के हो धर्म हैं ऐसा किसप्रकार सिद्ध हो सकेगा ?

समाधान—यह शंका व्यर्थ की है, जब वस्तु सत्त्व आदि धर्मों द्वारा कहने में आने से वक्तव्य हो रहो है तो वक्तव्य की सिद्धि तो हो चुकती है । सामान्य से वक्तव्यपने का भी विशेष से वक्तव्यपना बन जाता है । अथवा दूसरी तरह से वक्तव्य और अवक्तव्य दो धर्म वस्तु मे अवस्थित हैं ऐसा माने तो भी सप्तभंगी मानने में या वस्तु में सात प्रकार के धर्म मानने में कोई विरोध नहीं आता, जब वक्तव्य और अवक्तव्य नाम के दो पृथक् धर्म मानते हैं तब सत्त्व और असत्त्व के समान इन वक्तव्य और अवक्तव्य को क्रम से विधि और प्रतिषेध करके अन्य सप्तभंगी की प्रवृत्ति हो जायगी अतः सप्तभंगी के विषयभूत सात प्रकार के धर्मों का नियम विघटित नहीं होता अर्थात् आठवां धर्म मानने आदि का प्रसंग नहीं आता । इसप्रकार एक वस्तु में सात प्रकार के

ज्ञासा वा तन्निमित्तः प्रश्नो वा वस्तुन्येकत्र सप्तविधवाक्यनियमहेतुः । इत्युपपन्नेयम्-प्रश्नवशादेकवस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी । 'अविरोधेन' इत्यभिधानात् प्रत्यक्षादिविरुद्धविधिप्रतिषेधकल्पनायाः सप्तभङ्गीरूपता प्रत्युक्ता, 'एकवस्तुनि' इत्यभिधानाच्च अनेकवस्त्वाश्रयविधिप्रतिषेधकल्पनाया इति ।

।। नयविवेचनं समाप्तः ।।

धर्म ही सिद्ध होते हैं और उनके सिद्ध होने पर उनके विषयरूप संशय सात प्रकार का, उसके निमित्त से होने वाली जिज्ञासा सात प्रकार को एवं उसके निमित्त से होने वाला प्रश्न सात प्रकार सिद्ध हो जाता है । इसलिये एक वस्तु मे सात प्रकार के वाक्यों का नियम है। इसतरह 'प्रश्नवशात् एक वस्तुनि अविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना सप्तभंगी' प्रश्न के वश से एक वस्तु में विरोध नहीं करते हुए विधि और प्रतिषेध की कल्पना करना सप्तभंगी है । यह सप्तभंगी का लक्षण निर्दोष सिद्ध हुआ । सप्तभंगी के लक्षण में अविरोधेन–विरोध नहीं करते हुए यह पद है उससे प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित या विरुद्ध जो विधि और प्रतिषेध की कल्पना है वह सप्तभंगी नही कहलाती ऐसा निश्चय होता है । तथा एक वस्तुनि–एक वस्तु में इस पद से अनेक पृथक् पृथक् वस्तुओं का आश्रय लेकर विधि और प्रतिषेध की कल्पना करना मना होता है अर्थात् एक ही वस्तु में विधि आदि को लेकर सप्तभग किये जाते हैं अनेक वस्तुओं का आश्रय लेकर नहीं ।

।। नय विवेचन एवं सप्तभंगी विवेचन समाप्त ।।

नयविवेचन एवं सप्तभंगी विवेचन का सारांश

अनिराकृत प्रतिपक्षो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायोनयः प्रतिपक्ष का निराकरण न करके वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। और जो प्रतिपक्ष का निराकरण करता है वह नयाभास है। अर्थात् एक हो वस्तु में परस्पर विरुद्ध रूप धर्म हुआ करते हैं जैसे अस्तित्व और नास्तित्व तथा नित्यत्व और अनित्यत्व आदि इन विरुद्ध धर्मों में एक धर्मांश को ग्रहण करते हुए भी उसके विरुद्ध या प्रतिपक्ष दूसरा धर्म है उसका निराकरण न करना समीचीन नय ज्ञान और प्रतिपक्ष धर्म का निराकरण करना मिथ्यानयज्ञान या नयाभास है। इसप्रकार संक्षेप से संपूर्ण नयों में एवं उनके प्रभेदो में सुघटित हाने वाला नय का तथा नयाभास का सामान्य लक्षण है। नय के मूल दो भेद हैं द्रव्यार्थिक नय पर्यायार्थिक नय। द्रव्य जिसका प्रयोजन अर्थात् विषय है वह द्रव्यार्थिक और पर्याय जिसका प्रयोजन या विषय है वह पर्यायार्थिक नय है। द्रव्यार्थिक नय के नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय ऐसे तीन भेद हैं। पर्यायार्थिक नय के ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढनय एवंभूतनय ऐसे चार भेद हैं। इन सबका अबाधित लक्षण मूल में है। संकल्प मात्र का ग्राहक नैगम है अथवा धर्म धर्मी को गौण और मुख्यता से विषय करना नैगमनय है। जो धर्म और धर्मी में सर्वथा भेद मानता है वह नैगमाभास है। नैयायिक वैशेषिक धर्म और धर्मी में, [गुण और गुणी में] सर्वथा भेद स्वीकार करते हैं अतः वे नैगमाभासी हैं। सभी विशेषों को अंतर्लीन करके अविरोध रूप से सत् सामान्य का ग्राहक संग्रह नय है और इससे विपरीत विशेषों का विरोध करने वाला संग्रहाभास है अद्वैतवादी—ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत आदि तथा सांख्य संग्रहाभासी है। संग्रहनय द्वारा गृहीत अर्थों का विधि पूर्वक विभाग करना व्यवहारनय है और उक्त अर्थों में होनेवाले कथंचित् भेदों को सर्वथा काल्पनिक मानकर विभाग करना व्यवहाराभास है।

वर्त्तमान क्षण का ग्राहक ऋजुसूत्र नय है। द्रव्यत्व का सर्वथा निषेध करके केवल क्षणमात्र रूप वस्तु को मानने वाला ऋजुसूत्राभास है। बौद्ध वस्तु को सर्वथा क्षणिक स्वीकारते हैं अतः ऋजुसूत्राभासी हैं।

काल कारक आदि के भेदों से भिन्न अर्थ को कहने वाला शब्दनय है। शब्द भेद से अर्थभेद स्वीकारने वाला समभिरूढनय है इसकी दृष्टि में एक वस्तु के पर्यायवाची अनेक शब्द नहीं हो सकते। विवक्षित क्रिया परिणत वस्तु मात्र का ग्राहक एवंभूतनय है। इसकी दृष्टि में जिस समय जो क्रिया करता है वही उसकी संज्ञा है, अन्य समय में वह संज्ञा नहीं है। ये शब्दनय, समभिरूढनय और एवंभूतनय परस्पर में यदि सापेक्ष हैं तब तो सम्यक्नय कहलायेंगे अन्यथा शब्दनयाभास आदि हो जायेंगे। ऋजुसूत्र तक चार नय अर्थप्रधान हैं और अग्रिम तीन नय शब्दप्रधान हैं।

नैगम आदि नयों में आगे आगे के नय अल्प विषय वाले होते गये हैं। इन सातों नयों का आगे आगे विषय किसप्रकार अल्प होता गया है इसके लिए एक उदाहरण है—एक व्यक्ति ने कहा "चिड़िया बोल रही है" अब नैगमनय कहेगा गांव में चिड़िया बोल रही है। संग्रहनय की अपेक्षा वृक्ष पर चिड़िया बोल रही है। व्यवहारनय की अपेक्षा तनाधार पर, ऋजुसूत्र को अपेक्षा शाखा पर, शब्दनय की अपेक्षा घोसले में, समभिरूढ की अपेक्षा शरीर में और एवंभूतनय की अपेक्षा कण्ठ में चिड़िया बोल रही है। यह उदाहरण केवल अल्प अल्प विषय किसप्रकार है इसके लिये दिया है।

सप्तभंगी

प्रश्न के वश से एक ही वस्तु में अविरोधरूप से विधि और प्रतिषेध की कल्पना करना सप्तभंगी है। इसमें सात भंग होते हे अतः सप्तभंगी कहते हैं। सात भंग ही क्यों होते हैं इसके लिये श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ने बहुत ही सुन्दर कथन किया है कि प्रतिपाद्य पुरुष के सात ही प्रश्न होने से सप्त भंग है। सात ही प्रश्न क्यों है तो सात प्रकार से वस्तु तत्त्व समझने की जिज्ञासा होती है जिज्ञासा भी सात क्यों तो संशय सात प्रकार का होता है, और संशय सात प्रकार का ही क्यों तो वस्तु में स्वयं में सात ही स्वरूप हैं इसलिये।

सप्तभंगी के नयसप्तभंगी और प्रमाणसप्तभंगी ऐसे दो भेद हैं। दोनों में यही अन्तर है कि प्रमाणसप्तभगी में नास्तित्व धर्म की व्यवस्था के लिये अविरुद्ध आरोपित धर्म से नास्तित्व की व्यवस्था होती है और नयसप्तभंगी में नास्तित्व की

व्यवस्था के लिये विरुद्ध धर्म अपेक्षणीय है। अथवा प्रमाण सप्तभंगी सकलादेशी और नयसप्तभंगी विकलादेशी है। अन्य धर्म की अपेक्षा रखना और अन्य धर्म की उपेक्षा करना यह भी इन दो सप्तभंगी में भेद–अन्तर है। वस्तु में सात ही स्वरूप क्यों हैं इसका समाधान भी बहुत अच्छे प्रकार से दिया है नयसप्तभंगी का कथन करते हुए नैगम आदि नयों में से नैगम और संग्रह, नैगम और व्यवहार इत्यादि का आश्रय लेकर विधि प्रतिषेध की कल्पना करके दिखाया गया है। जैसे नैगमनय के आश्रय से विधि कल्पना प्रस्थादि संकल्पमात्र रूप है "स्यात् प्रस्थादि अस्ति" और संग्रहनय के आश्रय से प्रतिषेध कल्पना, प्रस्थादि संकल्पमात्र नहीं है स्यात् प्रस्थादि नास्ति इत्यादि। इस प्रकार इन दोनों के आश्रय से एक सप्तभंगी होगी ऐसे ही नैगम और व्यवहार, नैगम और ऋजुसूत्र इत्यादि का आश्रय लेकर सप्तभंगी के सैकड़ों भेद होना सम्भव है। अस्तु।

।। नयविवेचन एवं सप्तभंगी विवेचन का सारांश समाप्त ।।

२२

पत्रविचारः

अथवा प्रागुक्तश्चतुरङ्गो वादः पत्रावलम्बनमप्यपेक्षते, अतस्तल्लक्षणमत्रावश्यमभिधातव्यम् यतो नास्याऽविज्ञातस्वरूपस्यावलम्बनं जयाय प्रभवतीति ब्रुवाणं प्रति सम्भवदित्याह। सम्भवद्विद्यमानमन्यत् पत्रलक्षणं विचारणीयं तद्विचारचतुरैः। तथाहि–स्वाभिप्रेतार्थसाधनानवद्यगूढपदसमूहात्मकं

पहले जयपराजय प्रकरण में चार अंग [वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति] वाला वाद होता है ऐसा कहा था यह वाद कभी पत्र के अवलंबन की अपेक्षा भी रखता है, अतः यहां पर उस पत्र का लक्षण कहना योग्य है, क्योंकि जो पुरुष पत्र के स्वरूप को नहीं जानता वह उसका अवलम्बन लेकर वाद करेगा तो जय प्राप्त करने के लिये समर्थ नहीं होगा। इसप्रकार का प्रश्न होने पर श्री माणिक्यनन्दी ने "संभवदन्यद्विचारणीयम्" यह उत्तर स्वरूप सूत्र रचा है। अर्थात् प्रमाण–प्रमाणाभास का कण्ठोक्त कथन कर देने पर शेष नय आदि का कथन अन्य ग्रन्थों से जानना ऐसा परीक्षामुखसूत्रकार का अभिप्राय है अथवा प्रमाणतदाभासौ...इत्यादि द्विचरम सूत्र में वाद में होने वाली जय पराजय व्यवस्था कर देने पर पत्र द्वारा होने वाले वाद में पत्र का स्वरूप किस प्रकार का होना चाहिये इस बात को अन्य ग्रन्थ से जानना चाहिये ऐसा सूत्रकार का अभिप्राय है। अब इस अभिप्राय के अनुसार "संभवदन्यद्विचारणीयम्" इस सूत्र का अर्थ करते हैं–संभवद् अर्थात् विद्यमान अन्यद् जो पत्र का

प्रसिद्धावयवलक्षणं वाक्यं पत्रमित्यवगन्तव्यं तथाभूतस्यैवास्य निर्दोषतोपपत्तेः। न खलु स्वाभिप्रेतार्थासाधकं दुष्टं सुस्पष्टपदात्मकं वा वाक्यं निर्दोषं पत्रं युक्तमतिप्रसङ्गात्। न च क्रियापदादिगूढं काव्यमप्येवं पत्रं प्रसज्यते; प्रसिद्धावयवत्वविशिष्टस्यास्य पत्रत्वाभिधानात्। न हि पदगूढादिकाव्यं प्रमाणप्रसिद्धप्रतिज्ञाद्यवयवविशेषणतया किञ्चित्प्रसिद्धम्, तस्य तथा प्रसिद्धौ पत्रव्यपदेशसिद्धेरबाधनात्। तदुक्तम्—

"प्रसिद्धावयवं वाक्यं स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम्।
साधु गूढपदप्रायं पत्रमाहुरनाकुलम्॥" [पत्रप० पृ० १]

कथं प्रागुक्तविशेषणविशिष्टं वाक्यं पत्रं नाम, तस्य श्रोत्रसमधिगम्यपदसमुदयविशेषरूपत्वात्,

---

लक्षण है उसका तद्विचार करने में चतुर पुरुषों को विचार करना चाहिये। आगे पत्र का लक्षण कहते हैं–अपने को इष्ट ऐसे साधन वाला निर्दोष एवं गूढ पदों के समुदाय स्वरूप, प्रसिद्ध अवयव युक्त वाक्य को पत्र कहते हैं, इसतरह के लक्षणों से लक्षित वाक्य ही निर्दोष पत्र कहा जा सकता है। जो अपने इष्ट अर्थ का साधन नहीं है, अपशब्द वाला है, या गूढ अर्थ युक्त नहीं है ऐसा वाक्य निर्दोष पत्र नहीं कहा जा सकता, अन्यथा काव्य आदि किसी वाक्य को पत्र मानने का अतिप्रसंग उपस्थित होगा। पत्र के लक्षण में तीन विशेषण हैं अपने इष्टार्थ का साधक हो, निर्दोष गूढ पद युक्त हो, एवं अनुमान के प्रसिद्ध अवयवों से सहित हो। इनमें से क्रिया पद आदि से गूढ काव्य भी हुआ करता है अतः उसको पत्र मानने का प्रसंग आयेगा ऐसी आशंका नहीं करना क्योंकि अनुमान के प्रसिद्ध अवयवों से सहित होने पर ही पत्रपना संभव है, काव्य में होने वाले क्रिया आदि के गूढपद प्रमाण प्रसिद्ध प्रतिज्ञा हेतु आदि अवयवों से विशिष्ट नहीं हुआ करते हैं। यदि किसो काव्य में इसतरह के पद–वाक्य होवे तो वह भी पत्र कहा जा सकता है। पत्र परीक्षा नामाग्रन्थ में पत्र का यही लक्षण कहा है–प्रसिद्धावयवं वाक्यं स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम्। साधु गूढपदप्रायं पत्रमाहुरनाकुलम्॥१॥ अर्थात् प्रसिद्ध अवयव संयुक्त स्वेष्ट अर्थ का प्रसाधक, निर्दोष एवं गूढ पदों से युक्त अबाधित वाक्य को पत्र कहते हैं।

शंका—उपर्युक्त विशेषों से युक्त वाक्य को पत्र कहना किसप्रकार संगत हो सकता है यह तो कर्ण द्वारा गम्य पदों के समुदायरूप है अर्थात् उच्चारित किये गये

पत्रस्य च तद्विपरीताकारत्वात् ? न च यद्यतोऽन्यत्तत्तेन व्यपदेष्टुं शक्यमतिप्रसङ्गादिति चेत्; 'उपचरितोपचारात्' इति ब्रूमः। 'श्रोत्रपथप्रस्थायिनो हि वर्णात्मकपदसमूहविशेषस्वभाववाक्यस्य लिप्यामुपचारस्तत्रास्य जनैरारोप्यमाणत्वात्, लिप्युपचरितवाक्यस्यापि पत्रे, तत्र लिखितस्य तत्रस्थत्वात्' इत्युपचरितोपचारात्पत्रव्यपदेशः सिद्धः। न च यद्यतोन्यत्तत्तेनोपचारादुपचरितोपचाराद्वा व्यपदेष्टुमशक्यम्, शक्रादन्यत्र व्यवहर्तृजनाभिप्राये शक्रोपचारोपलम्भात्, तस्माच्चान्यत्र काष्ठादावुपचरितोपचाराच्छक्रव्यपदेशसिद्धेः। अथवा प्रकृतस्य वाक्यस्य मुख्य एव पत्रव्यपदेशः—'पदानि त्रायन्ते गोप्यन्ते रक्ष्यन्ते परेभ्यः स्वयं विजिगीषुणा यस्मिन्वाक्ये तत्पत्रम्' इति व्युत्पत्तेः। प्रकृतिप्रत्ययादि-

---

अक्षर समुदायरूप है ? पत्र तो उससे विपरीत आकार वाला अर्थात् लिपिबद्ध अक्षर समूह [लिखित अक्षर समूह] वाला होता है जो जिससे अन्य होता है वह उस रूप से कहा नहीं जा सकता अन्यथा अतिप्रसंग होगा ?

समाधान—यहां पर उपचरित उपचार द्वारा पत्र का लक्षण कहा गया है वह उपचार इसप्रकार है–कर्ण पथ में प्रस्थान करने वाले वर्णात्मक पद समूह स्वभाव वाले वाक्य का लिपि में उपचार किया जाता है क्योंकि वहां पर स्थित जनों द्वारा उसका आरोप किया जा रहा है, तथा लिपि में उपचरित वाक्य का पत्र में आरोप किया जाता है, उस पत्र में लिखित वाक्य का वहा पर स्थितपना होने से, ऐसे उपचरित उपचार से वाक्य को पत्र कहा जा सकता है भावार्थ यह है कि वाक्य तो सुनायी देने वाले शब्दरूप है और पत्र कागज आदि पर लिपिबद्ध हुए शब्द है अतः वाक्य को पत्र कैसे कहा ऐसी शंका थी उसका समाधान किया कि उपचार करके ऐसा कहा जाना संभव है। जो जिससे अन्य है वह उसके द्वारा उपचार से या उपचरित उपचार से कहा नहीं जाता हो सो बात नहीं है, देखा जाता है कि व्यवहारीजन इन्द्र से अन्य किसी व्यक्ति में इन्द्र का उपचार कर उसे इन्द्र कहते हैं [जैसे पूजा प्रतिष्ठा आदि के समय मनुष्य को ही मुकुट आदि पहनाकर इन्द्र नाम से पुकारा जाता है] तथा उस उपचार रूप इन्द्र से अन्य जो काष्ठ आदि है उसमें उपचरित उपचार से इन्द्र संज्ञा करते हैं। अथवा पत्र इस पद का अर्थ अन्य प्रकार से संभव है अतः उपचरित उपचार न करके मुख्य रूप से भी वाक्य को पत्र कहा जा सकता है–"पदानि त्रायन्ते गोप्यन्ते रक्ष्यन्ते परेभ्यः स्वयं विजिगीषुणा यस्मिन् वाक्ये तत् पत्रम्" प मायने पदों की त्र मायने रक्षा करना अर्थात् परवादी से अपने पदों को जिसमें गुप्त रखा

गोपनाद्धि पदानां गोपनं विनिश्चितपदस्वरूपतदभिधेयतस्तेभ्योपि परेभ्यः सम्भवत्येव । तस्योक्तप्रकारस्य पत्रस्यावयवौ क्वचिद्द्वावेव प्रयुज्येते तावतैव साध्यसिद्धेः । तद्यथा—

"स्वान्तभासितभूत्याद्यत्र्यन्तात्मतदुभान्तवाक् ।

परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतस्वात्मकत्वतः" [ ]

इति । एव अन्त ह्यान्तः, स्वार्थिकोऽण् वानप्रस्थादिवत् । प्रादिपाठापेक्षया सोरान्तः स्वान्तः उत्, तेन भासिताद्योतिता भूतिरुद्भूतिरित्यर्थः । सा आद्या येषां ते स्वान्तभासितभूत्याद्याः ते च ते त्र्यन्ताश्च उद्भूतिव्ययध्रौव्यधर्मा इत्यर्थः । ते एवात्मानः तांस्तनोतीति स्वान्तभासितभूत्याद्यत्र्यन्तात्मतत् इति साध्यधर्मः । उभान्ता वाग्यस्य तदुभान्तवाक्=विश्वम्, इति धर्मि । तस्य साध्यधर्मविशिष्टस्य निर्देशः । उत्पादादित्रिस्वभावव्यापि सर्वमित्यर्थः । परान्तो यस्यासौ परान्तः प्रः, स एव द्योतितं द्योतनमुपसर्ग इत्यर्थः । तेनोद्दीप्ता चासौ मितिश्च तया इतः स्वात्मा यस्य तत्परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतस्वात्मकं 'प्रमितिप्राप्तस्वरूपम्' इत्य-

जाता है वह वाक्य पत्र कहलाता है, इसतरह पत्र शब्द की व्युत्पत्ति है । पदों का स्वरूप एवं उनके वाच्यार्थ को जानने वाले परवादी से भी प्रत्यय प्रकृति आदि के गोपन से पदों का गोपन करना सम्भव होता ही है । उक्त प्रकार से कहे हुए पत्र के अवयव कही पर दो ही प्रयुक्त होते हैं, उतने मात्र से साध्य सिद्धि हो जाने से । अब दो अवयव युक्त पत्र वाक्य का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—स्वान्त भासित भूत्याद्यत्र्यन्तात्मतदुभान्तवाक् । परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतस्वात्मकत्वतः ॥१॥ इस वाक्य का विश्लेषण—अन्त शब्द से आन्त बना इसमें स्वार्थिक अण् आया है जैसे वान प्रस्थ आदि में आता है । प्र आदि उपसर्ग के पाठअपेक्षा से "सु" के आन्त जो हो वह स्वान्त उत् [उपसर्ग] है, उससे भासित भूति अर्थात् उद्भूति [उत्पाद] वह आदि में जिनके हैं वे स्वान्तभासितभूत्याद्या तथा त्र्न्ता ये उत्पादव्ययध्रौव्य धर्म कहलाये वे जिनका स्वरूप है और उनको जो व्याप्त करे वह स्वान्तभासितभूत्याद्यत्र्यन्तात्मतत् कहलाया । यह साध्य है । उभान्त वचन जिसके है वह उभान्तवाक् अर्थात् विश्व है यह धर्मी है । उस साध्य धर्म से विशिष्ट का निर्देश किया अर्थात् उत्पाद आदि त्रिस्वभाव व्यापी सब पदार्थ हैं [यहां तक प्रतिज्ञा वाक्य का विश्लेषण हुआ] आगे हेतु वाक्य को कहते हैं; परा जिसके अन्त में है वह परान्त है अर्थात् प्र वही द्योतित अर्थात् उपसर्ग, उससे उद्दीप्त जो मिति उसके द्वारा इत मायने प्राप्त है स्वात्मा जिसकी वह परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतस्वात्मक है अर्थात् प्रमीति [ज्ञान] को प्राप्त स्वरूप वाला है उसका भाव

र्थः । तस्य भावस्तत्त्वं 'प्रमेयत्वम्' इत्यर्थः, प्रमाणविषयस्य प्रमेयत्वव्यवस्थितेः इति साधनधर्मनिर्देशः। दृष्टान्ताद्यभावेऽपि च हेतोर्गमकत्वम् "एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गम्" [परीक्षामु० ३।३७] इत्यत्र समर्थितम् । अन्यथानुपपत्तिबलेनैव हि हेतोर्गमकत्वम्, सा चात्रास्त्येव एकान्तस्य प्रमाणागोचरतया विषयपरिच्छेदे समर्थनात् । एवं प्रतिपाद्याशयवशात्त्रिप्रभृतयोऽप्यवयवाः पत्रवाक्ये द्रष्टव्याः । तथाहि—

"चित्राद्यदन्तराणीयमारेकान्तात्मकत्वतः ।
यदित्थं न तदित्थं न यथाऽकिञ्चिदिति त्रयः ॥१॥

तथा चेदमिति प्रोक्तौ चत्वारोऽवयवा मताः ।
तस्मात्तथेति निर्देशे पञ्च पत्रस्य कस्यचित् ॥२॥" [पत्रप० पृ० १०]

चित्रमेकानेकरूपम्; तदततीति चित्रात्–एकानेकरूपव्यापि अनेकान्तात्मकमित्यर्थः । सर्व-

---

अर्थात् प्रमेयत्व, प्रमाण का विषय प्रमेयपना होने से इसप्रकार हेतु अर्थ में पंचमी का तस् प्रत्यय जोड़कर साधन [हेतु] निर्देश "परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीतस्वात्मकत्वतः" किया है। इस पत्र स्थित अनुमान वाक्य में दृष्टांत आदि अंग नहीं है तो भी हेतु स्वसाध्य का गमक है, "एतद्द्वयमेवानुमानांगंनोदाहरणम्" [परीक्षामुख ३।३७] इस सूत्र में निश्चित किया जा चुका है कि अनुमान के दो ही [प्रतिज्ञा और हेतु] अंग होते हैं, उदाहरण अनुमान का अंग नहीं है। हेतु का गमकपना अन्यथानुपपत्ति के बल से ज्ञात हो जाता है, वह अन्यथानुपपत्ति उपर्युक्त पत्रवाक्य के हेतु में [प्रमेयत्व] मौजूद है, सर्वथा एकान्त रूप नित्यादि प्रमाण के गोचर नहीं है, इस बात का निर्णय विषय परिच्छेद में हो चुका है। यह अवश्य ज्ञातव्य है कि अनुमान के अंग प्रतिपाद्य [शिष्यादि] के अभिप्रायानुसार हुआ करते हैं अतः पत्र वाक्य में दो के बजाय तीन आदि अंग भी सम्भव हैं। आगे इसीको दिखाते हैं–पत्र परीक्षा ग्रंथ में पृष्ठ दस पर पत्र वाक्य में तीन अंग या चार अथवा पांच अंग का निर्देश बताया गया है। "चित्राद्यदन्तराणीयं, [प्रतिज्ञा] आरेकान्तात्मकत्वतः [हेतु] यदित्थ न तदित्थं न यथा अकिञ्चित्" यह तीन अंग वाला अनुमान प्रयोग है इसमें "तथा च इद" इतना जोड़ने पर किसी पत्र के चार अंग होते हैं, एवं "तस्मात् तथा" इतना जोड़ने पर पांच अवयव होते हैं। अब अनुमान के इन वाक्यों का अर्थ किया जाता है–चित्र एक अनेक रूप को कहते हैं उसको 'अतति' इति चित्रात् अर्थात् एकानेक व्यापक अनेकान्तात्मपना। सर्व,

विश्वयदित्यादिसर्वनामपाठापेक्षया यदन्तो विश्वशब्दो 'यत् अन्ते यस्य' इति व्युत्पत्तेः । तेन राणीयं छादनीयं विश्वमित्यर्थः । तदनेकान्तात्मकं विश्वमिति पक्षनिर्देशः । आरेका संशयः, सा अन्ते यस्येत्यारेकान्तः प्रमेयः "प्रमाणप्रमेयसंशय" [न्यायसू० १।१।१] इत्यादिपाठापेक्षया, स आत्मा यस्य तदारेकान्तात्मकम्, तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्, इति साधनधर्मनिर्देशः । यदित्थं न भवति यच्चित्रात्म भवति तदित्थं न भवति आरेकान्तात्मकं न भवति यथाऽकिञ्चित्=न किञ्चित् अथवा अकिञ्चित् सर्वथैकान्तवाद्यभ्युपगतं तत्त्वम् । इति त्रयोऽवयवाः पत्रे क्वचित्प्रयुज्यन्ते । तथा चेदमिति पक्षधर्मोपसंहारवचने चत्वारः । तस्मात्तथाऽनेकान्तव्यापीति निर्देशे पञ्चेति ।

यच्चेदं यौगैः स्वपक्षसिद्ध्यर्थं पत्रवाक्यमुपन्यस्तम्-सैन्यलड्भाग् नाऽनन्तरानर्थार्थंप्रस्वापकृदाऽऽ-

---

विश्व आदि सर्वनामों के पाठ की अपेक्षा यत् शब्द के अन्त में विश्व शब्द है, यत् है अंत में जिसके उसे कहते हैं 'यदन्त' इसतरह यदन्त शब्द की निरुक्ति है । उससे राणीयं कहने योग्य विश्व है । इसप्रकार 'चित्राद्यन्तराणीयं' यह पक्ष निर्देश हुआ इसका अर्थ विश्व [जगत्] अनेकान्तात्मक [अनेक धर्मात्मक] है । आरेका मायने संशय वह है अन्त में जिसके उसे कहते हैं आरेकान्त अर्थात् न्यायसूत्र के [नैयायिक ग्रंथ के] पाठ की अपेक्षा संशय पद प्रमेय के अन्त में हैं अतः आरेकान्त कहने से प्रमेय आता है, वह जिसकी आत्मा अर्थात् स्वरूप है वह आरेकान्तात्मक कहलाया और उसमें भाव अर्थ का त्व प्रत्यय जोड़कर पंचमी निर्देश कर देने पर "आरेकान्तात्मकत्वतः" बना, यह हेतु निर्देश है । जो ऐसा चित्रात् [अनेकान्तात्मक] नहीं होता वह उसप्रकार आरेकान्तात्मक [प्रमेय] नही होता, जैसे कि अकिञ्चित् वस्तु, न किञ्चित् इति अकिञ्चित् अर्थात् सर्वथा एकान्तवादी का माना गया तत्त्व । उपर्युक्त संपूर्ण विश्लेषण का संक्षेप यह हुआ कि, सम्पूर्ण पदार्थ अनेकान्तात्मक है, प्रमेय होने से, जो अनेक धर्मात्मक नहीं होता वह प्रमेय नहीं होता, जैसे एकान्तवादी का तत्त्व प्रमेय नहीं है । इसतरह के तीन अवयव किसी पत्र में प्रयुक्त होते हैं । इसमें पक्ष धर्म का उपसंहार अर्थात् उपनय अवयव जोड़े अर्थात् "यह प्रमेयरूप है" तो चार अवयव होते हैं । तथा "तस्मात् तथा" अतः अनेकान्तात्मक विश्व है ऐसे निगमन के प्रयुक्त होने पर पांच अवयववाला अनुमान बनता है ।

अब यौग द्वारा स्वपक्ष की सिद्धि के लिये प्रयुक्त हुए पत्र के अनुमान वाक्य को उपस्थित करते हैं–"सैन्यलड् भाग् नाऽनंतरानर्थार्थ प्रस्वापकृदाऽऽशैद्स्यतोऽनीक्टो-

शेट्स्यतोऽनीक्टोनेनलब्ध्कुकुलोद्भवो वैषोप्यनैश्यनापस्तन्नऽनृरड्लड्जुट् परापरतत्त्वबित्तदन्योऽनादिरवायनीयत्वत एवं यदीदृक्तत्सकलविद्वर्गवदेतच्चैवमेवं तदिति पत्रम् । अस्यायमर्थः–इन आत्मा सकलस्यैहिकपारलौकिकव्यवहारस्य प्रभुत्वात्, सह तेन वर्त्तते इति सेनः । स एव चातुर्वर्ण्यादिवत्स्वार्थिके ष्यणि कृते 'सैन्यम्' इति भवति । तस्य लड्–विलासः, तं भजते सेवते इति सैन्यलड्भाक्–'देहः' इति यावत् । अर्थः प्रयोजनं तस्मै अर्थार्थः, न अर्थार्थोऽनर्थार्थः । प्रकृष्टो लौकिकस्वापाद्विलक्षणः स्वापः प्रस्वापः=बुद्ध्यादिगुणवियुक्तस्यात्मनोऽवस्थाविशेषः मोक्ष इति यावत् । न हि तत्साध्यं किञ्चित्प्रयोजनमस्ति; तस्य सकलपुरुषप्रयोजनानामन्ते व्यवस्थानात् । अनर्थार्थश्चासौ प्रस्वापश्च । नन्वेवं सौगतस्वापस्यापि ग्रहणं स्यात्, सोपि ह्यनर्थार्थप्रस्वापो भवति सकलसन्ताननिवृत्तिलक्षणस्य मोक्षस्य सौगतैरभ्युपगमात् । तदुक्तम्–

"दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ।।

नेनलब्ध्कुकुलोद्भवो वैषोप्यनैश्यतापस्तन्नऽनृरड्लड्जुट् परापरतत्त्व वित्तदन्योऽनादिरवायनीयत्वत एवं यदीदृक् तत् सकलविद्वर्गवदेतच्चैव मेवं तत्" यह पत्र है । इसका अर्थ इन मायने आत्मा सकल इहलोक सम्बन्धी एवं परलोक संबंधी व्यवहार का प्रभु होने से आत्मा इन कहलाता है, उसके साथ रहे वह सेनः है उसमें चातुर्वर्ण्य शब्द के समान स्वार्थिक घ्यण् प्रत्यय जोड़ने पर 'सैन्यं' बना । उसका लड् [लड् धातु विलास अर्थ में] अर्थात् विलास उसको भजे वह सैन्यलड्भाक् अर्थात् देह है । अर्थप्रयोजन उसके लिये हो वह अर्थार्थ है ;न अर्थार्थः अनर्थार्थः है । प्र स्वापः अर्थात् लौकिक स्वाप [निद्रा] से विलक्षण स्वाप को प्रस्वाप कहते हैं उसका अर्थ है बुद्धि आदि गुणों से पृथक् ऐसी आत्मा की अवस्था होना अर्थात् मोक्ष है । उस मोक्ष को साधने का कोई प्रयोजन नहीं क्योंकि सकल पुरुष के प्रयोजनों के अंत में यह व्यवस्थित है । अनर्थार्थ और प्रस्वाप का कर्मधारय समास हुआ है ।

शंका—प्रस्वापरूप उक्त मोक्ष के मानने पर सौगत के स्वापरूप मोक्ष का ग्रहण होवेगा क्योंकि वह भी अनर्थार्थ प्रस्वाप है, सम्पूर्ण सन्तानों की निवृत्ति होना रूप मोक्ष सौगत ने भी माना है । कहा भी है–जैसे दीपक निवृत्ति को प्राप्त हुआ [बुझा हुआ] न पृथ्वी में जाता है न आकाश में जाता है, न किसी दिशा में न किसी

जीवस्तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥"

[सौन्दरनन्द १६।२८, २९]

अत्राह–नानन्तरेति । अन्तो विनाशस्तं राति पुरुषाय ददातीत्यन्तरः । नान्तरोऽनन्तरः पुरुषस्य विनाशदायको नेत्यर्थः । अनन्तरश्चासावनर्थार्थप्रस्वापश्चानन्तराऽनर्थार्थप्रस्वापः । नेति निपातः प्रतिषेधवाची । नानन्तरानर्थार्थप्रस्वापो लौकिको निद्राकृतः स्वाप इत्यर्थः । तं कृन्तति छिनत्तीति नानन्तरानर्थार्थप्रस्वापकृत्–'प्रबोधकारीन्द्रियादिकारणकलापः' इति यावत् । शिषु इत्ययं धातुर्भौवादिकः सेचनार्थः, "जिषु ङिषु शिषु विषु उक्ष पृषु वृषु सेचने"[ ]इत्यभिधानात् । तस्माच्छेषण भावे घञि कृते 'शेषः' इति भवति । तस्मात्स्वार्थिकेऽणि कृते 'शैषः' इति जायते । शैषं करोति "तत्करोति तदाचष्टे, तेनातिक्रामति धुरूपं च" [ ] इति णिचि कृते टेः खे च कृते शैषीति भवति । "तदन्ता धवः" [जैनेन्द्रव्या० २।१।३६] इति धुसंज्ञायां सत्यां "प्रागधोस्ते" [जैनेन्द्रव्या० १।२।१४८] इत्याङा योगः । आशैषयति समन्ताद्भुवः सेकं करोतीति क्विपि तस्य च सर्वापहारेण लोपे डत्वे च कृते आशैडिति भवति । आशैट् चासौ स्यच्चाशैट्स्यत् लोकप्रसिद्धः समुद्रः । तस्मादा-

---

विदिशा मे जाता है, केवल तैल के क्षय से शांत ही होता है, वैसे ही जीव निर्वृत्ति को प्राप्त हुआ न पृथ्वी में जाता है न आकाश में जाता है, न दिशा में न विदिशा में जाता है केवल क्लेश के क्षय होने से शांति को प्राप्त होता है ॥२८।२९॥

समाधान— इस प्रसंग को दूर करने हेतु ही "नानन्तराः" विशेषण दिया है । आगे इसीको बताते हैं–अन्त मायने विनाश उसको जो पुरुष के लिये देवे वह अन्तर है न अन्तरः अनन्तरः अर्थात् पुरुष का विनाशदायक नहीं है. इस अनन्तर और अनर्थार्थ प्रस्वाप का कर्मधारय समाप्त हुआ है । इसमें प्रथम ना निषेध वाचक निपात जुड़ा है, इसका अर्थ लौकिक निद्राकृत स्वाप है, उसको छेदे सो नानन्तरानर्थार्थप्रस्वापकृत् है अर्थात् प्रबोध करने वाले इन्द्रियादि कारणों का कलाप । शिषु धातु भ्वादिगण सेचन अर्थवाला है, जिषु ङिषु शिषु विषु उक्ष पृषु वृषु सेचने ये धातुये सींचना अर्थ में हैं । शिषु धातु में घञ् प्रत्यय से शेषः बना पुनः स्वार्थिक अण् से शैषः बना । फिर उसमें करने या कहने अर्थ में णिच् प्रत्यय एवं टि का लोप करने पर शैषी बना । पुनः धातु संज्ञा करके आङ् जोड़ा, आशैषयति–सब ओर से पृथ्वी का सेच करने अर्थ में क्विप् प्रत्यय आकर लुप्त हुआ एवं ष को ड हुआ आशैड् । इसके साथ स्यत का समास आशैट्

शेट्स्यत:-आ समुद्रादिति यावत् । निपूर्व इष् इत्ययं धातुर्गत्यर्थः परिगृह्यते-"इष् गतिहिंसनयोश्च" [ ] इति वचनात् । नीषते गच्छतीति नीट्, न नीडऽनीट् । तस्मात्स्वार्थिके के प्रत्ययेऽनीट्क इति भवति । अचलो गिरिनिकर इत्यर्थः । यदि वा अं विष्णुं नीषति गच्छति समाश्रयतीत्यनीड्=भुवनसन्निवेशः तदुक्तम्—

"युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासते ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ।।"

[शिशुपालव० १।२३]

न विद्यते ना समवायिकारणभूतो यस्यासावऽना, "ऋण्मोः" (न्मोः) [जैनेन्द्रव्या० ४।२।१५३] इति कप् सान्तो न भवति "सान्तो विधिरनित्यः" [ ] इति परिभाषाश्रयणात् । इनो भानुः । लषणं लट् कान्तिः-"लष् कान्तौ" [ ] इति वचनात् । लषा युक् योगो यस्यासौ लड्युक्-चन्द्रः । इनश्च लड्युक् चेनलड्युक् सूर्याचन्द्रमसौ । कुलमिव कुलं सजातीयारम्भकावयवसमूहः । तस्मादुद्भव आत्मलाभो यस्यासौ कुलोद्भवः पृथिव्यादिकार्यद्रव्यसमूहः । 'वा' इत्यनुक्तसमुच्चये, तेनानित्यस्य गुणस्य कर्मणश्च ग्रहणम् । एषः प्रतीयमानः । अतो नाश्रयासिद्धिः । अद्ध्यो हितोऽप्यः-समुद्रादिः । निशायाः कर्म नैश्यमन्धकारादि । ताप औष्ण्यम् । स्तनतीति स्तन् मेघः ।

स्यतः हुआ उसका अर्थ समुद्र तक ऐसा हुआ । निपूर्वक इष् धातु गति और हिंसा अर्थ में है नीषते इति नीट्, न नीट् अनीट् उसमें स्वार्थिक क प्रत्यय अनीट्क बना । उसका अर्थ पर्वत समूह है । अथवा अ मायने विष्णु का आश्रय लेवे वह अनीट् अर्थात् भुवन रचना । यह भुवन रचना विष्णु के आश्रय से होती है । इसका प्रमाण शिशुपाल वध पुस्तक में है-युगान्तकाल में संहृत किया है अपनेको जिसने ऐसे नारायण के [विष्णु] जिस शरीर में जगत् विकास युक्त होकर रहता है उस शरीर में नारद के आगमन से उत्पन्न हुआ हर्ष समाया नहीं ।।१।। न विद्यते ना समवायिकारणभूतः यस्य असौ अना, समवायिकारण नहीं है जिसके । इन-सूर्य, लट्-कांति । लट् से युक्त हो वह लट्युक् अर्थात् चन्द्र । इनका समास होने पर इन लड्युक् हुआ इसका अर्थ सूर्य चन्द्र है । सजातीय आरंभक अवयवों के समूह कुल कहलाता है । उससे उत्पत्ति है जिसके वह कुलोद्भव है अर्थात् पृथ्वी आदि कार्य द्रव्यों का समूह । वा शब्द अनुक्त का समुच्चय करता है उससे गुण और कर्म पदार्थ का ग्रहण हुआ । एषः पद प्रतीतिका सूचक है इससे हेतु का आश्रयासिद्ध दोष दूर होता है । आप्यः पद समुद्रादि का सूचक है । नैश्य पद से अंधकार लेना । ताप से उष्णता, स्तन् पद से मेघ लेना, इन सबका

एतेषां द्वन्द्वं कवद्भावः। किम्भूतः स तच्च। न विद्यते ना पुरुषो निमित्तकारणमस्येति। रटनं परिभाषणं तस्य लड् विलासः, तं जुषते सेवते इति–'जुषी प्रीतिसेवनयोः" [ ] इत्यभिधानात्। अनृरड्लड्जुट्। अत्रापि कवऽभावे निमित्तमुक्तम्।

अत्र साध्यधर्ममाह। परापरतत्त्ववित्तदन्य इति। परं पार्थिवादिपरमाण्वादिकारणभूतं वस्तु, अपरं पृथिव्यादिकार्यद्रव्यम्, तयोस्तत्त्वं स्वरूपम्, तस्मिन्विद् बुद्धिर्यस्यासौ परापरतत्त्ववित्–कार्यकारणविषयबुद्धिमान् पुरुष इत्यर्थः। तस्मात्परोक्तादन्यः परापरतत्त्ववित्तदन्यो बुद्धिमत्कारण इत्यर्थः। यदा नपुंसकेन सम्बन्धस्तदा परापरतत्त्ववित्तदन्यदिति व्याख्येयम्। कुत एतदित्याह–अनादिरवायनीयत्वत इति। कार्यस्य हेतुरादिस्ततः प्राग्रेव तस्य भावात्। तस्मादन्योऽनादिः कार्यसन्दोहः। तस्य रवस्तत्प्रतिपादकं कार्यमिति वचनम्। तेनायनीयं प्रतिपाद्यं तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मादनादिरवायनीयत्वतः–'कार्यत्वात्' इत्यर्थः। एवं यदनादिरवायनीयं तदीदृग् बुद्धिमत्कारणम्। तत्कला अव-

---

समाहार द्वन्द्व समास किया है उक्त पदार्थ कैसा है तो नहीं है पुरुष कारण जिसका ऐसा है। रट् भाषण है उसका लड् विलास है इसमें सेवन अर्थ का जुष् धातु जुड़कर समास होकर अनृरड्लड्जुट् बना। यहा तक पक्ष का कथन हुआ।

अब साध्य को कहते हैं–'परापरतत्त्ववित्तदन्य' पृथिवी आदि के कारणभूत परमाणु आदि वस्तु को 'पर' कहते हैं और इन्हीं के कार्यों को अपर कहते हैं, उनके स्वरूप को जानने वाली बुद्धि जिसके है वह परापरतत्त्ववित् है। उससे जो अन्य हो अर्थात् अबुद्धिमान कारणरूप हो वह परापरतत्त्ववित्तदन्य हैं। यदि इस पद को नपुंसक लिंग बनावे तो परापरतत्त्ववित्तदन्यत्। अब हेतु निर्देश करते हैं–'अनादिरवायनीयत्वत' कार्य के पहले होने से कारण को आदि कहते हैं उससे भिन्न अनादि है उस रूप कार्य समूह, उसका अव अर्थात् प्रतिपादक वचन उससे अयनीय अर्थात् प्रतिपाद्य। इसमें त्व प्रत्यय एवं पंचमी निर्देष होने पर अनादिरवायनीयत्वतः अर्थात् कार्यत्वात् यह हेतु पद हुआ। अब उदाहरण कहते हैं, इस तरह जो अनादिरवायनीय है वह ऐसा बुद्धिमान कारण है। अवयव या भाग को कला कहते हैं कलायुक्त को सकल कहते हैं इसमें लाभार्थक वित् धातु जोड़ा पुनः संवरण अर्थ वाले वृ धातु में औणादिका ग प्रत्यय लगाके सकलविद्वर्गः बना इसका अर्थ पट–वस्त्र हुआ। इसमें उपमा वाचक वत् जुड़ा सकलविद्वर्गवत्। यह तनु भुवन आदि इसतरह अनादिरवायनीय [कार्यत्वात्] है अतः बुद्धिमत्कारणरूप है। इसप्रकार सैन्यलड्भाग्···से लेकर सकलविद्वर्गवत् तक

यथा भागा इत्यर्थः, सह कलाभिर्वर्त्तते इति सकला । वित् आत्मलाभो–"विद्लृ लाभे" [ ] इति वचनात् । यस्य सकला वित् वृणोति प्रच्छादयतीत्यौणादिके गे वर्ग इति भवति । सकलविच्चासौ वर्गश्चेति सकलविद्वर्गः–पट इत्यर्थ. । तेन तुल्यं वर्त्तते इति सकलविद्वर्गवत् । एतच्च तन्वादि एवमना-दिरवायनीयप्रकारं तत्तस्मादबुद्धिमत्कारणमिति । तदेतदसमीचीनम्; अनुमानाभासत्वादस्य । तदा-भासत्वं च तदवयवानां प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानां कालात्ययापदिष्टत्वाद्यनेकदोषदुष्टत्वेन तदाभासत्वा-त्सिद्धम् । एतच्चेश्वरनिराकरणप्रकरणाद्विशेषतोवगन्तव्यम् ।

ननु चोक्तलक्षणे पत्रे केनचित्कमप्युद्दिश्यावलम्बिते तेन च गृहीते भिन्ने च यदा पत्रस्य दातैवं ब्रूयात् 'नायं मदीयपत्रस्यार्थः' इति, तदा किं कर्तव्यमिति चेत्; तदासौ विकल्प्य प्रष्टव्यः–कोयं भवत्पत्रस्यार्थो नाम–किं यो भवन्मनसि वर्तते सोस्यार्थः, वाक्यरूपात्पत्रात्प्रतीयमानो वा स्यात्, भव-न्मनसि वर्तमानः ततोपि च प्रतीयमानो वा प्रकारान्तरासम्भवात् ? तत्र प्रथमपक्षे पत्रावलम्बनमनर्थ-कम् । तद्वि (द्धि) प्रतिवादी समादाय विज्ञातार्थस्वरूपस्तत्र दूषणं वदतु विपरीतस्तु निर्जितो भवत्वित्य-

---

वाक्य का विवरण है । जो सरल शब्दों में तनु पर्वत आदि पदार्थ बुद्धिमान कारण से निर्मित है कार्य होने से, जो कार्य होता है वह बुद्धिमान द्वारा निर्मित होता है जैसे वस्त्र, तनु पर्वतादि कार्य है अतः बुद्धिमान कारण युक्त है । सो यह यौगाभित अत्यन्त क्लिष्ट रूप अनुमान वाक्य भी अनुमानाभास मात्र है क्योंकि इसके अवयव जो प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण हैं उनमें कालात्ययापदिष्ट आदि अनेक दोष है । इस अनुमान का निराकरण ईश्वर निराकरण प्रकरण में विशेष रूप से किया गया है वहीं से इसका विशेष ज्ञात करना चाहिये ।

शंका—इसप्रकार के लक्षण वाले पत्र का किसी वादी ने किसी प्रतिवादी को उद्देश्य कर अवलंबन लिया, किन्तु प्रतिवादी ने उक्त पत्र वाक्य का कोई भिन्न ही अर्थ ग्रहण किया उस समय पत्र दाता कहे कि मेरे पत्र का ऐसा अर्थ नहीं है तब प्रतिवादी का कर्त्तव्य रहेगा ?

समाधान—उस समय प्रतिवादी को पूछना चाहिये कि आपके पत्र का अर्थ क्या है जो आपके मन में है वह है अथवा इस पत्र वाक्य से जो प्रतीत हो रहा वह है, किं वा आपके मन मे स्थित और पत्र से प्रतीयमान ऐसा उभय अर्थ है ? इनसे भिन्न तो कोई प्रकार अर्थ हो नहीं सकता । प्रथम पक्ष कहो तो पत्र का अवलबन लेना व्यर्थ है, क्योंकि पत्र का अवलंबन इसलिये लिया जाता है कि प्रतिवादी उस पत्र को पढकर

बलम्ब्यते । यश्च तस्मादर्थः प्रतीयते नासौ तदर्थ इति न तत्र केनचित्साधनं दूषणं वा वक्तव्यमनुपयोगात् । यस्तु तदर्थो भवच्चेतसि वर्त्तमानो नासौ कुतश्चित्प्रतीयते परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वादिति ? तत्रापि न साधनं दूषणं वा सम्भवति । न ह्यप्रतीयमानं वस्तु साधनं दूषणं वार्हत्यऽतिप्रसङ्गात् । यदि पुनरन्यतः कुतश्चित्तं प्रतिपद्य प्रतिवादी तत्र साधनादिकं ब्रूयात्; तर्हि पत्रावलम्बनानर्थक्यम् । तत एव तत्प्रतिपत्तिश्चेच्चित्रमेतत्–'तस्यासावर्थो न भवति ततश्च प्रतीयते' इति, गोशब्दादप्यश्वादिप्रतीतिप्रसङ्गात् । सङ्केते सति भवतीति चेत्कः सङ्केतं कुर्यात् ? पत्रदातेति चेत्; किं पत्रदानकाले, वादकाले वा, तथा प्रतिवादिनि, अन्यत्र वा ? तद्दानकाले प्रतिवादिनीति चेत्; न; तथा व्यवहाराभावात् । न खलु कश्चिद् 'अयं मम चेतस्यर्थो वर्त्ततेऽस्येदं पत्र वाचकमस्मात्त्वयायमर्थो वादकाले प्रतिपत्तव्यः' इति सङ्केत विदधाति । तथा तद्विधाने वा किं पत्रदानेन ? केवलमेवं वक्तव्यम्–'अर्थो

उसके अर्थ को समझता है तो उसमें दूषण कहे और यदि उसके अर्थ को नहीं समझता है तो पराजित होवे । जब यह कह दिया कि पत्र से जो अर्थ प्रतीत हो रहा है वह अर्थ नही है तब उस अप्रतीत अर्थ वाले पत्र में किसी के द्वारा साधन या दूषण अनुपयोगी होने से कहना ही नही चाहिये । आपके मन मे जो अर्थ है वह किसी प्रमाण से प्रतीत नही हो सकता क्योंकि परके चित्त का निश्चय होना अशक्य है। इसलिये इस मन में स्थित अर्थ वाले पत्र वाक्य मे दूषण या साधन कहना सम्भव नहीं है । अज्ञात वस्तु साधन या दूषण के योग्य नहीं हुआ करती है अतिप्रसंग आता है । यदि कहा जाय कि प्रतिवादी किसी अन्य से उस चित्त स्थित अर्थ को ज्ञात करके फिर उसमें साधनादि को बोल देगा, तो पत्र का अवलंबन लेना व्यर्थ ठहरता है । यदि कहा जाय कि मन में स्थित अर्थ की उस पत्र से ही प्रतीति होती है, तो यह आश्चर्य की बात होगी कि पत्र का मनमें स्थित यह अर्थ भी नही है और इस पत्र वाक्य से वह प्रतीत भी होता है ? इससे तो गो शब्द से भो अश्व की प्रतीति होने का प्रसंग आयेगा, यदि कहा जाय कि मनमें स्थित अर्थ यद्यपि पत्र से अप्रतीत है तो भी संकेत कर देने पर वह अर्थ प्रतीत हो जायगा ? तो प्रश्न होता है कि उस संकेत को कौन करेगा ? पत्रदाता संकेत करता है तो कब करेगा पत्र देते समय या वाद के समय, तथा प्रतिवादो को संकेत करेगा या अन्य किसी पुरुष को संकेत करेगा ? पत्र देते समय प्रतिवादी को संकेत करता है ऐसा कहना अशक्य है क्योंकि ऐसा व्यवहार होता ही नहीं, देखिये, मेरे मनमें यह अर्थ है, यह पत्र इस अर्थ का वाचक [कहता] है, वादकाल में तुम इसका यह अर्थ समझना इसतरह के संकेत को वादी कैसे करे ? यदि करता है तो पत्र देने में लाभ ही क्या

मम चेतसि वर्त्तते, अत्र त्वया साधनं दूषणं वा वक्तव्यम्' इति । दृश्यन्ते साम्प्रतमप्यऽमत्सरा: सन्त एवं वदन्त:-'शब्दो नित्योऽनित्य इति वाऽस्माकं मनसि प्रतिभाति, तत्र यदि भवतां दूषणाद्यभिधाने सामर्थ्यमस्ति यामः सभ्यान्तिकम्' इति । कालान्तरेऽविस्मरणार्थं तद्दानं चेत्; तह्यगूढं पत्रं दातव्यम्, इतरथा तद्दानेपि विस्मरणसम्भवे किं कर्त्तव्यम् ? विस्मर्तुर्निग्रहश्चेत्; न; पूर्वसङ्केतविधानवैयर्थ्य-प्रसङ्गात् । न तत्प्रसङ्ग: प्रतिवादिन: पत्रार्थपरिज्ञानार्थत्वात्तस्येति चेत् तर्हि तत्परिज्ञानार्थं विस्मृत-सङ्केतस्य पुनस्तद्विधानमेवास्तु, न तु निग्रह: । यदि च भवच्चित्ते वर्त्तमानोप्यर्थ: सङ्केतबलेन पत्रादेव प्रतीयते; तर्हि ततो य. प्रतीयते स तदर्थो न मनस्येव वर्तमान: । यदि पुन: सङ्केतसहायात्पत्रात्तस्य प्रतीतेर्न तदर्थत्वम्; तर्हि न कश्चित्कस्यचिदर्थ: स्यात् सङ्केतमन्तरेण कुतश्चिच्छब्दादर्थाऽप्रतीतेः ।

हुआ ? फिर तो वादी को केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि मेरे मनमें यह अर्थ है इसमें तुम साधन या दूषण जो भी कुछ देना हो उसे दो । वर्त्तमान में भी ऐसे मत्सर रहित महापुरुष देखे जाते ही है कि हमारे मनमें शब्द नित्य या अनित्यरूप प्रतीत होता है यदि इस विषय में आपको दूषणादि उपस्थित करने की सामर्थ्य है तो सभ्य पुरुषों के समक्ष चले । इसप्रकार पहले ही स्वाभिप्राय को कह देते है । यदि कहा जाय कि कालांतर में विस्मरण न हो जाय इस हेतु से लिखित रूप पत्र दिया जाता है तो फिर उस पत्र को अगूढ–सरल अर्थ वाला देना चाहिए, अन्यथा पत्र देने पर भी अर्थ का विस्मरण होने पर क्या किया जायगा ? विस्मरण करने वाले का निग्रह किया जायगा ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि इसतरह तो पूर्व मे किया हुआ संकेत व्यर्थ ठहरेगा । प्रतिवादी को पत्र के अर्थ का परिज्ञान कराने के लिये सकेत किया जाता है अत: वह व्यर्थ नहीं है ऐसा कहे तो पत्र के अर्थ का परिज्ञान कराने के लिये संकेत को भूले हुए प्रतिवादी को पुन: संकेत करना चाहिए निग्रह करना तो युक्त नही । अर्थात् जब प्रतिवादी को अर्थ बोध हेतु प्रथम संकेत किया है तो वह पुन: भी किया जा सकता है । दूसरी बात यह है कि आपके मनमें स्थित जो भी अर्थ है और वह यदि पत्र से ज्ञात होता है तो उससे प्रतीत हुआ वह उसका अर्थ कहलाया, वह अर्थ मनमें ही है ऐसा तो नहीं रहा । तथा संकेत की सहायता लेकर पत्र से उसके अर्थ की प्रतीति हुई है अत: वह अर्थ पत्र का नहीं है ऐसा माना जाय तो किसी का कोई भी अर्थ संकेत किये बिना शब्द से प्रतीत नहीं हो सकेगा । इसलिये निश्चित होता है कि पत्र देते समय प्रतिवादो को उसके अर्थ का संकेत करना सिद्ध नहीं होता । वाद के समय

तस्य तद्दानकाले प्रतिवादिनि सङ्केतः। नापि वादकाले; तथाव्यवहारविरहादेव। किं च वादकालेपि चेद्वादी प्रतिवादिने स्वयं पत्रार्थं निवेदयति; तर्हि प्रथमं पत्रग्रहीतुरुपन्यासोऽनवसरः स्यात्। तन्नायमपि पक्षः श्रेयान्।

अथान्यत्र; तर्हि स एव तदर्थज्ञः, इति कथं प्रतिवादी साधनादिकं वदेत् तस्य तदर्थाऽपरिज्ञानात्? प्रतिवादिनस्तदर्थापरिज्ञानं वादिनोभीष्टमेव तदर्थत्वात्पत्रदानस्येति चेत्; तर्हि पत्रमनक्षरं दातव्यमतः सुतरां तदपरिज्ञानसम्भवात्। अशिष्टचेष्टाप्रसङ्गोन्यत्रापि समानः। इति न किञ्चित्प्रागुक्त-

---

प्रतिवादी को अर्थ का संकेत किया जाना भी शक्य नहीं, क्योंकि ऐसा व्यवहार में होता नही। किंच, यदि वादी स्वयं वाद काल में भी प्रतिवादी के लिये पत्रार्थ को बतला देता है तो पहले से पत्र ग्राहक के उपन्यास का अवसर नही रहता। अतः वादकाल में प्रतिवादी को संकेत करने का पक्ष सिद्ध नहीं होता है।

दूसरा विकल्प यह था कि वादी अपने मन में स्थित अर्थ का किसी अन्य पुरुष के लिये संकेत कर देता है, सो इस पक्ष में वह अन्य पुरुष ही पत्र के अर्थ को समझेगा, फिर प्रतिवादी उसमें साधनादिको कैसे कह सकेगा? क्योंकि उसने उक्त अर्थ को जाना ही नही।

शंका—प्रतिवादी को यदि उक्त अर्थ का ज्ञान नहीं होता है तो वादी के लिए अच्छा ही है इसलिये ही तो पत्र दिया जाता है?

समाधान—यदि ऐसी बात हो तो वादी को प्रतिवादी के लिये अक्षर रहित पत्र देना चाहिए इससे खूब अच्छी तरह अपरिज्ञान सम्भव है।

शंका—अक्षररहित पत्र देना तो अशिष्टाचार है?

समाधान—तो फिर अपने मन में स्थित अर्थवाला पत्र देना भी अशिष्टाचार क्यों नहीं होगा? इसलिये मन में स्थित अर्थवाला पत्र प्रतिवादी को देना तथा अर्थ अन्य किसी पुरुष को कहना रूप पत्र दान से कुछ भी प्रयोजन नहीं सधता है।

लक्षणपत्रप्रदानेन प्रयोजनम् । ननु वादप्रवृत्तिः प्रयोजनमस्त्येव–तद्दाने हि वादः प्रवर्त्तते, साधनाद्यभिधानं तु मानसार्थे वचनान्तरात्प्रतीयमान इत्यभिधाने तु पराक्रोशमात्रं लिखित्वा दातव्यं ततोपि वादप्रवृत्तेः सम्भवात् किमतिगूढपत्रविरचनप्रयासेन ? तन्नाद्यपक्षे पत्रावलम्बनं फलवत् ।

अथ तच्छब्दाद्यः प्रतीयते स तदर्थः; तर्हि खात्पतिता नो रत्नवृष्टिः प्रकृतिप्रत्ययादिप्रपञ्चार्थप्रविभागेन प्रतीयमानस्य पत्रार्थत्वव्यवस्थितेः । अथ नायं तदर्थः; कथमन्यस्तदर्थः स्यात् ? अथान्यार्थसम्भवेपि यस्तदवलम्बिनेष्यते स एव तदर्थः । कुत एतत् ? ततः प्रतीतेश्चेत्; अन्योप्यत एव स्यात् ।

शंका—ऐसा पत्र देने में वाद प्रवृत्ति होना रूप प्रयोजन सिद्ध होता है क्योंकि ऐसा पत्र देने से वाद प्रारम्भ हो जाता है, तथा साधनादि कथन तो अन्य वचन द्वारा मन में स्थित अर्थ की प्रतीति होने से हो जाता है ?

समाधान—उक्त प्रकार का पत्र देने में वाद प्रारम्भ होना ही प्रयोजन है तो परवादी को गाली आदि लिखकर देने मे भी वाद प्रवृत्ति का प्रयोजन सधता है अतः परको गाली मात्र को लिखकर दे देना चाहिये व्यर्थ के अत्यन्त गूढ पत्र को रचने से क्या लाभ ? इसप्रकार आपके मन में स्थित जो अर्थ है वह पत्र का अर्थ है ऐसा पक्ष स्वीकार करने में पत्र का अवलम्बन लेकर वाद करना फलवान् सिद्ध नहीं होता ।

दूसरा विकल्प—पत्र के शब्द से जो अर्थ प्रतीत होता है वह उसका अर्थ है ऐसा कहो तो हम जैन के लिये आकाश से रत्न वृष्टि होने के समान हुआ क्योंकि प्रकृति प्रत्यय आदि के विस्तृत अर्थ विभाग से प्रतीयमान अर्थवाला पत्र होता है उसका अर्थ शब्द से प्रतीत होता है ऐसा हमने पत्र का लक्षण किया है वह सिद्ध हुआ । यदि शब्द से प्रतीयमान अर्थ उस पत्र का नहीं होता तो अन्य दूसरा अर्थ कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

शंका—अन्य दूसरा अर्थ सम्भव तो है किन्तु पत्र का अवलम्बन लेने वाले वादी को जो अर्थ इष्ट है वही अर्थ पत्र का कहलायेगा ?

समाधान—यह किससे जाने ? उस तरह प्रतीति होने से जाना जायगा ऐसा कहो तो अन्य अर्थ भी प्रतीति से जाना जावे ।

शंका—शब्द से प्रतीयमान अर्थ समानरूप होने पर भी उस वादी द्वारा जो अर्थ इष्ट किया है वही उस शब्द का अर्थ मान्य होगा अन्य नहीं ।

अथ ततः प्रतीयमानत्वाविशेषेपि यस्तेनेष्यते स एव तदर्थो नान्यः, ननु शब्दः प्रमाणम्, अप्रमाणं वा ? प्रमाणं चेत्; तर्हि तेन यावानर्थः प्रदर्श्यते स सर्वोपि तदर्थ एव । न खलु चक्षुषानेकस्मिन्नर्थे घटादिके प्रदर्श्यमाने 'तद्वता य इष्यते स एव तदर्थो नान्यः' इति युक्तम् । अथाप्रमाणम्; तर्हि तेनेष्यमाणोपि नार्थः । न हि द्विचन्द्रादिकस्तद्दर्शिनेष्यमाणोर्थो भवितुमर्हति, अन्यथा परेणेष्यमाणोप्यर्थो किं न स्यात् । तन्नायमपि पक्षो युक्तः ।

ततो यः प्रतीयते तद्दातुश्चेतसि च वर्तते स तदर्थः; इत्यत्रापि केनेदमवगम्यताम् वादिना, प्रतिवादिना, प्राश्निकैर्वा ? तत्राद्यविकल्पे प्रतिवादिना वादिमनोर्थानुकूल्येन पत्रे व्याख्याते वादिना तथावधारितेपि स वैयात्याद्यदेवं वदति 'नायमस्यार्थो मम चेतस्यन्यस्य वर्त्तनात्, विपरीतप्रतिपत्तेर्निगृहीतोसि' इति तदा किं कर्तव्यं प्राश्निकैः ? तथाभ्युपगमश्चेत्; महामध्यस्थास्ते यत्सदर्थप्रतिपाद-

---

समाधान—अच्छा बताइये कि शब्द प्रमाण है कि अप्रमाण है ? प्रमाण है तो उस शब्द द्वारा जितना अर्थ दिखाया जाता है वह सब उस शब्द का अर्थ ही कहलायेगा । नेत्र द्वारा अनेक घट आदि अर्थ के दिखाये जाने पर उस नेत्रवान् मनुष्य द्वारा जो पदार्थ इष्ट होता है वही उस नेत्र का अर्थ [विषय] है अन्य नहीं है ऐसा तो कहा नहीं जा सकता है । यदि शब्द को अप्रमाण माना जाय तो वादी द्वारा इष्ट अर्थ भी वास्तविक अर्थ नही कहा जा सकता । नेत्र रोगी एक ही चन्द्र को दो चन्द्र रूप देखता है सो उस दर्शक पुरुष द्वारा इष्ट किया जो दो चन्द्र अर्थ है वह अर्थभूत नहीं हो सकता अन्यथा प्रतिवादी द्वारा ग्रहण किया गया पत्र का अर्थ भी अर्थभूत क्यों नहीं होगा ? इसतरह शब्द से जो अर्थ प्रतीत होता है वही पत्र का अर्थ है ऐसा कथन भी परवादी के यहां सिद्ध नहीं हो पाता ।

पत्र से जो प्रतीत होता है और पत्रदाता के चित्त में जो रहता है वह पत्र का अर्थ है ऐसा तृतीय पक्ष माने तो इस बात को कौन ज्ञात करेगा वादी या प्रतिवादी अथवा प्राश्निक पुरुष ? वादी द्वारा उक्त बात जानी जाती है ऐसा माने तो वादी के चित्त स्थित अर्थ के अनुकूलता से प्रतिवादी द्वारा पत्र का व्याख्यान कर दिया जाय एवं वादी द्वारा उसका अवधारण [मन में] भी हो जाय तो भी कदाचित् धृष्टता से वादी इस तरह कह बैठे कि यह इस पत्र का अर्थ नहीं है मेरे मन में अन्य अर्थ है, तुमने विपरीत अर्थ किया अतः निगृहीत हुए हो, तो प्राश्निक जनों का क्या कर्त्तव्य होगा ? उसके निग्रह को स्वीकार करना चाहिए ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि

कस्यापि प्रतिवादिनो निग्रहं व्यवस्थापयन्ति वाद्यभ्युपगममात्रेण । न तावन्मात्रेणास्य निग्रहोऽपि तु यदा वादी स्वमनोगतमर्थान्तरं निवेदयतीति चेत्; ननु 'तेन निवेद्यमानमर्थान्तरं पत्रस्याभिधेयम्' इति कुतोऽवगम्यताम् ? तदप्रातिकूल्येन निवेदनाच्चेत्; तत एव प्रतिवादिप्रतिपाद्यमानोप्यर्थस्तदभिधेयोस्तु विशेषाभावात् । वादिचेतस्यऽस्फुरणान्नेति चेत्; इदमपि कुतोऽवगम्यताम् ? तत्रार्थदर्शनाच्चेत्; किं पुनस्तच्चेतः प्राश्निकानां प्रत्यक्षं येनैवं स्यात् ? तथा चेत्; अतीन्द्रियार्थदर्शिभिस्तर्हि प्राश्निकैर्भवितव्यं नेतरपण्डितैः । तथा च प्रत्यक्षत एव वादिप्रतिवादिनोः सारेतरविभागं विज्ञायोपन्यासमन्तरेणैव

वादी के स्वीकृति मात्र से सत्य ग्रर्थ को कहने वाले प्रतिवादी का भी वे प्राश्निक पुरुष निग्रह स्थापित करते है तो ग्रच्छे महामध्यस्थ कहलायेगे ? ग्रर्थात् वे इसतरह करने से मध्यस्थ किसप्रकार कहला सकते हैं ?

शंका—वादी की स्वीकृति मात्र से इस प्रतिवादी का निग्रह भले ही नहीं हो किन्तु जब वादी ग्रपने मनोगत दूसरे अर्थ को निवेदन कर देता है तब तो प्रतिवादी का निग्रह हो ही जायगा ?

समाधान—इसमें भी प्रश्न होता है कि वादी द्वारा निवेदित किया गया दूसरा अर्थ पत्र का वाच्यार्थ है यह किससे निश्चित करे ?

शंका—पत्र की ग्रप्रतिकूलता से अर्थान्तर का निवेदन करने से पत्र का वाच्यार्थ निश्चित होवेगा ?

समाधान—तो इसी तरह प्रतिवादी द्वारा कहा हुग्रा ग्रर्थ भी पत्र का वाच्यार्थ सिद्ध हो सकता है कोई विशेषता नहीं है ।

शंका—प्रतिवादी द्वारा कहा हुआ ग्रर्थ वादी के मन में स्फुरित नहीं होने से वह पत्र का वाच्यार्थ नहीं कहला सकता ?

समाधान—यह भी कैसे जाना जाय ? यदि कहो कि पत्र में ग्रर्थ को देखने से जाना जायगा तो भी गलत है क्योंकि वादी का चित्त प्राश्निक जनों के प्रत्यक्ष तो है नही जिससे कि पत्र का अर्थ देखकर यही ग्रर्थ इसके चित्त में है ऐसा निश्चय हो सके । प्राश्निक को वादी का चित्त प्रत्यक्ष है ऐसा कहो तो ग्रापकी दृष्टि में ग्रतीन्द्रिय ज्ञानी पुरुष ही प्राश्निक हो सकते हैं ग्रन्य पंडित पुरुष नहीं । ग्रौर जब ऐसी बात है

जयेतरव्यवस्थां रचयेयुः। नो चेत्कथं तत्र कस्यचित्स्फुरणमस्फुरणं वा ते प्रतिपद्यन्ताम्? न ह्यप्रतिपन्नभूतलस्य 'अत्र भूतले घटोऽस्ति नास्ति' इति वा प्रतीतिरस्ति। अथ स्वयमेव यदासौ वदति-'ममायमर्थो मनसि वर्तते नायम्' इति तदा ते तथा प्रतिपद्यन्ते; न; तदापि सन्देहात्-'किं प्रतिवादिना योऽर्थो निश्चितः स एवास्य मनसि वर्तते शब्देन तु वदति नायमर्थो मम मनसीति किन्त्वन्य एव-यो मया प्रतिपाद्यते, उतायमेव, इति न निश्चयहेतुः। दृश्यन्ते ह्यनेकार्थं पत्रं विरचय्य, 'यदीदमस्यार्थतत्त्वं प्रतिवादी ज्ञास्यति तर्ह्येवं वदिष्यामः, नेदमर्थतत्त्वमस्य किन्त्विदमिति, अथेदं ज्ञास्यति तत्राप्यन्यथा वदिष्यामः' इति सम्प्रधारयन्तो वादिनः। अथ गुर्वादिभ्यः पूर्वमसौ तन्निवेदयति, ततस्तेभ्यः प्राश्नि-

---

तो वे अतीन्द्रिय ज्ञानीजन वादी और प्रतिवादी के सार या असार अर्थ को प्रत्यक्ष से वाक्य उपन्यास के बिना ही ज्ञात कर लेंगे और जय पराजय की व्यवस्था कर देंगे? यदि ऐसा नहीं है तो वे अतीन्द्रिय ज्ञान रहित प्राश्निक महाजन किसी के मनके स्फुरण को [मनके विकल्प विचार में स्थित अर्थ को] या अस्फुरण को किस तरह ज्ञात कर सकते हैं? जिसने भूतल को नहीं जाना वह किसप्रकार ज्ञात कर सकता है कि "यहां पृथ्वी पर घट नहीं है"।

शका—जब वादी स्वय ही कह देता है कि मेरे मन में यह अर्थ है प्रतिवादी का कहा हुआ अर्थ तो मेरे मनमें वर्त्त नहीं रहा, तब प्राश्निक जन प्रतिवादी द्वारा कहा जा रहा अर्थ वादी के मन में स्फुरायमान है या नहीं इस बात को ज्ञात करते हैं?

समाधान—यह कथन असत् है, ऐसा माने तो भी संदेह रहेगा अर्थात् प्राश्निक जन अतीन्द्रिय ज्ञानी तो है नहीं उन्हे तो संशय ही रहेगा कि प्रतिवादी द्वारा जो अर्थ निश्चित किया है वही अर्थ इस वादी के मन में वर्त्त रहा किन्तु शब्द से कहता है कि वह अर्थ मेरे मन में नहीं, मेरे मन में तो जो बता रहा हूं वह अर्थ है। अथवा सच में यही अर्थ वादी के मन में है जो मुख से कह रहा है। इसतरह प्राश्निक को निश्चय नही हो सकता। देखा भी जाता है कि वादी अनेक अर्थ वाले पत्र को रचते हैं और मनमें विचारते हैं कि यदि प्रतिवादी इस अर्थ को जानेगा तो हम ऐसा कहेंगे कि इस पत्र वाक्य का यह अर्थ नही है किन्तु यह है, तथा प्रतिवादी यदि इस दूसरे अर्थ को जानेगा तो अन्य अर्थ को कहेंगे।

शंका—वादी पहले अपने गुरुजनादि को पत्र वाक्य के अर्थ का निवेदन कर देता है अतः पीछे प्राश्निक पुरुष उन गुरु आदि से वादी के अर्थ का निश्चय कर लेते हैं?

कानां तन्निश्चः; न; अत्राप्यारेकाऽनिवृत्तेः, स्वशिष्यपक्षपातेनान्यथापि तेषां वचनसम्भवात्। यदि पुनर्वादी वादप्रवृत्तेः प्राक् प्राश्निकेभ्यः प्रतिपादयति-'मदीयपत्रस्यायमर्थः, अत्रार्थान्तरं ब्रुवन् प्रतिवादी भवद्भिर्निवारणीयः' इति। अत्रापि प्रागप्रतिपन्नपत्रार्थानां महामध्यस्थानामुभयाभिमतानामकस्मादाहूतानां सभ्यानां मध्ये विवादकरणे का वार्त्ता? 'पत्राद्यः प्रतीयते स एव तत्र तदर्थः' इति चेत्; अन्यत्रापि स एवास्त्वविशेषात्। तन्नाद्यः पक्षो युक्तः।

नापि द्वितीयः। न खलु प्रतिवादी वादिमनो जानाति येन 'योस्य मनसि वर्त्तते स एव मयार्थो निश्चितः, इति जानीयात्। एतेन तृतीयोपि पक्षश्चिन्तितः; सभ्यानामपि तन्निश्चयोपायाभावात्। किञ्चेदं पत्रं तद्दातुः स्वपक्षसाधनवचनम् परपक्षदूषणवचनम्, उभयवचनम्, अनुभयवचनं वा?

समाधान—यह भी ठीक नहीं, ऐसा करने पर भी संशय समाप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वे गुरुजन भी अपने शिष्य के पक्षपात के कारण अन्यथा वचन कह सकते हैं अर्थात् वादी के गुरु जब देखेंगे कि वादी ने जो अर्थ मेरे को बताया था वही प्रतिवादी कह रहा और इससे प्रतिवादी का निग्रह सम्भव नहीं। तब वे स्वशिष्य के जयार्थ अन्य ही कोई अर्थ बता सकते है। यदि ऐसा माना जाय कि वादी वाद प्रारंभ होने के पहले प्राश्निकजनों को बतला देता है कि मेरे पत्र का यह अर्थ है, इसमें प्रतिवादी अर्थान्तर-दूसरा अर्थ बोलेगा तो आप उसका निवारण करना, तो यदि जो पहले से पत्र के अर्थ को नही जानते हैं महामध्यस्थ हैं वादी प्रतिवादी दोनो को मान्य हैं ऐसे अचानक बुलाये गये सभ्यजनों के मध्य मे विवाद करने पर क्या होगा? यदि कहा जाय कि उस वक्त पत्र से जो अर्थ प्रतीत हो रहा है वही अर्थ उन अकस्मात् बुलाये गये सभ्यों में होने से पत्रार्थ का निश्चय होवेगा। तो पूर्व से उपस्थित सभ्यों में भी यह निश्चय होवे कोई विशेषता नही है। इसलिये पत्र से प्रतीत होता है और जो पत्रदाता वादी के चित्त में है वह पत्र का अर्थ है इस बात को वादी जानता है ऐसा प्रथम पक्ष मानना युक्त नही है।

दूसरा पक्ष—पत्र से जो प्रतीत है और जो वादी के मनोगत है वह पत्र का अर्थ है इस बात को प्रतिवादी जानता है ऐसा कहना भी गलत है, क्योंकि प्रतिवादी वादी के मनको जानता तो है नहीं जिससे वह ज्ञात कर सके कि जो इसके मनमें है वही अर्थ मैंने निश्चित किया है। तीसरा पक्ष-पत्र से जो प्रतीत है और वादी के जो मनोगत है वह पत्रार्थ है इस बात को प्राश्निक जन ज्ञान करते हैं ऐसा कहना भी

तत्राद्यविकल्पत्रये सभ्यानामग्रे त्रिरुच्चारणीयमेव तत्रापि वैषम्यात् । तथोच्चारितमपि यदा प्राश्निकैः प्रतिवादिना च न ज्ञायते वाद्यऽभिप्रेतार्थानुकूल्येन तदा तद्दातुः किं भविष्यति ? निग्रहः, "त्रिरभिहितस्यापि कष्टप्रयोगद्रुतोच्चारादिभिः परिषदा प्रतिवादिना चाज्ञातमज्ञात नाम निग्रहस्थानम्" [न्यायसू० ५।२।९] इत्यभिधानात्, इति चेत्; तस्य तर्हि स्ववधाय कृत्योत्थापनम् उक्तविधिना सर्वत्र तदज्ञानसम्भवात् । तावन्मात्रप्रयोगाच्च स्वपरपक्षसाधनदूषणभावे प्रतिवाद्युपन्यासमनपेक्ष्यैव

पूर्वोक्तरीत्या खंडित होता है, क्योंकि प्राश्निक पुरुष भी ऐसे अर्थ का निश्चय नही कर सकते । किंच, यह पत्र किस प्रकार का होता है पत्रदाता के स्वपक्ष के साधन वचन वाला होता है या प्रतिवादी के पक्ष के दूषण वचन वाला होता है, अथवा उभय वचन वाला है या कि अनुभव वचन वाला है ? आदि के तीनों विकल्प माने तो ठीक नहीं जचता, उक्त प्रकार के पत्र सभ्यो के आगे तीन बार सुनाया जाना चाहिये ऐसा सामान्य नियम है तदनुसार पत्र वाक्य का तीन बार उच्चारण भी कर दिया किन्तु जब प्रतिवादी और प्राश्निक पुरुष उस पत्र के अर्थ को वादी के द्वारा इष्ट किये गये अर्थानुसार ज्ञात न कर सकेंगे तब पत्रदाता वादी का क्या किया जायगा ? निग्रह ही किया जाना चाहिये क्योंकि वाद में वादो के द्वारा अनुमान वाक्य तीन बार कहा फिर भी कठिन वाक्यार्थ के कारण अथवा शीघ्रता से उच्चारण करने के कारण सभ्य और प्रतिवादी उक्त वाक्यार्थ को नहीं जानते तो अज्ञात नामा निग्रह स्थान वादी के ऊपर लागू होता है । इसतरह निग्रह का प्रसङ्ग तो उस वादी के लिये घातक ठहरा अर्थात् पत्र का प्रयोग करना तो "स्ववधाय कृत्या उत्थापनम्" अपने वध के लिये राक्षसी को उठाने के समान है, क्योंकि उक्त विधि से तो सर्वत्र पत्र वाक्य सम्बन्धी अज्ञान रहना संभव है अर्थात् पत्र वाक्य गूढ होने के कारण सभ्य आदि को उसका ज्ञान न होना सहज बात है । तथा यदि उतने पत्र प्रयोग मात्र से स्वपक्ष साधन और पर पक्ष दूषण होना स्वीकारे तो प्रतिवादी के प्रतिवचन की अपेक्षा किये बिना ही सभ्यजन वादी की जय और प्रतिवादी के पराजय की व्यवस्था कर देवे ? [किन्तु ऐसा देखा नही जाता है] चतुर्थ विकल्प-वादी का पत्र अनुभय वचन वाला है अर्थात् न स्वपक्ष साधक है न परपक्ष दूषक है केवल अनुभय वचन युक्त है, ऐसा कहे तो वादी का निग्रह निश्चित ही होगा, क्योंकि उसने स्वपक्ष में साधन या परपक्ष में दूषणरूप कुछ वचन कहा ही नहीं । अब इस पत्र के विवेचन को समाप्त करते हैं । उपर्युक्त पत्र सम्बन्धी विवेचन

सभ्याः वादिप्रतिवादिनोर्जयेतरव्यवस्थां कुर्युः। चतुर्थपक्षे तु तन्निग्रहः सुप्रसिद्ध एव; स्वपरपक्षयोः साधनदूषणाऽप्रतिपादनात्। इत्यलमतिप्रसंगेन।

अथेदानीमात्मनः प्रारब्धनिर्वहणमौद्धत्यपरिहारं च सूचयन् परीक्षामुखेत्याद्याह—

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥ १ ॥

परीक्षा तर्कः, परि समन्तादशेषविशेषत ईक्षणं यत्रार्थानामिति व्युत्पत्तेः। तस्या मुखं तद्व्युत्पत्तौ प्रवेशार्थिनां प्रवेशद्वारं शास्त्रमिदं व्यधामहं विहितवानस्मि। पुनस्तद्विशेषणमादर्शमित्याद्याह।

का सार यह निकलता है कि पत्र गूढ अर्थवाला होता है उस अर्थ को प्रतिवादी एवं सभ्य पुरुष जानते हैं तथा प्रतिवादी उक्त पत्र वाक्य का निराकरण करता है, यहां ऊपर जो चर्चा उठायी है कि यदि प्रतिवादी वादी के पत्र वाक्य को नहीं जाने तो क्या होगा ? किसका जय होगा ? प्राश्निक पुरुष भी उक्त अर्थ को नही जाने तो जयादि की व्यवस्था कैसे होगी इत्यादि सो ये शंकायें व्यर्थ की हैं, वाद करने का अधिकार महान् तार्किक विद्वानों को ही हुआ करता है, तथापि कदाचित् किसी वादी के गूढ पत्र को प्रतिवादी ज्ञात न कर सके तो इतने मात्र से निग्रह या पराजय, जय का निर्णय नही हो सकता। वादी को तो स्वपक्ष का विश्लेषण सभ्य जनों के सामने करना ही होगा एवं उसको सिद्ध करना होगा तभी जय की व्यवस्था संभव है। अस्तु।

इसप्रकार पत्र विचार नामा यह अंतिम प्रकरण समाप्त होता है।

अब श्री माणिक्यनंदी आचार्य अपने द्वारा प्रारम्भ किया गया जो परीक्षामुख ग्रन्थ है उसके निर्वहन की सूचना एवं औद्धत्य परिहार अर्थात् स्व लघुता की सूचना करते हुए अंतिम श्लोक द्वारा उपसंहार करते हैं—

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥ १ ॥

अर्थ—तर्क को परीक्षा कहते हैं, परि-संमतात् सब ओर से विशेषतया अर्थों का जहां 'ईक्षणं' देखना हो उसे परोक्षा-परिईक्षा-परीक्षा कहते हैं। उस परीक्षा का मुख अर्थात् परीक्षा को जानने के लिये उसमें प्रवेश करने के इच्छुक पुरुषों के लिये

आदर्शधर्मसद्भावादिदमप्यादर्शः । यथैव ह्यादर्शः शरीरालङ्कारार्थिनां तन्मुखमण्डनादिकं विरूपकं हेयत्वेन सुरूपकं चोपादेयत्वेन सुस्पष्टमादर्शयति तथेदमपि शास्त्रं हेयोपादेयतत्त्वे तथात्वेन प्रस्पष्टमादर्शयतीत्यादर्श इत्यभिधीयते । तदीदृशं शास्त्रं किमर्थं विहितवान् भवानित्याह । संविदे । कस्येत्याह मादृशः । कीदृशो भवान् यत्सदृशस्य संवित्त्यर्थं शास्त्रमिदमारभ्यते इत्याह–बालः । एतदुक्तं भवति–यो मत्सदृशोऽल्पप्रज्ञस्तस्य हेयोपादेयतत्त्वसंविदे शास्त्रमिदमारभ्यते इति । किंवत् ? परीक्षादक्षवत् । यथा परीक्षादक्षो महाप्रज्ञः स्वसदृशशिष्यव्युत्पादनार्थं विशिष्टं शास्त्रं विदधाति तथाहमपीदं विहितवानिति । ननु चाल्पप्रज्ञस्य कथं परीक्षादक्षवत् प्रारब्धैवंविधविशिष्टशास्त्रनिर्वहणं तस्मिन्वा कथमल्पप्रज्ञत्वं परस्परविरोधात् ? इत्यप्यचोद्यम्; औद्धत्यपरिहारमात्रस्यैवैवमात्मनो ग्रन्थकृता प्रदर्शनात् ।

मुख–प्रवेशद्वार सदृश है ऐसे इस शास्त्र को मैंने 'व्यधाम्' रचा है । इस परीक्षा मुख शास्त्र का विशेषण कहते हैं–आदर्श अर्थात् दर्पण उसके धर्म का सद्भाव होने से यह ग्रंथ आदर्श कहलाता है अर्थात् जिस प्रकार आदर्श शरीर को अलंकृत करने के इच्छुक जनों को उनके मुखके सजावट में जो विरूपक [कुरूप] है उसको हेमरूप से और सुरूपक है उसको उपादेयरूप से साफ स्पष्ट दिखा देता है उसीप्रकार यह परीक्षामुख शास्त्र भी हेय और उपादेयतत्त्व को स्पष्ट दिखा देता है इसलिये इसे आदर्श कहते हैं । इसप्रकार के शास्त्र को आपने किस लिये रचा ऐसे प्रश्न के उत्तर में कहते हैं 'संविदे' सुज्ञान के लिये रचा है । किसके ज्ञान के लिये तो 'मादृशः' मुझ जैसे के ज्ञान के लिये । आप कैसे हैं जिससे कि अपने समान वाले के ज्ञानार्थ आपने यह शास्त्र रचा है तो 'बालः' अर्थात् जो मेरे जैसा अल्प ज्ञानी है उसके हेयोपादेय तत्त्वों के ज्ञानार्थ यह शास्त्र प्रारम्भ हुआ । परीक्षा दक्ष के समान, जैसे परीक्षा में दक्ष अर्थात् चतुर अकलंक देव आदि महाप्रज्ञ पुरुष अपने सदृश शिष्यों को व्युत्पत्तिमान बनाने हेतु विशिष्ट शास्त्र रचते हैं वैसे मैंने भी इस शास्त्र को रचा है ।

शंका—अल्पज्ञ पुरुष परीक्षा में दक्ष पुरुष के समान इस प्रकार का विशिष्ट शास्त्र रचनाका प्रारम्भ एवं निर्वहण कैसे कर सकता है ? यदि करता है तो उसमें अल्पज्ञपना कैसे हो सकता है दोनों परस्पर में विरुद्ध हैं ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं, यहां पर केवल अपनी धृष्टता का परिहार ही ग्रन्थकार ने किया है, अर्थात् प्राज्ञ होते हुए भी लघुता मात्र प्रदर्शित की है ।

विशिष्टप्रज्ञासद्भावस्तु विशिष्टशास्त्रलक्षणकार्योपलम्भादेवास्याऽवसीयते । न खलु विशिष्टं कार्यम-विशिष्टादेव कारणात् प्रादुर्भावमर्हत्यतिप्रसङ्गात् । मादृशोऽबाल इत्यत्र नञ् वा द्रष्टव्यः । तेनायमर्थः- यो मत्सदृशोऽबालोऽनल्पप्रज्ञस्तस्य हेयोपादेयतत्त्वसंविदे शास्त्रमिदमहं विहितवान् । यथा परीक्षादक्षः परीक्षादक्षार्थं विशिष्टशास्त्रं विदधातीति । ननु चानल्पप्रज्ञस्य तत्संवित्तेर्भवत इव स्वतः सम्भवात्तं प्रति शास्त्रविधानं व्यर्थमेव; इत्यप्यसुन्दरम्; तद्ग्रहणेऽनल्पप्रज्ञासद्भावस्य विशिष्य विवक्षितत्वात् । यथा ह्यहं तत्करणेऽनल्पप्रज्ञस्तज्ज्ञस्तथा तद्ग्रहणे योऽनल्पप्रज्ञस्तं प्रतीदं शास्त्रं विहितम् । यस्तु शास्त्रान्तर-द्वारेणावगतहेयोपादेयस्वरूपो न तं प्रतीत्यर्थ इति ।

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे परीक्षामुखालङ्कारे

षष्ठः परिच्छेदः समाप्तः ।। छ ।।

विशिष्ट शास्त्र रचनारूप कार्य के करने से ही ग्रन्थकार का प्राज्ञपना निश्चित होता है । विशिष्ट कार्य अविशिष्टकारण से तो हो नहीं सकता अन्यथा अतिप्रसंग होगा । अथवा श्लोक में जो "मादृशो बालः" पद है उनमें मादृशोऽबालः ऐसा नञ् समासान्त पद मानकर इसतरह अर्थ कर सकते हैं कि जो मेरे समान अबाल—महान् बुद्धिशाली है उसके हेयोपादेयतत्त्व ज्ञानार्थ इस शास्त्र को मैंने रचा है । जैसे परीक्षादक्ष पुरुष परीक्षा में दक्ष कराने के लिये विशिष्ट शास्त्र रचते हैं ।

शंका—महाप्राज्ञ पुरुष तो आपके समान स्वतः ही उक्त तत्त्वज्ञानयुक्त होते हैं अतः उनके लिये शास्त्र रचना व्यर्थ ही है ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, इस शास्त्र के ग्रहण [वाचन आदि] में महा-प्रज्ञा का सद्भाव विवक्षित है, अर्थात् जैसे मैं शास्त्र करने में प्राज्ञ हूँ और हेयोपादेय-तत्त्व का ज्ञाता हूँ वैसे इन तत्त्वों के ग्रहण में अथवा इस ग्रन्थ के वाचनादि में जो प्राज्ञ पुरुष हैं उनके प्रति यह शास्त्र रचा गया है । जो शास्त्रान्तर से हेयोपादेयतत्त्वों को जान चुका है उनके प्रति इस ग्रंथ को नहीं रचा है । इसप्रकार परीक्षामुख के अंतिम श्लोक का विवरण है ।

इसप्रकार माणिक्यनन्दी आचार्य द्वारा विरचित परीक्षामुख नामा सूत्र ग्रन्थ के अलंकार स्वरूप प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामा टीका ग्रंथ में जो कि श्री प्रभाचन्द्र आचार्य द्वारा रचित है, षष्ठ परिच्छेद समाप्त हुआ ।

गम्भीरं निखिलार्थगोचरमलं शिष्यप्रबोधप्रदम्,
यद्व्यक्तं पदमद्वितीयमखिलं माणिक्यनन्दिप्रभोः ।
तद्व्याख्यातमदो यथावगमतः किञ्चिन्मया लेशतः,
स्थेयाच्छुद्धधियां मनोरतिगृहे चन्द्रार्कतारावधि ।। १ ।।
मोहध्वान्तविनाशनो निखिलतो विज्ञानशुद्धिप्रदः,
मेयानन्तनभोविसर्पणपटुर्वस्तूक्तिभाभासुरः ।
शिष्याब्जप्रतिबोधनः समुदितो योऽद्रेः परीक्षामुखात्,
जीयात्सोत्र निबन्ध एष सुचिरं मार्त्तण्डतुल्योऽमलः ।। २ ।।
गुरुः श्रीनन्दिमाणिक्यो नन्दिताशेषसज्जनः ।
नन्दताद्दुरितैकान्तरजाजैनमतार्णवः ।। ३ ।।
श्रीपद्मनन्दिसैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः ।
प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयाद्रत्ननन्दिपदे रतः ।। ४ ।।

अब प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थ के कर्त्ता श्रीप्रभाचन्द्राचार्य अंतिम प्रशस्ति वाक्य कहते हैं। श्लोकार्थ–श्रीमाणिक्यनन्दी आचार्य ने जो अद्वितीय पद रूप शास्त्र रचा, कैसा है वह ? गंभीर अर्थवाला, सम्पूर्ण पदार्थों का प्रतिपादक, शिष्यों को प्रबोध देने में समर्थ, एवं सुस्पष्ट है, उसका व्याख्यान मैंने अपने अल्प बुद्धि के अनुसार किञ्चित् किया है, यह व्याख्यान ग्रन्थ विशुद्ध बुद्धि वाले महापुरुषों के मनोगृह में जब तक सूर्य चन्द्र है तब तक स्थिर रहे ।।१।। इसप्रकार माणिक्यनन्दी आचार्य के सूत्र ग्रन्थ के प्रशंसारूप अर्थ को कहकर प्रभाचन्द्राचार्य अपने टीका ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्त्तण्ड की तुलना लोक प्रसिद्ध मार्त्तण्ड से [सूर्य से] करते हैं–जो पूर्णरूप से मोहरूप अंधकार का नाश करने वाला है, विज्ञान की शुद्धि को देने वाला है, प्रमेय [ज्ञेय पदार्थ] रूप अनंत आकाश में फैलने में चतुर है, वस्तु के कथनरूप कांति प्रताप से भासुर है, शिष्यरूपी कमलों को विकसित करने वाला है, परीक्षा मुखरूपी उदयाचल से उदित हुआ है, अमल है, ऐसा यह मार्त्तण्ड के तुल्य प्रमेयकमलमार्त्तण्ड निबंध चिरकाल तक इस वसुन्धरा पर जयवंत रहे ।।२।। प्रसन्न कर दिया है अशेष सज्जनों को जिन्होंने एवं मिथ्या एकान्तरूप रजको नष्ट करने के लिये जैनमत के सागर स्वरूप है ऐसे गुरुदेव श्री माणिक्यनन्दी आचार्य वृद्धि को प्राप्त होवे ।।३।। श्री पद्मनन्दी सैद्धान्तिक के शिष्य, अनेक गुणों के मन्दिर, माणिक्यनन्दी आचार्य के चरणकमल में आसक्त ऐसे

श्रीभोजदेवराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलंकेन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति ।।

(इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचितः प्रमेयकमलमार्त्तण्डः समाप्तः)

।। शुभं भूयात् ।।

प्रभाचन्द्र [मैं ग्रन्थकार] चिरकाल तक जयवंत वर्त्ते ।।४।। श्री भोजदेव राजा के राज्य में धारा नगरी के निवासी, पर अपर परमेष्ठी [पर परमेष्ठी अर्हन्त सिद्ध, अपर परमेष्ठी आचार्य उपाध्याय और साधुगण] के चरणकमलों को नमस्कार करने से अर्जित हुए निर्मल पुण्य द्वारा नष्ट कर दिया है सम्पूर्ण पापमलरूप कलंक को जिन्होंने ऐसे श्री प्रभाचन्द्र पंडित [आचार्य] द्वारा विरचित निखिल प्रमाण और प्रमेयों के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला परीक्षामुख सूत्र का यह विवरण है ।

इसप्रकार श्रीप्रभाचन्द्र विरचित प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामा यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ ।

।। इति भद्रं भूयात् ।।

अथ प्रशस्ति

प्रणम्य शिरसा वीरं धर्मतीर्थप्रवर्त्तकम् ।
तच्छासनान्वयं किञ्चिद् लिख्यते सुमनोहरम् ।। १ ।।

नभस्तत्वदिग्वीराब्दे कुन्दकुन्द गणी गुणी ।
संजातः संघनायको मूलसंघप्रवर्त्तकः ।। २ ।।

आम्नाये तस्य संख्याताः विख्याताः सुदिगम्बराः ।
प्राविरासन् जगन्मान्याः जैनशासनवर्द्धकाः ।। ३ ।।

क्रमेण तत्र समभूत सूरिरेकप्रभावकः ।
शांतिसागर नामा स्यात् मुनिधर्मप्रवर्त्तकः ।। ४ ।।

वीरसागर आचार्यस्तत्पट्टे समलंकृतः ।
ध्यानाध्ययने रक्तो विरक्तो विषयामिषात् ।। ५ ।।

अथ दिवंगते तस्मिन् शिवसिन्धुर्मुनीश्वरः ।
चतुर्विधगणैः पूज्यः समभूत् गणनायकः ।। ६ ।।

तयोः पार्श्वे मया लब्धा दीक्षा संसारपारगा ।
आकरी गुणरत्नानां यस्यां कायेऽपि हेयता ।। ७ ।।

[विशेषकम्]

प्रशमादिगुणोपेतो धर्मसिन्धुर्मुनीश्वरः ।
आचार्यपद मासीनो वीरशासनवर्द्धकः ।। ८ ।।

आर्या ज्ञानमती माता विदुषी मातृवत्सला ।
न्यायशब्दादिशास्त्रेषु धत्ते नैपुण्य माञ्जसम् ।। ६ ।।

कवित्वादिगुणोपेता प्रमुखा हितशासिका ।
गर्भाधानक्रियाहीना मातैव मम निश्छला ।। १० ।।

नाम्ना जिनमती चाहं शुभमस्यानुप्रेरिता ।
यया कृतोऽनुवादोयं चिरं नन्द्यात् महीतले ।। ११ ।।

।। इति भद्रं भूयात् सर्व भव्यानां ।।

परीक्षामुखसूत्रपाठः ।

।। प्रथमः परिच्छेदः ।।

प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पं लघीयसः ।। १ ।।

१ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम् ।
२ हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।
३ तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत् ।
४ अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ।
५ दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ।
६ स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः ।
७ अर्थस्येव तदुन्मुखतया ।
८ घटमहमात्मना वेद्मि ।
९ कर्मवत्कर्तृ करणक्रियाप्रतीतेः ।
१० शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ।
११ को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ।
१२ प्रदीपवत् ।
१३ तत्प्रामाण्यं स्वतः परतश्चेति ।

।। द्वितीयः परिच्छेदः ।।

१ तद्द्वेधा ।
२ प्रत्यक्षेतरभेदात् ।
३ विशदं प्रत्यक्षम् ।
४ प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ।
५ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम् ।
६ नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ।
७ तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च ।
८ अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ।
९ स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।
१० कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ।
११ सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ।
१२ सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात् ।

।। तृतीयः परिच्छेदः ।।

१ परोक्षमितरत् ।
२ प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ।
३ संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ।
४ स देवदत्तो यथा ।
५ दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् । तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ।
६ यथा स एवायं देवदत्तः । ७. गोसदृशो गवयः ।
८ गोविलक्षणो महिषः । ६. इदमस्माद् दूरम् ।
१० वृक्षोऽयमित्यादि ।
११ उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ।
१२ इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च ।
१३ यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।
१४ साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ।
१५ साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ।
१६ सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ।
१७ सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ।
१८ पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ।
१९ तर्कात्तन्निर्णयः ।
२० इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ।
२१ सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ।
२२ अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं माभूदितीष्टाबाधितवचनम् ।
२३ न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ।
२४ प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ।
२५ साध्य धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ।
२६ पक्ष इति यावत् ।
२७ प्रसिद्धो धर्मी ।
२८ विकल्पसिद्धे तस्मिन्सत्तेतरे साध्ये ।
२९ अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम् ।
३० प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता ।
३१ अग्निमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा ।
३२ व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ।
३३ अन्यथा तदघटनात् ।
३४ साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।
३५ साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत् ।

३६ को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ।
३७ एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम् ।
३८ न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्तहेतोरेव व्यापारात् ।
३९ तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः ।
४० व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्यात् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ।
४१ नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्स्मृतेः ।
४२ तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति ।
४३ कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ।
४४ न च ते तदंगे । साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयात् ।
४५ समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वाऽस्तु साध्ये तदुपयोगात् ।
४६ बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ।
४७ दृष्टान्तो द्वेधा । अन्वयव्यतिरेकभेदात् ।
४८ साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः ।
४९ साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ।
५० हेतोरुपसंहार उपनयः ।
५१ प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ।
५२ तदनुमानं द्वेधा ।
५३ स्वार्थपरार्थभेदात् ।
५४ स्वार्थमुक्तलक्षणम् ।
५५ परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ।
५६ तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ।
५७ स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् ।
५८ उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ।
५९ अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ।
६० रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ।
६१ न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः ।
६२ भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् ।
६३ तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ।
६४ सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ।
६५ परिणामी शब्दः, कृतकत्वात्, य एवं स एवं दृष्टो यथा घटः, कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामी, यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामी ।
६६ अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादेः ।

६७ अस्त्यत्र छाया छत्रात् ।
६८ उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ।
६९ उदगाद्भरणिः प्राक्तत एव ।
७० अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसात् ।
७१ विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा ।
७२ नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ।
७३ नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ।
७४ नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ।
७५ नोदेष्यति मुहूर्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ।
७६ नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्पूर्वं पुष्योदयात् ।
७७ नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्शनात् ।
७८ अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदात् ।
७९ नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः ।
८० नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः ।
८१ नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ।
८२ नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ।
८३ न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धेः ।
८४ नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्प्राक् तत एव ।
८५ नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः ।
८६ विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा । विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिभेदात् ।
८७ यथाऽस्मिन्प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः ।
८८ अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात् ।
८९ अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः ।
९० परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम् ।
९१ अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात् ।
९२ कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ ।
९३ नास्त्यत्र गुहायां मृगक्रीडनं मृगारिसंशब्दनात् कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथा ।
९४ व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा ।
९५ अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा ।
९६ हेतुप्रयोगो हि यथाव्याप्तिग्रहणं विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते ।
९७ तावता च साध्यसिद्धिः ।
९८ तेन पक्षस्तदाधारसूचनायोक्तः ।
९९ आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।
१०० सहजयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ।

१०१ यथा मेर्वादयः सन्ति ।

।। चतुर्थः परिच्छेदः ।।

१ सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः ।
२ अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च ।
३ सामान्यं द्वेधा, तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ।
४ सदृशपरिणामस्तिर्यक्, खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ।
५ परापरविवर्त्तव्यापिद्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु ।
६ विशेषश्च ।
७ पर्यायव्यतिरेकभेदात् ।
८ एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत् ।
९ अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत् ।

।। पञ्चमः परिच्छेदः ।।

१ अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् ।
२ प्रमाणादभिन्नं भिन्नञ्च ।
३ यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः ।

।। षष्ठः परिच्छेदः ।।

१ ततोऽन्यत्तदाभासम् ।
२ अस्वसंविदितगृहीतार्थदर्शनसंशयादयः प्रमाणाभासाः ।
३ स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात् ।
४ पुरुषान्तरपूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्शस्थाणुपुरुषादिज्ञानवत् ।
५ चक्षूरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च ।
६ अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्याकस्माद्धूमदर्शनाद्वह्निविज्ञानवत् ।
७ वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत् ।
८ अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासम्, जिनदत्ते स देवदत्तो यथा ।
९ सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ।
१० असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम्, यावांस्तत्पुत्रः स श्यामो यथा ।
११ इदमनुमानाभासम् ।
१२ तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः ।
१३ अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः ।
१४ सिद्धः श्रावणः शब्दः ।
१५ बाधितः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनैः ।
१६ अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत् ।
१७ अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् घटवत् ।

१८ प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत् ।
१९ शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्खशुक्तिवत् ।
२० माता मे वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत् ।
२१ हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः ।
२२ असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः ।
२३ अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ।
२४ स्वरूपेणासत्त्वात् ।
२५ अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात् ।
२६ तस्य बाष्पादिभावेन भूतसंघाते सन्देहात् ।
२७ सांख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।
२८ तेनाज्ञातत्वात् ।
२९ विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् ।
३० विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ।
३१ निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत् ।
३२ आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ।
३३ शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ।
३४ सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ।
३५ सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ।
३६ सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात् ।
३७ किञ्चिदकरणात्
३८ यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात् ।
३९ लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात् ।
४० दृष्टान्ताभासा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः ।
४१ अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रियसुखपरमाणुघटवत् ।
४२ विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तम् ।
४३ विद्युदादिनाऽतिप्रसङ्गात् ।
४४ व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाः परमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत् ।
४५ विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्तं तन्नापौरुषेयम् ।
४६ बालप्रयोगाभासः पञ्चावयवेषु कियद्धीनता ।
४७ अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात् यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति ।
४८ धूमवांश्चायमिति वा ।
४९ तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायमिति ।
५० स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात् ।
५१ रागद्वेषमोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ।
५२ यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः ।

५३ अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च ।
५४ विसंवादात्
५५ प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि सङ्ख्याभासम् ।
५६ लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात् ।
५७ सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकै-र्व्याप्तिवत् ।
५८ अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ।
५९ तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वम् अप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् ।
६० प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात् ।
६१ विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ।
६२ तथाऽप्रतिभासनात्कार्याकरणाच्च ।
६३ समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ।
६४ परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् ।
६५ स्वयमसमर्थस्य अकारकत्वात्पूर्ववत् ।
६६ फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ।
६७ अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ।
६८ व्यावृत्त्याऽपि न तत्कल्पना फलान्तराद्व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसङ्गात् ।
६९ प्रमाणाद्व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य ।
७० तस्माद्वास्तवो भेदः ।
७१ भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः ।
७२ समवायेऽतिप्रसङ्गः ।
७३ प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च ।
७४ सम्भवदन्यद्विचारणीयम् ।

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्षवद्व्यधाम् ॥१॥

॥ इति परीक्षामुखसूत्रं समाप्तम् ॥

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	५	पूर्वोत्तरा....	अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्यय गोचरत्वात् पूर्वोत्तरा-
४	१०	वैशिष्य	वैशिष्ट्य
३५	१४	पदर्थों की	पदार्थों की
६८	२	तद्दृथा ।	तद्वृथा ।
९३	३	प्राग्भावस्या	प्रागभावस्या
१०३	१८	सत्व और क्षणिकमें	सत्व और अक्षणिकमें
११३	१३	सुगता और इतर चित्तों में	सुगत और इतर जनोंके चित्तों में
११७	१९	स्वर्ग प्राप्य	स्वर्ग प्रापण
१२३	३	कृतत्व	कृतकत्व,
१२४	१७	भवान्तर	भावान्तर
१५०	९	शक्य क्योंकि	शक्य नहीं, क्योंकि
१७०	६	दिष्ट	द्विष्ट
१८०	१	स्वकार्यकारणदुपरमते ।	स्वकार्यकरणादुपरमते ।
१९७	२६	सदोष बाधित	बाधित
२००	२४	"खस्य भाव: खत्वे"	"खस्य भाव: खत्वं"
२१८	२०	संकट	संकर
२२०	४	प्रभाव	प्रमाण

पृष्ठ २१६ की संस्कृत भाषा की चार पंक्तियों एवं पृष्ठ २१७ की तीन पंक्तियों का हिंदी अर्थ गलती से अन्य प्रकरण में पृष्ठ २२१ और २२२ पर छप गया है ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२२६	१	योग के	यौग के
२३३	२	तद् व्यापकस्यापि	व्यापकस्यापि
२३७	११	मित्ति आदि	मिट्टी आदि
२५६	४	एक द्रव्य: । शब्द:	एकद्रव्य: शब्द:
३१४	२३	उस दिन निकटवर्ती	उस निकटवर्ती

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३६७	८	[जानने का] कोई नही	[जाननेका] कोई कारण नही
४४७	२५	इसप्रकार	जैन–इसप्रकार
४७६	२३	सत्करी सत्ता" द्रव्य, गुण, कम इन तीन पदार्थों मे सत्ता के समवाय से सत्व होता है।	सत्करी सत्ता"
४८३	६	नियाम्येत	नियम्यते
५०४	६	यह धर्म इसी धर्म का	यह धर्म इसो धर्मो का
५१४	५	क्रम । व्याचष्टे	क्रम व्याचष्टे ।
५१६	६	ज्ञान रसका	रसका
५१७	२७	वह प्रत्यक्षा भास इसी को	वह प्रत्यक्षाभास है । आगे इसो को
५४४	१८	यह पशु आगे है	यह पशु अगो है
५४४	२४	अपक्षेक देश	सपक्षेक देश
५६४	१४	अतिवादी	प्रतिवादी
५६६	२७	अत होता है, किसी	अत। किसी
५६७	१८	अब दृष्टात ही	अब अदृष्टान्त ही
५६६	१३	बताया ही नही	बनाया ही नही
५६६	१८	नश्वत्व	नश्वरत्व
६१३	५	तदुद्भावनसाध्य	तदुद्भावनसामर्थ्यं
६४५	२	स्वात्कृताकम्प	स्वात्कृतकम्प
६८५	५	। एव अन्त ह्यान्त	। अन्तः एव ह्यान्त।
६८५	२१	भासितभूत्पाद्या	भासितभूत्याद्या
६८५	२८	प्रमीति	प्रमिति
६६२	७	गृहीते भिन्ने च यदा	गृहीते भिन्न चार्थे यदा
७००	१	काना तन्निश्च	काना तन्निश्चय।

प्रमेयकमल मार्त्तण्ड तृतीय भाग के सहयोगी

द्रव्य–प्रदाता

२००१) श्री बदामबाई (धर्मपत्नी श्री रतनलालजी जैन टोंक)
२०००) श्री निहालचन्दजी लुहाडिया, अजमेर
२०००) श्री रतनचन्दजी मुख्तार सहारनपुर की धर्मपत्नी
१००१) श्री सुमतिदेवी (धर्मपत्नी श्री महावीरप्रसादजी छाबडा रानोली)
१००१) श्री तारादेवी पाटनी (धर्मपत्नी श्री पारसमलजी मेडता सिटी)
१००१) श्री कल्याणबक्षजी रतनलालजी जैन, बनेठा
१०००) श्री सुखमालचन्दजी सर्राफ, सहारनपुर
१०००) श्री राजेश्वरी जैन, सहारनपुर
१०००) श्री सुभाषचन्दजी जैन, शाहपुर
१०००) श्री पवनकुमारजी मगनलालजी सर्राफ, बांसवाडा
१०००) श्री नाथूलालजी जैन लोहारिया
१०००) श्री भगवानलालजी बिरदीचन्दजी सलूम्बर
१०००) श्री स्नेहलता जैन C/o श्री चादमलजी बडो, बम्बई
१०००) श्री शातिलालजी नेमीचन्दजी काशलीवाल
१०००) श्री शांतिलालजी दोसी, दिल्ली
१०००) श्री कल्याणमलजी जैन, उदयपुर
१०००) श्री जीवनी बाई पाड्या, आनन्दपुर कालू
१०००) श्री कचनबाई जैन (धर्मपत्नी श्री भागचन्दजी पाटनी)
१०००) श्री कमलाबाई काला, सुजानगढ (जयपुर)
१०००) ब्र० शांतिबाई जैन, खम्मापेट (डोरनकल जंक्शन)
१०००) श्री गुणमालाबाई (धर्मपत्नी श्री विमलचन्दजी डोटिया बम्बई)
५००) श्री गणेशलालजी जैन, लोहारिया
५००) श्री रोडमलजी जैन, लोहारिया
५००) श्री महावीर स्टोर्स, डूंगरपुर
५००) श्री लालचन्दजी जैन, निवाई
५००) श्री बिरदीचन्दजी जानकीलालजी जैन, निवाई
५००) श्री रुकमणी बाई सलूम्बर (माताजी श्री नरेन्द्रकुमारजी मीडा)
५००) श्री गणपति देवी जैन, गिरीडीह
५००) डॉ० आर० के० बक्षी, बम्बई
५००) श्री बुधमलजी जैन, नागौर

२८५०५)